UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182884

UNIVERSAL
LIBRARY

H 91/T.715 H. 2768
OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

23 DEC 1986

OUP 557 -13-7-71 3,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81 T91S Accession No. H 2769

Author तुलसीदास

Title श्रीरामचरितमानस - भाग-3-

This book should be returned on or before the date last marked below

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-समेत

श्रीगोस्वामीतुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

'सिद्धान्त-भाष्य'

३

/ अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड /

भाष्यकार

[illegible]

समस्त तुलसी साहित्य के विशद व्याख्याकार

[illegible]

सम्पादक

[illegible]

मैथिलो श्रीरामचरितमानस के रचयिता

[illegible]

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार,
पटना—४

सर्वस्वत्व प्रकाशकाधीन

मुद्रक
श्री हिमालय प्रेस,
पटना—४

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

की

विषय-सूची

अरण्यकाण्ड

विषय	*पृष्ठ-संख्या*
मङ्गलाचरण	१५६३
'बन बसि कीन्ह चरित अपारा'-प्रकरण	१५६७
'मुरपति-सुत-करनी'-प्रकरण	१५६९
'प्रभु अरु अत्रि भेंट'-प्रकरण ...	१५७७
'बिराध-बध'-प्रकरण	१५९५
शरभंग देह-त्याग-प्रकरण	१५९८
'बरनि सुतीछ्न-प्रीति पुनि'-प्रकरण	१६०२
'प्रभु-अगस्ति-सत्संग'-प्रकरण	१६१५
दंडक-बन-पावनता, गीध-मैत्री एवं पंचवटी-प्रकरण	१६२२
'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा'-प्रकरण (श्रीराम-गीता) ...	१६२४
'सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा'-प्रकरण	१६३९
'खर-दूषन-बध'-प्रकरण ..	१६४५
'जिमि सब मरम दसानन जाना'-प्रकरण	१६५८
'पुनि माया सीता कर हरना'-प्रसंग	१६६५
सीता-हरण के हेतु	१६८४
'श्रीरघुबीर-बिरह-बर्णन'-प्रकरण	१६९३
'पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्हीं'-प्रकरण	१६९७
कबंध-बध-प्रकरण	१७०६
'सबरी गति दीन्हीं' प्रकरण	१७०९
'बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा । जेहि बिधि गये सरोबर-तीरा ॥'-प्रकरण	१७२०
'प्रभु-नारद-संबाद'-प्रकरण	१७३१

किष्किन्धाकाण्ड

विषय			पृष्ठ-संख्या
मङ्गलाचरण	...	..	१७४९
'मारुति-मिलन'-प्रकरण	...	...	१७५४
श्रीहनुमानजी की कथा	...	...	१७६१
'सुग्रीव-मिताई'-प्रकरण	...	...	१७६७
बालि और सुग्रीव	...	...	१७७३
मायावी और दुन्दुभी	....	...	१७७३
'बालि-प्रान-कर-भंग'-प्रकरण	...	...	१७७६
बालि-वध-रहस्य	...	..	१७९४
मानस में पञ्चसंस्कार	...	...	१८०१
सुग्रीव-राज्याभिषेक-प्रकरण	...	...	१८०६
शैल-प्रवर्षण-वास-प्रकरण	...	...	१८१०
'बरनत बरषा'-प्रकरण	...	...	१८१२
शरद्-वर्णन-प्रकरण	...	...	१८२३
'वर्षा और शरद्-ऋतु के वर्णन में विविध विषय' (मानस तत्त्व भास्कर)			१८३१
'राम-रोष कपित्रास'-प्रकरण	...	...	१८३२
'जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये'-प्रकरण	...	...	१८४२
'सीता-खोज सकल दिसि धाये'-प्रकरण	...	...	१८५०
'बिवर प्रवेस'-प्रकरण	...	..	१८५१
संपाति-मिलाप-प्रकरण	...	...	१८५४
'सुनि सब कथा समीर कुमारा'-प्रकरण	...	...	१८६४

सुन्दरकाण्ड

विषय			पृष्ठ-संख्या
मलङ्गाचरण	...	...	१८७३
'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'-प्रकरण	...	...	१८७७
'लंका कपि प्रवेश जिमि कीन्हा'-प्रकरण	...	...	१८९१
समुद्र-लंघन-रहस्य	...	...	१८९३
'पुनि सीतहिं धीरज जिमि दीन्हा'-प्रकरण	...	....	१९०९
'बन उजारि रावनहिं प्रबोधी'-प्रकरण	...	...	१९३७
सहस्रबाहु और रावण	...	...	१९५१
बालि और रावण	...	...	१९५२
'पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी'-प्रकरण	...	...	१९५८
'आये कपि सब जहँ रघुराई'-प्रकरण	...	...	१९७४
'बैदेही कै कुसल सुनाई'-प्रकरण	...	...	१९७९
'सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि-तीरा॥'-प्रकरण		...	१९९३
'मिला बिभीषन जेहि बिधि भाई'-प्रकरण	...	...	२०००
मंदोदरी का उपदेश (१)	...	...	२०००
शरणागति के अंग	...	...	२०३९
'सागर- निग्रह-कथा'-प्रकरण	...	...	२०४८
आवृत्तियों द्वारा सिंहावलोकन	...	...	२०६३

संकेत-सूची

अ०—अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय
अर०—अरण्यकाण्ड
उ०—उत्तरकाण्ड
क०—कवितावली रामायण
कि०—किष्किन्धाकाण्ड
गी०—गीतावली रामायण
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
चौ०—चौपाई
तै०+तैत्त०—तैत्तरीयोपनिषत्
दो०—दोहा
छां०, छांदो०—छान्दोग्योपनिषत्
मुं०, मुंड०—मुण्डकोपनिषत्
भाग०, श्रीमद्भाग०—श्रीमद्भागवत
वाल्मी०—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण
श्वे०, श्वेता०—श्वेताश्वतरोपनिषत्
कौषी०—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत्
मं०—मङ्गल एवं मङ्गलाचरण
लं०—लङ्काकाण्ड
सुं०—सुन्दरकाण्ड
सो०—सोरठा

बा०—बालकाण्ड	मनु०—मनुस्मृति
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्र (वेदान्त)	महा०—महाभारत
बृ०, बृह०—बृहदारण्यकोपनिषत्	स०—सर्ग
का०, कठ०—कठोपनिषत्	वि०—विशेष
	वि० पु०—विष्णुपुराण

नोट—दो०=दोहा, दोहा की संख्या से आगे की चौपाइयाँ भी उसीसे सम्बद्ध मानी गई हैं। कोई-कोई दोहे की संख्या से उससे पूर्व की चौपाइयाँ ही लेते हैं। इस ग्रन्थ में वैसी गणनाएँ भी कहीं-कहीं लिखी गई है। छन्द प्रायः जिस दोहे के पूर्व होते है; उसीके साथ गिने गये हैं। पर, कहीं-कहीं दोहे के आगे दिये हुए छन्द भी दोहे के साथ ले लिये गये है। अतः, उभय प्रकार की गणनाएँ ठीक ही हैं।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

तृतीय सोपान (अरण्यकाण्ड)

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म-रूपी वृक्ष के मूल, विवेक-रूपी समुद्र के आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्रमा, वैराग्य-रूपी कमल के (विकासक) सूर्य, पाप-रूपी सघन अन्धकार का निश्चय ही नाश करनेवाले, (दैहिक, दैविक और भौतिक) तापों का हरण करनेवाले, मोह-रूपी मेघों के समूह को विच्छिन्न (उत्पाटन) करने की विधि में वायु-रूप, शं (कल्याण) के करनेवाले, ब्रह्म-कुल, कलंक का शमन करनेवाले और राजा श्रीरामजी के प्यारे (वा, जिनको राजा श्रीरामजी प्रिय हैं, उन) श्रीशिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'मूलं धर्म तरोः'—धर्म (कर्म) में फल लगता है, इसीलिये उसे वृक्ष-रूप कहा, श्रीशिवजी उस वृक्ष की जड़ हैं। जड़ के बिना कोई भी वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता और जड़ ही के सींचने से वह वृक्ष सर्वाङ्गों से हरा-भरा रहता है। वैसे ही श्रीशिवजी से धर्म की उत्पत्ति, पालन एवं वृद्धि होती है। धर्म के चार चरण—सत्य, दया, तप और दान हैं, यथा—"चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥" (उ० दो० २०)—देखिये। इन चारों में सब धर्म (सुकृत) आ जाते हैं। 'विवेक जलधेः·····'—ज्ञान अगाध है, इसलिये समुद्र की उपमा दी गई है, यथा—"गुरु बिबेक सागर जगु जाना।" (दो० १८१), "ज्ञान अंबुनिधि आपुन आजू।" (दो० २९२), भाव यह कि श्रीशिवजी के दर्शनों एवं ध्यान से विवेक बढ़ता है। 'वैराग्याम्बुजभास्करं'—वैराग्य से संग-दोष छूटता है। अतः, उसे कमल कहा, यथा—"पदुम पत्र जिमि जग जल जाये।" (दो० ३१६), कमल जल से निर्लिप्त रहता है, वैसे वैराग्यवान् विषय-वारि से निस्सग रहता है। भाव यह कि श्रीशिवजी का ध्यान वैराग्य का पोषक है। 'अघघनध्वान्तापहं'—'ध्वान्त'=अन्धकार, यथा—"अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः।" (अमरकोश) 'अपहं' = नाशकर्त्ता, 'तापहम्', यथा—"जराजन्मदुःखौघतातप्यमानं प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो।" (७ दो० १०७)।

यहाँ पहले धर्म, इन्दु और भास्कर कहकर तब—'अघघन···' कहा, भाव यह कि धर्म एवं सूर्य से अघ रूपी अन्धकार का नाश, और चन्द्र से ताप का नाश होता है। धर्म से अघ का नाश होता है, यथा—"चारिहु चरन धरम जगमाहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं ॥" (उ० दो० २०), तब चित्त शुद्ध

होने पर विवेक होता है, उसके आनन्द की प्राप्ति पर विषयों से सर्वथा वैराग्य होता है। पुनः धर्म से वैराग्य और फिर विवेक होता है, यथा—"धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (दो० १५), "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)। वैसे ही क्रम से यहाँ कहे गये। 'मूलं धर्मं' से कर्म, 'विवेकजलधेः' से ज्ञान और 'श्रीरामभूपप्रियम्' से उपासना—क्रम से ये काण्डत्रय मंगलाचरण में आये।

(२) 'मोहाम्भोधरपूग'.....'—जैसे मेघ सूर्य को ढँक लेता है, वैसे मोह ज्ञान को, यथा—"मोह महा घन पटल प्रभंजन....." (ल० दो० ११३), "जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहि कुबिचारी॥" (बा० दो० ११६), "ज्ञान भानु गत।" (उ० दो० १२०), श्रीशिवजी मोह के नाशक हैं, यथा—"चिदानन्दसन्दोहमोहापहारी।" (उ० दो० १०७), 'स्वः सम्भवं=वायु। वायु आकाश से होता है, यथा—"आकाशाद्वायुः" (तैत्तिरीय वल्ली २।१), 'ब्रह्मकुलं'—ब्रह्म-कुल अर्थात् ईश्वर हैं, यथा—"विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपम्।" (उ० दो० १०७), वा, भाग० ३।१२।७-१४ के अनुसार एक रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न भी हुए हैं। अतः, श्रीशिवजी ब्रह्म के कुल के भी हैं। कलङ्कशमनं'=अपने भक्त चन्द्रमा को ललाट पर धारण करके उसके गुरुतल्पगता का कलंक मिटा दिया, यथा—"यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।" (बा० मं०), 'श्रीरामभूपप्रियम्', यथा—"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे।" (बा० दो० १३७), "ते द्विज प्रिय मोहि जथा खरारी॥" (उ० दो० १०८), इस तरह उभयतः प्रियत्व है। श्रीशिवजी ने अपने हृदय में भूप रूप ही बसाया है, यथा—अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥" (ल० दो० ११३), सति-मोह-प्रसंग का स्मरण कराते हुए, पर-रूप और भूप-रूप की एकता भी इसीमें पुष्ट की।

श्रीशिवजी में सूर्य-चन्द्र, दोनों के गुण साथ कहे गये हैं, यह आश्चर्य है, अन्यत्र भी इनकी एक वाणी में ही दोनों उपमाएँ है, यथा—"ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (बा० दो० ११९), "सुनु गिरिराज कुमारि, भ्रम तम रबिकर बचन मम॥" (बा० दो० ११५),

यहाँ श्रीशिवजी की ही वन्दना पहले है, किष्किन्धाकाण्ड से पीछे हुआ करेगी, क्योंकि श्रीशिवजी श्रीहनुमानजी के रूप से सेवक-भाव में आ जायँगे। वन की उदासीन लीला का वर्णन करना है, इसलिये उदासीन-रूप-समर्थ श्रीशिवजी की वन्दना की गई। वन में अधिक वृक्षों और उनके फल-फूल आदि से ही सम्बन्ध रहेगा। इसलिये 'मूल' शब्द और 'तरु' शब्द प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि आगे ऋषियों के यहाँ सर्वत्र फल, मूल ही भेंट में प्राप्त होंगे। धर्म और वृक्ष से सुख होता है, इस काण्ड में सुख होना बहुतों को और बहुत स्थलों पर कहा जायगा, यथा—"रिषि निकाय...सुखी भये।"—श्रीसरभंगजी। "ध्यान जनित सुख पावा"—श्रीसुतीक्ष्णजी। "सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥" (दो० १३)—मुनिलोग। "भगति जोग सुनि अति सुख पावा॥"—श्रीलक्ष्मणजी। ऐसे ही मारीच, रावण, श्रीरामजी, श्रीशबरीजी आदि बहुतों के सुख कहे गये है।

इस काण्ड में धर्म, विवेक आदि की जो बातें विस्तार से कही जायँगी, उनका इस मंगलाचरण में भी स्मरण किया गया है। अतः, यह वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण है। यह शार्दूलविक्रीड़ित छन्द है, बा० मं० श्लो० ६ देखिये। इसका प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी वन में निर्भय सिंह की तरह क्रीड़ा करेंगे, यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं।" (दो० १८), "पुरुषसिंह बन खेलन आये।" (दो० २१)।

इस श्लोक में भी 'मूलं धर्मं' शब्द से आदि में मगण ही आया है, ऐसे ही सातो काण्डों के आदि में है। इससे श्रोता-वक्ता दोनों के कल्याण होंगे।

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम्।

राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥

शब्दार्थ—सान्द्र = सघन, गझिन, यथा—"घन निरन्तरं सान्द्रमित्यमरः" रामा = सीताजी। रामाभिरामं = श्रीसीताजी को आनन्द देनेवाले। पथिगतं = मार्ग मे प्राप्त।

अर्थ—जिनका श्याम-विग्रह, जल बरसानेवाले मेघों के समान सुन्दर, एवं आनन्दघन है (वल्कल का) पीताम्बर धारण किये हुए, सुन्दर, हाथों में बाण और धनुष लिये हुए, श्रेष्ठ (अक्षय) तरकस के भार से जिनकी कटि शोभित है। लाल कमल के समान विशाल नेत्रवाले, जटाबन्ध धारण किये हुए, अत्यन्त सुशोभित, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ मार्ग में जाते हुए, श्रीसीताजी को आनन्द देनेवाले श्रीरामजी को मै भजता हूँ।

विशेष—(१) 'सान्द्रानन्दपयोद···'—इस चरण में आपका शृंगार स्वरूप कहा है। 'पीताम्बरं' से वल्कल वस्त्रों को ही पीले रंग का होना सूचित किया। इस काण्ड से राक्षस-वध की प्रतिज्ञा होगी और उसका प्रारम्भ होगा, वीररस का केसरियावाना प्रसिद्ध है। 'सुन्दरं', क्योंकि इसी वेष में शूर्पणखा और खर आदि भी मोहित होंगे। यहाँ के 'पीताम्बरं' और आगे के—"एक बार चुनि कुसुमसुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥" से यहाँ का गुप्त रास-महल भी लक्षित किया गया है, जो कि बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में विस्तार से कहा गया है। आगे चौ० ३ का विशेष देखिये। 'पाणौ बाणशरासनं···' इस चरण मे वीररस का स्वरूप कहा है, 'कटिलसत्तूणीरभारं वरं'—और भार (बोझ) अशोभित होता है, पर वीरों का तरकस-भार सुशोभित है, यथा—"सब सुंदर सब भूषन धारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥" (बा० दो० २९७), श्रीरामजी श्रेष्ठ धनुर्धर हैं, यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता॥" (ल० दो० ४८), इसीसे श्रेष्ठ तरकस धारण करते हैं, यथा—"तूणी चात्तयसायकौ।" (वाल्मी० १।१।४२), इनसे इसी काण्ड में खर आदि को मारेंगे।

(२) 'राजीवायतलोचनं'—भक्तों के भय-हरण-प्रसंग में प्रायः राजीवनेत्र कहा जाता है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७), तथा—सुं० दो० ३४ चौ० २ एवं दो० ३१ चौ० १ भी देखिये। यहाँ भी मुनियों के लिये राक्षस-वध की प्रतिज्ञा करेंगे और उनके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे, यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह।" (दो० ९), इस तीसरे चरण में शान्त रस की शोभा कही गई है, क्योंकि मुनियों को सुख दिया है, यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (दो० २०)।

इस काण्ड में दो ही श्लोकों में मंगलाचरण है, ऐसा ही अगले किष्किन्धाकाण्ड में भी है, क्योंकि इसमें श्रीसीताजी का हरण होगा और दो ही मूर्त्तियों का साथ रहेगा। फिर किष्किन्धाकाण्ड में भी उनका पता न मिलेगा। सुन्दरकाण्ड में पता मिलेगा, इसलिये फिर तीन श्लोकों से मंगलाचरण होगा। फिर आगे सर्वत्र साथ रहा, इससे वहाँ तीन-तीन श्लोक हैं।

सोरठा—उमा राम-गुन गूढ़, पंडित-मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख न धर्म रति॥

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी के गुण गुप्त अभिप्रायवाले एवं गम्भीर आशय-पूर्ण हैं, पण्डित और मुनि उनसे वैराग्य पाते हैं और जो विशेष मूर्ख हैं, जो हरि-विमुख हैं और जिनकी धर्म में प्रीति नहीं है, वे मोहित हो जाते हैं।

विशेष—(१) इसा काण्ड के आदि में श्रीशिवजी उमा को सावधान करते हैं कि देखना, पूर्व सती-तन की तरह फिर न वैसा सन्देह कर बैठना, क्योंकि इसी काण्ड के चरित्र से तुम्हें वहाँ मोह हुआ था।

इससे पूर्व अयोध्या-काण्ड में भरत-चरित है, अन्त में फलश्रुति में कहा गया है, यथा—"भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर सुनहिं। सीय-राम-पद प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति॥" उसपर कहते हैं कि श्रीराम-चरित वैसा सरल नहीं है, किन्तु गूढ़ है, इसमें पण्डित मुनि ही वैराग्य पाते हैं, सब नहीं। पुनः श्रीभरत-चरित में किसीको मोह नहीं हुआ है, इसीसे उसमें किसीका संवाद नहीं है, क्योंकि उसमें तो प्रेम ही कहा गया है। श्रीराम-चरित मे श्रीभरद्वाजजी, श्रीसतीजी और श्रीगरुड़जी को भी मोह हुआ है, इसीसे इस काण्ड मे श्रीराम-चरित प्रारम्भ होते ही छः दोहों मे तीनो वक्ताओं ने तीनो श्रोताओं को समाधान किया है, यथा—"उमा राम गुन गूढ़ ··" उमा को पहले कहा, क्योंकि इन्हें इसी काण्ड के चरित में मोह हुआ है। पुनः—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता।·· भ्राता॥" "सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।" (दो० १), इनमें श्रीभरद्वाजजी को 'भ्राता' और श्रीगरुड़जी को 'हरिजाना' कहा है।

(२) 'राम गुन-गूढ़', यथा—"श्रोता-बकता ज्ञान निधि, कथा राम कै गूढ़। किमि समुझउँ मैं जीव जड़, कलिमल ग्रसित बिमूढ़॥" (बा० दो० ३०), "चाहहु सुनइ राम-गुन-गूढ़ा। कीन्हेहु प्रस्न मनहुँ अति मूढ़ा॥" (बा० दो० ४६), गूढ़ता यह है कि चरित तो एक ही है, पर उसीमें किसीको मोह होता है और किसीको वैराग्य उत्पन्न होता है। मोह और वैराग्य परस्पर विरोधी है, यह चरित दोनों की उत्पत्ति का कारण है, इसीसे इसे गूढ़ कहा गया कि किसीको कुछ भासता है और किसीको कुछ। गूढ़ अर्थात् जो बुद्धिमानों को भी समझने में कठिन हो। "असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥" (उ० दो० ७२), "राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहि सुखारे॥" (अ० दो० १२६)।

यहाँ श्रीशिवजी पंडित और मुनि भी है, इन्हें वन-लीला से वैराग्य प्राप्त हुआ, यथा—"येहि तनु सतिहि भेंट मोहि नाहीं। सिव संकल्प कीन्ह मन माहीं॥" (बा० दो० ५६), और सती को मोह हुआ कि इन्होंने पति के सहेतु वचनों पर भी विश्वास न किया, यही इनकी मूढ़ता है, यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (कि० दो० ८)। सगुण चरित गूढ़ है, यथा—"सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥" (उ० दो० ७३), "राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥" (अ० दो० १२६), "कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥ (दो० ३८), इत्यादि।

श्रीजानकीजी के हरण पर पंडितों (सदसद्विवेकिनी बुद्धिवालों) और (मननशील) मुनियों को तो वैराग्य हुआ कि स्त्री ने श्रीरामजी को भी रुलाया, अतएव इससे प्रीति करना उचित नहीं और विमूढ़ों को मोह हुआ कि स्त्री के लिये तो श्रीरामजी भी रोये हैं। अतः, यह दुर्लभ वस्तु है। इस काण्ड के आदि में श्रीरामजी के चरित में जयन्त को मोह हुआ और अन्त में नारदजी को वैराग्य की शिक्षा प्राप्त हुई। इस रीति से यहाँ काण्ड-भर का सूक्ष्म चरित आ गया।

'बिमूढ़'—ज्ञान-रहित, 'हरि-बिमुख'—उपासना-रहित और 'न धर्म रति' वाले कर्मकाण्ड-रहित हैं, अर्थात् काण्ड-त्रय-रहित ही मोह प्राप्त होते हैं। जिनमें एक-दो त्रुटियाँ होती हैं, वे सँभल जाते हैं। विमूढ़ों के लक्षण भी बतलाये कि वे हरि-विमुख होते हैं और उनकी धर्म में प्रीति नहीं होती।

अलंकार—'मुद्रा' क्योंकि यहाँ सामान्य अर्थ से कुछ विशेष अर्थ भी होता है।

'बन बसि कीन्हे चरित अपारा'-प्रकरण

पुर - नर - भरत - प्रीति मैं गाई। मति अनुरूप अनूप सुहाई ॥१॥

अर्थ—पुरवासियों की और श्रीभरतजी की उपमा-रहित और सुहावनी प्रीति का मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया ॥१॥

विशेष—'पुर-नर-भरत-प्रीति'—कहकर इस काण्ड का पूर्व काण्ड से सम्बन्ध मिलाया। पुर-नर में 'नर' शब्द नर और नारी दोनों का बोधक है। अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्द्ध में पुरवासियों की प्रीति प्रधान थी, उत्तरार्द्ध में श्रीभरतजी की प्रीति के साथ-साथ भी पुरवासियों की प्रीति कही गई है। इनकी प्रीति के उदाहरण भरे पड़े हैं।

'मैं गाई'—अभी ऊपर श्रीशिवजी का संवाद है। अतः, 'मैं' से उन्हींका अर्थ है, साथ में और भी तीनो वक्ता हैं ही। भाव यह कि जैसे प्रभु के चरित गाने योग्य है, वैसे उनके भक्तों के चरित भी हैं। 'गाई' पर सन्देह होता कि क्या तुमने पूर्ण रीति से वर्णन किया? उसपर कहा कि 'मति अनुरूप'—भाव यह कि पूर्णरूप से तो कोई कह नहीं सकता, यथा—"कबि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥" (अ० दो० २३२)। "अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥" (अ० दो० २४०)। मैंने अपनी बुद्धि के अनुरूप कुछ कहा है। ऐसी बड़ों की रीति भी है—मै मति-अनुरूप ही कहता हूँ, यथा—"मति अनुहारि सुबारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ।···" (बा० दो० ४३)—वहीं पर और भी उदाहरण देखिये, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा।

अकथ्य होने से भी 'मति अनुरूप' कहा है, यथा—"कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहि उलीचे॥" (अ० दो० २८२)। "बर बसि कीन्हे चरित अपारा" यह श्रीपार्वतीजी का प्रश्न यहाँ से सुन्दरकाण्ड तक 'वन-चरित' के प्रति है।

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन ॥२॥

अर्थ—अब देवताओं, मनुष्यों और मुनियों को भानेवाले प्रभु श्रीरामजी के अत्यन्त पवित्र चरित, सुनो, जो वे वन में करते हैं।

विशेष—(१) 'अब' का भाव यह कि अभी तक प्रभु के दास के चरित कहे गये है, अब प्रभु के चरित कहूँगा। 'प्रभु' शब्द का भाव यह कि इस काण्ड से प्रभुता के चरित होंगे। बालकाण्ड में माधुर्य और ऐश्वर्य कहा और अयोध्याकाण्ड में माधुर्य ही रहा। अरण्यकाण्ड से अब प्रभु की प्रभुता के चरित प्रधान रहेंगे। इसीसे श्रीरामजी को 'प्रभु' और श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के भी ऐश्वर्य के ही नाम रहेंगे। 'लषन' 'सीय' नाम माधुर्य के है, अब ये न रहेंगे। बालकाण्ड में जो ऐश्वर्य के चरित यज्ञरक्षा, धनुर्भंग आदि हुए भी है, उनमें मुनि की ओट थी, यथा—"केवल कौसिक कृपा सुधारे।" (बा० दो० ३५६), परन्तु यहाँ से जो जयन्त एवं खरदूषण आदि के प्रसंगवाले चरित होंगे, वहाँ ऐश्वर्य छिप नहीं सकता। मुनियों के साथ बर्ताव में भी पहले की अपेक्षा आगे ऐश्वर्य दृष्टि अधिक रहेगी।

(२) 'अतिपावन'—पहले श्रीभरत-चरित परम पुनीत कहा गया है, यथा—"परम पुनीत भरत आचरनू।" (अ० दो० ३२५), अतएव, प्रभु-चरित को भी अतिपावन कहा, अन्यथा श्रीभरत-चरित की अपेक्षा इसमें न्यूनता आती। आगे अन्त में पावन-मात्र ही कहा है, यथा—रावनारि जस पावन" क्योंकि वहाँ ऐसे सन्देह का अवसर नहीं है। 'अति पावन' का यह भी भाव है कि आगे गीध, शबरी आदि कितने ही पतितों को तारेंगे।

(३) 'करत जे बन'—ऊपर चौपाई में 'पुर नर' शब्द से अयोध्याकाण्ड को अवधपुर वासियों का

चरित एवं तत्सम्बन्धी चरित कहा है और आगे के चरित वन-सम्बन्धी ही होंगे, इसीसे इस काण्ड का अरण्य (वन)-काण्ड नाम भी है। वन के ही चरित किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड में भी हैं, पर इस काण्ड में वन शब्द भी बहुत आये हैं। वन-शब्द से चित्रकूट का भी अगला चरित आ जायगा, यथा—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना ॥" (दो० २)।

(४) 'सुर-नर-मुनि-भावन'—यद्यपि सुर, नर और मुनि तीनो तीन प्रकार की प्रकृतिवाले होते हैं, तथापि यह चरित तीनो को भानेवाला है, यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर-मुनि सबके भय बीते ॥" (दो० २०), इस चरित से तीनो के भय दूर हुए, इससे यह सबका भानेवाला कहा गया है। तीनो स्वार्थी कहे गये हैं, यथा—"सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११), तीनो के स्वार्थ भी इस काण्ड में सिद्ध हुए हैं, इस काण्ड में ही श्रीरामजी राक्षसों के निर्मूल करने की प्रतिज्ञा करेंगे और उसका कार्य भी प्रारम्भ करेंगे, इससे यह सुरभावन है। मुनियों के लिये भी रक्षार्थ प्रतिज्ञा और उन सबके घर-घर जाकर उन्हें सुख देंगे, इससे मुनिभावन होगा। इस वन-चरित की फलश्रुति कही गई है—"रावनारि जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहि, बिनु बिराग जप जोग ॥" अतः, नरभावन भी कहा गया है। 'सुर' शब्द प्रथम है, क्योंकि जयन्त पर कृपा करने से देवताओं का भावन होना प्रथम ही है।

यहाँ तक प्रभु-चरित का माहात्म्य कहा गया, आगे प्रभु-चरित कहते हैं—

एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निजकर भूषन राम बनाये ॥३॥
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर ॥४॥

अर्थ—एक समय सुन्दर फूलों को चुनकर श्रीरामजी ने अपने हाथों से आभूषण (नूपुर, कंकन, शीशफूल, बन्दी और चन्द्रिका आदि) बनाये ॥३॥ प्रभु ने आदर-सहित श्रीसीताजी को पहनाया और वे सुन्दर स्फटिक शिला पर बैठे ॥४॥

विशेष—'एक बार चुनि···'—भाव यह कि ऐसे शृंगार के चरित तो बहुत हुए हैं, पर यह एक बार की बात है—'सुरपति सुत···'। 'सुहाये' से रंग-बिरंग के बहुत-से सुन्दर फूलों का चुनना सूचित किया कि जिस भूषण मे जहाँ जिस रंग की आवश्यकता हो, वहीं वहाँ लगाया जाय। 'भूषन बनाये'—बहुवचन क्रिया से अंग-अंग के बहुत-से भूषणों का बनाना सूचित किया। कैकेयी के वचन—"तापस बेष बिसेष उदासी।" के अनुसार रहते हैं, इसीसे राजसी भूषण-भोग त्यागे हुए हैं, इससे अथवा ग्रीष्म ऋतु के अनुसार फूलों के ही भूषण अपने हाथों से रचकर पहनाते हैं कि श्रीसीताजी वन में प्रसन्न रहें। कहा भी है—"नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। प्रमुदित रहति दिवस जिमि कोकी ॥" (दो० १३९), "सीय लखन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहहीं ॥" (दो० १४०), वे सब यहाँ चरितार्थ हैं। इसी प्रसंग पर गी० अर० ४४ मे कहा है—"फटिक सिला मृदु बिसाल···सिय अंग लिखे धातुराग, सुमननि भूषन-बिभाग, तिलक करनि का कहौ कला निधान की। माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसिदास बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ॥" तथा—"अभिज्ञानं च रामस्य दृष्ट्वा हरिगणोत्तम। क्षिप्रामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्। मनः शिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः। त्वया प्रणष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि ॥" (वाल्मी० ५।४०।४-५), इन वचनों से यह शृंगार-रहस्य जयन्त-प्रसंग का कारण-रूप है।

बृहद्रामायणोक्त चित्रकूट माहात्म्य में श्रीसीतारामजी का यहाँ रास-विहार भी कहा गया है, यथा—"चित्रकूटसमं तीर्थं नास्ति ब्रह्माण्डगोलके। यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतया सहितः सुधीः। विमलादिसखीयुक्त-स्वर्णिमादिविभूतिभिः। सप्तावरणसंयुक्ते मन्दिरे रत्नभूषिते ॥ पर्वतस्यान्तरालेऽसौ विहारं कुरुते सदा।···" वह प्रसंग भी यहाँ लक्षित किया गया है कि तरह-तरह के शृंगार-रहस्य हुए, उनमें एक बार की यह बात है।

(२) 'बैठे फटिक सिलापर सुन्दर'—स्फटिक-शिला विशाल थी और प्रभु के सम्बन्ध मे कोमल बन गई थी—'मृदु बिसाल' ऊपर कहा ही है। 'सुंदर', यथा—"सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अतिपावन पावन। "सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू ॥"कहि न सकहि सुषमा जसि कानन।" (अ० दो० १३८)।

श्रीचित्रकूट में इस समय जहाँ स्फटिक-शिला है, वहाँ उसमे उस समय के कोमल हो जाने के चिह्न बने हुए हैं। वहाँ एक देवांगना प्रसिद्ध तीर्थ भी है, जिसका वृत्त यह है कि जयन्त की स्त्री देवांगनाओं के साथ प्रभु की रास-क्रीड़ा देखने आई हुई थी, वह देखकर मोहित हो गई और उस स्थल पर रही, इसीसे वह तीर्थ है।

'सुरपति सुत करनी'-प्रकरण

सुरपति-सुत धरि बायस बेखा। सठ चाहत रघुपति बल देखा ॥५॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद - मति पावन चाहा ॥६॥

अर्थ—(इतने में) देवराज इन्द्र का पुत्र (जयन्त) कौए का वेष धारण कर वह मूर्ख, श्रीरघुनाथजी का बल देखना चाहता है ॥५॥ जैसे चींटी सागर की थाह पाना चाहे, वैसे ही इस महा नीचमति जयन्त ने (उनके बल की) थाह पाना चाहा ॥६॥

विशेष—(१) 'सुरपति-सुत धरि ·····'—'सुरपति सुत' का भाव यह कि बड़े की परीक्षा बड़ा ही कर सकता है। श्रीरामजी का बल जाँचना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं था, इससे देवराज का पुत्र जो कि अपने बाप के समान बली था, वही आया। यह भी भाव है कि अपने बाप के बल का भरोसा करके आया। यह एक तो देवता है, दिव्य देहवाला, फिर देवराज का ज्येष्ठ पुत्र युवराज है। तब भी पक्षियों में चाण्डाल कौआ बना, क्योंकि महान् लोगों के साथ छल करनेवाले की जैसी गति होती है, वैसी ही बुद्धि इसकी हो गई। इसका बाप इन्द्र भी तो छली, मलिन और अविश्वासी कौए-सा स्वभाववाला है, यथा—"काक-समान पाकरिपु-रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥" (अ० दो० ३०१), पुत्र मे भी वैसे ही स्वभाव का हो जाना आश्चर्य नहीं। इसीसे इसने भी छल करना चाहा, यथा—"ता सन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन गेह ॥" (दो० १), 'धरि बायस बेखा'—यह चाण्डाल का-सा कर्म करेगा, इसीलिये वैसा ही शरीर भी धारण किया, यथा—"सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला ॥" (उ० दो० १११), इसमे भी शाप देते हुए 'सठ' कहा है, वैसा ही यहाँ भी—'सठ चाहत···' कहा गया है।

'सठ चाहत रघुपति···'—चाहता है कि अपना काम कर लूँ और कोई जाने भी नहीं, पर इसे और इसके नीच कर्म को तीनों लोक जानेगा। परिणाम को नहीं सोचा, सहसा अनुचित कार्य में प्रवृत्त हो गया, इसीसे शठ कहा गया। 'चाहत'—इसका कारण यह है कि सब देवता तो रावण वध की प्रतीक्षा में थे और श्रीरामजी रात-दिन शृंगार-कुतूहल में रँगे है। इससे इनकी ईश्वरता और बल में उन्हें सन्देह हुआ, जैसे श्रीकृष्ण भगवान् को बालक्रीड़ा मे श्रीब्रह्माजी को मोह हुआ। बल की व्यवस्था आगे कहते हैं—

(२) 'जिमि पिपीलिका सागर थाहा।'—श्रीरामजी का बल अथाह समुद्र के समान है, यथा—"महिषमती को नाथ साहसी सहस बाहु, समर समर्थ, नाथ! हेरिये हलक में। सहित समाज महाराज सो जहाज राज, बूड़ि गयो जाके बल बारिधि छलक में। टूटत पिनाक के मनाक बाम राम से, ते नाक बिनु भये भृगुनायक पलक में॥" (क० लं० २५), तथा—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-

किया च।" (श्वेता० ६।८), ऐसे अथाह एवं अप्रमेय बल की परीक्षा जयन्त कौआ-रूप से करना चाहता है, इसीसे चींटी और समुद्र का दृष्टान्त दिया। 'पावहिं मोह बिमूढ़' यह उपर्युक्त वाणी यहीं चरितार्थ हुई। इसीसे 'महामंद मति' कहा गया, क्योंकि जो बल-बुद्धि के तर्क से बाहर एवं अप्रमेय है, उसे यह देखना चाहता है।

वायस-शरीर धरने का यह भी कारण कहा जाता है कि वाल्मी० उ० सर्ग १८।२७ में यमराज ने कौए को वरदान दिया है कि वह मनुष्य को छोड़ औरों से अवध्य हो, इसीसे इसने सोचा कि ये मनुष्य होंगे, तो देवता होने के कारण मेरा कुछ कर ही न सकेंगे और ईश्वर होंगे, तो उक्त वर की रक्षा करते हुए मुझे न मारेंगे। दूसरा यह कारण है कि काकभुशुण्डीजी श्रीरामजी के परम भक्त है, कदाचित् मैं चूका भी हूँगा, तो उस नाते से मुझे न मारेंगे, यथ—"प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।" कहा ही है।

सीताचरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंद-मति कारन कागा ॥७॥
चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना ॥८॥

अर्थ—मूर्ख कौआ मन्दबुद्धि होने के कारण श्रीसीताजी के चरण में चोंच मारकर भागा ॥७॥ उसमें से रुधिर बह चला, तब श्रीरघुनाथजी ने जाना और धनुष पर सींक का बाण रखकर (उसे, उसपर) अनुसन्धान किया ॥८॥

विशेष—(१) 'सीताचरन चोंच···'—यह प्रसंग वाल्मी० सुं० सर्ग ३८ में विस्तार से कहा गया है। भेद इतना ही है कि वहाँ 'विददार स्तनान्तरे' कहा गया है और इस ग्रन्थ मे चरणों में चोंच मारना कहा गया है। यह कल्प-भेद है। 'भागा'—वह चोंच मारकर भागा और थोड़ी ही दूर पर जा बैठा, क्योंकि आगे फिर उसका भाग चलना कहा गया है, यथा—"चला भाजि बायस भय पावा ॥" (दो० १), तथा—"दारयन्स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते।" (वाल्मी० ५।३८।१६), अर्थात् मुझे चोंच मारनेवाला काक वहीं छिप जाता था।

वाल्मीकीय रामायण मे लिखा है—श्रीसीताजी श्रीरामजी की गोद मे सो गई थीं, बहुत देर पर उठीं, तब श्रीरामजी उनकी गोद में सो गये, तब कौए ने आकर स्तनों में घाव किया, चोंच मारी। उस समय गिरे हुए रक्त-बिन्दुओं से श्रीरामजी जाग पड़े और उस कौए को देखा।

पतिव्रता-शिरोमणि श्रीजानकीजी ने आघात सह लिया, पर उन्होंने सोये हुए अपने स्वामी को नहीं जगाया। यह एकान्त का रहस्य है, इसलिये ग्रन्थकार ने व्यंजना से कथा-द्वारा ही बतलाया है। श्रीलक्ष्मण-जी भी वहाँ न थे। सम्भवतः रहस्य-स्थल समझकर पृथक् रहे हों और इसीसे वह कौआ भी बना कि जिससे घरों मे जाने से रोक न हो। वा, वे कन्दमूल आदि लाने को गये रहे हों। 'सीताचरन' को वाल्मीकीय रामायण से भी अविरोध दिखाने के लिये लोग 'सीता--आचरन' ऐसा पदच्छेद करके वही अर्थ कर लेते हैं, अंचल को आँचर कहते है, यथा—"दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती।" (बा० दो० ३२६), 'आँचरा पिलाना = स्तन पिलाना' यह मुहावरा है। यह व्यंजनात्मक प्रसंग है, इससे मर्यादा रखते हुए कहा गया है—यह उनका मत है। कोई यों भी कहते है कि 'श्रीसीताजी (को) चरण और चोंच (दोनों) से मारा। किस अंग में मारा? यह वाल्मीकीय मत ही का अध्याहार कर लें।

इन तरह-तरह के अर्थों की आवश्यकता नहीं। कल्पभेद की दृष्टि से इतना भेद ही रहेगा तो कोई हानि नहीं, इससे सरलार्थ छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

'मूढ़ मंद-मति···'—उत्तरार्द्ध में चोंच मारने का कारण कहा कि उसे अपने परिणाम का ज्ञान नहीं रहा, अपने हाथों से मरने का उपाय रचा। अतः, मूढ़ कहा गया, यथा—"जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना ॥" (सुं० दो० २४), श्रीरघुनाथजी का बल और प्रभुत्व नहीं

जाना, इससे 'मंद-मति' कहा गया, यथा—"अतुलित बल, अतुलित प्रभुताई। मैं मति मंद जानि नहिं पाई ॥" (दो० १), 'कागा' के भाव ऊपर कहे ही गये हैं कि वह छली, मलिन और अविश्वासी है। कौए को मूढ़ आदि क्यों कहा? हृदय से तो वह जयन्त ही है, तनु मात्र कौए का रूप उसने किया है।

(२) 'चला रुधिर रघुनायक जाना।'—'चला' अर्थात् वह चला, तब लेटे हुए आपके शरीर में स्पर्श हुआ, इससे जाना। 'रघुनायक'—'रघु' यह संज्ञा जीव-मात्र के लिये है, ये जीव-मात्र के नायक हैं। तो क्यों न जान लें? सब जान लिया कि यह इन्द्र का पुत्र जयन्त है। कौआ बनकर बल की परीक्षा के लिये आया है तभी तो ब्रह्मास्त्र चलाया है और रुधिर का जानना तो है ही, यथा—"वीक्ष्यमाणस्ततस्तं वै वायसं समवैक्षत। नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम् ॥" (वाल्मी० ५।३८।२६), अर्थात् देखते हुए श्रीरामजी ने सामने ही रुधिरयुक्त नखों वाले उस काक को देखा, वह मेरी ओर मुख किये हुए बैठा था। स्वयं जाना, श्रीजानकीजी ने नहीं कहा, ऐसा सुशील स्वभाव है। ऐसे ही जब श्रीकौसल्याजी ने पूछा—"तात सुनावहु मोहिं निदानू।..." (अर० दो० ५३), तब श्रीकैकेयीजी के अपराध को श्रीरामजी ने भी स्वयं नहीं कहा, किन्तु सचिव-सुत ने कहा था। अतः, उनका भी ऐसा ही सुशील स्वभाव है।

'सींक धनुष सायक संधाना'—यह विहार-स्थल था, इससे धनुषबाण साथ नहीं था। इससे सींक का ही धनुष बना और उसपर बाण भी सींक ही का बनाकर सन्धान किया। भाव यह भी है कि वह परीक्षा लेने आया है, सींक के बाण का भी आश्चर्य-जनक प्रभाव देखेगा, तो उसे मेरे अपरिमित प्रभाव की प्रतीति हो जायगी। वा, उसे तुच्छ जानकर तुच्छ सींक ही का बाण चलाया। उसे यह भी दिखाया कि काम ने फूल के ही धनुष-बाण से तीनों लोकों को वश कर रक्खा है, हम सींक से ही सबको मार सकते हैं। पुनः उसे थोड़ा ही बल दिखाना है, इससे भी सींक ही का बाण चलाया, यथा—"सुरपति सुत जानेउ बल थोरा।" (लं० दो० ३५)।

दोहा—अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह।
ताहन आइ कीन्ह छल, मूरख अवगुन - गेह ॥१॥

अर्थ—रघुकुल के नायक श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, उनका दिनों पर सदा स्नेह रहता है, अवगुणों के घर इस मूर्ख जयन्त ने उनसे भी आकर छल किया ॥१॥

विशेष—श्रीरामजी अत्यन्त कृपालु हैं, इसीसे मुनि, देव, भूमि आदि पर कृपा करके प्रिय परिवार और श्रीअवध का राज्य छोड़कर वन को आये। सदा दीनों पर ही स्नेह करनेवाले हैं। रघु महाराज सर्वस्व-दान करके भी दीनों पर दया का पूर्णतया निर्वाह करते थे, ये तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं और सब लायक हैं, यथा—"पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक ॥" (बा० दो० १७), फिर इनसे तो छल करना ही न चाहता था, यथा—"मान्य मीत सों हित चहै, सो न छुवै छल छाँह। ससि त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि तुलसी मन माँह ॥" (दोहावली ३२४)। 'सदा दीन पर नेह', यथा—"येहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।" (वि० १६५), ऐसे स्वामी से भी आकर इसने छल किया, इससे वक्ता लोग इसे मूर्ख और अवगुण गेह कहते हैं।

प्रेरित मंत्र ब्रह्म - सर धावा। चला भाजि बायस भय पावा ॥१॥
धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं। राम-बिमुख राखा तेहि नाहीं ॥२॥
भा निरास उपजी मन त्रासा। यथा चक्र-भय रिषि दुर्बासा ॥३॥

ब्रह्म-धाम सिव-पुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥४॥
काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही ॥५॥

अर्थ—ब्रह्मास्त्र के मन्त्र से प्रेरित हो वह ब्रह्मबाण दौड़ा, तब कौआ डर गया और भाग चला ॥१॥ अपना (वास्तविक) रूप धारण कर वह पिता (इन्द्र) के पास गया, उसने इसे श्रीराम-विरोधी जानकर नहीं रक्खा ॥२॥ तब वह (जयन्त) निराश हो गया, उसके मन में डर उत्पन्न हुआ, जैसे दुर्वासा ऋषि को चक्र से डर हुआ था ॥३॥ ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि सभी लोकों में वह भागता फिरा, श्रमित होकर डर और शोक से व्याकुल हो गया ॥४॥ किसीने उसे बैठने तक को नहीं कहा, (क्योंकि) श्रीरामजी से द्रोह करनेवाले को कौन रख सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥५॥

विशेष—(१) 'प्रेरित मंत्र ब्रह्म-सर···', यथा—"स दर्भं संस्तरादुद्गृह्य ब्रह्मणोऽस्त्रेण योजयत्। स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम् ॥" (वाल्मी० ५।३८।२९), अर्थात् कुश के आसन से एक कुश निकालकर उसे ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित किया, वह प्रलय काल की अग्नि के समान उस पक्षी की ओर होकर जलने लगा। ब्रह्मास्त्र की अपार महिमा है, यथा—"ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार। जौ न ब्रह्म सर मानउँ, महिमा मिटइ अपार ॥" (सु० दो० १९), तथा—"ब्रह्म बिसिख ब्रह्मांड दहन छम" (वि० २३९), यह बाण देखने में सीक था, पर उसमें तेज ब्रह्मास्त्र का था, जैसे कि वह देखने में कौआ, पर था जयन्त—देवराज का पुत्र।

(२) 'धरि निज रूप गयउ पितु पाहीं। ··'—अपना रूप इसलिये धारण किया कि जिससे पिता पहचान ले और पुत्र जानकर प्रीति से रक्षा करे। पिता को पुत्र बड़ा प्यारा होता है, यथा—"सुत की प्रीति प्रतीति मीत की ···" (वि० २६८), तथा—"प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्राय वै पिता। शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥" (महा० शान्ति० २६६।१८), अर्थात् पुत्र ही पिता का प्रीतिपात्र है, और पिता ही पुत्र का सर्वस्व है, शरीर आदि देय पदार्थ पिता ही देता है। एवं—"सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः।" (महा० शान्ति० १३९।९६ , अर्थात् जो प्रिय बोले, वही भार्या है और जिस पुत्र से सुख प्राप्त हो, वही पुत्र है। 'राम-बिमुख···'—राम-विमुख को नरक में भी ठौर नहीं मिलता, यथा—"राम-बिमुख थल नरक न लहहीं।" (अ० दो० २५१), तब स्वर्ग में कैसे ठौर मिले, यथा—"बरषा को गोबर भयो, को चह को कर प्रीति। तुलसी तू अनुभवहि अब, राम बिमुख की रीति ॥" (दोहावली ७३)।

(३) 'भा निरास उपजी मन त्रासा।'—पिता देवराज है, समर्थ है, जब उसने ही नहीं रक्खा, तो दूसरा कौन रक्खेगा, इससे निराश हो गया और डर गया। आगे कहा है—"मातु मृत्यु पितु समन समाना। · " इससे जान पड़ता है कि पिता उल्टा इसे और मारने दौड़ा। इससे हृदय से भय उपजा, यथा—"स पित्रा च परित्यक्तः सुरैश्च परमर्षिभिः। त्रील्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ॥" (वाल्मी० ५।३८।३२), 'जथा चक्रभय···'—दुर्वासा की कथा पूर्व अ० दो० २१७ चौ० ७ में देखिये। वहाँ १ वर्ष लगा और अम्बरीष की ही शरण में रक्षा हुई। इस दृष्टान्त के अनुरोध से वैसे यहाँ भी १ वर्ष भागता रहा, पीछे श्रीसीताजी की कृपा से शरणागति स्वीकृत हुई, तब रक्षा हुई और विष्णु भगवान् के चक्र के समान श्रीरामजी का सींक-बाण तेजस्वी हुआ।

(४) 'ब्रह्म-धाम सिवपुर·····'—पहले ब्रह्मा के लोक को गया कि बाण उनके मन्त्र से योजित है, वे चाहें तो बचा लें। फिर शिव-लोक को गया कि वे प्रलय के करनेवाले समर्थ देवता हैं, बचा लें। फिर सब लोकपालों के यहाँ गया। लोक-पाल, यथा—"रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी ॥" (बा० दो० १८१), इनसबों ने उत्तर दे दिया। 'श्रमित'—करोड़ों योजन चला, व्याकुल

हो गया कि अब जीता न बचूँगा। 'भय'—ब्रह्मास्त्र का, 'सोका'—बुरे कृत्य का। कहा भी है—"जौ खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥" (लं० दो० २६)।

(५) 'काहू बैठन कहा न ओही।'—श्रीरामजी सबके आत्मा हैं। अतः, इनका द्रोही सभीका द्रोही हो गया, इसीसे उसे किसीने बैठने तक न कहा। कवि भी उसे 'ओही' इस ओछे सर्वनाम से कहते हैं। यद्यपि शरणागत की रक्षा करना धर्म है, तथापि ईश्वर और साधु के द्रोही की सहायता करना भी अधर्म है। यदि कोई हठात् रक्षा करने के लिये उद्यत भी हो, तो कहते हैं—'राखि को सकइ राम कर द्रोही।'—अर्थात् जिसे अपनी भी दुर्दशा करानी हो, वही ऐसे का पक्ष ले। श्रीरामजी से कोई जीत भी तो नहीं सकता, यथा—"ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी० ५।५१।४४)।

मातु मृत्यु पितु समन-समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥६॥
मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहुँ बिबुधनदी बैतरनी॥७॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर-बिमुख सुनु भ्राता॥८॥

शब्दार्थ—समन (शमन)=यम। वैतरणी=एक भयंकर दुःखद नदी जो यम के द्वार पर मानी जाती है। इसमें बरछूदार लहू, हड्डियाँ आदि भरे रहते हैं। दो योजन इसका विस्तार कहा गया है। मरने के पहले जिसने गोदान किया है, वह सुख से पार हो जाता है।

अर्थ—हे श्रीगरुड़जी! सुनो, जो रघुवीर श्रीरामजी से विमुख है, उसके लिये उसकी माता मृत्यु तथा पिता यमराज और अमृत विष के समान हो जाते हैं। उसका मित्र सौ शत्रुओं की करणी करता है और गंगाजी उसे वैतरणी हो जाती हैं। हे भ्राता! सारा जगत् उसको अग्नि से भी अधिक तप्त हो जाता है॥६-८॥

विशेष—'मातु मृत्यु···सुनु भ्राता।'—यहाँ यह दिखाया कि राम-विमुख के सभी उल्टे हो जाते हैं। माता-पिता पालनेवाले हैं, वे ही मृत्यु और यम की तरह मारने और दुर्दशा करनेवाले हो जाते हैं। अमृत, अमरत्व छोड़कर मृत्युकर हो जाता है। मित्र अन्य शत्रु से बचानेवाला है, वही सैकड़ों शत्रुओं का काम करने लगता है। गंगाजी तारनेवाली हैं, वही कष्टदायक हो जाती हैं। संसार-भर उसे कष्टदायक ही हो जाता है, यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥" (बा० दो० १७५)। 'सुनु भ्राता' से श्रीयाज्ञवल्क्य का श्रीभरद्वाजजी से कहना हो सकता है, यथा—"को सिव सम रामहि प्रिय भाई।" (बा० दो० १०३)।

यह तो राम-विमुखता की गति कही गई, श्रीराम-कृपा-पात्र की ठीक इससे उल्टी व्यवस्था है, यथा—"गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥" (सुं० दो० ४), इसे जल, थल और नभ कहीं भी ठौर न मिला—'गयउ पितु पाहीं'—स्वर्ग (नभ) में, 'बिबुध नदी ···'—जल में और 'सब जग'—स्थल में।

नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥९॥
पठवा तुरत राम पहि ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही॥१०॥
आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥११॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥१२॥
निज कृत कर्मजनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ॥१३॥

अर्थ—श्रीनारदजी ने जयन्त को व्याकुल देखा, उन्हें उसपर दया लगी, (क्योंकि) सन्तों का चित्त कोमल होता है ॥९॥ (श्रीनारदजी ने) उसे तुरत श्रीरामजी के पास भेजा, (श्रीनारदजी के शिक्षानुसार) उसने पुकारकर कहा कि हे प्रणत हित ! मेरी रक्षा कीजिये ॥१०॥ भय और आतुरता (व्याकुलता एवं शीघ्रता) के साथ उसने जाकर चरण पकड़ लिये, और कहा कि हे दयालो ! हे रघुराज ! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥११॥ आपका बल और प्रभुता दोनों अतुल हैं। मन्दबुद्धि मैं उसको नहीं जान सका ॥१२॥ हे प्रभो ! अपने किये हुए कर्म से उत्पन्न फल मैंने पा लिया, अब मेरी रक्षा कीजिये, मैं आपकी शरण तककर (आश्रय लेकर) आया हूँ ॥१३॥

विशेष—(१) 'नारद देखा बिकल जयंता । ' '—श्रीनारदजी इसे यथार्थ ज्ञान देंगे, इसीसे इनको 'नारद' कहा है, यथा—'नारं ज्ञानं ददातीति नारदः' अर्थात् नार का अर्थ ज्ञान और द का देनेवाला है। 'लागि दया···'—सन्त है, इससे दया हो आई, यथा—"कोमल चित दीनन्ह पर दाया ।" (उ० दो० ३७), यह सन्तस्वभाव है, यथा—"अनुकोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम् । अनुकोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥" (महा० अनु० ५।२४), अर्थात् दया ही साधुओं के महान् धर्म का लक्षण है। वही उन्हें सदा प्रसन्न किया करती है। भगवान् के भी कोप से सन्त ही बचा सकते हैं। इसीसे तो कहा है—"राम ते अधिक राम कर दासा ॥" (उ० दो० ११९)। जब उसकी मृत के तुल्य दशा हो गई, तब प्रभु की प्रेरणा से श्रीनारदजी आ गये और उसे बचा लिया, नहीं तो मरा ही था।

(२) 'पठवा तुरत राम पहि ···'—भागते हुए समय में ही कहा कि दूर से ही पुकारकर कहना, जिससे सुन ले। पुकारकर कहने से अभिमान टूटेगा और दीनता आवेगी, तब वह प्रपत्ति का अधिकारी होगा, क्योंकि श्रीमुख-वचन है—"मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।" (सु० दो० ४३), प्रभु का यह स्वभाव श्रीनारदजी जानते हैं, यथा—"सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जा कहँ कतहुँ न ठाँउ। आये सरन भयउँ न तजउँ तेहि यह जानत रिपि राउ ॥" (गी० सु० ४५)।

पहले दूर से पुकारकर कहेगा कि हे प्रणतहित ! पाहि (रक्षा कीजिये), यह वाचिकी-मात्र प्रपत्ति करेगा, तब पीछे कायिकी, वाचिकी, और मानसी करेगा। ऐसा ही विभीषण ने भी किया है कि पहले दूर से पुकारकर कहा, तब उन्हें वानरों से अभय मिला, फिर समीप जाकर विधिवत् शरणागति की। अभियुक्तों ने कहा भी है—"काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्रमौ रक्षतः ।" (भट्टार्क स्वामी)।

पहले राम-विमुख जानकर कवि ने उसका नाम भी न लिया था। 'ओही' शब्द से संकेत किया था। जब दीनता पर प्रभु की दया से सन्त के दर्शन हुए तब उसके पाप नष्ट हुए, यथा—"संत दरस जिमि पातक टरई ।" (कि० दो० १६)। तब 'जयंता—यह नाम लिया है।

पहले श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी ही समझा सकते थे, पर इसका पूर्ण अभिमान नहीं टूटा था, इस मर्म को जानकर उन्होंने नहीं समझाया था, यथा—"ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपति कृपा मरम मैं पावा ॥ होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवइ चह कृपानिधाना ॥" (उ० दो० ६१)।

(३) 'आतुर सभय गहेसि ' '—'आतुर'—श्रीनारदजी ने 'पठवा तुरत' इससे यह 'आतुर' आया। पहले तुरत बचन से पुकारा और फिर तुरत ही आया भी। मन, बचन, कर्म तीनों से शरण हुआ—'सभय' से मन, 'गहेसि' से कर्म और 'त्राहि-त्राहि ··' कहने में वचन सूचित किया। 'आतुर सभय' की व्यवस्था पद्मपुराण में कही गई है, यथा—'पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी ॥ प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्। त्राहि त्राहीति भर्त्तारमुवाच दयया विभुम् ॥ तमुत्थाप्य करेणाथ कृपापीयूषसागरः। ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैव तत् ॥" इस प्रसंग से श्रीजानकीजी की नि:सीम दया दिखाई गई है कि अभी ही उसने बिना कारण अंग विदीर्ण किया है, आपने स्वामी श्रीरामजी से कहा भी नहीं, जब वह अपने कर्म-फल से दुःखित हो भय से

घबराकर शरण में आया, तब उल्टा गिरा, अर्थात् श्रीरामजी की ओर पाँव और महारानीजी की ओर सिर हुआ। तब श्रीजी ने कृपा करके उसका सिर प्रभु के चरणों में लगा दिया और उसकी अन्तिम दशा पर स्वामी से उसकी रक्षा के लिये 'त्राहि-त्राहि' कहकर उसे बचाया, यथा—"स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतं। वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥" (वाल्मी० ५।३८।३३), इस तरह श्रीसीताजी को जीवों की शरणागति में पुरस्कार-रूपा सूचित किया। वाल्मीकिजी ने यही लक्षित कराया है, यथा—"स भ्रातुश्चरणौ गाढ़ निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम्॥" (अ० स० ३१।२), 'त्राहि त्राहि'—भय की वीप्सा है, अर्थात् डर के मारे बार-बार कहा। 'रघुराई'—रघुकुल ही शरण्य है। आप तो उस कुल के राजा हैं, मुझे शरण दें, पुनः रघु=जीव-मात्र के राजा हैं। अतः, मुझ नीच जीव को शरण दें।

(४) 'अतुलित बल···'—परीक्षक ने स्वयं स्वीकार किया कि आपके बल की परीक्षा मिल गई, आप अतुलित बल एवं प्रभुतावाले हैं। मतिमन्द होने के कारण मैं पहले न जान सका था। इसीसे अनजान की चूक क्षम्य है, यथा—"छमहु चूक अनजानत केरी।" (बा० दो० २८१)।

(५) 'निज कृत कर्मजनित ·····'—अर्थात् इसमें आपका कोई दोष नहीं, मैंने अपने कर्म ही का फल पाया, यथा—"निजकृत करम भोग सब भ्राता॥" (अ० दो० ९१), 'प्रभु'—अर्थात् आपके समान समर्थ चौदहो भुवनों में कोई नहीं है। यह मैंने घर-घर टटोलकर देख लिया, यथा—"त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः।" (वाल्मी० ५।३८।३२)।

सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥१४॥

सोरठा—कीन्ह मोह-बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित।
प्रभु छाड़ेउ करि छोह, को कृपाल रघुबीर-सम॥२॥

अर्थ—(श्रीमहादेवजी कहते हैं कि) हे पार्वतीजी! कृपालु श्रीरामजी ने उसके अत्यन्त आर्त्त वचन सुनकर उसे एक आँख का करके छोड़ दिया॥१४॥ उसने मोह के वश होकर शत्रुता की थी, (इसपर) यद्यपि उसका वध करना ही उचित था, तथापि कृपा करके प्रभु ने उसे छोड़ दिया। अतः, रघुवीर श्रीरामजी के समान कृपालु कौन है? (कोई नहीं)॥२॥

विशेष—(१) 'सुनि कृपाल····· '—'अति आरत बानी', यथा—"प्रनतपाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैगो तोहि॥" (लं० दो० २०), वैसे जयन्त ने भी कहा है—"प्रनतहित पाही", "त्राहि-त्राहि दयालु रघुराई", "अब प्रभु पाहि" इससे श्रीरामजी ने अभय किया। 'अति' शब्द का भाव यह कि थोड़ी भी दीनता को मान लेते हैं, यथा—"सुनत बिनीत बचन अति, कह कृपालु मुसुकाइ।" (सुं० दो० ५९)।

'एक नयन करि तजा भवानी'—इससे बाण की अमोघता भी रक्खी और उसे शिक्षा भी हुई। एक आँख ही फोड़ी, क्योंकि और कोई भी अंग-हीन होने से (जैसे कि एक हाथ एवं एक पैर के काटने से) सदा दुःख रहता, पर एक आँख रहने से दोनों का काम हो जाता है। यह बाण-मर्यादा की रक्षा के साथ उसपर दया है।

(२) कीन्ह मोह-बस द्रोह·····'—द्रोह का कारण मोह है, यथा—करहिं मोह बस द्रोह पराबा।" (उ० दो० ३९), 'जद्यपि तेहि··· ··'—श्रीपार्वतीजी को सन्देह हुआ कि जब एक आँख फोड़ी ही, तब शरण होने का क्या फल हुआ? इसपर श्रीशिवजी न्याय-दृष्टि से कहते हैं कि वध-दण्ड के बदले एक ही अंग (वह भी उसकी सम्मति से) लेकर छोड़ दिया, इसमें न्याय और छोह दोनों की रक्षा की, यथा—

"तमब्रवीत । मोघमस्त्रं न शक्यं तु ब्राह्मं कर्त्तुं तदुच्यताम् ॥ ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्तिस्म स दक्षिणम् । दत्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः ॥" (वाल्मी० ५।३८।३४-३५) । अतः, आँख फोड़ने में भी कृपालुता है, यथा—"वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ॥" (वाल्मी० ५।३८।३३), अर्थात् महर्षिजी का भी ऐसा ही सम्मत है कि वध के योग्य था, प्रभु ने कृपा से रक्षा की है ।

(३) 'प्रभु छाड़ेउ ··को कृपालु ·····'—सामर्थ्य रहते हुए क्षमा करके कृपा करना प्रायः नहीं देखा जाता, क्योंकि क्रोध में शान्ति का रहना दुर्लभ है, यथा—"क्रोधहि सम ··ऊसर बीज बये फल यथा ॥" (सुं० दो० ५७), "येहि के कंठ कुठार न दीन्हा । तो मैं काह क्रोध करि कीन्हा ॥" (बा० दो० २७८), पर श्रीरामजी में यहाँ चरितार्थ है । इसीसे इस प्रसंग के आदि, मध्य और अन्त में भी कृपा-गुण कहा गया है, यथा—"अति कृपाल रघुनायक, सदा दीन पर नेह ।" "सुनि कृपाल अति आरत बानी ।" और—"को कृपालु रघुबीर सम ।"

इस चरित्र से प्रभु ने अपना बल, प्रभुता और प्रताप प्रकट करके सबको दिखाया, यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई । मैं मति मंद जानि नहिं पाई ॥" प्रताप, यथा—"ब्रह्मधाम सिवपुर···काहू बैठन कहा न ओही ।" इससे देवताओं को धैर्य हुआ कि जब देवराज के पुत्र की शरण होने पर भी श्रीसीताजी के अपराध पर आँख फोड़ी गई, तब इन्हीं (श्रीसीताजी) का अपराध करके अभिमानी राक्षस रावण कैसे बच सकेगा ? श्रीसीताजी ने कहा भी है—"मेरे लिये एक काक पर जिन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे (श्रीरामजी) उसे कैसे क्षमा कर रहे है, जिसने मेरा हरण किया है ।" (वाल्मी० ५।३८।३७) ।

रघुपति चित्रकूट बसि नाना । चरित किये श्रुति-सुधा-समाना ॥१॥
बहुरि राम अस मन अनुमाना । होइहि भीर सबहिं मोहि जाना ॥२॥
सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई । सीतासहित चले दोउ भाई ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने चित्रकूट में बसकर अनेक चरित किये, जो कानों को सुनने में अमृत के समान (सुखदायी) है ॥१॥ फिर श्रीरामजी ने अपने मन में ऐसा अनुमान किया कि मुझे सभी जान गये, इससे यहाँ भीड़ होगी ॥२॥ (अतः) समस्त मुनियों से विदा करा कर (वहाँ से) श्रीसीताजी के साथ दोनों भाई चले ॥३॥

विशेष—(१) 'रघुपति चित्रकूट बसि ···· '—इसका उपक्रम—"अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन ।···" से हुआ, यहाँ—'रघुपति चित्रकूट ··' पर उपसंहार हुआ । इसके अन्तर्गत नाना चरित किये, पर उनमें एक बार का ही यहाँ कहा गया, यथा—एक बार चुनि···' जिसमें कि अन्त में जयन्त ने विघ्न किया । वे चरित भी श्रुति-सुधा समान ही थे, अर्थात् सब शृंगार रस के थे और उनके अन्तर्गत अन्य रस भी थे । जैसे कि इस एक रस में वर्णित है—(१) फूलों के भूषण बनाकर सादर पहनाने में शृंगार रस की पराकाष्ठा है, (क्योंकि यहाँ यही प्रधान है), (२) मुसकान सहित कुछ छेड़छाड़ में हास्य, (३) इसी समय जयन्त के कर्त्तव्य से रक्त का चलना बीभत्स, (४) उसपर प्रभु को क्रोध आना रौद्र, (५) सींकबाण में भी ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करना वीर, (६) जयन्त का भय से भागना भयानक, (७) दो ही अंगुल पीछे ब्रह्मास्त्र रहा, पर वह जला नहीं, यह अद्भुत, (८) शरण आने पर क्षमा करना, करुणा और (९) सब होने पर भी चित्त स्थिर है, शान्त ।

श्रीवाल्मीकि मुनि ने कहा था—"चित्रकूट गिरि करहु निवासू । तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू ॥" (अ० दो० १३१), अतः,—"रघुपति चित्रकूट बसि नाना । चरित किये ···" यहाँ चित्रकूट निवास की पूर्त्ति कही गई ।

(२) 'होइहि भीर·····'—श्रीअवध और श्रीमिथिला के लोग सब जान गये है, किसी-न-किसी बहाने से आते-जाते रहेंगे, इससे भीड़े हुआ करेगी। यह हमारी विशेष उदासीन वृत्ति के विरुद्ध होगा। वा, जयन्त-प्रसग से यहाँ के लोग ऐश्वर्य जान गये। अतः, भीड़ हुआ करेगी।

(३) 'सकल मुनिन्ह सन बिदा·····'—विदा होकर जाना शिष्टाचार है, यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन ·····" (बा० दो० ४७), "गयउ राउ गृह बिदा कराई।" (बा० दो० २१६), 'सकल'—से विदा कराके जाने में सबको सन्तोष होगा और आपका सरल स्वभाव भी सब जानेंगे। आगे भी कहेंगे—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (दो० ६)।

'प्रभु अरु अत्रि भेंट'-प्रकरण

अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ। सुनत महामुनि हरषित भयऊ॥४॥
पुलकित गात अत्रि उठि धाये। देखि राम आतुर चलि आये॥५॥
करत दंडवत मुनि उर लाये। प्रेम-बारि दोउ जन अन्हवाये॥६॥
देखि राम-छवि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी जब अत्रि मुनि के आश्रम में गये, तब वे महामुनि सुनते ही हर्षित हो गये॥४॥ श्रीअत्रिजी शरीर से पुलकित हो गये और उठ दौड़े, (मुनि को दौड़े हुए आते) देखकर श्रीरामजी बड़ी शीघ्रता से चलकर आये॥५॥ मुनि ने दंडवत् करते ही श्रीरामजी को अपने हृदय से लगा लिया और अपने प्रेमाश्रुओं से दोनों जनों को नहला दिया॥६॥ श्रीरामजी की छवि देखकर मुनि की आँखे शीतल हुईं, तब मुनि आदर सहित उनको अपने आश्रम में ले आये॥७॥

विशेष—(१) 'अत्रि के आश्रम ··'—चित्रकूट से चले, तब 'दोउ भाई' कहा गया, यहाँ 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि श्रीअत्रिजी इनके ऐश्वर्य को मानकर दौड़ेंगे। अभी आश्रम की सीमा पर पहुँचे है। यह स्थल श्रीचित्रकूट (रामघाट) से जिसका वर्णन सात अर्द्धालियों में हुआ है, सात ही अर्द्धकोशों पर है; वहाँ से श्रीअत्रिजी की कुटी एक अर्द्धकोश पर है, जिसे आगे आठवीं अर्द्धाली मे कहेंगे। अर्द्धाली के क्रम में ७ वीं पर मिलना और ८ वीं पर कुटी लिखकर अर्द्धकोश की माप भी जता दी। ऐसे ही वाल्मीकि आश्रम पर आते समय भी दो बार आश्रम लिखा गया है, यथा—"बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।" (अ० दो० १२३) और—"करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ० दो० १२८), यहाँ के-से वहाँ भी दो जगहों के अर्थ है। शेष बातों का भी मिलान—

श्रीअत्रिजी		श्रीवाल्मीकिजी
अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ।	(१)	बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।
देखि राम-छवि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने।	(२)	देखि राम छवि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहि आने॥
दिये मूल फल प्रभु मन भाये।	(३)	कंद मूल फल मधुर मँगाये। सिय सौमित्रि राम फल खाये॥
प्रभु आसन आसीन।	(४)	तब मुनि आश्रम दिये सुहाये।
भरि लोचन सोभा निरखि।	(५)	मंगल मूरति नयन निहारी॥

'सुनत महामुनि · '—कोल भीलों ने कहा होगा, यथा—"सब समाचार किरात कोलन्ह आइ तेहि अवसर कहे।" (अ० दो० २२६), 'हरषित भयऊ'—यहाँ मन का हर्ष है। आगे—'पुलकित गात' में बाह्य का भी हर्ष कहा है। 'महामुनि'—यहाँ के मुनियों में ये प्रधान हैं, यथा—"रिषि नायक जहँ आयसु

देहीं।" (अ० दो० ३०१), इसीसे और को 'मुनिन्ह' कहा है, यथा—"सकल मुनिन्ह सन···" और इन्हें 'महामुनि'।

(२) 'पुलकित गात अत्रि उठि धाये।'—भीतर-बाहर हर्ष भर गया और उठ दौड़े, यथा—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥" (दो० ९)—सुतीक्ष्ण मुनि, "सुनत अगस्ति तुरत उठिधाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥" (दो० ११)। 'देखि राम आतुर चलि आये।'—मुनि सुन चुके थे, इससे आश्रम से ही उठ दौड़े और श्रीरामजी ने जब मुनि को देखा, तब तेजी से चल कर आये। ये दौड़े नहीं, क्योंकि इनके साथ श्रीमहारानीजी हैं, पर फिर भी आप शील-सिन्धु हैं, इससे आतुर चले कि मुनि को दौड़कर अधिक आना न पड़े, यथा—"सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू। ·· चले सबेग राम तेहि काला। धीर-धरमधुर दीन दयाला॥" (अ० दो० २४२)।

'करत दंडवत मुनि ··'—दोनों ओर से प्रेम और आतुरता है, इधर इनके दण्डवत् करते ही मुनि ने हृदय से लगाया और प्रेमाश्रुओं से नहला दिया। यह अत्यन्त प्रेम की दशा है, यथा—"अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥" (अ० दो० २४४), 'अन्हवाये'—शब्द से सूचित किया कि श्रीरामजी ने माधुर्य में दण्डवत् की है। मुनि ने इनकी लीला की मर्यादा रखने के लिये उर में लगाया है। पर वे इन्हें ऐश्वर्य भाव से पूजेंगे और वैसी ही स्तुति भी करेंगे। उस पूजा के षोड़शोपचार में स्नान यहीं जानना चाहिये। प्रभु के दण्डवत करने के अनुरोध से मुनि ने यहाँ प्रणाम न किया और न विनती ही की, पर आगे दोनों करेंगे और भक्ति का वर भी माँगेंगे।

(४) 'देखि राम-छवि नयन जुड़ाने।···'—श्रीरामजी की छवि ऐसी ही सुखदाई है, यथा—"तदपि अधिक सुखसागर रामा॥" (बा० दो० १९७), मुनियों ने अनुभव किया है, यथा—"भये मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा।" (बा० दो० २०६)—विश्वामित्रजी, "रामहि चितइ रहे थकि लोचन।" (बा० दो० २६८)—परशुरामजी, इत्यादि। 'जुड़ाने'—अर्थात् पहले दर्शनों के लिये सन्तप्त थे, यथा—"चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥" (दो० ७)—शरभंगजी, "देखि राम छवि नयन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहि आने॥" (अ० दो० १२४)—वाल्मीकिजी, इत्यादि। मुनि के नेत्र-जल से प्रभु शीतल हुए, और अपने छवि रूपी जल से मुनि के नेत्रों को शीतल किया, यथा—"भरि लोचन छवि सिंधु निहारी।" (बा० दो० ४९), अर्थात् छवि समुद्र और दर्शन जल है। "सादर निज आश्रम तब आने॥"—'आदर', यथा—"प्रेम पट पाँवड़े देन सुअरघ बिलोचन बारि।" (गी० अर० १७), 'प्रेम पट', यथा—"जबहिं राम कहि लेहि उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥" (अ० दो० २१९)।

करि पूजा कहि बचन सुहाये। दिये मूल फल प्रभु मनभाये॥८॥

सो०—प्रभु आसन आसीन, भरि लोचन सोभा निरखि।
मुनिबर परम प्रबीन, जोरि पानि अस्तुति करत॥३॥

अर्थ—पूजा करके और सुहावने वचन कहकर उन्होंने प्रभु को उनके मन के अनुकूल कन्द-मूल-फल दिये॥८॥ प्रभु आसन पर विराजमान हुए, तब नेत्र भरकर उनकी शोभा देख परम प्रवीण मुनिश्रेष्ठ (दोनों) हाथ जोड़ कर स्तुति करने लगे॥३॥

विशेष—(१) 'करि पूजा'—पूजन १६ प्रकार के होते हैं, यथा—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्राण्याभरणानि च॥ सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्यवन्दनम्।" इनमें, 'प्रभु आसन आसीन'—यह आसन, 'प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये।' यह स्नान, 'दिये मूल फल प्रभु मन

भाये।'—नैवेद्य, 'जोरि पानि अस्तुति करत—वन्दना है। शेष अंग 'करि पूजा' में समझ लेना चाहिये। 'कहि बचन सुहाये', यथा—"मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।" (दो० ११), अर्थात् कहा कि आपके पधारने से हम बड़े भाग्यशाली हुए, मुझे घर बैठे दर्शन हुए, अब मेरा आतिथ्य भी स्वीकार कर मुझे कृतार्थ कीजिये, यथा—"करि प्रबोध मुनिवर कहेउ, अतिथि प्रेम प्रिय होहु। कंद मूल फल फूल हम, देहि लेहु करि छोहु॥" (अ० दो० २१०)।

'मन भाये'—प्रभु की रुचि के अनुकूल एवं प्रभु की इच्छा-भर, पूर्ण खिलाया।

(२) 'प्रभु आसन आसीन'''—प्रभु जब आसन पर विराजे और मुनि भी सब कृत्य से सावकाश हुए, तब छवि को भरिलोचन (पूर्ण अभिलाषा-सहित) देखने लगे। दर्शनों की अत्यन्त अभिलाषा पर ही 'भरिलोचन' शब्द का प्रयोग होता है, यथा—"हृदय बिचारत जात हर, केहि बिधि दरसन होइ।'''तुलसी दरसन लोभ, मन डर लोचन लालची॥" (बा० दो० ४८), जब उन्हें दर्शन हुए, तब लिखते है—"भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।" (बा० दो० ४९) ऐसे ही उत्कृष्ट अभिलाषा पर ही मनुजी, श्रीअवधवासी और श्रीभुशुण्डीजी को श्रीरामजी के दर्शन हुए, तो सर्वत्र 'भरि लोचन' कहा गया है, यथा—"देखहि हम सो रूप भरि लोचन।" (बा० दो० १४५), "मंगल मूरति लोचन भरि-भरि। निरखहिं'''" (अ० दो० २४८), "भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥" (उ० दो० ११०)।

वैसे बहुत अभिलाषा पर दर्शन पाये, अतएव नेत्रों से छवि रूपी-जल को भर रहे है, यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृंग। सादर पान करत अति, धन्य जनम सरभंग॥" (दो० ७)।

'मुनिवर परम प्रवीन'''—प्रभु का प्रभाव जानकर वैसी ही स्तुति करते हैं। इसलिये परम प्रवीण कहे गये। श्रीअत्रिजी सप्तर्षियों में है, अतएव सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान का एक धाम हैं। सामान्य प्रलय में सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान इन्हींमें रहता है, फिर इन्हींसे विस्तार पाता है। ये ब्रह्मा के पुत्र हैं। अतः, ये भी स्तुति में वैसे ही निपुण हैं, यथा—"सुनि बिरंचि मन हरष तन, पुलक नयन भरि नीर। अस्तुति करत जोरि कर, सावधान मति धीर॥" (बा० दो० १८५)। 'जोरि पानि'—ऐश्वर्य भाव से स्तुति करने की यही रीति है, यथा—"कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता॥" (बा० दो० १९१), "बंदि चरन बोली कर जोरी।" (बा० दो० २३४)।

छन्द—नमामि भक्तवत्सलं। कृपालु शील कोमलं।
भजामि ते पदांबुजं। अकामिनां स्वधामदं॥१॥
निकाम-श्याम-सुन्दरं। भवांबु-नाथ-मंदरं।
प्रफुल्ल-कंज-लोचनं। मदादि-दोष-मोचनं॥२॥

अर्थ—भक्तवत्सल, कृपालु और कोमल शील-स्वभाववाले, आपको मैं नमस्कार करता हूँ, निष्काम वृत्तिवाले भक्तों को अपना धाम देनेवाले आपके चरण-कमलों की मै सेवा करता हूँ॥१॥ आप शरीर से पर्याप्त श्याम सुन्दर, भव सागर को (मथन करनेवाले) मन्दराचल-रूप, प्रफुल्ल-कमल के समान नेत्रवाले और मद आदि दोषों के छुड़ानेवाले है॥२॥

विशेष—(१) 'नमामि भक्तवत्सलं ··'—भक्तों के प्रति वत्सलता एवं औरों के प्रति कृपालुता का बर्ताव रखते हैं, यथा—"भगत बछल प्रभु कृपा निधाना।" (मनु-प्रसंग), "सब पर मोहि बराबरि दाया।" (उ० दो० ८६), अपराधियों के लिये शील और कोमलता है। जैसे कि जयन्त का वध उचित

था, पर आपने छोड़ दिया। पहले भक्तवत्सल कहा है, क्योंकि जैसे गौ को बछड़ा बहुत प्यारा होता है, वैसे ही आपको भक्त प्यारे हैं। गौ परवश चरने भी जाती है, तो दौड़कर बछड़े के पास आती है। वैसे ही आपके अमानी भक्त बालक के समान हैं, उनके प्यार से आप वहाँ जाते हैं, भाव यह कि हमारे यहाँ आप इसी गुण से पधारे है। आप भी राज्य-रूपी बन्धन तोड़ हम वन-वासियों को दर्शन दे कृतार्थ करने यहाँ आये है, यथा—"नव गयंद रघुबीर मन, राज अलान समान। छूटि जान बन गमन सुनि, उर अनंद अधिकान॥" (अ० दो० ५१)। तथा—"भगत बछलता प्रभु कै देखी।" (उ० दो० ८२)। गौ बछड़े की मलिनता को चाटकर साफ करती है, वैसे ही आप भक्तों के दोषों को दूर करके उन्हें शुद्ध कर लेते है। 'स्वधामदं'—जो निष्काम होकर आपकी भक्ति करते है, उन्हें अपना धाम देते हैं। स्वधाम में साकेत, वैकुण्ठ आदि सभी कल्प-भेद के धामों का समावेश है। 'अकामिनां'—भाव यह कि कामना-वालों को कामना मात्र देकर छुट्टी पा जाते हैं, जो कुछ नहीं चाहते, उन्हें तो धाम ही देते है, यथा—"मद्भक्ता यान्ति मामपि॥" (गीता ७।२३), "यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता ८।२१), धाम का अर्थ लोक, स्वरूप और तेज भी है। अतः, अधिकारानुसार सबकी प्राप्ति जनाई।

(२) 'निकाम-श्याम-सुंदरं···'—निकाम=अत्यन्त, यथा—"कोपे समर श्रीराम, चले बिसिप निसित निकाम।" (दो० १९), काम, प्रकाम और निकाम पर्याप्त परिपूर्णता के वाचक हैं—"कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्॥" (अमरकोष)। 'श्याम सुंदरं भवांबु ··', यथा—"श्यामल गात प्रनत भवमोचन।" (सुं० दो० ४४), भव-सागर को मथकर आप भक्त-रूपी रत्न निकाल लेते है, वे रत्नरूपी भक्त कर्म-रूपी कीचड़ से पृथक् हो, स्वस्वरूप-प्रयुक्त गुणों से कान्तिमान हो जाते है और सदा के लिये जन्म-मरण से छूट जाते है। 'प्रफुल्ल कंज लोचनं' के साथ 'मदादि दोष मोचनं' कहकर जनाया कि आप अपनी कृपादृष्टि से उन दोषों को छुड़ाते हैं, वे नेत्र कृपा-रस-पूर्ण हैं। 'मदादि दोष'—काम, क्रोध, लोभ आदि, जिन्हें उ० दो० १२० में मानस रोग कहा है।

यह नगस्वरूपिणी छन्द है—इसे प्रमाणिका एवं प्रमाणी भी कहते है। इसका प्रत्येक चरण "ज, र, ल, ग" अर्थात् क्रमशः जगण, रगण, लघु और गुरु के होता है, तदनुसार इसके चारो चरणों मे ८ अक्षर होते है, दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ वर्ण गुरु (बड़ा) होते हैं, नग पहाड़ को भी कहते है, यहाँ से आगे श्रीरामजी को पहाड़ों की चढ़ाई विशेष मिलेगी, यह बात इस छन्द के प्रयोग से सूचित की है।

प्रलंब - बाहु - विक्रमं। प्रभोऽप्रमेय - वैभवं।
निषंग - चाप - सायकं। धरं त्रि-लोक-नायकं॥३॥
दिनेश - वंश - मंडनं। महेश - चाप-खंडनं।
मुनींद्र - संत - रंजनं। सुरारि - वृन्द-भंजनं॥४॥

अर्थ—हे प्रभो! आपकी लम्बी (आजानु) भुजाओं का पराक्रम और ऐश्वर्य प्रमाण-रहित है। तरकस और धनुष-बाण धारण करनेवाले तथा तीनों लोकों के स्वामी॥३॥ आप सूर्यवंश के सुशोभित करनेवाले (भूषण-रूप), श्रीशिवजी के धनुष को तोड़नेवाले, मुनि-श्रेष्ठों और सन्तों को आनन्द देनेवाले और असुर-समूह के नाशक है॥४॥

विशेष—(१) 'प्रलंब-बाहु-विक्रमं', यथा—"अतुलितभुजप्रतापबलधामा" (दो० १०)। भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं, इसीसे आपको 'आजानुबाहु' कहा जाता है। ये भुजाएँ अतुलनीय पराक्रमवाली हैं, इनसे ही शत्रु नहीं बच सकता, फिर भी धनुष-बाण धारण किये हुए हैं। इनसे त्रिलोक की रक्षा करते हैं,

इनके प्रभाव से सूर्य वंश की प्रतिष्ठा है, इन्हीं से श्रीशिवजी का धनुष तोड़ा गया है। आप मुनि-श्रेष्ठों और सन्तों के रक्षक एवं आनन्द वर्द्धक हैं, इसीलिये असुरों का नाश करते हैं।

(२) 'प्रलंब-बाहु' के कार्य, यथा—"दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥" (सुं० दो० ४५), तथा—"तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ जिमि-जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा॥ ···" (उ० दो० ७८), "सुंदर-स्याम-सरीर-सैल ते धँसि जनु जुग जमुना अवगाहैं। अमित अमल बल जल परिपूरन जनु जननी सिंगार सविता है॥" (गी० उ० १३)। 'अप्रमेय वैभवं' यथा—"अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहि पाई॥" (दो० १), यह अभी जयन्त ने जाँचकर कहा है। 'त्रि-लोक-नायकं', यथा—"दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना है। सुबस बसे गावत जिनके जस अमर-नाग-नर-सुमुखि सनाहैं॥" (गी० उ० १३), (इस पूरे पद में भुजाओं का महत्त्व देखिये)। 'दिनेश-वंश-मंडनं'—सूर्यवंशी सूर्य के समान प्रतापी होते हैं, आप उनसे भी अधिक प्रतापी है। 'महेश-चाप-खंडनं' से अप्रमेय बल दिखाया। 'मुनीद्र-संत-रंजनं', यथा—"सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ-जाइ सुख दीन्ह॥" (दो० ६), "तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥" (सुं० दो० ४१), "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥" (गीता ४।८)।

श्लोक ३ में वीर स्वरूप और ४ में रामायण है। जैसे कि भक्तवत्सल प्रथम ही कहकर मनु-प्रसंग सूचित किया, यहाँ 'दिनेश-वंश-मंडनं' से जन्म-प्रसंग और 'महेश-चाप-खंडनं' से व्याह-प्रसंग कहकर बालकाण्ड पूरा किया।

(३) 'मुनींद्र-संत-रंजनं' से राज्य-त्याग के प्रसंग से अयोध्याकाण्ड हुआ। 'सुरारि-वृंद-भंजनं' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकाण्ड की कथा सूचित की। पुनः आगे के—'मनोज-वैरि-वंदितं···' से राज्याभिषेक आदि और 'विशुद्ध-बोध-विग्रहं। समस्त दूषणापहं' से शान्ति पूर्ण राम-राज्य कहकर उत्तरकाण्ड पूरा किया।

मनोज - वैरि - वंदितं। अजादि-देव-सेवितं।
विशुद्ध - बोध - विग्रहं। समस्तदूषणापहं ॥५॥
नमामि इंदिरापतिं। सुखाकरं सतां गतिं।
भजे सशक्ति-सानुजं। शचीपति -प्रियानुजं ॥६॥
त्वदंघ्रिमूल ये नराः। भजंति हीनमत्सराः।
पतंति नो भवार्णवे। वितर्क - वीचि-संकुले ॥७॥
विविक्तवासिनस्सदा। भजंति मुक्तये मुदा।
निरस्य इंद्रियादिकं। प्रयान्ति ते गतिं स्वकं ॥८॥

अर्थ—कामदेव के शत्रु श्रीशिवजी से वन्दित, ब्रह्मादि देवताओं से सेवित, विशेष शुद्ध ज्ञान-शरीर और समस्त दोषों के हरणकर्त्ता (आप-) को ॥५॥ मैं नमस्कार करता हूँ। श्रीलक्ष्मीजी के पति, सुख की खान और सज्जनों की (एक-मात्र) गति आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इन्द्राणी के पति इन्द्र के प्रिय भाई (छोटे भाई वामन-रूप), आदि शक्ति श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ आपका मैं भजन

करता हूँ ॥६॥ जो मनुष्य मत्सर-रहित होकर आपके चरण-मूल का भजन करते हैं, वे वितर्क-रूपी लहरों से पूर्ण संसार-सागर में नहीं गिरते ॥७॥ एकान्तवासी लोग इन्द्रियों के विषयों से उदासीन होकर जो आनन्द-पूर्वक मुक्ति के लिये सदा आपका भजन करते है, वे अपनी (स्वकीय) गति को प्राप्त होते हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'मनोज वैरि·· ··'—'मनोज वैरि' निवृत्तिपरक और 'अजादि-देव' प्रवृत्ति-परक सेवक हैं, अर्थात् संसार की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले भी आपकी सेवा करते हैं, यथा—"सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥" (ल० दो० २१), "ब्रह्मा शम्भुफणीन्द्र-सेव्यमनिशं···" (उ० म०), श्रीशिवजी सदा आपके यश गाते है, अन्य देवता आपके द्वारा नियत किये हुए कार्य करते हैं।

(२) 'विशुद्ध-बोध-विग्रहं' अर्थात् आपका शरीर शुद्ध ज्ञानमय है, यथा—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥" (अ० दो० १२६), अर्थात् आपका स्वरूप आधि-व्याधि से रहित है। इसीसे साथ ही 'समस्त-दूषणापहं' भी कहा, क्योंकि ज्ञान समस्त दूषणों का नाशक है, यथा—"जहँ-तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रिय गन उपजे ज्ञाना ॥" (कि० दो० १४), तथा आश्रित के दूषणों का हरण करते है, जैसे कि धामाश्रित रजक के विषय में कहा गया है—"सिय निंदक अघ ओघ नसाये। लोक बिसोक बनाइ बसाये ॥" (बा० दो० १५)।

(३) 'नमामि इंदिरापति···'—श्रीलक्ष्मीजी के अतिरिक्त और भी सब सुखों की खान हैं, यथा—"जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी ॥ सो सुखधाम राम अस नामा ॥" (बा० दो० १९६), 'इंदिरापति' के साथ 'नमामि' और 'सशक्तिसानुजं' के साथ 'भजे' कहा, भाव यह कि आपके अन्य रूपों को नमस्कार-मात्र करता हूँ। मेरा सेव्य श्रीसीता-लक्ष्मणजी-सहित यही रूप है।

'सतां गतिं', यथा—"परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते।" (वाल्मी० ३।६।२०), "सर्वदा-भिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।" (वाल्मी० १।१।१६), "निवासवृक्षः साधूनां···" (वाल्मी० ४।१५।१९), "पुनि मम धाम पाइहहु, जहाँ संत सब जाहि ॥" (लं० दो० ११६), 'शचीपतिप्रियानुजं'—इन्द्र का राज्य बलि ने छीन लिया था, उसके प्रियत्व से आपने वामन-रूप धारण किया और बलि से भिक्षा माँगकर उसे राज्य दिया। वामनजी की कथा अ० दो० २६ चौ० ७ मे लिखी गई। भाव यह कि इन्द्रादि की रक्षा के लिये वहाँ बलि को छला, वैसे ही यहाँ भी आप देवताओं की रक्षा के लिये छल से मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं, नहीं तो मनुष्य ऐसा कहाँ हो सकता है, जिससे ब्रह्मा का वचन सत्य हो।

(४) 'त्वदंघ्रिमूल ··'—चरण का मूल तलवा कहा जाता है, उसमें ही २४ चिह्न होते हैं, वे २४ तत्त्व की प्रकृति में व्यापकता के सूचक हैं, जिनसे ऐश्वर्य का पूर्ण ज्ञान होता है। उपासक लोग उन्हींका ध्यान करते है। रज भी शिरोधार्य करते और उसीका चरणामृत भी लेते है, इसे ही 'पादसेवन भक्ति' कहते है। 'पतंति नो भवार्णवे···', यथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ॥" (बा० म० ६), इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जो इन चरणों से विमुख है, वे भवसिन्धु में पड़ते है, यथा—"बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फलये ॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते। पद पंकज प्रेम न जे करते ॥" (उ० दो० १३), 'वितर्कवीचिसंकुले'—नाना प्रकार के विशेष तर्कों का उठना इस भवसिन्धु की लहरें हैं, यथा—"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥·· अस संसय मन भयो अपारा। ···" (बा० दो० ५०), "खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोह बस···" (उ० दो० ५८)। 'मुदा'—सेवा में अपना अहोभाग्य मानते हैं। अतः, आनन्द मानकर करते हैं। 'गतिं स्वकं'—गति शब्द स्त्रीलिंग है, अतएव 'स्वकं' का 'स्वकाम्' भी पाठान्तर हो गया है, पर प्राचीन पाठ यही मिलता है। जान पड़ता है कि भाषा सिद्ध होने के लिये कवि ने ही ऐसा रख दिया

है, क्योंकि भाषा-निबन्ध रचने का संकल्प कर चुके हैं। बा० मं० श्लोक ७ देखिये। 'गतिं स्वकं', यथा—"जोव पाव निज सहज सरूपा॥" (दो० ३५)। वा, यहाँ साधन की कठिनता और मुक्ति की आकांक्षा के अनुरोध से 'गति स्वकं' से कैवल्य-मुक्ति भी ले सकते हैं, क्योंकि वह मुक्ति शुद्ध जीव स्वरूप के अनुसन्धान से मिलती है—उ० दो० ११६-११८ का भाष्य देखें।

त्वमेकमद्भुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुं॥९॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं।
भजामि भाववल्लभं। कुयोगिनां सुदुर्लभं॥१०॥
स्वभक्त-कल्पपादपं। समं सुमेध्यमन्वहं।
अनूप-रूप-भूपतिं। नतोऽहमुर्विजापतिं।
प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्जभक्ति देहि मे॥११॥
पठंति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं।
व्रजंति नात्र संशयः। त्वदीय-भक्ति-संयुताः॥१२॥

अर्थ—आप एक (अद्वितीय), अद्भुत, समर्थ, चेष्टा-रहित, ईश्वर, व्यापक, जगत्-भर के गुरु और नित्य, तुरीय-रूप ही एवं केवल है॥९॥ भाव-प्रिय, कुयोगियों के लिये अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तों के लिये कल्पवृक्ष-रूप (सुलभ), समदृष्टि (वैषम्य-रहित) और निरन्तर सेवा करने के योग्य आपका मैं निरन्तर भजन करता हूँ॥१०॥ आपके उपमा-रहित भूप-रूप को और पृथ्वी की पुत्री श्रीजानकीजी के पति (आप-) को मेरा नमस्कार है। मुझपर प्रसन्न होइये, आपको मैं नमस्कार करता हूँ, मुझको अपने चरण-कमलों में भक्ति दीजिये॥११॥ जो मनुष्य इस स्तोत्र का आदर-पूर्वक पाठ करते हैं, वे आपकी भक्ति से युक्त होकर (भक्तिपूर्वक कालक्षेप करते हुए अन्त में) आपके पद को चले जाते हैं, इसमें (कुछ भी) सन्देह नहीं है॥१२॥

विशेष—(१) 'त्वमेकमद्भुतं प्रभुं ...'—'एक' अर्थात् आपके समान आप ही हैं, यथा—"राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० २२), वा, आप अद्वितीय हैं, यथा—"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥" (छा० ६।२।१), तथा—"जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा॥" (बा० दो० १८५)। 'अद्भुतं'—आपके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अद्भुत हैं, यथा—"सो सब अद्भुत देखेउँ" (उ० दो० ८०)। 'जगद्गुरु'—सब गुरुओं का गुरुत्व वेद से है, वह वेद भी आपका सहज श्वास है। 'शाश्वतं'—आदि-अन्तरहित, एक-रस नित्य हैं, यथा—"जो तिहुँ काल एक रस अहई।" (बा० दो० ३४०), 'तुरीयमेव'—आप स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों से रहित तुरीयावस्था में ही नित्य हैं। 'भाववल्लभं'—आपको भाव ही प्यारा है, यथा—"भाववश्य भगवान..." (उ० दो० ९२), "प्रभु भाव गाहक अति कृपाल..." (उ० दो० ९२)। 'कुयोगिनां सुदुर्लभं', यथा—"पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोहि बिटप नहिं सकहिं उपारी॥" (लं० दो० ३२), "मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१), यथा—"अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।" (भाग० ३।६।२२), अर्थात् जिनकी वासना पूर्णतया शान्त नहीं हो जाती, उन कुयोगियों को मेरे दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। "कल्पपादपं', यथा—"भक्त-कल्प-पादप-आरामः" (दो० १०), एक को दुर्लभ और दूसरे को सुलभ

कल्पवृक्ष कहने में विषमता पाई गई, उसपर 'समं' कहा, यथा—"यद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥" (अ० दो० २१८), 'सुसेव्यं', यथा—"प्रभु रघुपति तजि सेइय काही। मोसे सठ पर ममता जाही॥" (उ० दो० १२२), 'समं' कहकर 'अन्वहं सुसेव्यं' कहा है। भाव यह कि कुयोगी में भाव नहीं है। इसीसे उनसे दूर है, भक्तों में भाव है, इसीसे उनके लिये कल्पवृक्ष हैं, तो निरन्तर सेवा ही करनी चाहिये। नवें श्लोक में निर्गुण ऐश्वर्य कहा और दसवें में अपनी प्राप्ति होने की सुगमता कही गई।

(२) 'अनूपरूपभूपतिं '—आपका भूपति-रूप अनूप है, यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं चरणांबुज प्रेम सदा सुभदं॥" (ल० दो० १०९), "भूप रूप तब राम दुरावा।" (दो० ९), भूपति कहकर तब भक्ति माँगते हैं, क्योंकि देना राजा ही का काम है (पुनः) आगे सब पाठकों के लिये भी माँगते हैं—

(३) 'पठंति ये स्तवं इदं ·····'—स्तोत्र चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—"द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च॥ तथैवाभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेव चतुर्विधम्।" (मत्स्य पु० १४४।५९-६०), यहाँ प्रधानतया गुण-स्तोत्र है। 'नात्र संशयः'—क्योंकि—'भक्ति-संयुताः' कहा है। भक्तों के पतन होने का सन्देह नहीं रहता, यथा—"ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥" (उ० दो० ७८), "कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥" (गीता ९।३१), "यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५)।

मनु-प्रसंग और अत्रि-प्रसंग के मिलान—

मनु-प्रसंग	अत्रि-प्रसंग
भगत बछल प्रभु कृपा निधाना	१ नमामि भक्तवत्सलं
पद राजीव बरनि नहि जाहीं	२ भजामि ते पदांबुजं
नील सरोरुह नील मनि,··· लाजहिं तन सोभा निरखि,···	३ निकाम स्याम सुन्दरं
नव अंबुज अंबक छबि नीकी	४ प्रफुल्ल कंज लोचनं
करिकर सरिस सुभग भुजदंडा	५ प्रलंब बाहु विक्रमं
कटि निषंग कर सर कोदंडा	६ निषंग चाप सायकं
बिधि हरि हर बंदित पद रेनू	७ मनोज वैरिवंदितं अजादि देव सेवितं
सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू	८ स्वभक्त-कल्पपादपं
सुत बिषइक तव पद रति होऊ	९ पदाब्ज भक्ति देहि मे

दोहा—बिनती करि मुनि नाइ सिर, कह कर जोरि बहोरि।
चरन - सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि॥४॥

अर्थ—स्तुति करके मुनि ने सिर नवा हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ! मेरी बुद्धि कभी भी आपके चरण-कमलों का त्याग न करे॥४॥

विशेष—मुनि पहले तो भक्ति माँग चुके थे—'पदाब्जभक्ति देहि मे'। अब यहाँ उसकी अचलता मांगते हैं कि मेरी बुद्धि कभी उसका त्याग न करे। 'करजोरि बहोरि'—पहले कहा गया—'जोरि पानि स्तुति करत' पर बीच में जब कहने लगे—'पठंति ये स्तवं इदं' तब इसमें अंगुल्या निर्देश करने में कर-सम्पुट छूट गया था, इससे फिर हाथ जोड़ना कहा गया।

जीव का स्वभाव चल होता है, यथा—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥"

(कि० दो० १५), पुनः त्रिविध एषणा (इच्छा) भी बुद्धि को मलिन कर देती है, यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ॥" (उ० दो० ७०), इसलिये सदा के लिये भक्ति की अचलता माँगते हैं कि भगवान् वैसी ही प्रेरणा किये रहें, जिससे मन उनके चरणों में लगा रहे, क्योंकि आप ही उरप्रेरक है, यथा—"उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।" (उ० दो० ११२), पर यहाँ वर देना नहीं कहा गया, क्योंकि प्रभु अपनी ओर से माधुर्य भाव ही ग्रहण किये हुए है, आगे कहेंगे—"सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।" (दो० ५), तब स्वामी बनकर एवमस्तु कैसे कहें ? अतः, मन में ही वर दिया। ऐसे ही श्रीजनकजी, श्रीभरद्वाजजी और श्रीवसिष्ठजी के प्रसंगों में भी सन्तुष्ट होने में मन-ही-मन देना समझा गया है, यथा—"बार बार माँगउँ कर जोरे। मन परिहरइ चरन जनि भोरे॥ सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥" (बा० दो० ३४१)—श्रीजनकजी, ऐसे ही श्रीभरद्वाजजी का अ० दो० १०६ चौ० ८ और अ० दो० १०७ चौ० १ में और श्रीवसिष्ठजी का प्रसंग उ० दो० ४६ और उसकी चौ० १ में देखिये। श्रीअत्रिजी का प्रभु में पुत्र-भाव और श्रीअनसूयाजी का श्रीसीताजी में पुत्री-भाव था, यथा—"सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः। तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत॥" (वाल्मी० २।११७।५), अर्थात् श्रीरामजी ने अत्रिजी की वन्दना की और अत्रि मुनि ने उनको पुत्र भाव से देखा, तथा—"सेयं मातेव तेऽनघ।" (वाल्मी० २।११७।१२), अर्थात् अत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा कि ये अनसूयाजी तुम्हारी माता की नाईं है। एवं—"प्रीति जनय मे वत्से दिव्यालङ्कारशोभिता।" (वाल्मी० २।११९।११), अर्थात् (श्री अनसूयाजी ने श्रीसीताजी को भूषण-वस्त्र देकर कहा है—) इन दिव्य भूषणों से भूषित हो, हे वत्से (पुत्रि)! मेरी प्रसन्नता बढ़ाओ। प्रभु अपनी ओर से इनके भावानुसार अभिनय कर रहे है। इससे माधुर्य ही ग्रहण किया है।

अनसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता॥१॥
रिषिपतिनी-मन सुख अधिकाई। आसिष देइ निकट बैठाई॥२॥
दिब्य बसन-भूषन पहिराये। जे नित नूतन अमल सुहाये॥३॥

अर्थ—फिर सुशील और विनम्र श्रीसीताजी श्रीअनसूयाजी के चरण पकड़कर उत्तम शील और विनीत भाव से उनसे मिलीं॥१॥ इससे ऋषि श्रीअत्रिजी की स्त्री श्रीअनसूयाजी के मन में अधिक सुख हुआ, उन्होंने आशिष देकर इन्हें पास बैठा लिया॥२॥ उन्होंने इनको दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाये, जो नित्य-नये निर्मल और सुहावने ही बने रहते है॥३॥

विशेष—(१) अनसूयाजी—ये श्रीअत्रिजी की परम पतिव्रता पत्नी है, वाल्मी० अ० स० ११७ श्लोक ६-१३ में श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है—"दस वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई थी, संसार जलने लगा था, उस समय इन्होंने फल-मूल उत्पन्न किये। गंगाजी को यहाँ लाकर प्रवाहित कराया। दस हजार वर्षों तक इन्होंने कठोर तपस्या की, इनकी तपस्या उग्र है और यह उत्तम नियमों से सुशोभित है। इनके व्रतों के प्रभाव से ही ऋषियों के विघ्न दूर हुए थे। देवकार्य के लिये त्वरा रखनेवाली इन्होंने दस रातों की एक रात बनाई। ये ही अनसूया तुम्हारी माता के समान पूज्या है और सब प्राणियों की पूज्या तथा तपस्विनी हैं, वैदेही इनके पास जायँ, वे वृद्धा क्रोध-रहित हैं।" इनके सतीत्व के प्रभाव की एवं सिद्धता की और भी बहुत-सी कथाएँ है।

श्रीसीताजी ने चरणों का स्पर्श किया, इसपर आशिष दी और 'मिली बहोरि' अतः, 'मन सुख अधिकाई।', क्योंकि श्रीसीताजी श्रीरामजी से अभिन्न तत्त्व है, इससे आनन्द-रूपा है, अतएव इनसे मिलने पर उन्हें बहुत आनन्द प्राप्त हुआ। चरण लगना और फिर भेंटना यह उस समय स्त्रियों की रीति थी, यथा—

"लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटति अति अनुराग ॥" (अ० दो० २४६), "करि प्रनाम भेंटी सब सासू ।' (अ० दो० ३१६), यहाँ भी श्रीसीताजी ने चरण पकड़े, इन्होंने हृदय से लगा लिया और फिर कण्ठ से लगकर मिलीं। 'आसिष', यथा—"अचल होइ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा।" (अ० दो० ६८), निकट बैठाना आदर है, यथा—"अति आदर समीप बैठारी।" (लं० दो० ३७)।

'मन सुख अधिकाई'—मन, 'आसिष देइ'—वचन और 'बैठाई'—कर्म हैं, अर्थात् मन, वचन, कर्म से अनसूयाजी ने इनका आदर किया।

(२) 'दिव्य बसन-भूषन'''—दिव्य का अर्थ स्वयं कवि ने कह दिया है—'जे नित नूतन अमल सुहाये' रहते हैं। प्राकृत वस्त्राभूषण पुराने, मैले और शोभा-हीन हो जाते है, इनमें वे तीनो दोष नहीं हैं। वस्त्र से षोड़शो शृंगार और आभूषण से द्वादशो आभूषण सूचित किये है। श्रीसीताजी ने प्रीतिदान मानकर ग्रहण किया, यथा—"इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्॥ '''मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥" (वाल्मी० २।११८।१८-२१)। अनसूयाजी ने पुत्री भाव मानकर प्रीतिपूर्वक दिव्य वस्त्राभूषण दिये कि १४ वर्ष तक जिसमें ऐसे ही दिव्य बने रहें। प्रीतिदान किसीका भी लेना उचित है। अतः, श्रीसीताजी ने लिया।

कह रिषिबधू सरस मृदु बानी। नारि-धर्म कछु ब्याज बखानी ॥४॥
मातु-पिता-भ्राता - हितकारी। मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥५॥
अमित दानि भर्ता बैदेही। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥६॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद-काल परिखियहि चारी ॥७॥
बृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥८॥
ऐसेहु पति कर किये अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥९॥

अर्थ—ऋषि-पत्नी श्रीअनसूयाजी ने रसीली और कोमल वाणी से कुछ स्त्रियों के धर्म (पातिव्रत धर्म) उनके बहाने से बखान कर कहे ॥४॥ हे राजकुमारी! सुनिये, माता, पिता, भाई और हितकारी लोग प्रमाण-भर ही सुख देनेवाले है ॥५॥ हे वैदेही! पति अतुल (बे-अन्दाज सुख) देनेवाला है जो उसकी सेवा नहीं करती वह स्त्री अधम है ॥६॥ धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री ये चारो विपत्ति के समय पर ही परखे जाते है ॥७॥ बूढ़ा, रोगवश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, अत्यन्त क्रोधी एवं अत्यन्त दीन—ऐसे पति का भी निरादर करने से स्त्री यमपुर (नरक) में नाना प्रकार के दुःख भोगती है ॥८-९॥

विशेष—(१) 'कह रिषिबधू सरस '·'—'सरस'—रसीली अमृतवत्, यथा—"नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन मन पान करि, नहिं अघात मति धीर॥" (उ० दो० ५२), अर्थात् कानों को सुखद। 'कछु ब्याज बखानी'—इनके बहाने कुछ स्त्री-धर्म कहती है, इनमें पुत्री भाव है, इससे श्रीगंगाजी की तरह ऐश्वर्य-कथन-पूर्वक स्तुति कर नहीं सकतीं, यथा—"सुनु रघुबीर प्रिया तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरे॥" (अ० दो० १७२) इत्यादि, पर प्रीति से शिक्षा-रूप में अपने भावानुसार कुछ संभाषण किया चाहती हैं, जैसा कि सुनयनाजी और कौसल्याजी ने किया है।

(२) 'मातु-पिता-भ्राता'''—नैहर का प्रेम, आपत्काल और पति में अयोग्यता, ये तीन पातिव्रत्य के बाधक है। अतः, पहले इन्हींको समझाती है—'मितप्रद'—सामान्य रीति से सन्तान पर माता-पिता का स्नेह रहना ही है, पर विशेषकर माता का पाँच वर्ष तक और पिता का १० वर्ष आयु तक कन्या पर दुलार रहता है और भाई का इनसे स्नेह कम ही रहता है। फिर भी ये सभी प्रकार के सुख नहीं दे सकते। अतः, इनका देना परिमित कहा गया।

(३) 'अमित दानि भर्ता ···'—उपर्युक्त माता-पिता आदि भी परिमित ही लोक-सुख देते हैं, परन्तु पति तन, मन, धन, माँग (सुहाग) सुख और कोख सुख आदि लोक का परिपूर्ण सुख-देता है और साथ ही परलोक सुख भी देता है, यथा—"पति सेवत सुभ गति लहइ।" (दो० ५), पुनः सन्तान-द्वारा भी परलोक का साधक होता है, क्योंकि सन्तान के कृत्य से भी माता-पिता का परलोक बनता है।

'मितप्रद' के साथ 'राजकुमारी' कहा है, अर्थात् राजा की भी पुत्री हो तो भी ये लोग परिमित ही दे सकते है और 'अमित दानि' के साथ 'बैदेही' कहा, अर्थात् पति-सेवा में देह-सुख की चाह न रहे, किन्तु सर्वात्म-भाव से लग जाय, तथा—"मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः॥ अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत्॥ नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम्॥ विसृज्य धनसर्वस्वं भर्त्ता वै शरणं स्त्रियाः।" (महा० शान्ति० १४८।६-८)। स्कन्द पु० ब्रा० ध० मा० ७।४७-४८ में भी इनसे मिलते हुए श्लोक हैं।

(४) 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी।···'—आपत्काल में ये चारो खरे निकलें तो इन्हें सच्चा समझना चाहिये, अर्थात् दुःख में धैर्य बना रहे, धर्म बना रहे, मित्रों का स्नेह न घटे और स्त्री की श्रद्धा पति में बनी रहे, अन्यथा ये खोटे है, यथा—"कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परखिअहि समय सुभाये॥" (अ० दो० २८२), "बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन येहा॥" (कि० दो० ६), यहाँ 'नारी' मात्र का प्रस्तुत प्रसंग है, पर साथ ही तीन धैर्य आदि भी शिक्षार्थ एवं उसकी पुष्टि के लिये कहे गये, यथा—"आपत्सु मित्र जानीयाद्युद्धे शूरं धने शुचिम्। भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्॥" (प्रस्तावरत्नाकर)।

(५) 'बृद्ध रोगबस जड़···'—इन्हें दैव ने ही अपमान के योग्य कर दिया है, यथा—"दीरघ रोगी दारिदी, कटु बच लोलुप लोग। तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर जोग॥" (दोहावली ४७७), तथा—"कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोग बस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥ ···जीवत सव सम ···" (लं० दो० ३०)। उसपर यदि स्त्री ने भी अपमान किया, तो निस्सीम दुःख होता है, इसलिये यह भारी पाप है। यहाँ ८ दोष कहे गये। यदि आठो एक पति में ही हों, तो भी स्त्री उसका अपमान न करे, अर्थात् अपना धर्म देखते हुए उसे पति की आज्ञा पालनी ही चाहिये, तथा—"दुःशीलो दुर्भगो बृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोके-प्सुभिरपातकी॥" (भाग० १०।२९।२५), "दरिद्रं व्याधितं धूर्त्तं भर्त्तारं यावमन्यते। सा शुनी जायते मृत्वा शूकरी च पुनः पुनः॥" (पराशर-संहिता)। "विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः। उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥" (मनु० ५।१५४)।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥१०॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥११॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥१२॥
मध्यम पर पति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥१३॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट त्रिय श्रुति अस कहई॥१४॥
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥१५॥
पतिबंचक पर - पति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई॥१६॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी॥१७॥

अर्थ—शरीर, वचन और मन से पति के चरणों मे स्नेह करना, यह स्त्री के लिये एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है ॥१०॥ जगत् मे चार प्रकार की प्रतिव्रताएँ हैं, (यह) वेद, पुराण और सन्त सब कहते है ॥११॥ कि उत्तम (पतिव्रता) के मन में ऐसा (भाव) बसता है कि स्वप्न में भी जगत् में दूसरा पुरुष ही नहीं है ॥१२॥ मध्यम (पतिव्रता) पराये पति को कैसे देखती है कि जैसे वे अपने (सगे) भाई, बाप और बेटे हों ॥१३॥ जो धर्म को विचार कर और अपने कुल की मर्यादा) को समझकर रह जाती हैं (धर्म को रख लेती हैं, मन को रोके रहती है) वे निकृष्ट स्त्रियाँ है—ऐसा वेद कहते है ॥१४॥ जो अवसर न मिलने एवं (पति आदि के) डर से (पतिव्रता बनी) रह जाती है, जगत् में उन्हें अधम स्त्री जानना ॥१५॥ पति से छल करनेवाली, जो दूसरे पुरुषों से प्रीति (वा, व्यभिचार) करती हैं, वे सैकड़ों कल्पों तक रौरव नरक मे पड़ी रहती हैं ॥१६॥ क्षण-भर के सुख के लिये सैकड़ों करोड़ (असंख्य) जन्मों के दुःखों को नहीं समझती, उसके समान दुष्टा (बुरी स्त्री) कौन होगी ? ॥१७॥

विशेष—(१) 'एकइ धर्म एक···'—पुरुषों के लिये नाना प्रकार के धर्म कहे गये है, परन्तु स्त्री के इस एक ही से लोक-परलोक सभी बन सकते है, यथा—"स्त्रीणामार्यभावानां परमं दैवतं पतिः।" (वाल्मी० २।११७।२४), अन्य धर्म, व्रत और नियम आदि भी स्त्रियों के लिये कहे गये है, परन्तु यहाँ ऐसा कहने का भाव यह कि स्त्री के लिये यह एक ही धर्म है, अर्थात् इसके समान दूसरा धर्म नहीं है, यह मुख्य है, यथा—"पतिव्रतात्वं भार्यायाः परमो धर्म उच्यते ।" (महा० शान्ति० ३५९।१०). अर्थात् भार्या का पातिव्रत्य ही परम धर्म है, तथा—"नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्। धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥" (महा० अनु० ४६।१३), "नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पति शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥" (मनु० ५।१५५)। 'काय बचन मन ···'—शरीर से सेवा, मन से प्रीति और वचन से प्रिय भाषण करे।

(२) "जग पतिव्रता चारि बिधि ···" से "तेहि सम को खोटी ॥" तक के सब लक्षण ठीक ऐसे ही शिव पुराण मे पाये जाते हैं, श्रीबैजनाथजी की टीका एवं और टीकाओं मे उद्धृत है, यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखे जाते।

(३) 'उत्तम के अस बस ···'—'बस' अर्थात् निरन्तर यही बसा रहता है कि अपने पति के अतिरिक्त और किसीमे पुंस्त्व है ही नहीं, सब जगत् स्त्रीमय है। जैसे कि अनन्य उपासकों की रीति है कि अपने इष्ट के अतिरिक्त दूसरे में ईश्वरबुद्धि नहीं होती। 'सपनेहु आन···' से पूर्वार्द्ध के 'बस' की पुष्टि की गई है। मीराजी की जीवनी मे यह चरितार्थ भी है कि वे केवल गिरधरलाल को ही पुरुष मानती थीं। इसीपर उन्होंने महात्मा जीवगोसाईंजी का स्त्री-मुख न देखने का प्रण छुड़ाया है।

(४) 'मध्यम पर पति ···'—इनकी दृष्टि में पर-पुरुष में भी पुंस्त्व है, पर ये अपने भाव-रक्षा के लिये उनमें अवस्था-क्रम से पिता, सगे भाई और पुत्र के भाव रखती हैं, क्योंकि पिता, सगे भाई और पुत्र में वैकारिक प्रवृत्ति सहसा नहीं होती।

इन्हें मध्यम कहा गया, क्योंकि इन्हें चित्त-विकृति का भय रहता है, यथा—"भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रवि मनि द्रव रविहिं बिलोकी ॥" ((दो० १६), मनुस्मृति २।२१५ मे भी कहा गया है, यथा –"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।" अर्थात् माता, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में (अधिक) वास न करे। 'जैसे'—बराबर अवस्थावाले को भाई, बड़े को पिता और छोटे को पुत्र के समान मानती हैं। उपर्युक्त 'होइ बिकल·····' वाली कुबुद्धि नहीं आने पाती।

(५) 'धर्म बिचारि समुझि ''—'धर्म बिचारि' से परलोक का भय और 'समुझि कुल' से लोक का भय कहा गया, अर्थात् उभय-लोक बिगड़ने के डर से बची रहती हैं कि हमें पति ही में भाव रखना धर्म है। हमारे माता-पिता और पति का उत्तम, निष्कलंक एवं पवित्र कुल है। उभय कुल की नाक कटेगी, अतएव मुझे अधर्माचरण से सर्वथा बचना ही चाहिये।

(६) 'बिनु अवसर भय ते रह'' '—'बिनु अवसर'—घर के शून्य होने का अवसर एवं अन्यत्र किसीके पास जाने के अवसर बिना। 'भय ते'—घर के अमुक-अमुक जानेंगे, तो प्राण ही ले लेंगे, इत्यादि। इसे अधम कहा गया, क्योंकि इसे रखवालों की आवश्यकता है, यह स्वयं अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकती। इसे भी पतिव्रता में ही गिना गया, क्योंकि इसका पाप मन में ही रह गया, ऐसी व्यवस्था कलिकाल में संगत है, क्योंकि—"मानस पुन्य होहि नहिं पापा" (उ० दो० १०२), कहा गया है। इस युग में तो—"गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥" (उ० दो० ९८), इस कारण तो वैसी अधम नारि भी पतिव्रता ही है।

आगे व्यभिचारिणी को कहती है, जो इनसे पृथक् हैं—

(७) 'पति बंचक पर पति ''—ऊपर दिखाने को पति से प्रेम करती है, किन्तु भजती है, पराये पति को, यही पति को ठगना है, इन्हें रौरव नरक होता है। यथा—"अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रिया॥" (भाग० १०।२९।२६), अर्थात् कुलाङ्गनाओं के लिये जार-सेवा सर्वत्र निन्दित है। उनका यह कर्म अत्यन्त तुच्छ, कष्टकारक और भयदायक है, इससे उनकी संसार में निन्दा होती है, और उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती, मनु० ९।३० में भी कहा गया है कि स्वामी के प्रतिकूल व्यभिचार करने से स्त्री इस लोक में निन्दा की पात्री होती है और दूसरे जन्म में शृगाल योनि में जन्म पाकर पाप रोग (कुष्ठ आदि) से पीड़ित रहती है। भाग० स्कन्ध ५ अ० २६ में नरकों का वर्णन है, उन २८ नरकों में रौरव तीसरा है। इस नरक में रुरु नामक कीड़े होते हैं, वे सर्प से भी अधिक तीक्ष्ण होते हैं और प्राणी को चारों ओर से काटते हैं।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिव्रत-धर्म छाँड़ि छल गहई॥१८॥
पति प्रतिकूल जन्म जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१९॥

सोरठा—सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥
सुनु सीता तव नाम, सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम, कहिउँ कथा संसार-हित॥५॥

अर्थ—जो स्त्री छल को छोड़कर पातिव्रत धर्म का ग्रहण करती है, वह परिश्रम के बिना परम गति पाती है॥१८॥ और जो स्त्री पति के प्रतिकूल है, वह जहाँ भी जाकर जन्म लेती है, वहीं जवानी पाकर विधवा होती है॥१९॥ स्त्री स्वाभाविक अपवित्र है, किन्तु वह पति की सेवा से शुभगति पा जाती है, (पतिव्रता का) यश चारों वेद गाते हैं, आज भी तुलसी भगवान् को प्रिय है॥ हे सीते! सुनो, स्त्रियाँ तुम्हारा नाम स्मरण करके पातिव्रत धर्म का आचरण करेंगी, तुमको तो श्रीरामजी प्राण-प्यारे हैं—यह कथा तो मैंने संसार के हित के लिये कही है॥५॥

विशेष—(१) 'बिनु श्रम'—जप-तप आदि के क्लेश नहीं उठाने पड़ते, यथा—"कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५)। 'छाँड़ि छल'—स्वार्थ-साधन

एवं मन की कुटिलता छल है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (अ० दो० ३००), 'सरल स्वभाव न मन कुटिलाई।" (उ० दो० ४५), यह भक्ति के विषय में कहा गया है, वही यहाँ भी जानना चाहिये।

(२) 'पाइ तरुनाई'—युवा अवस्था का सुख उसे किसी जन्म में नहीं मिलता—यह दुर्गति होती है। पति-अनुकूला को परम गति की प्राप्ति और पति प्रतिकूला को दुर्गति की प्राप्ति कही, तथा—"व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य या चरेत्। आयुष्यं हरते भर्त्तुर्मृता निरयमृच्छति॥" (स्कन्द पु० ब्राह्म० ध० मा० ७।३७), अर्थात् जो स्त्री पति की आज्ञा का उल्लंघन करके व्रत, उपवास आदि नियम करती है, वह पति की आयु का हरण करती है और अन्त में नरक को जाती है। स्कन्द पु० काशी० पूर्वार्द्ध में बृहस्पतिजी ने लोपामुद्रा के पातिव्रतधर्म का वर्णन करते हुए रामचरितमानस के इस प्रसंग के अनुसार ही कहा है।

(३) 'सहज अपावनि नारि ···· '—स्वाभाविक अपावनता और शुभगति परस्पर विरोधिनी हैं, पर वह शुभगति पातिव्रत धर्म से सुगम हो जाती है। 'सुभगति', 'जस गावत' और 'हरिहि प्रिय' से इस एक ही धर्म से सद्गति, यश और हरि-प्रियत्व तीनों की प्राप्ति कही गई, यथा—"पतिर्माता पतिर्विष्णुः पतिर्ब्रह्मा पतिः शिवः। पतिर्गुरुः पतिस्तीर्थमिति स्त्रीणां विदुर्बुधाः॥" (स्कन्द पु० वै० वै० २६।८३-८४)। 'स्त्रियाँ पति सेवा से विष्णु लोक जाती हैं, इसीको पुष्टि में यह श्लोक कहा गया है। 'अजहुँ तुलसिका···· '—दैत्य कुल की पतिव्रता को इतना महत्त्व मिला कि वह भगवान् वल्लभा हुई, इसकी कथा—"परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहि पुरारी॥" (बा० दो० १२२), में लिखी गई तो मनुष्य कुल की सदाचारिणी स्त्रियों के महत्त्व का क्या कहना? बा० दो० ३० चौ० १२ भी देखिये। 'जस गावत श्रुति चारि' से शब्द प्रमाण और—'अजहुँ तुलसिका ·····' से प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(४) 'सुनु सीता तव नाम··· ··'—जब उपदेश देने लगी थीं, तब 'राजकुमारी' माधुर्य नाम कहा था और यहाँ जब माहात्म्य कहने लगीं तब 'सीता' कहती हैं, क्योंकि यह ऐश्वर्य-सम्बन्धी इनका मुख्य नाम है। 'तव नाम', यथा—"येहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहि पतिव्रत असि धारा॥" (बा० दो० ६६)। 'संसार हित'—पहले भी 'कछु ब्याज बखानी' कहा है, भाव यह कि ऐसा कोई न समझे कि श्रीसीताजी में कुछ त्रुटि थी, इसलिये यह शिक्षा दी गई। पुनः यह उपदेश और साथ ही यह भी कि जो कोई पतिव्रता होना चाहें तो 'सीता' नाम स्मरण करें—संसार के लिये ही कहा गया है।

सुनि जानकी परम सुख पावा। सादर तासु चरन सिर नावा॥१॥
तब मुनि सन कह कृपानिधाना। आयसु होइ जाउँ बन आना॥२॥
संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू॥३॥

अर्थ—सुनकर श्रीजानकीजी ने परम सुख पाया और आदर-पूर्वक उनके चरणों में सिर नवाया॥१॥ तब कृपा-सागर श्रीरामजी ने मुनि से कहा कि आपकी आज्ञा हो तो अब मैं दूसरे वन को जाऊँ॥२॥ मुझपर सदा कृपा करते रहियेगा और मुझे अपना सेवक जानकर स्नेह न छोड़ियेगा॥३॥

विशेष—(१) 'सुनि जानकी परम '—उन्होंने 'सुनु सीता···' कहकर ऐश्वर्य कहा, पर ये अपने माधुर्य को ही माने हुए हैं, इसीसे इनका 'जानकी' नाम कहा गया और उसी दृष्टि से 'आदर तासु चरन सिर नावा' भी है—यह कृतज्ञता है।

यद्यपि श्रीसीताजी पतिव्रता शिरोमणि हैं, यथा—"सती सिरोमनि सिय गुन गाथा।" (बा० दो०

४१), तथापि वृद्धा ऋषि-पत्नी से सादर धर्मोपदेश सुनती हैं और कृतज्ञता भी प्रकट करती हैं। यह सबके लिये उपदेश है कि निरभिमानता-सहित बड़ों का उपदेश सुनें, चाहे उसे जानते भी हों।

"अनसूया के पद गहि सीता।" उपक्रम है और यहाँ—"सादर तासु चरन सिर नावा।" उपसंहार है। ऋषि-पत्नी इन्हें पाकर सुखी हुईं, यथा—"रिषि पतिनी मन सुख अधिकाई।" वैसे ही इन्होंने भी उनके वचनों से सुख पाया, यथा—"सुनि जानकी परम सुख पावा।" इससे यहाँ—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), यह चरितार्थ है। 'परम सुख'—भूषण-वस्त्र लेने में सुख हुआ और यह पारमार्थिक उपदेश सुनने में परम सुख हुआ। 'सादर तासु चरन सिर नावा।'—यह कृतज्ञता और विदाई का प्रणाम है और यह भी सूचित किया कि इसका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता, इससे मैं आपको प्रणाम करती हूँ, यथा—"मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउ तव पद बारहिं बारा॥ तासु चरन सिर नाइ करि, प्रेम सहित मति धीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब" (उ० दो० १२५), सुशीलता के कारण कुछ बोलना नहीं कहा गया, आदि-अन्त में सिर नवाना-मात्र कहा है।

(२) 'तब मुनि सन कह···'—'तब'—जब उधर से श्रीजानकीजी आ गईं और इधर साथ ही श्रीरामजी और श्रीअत्रिजी का भी संवाद समाप्त हुआ। 'कृपानिधाना' अर्थात् और मुनियों पर भी कृपा करना चाहते हैं। 'आयसु होइ'—इस वन में श्रीअत्रिजी प्रधान हैं, इसलिये अन्यत्र जाने के लिये इन्हींसे आज्ञा माँग रहे हैं, यथा—"अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥" (अ० दो० ३०७), श्रीअत्रिजी के आश्रम तक एक ही वन (चित्रकूट) है। आगे फिर दूसरा वन है, इसीसे 'जाउँ बन आना' कहा है।

(३) 'संतत मोपर कृपा···'—मुनि ने कहा था—"चरन सरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजइ मति मोरि।" उसपर आप कहते हैं—"संतत मोपर···" अर्थात् आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। अतः, आपको कृपा और स्नेह ही रखना चाहिये, क्योंकि—"बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।" (बा० दो० १६६)—ऐसा कहा है, मुनि ने ऐश्वर्य-दृष्टि से माँगा है। और आपने माधुर्य ही में उत्तर दिया है। भाव यह कि आप मेरी ओर वृत्ति रखिये, तदनुसार मैं सेवा करता रहूँगा, यथा—"यो यो यां यां तनुं भक्त···स तया श्रद्धया युक्तः ···" (गीता ७।२१-२२)।

धर्म-धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी॥४॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथबादी॥५॥
ते तुम्ह राम अकाम पियारे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे॥६॥
अब जानी मैं श्रीचतुराई। भजी तुम्हहिं सब देव बिहाई॥७॥
जेहि समान अतिसय नहि कोई। ता कर सील कस न अस होई॥८॥

अर्थ—धर्म-धुरन्धर प्रभु श्रीरामजी की वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि श्रीअत्रिजी प्रेम-सहित बोले॥४॥ ब्रह्मा, शिव एवं सनकादि तथा सभी परमार्थ-वादी (ज्ञानी) जिसकी कृपा की चाह किया करते हैं॥५॥ वही निष्काम भक्तों के प्यारे और दीनबन्धु, हे राम! आपने कोमल वचन कहे॥६॥ अब मैंने श्रीलक्ष्मीजी की चतुराई समझी कि जो उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आप ही को भजा (वरण किया)॥७॥ जिनके समान या जिनसे अधिक कोई नहीं है, उनकी सद्वृत्ति ऐसी क्यों न हो?॥८॥

विशेष—(१) 'धर्म-धुरंधर प्रभु कै बानी।'—श्रीरामजी मर्यादा रखते हैं, इसीसे ऐसा कहते हैं, क्योंकि धर्म-धुरन्धर हैं, यथा—"धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।" (अ० दो० २४८)—यह श्रीवसिष्ठजी ने कहा है। एवं—"सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥

कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥" (अ० दो० १२५)—यह वाल्मीकिजी ने कहा है। 'प्रभु'—अर्थात् आपकी आज्ञा सब मानते हैं—"बिधि हरिहर ससि·· " से "राम रजाइ सीस सबही के॥" (अ० दो० २५३), तक। 'सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी।'—'ज्ञानी' के साथ 'सप्रेम' कहा, क्योंकि ज्ञान की शोभा प्रेम से ही है, यथा—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६), "सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी॥" (अ० दो० १७०), ज्ञानी है, इसीसे माधुर्य में न भूले, आशिष न देकर ऐसा कह रहे हैं।

(२) 'जासु कृपा अज ·· ··'—प्रभु ने कहा था—'संतत मोपर कृपा करेहू।' उसका यह उत्तर है। 'ते तुम्ह राम अकाम··· ·' यह—'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू।' का उत्तर है। भाव यह कि स्वार्थी लोग तो स्वार्थ के लिये आपकी कृपा चाहते ही है, पर जो निष्काम है, वे भी प्यार करते है, यथा—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाह्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥" (भाग० १।७।१०), अर्थात् आपको सकाम-निष्काम सभी चाहते है, तो हम कैसे छोड़ सकते है? जो आप कहते है—'तजेहु जनि नेहू॥' दीन बंधु मृदु··· ··'—हम सब दीन हैं, आप बन्धु बनकर हमें बड़ाई देने के लिये ही ऐसे कोमल वचन कहते है।

(३) 'अब जानी मै श्री ·· '—श्रीलक्ष्मीजी बड़ी चतुरा हैं, इसीसे उन्होंने सब देवताओं को छोड़कर आप ही को वरा है, क्योंकि आप ही सबसे बड़े है, यथा—"एतावतालं ननु सूचितेन गुणैरसाम्यानतिशायनस्य। हित्वेतरान्प्रार्थयतोविभूतिर्यस्यांघ्रिरेणुंजुषतेऽनभीप्सोः॥" (भाग० १।१८।२०), अर्थात् जिनके समान तथा जिनसे अधिक गुणवान और कोई नहीं है, उन भगवान् की विशेषता बतलाने के लिये इतना ही कहना पर्याप्त है कि श्रीलक्ष्मीजी प्रार्थना करनेवाले और देवों को त्यागकर श्रीहरि के न चाहने पर भी उन्हींकी चरण-रज का सेवन करती है। ऐसा ही भाग० ८।८।२३ में भी कहा गया है। जो सबसे बड़ा होता है, वही ऐसे नम्र वचन कह सकता है यथा—"सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छ्रुभयोग्यताम्।" (वाल्मी० ५।६४।२०), यही शील गुण है कि स्वयं नम्र होकर औरों को बड़ाई देना, सबसे बड़े में ही ऐसा होता है, वही कहते है—

(४) 'जेहि समान अतिसय ·····'—आपके समान भी कोई नहीं है, तो बड़ा कहाँ से आवेगा, यथा—"न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।" (श्वे० ६।८), अर्थात् आप सबसे बड़े है, नम्रता की बड़ाई बड़ो में ही होती है।

केहि बिधि कहउँ जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥ ९॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥१०॥

छन्द—तनु पुलक निर्भर प्रेमपूरन नयन मुख-पंकज दिये।
मन-ज्ञान-गुनगोतीत प्रभु में दीख जप तप का किये॥
जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीर-चरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे स्वामी! मै किस तरह कहूँ कि अब आप जाइये, हे नाथ! आप ही कहिये, आप तो अन्तर्यामी है, (अर्थात् ऊपर से ही कहता हूँगा, तो जान ही लेंगे)॥९॥ धीर मुनि ऐसा कहकर प्रभु को देखने लगे, उनके नेत्रों से जल बह रहा है और शरीर पुलकित है॥१०॥ शरीर पूर्ण पुलकित है, प्रेमपूर्ण

है। वे अपने नेत्र प्रभु के मुख-कमल में लगाये हुए है (मन में विचारते है कि) कौन-से जप-तप मैंने किये कि जिससे मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियों से परे प्रभु श्रीरामजी के दर्शन किये॥ मनुष्य जप, योग और धर्म-समूह से अनुपम भक्ति को पाता है। रघुवीर श्रीरामजी के पवित्र चरित को श्रीतुलसीदासजी दिन-रात गाते है॥

विशेष—(१) 'केहि विधि कहउँ·····'—ऐश्वर्य-माधुर्य दोनो दृष्टि से नहीं कहते बनता, माधुर्य से, यथा—"हम अब बनते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब विवेक बड़ाई॥" (अ० दो० २९१), आप तो अन्तर्यामी है, हमारे हृदय की जानकर कहिये कि परम सुकुमार राजकुमार को घोर वन जाने के लिये कैसे कहूँ? ऐश्वर्य-दृष्टि से स्वामी को सेवक कैसे कहे कि अब जाइये, मैं अनाथ होकर रहूँगा? यथा—"जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥" (अ० दो० ४६)। 'अंतरजामी'—आप अन्तर्यामी-रूप से सबमें एवं सर्वत्र हैं, तो कौन जगह नहीं हैं जहाँ मै जाने को कहूँ, यथा—"जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावउँ ठाउँ।" (अ० दो० १२७)।

इससे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी का एक श्लोक मिलता हुआ-सा है, यथा—"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वचः। तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्विल्युदासीनता।·····" अर्थात् 'मत जाइये' ऐसा कहना अमंगल होता है, 'जाओ' ऐसा कहने मे स्नेहशून्यता पाई जाती है, 'ठहरिये' ऐसा कहने में प्रभुता (शासन) और 'जैसी इच्छा हो वैसा करो' ऐसा कहने में उदासीनता पाई जाती है। अतः, आप अन्तर्यामी है, मै तो कुछ नहीं कह सकता।

(२) 'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा।'—'अस कहि' वाचिक, 'मुनिधीरा' मानसिक और 'लोचन जल बह पुलक सरीरा' कायिक है। धीर हैं तब भी वियोग की सम्भावना से अधीर हो गये। नेत्रों से आँसू चल पड़े, शरीर रोमांचित हो आया। इसी दशा में मुख-कमल की मधुरिमा अवलोकन कर रहे हैं। पहले मिलने पर भी यही दशा हुई थी, यथा—"प्रेम-बारि दोउ जन अन्हवाये।" अब जाते समय भी है—'लोचन जल बह' वहाँ 'पुलकित गात अत्रि उठि धाए।' यहाँ 'तन पुलक निर्भर··· '। भेद यही है कि उस समय आनन्द के आँसू थे और इस समय दुःख के। जैसे पूर्व मैना और गिरिजा के विषय में कहा गया है, यथा—"दसा एक समुझब बिलगाना।" (बा० दो० ६७), 'नयन मुख-पंकज दिये'—मुनि के नेत्र-रूपी भ्रमर छवि-रूपी मकरन्द पान करते हुए मुख-कमल पर ही मँड़रा रहे है, यथा—"देखि राम मुख पंकज, मुनिवर लोचन भृंग। सादर पान करत अति·· " (दो० ७), "मुख सरोज मकरंद छवि, करइ मधुप इव पान।" (बा० दो० २३१)। नेत्र मुख-कमल में लगाये हुए है कि न जाने, अब फिर इनके दर्शनों का भाग्य हो कि नहीं, मुनि को प्रभु के दर्शनों की बड़ी आकांक्षा थी, इसीसे इनका कई बार देखना लिखा गया है, यथा—(१) "देखि राम छवि नयन जुड़ाने।" (२) "भरि लोचन सोभा निरखि।" (३) "अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा।" (४) "नयन मुख पंकज दिये।" दो बार पुलकना लिखा गया, यथा—"चले जात शिव सती समेता। पुनि-पुनि पुलकत कृपा निकेता॥" (बा० दो० ४९)।

(३) 'मन-ज्ञान-गुन·····'—आप मन आदि इन्द्रियों से परे है, ज्ञान (बुद्धि) से भी परे है, तीनों गुणों की प्रवृत्ति से भी परे हैं, यथा—"माया गुन ज्ञानातीत अमाना ··· " (बा० दो० १९१), "मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥" (बा० दो० ३४०), 'जप तप का किये' अर्थात् इनके दर्शन सम्पूर्ण साधनों के फल हैं, यथा—"सुफल सकल सुभ-साधन-साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥" (बा० दो० १०६), इनकी प्राप्ति के योग्य मेरे कुछ भी साधन न थे। प्रभु ने निर्हेतु ही कृपा की है, यथा—"किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाधात्यर्हते दत्तं यद् द्रव्यात्मयजं केशवम्॥" (भाग० १०।३८।३), अर्थात् अक्रूरजी विचार रहे है कि मैंने ऐसा कौन-सा शुभ कर्म किया

है, कौन परम तपस्या की है तथा किसी सत्पात्र को कौन ऐसा महत्वपूर्ण दान दिया है, जिससे आज मैं भगवान् कृष्ण के दर्शन करूँगा।

(४) 'जप जोग धर्म समूह ते·····'—'जप', यथा—"मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ॥" (दो० ३५), यह उपासना है। 'जोग', यथा—"जोग ते ज्ञाना।" (दो० १५), यह ज्ञान, और 'धर्म-समूह' में कर्मकाण्ड आ गया, अर्थात् काण्ड-त्रय की फलरूपा परा भक्ति है, यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५), "जप तप नियम जोग निज धरमा····" से "तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर ॥" (उ० दो० ४८) तक।

(५) 'रघुबीर-चरित पुनीत···'—भाव यह कि उक्त भक्ति के लिये मैं केवल पुनीत चरित ही गाता हूँ। जप-योगादि काण्ड-त्रय से जो अन्तःकरण की शुद्धि होती वह इस पुनीत चरित से ही होगी। इसीसे मैं रात-दिन इसीको प्रेम से गाता हूँ। अपने सब साधनों की अवहेलना का कारण कहते हैं—'कठिन काल मल कोस···'।

श्रीगोस्वामीजी ने भरत-चरित की समाप्ति पर ही अयोध्याकाण्ड की समाप्ति—"भरत चरित करि नेम ···" इस सोरठे पर की। पर श्रीवाल्मीकिजी के मत से अयोध्याकाण्ड की इति यहाँ के—"कठिन काल मल कोस· " पर लगाई।

इस अरण्यकाण्ड के यहाँ छः दोहों में—"उमा राम गुन गूढ़···" से "कठिन काल मल कोस · " तक के श्रीरामचरित की इन्हीं दो सोरठों में इति लगाई। इसके उपक्रम में—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई ॥" (दो० २) है, वैसे आगे चरित का उपक्रम—"मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा ॥" इस चौपाई से है।

श्रीवाल्मीकिजी के मत में श्रीअत्रिजी का वात्सल्य भाव था, यथा—"सेयं मातेव तेऽनघ।" (वाल्मी० २।११७।१२), यह श्रीअत्रिजी ने श्रीरामजी से कहा है। इसीसे अनसूयाजी ने श्रीसीताजी को भूषण और वस्त्र पहनाये हैं। अतः, श्रीअत्रिजी के यहाँ तक मानो श्रीअयोध्या में ही रहे, इससे आगे कहते हैं—'चले बनहिं'। ग्रन्थकार ने इस तरह उनका भी मत रक्खा, इसीसे चरित की फलश्रुति कहकर सोरठे पर इति लगा रहे हैं। इसीसे कुछ लोगों ने आगे दोहे से ही अरण्यकाण्ड के दोहों की गिनती की है, इन छः दोहों को पृथक् गिना है।

दोहा—कलि-मल-समन दमन मन, राम-सुजस सुख मूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर, राम रहहि अनुकूल ॥

सो०—कठिन काल मल कोस, धर्म न ज्ञान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस, रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजी का सुन्दर यश कलि के पापों का शमन करनेवाला, मन का दमन करनेवाला और सुख का कारण है, जो इसे आदर-सहित सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी अनुकूल रहते हैं॥ यह कलि-काल बड़ा कठिन है, पापों का खजाना है, इसमें न (कहीं) धर्म है, न ज्ञान, न योग और न जप ही है, इसमें जो सबका भरोसा छोड़कर श्रीरामजी का ही भजन करते हैं, वे ही चतुर लोग हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'कलिमल समन दमन·· '—भाव यह कि जो पाप-ग्रसित हृदयवाले हैं, उन्हें उनके पापों को दूरकर यह सुख देता है और जो शुद्ध हृदयवाले इसे सादर सुनते हैं, उनपर श्रीरामजी अनुकूल रहते हैं। पापी धुन्धकारी ने सुना· उसके पाप छूट गये और परीक्षित शुद्ध हृदय के थे, उन्होंने सुनकर प्रभु-

अनुकूलता से मुक्ति पाई है। "कठिन काल···"—कलि पाप का खजाना है, यथा—"कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥" (बा० दो० २६), "सुनु ब्यालारि काल कलि, मल अवगुन आगार॥" (उ० दो० १०२)। 'धर्म न ज्ञान न जोग जप', यथा—"नहिं कलि करम न भगति बिबेकू॥" (बा० दो० २६), देखिये। तब और साधनों में व्यर्थ पचना छोड़कर जो श्रीरामजी को ही भजते हैं, वे ही चतुर हैं, यथा—"येहि कलि काल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥ रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं।···" (उ० दो० १२९), थोड़े परिश्रम में बहुत बड़ा कार्य साध लेना चतुरता है, वही यहाँ है, यथा—"बुध जुग धरम जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराही॥" "काल धरम नहिं ब्यापहि ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥" (उ० दो० १०३)।

'बिराध-बध'-प्रकरण

मुनि-पद-कमल नाइ करि सीसा। चले बनहिं सुर-नर-मुनि-ईसा॥१॥
आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिबर-बेष बने अति काछे॥२॥
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥३॥
सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा॥४॥
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया॥५॥

अर्थ—अत्रि मुनि के चरण-कमलों में सिर नवाकर सुर-नर-मुनि के स्वामी श्रीरामजी वन को चले॥१॥ आगे श्रीरामजी हैं, पुनः पीछे उनके छोटे भाई (श्रीलक्ष्मणजी) हैं, मुनि-श्रेष्ठों का अत्यन्त सुन्दर वेष बनाये (चलते) हुए शोभित हो रहे हैं॥२॥ इन दोनों के बीच में चलती हुई श्रीसीताजी कैसी शोभित हो रही हैं कि जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया (शोभित) हो॥३॥ नदी, वन, पहाड़ और दुर्गम (अटपट) घाट (सभी अपने) स्वामी श्रीरामजी को पहचान कर सुन्दर मार्ग देते हैं, अर्थात् जहाँ स्नान करने के योग्य घाट नहीं है, वहाँ नदियाँ सुन्दर घाट कर देती हैं, उतरने के लिये अथाह जल को गोपद-भर कर देती हैं, वन और पहाड़ सुन्दर कोमल मार्ग कर देते हैं॥४॥ जहाँ-जहाँ देव (दिव्य शरीर एवं दिव्य गुण-विशिष्ट) श्रीरघुनाथजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ मेघ आकाश में छाया करते जाते हैं॥५॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल नाइ·· ···'—श्रीरामजी ने अपने माधुर्य को रक्खा कि आज्ञा माँगी और प्रणाम करके चले, पर मुनि ने अपनी ऐश्वर्य-दृष्टि ही रक्खी, आशिष नहीं दी और न स्वामी को जाने को कहा। श्रीरामजी के यों ही चल देने का कारण 'सुर नर मुनि ईसा' से कहा गया कि वे सुर आदि की रक्षा के लिये गये, नहीं तो न जाते, यथा—"तुलसिदास जौं रहउँ मातु-हित को सुर बिप्र भूमि भय टारे।" (गी० अ० २), "तुलसिदास सुर काज न साध्यो तौ तो दोष होय मोहि महि आयक।" (गी० अ० ३)। 'चले बनहिं'—इसका यह भाव नहीं कि अभी तक बस्ती में रहे, अब वन को जाते हैं, किन्तु श्रीचित्रकूट वन से अब दूसरे वन जाने का भाव है, यथा—"आयसु होउ जाउँ बन आना।" ऊपर कहा गया है। 'सुर नर मुनि ईसा', क्योंकि यहाँ से आगे ब्रह्मादि देवता, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य आदि मुनि एवं शबरी आदि ने ईश्वर ही करके माना भी है। आगे सर्वत्र ऐश्वर्य ही प्रधान रहेगा। पहले अयोध्याकाण्ड में श्रीभरद्वाजजी और श्रीवाल्मीकिजी ने माधुर्य को प्रधान माना है। इसीसे दोनों के यहाँ आशीर्वाद देना लिखा है और दोनों के ऐश्वर्य कथन पर श्रीरामजी का सकुचाना लिखा है, यथा—"दीन्हि असीस मुनीस·····"—श्रीभरद्वाजजी, "आसिरबाद बिप्रबर

दीन्हा।"—श्रीवाल्मीकिजी, 'सुनि मुनि बचन राम सकुचाने।"—श्रीभरद्वाजजी के यहाँ, "सकुचि राम मन महँ मुसुकाने।"—श्रीवाल्मीकिजी के यहाँ। पर ऐसी व्यवस्था आगे ऋषियों के यहाँ नहीं है, क्योंकि अरण्यकाण्ड से प्रायः ऐश्वर्य प्रधान चरित हैं।

(२) 'आगे राम अनुज पुनि ·····'—दोनों भाइयों को एक साथ कहा, क्योंकि तापस-वेष एक-समान है। 'बने अति काछे' से पूर्व-कथित का संकेत कर दिया, यथा—"तरुन तमाल बरन तन सोहा।···दामिनि बरन लखन···मुनि पट कटिन्ह ··जटा मुकुट सीसन्ह सुभग···" (अ० दो० ११५), 'पुनि' शब्द से सूचित कर दिया कि श्रीरामजी के पीछे कोई है, तब श्रीलक्ष्मणजी है।

(३) 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी।···'—ये दोनों अर्द्धालियाँ अ० दो० १२२ में आ गई है। भेद केवल इतना ही है कि यहाँ के 'श्री' की जगह पर वहाँ 'सिय' कहा गया है। इसका कारण यह है कि अरण्यकाण्ड से ऐश्वर्य की प्रधानता है, इसीसे 'सीय' नाम माधुर्य का न रखकर ऐश्वर्यपरक 'श्री' यह लिखा गया है। 'सिय' और 'लखन' इन वात्सल्य-सम्बन्धी नामों का सम्बन्ध अयोध्याकाण्ड तक ही है। अतः, पूर्वोक्त अ० दो० १२२ चौ० १-२ के ही सब भाव यहाँ लेना चाहिये।

वहाँ श्रीरामजी को ब्रह्म, श्रीजानकीजी को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति चिद्रूपा एवं कृपा गुण प्राधान्य से कृपा-रूपिणी कहा गया और शुद्ध जीव के रूप में श्रीलक्ष्मणजी का होना कहा है। यहाँ फिर कहा गया, क्योंकि आगे यह चरितार्थ होगा। कृपामयी देवी की ओट लेने से श्रीरामजी जीव-रूपी श्रीलक्ष्मण जी को गीता का उपदेश करेंगे, तुरत ही अविद्या-रूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे ये उसी ज्ञान से निशाचरी जान लेंगे। फिर प्रभु की ही कृपादेवी के संकेत से श्रीलक्ष्मणजी को संकेत मिलेगा। जिससे वे शूर्पणखा को कुरूपा करके त्याग करेंगे कि फिर उनकी दृष्टि में वह न आवेगी। फिर उसके प्रतिकार में खर-दूषणादि की बाधाओं को कृपा करके श्रीरामजी ही अपने ऊपर ले लेंगे। उन्हें क्षण-भर में नाश कर देंगे। यह सब कृपामयी देवी की ओट लेने के भाव है। जीव के उद्धार करने में कृपा देवी की शोभा होती है, वही शोभा यहाँ उत्प्रेक्षा का विषय है।

शंका—(१) यहाँ इन गुणों के प्रतिपादन का क्या लक्ष्य है एवं उसका बोधक शब्द कहाँ है? (२) क्या श्रीलक्ष्मणजी इसी समय इस प्रकार चले हैं, कि उन्हें उपदेश दिया गया? (३) क्या उपदेश में ऐसा विषय है कि शूर्पणखा की पहचान हो? (४) श्रीजानकीजी के संकेत से श्रीलक्ष्मणजी को उपदेश देना भी ग्रन्थ में नहीं है।

समाधान—(१) यहाँ ब्रह्म, जीव और माया—इनके सम्बन्ध में माया का शोभा-वर्णन ही, हमें इनके तत्त्वज्ञान में प्रवृत्त करता है। (२) श्रीलक्ष्मणजी बराबर इसी प्रकार चल रहे हैं, बहुत काल तक कृपाकाक्षी रहने पर कृपा होती है, तब भगवान् इसे तत्त्वज्ञान कराते है। (३) शूर्पणखा को मैंने अविद्या-माया-रूपिणी लिखा है—वि० ५८ में ऐसे आध्यात्मिक लक्ष्य बहुत है। उस उपदेश में अविद्या-माया का पूर्ण विवेचन है—वहाँ (दो० १४ चौ० १-६) देखिये। उस प्रसंग में जीव अविद्या की कुरूपता का साक्षात्कार करता है, यही इसका नकटी-बूची करना है। (४) "सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥" (दो० १६), इसका भाव यह कि श्रीसीताजी की कृपा से विद्या-माया की प्रवृत्ति होती है, तब जीव-जगत् को ईश्वर शरीर रूप देखता है—उ० दो० ७८ चौ० २ पर विद्या-माया द्वारा वैसा ही देखा गया है। तब पहले की अविद्यात्मक दृष्टि के नानात्व भाव से इसे भय लगता है। उस अविद्या से डरे हुए प्रपन्न जीव के प्रति प्रभु उस दृढ़ ज्ञान का संकेत करते हैं, जिससे यह अविद्या की कुरूपता का साक्षात्कार करता है। यही सीताजी के भय प्रकट करने पर श्रीलक्ष्मणजी के प्रति संकेत से अविद्या को कुरूपा करना है।

(२) 'सरिता बन गिरि···जहँ-जहँ···'—सरिता आदि सब श्रीरामजी के विराट्-रूप में शरीर

हैं, श्रीरामजी सबके शरीरी है। अपने आत्मा रूप स्वामी को जानकर सभी सेवा कर रहे हैं, इसीसे ऐश्वर्य परक 'देव' नाम कहा गया है, आगे शरभंगजी के यहाँ—"सो कछु देव न मोर निहोरा।" कहा है और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ भी—"मुनि आश्रम पहुँचे सुर भूपा।" कहा है, क्योंकि जब सरिता आदि जड़ भी ऐश्वर्य मान रहे है तो ऋषियों के यहाँ तो प्रकट हैं ही। सरिता से जल, गिरि तथा वन से स्थल और मेघ से नभ के जीवों से सेवित होना कहा है। जीव संसार में तीन ही स्थल के होते है, यथा—"जलचर थलचर नभचर नाना।" (बा० दो० २)।

मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता ॥६॥
तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा ॥६॥

अर्थ—विराध दैत्य मार्ग मे जाते हुए मिला, समीप आते ही रघुवीर श्रीरामजी ने उसे मार डाला ॥६॥ उसने तुरत ही सुन्दर रूप पाया, उसको दुखी देखकर (शाप का फल भोगते हुए उसे साधन नहीं जानकर) (प्रभु ने) अपने लोक को भेजा ॥७॥

विशेष—(१) 'मिला असुर बिराध·····'—'मग जाता'—वह मार्ग मे सभीको लगता था, यथा—"हठि सब ही के पंथहि लागा।" (बा० दो० १८१), वही भाव यहाँ है। 'रघुबीर'—वीर हैं, तभी उसे आते ही मार डाला। 'आवत ही'—श्रीगोस्वामीजी के कल्प में विराध श्रीसीताजी को छू भी नहीं सका, क्योंकि रावण भी इनकी छाया (माया-सीता) का ही हरण कर सका था, उन्हें विराध कैसे छू पाता ? 'निपाता'—यह शब्द ऐसा रखा गया है कि इसमें वह जिस-जिस तरह से मारा गया है, वे सब भाव आ जायँ।

वाल्मीकीय रामायण अर० स० ३-४ मे विराध ने अपनी कथा श्रीरामजी से कही है—"कि मै 'जव' राक्षस का पुत्र हूँ, शत ह्रदा मेरी माता का नाम है और मेरा नाम विराध है। ब्रह्मा को प्रसन्न करके मैंने यह वर पाया है कि मै शस्त्र से न मारा जाऊँ और न मेरा कोई अंग ही कटे। (मैं ऋषियों के मास खाते हुए विचरता हूँ, सर्ग २।१३) (फिर अपने वध का निश्चय जानकर उसने कहा है कि) हे पुरुष श्रेष्ठ ! आपने मुझे मारा, यह अब मै जान गया, पहले मोहवश नहीं जाना था। मै पहले तुम्बरू नामक गन्धर्व था, रम्भा मे आसक्त होने और समय पर कुबेर की सेवा मे न पहुँचने से उन्होंने मुझे शाप दिया था, जिससे मैंने राक्षसी तन पाया। मेरी प्रार्थना पर प्रसन्न होकर कुबेरजी ने कहा कि जब श्रीरामजी रण मे तेरा वध करेंगे, तब फिर तू इसी अपने रूप को पाकर स्वर्ग मे आवेगा। आज आपकी कृपा से मै उस भयानक शाप से मुक्त हुआ। अब मै अपने लोक को जाता हूँ, मेरा शरीर गड्ढे मे तोपकर आप शरभंगजी के आश्रम को जायँ। जो राक्षस गाड़े जाते है, उन्हें श्रेष्ठ लोक प्राप्त होता है, यही राक्षसों का सनातन धर्म है।" फिर वहीं पर गढ़ा खोदकर श्रीलक्ष्मणजी ने उसे गाड़ दिया, तथा—"खनि गर्त गोपित बिराधा।" (वि० ४३)।

(२) 'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा।···'—यह रुचिर रूप उसका पूर्व का गन्धर्व-रूप है। 'निजधाम'—उपर्युक्त शाप की कथा के अनुसार उसका निजधाम अर्थात् गन्धर्वलोक, जहाँ से वह च्युत हुआ था, वहीं भेज दिया गया, यथा—"रघुपति चरन-कमल सिर नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई॥" (दो० ३३),—कबंध, "बंदि राम पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहे पगुधारा॥" (सु० दो० ५६),—शुक।

अनसूया-आश्रम से दक्षिण दो अर्द्धकोशों पर आगे विराध-कुण्ड मिलता है, यह स्थल घोर जंगल में बड़ा चौड़ा गहरा कटे हुए पत्थर मे है, बड़ा भयंकर है। जिसे ३-४ गज बाहर से ही कोई भी देख सकता है। उसके नीचे की तह की भूमि के अथवा उसकी बगल की दीवार की भूमि के हो, उगे हुए बड़े-बड़े वृक्षों के हरे पत्ते ही देख पड़ते है।

शरभंग-देह-त्याग-प्रकरण

पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा ॥८॥

दोहा—देखि राम मुख पंकज, मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जन्म सरभंग ॥७॥

शब्दार्थ—सरभगा (शर=चिता) = चिता में शरीर भंग किया, इसीसे शरभंग नाम पडा।

अर्थ—फिर सुन्दर भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ (श्रीरामजी) वहाँ आये, जहाँ शरभंग मुनि थे ॥८॥ श्रीरामजी का मुखकमल देखकर मुनि-श्रेष्ठ शरभंग के नेत्र-रूपी भौरे (छवि-रूपी मकरन्द को) सादर (अत्यन्त चाव से) पान कर रहे है, श्रीशरभंगजी का जन्म अत्यन्त धन्य है ॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि आये जहँ'''—'पुनि' शब्द से दूसरा प्रसंग प्रारम्भ हुआ। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीअत्रिजी और श्रीअगस्त्यजी के यहाँ अगवानी का बर्ताव हुआ, पर यहाँ नहीं, क्योंकि विराध के कारण इधर की राह बन्द थी। इधर का कोई आदमी उधर नहीं जाता था, इससे इन्हें समाचार ही नहीं मिला। इसलिये ये आगे बढ़कर लेने नहीं आये।

'सुंदर अनुज ''', यथा—"ततस्तु तौ काञ्चनचित्रकार्मुकौ निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्। विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥" (वाल्मी० ३।४।३४), अर्थात् विराध-वध करके श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी उस महावन रूपी आकाश में सूर्य और चन्द्रमा की तरह शोभित हुए, वही भाव यहाँ 'सुंदर' शब्द में है।

शंका—यहाँ पर श्रीरामजी और शरभंगजी में दण्डप्रणाम एवं आशीर्वाद का व्यवहार क्यों नहीं हुआ?

समाधान—मुनि का अन्तिम काल आ गया था, श्रीरामजी के पहुँचने पर वे अग्निहोत्र कर रहे थे—"अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागमत्। तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः। ''" (वाल्मी० ३।५।२५-२६), अर्थात् श्रीरामजी ने अपनी माधुर्य दृष्टि से दण्डवत् की, पर मुनि की ऐश्वर्य दृष्टि थी, इससे उनका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। जैसे उपर्युक्त दो० ६ पर अत्रिमुनि के प्रसंग में लिखा गया है।

कोई-कोई यह भी कहते है कि मुनि चिता पर आरूढ़ हो रहे थे, इससे उन्होंने बाह्य व्यवहार त्याग दिया था। जैसे सती होने के लिये प्रस्तुत स्त्री बाह्य व्यवहार नहीं करती।

(२) 'सादर पान करत अति'''—भौरा रस पीता है। अतः, यहाँ छवि-रूपी रस का अध्याहार कर लेना चाहिये, यथा—"अरबिंद सों आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये।" (क० बा० २), 'अति धन्य'—"सुकृती पुण्यवान् धन्यः" (अमरकोष), अर्थात् ये मुनि सुकृती हैं। इसीसे इन्हें ऐसे दर्शन हुए, यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेखी ॥" (बा० दो० ३०६), "को जानै केहि सुकृति सयानी। नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी ॥" (बा० दो० ३३४), "फिरि-फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥" (दो० २६)। और ऋषियों का जन्म धन्य है, इनका अति धन्य है। 'अति'—इस पद को दीप-देहली रूप से पान करने के साथ भी लेना चाहिये कि वे अत्यन्त चाव से पान कर रहे है।

कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर - मानस - राज - मराला ॥१॥
जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन अइहहिं रामा ॥२॥

चितवत पंथ रहेउँ दिन-राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ॥३॥
नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥४॥
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा ॥५॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे कृपालु! हे रघुवर! हे शिवजी के हृदय-रूपी मानससरोवर के राज-हंस! सुनिये! ॥१॥ मै ब्रह्माजी के लोक को जाता था, कानों से सुना कि श्रीरामजी वन में आवेंगे ॥२॥ तब से मै दिन-रात आपका मार्ग देखता रहा, अब हे प्रभो! आपको देखकर मेरी छाती ठंढी हुई ॥३॥ हे नाथ! मै सब साधनों से हीन हूँ, आपने मुझे अपना दीन जन जानकर यह कृपा की है ॥४॥ हे देव! इस (कृपा करने) का कुछ मुझपर आभार (एहसान) नहीं है, हे भक्तों के मन को चुरानेवाले! यह तो आपने अपना प्रण रक्खा है (अर्थात् अपने 'दीन दयालुता' से इस प्रण की रक्षा की है।) ॥५॥

विशेष—(१) 'कह मुनि सुनु रघुबीर'' '—'रघुबीर'—आप कृपा के आलय और विद्यावीर एवं पराक्रम वीर हैं, तभी विराध को मारा, यथा—"खर दूषन बिराध बध पंडित।" (उ० दो० ५०), नहीं तो वह किसी भी अस्त्र-शस्त्र से मरता ही न था। इस कार्य में मुनियों पर दया-वीरता भी है। कृपा-गुण से मुझे दर्शन दिये, नहीं तो किसी और ही मार्ग से चले जाते। 'संकर-मानस-राज-मराला'—यहाँ 'मानस' शब्द में श्लेष है। ऐसा न लेने से रूपक अधूरा रह जाता है, यथा—"जय महेस मन मानस हंसा।" (बा० दो० २८४), "जो भुसुंडि मन मानस हंसा।" (बा० दो० १४५), इत्यादि में मानस से भिन्न 'मन' कहा गया है, पर यहाँ वैसा नहीं है, इसका आशय आगे 'जन मन चोरा' से स्पष्ट है कि मन चुरा लिया गया है। हंस की प्राप्ति मानससर में ही होती है, वैसे आप श्रीशिवजी के ध्यान के ही विषय है। वे ही आप स्वयं यहाँ आकर दर्शन दिये और मैंने प्रत्यक्ष देखा। यह आपने मुझपर अत्यन्त कृपा की।

अलंकार—'परंपरित रूपक', क्योंकि मानस श्लिष्ट होने से रूपक में विशेषता है।

(२) 'जात रहेउँ बिरंचि के धामा।'''—ब्रह्मलोक जाने की कथा वाल्मी० ३।५।३-२६ में कही गई है—श्रीरामजी ने शरभंगजी के आश्रम को जाते हुए एक अद्भुत वृत्तान्त देखा कि हरे घोड़ों के रथ पर सवार, देवांगनाओं से सेवित इन्द्र पृथ्वी का स्पर्श न करते हुए आकाश में दीप्तिमान है। देव-गन्धर्व उनकी स्तुति कर रहे हैं और वे शरभंगजी से बातें कर रहे है। श्रीरामजी को आते देखकर इन्द्र शीघ्र वहाँ से चल दिये कि अभी श्रीरामजी न देख पावें, रावण-वध के पीछे दर्शन करूँगा। तब श्रीरामजी मुनि के पास आये। वहाँ विराजमान हो जाने पर श्रीरामजी ने इन्द्र के आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि मैंने अपनी उग्र तपस्या से ब्रह्मलोक जीत लिया है। इन्द्र मुझे वहाँ ले जाने के लिये आये थे, पर जब मैंने जाना कि आप समीप आ गये है, तब मैंने यह विचार किया कि आप सरीखे प्यारे अतिथि के दर्शन बिना ब्रह्मलोक न जाऊँगा।

(३) 'चितवत पंथ रहेउँ''·—बहुत काल से राह देखता था, अब आपके दर्शन पाने से छाती ठंढी हुई, यथा—"देखि राम छबि नयन जुड़ाने।" (दो० २)—देखिये। यह भी दिखाया कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति से श्रीरामजी के दर्शन बहुत श्रेष्ठ है।

(४) 'नाथ सकल साधन मैं हीना'''· यथा—"मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मै दीख जप तप का किये।" (दो० ६)—देखिये। इनके साधन तो बहुत थे, उन्हींसे इन्होंने ब्रह्मलोक-पर्यन्त जीत लिया था। फिर भी अपनेको सब साधन-हीन कहते है, क्योंकि प्रभु के दर्शनों की अपेक्षा सब साधन नहीं के समान है, अर्थात् अति अल्प है। साधन परिमित होते है और प्रभु अपरिमित है। अतः, उनकी

प्राप्ति उन्हीं की कृपा से होती है, साधनों से नहीं, यथा—"नास्यकृतः कृतेन" (मुण्डक० १।२।१२), अर्थात् किये हुए (कर्म आदि) उपायों से अकृत रूप ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, तथा—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥" (कठो० १।२।२३), अर्थात् जिसे वह स्वयं (कृपाकर) वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है, तथा—"गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई । ' " (उ० दो० ९२)—इसका भाष्य भी देखिये। कृपा का अधिकारी दीन है। इसलिये कहते हैं—"कीन्हीं कृपा जानि जन दीना।" कहा भी है—"जब लगि मै न दीन दयाल तै मै न दास तैं स्वामी ॥" (वि० ११३)।

अलंकार—'प्रहर्षण प्रथम' क्योंकि मन चाही बात बिना यत्न के हुई।

(५) 'निज पन राखेहु जन-मन-चोरा।'—दर्शन देने का मैं कृतज्ञ नहीं हूँ, क्योंकि यह तो आपका प्रण ही है, यथा—"येहि दरबार दीन को आदर, रीति सदा चलि आई।' (वि० १६५)। अतः, आप अपने स्वभाव से ही ऐसा करते हैं। 'जन-मन-चोरा'—यहाँ तो यह प्रत्यक्ष हो गया कि शिवजी के मन को चुरा लिया, कवि को खोजे न मिला, इसलिये उन्होंने 'मानस' के ही श्लेष से काम चलाया। पहले 'संकर-मानस-राज-मराला।' कहकर तब 'जन-मन-चोरा' कहा गया, क्योंकि चोरी खोलनी थी। मन ही चंचलता का कारण है। आप कृपा करके उसे ही चुरा लेते है कि भक्ति एक-रस हो। 'देव' अर्थात् आप सबके नियन्ता एवं समर्थ है।

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलउँ तुम्हहिं तनु त्यागी ॥६॥
जोग जज्ञ जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥७॥
येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा ॥८॥

दोहा—सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुण रूप श्रीराम ॥८॥

अर्थ—मुझ दीन के हित के लिये तबतक आप यहाँ रहिये, जबतक कि शरीर छोड़कर मै आपसे (न) मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप और व्रत, जितने किये थे, उन सबको प्रभु को समर्पण करके उनसे भक्ति का वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार चिता रचकर शरभंगजी हृदय से सब आसक्ति छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥ श्रीसीताजी और भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ नील मेघ के-से श्याम शरीरवाले सगुण-रूप हे श्रीरामजी ! (आप) मेरे हृदय में निरन्तर निवास कीजिये ॥८॥

विशेष— (१) 'तब लगि रहहु ' '—जैसे दीन को कृपा करके दर्शन दिये, वैसे कुछ और ठहरिये। ठहरने के लिये निहोरा भी करते है कि इतना और मेरी प्रार्थना से कीजिये, यथा—"एक पन्था नरव्याघ्र ! मुहूर्त्तं पश्यतात माम्। यावज्जहामि गात्राणि जीर्णा त्वचमिवोरगः ॥" (वाल्मी० ३।५।३७)।

(२) 'जोग जज्ञ जप तप ब्रत कीन्हा।'—पहले इन्हें सुकृत और उनके फल-रूप लोकों की वासना थी, किन्तु श्रीरामजी के दर्शनों से वह धुल गई। प्रभु के दर्शनानन्द के समक्ष सकामता से प्राप्त ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुख फीके पड़ जाते है। इसीसे प्रथम सकामता की कामाग्नि से जलते हुए हृदय का शीतल होना दर्शन से कहा गया है—"अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती।" कहा गया है। इसलिये उनसबों को भक्ति के लिये समर्पण कर दिया, यथा—"सब करि माँगहि एक फल, राम चरन रति होउ।" (अ० दो० १२९), ऐसे ही विभीषणजी ने भी कहा है—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद प्रीति सरित सो बही ॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु ' " (सुं० दो० ४८)।

(३) 'येहि बिधि सर रचि ' '—स्थूल चिता-रचना के साथ ही सब साधन-रूपी लकड़ियों की

भी चिता बना ली कि जल जायँ, फिर उनकी वासना न रह जाय। 'छाड़ि सब संगा'—क्योंकि हृदय में और भी वासना-रूपी विकारों के रहते प्रभु नहीं बसते, यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५), इसलिये सुकृत एवं तज्जन्य लोकों की वासना तथा और भी भावाभाव की आसक्ति छोड़ बैठे।

(४) 'सीता अनुज समेत प्रभु···'—भाव यह कि निर्गुण रूप से सदा बसते ही है, यथा—"सबके उर अंतर बसहु, जानहु भाव कुभाउ।" (अ० दो० २५७), ऐसे ही हमारे हृदय में भी हैं, पर अब सगुण-रूप से बसिये। जलद आकाश मे रहता है, यहाँ हृदय ही आकाश है। मेघ के साथ दामिनी रहती है, यहाँ श्रीसीताजी श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं। वहाँ दामिनी निरन्तर नहीं रहती, पर यहाँ निरन्तर साथ रहने को माँगते है।

अस कहि जोग अगिन तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि-लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥२॥
रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेखी ॥३॥
अस्तुति करहिं सकल मुनिबृंदा। जयति प्रनतहित करुना-कंदा ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर उन्होंने योगाग्नि में अपना शरीर जला दिया और श्रीरामजी की कृपा से वैकुण्ठ को चल दिये ॥१॥ इससे मुनि भगवान् में लीन नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने पहले ही भेद-भक्ति का वरदान माँग लिया था ॥२॥ वहाँ के ऋषि समूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजी की यह (श्रेष्ठ) गति देखकर अपने-अपने हृदयों मे विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनि-वृन्द स्तुति कर रहे है—"शरणागत-हितकारी एवं करुणाकन्द प्रभु श्रीरामजी की जय हो" ॥४॥

विशेष—(१) 'राम कृपा बैकुंठ सिधारा।'—मुनि ने अपने सब साधन तो भक्ति के बदले में दे दिये, तब भक्ति के अनुसार ही भगवान् के सगुण रूप का ध्यान माँगा। भक्तों को वैकुण्ठवास मिलता है, यथा—"यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५), इसीसे वैकुण्ठ गये। भगवान् अप्रमेय वैभववाले है, इससे परिमित साधनों के फल-रूप नहीं हैं, अतएव उनकी ही कृपा से उनकी प्राप्ति कही गई। उनके दर्शन भी उनकी ही कृपा से हुए, यथा—"कौन्हीं कृपा जानि जन दीना।" और वैकुण्ठ की प्राप्ति भी, यथा—"राम कृपा बैकुंठ सिधारा।"

(२) 'ताते मुनि हरि लीन···'—पहले लीन होने की इच्छा थी, जैसे कि योगाग्नि से शरीर त्यागने पर केवल्य-मुक्ति मिलती है, जिसे 'सोहमस्मि-वृत्ति' से साक्षात्कार करने का विधान उत्तरकाण्ड के ज्ञान-दीपक मे कहा गया है। पर जब श्रीरामजी के दर्शन हुए तब इनके दर्शनानन्द के आगे उस मुक्ति के सुख को फीका समझकर इसी रूप की नित्य-प्राप्ति के लिये वैसा ध्यान माँगा, यथा—"जिन्हके मन मगन भये है रस सगुन, तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कबनि।" (गी० अर० ५), फिर उसी निश्चय के अनुसार गति हुई, यथा—"क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥" (छा० ३।१४।१), अर्थात् यह पुरुष निश्चयमय है, इस लोक मे पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से जाकर होता है, इसलिये वह यहीं पक्का निश्चय करे, तथा—"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥" (गीता ८।६), 'प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ।'—कैवल्य मुक्ति में अभेदत्व है, यथा—"सो तैं ताहि तोहिं नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥" (ज० दो० ११०), क्योंकि उसमे 'अहं ब्रह्मास्मि' की अभेद भावना होती है, जिससे ब्रह्म की साधर्म्य-प्राप्ति को तल्लीन होना कहा जाता है। पर इन्होंने सगुण-रूप की ध्यान-पूर्व भेद-भक्ति माँगी

कि जिसमें परिकर रूप से भगवान् के साथ रहें, यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥" (तै० २।१), सगुण-उपासक कैवल्य मोक्ष नहीं चाहते, यथा—"सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥ ताते उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेद भगति मन लावा॥" (उ० दो० ११०)—यह प्रसंग भी देखिये।

(३) 'रिषि-निकाय मुनिबर-गति देखी।'—'गति-देखी'—हरिरूप धारण किये हुए वैकुण्ठ जाते सबने देखा—वाल्मी० ३।५।४०–४२ में इन्हें कुमार अवस्था के दिव्यतन की प्राप्ति यहीं पर लिखी गई है, जैसा कि गृध्रराज के प्रसंग में कहा गया है—"गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा॥ ···" (दो० ३१), इत्यादि। 'सुखी भए···'—पहले ब्रह्मलोक-यात्रा पर ही सुखी हुए थे, अब वैकुण्ठ जाते देखकर विशेष सुखी हुए। यह भी दिखाया कि शरभंगजी सर्व-प्रिय थे। इसीसे इनकी उत्तम गति पर सबने आनन्द माना।

(४) 'अस्तुति करहिं···'—उपर्युक्त 'रिषि निकाय' और यहाँ के 'मुनिबृंदा' से वाल्मीकीय अर० स० ६ में कहे हुए अनेक वृत्तिवाले ऋषियों को सूचित किया। पुनः 'प्रनतहित करुना कंदा' से वहाँ की स्तुति भी सूचित की, यथा—"ततस्त्वां शरणार्थं वा शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः। परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०–२१)। इन श्लोकों से मुनियों ने प्रणत होकर अपने हित के लिये प्रभु से करुणा करने के लिये स्तुति की है।

'बरनि सुतीछ्न प्रीति पुनि'-प्रकरण

पुनि रघुनाथ चले बन आगे। मुनिबर-बृंद बिपुल सँग लागे॥५॥
अस्थि-समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥६॥
जानत हूँ पूछिय कस स्वामी। सबदरसी तुम्ह अंतरजामी॥७॥
निसिचर-निकर सकल मुनि खाये। मुनि रघुबीर नयन जल छाये॥८॥

दोहा—निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥९॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे (दूसरे) वन को चले, मुनि-श्रेष्ठों के बहुत-से समूह साथ हो लिये॥५॥ हड्डियों के ढेर देखकर श्रीरघुनाथजी को बड़ी दया लगी और उन्होंने मुनियों से पूछा (कि यह हड्डियों का ढेर कैसा है ?) तब मुनियों ने कहा कि हे स्वामी ! आप सर्वदर्शी और फिर अन्तर्यामी है। अतः, जानते हुए भी कैसे पूछते हैं ?॥६–७॥ निशाचर-समूह ने इन समस्त मुनियों को खा डाला है (उन्हीं मुनियों की हड्डियों का यह ढेर है), यह सुनकर श्रीरामजी के नेत्रों में (करुणा से) जल भर आया॥८॥ (तब श्रीरामजी ने) भुजा उठाकर यह प्रतिज्ञा की कि मैं पृथ्वी को राक्षसों से रहित कर दूँगा। पुनः आपने सभी मुनियों के आश्रमों में जा-जाकर उन सबको सुख दिया॥९॥

विशेष—(१) 'पुनि रघुनाथ चले···'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारम्भ जनाया कि श्रीअत्रिजी के यहाँ से चलकर शरभंगजी के यहाँ कुछ ठहरे थे, यथा—"तब लगि रहहु दीन हित लागी।" (दो० ७), अब पुनः श्रीरामजी श्रीसुतीक्ष्णजी के वन को चले। वाल्मी० ३।५।३५ में शरभंगजी ने ऐसा ही परामर्श दिया था।

(२) मुनिबर-बृंद बिपुल सँग लागे'—क्यों संग लगे ? (क) आगे के अस्थि-समूह दिखाने और दुःख सुनाने को उसी राह से लिवा ले चले, यथा—"एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥ शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः । आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥" (वाल्मी० ३।३०।३४-३५), अर्थात् अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि"इन्हीं पापी राक्षसों के वध के लिये, आपको महर्षि लोग उपाय करके इधर लाये हैं। (ख) अपने-अपने आश्रमों पर ले जाने और आतिथ्य सत्कार करने के लिये, यथा—"सकलमुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ।" यह आगे कहा है। (ग) कुछ पहुँचाने और इसी मिस से शोभा देखने के लिये भी, यथा—"रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहि सँग लागे ॥" (अ० दो० ११३)।

पूर्व श्रीचित्रकूट से अत्रि-आश्रम तक बहुत मुनि थे, यथा—"सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई ।" (दो० २), फिर बीच में विराध के भय से न रहते थे। इधर शरभंगाश्रम से अगस्त्य-आश्रम तक भी बहुत रहते है, इसी से 'बृंद बिपुल' कहा गया है।

(३) 'अस्थि-समूह देखि ···'—एक-दो हड्डियाँ होतीं तो स्वाभाविक जानकर न पूछते। समूह देखकर ही पूछा, क्योंकि यह देखकर 'अति दाया' लगी। पुनः पूछकर नीति का पालन भी किया, क्योंकि बिना अपराध प्रकट किये किसीको दण्ड न देना चाहिये, राज-नीति-पालन के सम्बन्ध से 'रघुराया' कहा।

(४) 'सबदरसी तुम्ह अंतरजामी'—'सबदरसी' से जनाया कि जो कुछ हुआ आप जानते ही हैं। 'अंतरजामी' से सबके भीतर की बात भी जानना सूचित किया कि हमलोग जो चाहते हैं, वह भी आप जानते ही हैं। 'नयन जल छाये'—अर्थात् करुणा का उदय हुआ, जिससे तुरत आश्रितों के दुःख दूर करते हैं, यथा—"जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे ।" (उ० दो० १२)।

(५) 'निसिचर हीन करउँ महि, भुज···'—पृथ्वी-भर को निशाचर-हीन करने के लिये कहा, क्योंकि—"निसिचर निकर सकल मुनि खाये ।" यह सुन चुके है। 'भुज उठाइ'—ऐसी प्रतिज्ञा की रीति है, इससे दृढ़ता एवं सत्यता प्रकट की जाती है, यथा—"चल न ब्रह्म कुल सन बरियाई। सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई ॥" (बा० दो० १६४), "प्रन बिदेह कर कहहि हम, भुजा उठाइ बिसाल ॥" (बा० दो० २४९), इस तरह मुनियों को दृढ़ भरोसा दिया, तथा—"इन बाहुन ते, बध करब, बाहुज रूप बनाय। युद्ध बाहु आधीन है, इन्द्रबाहु के राय ॥ बध करि उपर पठाइहौं, पन करिबे की रीति। बीरन में भुज पूज्य हैं, भुज न राखिहौं नीति ॥" (पं० रामकुमार), भुजा उठाकर कहने पर ये कई भाव कहे गये है ('इन्द्रबाहु के राय' इन्द्र प्रभु की भुजा रूप हैं, उनका दुःख दूर करना है और मनुष्य की भुजा के देवता इन्द्र कहे जाते हैं)।

(६) 'जाइ जाइ सुख दीन्ह'—जिसकी जैसी अधिक अभिलाषा थी, उसके यहाँ उतने अधिक दिन रहे। सबके यहाँ ठहरते हुए १० वर्ष बिता दिये, कहीं १० मास, कहीं एक वर्ष, कहीं ४ महीने और कहीं ३, ५, ६ महीने रहे। किसीके यहाँ दोबारा भी गये, वह भी 'जाइ-जाइ' कहकर जना दिया। वाल्मी० ३।११। २२-२७ में विस्तार से कहा है, वह सब कुछ इतने ही मे जना दिया।

अलंकार—'प्रहर्षण प्रथम', क्योंकि मनचाही बात बिना यत्न के हुई।

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना ॥१॥
मन-क्रम-बचन राम - पद - सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक ॥२॥
प्रभु-आगवन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥३॥

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो-से सठ पर करिहहि दाया ॥४॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं ॥५॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं ॥६॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन-कमल अनुरागा ॥७॥

शब्दार्थ—आतुर = शीघ्रता, तीव्र उत्कण्ठा से। देवक = देव का, 'क' मिथिला प्रान्त का प्रत्यय है।

अर्थ—अगस्त्य मुनि के एक सुजान शिष्य थे, जिनका नाम सुतीक्ष्ण था, उनकी भगवान् में प्रीति थी ॥१॥ वे मन, वचन और कर्म से श्रीरामजी के चरण-सेवक थे। उन्हें स्वप्न में भी किसी दूसरे देवता का भरोसा नहीं था ॥२॥ उन्होंने प्रभु का आगमन जैसे ही कानों से सुना, वैसे ही मनोरथ करते हुए शीघ्रता से दौड़ पड़े ॥३॥ (वे मन ही मन कहते हैं—) हे विधाता! क्या दीनबन्धु श्रीरघुनाथजी मुझ-से मूर्ख पर दया करेंगे? ॥४॥ गोस्वामी श्रीरामजी भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ मुझसे अपने निज (खास) सेवक की तरह मिलेंगे? ॥५॥ मेरे जी में दृढ़ भरोसा नहीं है, (क्योंकि) मेरे मन में भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कुछ भी नहीं है ॥६॥ न तो सत्संग, जोग, जप और यज्ञ है और न (स्वामी के) चरण-कमलों में दृढ़ अनुराग है ॥७॥

विशेष—(१) 'मुनि अगस्ति कर ' '—गुरु सम्बन्ध कहकर विरक्ति सूचित करते हुए उनकी बड़ाई की। 'नाम सुतीछन'—अगस्त्यजी के बहुत-से शिष्य हैं, उनमें ये सुतीक्ष्ण नाम के हैं, क्योंकि इनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण (सूक्ष्मदर्शिनी) है। फिर गुण कहते हैं—'रति भगवाना'। भगवान् के किस रूप के उपासक है और कैसी वृत्ति के हैं? यह—'मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।' कहकर स्पष्ट किया। 'सपनेहुँ आन···' से इनकी अनन्यता कही; यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५)।

(२) 'प्रभु-आगवन श्रवन·····'—'धावा' मात्र कहा गया, इससे जान पड़ता है कि वे आगमन सुनते समय खड़े थे, वैसे ही दौड़ पड़े। बैठे होते तो उठना कहा जाता, यथा—"पुलकित गात अत्रि उठि धाये।" (दो० २), "सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये।" (दो० ११)। वे लोग बैठे थे, इससे उठकर दौड़े।

(३) 'हे बिधि दीनबंधु ·····'—मन में विचारते हैं कि यों तो मैं शठ हूँ, पर दीन हूँ और श्रीरघुनाथजी दीनबन्धु हैं, इससे ही सम्भव है कि दया करेंगे। हे विधि! यह मनोरथ करने की रीति है। ब्रह्मा विधानकर्त्ता है और सबकी बुद्धि के देवता है, इससे मनचाही बात इनके समक्ष कही जाती है, इसका यह आशय नहीं है कि वे विधि की उपासना करते हैं।

वाल्मीकिजी के कहे हुए १४ स्थानों में—'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा·····' (अ० दो० १३०) के ११ वें स्थान में सुतीक्ष्णजी की इस समय की स्थिति कही जा सकती है।

(४) 'मोरे जिय भरोस ·····'—यदि काण्ड-त्रय-सम्पन्न होता तो कुछ आशा भी होती, मैं वैसा भी नहीं हूँ। भक्ति, वैराग्य और ज्ञान कहकर तीनों काण्ड सूचित किये, क्योंकि विहित कर्म के अनुष्ठान का फल ही वैराग्य है, यथा—"निज-निज करम निरत श्रुति रीती॥ यहिकर फल मन बिषय बिरागा।" (दो० १५)।

(५) 'नहि सतसंग जोग जप जागा।'—ये सब भक्ति के साधन हैं, यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (दो० ६), अर्थात् भक्ति-प्राप्ति के साधन मुझमें नहीं हैं। यदि श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ अनुराग हो, तो सभी सद्गुण स्वयं आ जाते हैं, गीता ६।३०।३१ देखिये।—वह भी नहीं है। अथवा पूर्वार्द्ध में साधन कहकर उत्तरार्द्ध में स्वाभाविक एवं कृपासाध्य भक्ति का भी निराकरण किया,

यथा—"तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पदसरोज मन माहीं॥" (सुं० दो० ६), "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥ (मा० उ० ११९)।

एक बानि करुना - निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥८॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन-पंकज भव मोचन॥९॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥१०॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥११॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥१२॥
अबिरल प्रेम - भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु - ओट लुकाई॥१३॥

शब्दार्थ—बिदिसि (विदिशा) = चारों कोण—आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरामजी की यह एक (मुख्य) बानि (आदत) है कि जिसे और किसी-का आश्रय (एवं भरोसा) नहीं, वह उन्हें प्यारा है॥८॥ जन्म-मरण के छुड़ानेवाले मुखकमल को देख-कर मेरे नेत्र आज सुफल होंगे॥९॥ वे ज्ञानी मुनि परिपूर्ण प्रेम में निमग्न हैं, हे भवानी! उनकी वह दशा कही नहीं जा सकती॥१०॥ उन्हें (पूर्व आदि चारों) दिशाएँ, (आग्नेय आदि चारों) विदिशाएँ और मार्ग (कुछ भी) नहीं सूझते हैं। मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ—यह भी नहीं जान पड़ता॥११॥ लौटकर फिर पीछे जाने लगते हैं और कभी-कभी श्रीरामजी के गुण गा-गाकर नाचने लगते हैं॥१२॥ मुनि को अविरल (सघन-अविच्छिन्न) प्रेम लक्षणा भक्ति प्राप्त है, वृक्ष की आड़ में छिपकर प्रभु देख रहे हैं॥१३॥

विशेष—(१) 'एक बानि करुना ·····'—अर्थात् प्रभु की प्राप्ति में दीनता और अनन्यता ही साधन हैं। दीनता से प्रभु की करुणा होती है और अनन्यता से प्रियत्व। श्रीसुतीक्ष्णजी में ये ही दोनों बातें हैं, यथा—"हे बिधि दीनबंधु रघुराया।···" इसमें अपनी दीनता सूचित की है और—'सपनेहुँ आन भरोस न देवक' एवं—'सो प्रिय जाके गति न आन की।' से अनन्यता कही है। इस बानि का प्रमाण श्रीमुख-वचन है, यथा—"समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥" (कि० दो० २), 'होइहैं सुफल आजु·· ··', यथा—"करहु सफल सबके नयन, सुंदर बदन देखाइ॥" (बा० दो० २१८), "निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सफल करउँ उरगारी॥" (उ० दो० ७४), आज हमारे नेत्रों के होने का श्रेष्ठ फल मिलेगा। इस कथन से मुनि का प्रभु की बानि में विश्वास और अपनी अनन्यता में उनकी दृढ़ता प्रकट हुई।

(२) 'निर्भर प्रेम मगन··· '—मुनि ज्ञानी है, इसीसे परिपूर्ण प्रेम है, क्योंकि—"सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू।" (अ० दो० २७६), 'बदन पंकज' के स्मरण करते एवं उसके 'भव मोचन' माहात्म्य को समझकर निर्भर प्रेम में मुनि मग्न हो गये। उस दशा को श्रीशिवजी अकथ्य कहते हैं। श्रीशिवजी प्रेम-दशा के ज्ञाता हैं, यथा—"प्रेम तें प्रकट होहि मैं जाना।" (बा० दो० १८४), इसीसे प्रेम-प्रसंग मानो इन्हींके बाँटे पड़ा है, यथा—"बार बार प्रभु चहहि उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥" (सुं० दो० ३२), "उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि, जसि निष्केवल प्रेम॥" (लं० दो० ११६), "सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥" (उ० दो० ४), इत्यादि।

(३) 'दिसि अरु बिदिसि···'—सूझना नेत्रों का विषय है, यथा—"लोचन सहस न सूझ सुमेरू।" (अ० दो० २९४) और बूझना बुद्धि (हृदय) का विषय है, अर्थात् भीतर और बाहर, दोनों प्रकार की

इन्द्रियों में विह्वलता है। इनके नेत्र और मन दोनों लुभाये हुए हैं, यथा—"बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (बा० दो० २१८), दिशा-विदिशा से पन्थ का न सूझना और इससे भी अपनापन का भूलना विशेष है। अतः, उत्तरोत्तर विह्वलता अधिक ही होती गई। आगे उस प्रेम की दशा कहते हैं।

(४) 'कबहुँक फिरि पाछे···अविरल प्रेम···'—यही अविच्छिन्न प्रेम लक्षणा [भक्ति के लक्षण हैं, यथा—"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्तउच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युद्मादयन्नृत्यति लोकबाह्यः॥" (भाग० ११।२।४०)। "निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्वीर्याणि लीला तनुभिः कृतानि। यदाऽतिहर्षात्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥" (भाग० ७।७।३४)। "वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥" (भाग० ११।१४।२४)।

(५) 'प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।'—मुनि प्रेम में मग्न हैं और प्रभु भाव के ही गाहक हैं। अतः, ओट से देख रहे हैं कि यदि मुनि मुझे देख लेंगे, तो फिर यह नृत्य न करेंगे, रंग में भंग हो जायगा, जैसे माता-पिता छिपकर बच्चों के कौतुक देखते हैं, वैसे प्रभु इनका नृत्य देख रहे हैं। यहाँ 'तरु ओट', फुलवारी में 'लता ओट' और वालि के युद्ध में 'विटप ओट' कहा है, क्योंकि शान्त-रस में 'तरु', शृंगार में 'लता' और वीररस में 'विटप' कहा जाना साहित्यिक कुशलता है।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव-भीरा॥१४॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥१५॥
तब रघुनाथ निकट चलि आये। देखि दसा निज जन मन भाये॥१६॥
मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥१७॥
भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥१८॥
मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥१९॥

शब्दार्थ—माँझ = में, बीच। बैसा = बैठा, यथा—"अंगद दीख दसानन बसे।" (लं० दो० १८), यह 'विश्' धातु से निष्पन्न है, जिसका बैठना अर्थ होता है। पनस = कटहल। दुरावा = छिपाया। जगावा = ध्यान-वृत्ति छुड़ाई, यथा—"छूटि समाधि संभु तब जागे।" (बा० दो० ८६)।

अर्थ—जन्म-मरण के भय को हरनेवाले रघुवीर श्रीरामजी अत्यन्त प्रीति देखकर मुनि के हृदय में प्रकट हो गये॥१४॥ तब मुनि मार्ग में अचल (स्थिर) होकर बैठ गये, उनका शरीर कटहल के फल की तरह पुलकित हो गया (अर्थात् कटहल-फल के ऊपरी काँटों की तरह उनके रोएँ खड़े हो गये)॥१५॥ तब श्रीरघुनाथजी चलकर उनके समीप आये और अपने भक्त की यह दशा देखकर मन में प्रसन्न हुए॥१६॥ मुनि को श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से जगाया (ध्यान छुड़ाने का यत्न किया), पर वे ध्यान से उत्पन्न सुख को पा गये हैं, इससे नहीं जागे॥१७॥ तब श्रीरामजी ने भूप-रूप (राज-रूप) को छिपा लिया और मुनि के हृदय में चतुर्भुज रूप दिखाया॥१८॥ तब मुनि कैसे व्याकुल हो उठे, जैसे श्रेष्ठ सर्प मणि-हीन होने पर व्याकुल हो जाय॥१९॥

विशेष—(१) 'अतिसय प्रीति देखि··· ···'—प्रभु का यह नियम है, यथा—"जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।", "प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।" (बा० दो० १८४), अतएव मुनि के अत्यन्त प्रेम पर प्रकट हो गये। पुनः यह भी नियम है—"बचन करम मन मोरि गति, भजन करहि निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ, सदा करउँ बिश्राम।" (दो० १६), ये सब अंग भी

मुनि में हैं, यथा—"मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥" "अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धरि राम। मम हिय गगन इंदु इव, बसहु सदा निःकाम॥" "निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" प्रेम के समान दूसरा भजन नहीं है, यथा—"रामहि केवल प्रेम पियारा।" (अर० दो० १३६), इन्हीं कारणों से उनके हृदय में प्रभु को प्रकट होते ही बना। मुनि अन्तर्दृष्टि हो गये थे, इससे श्रीरामजी उनके हृदय में ही प्रकट हो गये, पर ध्यान द्वारा दर्शन देने-मात्र में प्रभु को सन्तोष नहीं हुआ, अतएव फिर निकट चलकर उन्हें और अधिक सुख देंगे। विलम्ब के कारण मुनि के सन्तोष के लिये पहले हृदय में ही दर्शन दिये।

(२) 'हरन भव-भीरा'—यह हृदय के ध्यान-दर्शनों का फल कहा गया।

(३) 'पनस-फल जैसा' अर्थात् शरीर-भर के रोएँ खड़े हैं, कटहल के भीतर रस भरा होता है, वैसे मुनि के हृदय में प्रेम-रस पूर्ण है। कटहल फल के भीतर कोए रहते हैं, वैसे मुनि के हृदय में अनेक ब्रह्माण्ड युक्त श्रीरामजी है।

(४) 'तब रघुनाथ निकट चलि ··'—पहले मुनि प्रेम में विह्वल तो थे, पर आँखें खुली थीं, जब ध्यान में आँखें मूँदकर बैठ गये, तब श्रीरामजी निकट चले आये। प्रधानता के कारण 'रघुनाथ' मात्र कहा गया है, पर तीनों मूर्त्तियाँ हैं, यथा—"आगे देखि राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा॥" यह आगे कहा है। बाहरी रूप से चलकर आये, तब निकट से दशा अच्छी तरह देखने में आई। 'देखि' अर्थात् वह दशा देखते ही बनती है, कहने में नहीं आती। पूर्व कहा ही है—"कहि न जाइ सो दसा भवानी।" अन्यत्र भी कहा है, यथा—"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥५१॥ मूकास्वादनवत् ॥५२॥" (नारदभक्तिसूत्र)।

'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।'—ऊँचे स्वर से पुकारा, हाथ पकड़कर हिलाया, इत्यादि। 'जाग न ध्यान जनित सुख', यथा—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥" (गीता ६।१९-२०), तथा—"भगवद्दर्शनाह्लादवाष्पपर्याकुलेक्षणः। पुलकाञ्चितागङ्ग औत्कण्ठ्यात् स्वाख्याने नाशकन्नृप॥" (भाग० १०।३८।३५), अर्थात् हे राजन्! भगवद्दर्शन के आह्लाद से उनके नेत्रों में जल भर आया, शरीर पुलकित हो गया, गला भर जाने से वे अपना परिचय न दे सके।

(५) 'भूप-रूप···हृदय चतुर्भुज···'—भूप-रूप = द्विभुज राम-रूप। चतुर्भुज = नारायण विष्णु-रूप। श्रीरामजी ने मुनि को जगाने के लिये और उनकी एकरूपानन्यता प्रख्यात करने के लिये, उनके हृदय में चतुर्भुज रूप प्रकट कर दिया कि लोग इस अनन्यता का आदर्श देख लें, यथा—"प्रेम अमिय मंदर बिरह, भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटे सुर-साधु हित, कृपासिंधु रघुबीर॥" (अ० दो० २३८), और यह भी सूचित किया कि वह चतुर्भुज-रूप भी हमारा ही है। भगवान् का राम-रूप परात्पर है, यथा—"बाहू राजन्यः कृतः" (पुरुषसूक्त), अर्थात् परमात्मा का सर्व-कारण-रूप द्विभुज ही है, यथा—"द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥" (रामतापनीय उ०) "मरीचि मण्डले संस्थं वाणाद्यायुधलाञ्छितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः॥" (श्रीनारदपञ्चरात्र), "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं ज्ञेयं···" (संकर्षण सं० एवं आनन्दसंहिता)। प्रथम सृष्टि की इच्छा से नरसंज्ञक व्यापक परमात्मा श्रीरामजी ने जल पैदा किया। तब उसका नाम नार हुआ, उसमें उन्हीं परमात्मा श्रीरामजी ने चतुर्भुज-रूप से शयन किया, तब उनका नाम नारायण हुआ, यथा—"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्व तेन नारायणः स्मृतः॥" (मनु० १।१०), महा० शान्ति० ३४१।३९-४० में ऐसा ही कथन है। "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः॥'

तथा—"नैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ " इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।" (वाल्मी० मू०), इत्यादि बहुत प्रमाण है ।

भगवान् श्रीरामजी के ही चतुर्भुज आदि अभिन्नांश-रूप हैं, तत्वतः अभिन्न हैं । स्वरूपानन्य भक्त लोग एक ही रूप में निष्ठा करते हैं, पर अन्य रूपों से उनका द्वेष नहीं रहता । यहाँ मुनि का अकुला उठना अपने इष्ट-रूप के हटने पर है ।

(६)'मुनि अकुलाइ उठा ·· ···'—पहले बैठ गये थे, यथा—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा ।" यह पूर्व कहा गया था । अब वे अकुलाकर उठ खड़े हुए । अकुलाने का कारण आगे कहते हैं । 'बिकल हीन मनि···', यथा—"मनि बिना फनि जिये ब्याकुल बिहाल रे ।" (वि० ६७), सर्प अपनी ही मणि चाहता है, वैसे ये अपने ही इष्ट-रूप को चाहते हैं । बिना उसके व्याकुल हो गये ।

परम अनन्य उपासक भगवान् के एक ही रूप में अनन्य होकर फिर रूपान्तर से प्रेम नहीं करते । जैसे भगवान् के ही नृसिंह-रूप धारण करने पर उन्हें शान्त करने के लिये श्रीलक्ष्मीजी नहीं गईं । वे यह बोलीं कि ये हमारे इष्ट-रूप नहीं हैं, यद्यपि भगवान् ही हैं ।

आगे देखि राम तनु स्यामा । सीता-अनुज - सहित सुखधामा ॥२०॥
परेउ लकुट इव चरननन्हि लागी । प्रेम - मगन मुनिबर बड़भागी ॥२१॥
भुज बिसाल गहि लिये उठाई । परम प्रीति राखे उर लाई ॥२२॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला । कनक-तरुहि जनु भेंट तमाला ॥२३॥
राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा । मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा ॥२४॥

दोहा—तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार ।
निज आश्रम प्रभु आनि करि, पूजा बिबिध प्रकार ॥१०॥

अर्थ—श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ सुख के स्थान श्याम-शरीर श्रीरामजी को आगे देखकर ॥२०॥ बड़े भाग्यवान् मुनिश्रेष्ठ प्रेम में निमग्न होकर लकुटी (पतली छड़ी) की भाँति गिरकर (श्रीरामजी के) चरणों में लग गये ॥२१॥ श्रीरामजी ने अपनी लम्बी भुजाओं से पकड़कर उन्हें उठा लिया और बड़ी प्रीति से (कुछ काल) हृदय में लगाये रक्खा ॥२२॥ मुनि से मिलते हुए कृपालु श्रीरामजी ऐसे शोभित हो रहे हैं, मानो सोने के वृक्ष से तमाल वृक्ष मिल रहा हो ॥२३॥ मुनि खड़े हुए श्रीरामजी के मुख के दर्शन कर रहे हैं । मानो चित्र (तसवीर) में लिखकर उनकी आकृति काढ़ी गई हो (अर्थात् निमेष-रहित जड़ के समान शरीर हो गया, हिलता-डुलता नहीं) ॥२४॥ तब (फिर) मुनि ने हृदय में धैर्य धारण कर और बार-बार प्रभु के चरणों को पकड़कर उन्हें अपने आश्रम में ला उनकी अनेक प्रकार से पूजा की ॥१०॥

विशेष—(१) 'सीता-अनुज-सहित सुख धामा ।'—पहले ध्यान-जनित सुख पाया था । फिर उस ध्येय-रूप के हट जाने से दुखी हो गये थे । अब प्रत्यक्ष देखकर पुनः सुखी हुए । यहाँ 'सुख धामा' कहने से अब प्रत्यक्ष मूर्त्ति के दर्शनों से अधिक सुख पाना सूचित किया ।

(२) 'परेउ लकुट इव चरननन्हि लागी ।···'—मुनि ने साष्टाङ्ग दण्डवत् की, लकुटी पतली छड़ी को कहते हैं, वैसे ये तपस्या आदि नियमों के क्लेश से दुबले हो गये थे । वैसे ही श्रीभरतजी भी वियोग-कृश थे । अतः, वहाँ भी कहा गया है, यथा—"भूतल परेउ लकुट की नाईं ।" (अ० दो० २३९), और बा० दो० १४७ चौ० ७ भी देखिये । बिना सहारे की लकुटी जैसे गिर पड़ती है वैसे ही मुनि चरणों पर गिर

पड़े। 'प्रेम-मगन मुनिबर बड़भागी।'—दंड के समान गिरने का कारण प्रेम-मग्नता है और इसीसे ये 'बड़भागी' कहे गये। चरणों के सम्बन्ध में 'बड़भागी' पद सातो काण्डों में आये हैं—"अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी।" (बा० दो० ११)—देखिये। इन चरणों के विमुख अभागी हैं, यथा—"ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।" (वि० १४०)।

(३) 'परम प्रीति राखे उर लाई।'—'राखे' अर्थात् बड़ी देर तक हृदय में लगाये रहे, यथा—"करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥" (दो० ४०)। मुनि ने ध्यान द्वारा रामजी को हृदय में रक्खा था। वैसे श्रीरामजी ने मुनि को हृदय में लगा रक्खा है।

(४) 'मुनिहि मिलत अस सोह···'—मुनि के दो मनोरथ थे—(१) "मिलिहहि निज सेवक की नाईं।" वह यहाँ पूरा हुआ, (२) "होइहहिं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन···" वह भी आगे पूर्ण हुआ, यथा—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा।" कृपालु श्रीरामजी मुनि से मिल रहे हैं। उपमा में वर्ण की ही समता नहीं, किन्तु दोनों वृक्ष के समान जड़ हो गये हैं। 'सोह कृपाला'—इसमें कृपालु की शोभा है कि जिनसे मिलने के लिये ब्रह्मादि तरसते हैं, वे मुनि को उठाकर आलिंगन कर रहे हैं, यह दीनों पर अत्यन्त दया है, इसीमें प्रभु की शोभा है।

(५) 'तब मुनि हृदय धीर धरि···'—ऊपर कहा गया—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥" इसमे अधीरता स्पष्ट है। इसीसे यहाँ 'धीर धरि' कहा गया। यह मूर्त्ति ही ऐसी है कि देखकर लोग अधीर हो जाते हैं, यथा—"मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह-बिदेह बिसेखी॥ प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर॥" (बा० दो० २१५), "देखि भानुकुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि ···" (बा० दो० २३३), 'गहि पद बारहि बार'—प्रेम के वश होने से बार-बार चरण गहे, यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं॥" (बा० दो० ३३५), "प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥" (दो० ३३), इत्यादि। 'पूजा बिबिध प्रकार'—पोड़शोपचार की विधियों में प्रत्येक को विशेष रूप से किया। यह व्यवहार की भी सँभाल है।

पहले कहा गया था—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" वह चरितार्थ भी हुआ, यथा—"सपनेहुँ आन भरोस न देवक।"—मन, "परेउ लकुट इव ··पूजा बिबिध प्रकार।"—कर्म, "कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।"—वचन।

मुनि में श्रवणादि नवधा-भक्ति के सब अंग परिपूर्ण हैं, नवधा भक्ति, यथा—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (भाग० ७।५।२३), उदाहरण—(१) श्रवण—"प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा।" (२) कीर्त्तन—"कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।" (३) विष्णु-स्मरण—"एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय···" (४) पाद-सेवन—"मन-क्रम-बचन राम-पद-सेवक।" (५) अर्चन—"पूजा बिबिध प्रकार।" (६) बंदन—"कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।" (७) दास्य—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक···।" (८) सख्य—"देखि कृपा-निधि मुनि चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई॥" क्योंकि चतुराई करके साथ होना और प्रभु का हँसना एवं साथ लेना सख्यत्व है। (९) आत्मनिवेदन—"परे लकुट इव चरनन्हि लागी।"

कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करउँ कवन बिधि तोरी॥१॥
महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि - सनमुख खद्योत अँजोरी॥२॥
स्याम - तामरस - दाम - सरीरं। जटा - मुकुट - परिधन मुनि-चीरं॥३॥
पानि - चाप - सर - कटि - तूनीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥४॥

मोह - बिपिन घन-दहन - कृसानुः । संत - सरोरुह - कानन - भानुः ॥५॥
निसिचर - करि - बरूथ - मृगराजः । त्रातु सदा नो भव - खग - बाजः ॥६॥
अरुन - नयन - राजीव - सुबेसं । सीता - नयन - चकोर - निसेसं ॥७॥
हर - हृदि - मानस - बाल-मरालं । नौमि राम - उर - बाहु - बिसालं ॥८॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि हे प्रभो ! मेरी प्रार्थना सुनिये, मैं आपकी स्तुति किस प्रकार से करूँ ? ॥१॥ आपकी निःसीम महिमा के सामने मेरी बुद्धि थोड़ी है, जैसे सूर्य के सामने जुगनू का प्रकाश ॥२॥ श्याम कमल-समूह के समान श्याम आपका शरीर है, आप जटाओं का मुकुट और मुनियों के समान वस्त्र (वल्कल आदि) कटि से नीचे धारण किये हुए हैं ॥३॥ हाथों में धनुष-बाण और कटि में तरकस कसे हुए, हे श्रीरघुवीर, आपको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ॥४॥ मोह-रूपी सघन वन को जलाने के लिये अग्नि-रूप, सन्त-रूपी कमल वन के (फुल्लित करने के लिये) सूर्य-रूप ॥५॥ निशाचर-रूपी हाथियों के झुण्ड के (नाश करने के लिये) सिंह और जन्म-मरण-रूपी पक्षी के (मारने के) लिये बाज-रूप आप सदा मेरी रक्षा करें ॥६॥ लाल कमल के समान लाल नेत्र और सुन्दर वेषवाले, श्रीसीताजी के नेत्र-रूपी चकोर के चन्द्रमा ॥७॥ श्रीमहादेवजी के हृदय-रूपी मानस सरोवर के बाल-हंस, चौड़ी छाती और लम्बी भुजाओंवाले श्रीरामजी, आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥८॥

विशेष—(१) 'कह मुनि प्रभु सुनु ···'—विविध प्रकार पूजा कर चुके, उसीके साथ स्तुति भी है, किन्तु स्तुति के लिये बड़ी बुद्धि चाहिये, यथा—'मुनिवर परम प्रबीन, जोरि पानि अस्तुति करत ॥" (दो० ३), पर मेरी बुद्धि थोड़ी है । अतः, उससे कैसे बड़ी स्तुति कर सकूँ ? 'महिमा अमित ··', यथा—"तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता । नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता ॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा । तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा ॥" (उ० दो० ९०) । 'रबि-मनमुख खद्योत अंजोरी ।'—सूर्य के सामने जुगनू कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकता, वैसे आपकी अपरिमित महिमा के आगे मेरी बुद्धि कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकती । भाव यह कि सूर्य की ज्योति के समक्ष फीके पड़ते हुए चन्द्रमा एवं तारागण की तरह (आपके) समक्ष शिव-ब्रह्मा आदि की बुद्धि भी चकरा जाती है तब मेरी जुगनू-सी बुद्धि की क्या गिनती ? (मुनि की बुद्धि तीव्र है, पर कार्पण्य-रीति से अपनी दीनता कही है । जैसे श्रीगोस्वामीजी का काव्य सर्वोपरि है, पर वन्दना में इन्होंने अपनी बड़ी दीनता प्रकट की है) ।

(२) 'श्रीरघुबीरं ···'—ऊपर जटा-मुकुट आदि मुनिवेष धारण के सम्बन्ध से पिता के आज्ञा-पालन-रूप धर्म-वीरता से और 'पानि' चाप-शर-आदि के द्वारा भू-भार-हरण के लिये वीर-रूप धारण करने से आपकी शोभा है, इसलिये 'रघुबीर' के साथ शोभावाचक 'श्री' कहा है ।

(३) 'मोह-बिपिन-घन ···'—मोह आदि भीतरी विकार नाश करके सन्तों को आप सुखी करते हैं । 'निसिचर-करि-बरूथ ···'—से बाहर के शत्रुओं का नाश कहा । भीतर-बाहर के शत्रुओं का नाश कहकर तब भाव का नाश कहा । 'मोहि बिपिन', यथा—"बन बहु बिषम मोह मद माना ।" (बा० दो० ३१), 'सीता-नयन-चकोर निसेसं', यथा—"अधिक सनेह देह भइ भोरी । सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी ॥" (बा० दो० २३१), 'अरुन-नयन ···'—लाल नेत्र शृंगार और वीर दोनों रसों में युक्त हैं, ऊपर वीर रस और नीचे शृंगार-रस का प्रसंग है ।

पहले सन्तरक्षा, फिर निशाचर वध और तब श्रीसीताजी के नेत्र का विषय होना कहा, फिर पीछे श्रीशिवजी का ध्येय-स्वरूप कहा है, क्योंकि सन्त-रक्षा के लिये वन को आये, अब निशाचर को मारेंगे और फिर श्रीसीताजी प्राप्त होंगी । तत्पश्चात् श्रीशिवजी राजगद्दी होने पर स्तुति करके उसी रूप को हृदय में रखकर उसका बालक के समान लालन-पालन करेंगे । इसलिये 'बाल-मराल' कहा है ।

यहाँ 'कृसानु:' 'भानु:, और 'निसेसं' कहकर तीनो तेजोमय उपमानों से उपमित किया, तथा—"तेजहीन पावक ससि तरनी" (ल० दो० १०२)। अतः, श्रीरामजी को सर्व तेजोमय सूचित किया। 'हर-हृदि-मानस-बाल-मराल', यथा—"बंदउँ बालरूप सोइ रामू।" (बा० दो० १११)।

(४) "उर-बाहु-बिसालं'—विशाल के अर्थ लम्बा और चौड़ा ये दोनों होते है। अतः, छाती के साथ चौड़ा और बाहु के साथ लम्बा अर्थ लिया गया है। लम्बी भुजाओं से भक्तों को ग्रहण करके चौड़ी छाती में लगाते है, इन्हींसे इनकी शोभा है, यथा—"भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।" (सु० दो० ४५), विभीषण को, "करत दंडवत लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई॥" (सु० दो० ४०)—श्रीनारदजी को। श्रीभुशुण्डीजी को ग्रहण करने के लिये सर्वत्र भुजा पहुँचती ही गई।

संसय - सर्प - ग्रसन - उरगादः। समन - सु- कर्कस-तर्क - बिषादः॥९॥
भव - भंजन रंजन - सुर-जूथः। त्रातु सदा नो कृपाबरूथः॥१०॥
निर्गुन-सगुन - बिषम-सम-रूपं। ज्ञान - गिरा - गोतीतमनूपं॥११॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन - महि - भारं॥१२॥
भक्त -कल्प - पादप - आरामः। तर्जन - क्रोध - लोभ-मद-कामः॥१३॥
अति-नागर - भव-सागर - सेतुः। त्रातु सदा दिनकर - कुल - केतुः॥१४॥
अतुलित -भुज-प्रताप-बल-धामः। कलि - मल-बिपुल-बिभंजन-नामः॥१५॥
धर्म - बर्म नर्मद गुनग्रामः। संतत संतनोतु मम रामः॥१६॥

शब्दार्थ—सु-कर्कस = अत्यन्त कठोर। अखिल = नि शेष, पूर्ण। अनवद्य = अनिन्द्य। पादप = वृक्ष। तर्जन = धमकाने-डाँटनेवाले। नर्मद = सुख देनेवाले। बर्म = कवच। संतनोतु (ततनोतु) = कल्याण का विस्तार करो।

अर्थ—संशय-रूपी साँप को ग्रसने के लिये गरुड़-रूप, अत्यन्त कठिन तर्कणाओं के दुःखों का नाश करनेवाले॥९॥ भव (जन्म-मरण) को तोड़ने (मिटाने) वाले और देवताओं के समूह को सुखी करनेवाले—कृपा के समूह आप हमारी सदा रक्षा करें॥१०॥ निर्गुण और सगुण, विषम और सम रूप, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियों से परे, उपमा-रहित॥११॥ निर्विकार, परिपूर्ण, अनिन्द्य, अपार, पृथ्वी के भार के नाशक (ऐसे) श्रीरामजी (आप-) को मैं नमस्कार करता हूँ॥१२॥ भक्तों के लिये कल्पवृक्ष के बाग, क्रोध-लोभ-मद और काम को डाँटनेवाले (नाश करनेवाले)॥१३॥ भव-सागर से पार उतरने के लिये पुल (रचने में) अत्यन्त चतुर, सूर्य-कुल की ध्वजा, ऐसे आप सदा मेरी रक्षा करें॥१४॥ आपकी भुजाओं का प्रताप अपरिमित है, आप बल के धाम है, कलियुग के पाप-समूह का नाशक आपका नाम है॥१५॥ धर्म की रक्षा के लिये कवच-रूप और जिनके गुण-समूह सुख देनेवाले है—ऐसे श्रीरामजी (आप) निरन्तर मेरे कल्याण का विस्तार करें॥१६॥

विशेष—(१) 'संसय-सर्प-ग्रसन ···'—पूर्वार्द्ध में संशय-रूपी सर्प का नाश कहा गया और उत्तरार्द्ध में उसकी लहर रूपी कुतर्कों का, यथा—"संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥" ((उ० दो० ६२), अर्थात् संशय और उससे उठे हुए कुतर्क नष्ट होते है। तत्पश्चात् भव का नाश होता है। इन सबसे रक्षा करने के कारण 'कृपाबरूथः' कहा है। उरगादः = सर्पों को खानेवाला—यह नाम यहाँ कार्य सहित संगत है।

(२) 'निर्गुन-सगुन-बिषम-सम-रूपं ···'—आप ही निर्गुण हैं और सगुण भी, विषम भी हैं और सम भी, अर्थात् परस्पर विरोधी गुण धारण करते हैं, इसीसे आगे 'अनूपं' कहा है अर्थात् ऐसा और

कोई नहीं है। 'बिषम-सम', यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८)—देखिये। इसीसे भक्त प्रह्लाद की रक्षा की और हिरण्यकशिपु को मारा।

(३) 'भक्त-कल्प-पादप-आरामः।'—पृथ्वी का भार उतार कर सबको सुखी किया इससे कल्पवृक्ष-रूप हुए। पर भक्तों के लिये तो अनेक कल्पवृक्षों के बाग के समान हुए, अर्थात् उनके लिये तो अनेक रूपों से आप सर्वत्र ही हैं, वे जहाँ भी जायँ आपकी छाया में ही रहें, यथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः।" (वाल्मी० ४।१५।१९), कल्पवृक्ष तीन ही फलों को देता है, आप मोक्ष भी देते हैं। अतः, आगे 'भवसागर सेतुः' भी कहा है। भव से छूटना मुक्त होना है। 'तर्जन-क्रोध-लोभ-मद-कामः'—ऊपर कल्पवृक्ष के समान कहकर इनसे चारो फलों की प्राप्ति कही। अब उनकी रक्षा का विधान भी कहते हैं कि अर्थ का बाधक क्रोध, धर्म का बाधक लोभ, काम का बाधक मद और मोक्ष का बाधक काम है, यथा—"लोभ ग्रसे सुभ कर्म।" (उ० दो० ९७), "सुभ गति पाव कि परतिय गामी।" (उ० दो० १११), आप इन सबसे रक्षा करते हैं, अर्थात् इनपर चित्त वृत्ति जाने पर खेद प्राप्त कर देते हैं, फिर विवेक-द्वारा इन्हें हटाते हैं। अतः, आप योग-क्षेम दोनों करनेवाले हैं। क्रोधादि से रक्षा के क्रमशः उदाहरण—"भयउ न नारद मन कछु रोषा।" (बा० दो० १२६), "आसा बसन ब्यसन···" (उ० दो० ३१), "भरतहिं होइ न राज-मद" (अ० दो० २३१), "बैठे सोह काम-रिपु कैसे" (बा० दो २०६)।

(४) 'अति-नागर-भव-सागर-सेतुः'—लंका जाने के लिये पुल बाँधने में आप नागर है और भव-सागर के पुल बाँधने में अति नागर हैं। समुद्र में पुल और किसीने नहीं बाँधा, पर आप आश्चर्यजनक कार्य करनेवाले हैं। यह सुनकर रावण को भी महान् आश्चर्य हुआ था। भवसागर का सेतु आपका चरित और नाम है, यथा—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।" (बा० दो०१२१), "नाथ नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहि॥" (लं० दो० ×)। 'त्रातु सदा'—उपर्युक्त क्रोध, लोभ, मद, काम और भव से सदा रक्षा करें, क्योंकि ये—"मुनि बिज्ञान धाम मन, करहि निमिष महँ छोभ॥" (दो० ३८), ऊपर कल्पवृक्ष कहा और यहाँ भवसागर-सेतु कहा है, अर्थात् आप लोक-परलोक दोनों के बनानेवाले हैं।

(५) 'अतुलित-भुज-प्रताप-बल-धामः।'—इस चरण में रूप का परत्व कहा है। 'कलिमल-बिपुल बिभंजन नामः' में नाम का, 'धर्म-बर्म नर्मद गुन-ग्रामः।' में लीला का और 'सबके हृदय निरंतर बासी।' में धाम का परत्व कहा है। इनके बीच में—'संतत संतनोतु मम रामः।' कहकर सूचित किया कि आप इन्हीं नाम, रूप, लीला, धाम के द्वारा रक्षा करते हैं। 'कलिमल-बिपुल-बिभंजन-नामः।', यथा—"नाम सकल कलि कलुष निकंदन।" (बा० दो० २३)।

(६) 'धर्म-बर्म नर्मद गुन···'—'धर्म-बर्म', यथा—"सद्धर्मवर्मौ हि तौ" (कि मं०), 'नर्मद गुनग्रामः', यथा—"येहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा।" (सुं० दो० ७), पुनः गुण-ग्राम धर्म-वर्म भी है, क्योंकि इसके श्रवण करने से धर्म का परिज्ञान होता है।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥१७॥
तदपि अनुज-श्री-सहित खरारी। बसतु मनसि मम कानन-चारी॥१८॥
जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर-अंतर-जामी॥१९॥
जो कोसलपति राजिव-नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥२०॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥२१॥

सुनि मुनिबचन राम-मन भाये। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये ॥२२॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहु देउँ सो तोही ॥२३॥

अर्थ—यद्यपि आप विरज (अप्राकृत), व्यापक, नाश-रहित और सबके हृदय में निरन्तर निवास करनेवाले हैं ॥१७॥ तथापि, हे खरारी! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजी के साथ वन में विचरनेवाले रूप से आप मेरे मन-रूपी वन में बसें ॥१८॥ आपको जो सगुण, निर्गुण और हृदय में रहनेवाले अन्तर्यामी-रूप जानते हों, वे जानें, पर मेरे हृदय में तो जो श्रीअयोध्या के राजा कमल-नयन श्रीरामजी हैं, वे ही अपना घर बनावें॥१६-२०॥ मेरा ऐसा अभिमान भूलकर भी कभी नहीं मिटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं ॥२१॥ सुनने पर मुनि के वचन श्रीरामजी के मन में अच्छे लगे, हर्षित होकर उन्होंने फिर मुनि-श्रेष्ठ को हृदय से लगा लिया ॥२२॥ (और बोले) हे मुनि! मुझे तुम परम प्रसन्न जानो। अतः, जो वरदान माँगो, मैं तुम्हें वही दूँ ॥२३॥

विशेष—(१) 'जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी।'—'ब्यापक' शब्द के एक ओर 'बिरज' और दूसरी ओर 'अबिनासी' देने का भाव यह है कि व्यापक होने से व्याप्य-भूता प्रकृति के विकारों से आप अलग हैं और उसके विनाश होने पर भी आप अविनाशी बने रहते हैं। सर्वत्र व्यापक हैं, तो मेरे हृदय में भी हैं। ऐसा ही दो० १२ चौ० १२-१३ में अगस्त्यजी का, उ० दो० १२ में वेदों का और लं० दो० १११ में इन्द्र का अभिप्राय है।

(२) 'तदपि अनुज-श्री-सहित ···'—जैसे दण्डकारण्य में बसकर खरादि १४ हजार राक्षसों का वध करते हैं, वैसे मेरे मन-रूपी दंडक-वन में १० इन्द्रिय, १ मन और ३ अन्तःकरण, इन चौदहों के सहस्र-सहस्र संकल्प हुआ करते हैं। वे आपके हृदय में बसने से आपमें लग-लगकर रामाकार होते हुए समाप्त हो जायँगे, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सु० दो० ४६), "खर है क्रोध लोभ है दूषन काम फिरै त्रिखन मे" (वैराग्य प्रदीप)। 'खरारी' शब्द में भाविक अलंकार भी है, यथा—"सोभा सिंधु खरारी।" (बा० दो० १९१)। 'तदपि'—भाव यह है कि उस रूप से रहते हुए भी इस रूप पर विशेष श्रद्धा है।

(३) 'जे जानहि ते जानहु स्वामी। ··'—अर्थात् मैं तो आपके इसी रूप को सर्वस्व मानता हूँ। पूर्व माँगा था—'कानन-चारी'-रूप को, किन्तु वह १४ वर्ष तक के लिये ही है, फिर तो श्रीअयोध्या के राजा होंगे, इसीसे उसे भी माँगा। 'कानन-चारी' के लिये अपने मन को वन कहा और भूप-रूप के लिये 'अयना' अर्थात् भवन कहा, क्योंकि राजा तो महलों में ही रहते हैं। प्रमाण उपर्युक्त—'जदपि बिरज ···' वाले ही यहाँ भी है। यहाँ 'उल्लेख-अलंकार' है, क्योंकि एक श्रीराम में ही सगुण आदि कई भाव कहे गये हैं।

(४) 'अस अभिमान जाइ·· '—और विषय-सम्बन्धी के अभिमान का तो नाश होना ही चाहिये, यथा—"तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै" (वि० १२०), जाति, विद्या, बल, धन आदि का अभिमान न रहना चाहिये, पर सेवकत्व का अभिमान रहना ही चाहिये, यथा—"जौ तेहि आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ॥" (ल० दो० ७३), क्योंकि—"सेवक-सेव्यभाव बिनु, भव न तरिय उरगारि॥" (उ० दो० ११९)—ऐसा कहा है।

(५) 'बहुरि हरषि मुनिबर उर लाये।'—एक बार पहले ही हृदय से लगा चुके हैं, यथा—"परम प्रीति राखे उर लाई।" अब यहाँ फिर हृदय से लगाकर अपनी परम प्रसन्नता जनाई, जैसा कि आगे कहा है—'परम प्रसन्न जानु मुनि ··' इसीसे 'बहुरि' पद दिया गया है। 'जो कछु मागहुँ देउँ ··'—क्योंकि मुनि

आपके 'निज जन' हैं, यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।" और यह श्रीमुख-वचन है—"जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे।" (दो० ४१)।

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ झूठ का साँचा ॥२४॥
तुम्हहि नीक लागइ रघुराई। सो मोहि देहु दास-सुखदाई ॥२५॥
अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल - गुन-ज्ञान-निधाना ॥२६॥
प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहिं जो भावा ॥२७॥

दोहा—अनुज-जानकी-सहित प्रभु, चाप - बान धर राम।
मम हिय-गगन इंदु इव, बसहु सदा निष्काम ॥११॥

अर्थ—मुनि ने कहा कि मैंने कभी वरदान नहीं माँगा, इससे मुझे समझ नहीं पड़ता कि क्या असत्य है और क्या सत्य है ॥२४॥ हे श्रीरघुनाथजी! आपको जो अच्छा लगे, दासों को सुख देनेवाला वही मुझे दीजिये ॥२५॥ (प्रभु ने कहा—) तुम अविरल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुण एवं ज्ञान के निधान हो जाओ ॥२६॥ (मुनि ने कहा कि) जो वर प्रभु (आप-) ने दिया, वह तो मैंने पाया, जो मुझे अच्छा लगता है, अब वह भी दीजिये ॥२७॥ हे प्रभो! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण-धारी रामरूप मेरे निष्काम हृदय-रूपी निर्मल आकाश में चन्द्रमा की तरह बसे ॥११॥

विशेष—(१) 'मुनि कह मैं बर·· '—मुनि ने श्रीरामजी के 'कानन-चारी' और 'कोशलपति' रूप का हृदय में बसना माँगा था, प्रभु ने और माँगने को कहा। इससे वे सन्देह में पड़ गये कि सम्भवतः कुछ और श्रेष्ठ वर रह गया हो, अतएव ऐसा कहने लगे। इसपर जो वर श्रीरामजी ने—'अबिरल भगति बिरति···' दिया। यही दासों को सुखदाई वर है और यही उन्हें प्रिय लगता है, यह भी जाना गया।

(२) 'अब सो देहु मोहि जो भावा।'—प्रभु से वर पाने पर और माँगने की इच्छा हो गई। अतः, अब फिर माँगते हैं—'अनुज जानकी सहित···'—तीन बार इन्होंने एक ही वर माँगा, क्योंकि यही सब साधनों का फल है, यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहि, राम धरे धनुबान॥" (दोहावली ९०), जैसे ऊपर दो वरों में दो अवस्थाओं का—वन और राज्य का—ध्यान माँगा है, वैसे यहाँ भी—'मम हिय गगन ··'—साकेत-यात्रा एवं वहाँ की नित्य अयोध्या की नित्य-स्थिति माँगी है। इसीलिये 'इंदु' की स्वर्गीय उपमा भी कही गई है। यही "यद्वाकाशं सनातनम्" यह वाल्मीकीय रामायण के स्वर्गारोहण प्रकरण में कहा गया है। जब श्रीरामजी को 'इंदु' कहा, तब श्रीलक्ष्मणजी बुध हुए और श्रीसीताजी रोहिणी हुईं, यथा—"उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥" (अ० दो० १२२)।

(३) 'बसहु सदा'—चन्द्रमा आकाश में सदा नहीं बसता, पर साकेत-बिहारी साकेत में सदा बसते हैं, वही मेरे हृदय में भी सदा बसें। मेरे हृदय में और कोई कामना कभी न उपजे एवं आप भी कहीं जाने की कभी कामना न करें। 'निष्काम' शब्द 'हृदय', 'राम' और 'बसहु' इन तीनों के साथ है।

स्तुति-भर में 'नौमि' और 'त्रातु' की बराबर आवृत्ति है, अन्त में १६ वीं अर्द्धाली में 'संतनोतु' भी कहा है। नौमि के साथ स्वरूप का वर्णन है और त्रातु के साथ मोह, भव आदि बाधकों का वर्णन है। 'संतनोतु' के साथ कल्याण-सम्बन्धी बातें हैं—इस तरह सब संगत हैं।

इस सुतीक्ष्ण-प्रसंग में नवधा-भक्ति पूर्व दिखाई गई, 'प्रेमलक्षणा', यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" और 'परा'—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥" में स्पष्ट है। अतः, इनमें भक्ति के सभी अंग पूर्ण हैं।

'प्रभु-अगस्ति-सत्संग'-प्रकरण

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा ॥१॥
बहुत दिवस गुरु दरसन पाये। भये मोहि येहि आश्रम आये ॥२॥
अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ॥३॥
देखि कृपानिधि मुनि-चतुराई। लिये संग बिहँसे दोउ भाई ॥४॥

अर्थ—लक्ष्मी-निवास श्रीरामजी 'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) ऐसा उच्चारण कर हर्षित होकर अगस्त्य मुनि के पास चले ॥१॥ (श्रीसुतीक्ष्णजी ने कहा—) मुझे गुरुजी के दर्शन हुए बहुत दिन हो गये और इस आश्रम मे आये भी बहुत दिन हुए, अर्थात् मैं जबसे इस आश्रम मे आया, तबसे मुझे गुरुजी के दर्शन नहीं हुए ॥२॥ हे प्रभो ! अब आपके साथ मै अपने गुरुजी के पास जा रहा हूँ। हे नाथ ! आपका इसमे निहोरा नहीं है ॥३॥ मुनि की चतुराई देखकर कृपासागर श्रीरामजी ने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई (उनकी चातुरी पर) हँस पड़े ॥४॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु करि रमा निवासा·····'—उदारता के सम्बन्ध से रमा-निवास कहा, यथा—"बार-बार बर माँगऊँ, हरषि देहु श्रीरंग।" (उ० दो० १४), रमा श्रीजानकीजी का नाम भी है। पहले भरद्वाजजी, वाल्मीकिजी और अत्रि एवं शरभंगजी के यहाँ वर-याचना पर 'एवमस्तु' नहीं कहा, क्योंकि गुप्त रूप से वर देना है। यहाँ प्रकट मे कहा गया है, क्योंकि ये मुनि अगस्त्यजी के शिष्य है। अतः, बालकवत् दृष्टि से इनसे संकोच न कर प्रकट में वर देना है। 'हरषि चले ··'—श्रीअगस्त्यजी के दर्शनों के लिये बड़ी उत्कण्ठा है, इसीसे वहाँ जाने के लिये हर्ष है, यथा—"एष लोकार्चितः साधुर्हितेनित्यं रतः सताम्। अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ॥" (वाल्मी० ३।११।८७), अर्थात् श्रीरामजी इस उत्कण्ठा से श्रीअगस्त्यजी के यहाँ जा रहे है कि वे लोक पूजित एवं सज्जनों के हितैषी है, हमारा भी कल्याण करेंगे। यहाँ अगस्त्यजी से लीला-कार्य की सलाह लेंगे, तदनुसार पञ्चवटी निवासकर रावण से वैर एवं भू-भार-हरण होगा, इससे यहाँ चलने में हर्ष कहा गया है, अन्यथा भरद्वाजजी, वाल्मीकिजी और अत्रिजी के यहाँ चलने मे हर्ष नहीं कहा गया है। लीला-कार्य-साधन की यात्रा में ही सफलता सूचक हर्ष शब्द कहा गया है—"हरषि चले मुनि भय हरन।" (बा० दो० २०८), तथा—"हरषि चले ·····बेगि बिदेह नगर नियराया ॥" (बा० दो० २११), लंका पर चढ़ाई करते समय—"हरषि राम तब कीन्ह पयाना।···' इसी उद्देश्य पर आया है। 'येहि आश्रम आये'—अर्थात् इनका दूसरा भी आश्रम था, जैसे श्रीवाल्मीकिजी आदि के कई आश्रम पाये जाते है।

(२) 'तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं'—मुनि को साथ-साथ दर्शनों के लिये जाना है, और प्रभु किसीको साथ नहीं लेते, यथा—बरबस राम सुमंत्र पठाये।" (अ० दो० ९९), "बिदा किये बटु बिनय करि···" (अ० दो० १०९), इत्यादि। इसीसे मुनि ने चतुराई की कि मुझे इसी मार्ग से गुरुजी के दर्शनों के लिये जाना है, मै कुछ आपके साथी बनकर तो जाता नहीं, अब प्रभु कैसे मना करेंगे ? प्रभु हँसे कि हमारे दर्शनों के लिये तो साथ चलते हैं और ओट गुरु-दर्शन की लेते है। इसपर यह भी कहा जाता है कि पूर्व इन्होंने गुरुजी से गुरु-दक्षिणा के लिये हठ की थी, तब अगस्त्यजी ने कहा कि अच्छा, गुरु-दक्षिणा में श्रीसीतारामजी को ही लेकर तब आना। इसीसे अभी तक न गये थे, आज प्रभु को लेकर जाना चहते हैं। प्रभु हँसे कि हमको ही गुरु-दक्षिणा में देंगे। 'कृपानिधि'—क्योंकि कृपा करके साथ लिया। प्रभु मन-वचन-कर्म से इनके अनुकूल हैं—वचन से 'एवमस्तु' कहा, मन में हर्ष है, और कर्म से 'लिये संग' अर्थात् साथ लेकर चले।

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि - आश्रम पहुँचे सुर भूपा ॥५॥
तुरत सुतीछन गुरु पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ ॥६॥
नाथ कोसलाधीस - कुमारा। आये मिलन जगत - आधारा ॥७॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि-दिन देव जपत हहु जेही ॥८॥
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये ॥९॥

अर्थ—मार्ग में अपनी अनुपम भक्ति कहते हुए देवताओं के राजा (रक्षक) श्रीरामजी अगस्त्य मुनि के आश्रम पर पहुँच गये ॥५॥ श्रीसुतीक्ष्णजी शीघ्र ही अपने गुरुजी के पास गये और दंडवत् करके ऐसा कहने लगे ॥६॥ हे नाथ ! श्रीअयोध्या के राजा श्रीदशरथजी के राजकुमार, जो कि जगत् के आधार है, वे आपसे मिलने आये है ॥७॥ वे श्रीरामजी भाई और श्रीवैदेहीजी के साथ आये है। हे देव ! जिन्हें आप दिन-रात जपते रहते है ॥८॥ यह सुनते ही श्रीअगस्त्यजी शीघ्र ही उठ दौड़े, भगवान् को देखकर उनकी आँखों में जल (प्रेमाश्रु) भर आया ॥९॥

विशेष—(१) 'पंथ कहत निज·····'—कथा-वार्त्ता के द्वारा मार्ग शीघ्र कट जाता है, जान नहीं पड़ता, यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥" (बा० दो० ५७), "सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाय सों सिरानों पंथ छन में ॥" (क० सुं० ३१), 'सुर भूपा'—क्योंकि यहाँ देवताओं के कार्य की सम्मति लेंगे और अगस्त्य मुनि शस्त्रास्त्र देंगे—ऐसा वाल्मी० ३।१२।३२-३७ में लिखा है। 'कहत निज भगति'—क्योंकि मुनि को इसीकी चाह है। अतः, उनके सुख के लिये कहते है। जैसे श्रीशबरीजी से एवं अन्यत्र भी भक्ति कही गई है। मुनि ने श्रीरामजी का सपरिकर हृदय में निवास माँगा है, उसकी स्थिति भक्ति से होती है, इसीसे श्रीरामजी मुनि के हृदय मे भक्ति को दृढ़ करते है। 'अनूपा', क्योंकि भक्ति की उपमा में ज्ञान-वैराग्य आदि नहीं तुलते, तथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (दो० ६)।

(२) 'तुरत सुतीछन गुरु·····'—शीघ्र गये कि जिससे श्रीरामजी को देर तक ठहरना न पड़े, अभी श्रीरामजी द्वार के बाहर ही खड़े हैं। 'करि दंडवत्'—सन्देशा कहने के पहले ही दंडवत् की, क्योंकि गुरुजी की दंडवत् उस सन्देशा से भी अधिक है। तुरत इससे भी गये कि जिससे गुरुजी श्रीरामजी की अगवानी करें। (उपर्युक्त गुरु-दक्षिणा के अर्थ से भाव यह है कि दंडवत् करके गुरु-दक्षिणा रूप सन्देशा कहा—यह नीति है)।

(३) 'नाथ कोसलाधीस-कुमारा ···· '—'आये मिलन'—यदि कहते कि श्रीरामजी दर्शन करने आये है, तो गुरुजी को बुरा लगता, क्योंकि वे इन्हें इष्ट भाव से जपते हैं, और जो कहते कि आपको दर्शन देने आये है, तो श्रीरामजी की लीला मर्यादा के विरुद्ध होता, इससे 'मिलन' कहा।

यहाँ नाम, रूप, लीला और धाम, इन चारों से परिचय दिया—'कोसलाधीस' से—धाम, 'कुमारा' से—रूप, 'जगत आधारा' से—लीला और 'राम अनुज समेत·····' से—नाम कहा। 'कोसलाधीस-कुमारा' मात्र में अतिव्याप्ति-दोष था, क्योंकि श्रीभरतजी आदि का भी सन्देह होता। 'जगत-आधारा' में भी श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी का सन्देह हो सकता था, यथा—"सकल जगत आधार।" (बा० दो० १९७), —श्रीलक्ष्मणजी, "भरत भूमि रह राउरि राखी।" (अ० दो० २६३)—श्रीभरतजी, इससे यह कहा कि जिनका मन्त्र आप जपते है, वे 'राम अनुज समेत बैदेही' हैं, तब मुनि उठकर दौड़े। आप दिन-रात जिन्हें जपते है, वे ही आये है, ऐसा कहने से—"देखियहि रूप नाम आधीना।" (बा० दो० २०), का चरितार्थ हुआ, अर्थात् नाम जपने से रूप आकर प्राप्त हो गया।

'हरि बिलोकि लोचन जल छाये'—यहाँ प्रेमाश्रु आना कहा गया है और सुतीक्ष्ण-प्रीति अत्यन्त प्रसिद्ध है, फिर वहाँ अश्रुपात नहीं कहा गया, यथा—"राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा॥" (अर० दो० ९), इसका कारण यह है कि अत्यन्त प्रीति अथवा भय आदि में जब देहाध्यास नहीं रह जाता, तब अश्रुपात नहीं होता, यथा—"भरतहि बिसरेउ पितु-मरन, सुनत राम बन गौन। हेतु अपनपउ जानि जिय, थकित रहे धरि मौन॥" (अ० दो० १६०)। श्रीअगस्त्यजी की प्रीति में देहाध्यास है, इससे आँसू चल रहे हैं।

यहाँ पर अगस्त्यजी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की भक्ति का सुख पा रहे हैं—"सुनत अगस्ति ·"—श्रवण, 'हरि बिलोकि ··'—नेत्र, "रिषि अति प्रीति लिये उरलाई"—त्वचा, "सादर कुसल पूछ मुनि ज्ञानी।"—जिह्वा और "आसन पर बैठारे आनी।" पुष्पमय आसन पर बैठाने पर नासिका का भी विषय-सुख प्राप्त है, तथा श्रीरामजी के शरीर में सौगन्ध्य गुण भी है, इससे भी नासिका तृप्ति होती है।

मुनि - पद - कमल परे दोउ भाई। रिषि अति प्रीति लिये उर लाई॥१०॥
सादर कुसल पूछ मुनि ज्ञानी। आसन बर बैठारे आनी॥११॥
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु - पूजा। मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा॥१२॥
जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा। हरषे सब बिलोकि सुखकंदा॥१३॥

दोहा—मुनि-समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।
सरद इंदु तन - चितवत, मानहुँ निकर चकोर॥१२॥

अर्थ—श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई मुनि अगस्त्यजी के चरण-कमलों पर पड़ गये, अर्थात् उन्हें साष्टांग दंडवत् की। ऋषि अगस्त्यजी ने अत्यन्त प्रीति से उन्हें अपने हृदय से लगा लिया॥१०॥ ज्ञानी मुनि ने बड़े आदर से कुशल पूछ उन्हें लाकर श्रेष्ठ आसन पर बैठाया॥११॥ फिर उन्होंने बहुत प्रकार से प्रभु की पूजा की और बोले कि मेरे समान भाग्यवान् और दूसरा नहीं है॥१२॥ जहाँ तक और मुनिसमूह थे, वे सब आनन्द-कन्द (श्रीरामजी) को देखकर प्रसन्न हुए॥१३॥ मुनियों के समूह में प्रभु सबकी ओर सम्मुख ही बैठे हैं, (अर्थात् पीठ किसीकी ओर नहीं है। यह विश्वतो-मुख प्रभु का रहस्य है,) सब उन्हें एकटक देख रहे हैं, मानो बहुत से चकोरों का झुंड शरद् ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा की ओर देख रहा है॥१२॥

विशेष—(१) 'मुनि-पद-कमल परे दोउ भाई।'—श्रीजानकीजी का स्वभाव अत्यन्त संकोची है, इसीसे संकोचवश सवत्र ऋषियों के यहाँ वे प्रणाम नहीं करतीं। गुरु वसिष्ठजी पुरोहित हैं, उन्हें पहचानती हैं। अतः, उन्हें प्रणाम करना पाया जाता है, यथा—"गहे चरन सिय सहित बहोरी।" (अ० दो० ८)"सीय आइ मुनिबर पद लागी।" (अ० दो० २४५), वा ब्याह-प्रतिज्ञा के अनुसार कर्म-मात्र मे श्रीरामजी के साथ समझना चाहिये, यथा—"अभिवाद्य च धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः। सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः॥" (वाल्मी० ३।१२।२५), अर्थात् श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ श्रीअगस्त्यजी को प्रणाम करके धर्मात्मा श्रीरामजी हाथ जोड़ कर खड़े रहे। श्रीरामजी ने दंडवत् की, मुनि ने अत्यन्त प्रीति से हृदय लगाया, यह परस्पर योग्य बर्ताव है।

(२) 'सादर कुसल पूछि····'—'सादर'—प्रेम-पूर्वक बार-बार पूछा। ज्ञानी हैं, जानते हैं, तब भी पूछा, क्योंकि यह शिष्टाचार है।

(३) 'पुनि करि बहु प्रकार प्रभु-पूजा।'—पूजन के बहुत-से भेद हैं। 'बहु प्रकार' में सभी एवं स्वेच्छित पूजन प्रकार लिये जा सकते हैं। जैसे कि पञ्चोपचार, षोड़शोपचार, आदि। 'प्रभु-पूजा'—ये समर्थ

हैं, अतएव प्रभु को पूजा के योग्य हैं। 'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा।'—ऐसा कहना स्वागत है, यथा—"मोर भाग राउरि गुन गाथा। कहि न सिराहि सुनहु रघुनाथा॥" (बा० दो० ३४१), "अहोभाग्य मम अमित अति,··देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७), "देखि मुनि रावरे पद आजु। भयउँ प्रथम गिनती में अबतें हौं जहँ लौं साधु-समाज।" (गी० बा० ४७)।

श्री अगस्त्यजी और इनके शिष्य सुतीक्ष्णजी के वर्ताओं का आंशिक मिलान—

श्रीअगस्त्यजी		श्रीसुतीक्ष्णजी
मोहिं सम भाग्यवंत नहि दूजा,	(१)	परेउ लकुट इव···मुनिबर बड़भागी।
राम अनुजसमेत·· निसिदिन देव जपत···'	(२)	मन क्रम बचन राम पद सेवक।
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाये।	(३)	प्रभु आगमन ··· आतुर धावा।
आसन बर बैठारे आनी।	(४)	निज आश्रम प्रभु आनि करि।
पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा।	(५)	पूजा बिविध प्रकार।
यह बर माँगउँ कृपा निकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥	(६)	अनुज जानकी सहित प्रभु····· मम हिय ····बसहु सदा निष्काम।
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनन्ता।··· ·····फिरि-फिर सगुन ब्रह्म रति मानउँ।	(७)	जदपि बिरज·····तदपि अनुज श्री ···जे जानहिं ··करउ सो राम हृदय मम अयना
तुम्हरेइ भजन प्रभाउ···जानउँ महिमा कछुक···'	(८)	महिमा अमित मोरि मति थोरी।

(४) 'हरषे सब बिलोकि सुखकंदा।'—श्रीअगस्त्यजी पूजन आदि से और मुनि लोग इनके दर्शनों से सुखी हुए, इसीसे श्रीरामजी 'सुखकंदा' कहे गये।

(५) 'मुनि-समूह महँ बैठे···'—यहाँ श्रीरामजी का मुख चन्द्रमा और उनके वचन चन्द्र-किरण हैं। चन्द्र-किरण से ताप दूर होता है। इनके वचन (जो आगे भूभार-हरण के लिये कहेंगे, उन-) से संसार-भर के ताप दूर होंगे, यथा—"ससिकर सम मुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥" (बा० दो० ११९), "देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरिपाई॥" (कि० दो० १६), "एक टक सब सोहहि चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद चकोरा॥" (अ० दो० ११४), इत्यादि।

यहाँ पर—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ···" (बा० दो० ११०), इस पार्वतीजी के प्रश्न का उत्तर है। चारो ओर सबको मुख ही का सामना है, जैसे आकाश के चन्द्रमा से।

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥१॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझायउँ॥२॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारउँ मुनि-द्रोही॥३॥
मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु-बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥४॥
तुम्हरेइ भजन - प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥५॥

अर्थ—तब रघुवीर श्रीरामजी ने श्रीअगस्त्य मुनि से कहा कि हे प्रभो! आपसे कुछ छिपा हुआ नहीं है॥१॥ आप जानते हैं कि मैं जिस कारण से आया हूँ। इसीसे, हे तात! कुछ आपसे समझाकर नहीं कहा॥२॥ हे प्रभो! अब मुझे उस तरह का मन्त्र (सम्मति) दीजिये, जिस तरह मैं मुनि-द्रोही निशाचरों को मारूँ॥३॥ प्रभु श्रीरामजी की वाणी सुनकर मुनि मुस्कुराये, (और बोले कि) हे नाथ! आपने मुझसे क्या जानकर पूछा है? हे पापों के नाशक! आपके ही भजन-प्रभाव से तो मैं कुछ थोड़ी-सी महिमा आपकी जानता हूँ॥५॥

विशेष—(१) 'तब रघुबीर कहा ···'—रावण-वध के लिये विचार करेंगे। अतः, 'रघुबीर' कहा है। तुमसे छिपा नहीं है, इससे यह भी सिद्ध हुआ कि औरों से दुराव रखते हैं, अर्थात् अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं। 'तुम्ह जानहु जेहि···'—भूभार-हरण के लिये पिता के आज्ञा-पालन के बहाने यहाँ वन में आया। पुनः आपके पास भी जिसलिये आया, यह सब आप जानते ही हैं। भाव यह है कि मेरी इच्छा से ही वनवास हुआ है, फिर आपके पास भी जिस प्रयोजन से आया हूँ, उसे विस्तार से न समझाकर इतना ही कह देता हूँ—'अब सो मंत्र ···'—मुनि को 'प्रभु' कहते हैं, क्योंकि ये बड़े समर्थ ऋषि हैं। इल्वल-वातापी जैसे मायावी राक्षसों को मार चुके हैं। रावण भी इनसे डरता था। इन्होंने समुद्र भी सोख लिया था। मन्त्र पूछने का प्रयोजन यह है कि श्रीरामजी राक्षस-मात्र के वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। कोई ऐसी युक्ति कहें, जिससे निशाचरों का वध हो और अकारण-रौद्रता का पाप भी न हो। खर-दूषणादि के वध पर अगस्त्यजी ने श्रीरामजी से कहा है कि—"इसीलिये आपको महर्षि लोग यत्न करके इस स्थान पर ले आये थे" (वाल्मी० ३।३०।३५), इससे जान पड़ता है कि मुनि इस कार्य के योग्य स्थल भी बतलायेंगे। जहाँ रहने पर रावण से वैर होगा और सब राक्षस मारे जायँगे, यथा—"हृदयस्थं च ते छन्दो विज्ञातं तपसा मया। इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने॥ अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति।" (वाल्मी० ३।१३।१६-१७), अर्थात् अगस्त्यजी ने कहा है कि हे श्रीरामजी! आपने मेरे साथ यहाँ रहने की प्रतिज्ञा की है और आपके मन का अभिप्राय मैंने तपस्या के द्वारा जान लिया है। इसीलिये मैं आपसे कहता हूँ कि आप पञ्चवटी जायँ। श्रीरामजी ने अपना ऐश्वर्य छिपाने के लिये दो बार मुनि को 'प्रभु' कहा है। पर मुनि भी चूकनेवाले नहीं है, इन्होंने तीन बार प्रभु (२ बार प्रभु, १ बार नाथ—यह प्रभु का पर्याय है) कहा है—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि ···", "है प्रभु परम ···", "दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।"

(२) 'मुनि मुसुकाने सुनि ···'—'प्रभु-बानी' पर हँसे कि ऐसे समर्थ होकर भी असमर्थ की तरह पूछते हैं। मुझे क्या जानकर पूछते हैं? भाव यह कि मैं आपको मन्त्र बतलाने योग्य कब हो सकता हूँ। इसका समाधान आगे मुनि ने स्वयं किया है, यथा—"संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहिं पूछेहु रघुराई॥"। आप नाथ हैं, ब्रह्माण्ड-नायक हैं, मैं तो आपका दास हूँ। प्रभु के ये वचन मोहक हैं, इसीसे आगे मुनि वर माँगेंगे, यथा—"यह बर माँगउँ ···" कि जिससे मुझे भ्रम न हो। जिसके हृदय में प्रभु रहते हैं, उसे भ्रम नहीं होता, यथा—"भरत-हृदय सिय-राम-निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २९४), प्रभु के माधुर्य में भक्तों को भ्रम होने का सन्देह रहता है, जैसे कि श्रीरामजी के कृतज्ञता-सूचक वचनों पर हनुमानजी ने डरकर रक्षा के लिये प्रार्थना की है, यथा—"चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत।" (सुं० दो० ३२)।

(३) 'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी।'—'अघारी', भजन से पाप नष्ट होता है, तब महिमा का ज्ञान होता है। प्रभु ने कहा था—"तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ।···" इसका उत्तर यहाँ मुनि दे रहे हैं। भाव यह कि भक्तों को कृपा करके जितना आप जना देते हैं, वह उतना ही जान सकता है, यथा—"सो जानइ जेहि देहु जनाई।" (अ० दो० १२६), मैं भी आपके ही भजन-प्रभाव से कुछ जानता हूँ, वह आगे कहते हैं—"ऊमरि तरु···" तथा—"रोक्यो बिंध्य, सोख्यो सिंधु घटजहुँ नाम बल हार्‌यो हिय, खारो भयो भूसुर-डरनि॥" (वि० २४७)।

(४) 'जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी।'—अर्थात् जो महिमा आगे कहते हैं, वह कुछ ही कही गई है, तो पूरी महिमा का अन्दाजा भी नहीं हो सकता, यथा—"तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥" (उ० दो० ९०)।

श्रीरामजी ने भरद्वाजजी से मार्ग पूछा था—'इम केहि मग जाहीं' क्योंकि आगे जाना था।

श्रीवाल्मीकिजी से स्थान पूछा—'कहिय सोइ ठाऊँ' क्योंकि वहाँ पर्णशाला बनाकर कुछ काल रहना था कि श्रीभरतजी आ लें, नहीं तो दूर तक उन्हें दौड़ना पड़ेगा। अगस्त्यजी से मन्त्र पूछते हैं, क्योंकि निशाचर-वध की प्रतिज्ञा का निर्वाह करना है। इनके भय से राक्षस इधर नहीं बढ़ सके, अतएव ये ही उनके बारे में मन्त्र देंगे।

इन तीनों महात्माओं ने प्रथम हँसकर महिमा परक उत्तर दिये हैं, तब पीछे व्यावहारिक, क्योंकि यह नीति है कि बड़ों को सलाह देते हुए प्रथम उनकी बड़ाई करे, तब सलाह दे। इन तीनों के प्रति 'मग', 'ठाउँ' और 'मन्त्र' का प्रयोग भी उपयुक्त है, तीनों में जो जिस बात में निपुण हैं, उनसे वही पूछा गया है। श्रीभरद्वाजजी मार्ग के ज्ञाता हैं, यथा—"परमारथ पथ परम सुजाना।" (बा० दो० ४३)। अतः, उनसे मार्ग पूछा है। श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामजी का ठाँव (स्थान) बनाने में निपुण है, यथा—"रामायन जेहि निरमयेउ।" (बा० दो० १८), रामायन (राम+अयन), अर्थात् श्रीरामजी का घर (स्थान)। अतः, उनसे स्थान की बात पूछी। अगस्त्यजी श्रीराम-मन्त्र के ज्ञाता हैं, यथा—"निसि दिन देव जपत हहु जेही।" यह अभी सुतीक्ष्णजी ने कहा है। वाल्मीकीय रामायण में रावण-वध के लिये इनका श्रीरामजी को मन्त्र (आदित्य-हृदय) देना कहा भी कहा गया है और अगस्त्य-संहिता में श्रीराम-मन्त्र की व्याख्या है। इसीसे इनसे मन्त्र पूछा गया। यह ग्रन्थकार के शब्द-प्रयोग का कौशल सराहनीय है।

ऊमरि-तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ ६॥
जीव चराचर जंतु-समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ७॥
ते फल-भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ८॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं॥ ९॥
यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री-अनुज-समेता॥१०॥
अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन-सरोरुह प्रीति अभंगा॥११॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥१२॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥१३॥

अर्थ—आपकी विशाल (बड़े विस्तारवाली) माया गूलर के (विशाल) वृक्ष के समान है, अनेक ब्रह्माण्डों के समूह ही उसके फल हैं॥६॥ चर-अचर समस्त जीव गूलर-फल के भीतर के छोटे-छोटे जन्तुओं के समान है, जो (ब्रह्माण्ड-रूपी फल के) भीतर निवास करते हैं, वे (उसके बाहर का) और कुछ नहीं जानते॥७॥ उन फलों का खानेवाला कठिन भयंकर काल है। वह भी आपके डर से डरता रहता है॥८॥ वही समस्त लोकपालों के स्वामी होते हुए भी आपने मुझसे (अनभिज्ञ) मनुष्य की तरह पूछा है (कि मन्त्र कहो,)॥९॥ हे कृपा के स्थान! मैं यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदय में आप श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी के साथ निवास कीजिये॥१०॥ अविरल भक्ति, वैराग्य, सत्संग और आपके चरण-कमलों की अखण्ड प्रीति—मेरे हृदय में बास करे॥११॥ यद्यपि आप अखण्ड एवं अनन्त ब्रह्म हैं, अनुभव से प्राप्त होनेवाले हैं, आपके जिस-रूप को सन्त भजते हैं॥१२॥ आपके ऐसे रूप का बखान करता हूँ और (उसे) जानता हूँ, तथापि लौट-लौटकर आपके इस सगुण ब्रह्म-रूप में प्रीति करता हूँ॥१३॥

विशेष—(१) 'ऊमरि-तरु बिसाल.....', यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड-निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥" (सुं० दो० २०), 'तव माया' अर्थात् इस माया के आप स्वामी हैं। 'ते तुम्ह सकल

लोक···'—से ब्रह्माण्डों का स्वामी और 'तव भय डरत···' से काल का स्वामी होना जनाया। इस तरह माया, काल और ब्रह्माण्ड तीनों का स्वामी होना सूचित किया।

'जीव चराचर जंतु-समाना'—इससे विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के जीवों का अणुत्व लक्षित कराया है —उ० दो० ११६ चौ० २ देखिये।

(२) 'ते फल-भच्छक कठिन·····'—काल समस्त ब्रह्माण्ड और उसके अनन्त जीवों को खा लेता है, पर उसे दया नहीं लगती, इससे कठिन कहा गया। ऐसा भारी है कि अनन्त ब्रह्माण्ड इसके पेट में समा जाते है, इससे कराल है। जैसे फलों को बन्दर समूचे निगल जाते हैं, वैसे काल अनन्त ब्रह्माण्डों को ही निगल जाता है, भाव यह कि ब्रह्माण्ड के जीवों का ही नाश नहीं होता, ब्रह्माण्ड भी काल के द्वारा विनाश होते हैं। 'तव भय डरत सदा सोउ काला', यथा -"जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥" (मुं० दो० २१), काल भी आपकी आज्ञा से ही ब्रह्माण्डों का नाश करता है, यथा—"काल बिलोकत ईस रुख,···" (दोहावली ५०४), "भयादस्याग्निस्तपति ··मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" (कठ० २।६।४), गूलर वृक्ष की तरह माया बनी ही रहती है, फलों के परिपक्व होने पर काल-द्वारा उनका नाश हुआ करता है, यथा—"बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।" (अ० दो० २८१), माया फिर-फिर फला करती है, यथा—"पल्लव फूलत नवल नित···" (उ० दो० १२)।

(३) 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं।'—ब्रह्माण्ड अनेक है, प्रत्येक में त्रिदेव और इन्द्र, वरुण आदि लोकपाल है, यथा—"लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसि त्राता।" (उ० दो० ८०), उन सबके आप ही स्वामी है। पर मनुष्य की तरह असमर्थ बनकर हमसे मन्त्र पूछते है।

माया जड़ है—"जासु सत्यता ते जड़ माया।" (बा० दो० ११६), इसीलिये इसे जड़ वृक्ष की उपमा दी गई। गूलर वृक्ष में फलों के घौद लगते हैं और इसमें निकाय ब्रह्माण्ड, यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु, अनुसासन माया॥" (बा० दो० २२४)।

(४) 'यह बर माँगउँ कृपा निकेता।'—श्रीरामजी के माधुर्य में भ्रम होने न पावे, इस रक्षा के लिये बीच में बर माँगने लगे कि श्रीरामजी हृदय में बसेंगे तो भ्रम का डर न रहेगा, यथा—"भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २९४), फिर भजन से प्रभाव-ज्ञान भी बना रहेगा। इसपर ऊपर कहा गया है—"तुम्हरेइ भजन प्रभाव ··"।

(५) 'यद्यपि ब्रह्म अखंड ··अस तव रूप···'—ऊपर महिमा ब्रह्म की कही और माँगी सगुण के माधुर्य-रूप की भक्ति, इसीपर समाधान करते है कि मै उसे कहता एवं जानता हूँ, पर मेरी प्रीति तो इसी रूप में है।

(६) 'फिर-फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ।'—क्योंकि, "जेहि सुख लागि पुरारि, असिव बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन। सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस, ब्रह्म सुखहि सज्जन सुमति॥" (उ० दो० ८८), तथा—"जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥" (उ० दो० १२)।

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछेहु रघुराई॥१४॥
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥१५॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिबर कर हरहू॥१६॥
बास करहु तहँ रघुकुल-राया। कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया॥१७॥

अर्थ—आप सदा से अपने दासों को बड़ाई देते आये हैं, इसीसे, हे श्रीरघुनाथजी ! आप मुझसे पूछते हैं ॥१४॥ हे प्रभो ! एक परम सुन्दर और पवित्र स्थान है, उसका नाम पंचवटी है ॥१५॥ हे प्रभो ! आप दण्डक-वन को पवित्र करें, मुनि-श्रेष्ठ शुक्राचार्य के उग्र (घोर) शाप का उद्धार करें ॥१६॥ हे रघुकुल राज श्रीरामजी ! आप वहाँ पर निवास करें और सब मुनियों पर दया करें ॥१७॥

विशेष—(१) 'संतत दासन्ह·····'—यह अपने प्रश्न—'पूछेहु नाथ मोहिं का जानी ।' का उत्तर स्वयं कह रहे हैं ।

(२) 'है प्रभु परम··· ··'—'मनोहर' से शृंगार-सहित और 'पावन' से शान्त रस पूर्ण सूचित किया । 'पंचवटी'—पाँच वट वृक्षों के कारण यह नाम पड़ा । यह स्थान गोदावरी नदी के तट पर नासिक के पास है ।

(३) 'दंडक बन पुनीत ·····'—मुनिवर शुकाचार्य के शाप की कथा बा० दो० २३ चौ० ७ में लिखी गई है । दण्डक-वन का पुनीत होना और शाप की निवृत्ति आपके वहाँ निवास-मात्र से हो जायगी । इसीसे साथ ही—"बास करहु तहँ ·····" कहा गया है, उसीसे मुनियों को सुख भी होगा, यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा । सुखी भये मुनि बीती त्रासा ॥" (दो० १३), दंडक वन पुनीत करने मे 'प्रभु' कहा, क्योंकि उसमे प्रभुता का काम है कि चरणों के स्पर्श-मात्र से सब पावन हो जाय । दया के सम्बन्ध मे 'रघुकुल राया' कहा गया, क्योंकि राजा ही सन्त, विप्र आदि पर दया करते हैं ।

मुनि ने बड़ी युक्ति से मन्त्र दिया कि वहाँ रहने से राक्षसों से वैर होगा, वे लड़ने आवेंगे, क्रमशः मारे जायँगे, श्रीरामजी को अकारण-रौद्रता का दोष भी न लगेगा, इसमें 'जेहि प्रकार मारउँ मुनि द्रोही ।' का उत्तर हो गया । मुनि की साधुता भी रही, क्योंकि सन्त लोग किसीका वध नहीं करवाते । पंचवटी का निवास ही निशाचर-वध का हेतु हो जायगा ।

(४) 'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया ।', यथा—"भवानपि सदाचारः शक्तश्च परिरक्षणे । अपि चात्र वसन् राम तापसान्पालयिष्यसि ॥" (वाल्मी० ३।१३।२०) । यहाँ मुनियों पर दया करने में उनके द्रोहियों का वध भी गर्भित है ।

दंडक-वन-पावनता, गीध-मैत्री एवं पंचवटी-प्रकरण

चले राम मुनि आयसु पाई । तुरतहि पंचबटी नियराई ॥१८॥

दोहा—गीधराज से भेंट भइ, बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ ।
गोदावरी निकट प्रभु, रहे परन - गृह छाइ ॥१३॥

अर्थ—मुनि अगस्त्य की आज्ञा पाकर श्रीरामजी चले, और शीघ्र ही पंचवटी के निकट पहुँच गये ॥१८॥ वहाँ पर गृध्रराज जटायु से भेंट हुई, उनसे बहुत तरह से प्रीति बढ़ाकर प्रभु श्रीगोदावरी नदी के समीप पर्णशाला छाकर (बनाकर) रहे ॥१३॥

विशेष—(१) 'चले राम मुनि आयसु पाई···'—"हरषि चले कुंभज रिषि पासा ।" इसका उपक्रम है और यहाँ—'चले राम···' पर उपसंहार हुआ । इतने में 'प्रभु-अगस्ति-सत्संग'-प्रकरण रहा । पहले 'हरषि चले' कहा गया था, फिर अगस्त्यजी के यहाँ बैठ गये थे, यथा—"आसन पर बैठारे आनी ।" अतः, फिर चलना कहा ।

(२) 'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ'—बाल्मीकीय रा० अर० स० १४ में लिखा है कि पञ्चवटी पहुँचने के

प्रथम ही श्रीरामजी ने एक विशालकाय बड़े पराक्रमी गीध को देखकर उससे परिचय पूछा। उसने मधुर और कोमल वाणी से कहा कि हे वत्स! मुझे अपने पिता का मित्र जानो। बिना और कुछ पूछे ही प्रभु ने उसकी पूजा की और तब उसके नाम आदि पूछे। फिर उसने सृष्टि के आदि से लेकर कथा कही और अपने को विनता के द्वितीय पुत्र अरुण का छोटा पुत्र कहा और बताया कि मेरे भाई का नाम सम्पाती और मेरा नाम जटायु है। तुम्हारे यहाँ रहने में मैं सहायक हूँगा। तुम्हारे और श्रीलक्ष्मणजी के न रहने पर मैं श्री सीताजी की रक्षा करूंगा। तब श्रीरामजी ने जटायु का अभिनन्दन और आलिंगन किया। पुनः उसके द्वारा अपने पिता से उसकी मैत्री की बात को बार-बार पूछा और सुना। फिर उस बलवान् पक्षी को श्रीसीताजी की रक्षा का भार देकर पंचवटी में रहने लगे।

पिता से मित्रता की बात पद्मपुराण में कही गई है, जहाँ शनिस्तोत्र भी है—एक समय सम्वत्सर सुनाते हुए श्रीवशिष्ठजी ने राजा दशरथजी से कहा कि शनि इस साल में रोहिणी की दशा को वेधकर निकल जायँगे, इससे १२ वर्ष का अवर्षण होगा। तब राजा ने गुरुजी से उनके मार्ग का निश्चय कर अकेले रथ पर जा उनका सामना किया। राजा तो महातेजस्वी थे, पर इनका रथ प्राकृत होने के कारण शनि की कड़ी दृष्टि से जल गया। राजा आकाश-मार्ग से नीचे गिरने लगे। इतने में जटायु पहुँचे और राजा को अपनी पीठ पर बैठा लिया। तब फिर राजा ने धनुष-बाण चढ़ाकर सामना किया। तब शनि हृदय से डर गये कि ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा। फिर उन्होंने राजा से कहा कि हम तुम्हारे पराक्रम से प्रसन्न हैं, वर माँगो। राजा ने सरल-प्रकृति होने से स्वीकार किया और यही वर माँगा कि अबसे आप कभी भी इस दशा का भेदन न करें। शनि ने 'एवमस्तु' कहा।

'रहे परन-गृह छाइ'—श्रीचित्रकूट में देवतागण कोल-किरात वेष से पर्णशाला रच गये थे और आगे किष्किन्धा में भी—प्रथमहिं देवन्ह गिरि गुहा, राखेउ रुचिर बनाइ।" कहा है। पर यहाँ क्यों नहीं बनाई? उत्तर—(क) यहाँ खर के भय से न आ सकते थे, आगे स्पष्ट है, यथा—"जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते॥" (दो० २०)। (ख) यह वन उग्रशाप से शापित था, इससे देवता यहाँ न आ सकते थे, प्रभु के आने पर हरा-भरा हुआ, तब प्रभु ने स्वयं पर्णकुटी बनाई। (ग) इस स्थान से श्रीसीताजी का हरण होगा, लोग कहेंगे कि किस पापी ने यह कुटी बनाई थी, जिससे हरण हुआ। इससे अपयश के भय से भी नहीं बनाई। वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से योग्य स्थान ढूँढ़ने को कहा, तब उन्होंने भी यही कहा—"स्वयं तु रुचिरे देशे कियतामिति मां वद।" (वाल्मी० ३।१५।७), जब श्रीरामजी ने स्वयं ढूँढ़कर कहा कि यहाँ बनाओ, तब श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत ही रमणीय शाला रच दी, इस तरह श्रीलक्ष्मणजी भी उक्त अपयश से बचे रहे।

जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा॥१॥
गिरि बन नदी ताल छबि छाये। दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाये॥२॥
खग-मृग-बृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं॥३॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा॥४॥

अर्थ—जबसे श्रीरामजी ने वहाँ निवास किया, मुनि लोग सुखी हो गये और उनका डर जाता रहा॥१॥ वहाँ के पर्वत, वन, नदी और तालाब शोभा से पूर्ण हो गये, वे प्रतिदिन अत्यन्त सुहावने हो रहे हैं॥२॥ पक्षियों और पशुओं के झुंड सुखी रहते हैं, मधुर गुंजार करते हुए भौंरे शोभा पा रहे हैं॥३॥ सर्पों के राजा शेषनाग भी उस वन का वर्णन नहीं कर सकते, जहाँ प्रत्यक्ष रघुवर श्रीरामजी विराजमान हैं॥४॥

विशेष—'सुखी भये मुनि···'—अगस्त्यजी ने कहा था—"कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया।" उसे यहाँ चरितार्थ किया। दंडक-वन को पुनीत करना मुनि ने पहले कहा था, पर उसका वर्णन आगे करते हैं, क्योंकि श्रीरामजी की दृष्टि में 'मुनिन्ह पर दाया' ही प्रधान कार्य है। ये उसके लिये प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

(२) 'गिरि बन नदी···'—वन का सुहावन होना कहकर तब तदाश्रित खग-मृग आदि का आनन्द कहा गया कि खग-मृग आदि पारस्परिक वैर भूलकर क्रीड़ा करते हैं, यथा—"सहज बैर सब जीवन्ह त्यागा। गिरि पर सकल करहिं अनुरागा॥" (बा० दो०६५)।

(३) 'सो बन बरनि न सक अहिराजा।'—न कह सकने का एक कारण तो यही है कि उसकी शोभा दिन-दिन बढ़ती है, जो आज कहेंगे, वह कल फीकी पड़ जायगी, तो देखकर लोग इसे झूठी कहेंगे। दूसरा कारण उत्तरार्द्ध में कहते हैं—

'जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा।'—जिन रघुवीर के भजन के प्रभाव से ही अगस्त्य आदि मुनियों के आश्रमों में पूर्ण शोभा है। वे जहाँ स्वयं विराजे हैं और प्रत्यक्ष है तो वहाँ की शोभा निस्सीम ही है, तब वह कैसे कही जाय ?

'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा'-प्रकरण

(श्रीराम-गीता)

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल-हीना॥५॥
सुर - नर - मुनि-सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥६॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा॥७॥
कहहु ज्ञान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥८॥

दोहा—ईस्वर - जीव-भेद प्रभु, सकल कहउ समुझाइ।
जाते होइ चरन - रति, सोक मोह भ्रम जाइ॥१४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी एक बार सुख-पूर्वक बैठे थे, उनसे श्रीलक्ष्मणजी ने छल-रहित (सहज स्वभाव से) वचन कहे॥५॥ कि हे सुर-नर-मुनि एवं चराचर-मात्र के स्वामी! मैं निज प्रभु की भाँति (अर्थात् जैसे अनन्य दास अपने स्वामी से कुछ पूछता है, वैसे मैं) आपसे पूछता हूँ॥६॥ हे देव! मुझसे वही समझाकर कहिये, जिससे सबको छोड़कर प्रभु (आप-) की चरण-धूल का ही सेवन करूँ॥७॥ ज्ञान, वैराग्य और माया (के स्वरूप एवं उनकी वृत्तियों को) कहिये और वह भक्ति कहिये, जिससे आप दया करते है॥८॥ ईश्वर और जीव का भेद—यह सब मुझे समझाकर कहिये, जिससे आपके चरणों में प्रीति हो और शोक, मोह तथा भ्रम मिट जायँ॥१४॥

विशेष—(१) 'एक बार प्रभु सुख आसीना।'—प्रभु श्रीरामजी ने अपने सामर्थ्य से शापित गिरि-वन आदि को और मुनियों को सुखी किया और फिर स्वयं भी सुख-पूर्वक बैठे। आप आश्रितों के सुख से सुखी होते है। वन की रमणीयता भी सुख का हेतु है। प्रिया के साथ सुख-पूर्वक विराजने का बाहरी लीला मे यह अन्तिम दिन है, वास्तविक आपकी क्रोड़ा तो नित्य एक-रस ही है।

यहाँ तत्त्व-जिज्ञासा के योग्य अवसर है, यथा—"एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ॥···पारबती भल अवसर जानी। गईं संभु पहिं···" (बा० दो० १०५-१०६)।

(२) 'लछिमन बचन कहे छल-हीना।'—जो प्रश्न अपनी जीत और दूसरे की परीक्षा लेने एवं

अपनी चतुरता प्रकट करने के लिये होते हैं, वे छल युक्त कहे जाते हैं। वे दोष श्रीलक्ष्मणजी के वचनों में नहीं है। यदि कहा जाय कि श्रीलक्ष्मणजी ने स्वयं कहा है—"मन-क्रम-बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई॥" (अ० दो० ७१), अर्थात् वे श्रीरामजी के चरणों में पूर्ण अनुरक्त एवं अनन्य हैं, तो फिर यहाँ—'जाते होइ चरन रति', 'सब तजि करउँ···' को प्रश्न का हेतु क्यों कहा? यह तो छल ही है। इसका उत्तर यह है कि श्रीमुख से सुनकर उनमें और दृढ़ता हो जायगी और श्रीमुख-वाणी पर जगत् का कल्याण होगा, यथा—"तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥" (बा० दो० १११)। श्रीलक्ष्मणजी सगुण-भक्ति में जीवों के आचार्य माने जाते हैं, इससे सबके लिये इनका प्रश्न करना योग्य ही है। छल-हीन प्रश्न वक्ताओं को प्रिय लगते है, यथा—"प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥" (बा० दो० ११०)—इसे भी देखिये। श्रीलक्ष्मणजी ने गुह को इन ज्ञान-विराग आदि के उपदेश भी किये है, यथा—"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ज्ञान-बिराग भगति रस सानी॥" (अ० दो० ९१), फिर इन सबको समझाकर कहलावेंगे, जिससे और दृढ़ हो जायँ। पुनः शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना नियम भी है, यथा—"सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ।" (दो० ३६), अन्यथा विस्मृति का भय रहता है। यह उपदेश भी है कि सज्जनों को इन्हीं बातों के प्रश्नोत्तर में कालक्षेप करना चाहिये।

(३) 'सुर-नर-मुनि-सचराचर साईं', यथा—"बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी।" (बा० दो० १०६)। 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं'—श्रीलक्ष्मणजी ने यहाँ अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए प्रश्न किया है, यथा—"दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।" (बा० दो० १०९), जिससे प्रभु को समाधान करते ही बने, यथा—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" (कि० दो० २), अर्थात् जैसे अनन्य सेवक अपने स्वामी से पूछता है, वैसे ही सरल भाव से मैं पूछता हूँ। यह भी भाव है कि आप प्रभु है, प्रभु-सम्मित वचनों से कहें। वही अवश्य मुझ सेवक के लिये कर्त्तव्य होगा, क्योंकि जिसकी आज्ञा सुर-नर-मुनि एवं सचराचर सभी मानते है, तो उसको 'निज सेवक' क्यों न मानेगा?

(४) 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि···'—यह रीति है कि जब जिज्ञासु नितान्त अज्ञान बनकर पूछता है, तभी वक्ता विस्तार-पूर्वक और समझाकर कहता है, यथा—"कहिय बुझाइ कृपा निधि मोही॥" (बा० दो० ४५)—श्रीभरद्वाजजी, "मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू।" (बा० दो० ११९)—श्रीगिरिजाजी, "कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥" (उ० दो० ११४)—श्रीगरुड़जी इत्यादि सबने ऐसा ही पूछा है। 'सब तजि', यथा—"जननी जनक बंधु ··सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥" (सु० दो० ४७), "सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहि संत तव पद अवराधक॥" (कि० दो० ६), अर्थात् जननी जनक आदि की ममता एवं देह सम्बन्धी सुख और मान के छोड़ने पर ही यथार्थ भक्ति होती है।

(५) 'कहहु ज्ञान बिराग···' इसमें भक्ति को दूसरे चरण में रक्खा, उसका एक कारण तो यह है कि अपना अभीष्ट अन्त में कहा जाता है, क्योंकि उपर्युक्त 'चरण रत सेवा' और 'जाते होइ चरन रति···' ये सब भक्ति के ही विशेष अंग है। दूसरा यह भी कारण है कि भक्ति के पास माया नहीं रह सकती, यथा—"भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५), इसलिये भक्ति को माया से पृथक् रक्खा।

(६) 'ईस्वर-जीव-भेद प्रभु···'—'सकल कहहु समुझाइ'—इन्होंने पहले भी कहा था—"मोहि समुझाइ कहहु" यहाँ फिर कहा, इससे इन विषयों की सूक्ष्मता एवं कठिनता सूचित की। छः बातों के प्रश्न है—ज्ञान, विराग, माया, भक्ति, ईश्वर और जीव का भेद। यों तो पाँच ही प्रश्न है, पर ईश्वर और जीव का भेद तभी निश्चय होगा, जब दोनों के स्वरूप कहे जायँगे। इस तरह छः होंगे।

(७) 'जाते होइ चरन-रति···' इनमें ईश्वर और जीव का भेद जानने से चरण-रति अर्थात् ईश्वर में जीव की भक्ति होगी। यह इसके उत्तर के प्रसंग में स्पष्ट है। ज्ञान से शोक का, वैराग्य से मोह का और माया के जानने से भ्रम का नाश होगा। भक्ति का ज्ञान इसलिये चाहिये कि 'चरन-रति' कैसे हो!

श्रीलक्ष्मणजी का मुख्य उद्देश्य है—"सब तजि करउँ चरन रज सेवा।" इसीके लिये सब जानना चाहते हैं, क्योंकि—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥ प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)।

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥१॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव-निकाया॥२॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥३॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥४॥
एक दुष्ट अतिसय दुख-रूपा। जा बस जीव परा भव-कूपा॥५॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु-प्रेरित नहिं निज बल ताके॥६॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा—) हे तात! मैं थोड़े ही में सब समझाकर कहता हूँ, तुम बुद्धि, मन और चित्त लगाकर सुनो॥१॥ मैं और मेरा, तू और तेरा, यही (भावना ही) माया का स्वरूप है, जिसने समूह जीवों को अपने वश में कर रक्खा है॥२॥ हे भाई! इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के विषय और जहाँ तक मन जाय, उन सबको माया समझना॥३॥ उस माया के दो भेद हैं—एक विद्या और दूसरी अविद्या, इन दोनों को भी तुम सुनो॥४॥ एक (अविद्या) अत्यन्त दुष्टा और बड़ी ही दुःख-रूपा है, जिसके वश में होकर जीव संसार-रूपी कुएँ में पड़ा हुआ है॥५॥ एक (विद्या) जिसके वश में गुण है, वह प्रभु की प्रेरणा से जगत् को रचती है, अपना बल उसे (उसमें) कुछ नहीं है॥६॥

विशेष—(१) 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।—श्रीलक्ष्मणजी ने दो बार कहा है कि समझाकर कहिये, उसीसे कहते हैं कि हाँ, हम थोड़े ही में समझा कर कहेंगे। भाव यह कि शब्द थोड़े होंगे, पर समझने में आ जायँगे। इनके समझने का विस्तार भारी है। ये अत्यन्त सूक्ष्म विषय हैं, अतएव बुद्धि से निश्चय करते हुए, मन से मनन करते और चित्त में धारण करते जाओ। थोड़े शब्दों में बहुत आशय बोध कराना वक्ता की श्रेष्ठता है और थोड़े ही में बहुत कुछ समझ लेना श्रोता की उत्तमता है। प्रभु अन्तर्यामी हैं, यह भी जानते हैं कि शूर्पणखा चल चुकी है, समय थोड़ा है, इससे भी थोड़े ही में कहते हैं।

पूर्व—"उभय बीच श्री सोहइ···" (दो० ६) में कहा गया है कि श्रीलक्ष्मणजी प्रभु की कृपा-मयी देवी के आश्रय हैं, इसलिये प्रभु ने कृपा करके श्रीलक्ष्मणजी को ऐसी बुद्धि-शक्ति दी है कि वे संकेत-मात्र से समझते जायँगे।

(२) 'मैं अरु मोर तोर तैं माया।'—माया के स्वरूप का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः, कार्य-द्वारा उसका लक्ष्य कराते हैं कि समस्त जीव ईश्वर के अंश, सच्चिदानन्द-स्वरूप और ईश्वर के शरीर हैं, यथा—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" (उ० दो० ११९), "जगत्सर्व शरीरं ते" (वाल्मी० ६।११७।२७), वे परस्पर भिन्न और अनन्त हैं, यथा—"जीव अनेक एक श्रीकंता।" (उ० दो० ७७), किन्तु किसी अदृश्य शक्ति के वश अपनी वास्तविक स्थिति से पृथक हो, स्वतन्त्र सत्तावान्

होकर परस्पर 'मै, मोर, तै, तोर' के व्यवहार में लीन हो जाते है, वही माया है, जिसने समूह जीवो को वश में किया है।

शुद्ध जीव भगवान् का शरीर है, इससे इसका पृथक् स्वत्वाभिमान नहीं रहता। जब यह उस स्थिति से पृथक् हुआ, तब पहले 'मै' की सत्ता हुई, फिर दूसरे जीवों के प्रति द्वैत-बुद्धि होने से 'तै' भी हुआ। फिर 'मै' का सम्बन्धी 'मोर' और 'तैं' का सम्बन्धी 'तोर' हो गया, इसीसे बुद्धि मे नानात्व-जगत बन गया। कहा भी है—"न वै तेऽजितभक्तानां ममाहमिति माधव। त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता॥" (भाग० १०।७४।५), अर्थात् हे अजित! हे माधव! आपके भक्तो की पशुओं की तरह अपने शरीर और पुत्र आदि में 'मै और मेरेपन' की तथा दूसरों मे 'तू और तेरेपन' की विकार युक्त नानात्व बुद्धि नहीं होती। (अर्थात् भक्ति के समक्ष माया नहीं रहती)।

'मैं अरु मोर तोर तै माया' से माया का स्वरूप लक्षित किया। तब 'जेहि बस कीन्हेउँ जीव-निकाया।' से उसका कार्य दिखाया। आगे माया का विस्तार कहते हैं—

(३) 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब'' '—इसका इतना बड़ा विस्तार है कि नेत्र आदि इन्द्रियाँ और रूप आदि उनके विषय एवं जहाँ तक मन की दौड़ है, सब माया ही का विस्तार है। 'गो-गोचर' से दृश्यमान जगत् और 'जहँ लगि मन जाई' से और-और अदृश्य लोकों को जनाया, यथा—"असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। स्वर्ग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे।" (वि० १२५), यहाँ पर यह शंका की जाती है कि मन तो भगवान मे भी जाता है, यथा—"मय्येव मन आधत्स्व'''" (गीता० १२।८), तो वे भी माया ही होंगे, इसलिये आगे भेद कहकर समझावेंगे कि अविद्या माया के सम्बन्ध से अशुद्ध मन का विषय माया है, विद्या माया से शुद्ध मन के विषय भगवान् होते हैं। श्रुतियों मे भी ऐसी ही व्यवस्था है, यथा—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते॥ अप्राप्य मनसा सह॥" (तैत्त० २।४), इसमे भगवान् को अशुद्ध मन से अप्राप्य कहा है और—"मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति॥" (कठो० २।४। ११), इसमे शुद्ध मन से प्राप्त होना कहा गया है।

(४) 'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ'''—इसमे माया के दो भेदों को कहा—विद्या और अविद्या।

(५) 'एक दुष्ट अतिसय'''', यथा—"देखी माया सब बिधि गाढ़ी।" (बा० दो० २७१), 'तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥" (उ० दो० १२), 'परा भव-कूपा'—अर्थात् स्वयं पड़ा, यथा—"सो माया बस भयो गोसाई। बँध्यो कीट मर्कट की नाईं॥" (उ० दो० ११६), माया के ही कारण भव-दुःख है, यथा—"तुलसिदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।" (वि० १२०)।

(६) 'एक रचइ जग गुन बस'''—ऊपर एक माया दुष्टा कही गई, उसकी अपेक्षा इसे सुष्ठु (भली) सूचित किया। 'रचइ जग', यथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥' (बा० दो० २२४)। 'गुन बस जाके'—यह त्रिगुणात्मिका है। सृष्टि कर्तृत्व के अतिरिक्त इसीके सत्त्वादि गुणों से भगवान् मे श्रद्धा भी होती है। तब जीव निरन्तर उनके भजन में लगता है, जिससे इसे भगवान् दिव्य बुद्धि का योग कर देते हैं, यथा—"मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०), तब उस बुद्धि के द्वारा मन भगवान् का अनुभव करता है। अन्यथा अशुद्ध मन से भगवान् परे हैं, यथा—"ज्ञान गिरा गोतीत अज, माया मन गुन पार।" (उ० दो० २५)। 'प्रभु-प्रेरित नहि निज बल ताके।', यथा—"मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥" (गीता ९।१०), "सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता (गीता १४।४), अर्थात् श्रीगोस्वामीजी की परिभाषा में जगत् को भगवान् से भिन्न नानात्व-सत्ता मे देखना अविद्या माया का कार्य है और जगत् एवं प्रकृति को भगवान् के शरीर रूप मे देखना और प्रकृति के कार्यों को भगवान् की सत्ता और प्रेरणा से जानना विद्या माया की दृष्टि है । श्रीव्यासजी ने भी माया के इन दोनों प्रकारों का वर्णन किया है, यथा—"अव्यक्ताद्व्यक्तमापन्नं विद्यासर्गं वदन्ति तम् । महान्तं चाप्यहङ्कारमविद्यासर्गमेव च ॥ अविधिश्च विधिश्चैव समुत्पन्नौ तथैकतः । विद्याऽविद्येति विख्याते श्रुतिशास्त्रार्थचिन्तके ॥" (महा० शान्ति० ३०२।२२--२३), अर्थात् पण्डित लोग अव्यक्त से व्यक्तभावापन्न उस विश्वरूप (विराट्) को विद्या सृष्टि और महान् कहा करते हैं तथा अहङ्कार को अविद्या सृष्टि कहते हैं । एक ही ईश्वर के शरीर-रूप जगत् में विद्या दृष्टि से विधि (उपासना) और अविद्या (नानात्व) दृष्टि से अविधि (राग-द्वेष आदि) उत्पन्न हुई है । वेदों और शास्त्रों के अर्थ जाननेवाले उन दोनों की, विद्या-अविद्या कहकर व्याख्या करते हैं ।

इसका विशेष निर्णय बा० दो० ११७--११८ तथा—"यन्मायावशवर्त्ति···" (बा० म० श्लोक ६) के भाष्य में देखिये ।

इसी विद्या माया के सत्त्वादि गुणों के द्वारा दिव्य बुद्धि भी प्राप्त होती है । उसीसे ज्ञान आदि भी होते हैं । इसीसे क्रम-भंग करके अविद्या को प्रथम ही कहकर इसे पीछे कहा कि इसी विद्या माया के साहचर्य मे ज्ञान आदि भी कहे जायँ । जिससे श्रुतियों मे कही हुई विद्या का भाव भी इससे अपृथक् रहे, यथा—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥" (ईशा०), इसमें विद्या से ज्ञानोपासना का अर्थ है ।

प्रथम अविद्या को इससे भी कहा कि पहले अज्ञान को कहकर ही ज्ञान कहा जाता है, यथा—"ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास । निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास ॥" (दोहावली २५१), अर्थात् अज्ञान को निवृत्त करना ही तो ज्ञान का महत्त्व है । इसलिये प्रथम अज्ञान को कहकर ज्ञान कहा जाता है ।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्नों का क्रम से उत्तर नहीं दिया गया, यह क्यों ?

समाधान—श्रोता अज्ञान-दृष्टि से प्रश्न करता है, पर वक्ता ठीक क्रम से ही कहता है । अतः, श्रीरामजी ने पहले माया को ही कहा, क्योंकि पहले तम जनाकर प्रकाश का ज्ञान कराना है ।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥७॥
कहिय तात सो परम बिरागी । तृन-सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥८॥

अर्थ—ज्ञान वह है जहाँ एक भी (मै, मोर, तै, तोर का) अभिमान न हो, सबमे ब्रह्म को समान रूप से देखे ॥७॥ हे तात ! वह परम वैराग्यवान् कहा जाता है, जो त्रिगुणात्मक सिद्धियों को एवं तीनो गुणों के विस्तार—ऐश्वर्य रूप तीनो लोकों के विभव को त्याग दे ॥८॥

विशेष—(१) 'ज्ञान मान जहँ·· '--यहाँ गीता अ० १३ में कहे हुए ज्ञान का सारांश बड़ी ही सूक्ष्मता से लिया गया है, यथा—"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ इसके आदि के 'अमानित्वं' को श्रीरामजी ने अर्द्धाली के पूर्वार्द्ध में कहा और अन्त के 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' को उत्तरार्द्ध में कहा है । 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं'

का अर्थ—'यथार्थ ज्ञान का फल—ब्रह्म का सम रूप से सबमें सत्साक्षात्कार होना' है, यह ब्रह्म का दर्शन (देखना) उत्तरार्द्ध में कहा है। इस तरह प्रत्याहार के सदृश सम्पूर्ण जनाया, क्योंकि—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा है। इस ज्ञान में—'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।' कहा गया है, इससे भक्ति-रूप सरस ज्ञान का कथन है, यथा—"उमा जे राम चरन रत, बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहि जगत···" (उ० दो० ११२), इसे ही—"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।··· ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते॥" (गीता ७।१६-१७), में भी कहा है। 'तेषां' से उन चार प्रकार के भक्तों में ही यह ज्ञानी कहा गया है। यही श्रीगोस्वामीजी ने भी कहा है, यथा—"राम भगत जग चारि प्रकारा।···ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा॥" (बा० दो० २१), तथा—"संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥" (बा० दो० २६)।

अतः, ज्ञान और भक्ति दोनों पर्याय हैं, ऐसा ही श्रुतियों में भी कहा गया है, यथा—"मनो ब्रह्मेत्युपासीत···" से प्रारम्भ कर आगे--"भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥" (छा० ३।१८।१-४), इसमें उपक्रम में—'उपासीत' कहा है और उसे ही उपसंहार में—'वेद' भी कहा है। अतः, वेदन (ज्ञान) का अर्थ उपासना सिद्ध है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने वेदान्त के आनन्द भाष्य में इसका निर्णय किया है, यथा—"ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्त्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात्। 'निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६), इत्यात्मदर्शनसाधनत्वेनासकृद्ध्यानकर्त्तव्यत्वोपदेशात्। निदिध्यासनपदस्यासकृद्ध्यानार्थकत्वात्। असकृद्ध्यानमन्तरेण परमात्मसाक्षात्करानुपपत्तेः। 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२), इत्यत्र सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुत्वेन श्रुताया ध्रुवस्मृतेर्ध्रुवत्वमचलत्वं तैलधारावदविच्छिन्नत्वमन्यथाऽनुपपद्यमानं स्मृतेः सातत्यमुपपाद्य तदावृत्तिं ज्ञापयति। उपास्यविषयिणी स्मृतिरेव तत्र तत्रोपासनवेदनादिपदैरभिधीयते। वेदनोपासने च समानप्रकरणाधीतत्वात्समानार्थके एवेत्यावृत्तिः कर्तव्येति॥४।१।१॥

अर्थ—ध्यान और वेदन आदि पदों से उपदिष्ट वेदन की आवृत्ति करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति में 'निदिध्यासितव्यः' कहकर असकृत् ध्यान को आत्मदर्शन का साधन माना है। 'निदिध्यासन' पद का अर्थ होता है—'अनेक बार ध्यान करना'। जब तक 'असकृत्' अर्थात् अनेक बार ध्यान न किया जावे, तब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। 'सत्त्वशुद्धौ·· ' इस छान्दोग्य वचन में ध्रुवा-स्मृति को सर्व ग्रन्थियों के मोक्ष का हेतु कहा गया है। 'ध्रुव' शब्द का 'अचल' अर्थात् 'तैलधारावदविच्छिन्न' अर्थ है। यह अचलत्व अथवा तैलधारावदविच्छिन्नत्व निरन्तरस्मृति के बिना हो नहीं सकता। अतः, यही अचलत्व स्मृति के सातत्य का उपपादन करके स्मृति की आवृत्ति का ज्ञापन करता है।

प्रश्न—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियों में तो स्मृति का विधान नहीं किया है, किन्तु श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि का ही विधान किया है।

उत्तर—भगवद्विषयक स्मृति को ही 'उपासना' शब्द से कहा है और कहीं 'वेदन' आदि शब्दों से कहा है। ध्यान, उपासना, वेदन और स्मृति ये सब पर्यायवाची शब्द हैं, क्योंकि वेदन और उपासन—ये दोनों समान प्रकरण में बोधित हुए हैं। (जैसे—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत···' ऊपर लिखा गया है, तथा—'ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।' इत्यादि श्रुतियों में वेदन, ध्यान, उपासन ये सब पर्यायवाची हैं। ध्यान का ही अर्थ चिन्ता है, चिन्ता स्मृति-सन्तान का नाम है। यह अनेक बार स्मृति के बिना बन नहीं सकता।) अतः, वेदन का अनुष्ठान सदा करना चाहिये॥४।१।१॥

शंका—उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति का बहुत कुछ तारतम्य कहा गया है।

समाधान—वहाँ कैवल्यपरक रूक्ष ज्ञान का प्रसंग है, उसे भी श्रीरामजी यहाँ पर आगे (पृथक्) —'धरम ते बिरति जोग ते ज्ञाना।' में कहेंगे और फिर उससे भक्ति को बहुत श्रेष्ठ कहेंगे।

शंका—तब ऊपर 'ज्ञान' और 'भक्ति' के प्रश्न भिन्न-भिन्न क्यों कहे गये हैं ?

समाधान—सरस ज्ञान वह है, जिसमें साधन अन्य हो तथा अन्त में उसमें भक्ति-भावना होती हो, जैसे यहाँ के 'अमानित्व' आदि साधनों के पश्चात् 'मयि चा ···' कहा गया है, तथा गीता १८।५०-५३ में ज्ञान-निष्ठा कहकर अन्त में "ब्रह्मभूतः ·····मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥" यह उसके पश्चात् कहा गया है।

भक्ति मात्र उसे कहा जाता है, जिसमें प्रारम्भ से नवधा भक्ति और प्रेम लक्षणा भक्ति करते हुए परा भक्ति की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भी आगे—'भगति के साधन कहउँ बखानी।' से 'भगति जोग सुनि ···' कहा गया है। अतः, सरसज्ञान की फल रूपा पराभक्ति में ही समता है।

(२) 'ज्ञान मान जहँ···'—का भाव यह कि उपर्युक्त—'मै, मोर, तैं, तोर' यह भावना ही अहंकार या मान हैं, इसीको माया कहा गया है। इसके दूर होने से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥" (दो० ३९), तुलसिदास 'मै मोर' गये बिनु जिय सुख कबहु न पावै ॥" (वि० १२०), पहले अज्ञान-दृष्टि में—'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई ॥" कहा गया था। अब ज्ञान-दृष्टि में—"देख ब्रह्म समान सब माहीं।" कहा जा रहा है।

इसी ज्ञान के साहचर्य में वैराग्य के लक्षण भी कहते हैं, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है, यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू।" (अ० दो० १७७), "ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।" (उ० दो० ८९)।

(३) 'कहिय तात सो परम बिरागी। ··'—अरूप पदार्थ का स्वरूप उसके धर्म-द्वारा ही जाना जाता है, जैसे क्रोध का स्वरूप क्रोधी के लक्षणों (नेत्र लाल होने, भौंहें टेढ़ी होने आदि) से जाना जाता है। जो सांसारिक पदार्थों का त्याग करनेवाला विरागी है और दिव्य पदार्थों का भी जो त्याग करता है, वह परम विरागी है। तीनो गुणों की सिद्धियों एवं तीनो लोकों के ऐश्वर्य दिव्य पदार्थ हैं। इनके त्यागने के आदर्श श्रीभरतजी हैं, यथा—"भरतहि होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर-पद पाइ।" (अ० दो० २३१), श्रीशिवजी भी, यथा—"वैराग्याम्बुजभास्करम्" (मं०)।

दोहा—माया ईस न आप कहँ, जान कहिय सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव ॥१५॥

शब्दार्थ—सीव का अर्थ सीम एवं सीमा = काष्ठा, अर्थात् सबकी पराकाष्ठा ईश्वर है।

अर्थ—जो माया, ईश्वर और न अपनेको ही जान (सके), वह जीव कहाता है। सब जीवों पर माया की प्रेरणा करके बन्धन और मोक्ष का देनेवाला सबकी पराकाष्ठा-रूप ईश्वर है ॥१५॥

विशेष—(१) 'सीव', यथा—"जीव सीव सम सुख सयन, सपने कछु करतूति। जागत दीन मलीन सोइ, सकल बिपाद बिभूति ॥" (दोहावली २४६), तथा—"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था···महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥" (कठ० १।३।१०-११), इसमें सीव (सीमा) का ही पर्याय काष्ठा एवं परा गति से ईश्वर कहा गया है।

ऊपर—"ईश्वर-जीव-भेद' परक प्रश्न था, उसपर श्रीरामजी ने यह नहीं कहा कि भेद नहीं है, यथा—"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।" (बा० दो० ११५), प्रत्युत भेद को स्वीकार करके उत्तर में यहाँ कह रहे हैं कि जीव अज्ञ है, क्योंकि तीनो तत्त्वों (माया, ईश्वर जीव) को नहीं जान सकता और

ईश्वर सर्वज्ञ हैं, इसीसे वे सब जीवों को उनके कर्मानुसार बाँधने और छोड़ते है, यथा—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥" (गीता ४।५), अर्थात् भगवान् अपनेको सर्वज्ञ और जीव अर्जुन को अज्ञ कहते है। इसे विस्तार से उ० दो० ७७ में कहा है, यथा—"ज्ञान अखंड एक सीता बर। मायाबस्य जीव सचराचर। जौ सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥···" अर्थात् स्वभावतः जीव का अज्ञ होना और ईश्वर का सर्वज्ञ होना—ये इन दोनों में भेद हैं।

जीव की अज्ञता, यथा—"जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥" (उ० दो० ७१), इसमें माया का न जानना है। "तव माया बस फिरउँ भुलाना। तातें मैं नहि प्रभु पहिचाना॥" (कि० दो० १), इसमें ईश्वर का न जानना है। "आनंद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥" से "निज सहस अनुभव रूप तू खल भूलि अब आयो कहाँ?" (वि० १३६) तक, इसमें 'आपु (जीव) कहँ' न जानना है।

तीनों का यथार्थ ज्ञान श्रीराम-कृपा से ही होता है, यथा—"तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहि भगत भगत-उर-चंदन॥" (अ० दो० १२६), अर्थात् जब श्रीरामजी कृपा करके अपना ज्ञान कराते है तब उनके 'पर' (विराट्) रूप का बोध होता है, यथा—"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।" (गीता ११।४७), इस ग्रन्थ में भी जहाँ विराट् रूप दिखाना कहा गया है वहाँ कृपा से ही, यथा—"बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।···बिहँसत तुरत गयेउँ मुख माहीं॥···देखि कृपाल बिकल मोहि, बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर आयेउँ··" (उ० दो० ७८-८२), श्रीरामजी की हँसी माया है, यथा—"माया हास···" (ल० दो० १८), और माया का अर्थ कृपा है, यथा—"माया दम्भे कृपायाञ्च।" उदाहरण—"साँचेहु उनके मोह न माया।" (बा० दो० ९६), "दाया माया राखना" यह मुहावरा है। विराट-रूप के जानने से भगवान् के शरीर रूप में प्रकृति और जीव के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान-पूर्वक ऐश्वर्य समेत ईश्वर का ज्ञान होता है। इस तरह ईश्वर की कृपा से उनकी दी हुई दिव्य बुद्धि-द्वारा जीव तीनों को जानता है, यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०), ऊपर 'न जानना' जीव के स्वतः ज्ञान से कहा है, यही जीव की अज्ञता है।

इस भेद-ज्ञान से जीव भगवान् की शरण होगा, तब वे अपना उपर्युक्त यथार्थ ज्ञान करावेंगे। तब दृढ़ भक्ति होगी, यथा—"जाने बिनु भगति न जानिबो तिहारे हाथ समुझि सयाने नाथ! पगनि परत।" (वि० २५१), यही श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट भी है, यथा—"जाते होइ चरन रति"। अतः, यही अर्थ संगत है।

यहाँ बद्धजीव का लक्षण कहा गया है। जीव का शुद्ध स्वरूप—"ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥" (उ० दो० ११६) में देखिये।

(२) 'बंध मोच्छप्रद सर्व-पर···'—जो निरन्तर भजन करते है, उन्हें ईश्वर विद्या माया-द्वारा कृपा करके छोड़ते हैं, यथा—"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥" (गीता १०।१०), जो प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें बन्धन-रूप दंड देते है, यथा—"तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥" (गीता १६।१९), तथा—"नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहि ते परहि महा भव भीरा॥ करहि मोह बस नर अघ नाना··· कालरूप तिन्ह कहँ मैं ताता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥" (उ० दो० ४०), ऐसे विमुखों को वे अशुभ योनियों में डालते हैं—यही बन्धन है। पुनः भगवान् अपनी लीला के विधान में नित्य-जीवों को भी अपनी माया के वश करते हैं, जैसे कि गरुड़जी को मोह हुआ, सनकादिक को वैकुण्ठ में भी हुआ,

इत्यादि। अतः, ईश्वर की माया-द्वारा सबपर बन्धन और मोक्ष का विधान होने से ईश्वर और जीव में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य भेद भी स्पष्ट हुआ, तथा—"कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥" (महा० शान्ति० ३५१।१५), अर्थात् दूसरे जो सब कर्मात्मा जीव हैं वे ही बन्ध और मोक्ष धर्म से संयुक्त हुआ करते हैं।

प्रश्नकर्त्ता श्रीलक्ष्मणजी का अभीष्ट था—"जाते होइ चरन रति," " पुनः सम्पूर्ण प्रसंग सुनने पर भी—"लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा।" कहा है। अतः, उन्होंने भी भेदात्मक ही अर्थ ग्रहण किया है, अन्यथा अभेद होने से उपास्य भाव नष्ट होने पर 'चरन रति' परक 'चरन सिर नावा' कैसे हो सकता? अतएव, यहाँ जीव और ईश्वर में अज्ञ-सर्वज्ञ, परतन्त्र-स्वतन्त्र, शरीर-शरीरी आदि भेद भी स्पष्ट हो गये।

शंका—भेद मानने से द्वैत की शंका है, जिससे भवकूप में पड़ने का भय है, यथा—"जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परउँ नहिं अस कछु जतन बिचारी॥" (वि० ११३), "द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दा० १११), तथा—"यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति, द्वितीयाद्वैभयं भवति॥" (बृह० १।४।२), अर्थात् दूसरे से भय होता ही है।

समाधान—उपर्युक्त भेद शरीर-शरीरी-भाव के अन्तर्गत कहे गये हैं। यहाँ शंका का भव-दायक द्वैत इसके विरुद्ध में कहा गया है। जैसे उपर्युक्त द्वैतवाले पद के पूर्वार्द्ध से ही स्पष्ट है कि ये जननी-जनक आदि आपके ही शरीर है। इन-इन रूपों से आपने ही सब उपकार किये हैं। इस ऐक्य के विरुद्ध अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् सत्तावान् मानने पर उन-उनके ऋणी होने से भवकूप में पड़ूँगा। अतः, इस द्वैत रूप अज्ञान से रक्षा का यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है। यही द्वैत क्रोध मूलक भी है और इसीको उक्त श्रुति में भी भयदायक कहा है।

जगत् मात्र भगवान् का शरीर है और वे ही प्रत्येक जीवों के कर्मानुसार सबके प्रवर्त्तक भी है। वे सर्वज्ञ है। अतः, यथान्याय ही बर्ताव कर रहे हैं। जैसे मनुष्य के एक हाथ में फोड़ा होता है, तब वह दूसरे हाथ से उसे चीरता है और फिर दवा भी भरता है, इत्यादि। परन्तु भिन्न-भिन्न मानने पर हित पर प्रीति और अहित पर क्रोध होगा ही।

'सोक मोह भ्रम जाइ'—उपर्युक्त शरीर-शरीरी की एकता पर शोकादि का निवृत्त होना श्रुतियों ने भी कहा है, यथा—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति···तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (यजु० सं० अ० ४० मंत्र ६-७)। अतः, यहाँ जिस भेद से शोक मोह आदि का छूटना कहा गया है, उसमें भव-मूलक द्वैत की शंका नहीं है।

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान-मोच्छ-प्रद बेद बखाना॥१॥
जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥२॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान-बिज्ञाना॥३॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥४॥

अर्थ—धर्म से वैराग्य एवं योग से ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्ष का देनेवाला है—ऐसा वेदों ने कहा है॥१॥ (परन्तु) हे भाई! जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ, वह भक्तों को सुख देनेवाली मेरी भक्ति है॥२॥ वह स्वतन्त्र है, उसे दूसरे का सहारा लेना नहीं है। ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं, अर्थात् भक्ति करने से वे स्वतः आ जाते हैं॥३॥ हे तात! भक्ति उपमारहित एवं सुख की जड़ है, जो सन्त अनुकूल हों तो वह प्राप्त होती है॥४॥

विशेष—(१) 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ·· ··'—प्रथम सरस ज्ञान-प्रसंग कह चुके है। बीच में ईश्वर-जीव का भेद कहकर यहाँ फिर कैवल्यपरक ज्ञान का प्रसंग कहते है। इसीसे इसे पृथक् कहते हैं। यह ज्ञान वही है, जिसे उ० दो० ११६ मे दीपक रूप में कहा गया है। यहाँ के सब अंग वहाँ से मिलते हैं—जैसे कि 'सात्विक श्रद्धा' पूर्वक जप-तप आदि कहते हुए 'परम धर्म मय पय दुहि भाई।' तक धर्म कहा गया है। फिर आगे—'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।' तक धर्म का फल-रूप वैराग्य कहा है। पुनः—'जोग अगिनि करि ··' मे योग कहा गया है, तब विज्ञान आदि अग कहते हुए—'जो निर्विघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥' यह फल कहा है। वैसे ही यहाँ भी धर्म से वैराग्य, योग से ज्ञान, तब, "ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।" कहा गया है। फिर उसे जैसे वहाँ भक्ति की अपेक्षा सविघ्न अल्प-फल-प्रद आदि कहा है, वैसे आगे यहाँ भी कहते है। यह ज्ञान योग-शास्त्र का है, इसे रूक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसीके प्रति कहा गया है—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी।" (उ० दो० १२), "जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहाँ न राम प्रेम ·· ' (अ० दो० २९०)।

(२) 'जाते बेगि द्रवउँ मैं·····'—इससे रूक्ष ज्ञान को चिरसाध्य और दुःखसाध्य सूचित किया, यथा—"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहि सोऊ॥" (उ० दो० ४४), "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥" (गीता १२।५)। 'बेगि द्रवउँ', यथा—"सकृत प्रनाम किहें अपनाये।" (अ० दो० २९८), "सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहि तबहीं।" (सु० दो० ४३), "अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव···क्षिप्रं भवति धर्मात्मा···" (गीता ९।३०-३१), 'भगत सुखदाई', यथा—"कहहु भगति पथ कवनि प्रयासा। जोग न मख जप-तप उपवासा॥" (उ० दो० ४५), "प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥" (गीता २।२)। इसकी अपेक्षा ज्ञान के साधनों को दुखदाई सूचित किया, यथा—"साधन कठिन विवेक।" (उ० दो० ११९)।

(३) 'सो सुतंत्र अवलंब न आना।'—ज्ञान में धर्म और योग के सहायक होने की जैसी आवश्यकता हुई, वैसी आवश्यकता भक्ति मे नही पड़ती। इसमे धर्म का कार्य नवधा से और योग का कार्य प्रेमा से (अपने से) ही हो जाता है। भक्ति मे ज्ञान-विज्ञान की अधीनता यों है कि सरस ज्ञान दो प्रकार के है—एक साधन-रूप और दूसरा फल-रूप। साधन-रूप ज्ञान गीता १८।५०-५३ में कहा गया है। उसके फल-रूप मे पराभक्ति वहीं पर आगे ५४ वे श्लोक मे कही गई है। उसी साधनरूप ज्ञान की अधीनता यहाँ पर समझनी चाहिये। फल-रूप ज्ञान वही है जो ऊपर—'ज्ञान मान जहँ ··' मे भक्ति से अभेद कहा गया है। कैवल्यपरक ज्ञान की अधीनता इस प्रकार है कि उसका फल भक्ति मे अनायास ही आ जाता है, यथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥" (उ० दो० ११८)। विज्ञान उस ज्ञान की छठी भूमिका में ही आ गया है, तो उसकी अधीनता आ ही गई। पुनः सरस विज्ञान की अधीनता, यथा—"ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय बिज्ञानी।···तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोहि न दूसरि आसा॥" उ० दो० ८५)। विज्ञान गुणातीत अवस्था को भी कहा गया है—(उ० दो० ११०) देखिये, वह दशा भक्ति से सहज ही आ जाती है, यथा—"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।" (गीता १४।२६)।

(४) 'भगति तात अनुपम सुखमूला।'—'अनुपम', क्योंकि भगवत्-प्राप्ति और कैवल्य-पद-प्राप्ति में ऐसा सुलभ साधन दूसरा नहीं है। सुख-मूलकता से भी यह अनुपम है, यथा—"मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥" (उ० दो० ४६), "जेहि सुख लागि पुरारि, असिव बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई

सुख लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहु लहेउ। ते नहि गनहि खगेस, ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति ॥" (उ० दो० ८८), इत्यादि।

'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला।'—सन्तों की प्रसन्नता से हरि-कथा का यथार्थ रहस्य प्राप्त होता है, तब विवेक होता है, श्रीरामजी में प्रीति होती है और मोह का नाश होता है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥" (उ० दो० ६१), "बिनु सत संग विवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥" (बा० दो० २), "सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥" (उ० दो० ११९), सन्तों की अनुकूलता से भक्ति की प्राप्ति और सन्तों की प्राप्ति श्रीराम-कृपा से होती है—यह यहाँ कहा गया, अतएव इस भक्ति को कृपासाध्य सूचित किया। आगे साधन-साध्य भक्ति कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी ॥ ५ ॥
प्रथमहिं बिप्र-चरन अति प्रीती। निज-निज कर्म निरत श्रुति-रीती ॥ ६ ॥
यहि कर फल मन बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥ ७ ॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं ॥ ८ ॥
संत - चरन - पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-बचन भजन दृढ़ नेमा ॥ ९ ॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥१०॥

अर्थ—मैं भक्ति के साधन विस्तार से कहता हूँ, यह इसका सुगम मार्ग है, इससे मनुष्य मुझे पाते हैं ॥५॥ पहले ही ब्राह्मणों के चरणों में अत्यन्त प्रीति हो और अपने-अपने कर्म में वेद की रीति से प्रीति-पूर्वक लगा रहे ॥६॥ फिर इसके फल-रूप में विषयों से वैराग्य हो, तब हमारे धर्म में अनुराग उत्पन्न हो ॥७॥ श्रवण, कीर्त्तन आदि नव भक्तियाँ दृढ़ हों, मन में मेरी लीला में अत्यन्त प्रीति हो ॥८॥ सन्तों के चरणारविन्दों में अत्यन्त प्रेम हो, मन, कर्म और वचन से भजन का दृढ़ नियम हो ॥९॥ गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी और देवता इन सब (रूपों)- में मुझको ही जानकर मेरी सेवा में दृढ़ हो ॥१०॥

विशेष—(१) 'सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी।'—इसके साधन भी सुगम ही है और प्राणि-मात्र इसके अधिकारी है। ऊपर ज्ञान-वैराग्य के साधन कहे थे—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" वे कष्ट साध्य थे। अब भक्ति के भी साधन कहते हैं, परन्तु ये सुगम है।

(२) 'प्रथमहि बिप्र-चरन अति प्रीती।'—'बिप्र' शब्द का विशेष अर्थ वेद पाठी तत्त्वज्ञ ब्राह्मण के लिये है, इसीसे श्रुतियों में बिप्र शब्द ही से ऋषि लोग कहे गये है, तथा—"जानइ ब्रह्म सो बिप्र बर···" (उ० दो० ९९), यह भी प्रसिद्ध है। यहाँ 'बिप्र' शब्द इसी अर्थ में है, क्योंकि आगे—'निज निज करम निरत श्रुति रीती ॥' कहा गया है। जब इनमें प्रीति होगी, तब ये मोह जनित-संशय दूर करेंगे, यथा—"बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना ॥" (बा० दो० १), तब अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मों के ज्ञान पूर्वक उनमें प्रवृत्ति होगी। फिर उन्हींके द्वारा विधिवत् अनुष्ठान होगा। 'निज-निज कर्म निरत ···', यथा—'नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥ वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे। नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फल-श्रुतिः ॥"(भाग० ११।३।४५-४६), अर्थात् जो अजितेन्द्रिय और अज्ञानी मनुष्य वेदोक्त कर्म नहीं करता, वह विहित कर्मत्याग के पाप से बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। वेदोक्त कर्मों को ही असंग भाव से ईश्वरार्पणपूर्वक करता हुआ मनुष्य नैष्कर्म्य-सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। वेद में जो (स्वर्ग

आदि मिलने की) फलश्रुति है वह कर्म में रुचि पैदा करने के लिये है। भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म ही सात्त्विक है, सकाम राजस है और हिंसात्मक तामस है, यहाँ 'निज-निज कर्म' पद में सात्त्विक का ही भाव है। 'अति प्रीती'—प्रीति तो जन्मना ब्राह्मण मात्र में चाहिये, यथा—"अविद्वान्ब्राह्मणो देवः पात्रं वै पावनं महत्। विद्वान्भूयस्तरो देवः पूर्णसागरसन्निभः॥ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥ श्मशाने ह्यपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हविर्यज्ञे च विधिवद् गृह एवातिशोभते॥ एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणा मान्यो देवतं विद्धि तत्परम्॥" (महा० अनुशा० १५१।२०-२३), "गर्भस्थान्ब्राह्मणान्सम्यङ्नमस्यन्ति किल प्रभुः।" (महा० अनुशा० १५३।१०), तथा भाग० ७।१४।४१-४२, १२।१०।२४, १०।६४।४२ में भी ब्राह्मण महत्त्व ऐसे ही कहे गये हैं। पर उक्त रीति के श्रेष्ठ विप्रों में अत्यन्त प्रीति हो, क्योंकि—"पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना॥" (दो० ३३), तात्पर्य यह है कि पूर्व कर्मों के अनुसार ईश्वर ने उन्हें उस कुल में जन्म दिया है और पूज्य होने का अधिकार दिया है। उनका पूजना ईश्वर की आज्ञा का पालन है। पूजा से प्रसन्न होकर वे आशिष देंगे, तो वह भी भगवान् सत्य करेंगे, क्योंकि उन्हींके आज्ञानुसार अर्चक की निष्ठा है। जैसे जिसे वकालत का प्रमाण-पत्र प्राप्त है, वह सामान्य वकील भी अदालत में पैरवी कर सकता है। दूसरा वकील उससे चतुर भी हो, पर उसे वह अधिकार प्राप्त नहीं होता। वैसे ही इन्हें पूज्य होने की उपाधि भगवान् से प्राप्त है।

ब्राह्मणों के सुधार के लिये श्रीगोस्वामीजी ने उन्हें फटकार भी दी है, यथा—"बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। ···" (उ० दो० ९९), इत्यादि। 'चरन अति प्रीती।'—उनका दास बना रहे, बराबरी न करे, उनकी सेवा करे, तब वे श्रुति की रीति से स्वकर्म करावेंगे। गीता १६।२३-२४ के अनुसार शास्त्र-विहित कर्म ही सफल होते हैं।

(३) 'यहि कर फल मन ··'—धर्म करने से चित्त शुद्ध होगा, तब विषय मलिन जान पड़ेंगे, तो उनसे विराग होगा, यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥" (भाग० ११।२०।९), निष्काम कर्मयोग की रीति से कर्म करने से वैराग्य होता है और गीता १८।४६ की रीति से वह कर्म भगवान् की अर्चा रूप में परिणत हो जाता है। फिर वह शुद्ध चित्त परम पवित्र मम (भगवत्) धर्म में अनुरक्त होगा और उसे करने लगेगा, अर्थात् भक्ति करने लगेगा। 'भगवद्धर्म, यथा—"प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। ···" से "पूजहि तुम्हहि सहित परिवारा।" (अ० दो० १२८) तक।

(४) 'श्रवनादिक नव ', यथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥" (भाग० ७।५।२३), इन नवों के उदाहरण, यथा—"जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।" से "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात। मन मंदिर तिन्हके बसहु···" (अ० दो० १२९-१३०) तक, श्रीवाल्मीकिजी के कहे हुए क्रमशः ये नौ स्थान है। नवधा (वैधी) भक्ति का फल प्रेमलक्षणा भक्ति है, यथा—"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्। भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥" (भाग० ११।३।३१), अर्थात् पापपुञ्जहारी भगवान् हरि का स्वयं स्मरण करते तथा औरों से कराते हुए भक्तलोग (वैधी) भक्ति से (प्रेमलक्षणा) भक्ति के उदय होने पर, पुलकित हो जाते हैं। सुतीक्ष्ण-प्रसंग भी देखिये।

"भगति के साधन कहउँ बखानी।·· " से "श्रवनादिक · " तक नवधा-भक्ति हुई। विरक्त-वृत्ति-वाली श्रीशबरीजी के यहाँ कही हुई नवधा भक्ति निवृत्ति-परक है। अतः, वह 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।' से प्रारम्भ हुई है। निवृत्ति-परक सन्तों के संग से क्रमशः उसका उत्थान है और यहाँ श्रवणादिक नवधा 'प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती।' से प्रारम्भ है। ब्राह्मणों के द्वारा शास्त्रोक्त निष्काम कर्म से

शुद्ध हो प्रायः लोग चौथेपन से प्रधानतया कथा-श्रवण आदि से शुद्ध रूप से भक्ति में प्रवृत्त होते है। जैसे श्रवण भक्ति के प्रसिद्ध भक्त परीक्षित मे यह भक्ति चरितार्थ है। यहाँ के प्रश्नकर्त्ता श्रीलक्ष्मणजी राजकुमार है। प्रवृत्ति के है। अतः, यहाँ यह युक्त है।

यहाँ से प्रेम लक्षणा-भक्ति कहते है—

'मम लीला रति अति मन माही।'—लीला की रति से कृपा, दया, शील आदि गुणों के स्मरण द्वारा प्रीति की उमंग होती है, यथा—"सुमिरि-सुमिरि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास राम-पद पाइहै प्रेम-पसाउ॥" (वि० १००), "तुलसी राम सनेह सील लखि जौ न भगति उर आई। तौ तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु तरुनता गँवाई॥" (वि० १६४), तथा—"क्वचिन्नृदन्त्यच्युत चिन्तया क्वचिद्रुदन्त्यच्युत चिन्तया क्वचिद्वसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः। नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥" (भाग० ११।३।३२), अर्थात् वे अलौकिक (प्रेमी) पुरुष भगवान् अच्युत का ध्यान करके कभी रोते, हँसते, आनन्दित होते और कभी बड़बड़ाने लगते है। कभी गाते, नाचते और कभी उन अजन्मा हरि की लीलाओं का चिन्तन करते है और फिर परम उपरति को प्राप्त होकर मौन हो जाते है।

(५) 'संत-चरन-पंकज अति प्रेमा।'—अर्थात् सन्तो के चरण-कमलो में अति प्रेम हो, क्योंकि इनके द्वारा परस्पर हरि गुण-कथन होगा, उससे प्रेम बढ़ेगा, यथा—"यहि बिधि कहत राम गुन-ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥" (सुं० दो० ७), तथा—"जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस-परस समागमादिक पाप राशि नसाइये॥ जिन्हके मिले दुख-सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहिं गये॥ सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर चरन लय लागै॥ देह जनित बिकार सब त्यागै। तब फिर निज स्वरूप अनुरागै॥ अनुराग जो निज रूप ते जग ते बिलच्छन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निर्मम, निरामय, एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई। त्रैलोक्य-पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥" (वि० १३६। १०-११)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' भी देखिये। सन्तो से यह कल्याण-परम्परा सम्पन्न होती है। पुनः—'मन क्रम-बचन भजन दृढ़ तेमा।' भी प्रेम-भक्ति का ही पोषक कहा गया है, यथा—"करि प्रेम निरंतर नेम लिये, पद पंकज सेवत सुद्ध हिये॥" (उ० दो० १३)।

(६) 'गुरु पितु मातु बंधु '—इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही सब उपकार किये हैं, क्योंकि सब जगत् उनका शरीर है। इस दृढता से जगत् मे फैली हुई प्रीति (ममता) सूत्र (तागे) के समान सिमट कर श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति होगी। तब इन गुरु आदि को श्रीरामजी का ही शरीर मानता हुआ उनकी दृढ़ सेवा मे प्रेमानन्द प्राप्त करेगा, तथा—'ये यजन्ति पितॄन्देवान्गुरूंश्चैवातिथींस्तथा। गाश्चैव द्विजमुख्यांश्च पृथिवीं मातरं यथा॥ कर्मणा मनसा वाचा विष्णुमेव यजन्ति ते। अन्तर्गतः स भगवान्सर्वसत्त्वशरीरगः॥" (महा० शान्ति० ३४५।२६-२१), अर्थात् जो लोग मन, वचन और कर्म से पितर, देवता, गुरु, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पृथ्वी और माता की पूजा करते हैं वे लोग विष्णु भगवान् की ही पूजा किया करते है, क्योंकि सब प्राणियों के शरीरगामी वे भगवान् सबमें ही व्याप्त है। पुनः—अजहुँ समुझि चित्त दे सुनु परमारथ। है हित जगहूँ जाहि ते स्वारथ॥ स्वारथहि प्रिय, स्वारथ सो काते, कौन वेद बखानई। देखु खल अहि खेल परिहरि सो प्रभुहि पहिचानई॥ पितु, मातु, गुरु, स्वामी, अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेमसा बिनु हेतु हित नहि तैं लखा॥ दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है॥" (वि० १३५), इत्यादि।

अब आगे परा-भक्ति कहते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥११॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके ॥१२॥

दोहा—बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहिं निष्काम।
तिन्हके हृदय-कमल महँ, करउँ सदा बिश्राम ॥१६॥

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु-चरननन्हि सिर नावा ॥१॥
येहि बिधि गये कछुक दिन बीती। कहत बिराग ज्ञान गुन नीती ॥२॥

अर्थ—मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद हो जाय और आँखों से आँसू बहें ॥११॥ काम आदि (अर्थात् काम, क्रोध और लोभ एवं) मद और दम्भ जिसके (हृदय में) न हो, हे तात! सदा मैं उसके वश में रहता हूँ ॥१२॥ जिनको मन, कर्म, वचन से मेरी गति (आश्रय) है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते हैं, मैं उनके हृदय-कमल में सदा (निरन्तर) विश्राम करता हूँ ॥१६॥ श्रीलक्ष्मणजी ने भक्ति-योग सुनकर अत्यन्त सुख पाया और प्रभु श्रीरामजी के चरणों में सिर नवाया ॥१॥ इस तरह वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते हुए कुछ (थोड़े) दिन बीत गये ॥२॥

विशेष—(१) 'मम गुन गावत पुलक सरीरा।···बस मैं ताके॥' अर्थात् गुण गाते-गाते ही उपर्युक्त प्रेम लक्षणा-भक्ति की गाढ़स्मृति पर शरीर पुलकित एवं वाणी गद्गद होकर नेत्रों से प्रेमानन्द के आँसू चलते रहेंगे, यथा—"मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥" (दो० ६)—सुतीक्ष्णजी। "पुलकगात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥" (अ० दो० ३२५), इस प्रकार इसमें निरन्तर भगवान् वश में रहते हैं, इसीसे हृदय में कामादि नहीं रह पाते, यथा—"तब लगि हृदय बसहिं खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६)। निरन्तर वश में रहना, यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु बाना॥" (अ० दो० १३०), 'मम गुन गावत' के साथ में निरन्तर वश में रहना कहा है, यथा—"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽथवा। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥" (पद्म पु० कार्तिक मा० अ० ५।२२), यह श्रीमुख-वचन है। पुनः कामादि का निराकरण करने पर अपना बसना कहा है, क्योंकि निर्मल हृदय में ही श्रीरामजी सदा रहते हैं, यथा—"निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सु० दो० ४३), "करहु हृदय अति बिमल बसहि हरि कहि कहि सबहि सिखावउँ।" (वि० १४२), इत्यादि।

यहाँ तक संक्षेपतः तीनों भक्तियों का वर्णन सूत्र रूप में किया। श्रीलक्ष्मणजी के प्रश्न—"कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।" का उत्तर भी पूरा हुआ।

भक्ति में भी अति गुह्यतम-रूपा जो भगवान् को अनन्योपायोपेय मानने की शरणागति है। जिसके लिये श्रीलक्ष्मणजी ने प्रथम ही अपना मुख्य अभीष्ट कहा है, यथा—"मोहि समझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरन-रज सेवा॥" उसका उत्तर चरम (अन्तिम) वाक्य में श्रीरामजी कहते हैं—

(८) 'बचन कर्म मन मोरि गति,···', यथा—"मन क्रम बचन राम-पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥" (दो० ६)। 'भजन करहि निष्काम', यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा॥" (उ० दो० ४५), कामनाओं की पूर्त्ति के लिये ही अन्य देवताओं की सकाम आराधना की जाती है, यथा—"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः। तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥" (गीता ७।२०), इसीसे अनन्यता की रक्षा के लिये 'बचन करम मन मोरि गति' के

साथ ही 'भजन करहिं निष्काम' भी कहा है। अनन्य भक्त के निष्काम हृदय में श्रीरामजी सदा विश्राम करते हैं। अतः, यह उनका निज गृह है, यथा—"जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह॥" (अ० दो० १३१), ऊपर ज्ञान का फल मोक्ष कहा गया, वैसे ही भक्ति का फल भगवान् का भक्त के हृदय में वास होना है, यथा—"सब साधन कर एक फल, जेहि जानेउ सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं, राम धरे धनु बान॥" (दोहावली ९०), वही यहाँ कहा गया। इसी पर श्रीलक्ष्मणजी कृतार्थ हुए, यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननन्हि सिर नावा॥" यह आगे कहा है। अतः, यहीं पर गीता समाप्त हुई।

गीता के चरम वाक्य से यहाँ के चरम वाक्य का मिलान—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥" (गीता १८।६५-६६)।

(क) 'मन्मना भव···' का भाव यह कि उ० दो० १०३ में सबके हृदय में नित्य चारों युगों की वृत्तियों का होना कहा गया है। तदनुसार सत्ययुग की शुद्धसत्त्वमय वृत्ति में भगवान् में मन रक्खे, यह 'मन्मना भव' का अर्थ है। त्रेता की वृत्ति में थोड़े रजोगुण के संसर्ग से जब कुछ चपलता आवे, तब देवताओं को मेरे शरीर-रूप में जानते हुए यज्ञ-रूप मेरी भक्ति करे, यह 'मद्भक्तः' का अर्थ है। द्वापर की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मद्याजी' अर्थात् मेरी पूजा कर, यह कहा है और फिर कलियुग की वृत्ति-रक्षा के लिये 'मां नमस्कुरु' यह कहा है, अर्थात् चारों युगों की वृत्तियों के उपाय-रूप मैं ही हूँ। इस श्लोक का भाव यहाँ 'वचन करम मन मोरि गति' में कहा गया।

(ख) 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का भाव यह कि जब भगवान् ने चारों युगों के उपाय-रूप अपनेको ही कहा, तब अर्जुन को यह जानना आवश्यक हुआ कि भीष्म-द्रोण आदि नातेवालों ने मेरे साथ जो तरह-तरह के उपकार किये हैं, उनसे उऋण होने का तो कोई उपाय कहा ही नहीं। उसपर भगवान् कहते हैं कि उन सबके प्रति धर्म करके उन प्रत्येक को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्य सब धर्मों को छोड़कर मुझ एक की ही शरण में आ जा, क्योंकि उन सबके द्वारा प्रेरक-रूप से मैंने ही सब रूपों से तेरे प्रति तरह-तरह के उपकार किये हैं। (पूर्व 'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः' यह अर्जुन के प्रश्न का उपक्रम था, उसीकी पूर्त्ति पर उपसंहार भी हुआ। पूर्व में इन्होंने भीष्म आदि की ही सेवा को धर्म माना भी था। तत्सम्बन्धी शंका की पूर्त्ति पर कृतार्थ हुए) अतः, सर्वात्मना शरणागति करने से 'अहं त्वा···' अर्थात् तुझे किसी भी सामान्य धर्म के छोड़ने का पाप न लगेगा, मैं उन पापों से तुझे छुड़ा दूँगा, शोच मत कर। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का भाव यहाँ के 'भजन करहि निष्काम' की अनन्यता में आ गया है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का भाव 'तिन्ह के हृदय··' में कहा गया कि शेष आयु-भोग में फिर कोई शोच न रहेगा, यथा—"तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥" (सुं० दो० ४६), तथा—"भरत-हृदय सिय-राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥" (अ० दो० २९४), "सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा० दो० १२५)।

इस गीता में थोड़े ही में सब साधन कह दिये गये हैं, क्योंकि श्रीरामजी ने 'थोड़ेहि महँ सब कहउँ बुझाई।' यह प्रतिज्ञा की थी।

'भगति जोग सुनि ···'—सुख तो ज्ञान-वैराग्य आदि के सुनने पर भी हुआ, पर भक्ति-योग से अत्यन्त सुख हुआ। 'सिर नावा'—यह कृतज्ञता एवं प्रेम का सूचक कृत्य है, यथा—"मोपहि होइ न

प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा ॥" (उ० दो० १२४), "प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी।" (बा० दो० ३३५)।

उपक्रम में—'सब तजि करउँ चरन-रज-सेवा।' कहा है, वैसे ही उपसंहार में—'प्रभु चरननहि सिर नावा' कहा गया है।

'येहि बिधि गये कछुक दिन बीती।···'—और जगह वर्ष और महीनों के बीतने की गिनती थी, यहाँ दिन ही कहे गये हैं, क्योंकि अब वनवास के थोड़े दिन प्रयोजन-भर ही रह गये है। 'कहत बिराग'···'—ज्ञान-विराग उपर्युक्त प्रसंग में स्पष्ट है। 'गुन', यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके।", इसमें माया के गुण और "तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।" इसमें भक्तों के गुण कहे गये। 'नीती'—राजनीति ही यहाँ अभिप्रेत है, क्योंकि आगे वैसी लीला करनी है। यह लक्ष्मणजी के प्रश्न से अधिक है, यथा—"राम करहि भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहि नीती ॥" (उ० दो० २४), वैसे ही यहाँ भी सम्भवतः कुछ दण्ड नीति का प्रसंग भी कहा गया है। 'नीती' को ही अन्त में कहा है, क्योंकि शूर्पणखा को अभी ही दण्ड देना है। साधु-रक्षा और असाधु को दण्ड देना, यह नीति है। यहाँ आदि में माया का वर्णन है और अन्त में नीति कही गई है। भाव यह कि अविद्या माया रूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे दण्ड दिलाना है, क्योंकि वह—"दुष्ट हृदय दारुन जसि अहिनी" है।

'सूपनखा जिमि कीन्ह कुरूपा'-प्रकरण

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट-हृदय दारुन जसि अहिनी ॥३॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ॥४॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥५॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥६॥

अर्थ—सर्पिणी के समान दारुण (क्रूर) स्वभाव एवं दुष्ट-हृदयवाली शूर्पणखा, रावण की बहन थी ॥३॥ वह पञ्चवटी में एक बार गई और दोनों राजपुत्रों को देखकर व्याकुल हो गई ॥४॥ श्रीकाक-भुशुण्डीजी कहते है कि हे सर्पों के शत्रु श्रीगरुड़जी! भाई, पिता या पुत्र कोई भी सुन्दर पुरुष हो, उसे देखते ही स्त्री व्याकुल हो जाती है, वह अपने मन को नहीं रोक सकती, जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य को देखकर द्रवित होती है अर्थात् तेज को प्रवाहित करती है ॥५-६॥

विशेष—(१) 'सूपनखा रावन कै बहिनी।'—शूर्पणखा रावण की बहन है—बा० दो० १७५ चौ० २ देखिये। इसका व्याह कालकेयवंशी मायावी राक्षस विद्युज्जिह्व से हुआ था, उसे दिग्विजय करने के समय प्रमत्त रावण ने मार डाला था—वाल्मी० ७।२३।१८। शूर्पणखा के विलाप करने पर रावण ने इसे खर-दूषण-त्रिशिरा को और १४ हजार बली राक्षसी सेना को देकर जनस्थान का निवास दिया। खर आदि इसके भाई भी थे—वाल्मी० ७।२४।२४-४२। यह स्वयं तेजस्विनी थी और अपने बल से सर्वत्र विचरनेवाली थी, यथा—"अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी।" (वाल्मी० ३।१७।२५)। इसके सूप (शूर्प, सूर्प) के समान नख थे, इसीसे यह शूर्पणखा कही जाती थी। रावण की बहन कहकर इसे विधवा जनाया। रावण अधिक प्रसिद्ध था, इससे भी परिचय में कहा गया। दुष्ट-हृदया और क्रूर स्वभाववाली के लिये सर्पिणी की उपमा भी युक्त है, क्योंकि सर्पिणी भयंकर होती है और ऐसी दारुण-हृदया होती है कि सद्यः प्रसूत (तुरत के जने) अपने बच्चों को भी खा जाती है। वैसे यह भी अपने 'निशाचर-वंश' का नाश करेगी।

(२) 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ।'—यह दोनों पर मोहित हुई इस विचार से कि एक के साथ स्त्री है, यदि वह न भी ब्याहेगा, तो दूसरा तो अवश्य ही ब्याहेगा । दोनों पर आसक्त होने से कुलटा भी जानी गई । अभी राजकुमारों ने इसे नहीं देखा, नहीं तो यह रुचिर रूप धारण नहीं कर पाती, जो आगे कहा है—'रुचिर रूप धरि···' ।

(३) 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी । ···'—'उरगारी' का भाव यह कि आप सर्पों के शत्रु हैं, आपके स्वामी भी आज इस सर्पिणी-रूपा राक्षसी की दुर्दशा करेंगे । भ्राता, पिता, पुत्र के प्रति प्रायः कामचेष्टा नहीं होती, यथा—"मध्यम पर पति देखइ कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥" (दो० ४), तो भी शूर्पणखा जैसी स्त्रियों के लिये यह कठिन ही है, इसीसे कहा है—"मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥" (भाग० ९।१९।१७ तथा मनु० २।२१५), अर्थात् माँ, बहन और कन्या के साथ भी एकान्त में न रहे, क्योंकि इन्द्रिय समुदाय बहुत प्रबल होता है, वह विद्वानों को भी विचलित कर देता है ।

देखिये, इन्हीं महाकवि ने सात्त्विक स्त्रियों के लिये—"सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ।" एवं "मध्यम पर पति देखहि कैसे । भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥" (दो० ४), ऐसा कहा है और शूर्पणखा-सी कामातुरा और निर्लज्जा स्त्रियों के प्रति यहाँ ऐसा कहा है । यहाँ सामान्य स्वभाव-कहकर आगे विशेष का उदाहरण देते हैं । यदि ऐसी स्त्रियों का समूह संसार में न होता तो सामान्य स्वभाव-कथन पर कवि को दोष दिया भी जा सकता था । अतः, अल्पश्रुत-समालोचकों का श्रीगोस्वामीजी के ऐसे प्रसंगों पर उन्हें स्त्री-द्वेषी कहना अनुचित है ।

'पुरुष मनोहर निरखत नारी ।'—यहाँ यह दोनों पर रीझी है, दोनों पुरुष मनोहर हैं । इससे मन को न रोक सकी ।

(४) 'जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ।'—रविमणि से सूर्य-कान्त मणि का अर्थ है । "यह एक प्रकार का स्फटिक या बिल्लौर है, सूर्य के सामने रखने से जिसमें से आँच निकलती है" (हि० श० सा०), वैसे ही यहाँ शूर्पणखा ने सुन्दर पुरुषों को देखा, तो उसके हृदय में काम-वासना-रूपी अग्नि का उद्दीपन होने लगा । यहाँ सुन्दर पुरुष सूर्य है, शूर्पणखा का मन रविमणि और उससे काम-वासना का प्रवाहित होना, रविमणि से तेज का प्रवाहित होना है । काम को अग्नि-रूप कहा भी है, यथा—"कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।" (गीता ३।३९), इसपर कहा जाता है कि 'द्रव' शब्द जल के बहने पर कहा जाना चाहिये, यहाँ अग्नि के साथ क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि 'द्रव' शब्द द्रु धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ भागना, बहना, आक्रमण करना, तरल होना, घुल जाना, पिघलना, उमड़कर बहना होता है—संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ । अतः, 'द्रव' शब्द का अर्थ यहाँ चलना एवं प्रवाहित होना है । ऐसे ही 'स्रव' शब्द का अर्थ भी स्रवना, प्रवाहित होना है, वह भी 'द्रव' शब्द की तरह प्रयुक्त हुआ है, यथा—"पावकमय ससि स्रवत न आगी ।" (मुं० दो० ११), "प्रलय पावक-महाज्वाल-माला-वमन···" (वि० ३८), सूर्यकान्त-मणि से जब ज्वाला निकलती है, तब पहले सूर्य-किरणों के योग से उसके परमाणु अवश्य द्रवीभूत होते हैं और तभी वे ज्वाला-रूप में परिणत होते हैं । पदार्थों का परिणाम या रूपान्तर बिना उनके परमाणुओं के द्रवीभूत हुए नहीं हो सकता । अतएव यहाँ द्रव शब्द का प्रयोग बहुत ही सार्थक है । व्यासजी ने भी कहा है—"दृष्ट्वैव पुरुषं हृद्यं योनिः प्रक्लिद्यते स्त्रियाः ॥" (महा० अनुशा० ३८।२६) ।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई । बोली बचन बहुत मुसुकाई ॥७॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह सँयोग बिधि रचा बिचारी ॥८॥

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥९॥
ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिं निहारी ॥१०॥

अर्थ—सुन्दर रूप धारणकर प्रभु श्रीरामजी के पास जा बहुत मुस्कुराती हुई वचन बोली ॥७॥ तुम्हारे समान कोई पुरुष नहीं है और न मेरे समान कोई स्त्री ही है, यह संयोग विधाता ने विचार कर रचा है ॥८॥ मेरे योग्य पुरुष संसार-भर में (कहीं) नहीं है। मैंने तीनो लोकों में ढूँढ़कर देख लिया है ॥९॥ इसीसे मैं अब तक कुमारी ही रही, तुम्हें देखकर कुछ-कुछ मन माना है ॥१०॥

विशेष—(१) 'रुचिर रूप धरि···'—राजकुमार रुचिर-प्रिय है, इसीसे महाकवि ने उनके सम्बन्ध में इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया है, यथा—"सेज रुचिर रचि राम उठाये।" (बा० दो० ३५५), "उर अति रुचिर नाग मनि माला।" (बा० दो० २१८), "रुचिर चौतनी सुभग सिर···" (बा० दो० २१९), "तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बास करउँ ···" (अ० दो० १२५) इत्यादि बहुत कहा है। इसीसे राक्षसी भी उन्हें प्रिय लगने के लिये रुचिर रूप ही बनाकर आई। आगे मारीच भी इसीलिये 'रुचिर मृग' बना, यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" (दो० २६)। 'बहुत मुसुकाई'—हाव, भाव, कटाक्ष करके, इससे दाम्पत्य-प्रेम का बीज प्रकट किया। स्त्री की मुस्कान पुरुषों के फँसाने का फन्दा है। यह मन, वचन और तन से आसक्त हुई एवं कपट किया—'रुचिर रूप धरि'—तन, 'सक मनहि न रोकी'—मन और 'बोली बचन'—यह वचन के द्वारा कपट एवं आसक्ति है। श्रीरामजी को कपट-छल-छिद्र नहीं भाता, इससे दण्ड पायेगी।

(२) 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी।'—अर्थात् तुम्हारे साथ की स्त्री मेरे समान सुन्दरी नहीं है, यथा—"सीतया कि करिष्यसि॥ विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव। अहमेवानुरूपा ते भार्या रूपेण पश्य माम्॥" (वाल्मी० ३।१७।२६), इससे स्त्री-सुलभ अहंकार प्रकट किया। 'बिधि रचा बिचारी।', यथा—"जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥" (बा० दो० २२२)।

(३) 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं।·····'—इस वचन से उसका कुलटा एवं राक्षसी होना सिद्ध हो गया, क्योंकि सभ्य मनुष्य की लड़की जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द-रूप से घूम-फिर नहीं सकती और तीनो लोकों में खोजना राक्षसी-माया से ही हो सकता है, मानुषी सामर्थ्य से बाहर है। देखिये, जनकपुर की सखियों ने 'सुनियत' ही कहा है, यथा—"सुर नर असुर नाग मुनि माँही। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं॥" (बा० दो० २१९), इससे जान पड़ता है कि वे परदे में रहनेवाली हैं। खर-दूषणादि पुरुष हैं। अतः, उन्होंने देखना कहा है, यह युक्त है, यथा—"नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे-सुने हते हम केते॥ हम भरि जनम सुनहु सब भाई। देखी नहि अस सुंदरताई॥" (दो० १८), वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने इसे व्यंग्य से सुन्दरी कहते हुए इसका राक्षसी होना कह भी दिया है, यथा—"त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे।" (वाल्मी० ३।१७।१८)।

(४) 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी।·· '—युवा स्त्री बनकर आई है कि शीघ्र मनोरथ पूरा हो। पर इसपर यह सन्देह हो सकता है कि कोई दोष होगा, तब तो अभी तक इसका ब्याह नहीं हुआ। इसलिये उसका कारण कहती है कि अनुरूप वर खोजने में इतनी अवस्था हो आई। अब आप मिले, परन्तु आपसे भी कुछ ही 'मन माना'। ऐसा कहकर अपने को रूप-गर्विता नायिका जनाया। 'मन माना' से जनाया कि मैं अपनी रुचि का स्वयंवर करती हूँ, यथा—"करइ स्वयंवर सो नृप बाला।" (बा० दो० १२९), इससे निर्लज्जता भी सिद्ध हुई। यहाँ यह श्रीरामजी को 'तुम्ह', 'तुम्हहिं' आदि बहुवचन पदों से सम्बोधित करती है, पति बनाने के लिये आदर सूचित करना है। दूसरा यह भी कारण है कि यह दोनों भाइयों पर आसक्त हुई है, यथा—"देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।' ऊपर कहा गया, भाषा में दो

शब्द भी बहुवचन ही माना जाता है। उसके इसी अभिप्राय से श्रीरामजी ने उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा है, नहीं तो यहीं से दूर कर देते।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता ॥११॥
गइ लछिमन रिपु-भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ॥१२॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥१३॥
प्रभु समर्थ कोसलपुर-राजा। जो कछु करहि उन्हहिं सब छाजा ॥१४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी ने श्रीसीताजी की ओर देखकर यह बात कही कि मेरा छोटा भाई (अभी) कुमार ही है ॥११॥ तब वह श्रीलक्ष्मणजी के समीप गई, श्रीलक्ष्मणजी ने उसको शत्रु की बहन जानकर और प्रभु श्रीरामजी की ओर देखकर उससे कोमल वचन कहा ॥१२॥ हे सुन्दरी! सुनो, मैं तो उनका दास हूँ, पराधीन रहने में तेरा सुख से निर्वाह नहीं होगा ॥१३॥ प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं और श्रीअयोध्या के राजा हैं, वे जो कुछ भी करें, उन्हें सब सोहेगा ॥१४॥

विशेष—(१) 'सीतहि चितइ कही ·····'—वह श्रीरामजी के लिये विकल है, पर ऊपर से कहती है कि तुम्हें देखकर कुछ ही 'मन माना' है। श्रीरामजी श्रीसीताजी की ही ओर देखते हुए सूचित करते हैं कि मेरा तो इन्हें निहारने में ही 'मन माना' है, यहाँ से मन अलग जाता ही नहीं, यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाही।" (सुं० दो० १४), "मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः। प्रिया तु सीता रामस्य दारा पितृकृता इति ॥" (वाल्मी० १।७७।२६), मैं इनमें ही व्रत-निष्ठ हूँ। पर-स्त्री को देखता भी नहीं, यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥" (बा० दो० २३०)। "न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० २।७२।४८), उसने कहा था—"यह संयोग बिधि रचा बिचारी।" उसपर सूचित करते हैं कि मेरे लिये तो विधि ने इन्हें ही रचा है, अर्थात् मेरा तो इनसे विवाह हो चुका है, इसीसे मेरी दृष्टि इन्हीं पर रहती है। पुनः आगे श्रीलक्ष्मणजी के पास उसे भेजना है, इससे भी श्रीसीताजी को देखकर सूचित करते हैं कि मेरे तो यह एक स्त्री है ही, तब मैं और विवाह कैसे करूँ? जब कि मेरा भाई अभी कुमार ही बैठा है।

'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।' वह विधवा है, पर छल से कुमारी बन रही है, श्रीरामजी भी राजनीति के अनुसार उत्तर दे रहे हैं कि मेरा छोटा भाई भी (ऐसा ही) कुमार है। भाव यह कि घर में विवाहिता स्त्री के होने पर भी—वैसा ही कुमार है। छली से छलभरी बात करना नीति है—"शठे शाठ्यं समाचरेत्।", तथा—यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥" (महा० शान्ति० १०९।३०), अर्थात् जो मनुष्य जिस विषय में जैसा व्यवहार करता हो, उससे वैसा ही व्यवहार करना धर्म है, कपटी को कपट व्यवहारों से बाधित करना चाहिये और साधु आचरणवाले के साथ वैसा ही सदाचरण करना चाहिये। पुनः यहाँ हास्य-रस का प्रसंग है, यथा—"स्वच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ··· मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा ॥" (वाल्मी० ३।१८।१-१३)। इस प्रसंग के आदि में ही श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामजी को वाक्य-विशारद कहा है, यथा—"इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥" (वाल्मी० ३।१७।२९), और फिर शूर्पणखा को परिहास में अचतुर कहा है। तात्पर्य यह कि हास्य में ऐसा कथन दोषावह नहीं होता, यथा—"प्राणात्यये विवाहे वा सर्वज्ञातिवधात्यये। नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥" (महा० कर्ण० ६९।६२), "न च मिथ्या

प्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा ॥" (महा० आदि० ६३।१०), न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति···" (महा० शान्ति० १६५।३०)। 'लघु भ्राता'—भाव यह कि जैसे मैं राजकुमार हूँ, वैसे वह भी है, मेरे समान ही ऐश्वर्यवान् है।

(२) 'गइ लछिमन रिपु-भगिनी जानी।'—उसने कहा था—"मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥" इससे उपर्युक्त अर्थ के अनुसार जान गये कि यह राक्षसी है और इन्हें राक्षस-मात्र से वैर है ही, क्योंकि—"निसिचर हीन करउँ महि···" यह प्रतिज्ञा की जा चुकी है। वाल्मीकीय रामायण में इसने स्वयं पूरा परिचय दिया है। अथवा सम्भवतः श्रीअगस्त्यजी ने कहा भी हो।

(३) 'प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी।'—प्रभु की ओर देखकर उनका रुख पा गये कि इससे हास्य-विनोद की ही बातें करनी चाहिये, नहीं तो ये शत्रु-पक्ष को कब सह सकते थे?

(४) 'सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।···'—कुल-रीति के अनुसार छोटा भाई दास के समान है, यथा—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुलरीति सुहाई॥" (अ० दो० १४)। अतः, "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" (बा० दो० १०१), रात-दिन सेवा करनी पड़ेगी, तो सुख कहाँ? यथा—"कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।" (वाल्मी० ३।१८।९)। 'सुंदरि' का यह भाव है कि तुम रानी ही बनने के योग्य हो, श्रीरामजी तुम्हें पाकर औरों से प्रेम न करेंगे, यथा—"को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि। मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः (वाल्मी० ३।१८।१२)।

(५) 'प्रभु समर्थ कोसलपुर-राजा।···'—प्रभु श्रीरामजी समर्थ हैं, वे कई रानियाँ कर लें, तो उन्हें निवाह सकते हैं, उन्हें कोई दोष भी नहीं दे सकता। वे किसी भी जाति की स्त्री-ग्रहण कर लें, तो उन्हें कोई जाति से भी नहीं हटा सकता, यथा—"समरथ कहँ नहिं दोष गोसाईं। रबि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८), 'कोसलपुर-राजा'—अर्थात् श्रीअवध के राजा श्रीदशरथजी के ७०० रानियाँ थीं, ये भी वहीं के राजा हैं, तो अधिक रानियों का करना उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है, यथा—"समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदितामलवर्णिनी। आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी॥ (वाल्मी० ३।१८।१०)।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी॥१५॥
लोभी जस चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी॥१६॥
पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई॥१७॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई॥१८॥

शब्दार्थ—ब्यसनी = जिसे कोई शौक हो, विलासी। तृन तोडना = सम्बन्ध छोड़ना।

अर्थ—सेवक सुख की चाह करे, भिक्षुक प्रतिष्ठा की चाह करे, व्यसनी धन और व्यभिचारी (परस्त्री-लम्पट) सद्गति की चाह करे॥१५॥ लोभी यश की चाह करे और दूत अभिमानी हुआ चाहे, तो (मानों) ये प्राणी आकाश से दूध दुहना चाहते हैं॥१६॥ वह फिर लौटकर श्रीरामजी के पास आई। प्रभु श्रीरामजी ने फिर उसे श्रीलक्ष्मणजी के पास भेजा॥१७॥ तब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि वही तुझे बरेगा, जो लज्जा को तृण के समान तोड़कर त्याग देगा, अर्थात् पूरा निर्लज्ज होगा।

विशेष—(१) 'सेवक सुख चह···'—यहाँ सेवक के सुख चाहने का प्रस्तुत प्रसंग है, इसीसे इसे प्रथम कहा गया है। आकाश से दूध दुहना मुहावरा है। इसका अर्थ यह कि असम्भव को सम्भव करना चाहते हैं। भाव यह कि सुख चाहती हो, तो स्वामिनी बनो, स्वामी की ही स्त्री हो। इसीकी पुष्टि के लिये पाँच और दृष्टान्त दिये गये हैं।

सेवक का सुख चाहना विकार है, यथा—"सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥" (अ० दो० ३००), भिखारी को मान नहीं मिलता। विलासी का रहा-सहा धन भी उड़ जाता है। व्यभिचारी को शुभगति हो नहीं सकती, यथा—"सुभ गति पाव कि पर तिय गामी।" (उ० दो० १११)।

(२) 'पुनि फिरि राम···'—इसने परिहास का मर्म नहीं समझा, इससे लक्ष्मणजी के वचन इसको ठीक समझ पड़े कि रानी बनना ही ठीक है, इससे फिर श्रीरामजी के पास आई, यथा—"इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी। मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा॥" (वाल्मी० २।१८।१३), इधर-उधर जाती है, क्योंकि इसकी निष्ठा किसी एक में नहीं है। श्रीरामजी के पास जाने से श्रीलक्ष्मणजी के काम की न रही और श्रीलक्ष्मणजी के पास आने से श्रीरामजी के योग्य भी नहीं रह गई। यही हाल उनका भी होता है, जो अनेक देवताओं की शरण में दौड़ते है।

शंका—शूर्पणखा शरण में आई, श्रीरामजी ने उसे क्यों न ग्रहण किया? यथा—"काम मोहित गोपिकन पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत् पिता बिरंचि जिन्हके चरन की रज लीन्ह॥" (वि० २१४)।

समाधान—यह कपट-वेष में व्यभिचारिणी बनकर आई। अतः, मर्यादा-पुरुषोत्तम ने उसे त्यागकर दंड दिया।

(३) 'जो तृन तोरि···'—भाव यह कि जो तेरी तरह निर्लज्ज हो, वही तुझे वरे—यह फटकार है।

तब खिसियानि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥१९॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सैन बुझाई॥२९॥

दोहा—लछिमन अति लाघव सो, नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ, मनहुँ चुनौती दीन्हि॥१७॥

अर्थ—तब वह चिढ़ी हुई श्रीरामजी के पास गई और वहाँ उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया॥१९ श्रीसीताजी को डरी हुई देखकर श्रीरघुनाथजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को संकेत से समझाकर कहा॥२०॥ श्रीलक्ष्मणजी ने अत्यन्त फुर्ती से उसको नाक-कान से रहित कर दिया, मानों उस शूर्पणखा के हाथ (द्वारा) रावण को चुनौती दी, अर्थात् ललकारा कि वीर हो, तो सामने आ॥१७॥

विशेष—(१) 'तब खिसियानि···'—कामना की हानि से क्रोध हुआ, इससे भयंकर रूप धारण कर श्रीसीताजी को खाने दौड़ी कि यह न रहेगी, तो मुझे अवश्य ब्याहेंगे। फिर सौत-रहित होकर विचरूँगी, यथा—"अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्। त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथा-सुखम्॥" (बाल्मी० ३।१८।१६)।

(२) 'सीतहि सभय देखि···'—अभय देना श्रीरामजी का विरद है, यथा—"अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।" (वाल्मी ६।१९।३३), "जो सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥" (मुं० दो० ४३), इसीसे तुरत भय-निवृत्ति का उपाय रच दिया।

अलंकार—'सूक्ष्म', क्योंकि शूर्पणखा के भयंकर रूप पर श्रीजानकीजी ने कुछ भय-प्रदर्शन की मुद्रा की, उसे जानकर श्रीरामजी ने सूक्ष्म ही रीति से श्रीलक्ष्मणजी को कहा है। 'कहा अनुज सन' में 'युक्ति अलंकार' है।

(३) 'सैन बुझाई', यथा—"बेद नाम कहि अँगुरिनि खंडि अकास। पठयो सूपनखहि लखन के पास॥" (बरवा २८), बेद=श्रुति=कान, आकाश=स्वर्ग=नाक। चार अँगुलियों को आकाश की ओर

उठाकर फिर झुकाकर उनका खंडन जनाया। आकाश का गुण शब्द है, आकाश से ईश्वर भी लखाया जाता है, ईश्वरीय शब्द वेद हैं, वे चार हैं भी। वेद का नाम श्रुति है, श्रुति कान को कहते हैं। नाक से नासिका का अर्थ है। दो छिद्र नासिका के और दो कान के—सब मिलकर चार हुए। इन चारो का काटना सूचित किया। प्रकट न कहा, नहीं तो सुनकर वह सचेत हो जाती।

(४) 'लछिमन अति लाघव सो···'—इतनी फुर्ती से श्रीलक्ष्मणजी ने उसके नाक-कान काटे कि वह कुछ कर ही न सकी। यद्यपि वह अपने भाइयों के समान बलवती थी, यथा—"तानहं समतिक्रान्ता · " (वाल्मी० ३।१७।२४)। श्रीलक्ष्मणजी ने तलवार से उसके नाक-कान काटे, यथा—"उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासे महाबलः ॥" (वाल्मी० ३।१८।२१), वह श्रीसीताजी की ओर रुख किये हुई थी, इससे इन्हें अपनी ओर आते न देखा। 'चुनौती', यथा—"सूपनखा कै गति तुम देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी ॥" (लं० दो० ३४), तथा—"चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हें ॥" (दो० ३७), इत्यादि। अर्थात् उत्तेजना—ललकार आदि देना। 'ताके कर'—में यह भी ध्वनि है कि काटकर उसके हाथ में धर दिये। नाक और कान से स्त्री की शोभा है, इन्हींके भूषणों से शृंगार होता है। इनके कटने पर वह कुरूपा हो जाती है, इससे उसकी अधर्म की प्रवृत्ति मिट जाती है। आजकल भी व्यभिचारिणी की नाक काटे जाने के अभियोग जहाँ-तहाँ होते हुए पाये जाते हैं। इसने तो अपनी कुत्सित चेष्टा के मार्ग में बाधक जानकर श्रीजानकीजी को खा लेने का भी उद्योग किया। जिसके प्रतिकार में मृत्यु-दण्ड न देकर स्त्री को अवध्य मान केवल इतना ही दण्ड दिया गया। इससे लीला का अंग भी सम्पन्न करना था, क्योंकि खर आदि और रावण को उतनी उत्तेजना और किसीसे न होती।

वाल्मीकीय रामायण श्रीरामजी के समय की ही निर्मित है, उस समय ऐसी स्त्रियों के लिये ऐसा ही दण्ड विधान किया जाता था। अर० स० ६६ श्लोक ११--१८ में अयोमुखी नाम राक्षसी को भी ऐसा ही दण्ड दिया गया है।

'खर-दूषन-वध'-प्रकरण

नाक-कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा ॥१॥
खरदूषन पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता ॥२॥
तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई ॥३॥
धाये निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जल-गिरि-जूथा ॥४॥
नाना बाहन नानाकारा। नानायुध-धर घोर अपारा ॥५॥
सूपनखा आगे करि लीनी। असुभ रूप श्रुति-नासा-हीनी ॥६॥

अर्थ—नाक-कान के बिना वह बहुत ही भयंकर हो गई, मानों (काले) पहाड़ से गेरू की धाराएँ बह रही हों ॥१॥ विलाप करती हुई वह खर-दूषण के पास गई, (और कहने लगी) अरे भाई! तेरे पुरुषार्थ और बल को धिक्कार है, धिक्कार है ॥२॥ उन्होंने पूछा, तब उसने सब समझाकर कहा, सुनकर उस निशाचर ने सेना सजाई ॥३॥ राक्षस-समूहों के झुण्ड-के-झुण्ड दौड़े, मानों पक्षवाले काजल के पहाड़ों के झुण्ड हों ॥४॥ वे सब अनेक आकार के अनेक वाहनों (सवारियों) पर अनेक तरह के अगणित भयंकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए हैं ॥५॥ अशुभ-रूपा कान-नाक-रहित (नकटी-बूची) शूर्पणखा को उन्होंने आगे कर लिया ॥६॥

विशेष—(१) 'बिकरारा'—कराल तो यों ही थी, नाक-कान कट जाने से विशेष कराल हो गई। 'बिकरारा' में अन्तिम 'रा' 'ला' के रूप में है, क्योंकि दोनों सवर्ण हैं, यथा—"सरिता नस जारा!" (लं० दो० १४), नाक और कानों के कटने से तीन रक्त-धाराएँ पनाले की तरह चल रही हैं।

(२) 'पौरुष बल'—पुरुषार्थ पराक्रम के अर्थ में है और बल सेना के अर्थ में है। अथवा कोप में दो बार कहा गया है। अतः, कोप की वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं। पौरुष और बल दोनों के प्रति धिक-धिक, दो बार कहा है। 'बिलपाता' की अन्तिम बढ़ी हुई मात्रा अनुप्रास के योग से है। अतः, 'बिलपात गई' ऐसा करके अर्थ करना चाहिये, तो 'बिलपाती' इस स्त्रीलिंगता की अपेक्षा नहीं रह जाती, क्योंकि बिलपत, रोवत, गावत, सुनत आदि में लिंग भेद की अपेक्षा नहीं रहती।

(३) 'कहेसि बुझाई'—आगे दो० २१ में रावण के यहाँ—"अवध नृपति" से "सुनि तव भगिनि करहि परिहासा॥" तक विस्तार कहना ही है, इससे यहाँ संकेत-मात्र से जना दिया, वहाँ भारी सभा में कहेंगे। वहींसे यहाँ के भाव भी लेना चाहिये।

(४) 'निकर बरूथा'—अनेक प्रकार के बहुत-से झुण्ड हैं। 'जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा।'—महातमोगुणी होने से अत्यन्त काले और विशाल शरीरवाले हैं, आकाश-मार्ग से आ रहे हैं, इससे पक्ष-सहित गिरि कहा। पुनः काजल की तरह उन्हें सार-रहित भी जनाया। पवन के झकोरे-जैसे श्रीरामजी के वार से छिन्न-भिन्न हो जायँगे।

'नानायुध'—"मुग्दर, पट्टिश, शूल, खड्ग, चक्र, तोमर, शक्ति, परिघ, गदा, मुसल, वज्र, धनुष और बाण, आदि।" (वाल्मी० ३।२२।१८-१९)।

(५) 'सूपनखा आगे···'—प्रारब्ध-वश राक्षसों ने यह महा अपशकुन स्वयं कर लिया। इसे पहले कहकर और अपशकुन कहे गये, क्योंकि इसका आगे होना भारी अपशकुन है। शत्रु का पता बतलाने के लिये इसे आगे किया।

असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्युबिबस सब झारी॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं। देखि कटक भट अति हरषाहीं॥८॥
कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छुड़ाई॥९॥
धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा॥१०॥
लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचर-कटक भयंकर॥११॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर-धनु-पानी॥१२॥
देखि राम रिपुदल चलि आवा। बिहँसि कठिन कोदंड चढ़ावा॥१३॥

अर्थ—उस समय उन्हें अगणित भयंकर अपशकुन हो रहे हैं, पर वे सभी मृत्यु के विशेष वश हैं, इससे उन्हें नहीं गिनते॥७॥ वे राक्षस गरजते हैं, तर्जते हैं, आकाश में उड़ते हैं और सेना देखकर योद्धा अत्यन्त हर्षित होते है॥८॥ कोई कहता है कि दोनों भाइयों को जीवित ही पकड़ लो, पकड़कर मारो और स्त्री को छुड़ा लो॥९॥ आकाश-मण्डल धूलि से छा गया, तब श्रीरामजी ने भाई श्रीलक्ष्मणजी को बुलाकर कहा॥१०॥ कि श्रीजानकीजी को लेकर पहाड़ की कन्दरा में जाओ, निशाचरों की भयंकर सेना आ गई है॥११॥ सचेत रहना, प्रभु के ऐसे वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजी के साथ धनुष-बाण हाथों में लिये हुए चले॥१२॥ श्रीरामजी ने देखा कि शत्रु का दल चलकर आ गया, तब हँसकर अपना कठिन धनुष चढ़ाया॥१३॥

विशेष—(१) **'असगुन अमित होहि···'**, यथा—"असगुन अमित होहि तेहि काला।···" से "जनुकाल दूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने॥" तक (लं० दो० ७७), अर्थात् वीरों के हथियार हाथ से गिर पड़ना, भटों का वाहनों पर से गिरना, घोड़ों और हाथियों का चिंघाड़ करके भागना आदि अपशकुन हैं। **'गनहिं न···'**—काल के वश होने से बुद्धि-बल हर जाता है, यथा—"कालदंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (लं० दो० ३६)—देखिये।

(२) **'गर्जहिं तर्जहिं···'**—क्योंकि सब मृत्यु के वश हैं और उत्साहपूर्ण हैं, इसीसे अपशकुनों पर ध्यान ही नहीं देते, यथा—"प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता।" (वाल्मी० ३।२३।२६), अर्थात् वे मृत्यु के बन्धन में बँध चुके हैं, इससे बहुत प्रसन्न हैं। **'अति हरषाहीं'**—सेना को हर्ष है, भटों को अति हर्ष है। **'कोउ कह जियत धरहु···'**—इन्हें अपने इन सब बातों पर पूर्ण विश्वास है कि हम अवश्य ऐसा करेंगे। जीतेजी पकड़कर तरह-तरह के कष्ट देकर मारेंगे, वैसे तो तुरत ही मर जायँगे, क्योंकि इन्होंने भारी अपराध किया है। अतः, स्त्री को छुड़ा लो। पुनः उस स्त्री की सुन्दरता सुन चुके हैं। अतः, कहते हैं कि पहले स्त्री छुड़ाकर मानसिक दुख दो, फिर शारीरिक कष्ट दिया जाय।

(३) **'लै जानकिहि जाहु···'**—श्रीजानकीजी डर न जायँ, इसलिये इन्हें कन्दरा में भेज रहे हैं, यथा—"मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये।" (अ० दो० ६२)। अभी ही एक राक्षसी शूर्पणखा को देखकर डर गई थीं, इसलिये कन्दरा में भेज रहे हैं कि अब तो अनेक विकट राक्षस आ रहे हैं। उनसे हमारा युद्ध होगा। श्रीलक्ष्मणजी को रक्षा के लिये भेजा कि कहीं कोई निशाचर वहाँ भी न पहुँच जाय।

(४) **'रहेउ सजग सुनि प्रभु कै बानी।'**—यहाँ दो आज्ञाएँ दी गईं—एक तो श्रीजानकीजी को कन्दरा में ले जाना, दूसरी सजग रहना। दोनों का पालन उत्तरार्द्ध में है—'ले जाओ' के प्रति 'चले सहित श्री' और 'रहेहु सजग' के प्रति 'सर-धनु-पानी' कहा है। 'श्री'—अरण्यकाण्ड से अब 'सिय' यह नाम नहीं देते, इससे 'श्री' कहा गया है। 'सुनि प्रभु कै बानी'—का भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी के नाक-कान काटने पर वे सब लड़ने आ रहे हैं। अतः, इन्हें सम्मुख रहना चाहिये, पर इनकी ओर से त्रुटि नहीं है, प्रभु-वाणी के गौरव से जा रहे हैं, यथा—"तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्द्धरः। गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥ प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया। शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स माचिरम्॥ त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या एतान्न संशयः। स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्॥" (वाल्मी० ३।२४।१२-१४), प्रभु की वाणी का गौरव, यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८), तथा—"उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥" (अ० दो० २६८)। प्रभु ने ही ऐसी आज्ञा क्यों दी? उत्तर यह है कि शूर्पणखा को अपना पराक्रम दिखाना है, जिससे वह रावण से वैसा ही जाकर कहे। श्रीलक्ष्मणजी का प्रभाव तो वह कुछ जान चुकी है। पुनः वे कामरूप १४ हजार राक्षस श्रीरामजी के हाथों मरेंगे, यथा—"खर-दूषन-बिराधबध पंडित।" (उ० दो० ५०)।

(५) **'देखि राम रिपुदल···'**—**'देखि'**—पहले नभ-धूलि से अनुमान किया था, अब उनकी ध्वजा, रथ आदि एवं उनकी सेना भी देख पड़ी। **'बिहँसि'** से उत्साह-वृद्धि-क्षात्र धर्म दिखाया, यथा—"छत्रीतन धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पामर आना॥" (बा० दो० २८३), आगे स्वयं स्वीकार करेंगे, यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं।" (दो० १८), इस दृष्टि से बिहँसने का यह भी भाव है कि अच्छे शिकार आ गये, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा-पूर्त्ति का योग लगा। राक्षसों की मूर्खता पर निरादरार्थ भी हँसे, यथा—"जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं खग सठ मांस अहारी॥ चोंच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा॥" (लं० दो० ३८), अर्थात् हमारे प्रभाव को नहीं जानते, इसीसे ऐसे आ रहे हैं। बिहँसना कृपा से भी है, क्योंकि उनके वैर-भाव से उन्हें मुक्त करना है।

छन्द—कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों।
मरकत सयल पर लरत दामिनि कोटि सो जुग भुजग ज्यों॥
कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि कै।
चितवत मनहुँ मृगराज-प्रभु गजराज-घटा निहारि कै॥

दोहा—आइ गये बगमेल, धरहु धरहु धावत सुभट।
जथा बिलोकि अकेल, बाल-रविहि घेरत दनुज॥१८॥

अर्थ—श्रीरामजी कठिन धनुष चढ़ाकर मस्तक पर जटाओं का जूड़ा बाँधते हुए कैसे सोहते हैं। जैसे मरकत मणि के पहाड़ पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ रहे हों॥ कटि में तरकस कसकर अपने लम्बे हाथों से धनुष को पकड़, बाण को सुधारते हुए प्रभु शत्रु की ओर इस तरह देख रहे हैं मानों हाथियों के समूह की ओर सिंह देखता हो॥ भारी-भारी योद्धा (यह कहते हुए कि) पकड़ो, पकड़ो, दौड़ते हुए समीप आ गये, जैसे (उदय-कालीन) बाल सूर्य को अकेला देखकर दैत्यगण घेर लेते हैं॥१८॥

विशेष—(१) 'कोदंड कठिन···'—पहले धनुष चढ़ाकर उसे कन्धे पर लटका लिया, तब जटाएँ बाँधीं और पीछे तरकस कसा, तब फिर हाथों में धनुष-बाण सुधार कर उसे लिये हुए राक्षसों की ओर देख रहे हैं।

(२) 'मरकत सैल पर···'—आपका श्याम शरीर मरकत-शैल के समान कान्तिमान्, गम्भीर एवं अचल है। तपस्वियों की जटाओं का अग्र भाग ललाई लिये होता है। इससे उन्हें बिजली के समान कहा है। श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ सर्प के शरीर और हथेलियाँ फण-रूपा है। दोनों हाथों से पकड़कर जटाओं को बाँध रहे हैं, यही मानों साँपों का बिजलियों से लड़ना है। 'चितवत मनहुँ ···', यथा—"मनहुँ मत्त गजगन निरखि, सिंहकिसोरहिं चोप॥" (बा० दो० २६७), 'गजराज-घटा', क्योंकि विशालकाय एवं बली राक्षस बहुत हैं। प्रभु सबको अकेले ही सिंह के समान उत्साह के साथ नष्ट करेंगे।

यहाँ परुषावृत्ति का प्रसंग है। साहित्य की रीति से इसमें टवर्ग अधिक पड़ना चाहिये। ट वर्ग के ट, ठ, ड, ढ और ण, ये सब एक ही चरण—'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत ··' में सब पड़ गये हैं, ऐसा पड़ना दुर्लभ है। चार स्पष्ट है। 'कोदण्ड' इस प्रकार शुद्ध लिखने में पाँचवाँ 'ण' भी है।

(३) 'आइ गये बगमेल···'—यहाँ बगमेल का अर्थ 'निकट' है, यथा—"हरषि परसपर मिलन हित, कछुक चले बगमेल।" (बा० दो० ३०५), यह कहीं-कहीं बाग मिलाये हुए दौड़ने के अर्थ में भी आता है, यथा—"मदन कीन्ह बगमेल।" (दो० ३७)। "सूरसजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं।" (क० लं० ३३), 'बाल-रविहि घेरत दनुज'—अधिक तेजवाले श्रीरामजी के समीप नहीं आ पाने और न सम्मुख देख ही सकते हैं। इसीसे दूत भेजकर बात करेंगे। सूर्य प्रातःकालीन घेरे हुए दैत्यों को जीत लेते हैं, वैसे श्रीरामजी इन्हें जीत लेंगे। यद्यपि विशेष प्रताप-प्रदर्शक तरुण-रवि कहना चाहिये था, पर अभी असुरों के प्रति प्रताप दिखाने का प्रारम्भ ही हुआ है। इससे बाल-रवि ही कहा है। पुनः इस रूपक के अनुरोध से भी बाल-रवि ही कहा है, यथा—"सन्ध्याकाले च सम्प्राप्ते रौद्रे परमदारुणे। मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम्॥५०॥ प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय रक्षसाम्। अक्षयत्वं शरीराणां मरणं च दिने-दिने॥५१॥ ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम्। ततो द्विजोत्तमास्तोयं संक्षिपन्ति महामुने॥५२॥ ॐकार ब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्। तेन दह्यन्ति ते पापा वज्रीभूतेन वारिणा

॥५३॥" (वि० पु० २।८), अर्थात् अत्यन्त दारुण और भयानक इस (प्रातः) सन्ध्याकाल के समय मन्देहा नामक घोर राक्षस सूर्य को खाने की इच्छा करते हैं। हे मैत्रेय ! उन्हें ब्रह्माजी का शाप है कि उनके शरीर अक्षय रहें और वे नित्य प्रति मरा करें। सन्ध्याकाल में सूर्य से उनका भीषण युद्ध होता है। उस समय ब्राह्मणलोग जो ब्रह्म स्वरूप ॐकार से संयुक्त गायत्री से अभिमन्त्रित जल छोड़ते हैं, उन वज्ररूप जल की बूँदों से वे दुष्ट राक्षस जल जाते हैं।

इस प्रसंग में नवों रसों के उदाहरण प्रकट हैं—(१) 'रुचिर रूप धरि··· '—शृंगार, (२) 'बोली बचन बहुत मुसुकाई।'—हास्य, (३) 'रूप भयंकर प्रगटत भई।'—भयानक, (४) 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा।'—वीभत्स, (५) 'खर दूषन पहिं गै बिलपाता।'—करुणा, (६) 'धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।'—वीर, (७) 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई।'—शान्त, (८) 'सूपनखहि आगे करि लीनी।'—रौद्र, (९)—'देखहि परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मखो।'—अद्भुत, (—यह आगे कहा है)।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर-धारी ॥१॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन ॥२॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते ॥३॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥४॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥५॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीयत भवन जाहु दोउ भाई ॥६॥
मोर कहा तुम ताहि सुनावहु। तासु बचन सुनि आतुर आवहु ॥७॥

अर्थ—प्रभु (महातेजस्वी श्रीरामजी) को देखकर वे लोग बाण नहीं चला सकते, (प्रत्युत इनके समक्ष) निशाचरों की सेना स्थगित हो गई, अर्थात् निश्चेष्ट की तरह खड़ी रह गई ॥१॥ मन्त्रियों को बुलाकर खर-दूषण ने कहा—ये कोई मनुष्यों में भूषण-रूप राजपुत्र हैं ॥२॥ नाग, असुर, देवता, मनुष्य और मुनि जितने हैं, हमने कितने को देखा, जीता और मार डाला ॥३॥ पर हे सब भाइयो ! सुनो, जन्म-भर में हमने तो ऐसी सुन्दरता नहीं देखी ॥४॥ यद्यपि हमारी बहन को इन्होंने कुरूपा (नकटी-बूची) कर डाला है, तथापि उपमारहित पुरुष ये वध करने के योग्य नहीं है ॥५॥ "दोनों भाई अपनी छिपाई हुई स्त्री को हमें तुरत दे दो और जीतेजी घर लौट जाओ" ॥६॥ यह मेरा कथन तुम (जाकर) उनसे सुनाओ और उनका वचन (प्रीति-उत्तर) सुनकर शीघ्र चले आओ ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु बिलोकि सर···'—प्रभु का तेज देखकर सब ठिठक रहे, यथा—"कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितये नहि जात भिया रे। छुवत सरासन सलभ जरै गो ये दिनकर वंस दिया रे॥" (गी० बा० ६६)। इससे बाण न चला सके। पुनः प्रभु के शोभा-माधुर्य पर मुग्ध हो रहे, यथा—"रामहि चितइ रहे थकि लोचन।" (बा० दो० २६८)—परशुरामजी। "थके नारि नर प्रेम पिया से। मनहुँ मृगी मृग देखि दिया से।" (अर० दो० ११५)। यहाँ के इसी माधुर्य भाव को लेकर—"सोभा सिंधु खरारी।" (बा० दो० १९१) कहा गया है। आपको देखकर मार्ग की सापिनें और बिच्छियाँ भी तीक्ष्णता छोड़ देती हैं, यथा—"जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहि बिषम बिष तामस तीछी॥" (अ० दो० २६१)। उनका प्रभाव राक्षसों पर पड़ा, तो आश्चर्य नहीं। 'धारी'—उस सेना को कहते हैं, जो लूटने-मारने को दौड़ी आती हो, यथा—"धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति···" (क० उ० ७५)। वह सेना भी ठिठक रही।

(२) 'सचिव बोलि बोले···'—श्रीरामजी का तेज-प्रताप देखकर इनको राजा समझा। शूर्पणखा ने श्रीलक्ष्मणजी से सुना भी था—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (दो० १६), उसने भी कहा ही होगा। इससे प्रतिष्ठा-पूर्वक मन्त्री को बुलाकर भेजा। पुनः इससे भी कि वह ठीक से समझा देगा। अत्यन्त सुन्दरता पर नर-भूषण कहा है, यथा—"पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन-सुखदाई॥" (बा० दो० ४०)।

(३) 'नाग असुर सुर नर···सुंदरताई।', यथा—"सुरनर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं॥" (बा० दो० २१६), नाग-असुर को देखा, सुरों को जीता, नरों और मुनियों को हता, अर्थात् मारा-खाया, पर उनमें कहीं भी किसीमें ऐसी सुन्दरता नहीं देखी गई। यहाँ शत्रु के मुख से सौन्दर्य की प्रशंसा किया जाना सौन्दर्य-पूर्णता का सूचक है। इसीसे सुन्दरता की सीमा दिखाने में जहाँ-तहाँ खरारी नाम आता है।

(४) 'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा।···'—यद्यपि इन्होंने वध करने के योग्य अपराध किया है, तथापि ये अनुपम पुरुष हैं, इसलिये वध के योग्य नहीं हैं। शास्त्र दृष्टि से किसी अंश में परिपूर्ण पदार्थ भगवद्विभूति समझे जाते है। अतएव, उनका नष्ट करना पाप समझा जाता है। इसी दृष्टि से खर-दूषण ऐसा कह रहे हैं कि इनमे सौन्दर्य पदार्थ पूर्ण है। इससे ये वध लायक नहीं हैं। 'अनूपा', यथा—"बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देव अस कोउ न आही। येहि छबि सखी पटतरिय जाही॥" (बा० दो० २१९)। "उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं।·· बल-बिनय-बिद्या-सील-सोभा-सिंधु इन्ह सम एइ अहैं॥" (बा० दो० ३११)।

(५) 'देहु तुरत निज नारि···'—साथ में स्त्री होने की बात शूर्पणखा ने जना दी है। 'दुराई' अर्थात हमारे डर से उसे छिपा रक्खा है, देने की इच्छा नहीं है, पर उसे दे दो, तो प्राणसहित लौट जाओ। स्त्री का अपराध किया है, इससे स्त्री लेगे और तुम्हें छोड़ देगे। 'जाहु दोउ भाई'—(भाव) चले जाओ, नहीं तो हम तो छोड़ देते हैं, पर यहाँ रहने से हमारा कोई निशाचर भक्षण कर लेगा। 'आतुर आवहु'—देर तक न खड़े रहना, नहीं तो अप्रतिष्ठा होगी।

दूतन्ह कहा राम सन जाई। सुनत राम बोले मुसुकाई॥ ८॥
हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह-से खल-मृग खोजत फिरहीं॥ ९॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं॥१०॥
जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक। मुनि-पालक खल-सालक बालक॥११॥
जौ न होइ बल घर फिरि जाहू। समर-बिमुख मैं हतौं न काहू॥१२॥
रन चढ़ि करिय कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई॥१३॥
दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ। सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ॥१४॥

अर्थ—दूतों ने श्रीरामजी से जाकर (वह सँदेशा) कहा। सुनते ही श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले॥८॥ हम क्षत्रिय है, वन में शिकार किया करते हैं, तुम्हारे समान दुष्ट रूपी मृगों (शिकार-पशुओं) को ढूँढ़ते-फिरते है॥९॥ हम शत्रु को बलवान् देखकर डरते नहीं (यदि लड़ने आवे, तो) एक बार काल से भी लड़ते है॥१०॥ हम यद्यपि मनुष्य है, तथापि दैत्यों के कुल के नाशक, मुनियों को पालन करनेवाले और दुष्टों को दुःख देनेवाले बालक है॥११॥जो (तुम लोगों में लड़ने का) बल न हो तो अपने घर लौट जाओ, लड़ाई मे मुँह फेरे (पीठ दिये) हुए किसीको मैं नहीं मारता॥१२॥ समर में चढ़ाई करके कपट

चातुरी और शत्रु पर कृपा करना महान् कादरपन है ॥१३॥ दूतों ने जाकर तुरत सब उत्तर कहा, सुनकर खर-दूषण का हृदय अत्यन्त जलने लगा ॥१४॥

विशेष—(१) दूतन्ह कहा राम सन···'—खर-दूषण ने मन्त्रियों से कहा था। वे ही कई मिलकर गये। दूत के काय मे गये, इसीसे दूत कहे गये, जैसे युवराज अंगद दूत के कार्य में दूत कहे गये हैं। 'सुनत राम बोले ··'—सुनते ही उत्तर दिया, क्योंकि खर के आज्ञानुसार दूतों ने उत्तर शीघ्र माँगा है।

(२) 'मुसकाई'—मुसकाना उनकी गीदड़भवकी पर है कि हमे बातों से ही डराना चाहते हो, हम ऐसे नहीं है, यथा—"रिपु बलवंत देखि नहि डरहीं।" यह आगे कहा ही है। सामान्य आदमी भी इज्जत के पीछे प्राण देता है, हम ऐसे है कि स्त्री देकर चले जायँगे ? नहीं जानते कि हम क्षत्रिय है ? वही आगे कहा है। इसपर भी हँसे कि अभी 'नृप बालक' मानते हो, जान के लाले पड़ेंगे, तब जानोगे। अतः, यहाँ हँसना निरादर के लिये है।

(३) 'हम छत्री मृगया बन···लरहीं ॥'—यह खर-दूषण के बल के प्रतिकार रूप में उत्तर है, यथा—"देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ॥ जो रन हमहिं प्रचारइ कोऊ। लहहिं सुखेन काल किन होऊ ॥ छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंक तेहि पाँवर आना ॥" (बा० दो० २८३), 'तुम्ह से खल' अर्थात् जो पर-स्त्री को ताकनेवाले राक्षस हैं। 'खोजत फिरहीं'—तुम तो स्वयं आ गये हो, तो कैसे छोड़ेंगे ?

(४) 'जद्यपि मनुज दनुज-कुल-घालक।'—उन्होंने कहा था कि आप नर-भूषण है, उसका यह उत्तर है। पुनः 'यह कोउ नृप बालक' का उत्तर—'मुनि-पालक खल-सालक बालक।' है।

(५) 'जौ न होइ बल ·····'—यह 'जीयत भवन जाहु दोउ भाई' का उत्तर है। 'काहू', यथा—"मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित् ॥" (भाग० १।७।३६), "न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः। तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम् ॥ ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः। विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः ॥" (महा० सौप्तिक० ५।११-१२), तथा—"न च सुप्तं प्रमत्तं वा न्यस्तशस्त्रं कृताञ्जलिं। धावन्तं मुक्तकेशं वा हन्ति पार्थो धनञ्जयः ॥" (महा० सौप्तिक० ९।१२५), "अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम्। पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥" (वाल्मी० ६।८०।३६), मनु० ७।९१-९३ में भी ऐसा ही कहा है। 'कपट चतुराई'—हमारे प्राण-रक्षा की ओट लेकर अपने प्राण बचाने की बाते करते हो, यह कपट-चातुरी है। 'रिपु पर कृपा परम कदराई'—कपट-चातुरी कदराई और शत्रु पर कृपा करना तो परम कदराई है, यथा—"न शत्रुरवमन्तव्यो दुर्बलोऽपि बलीयसा। योऽपि स्यात्पीठगः कश्चित्किं पुनः समरे स्थितः ॥" (महा० वन० २२।२३), अर्थात् बलवान को चाहिये कि शत्रु की उपेक्षा न करे, शत्रु निर्बल हो, वह चाहे घर में बैठा ही हो, तब भी न छोड़े और युद्ध में स्थित की तो बात ही क्या ?

(६) 'दूतन्ह जाइ तुरत·····'—क्योंकि—'तासु बचन सुनि आतुर आवहु।" यह आज्ञा थी। 'उर अति दहेउ'—भगिनी की दशा देखकर हृदय पहले से ही जला था, अब कपटी-कादर भी बनाया गया, तो अत्यन्त जल गया।

छन्द—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाये बिकट भट रजनीचरा।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसुधरा ॥
प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा।
भये बधिर ब्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा ॥

दोहा—सावधान होइ धाये, जानि सबल आराति।
लागे बरषन राम पर, अस्त्र-सस्त्र बहु भाँति॥
तिनके आयुध तिल-सम, करि काटे रघुबीर।
तानि सरासन श्रवन लगि, पुनि छाँड़े निज तीर॥१६॥

शब्दार्थ—तोमर = अस्त्र-विशेष, शर्पला, लकडी के डंडे में लोहे का फल लगा हुआ। परिघ = गँडासा, लोहाँगी। टँकोर = धनुष की प्रत्यंचा का शब्द जो तानकर छोडने से होता है। आराति = शत्रु। अस्त्र = वे हथियार जो दूर से फेके या चलाये जाते हैं, जैसे बाण, शक्ति, आदि। शस्त्र = निकट से प्रहार किये जानेवाले खड्ग, आदि। वा अस्त्र मन्त्रित और शस्त्र सामान्य हथियार।

अर्थ—(खर-दूषण का) हृदय जलने लगा तब (उन्होंने) कहा कि पकड़ो, (यह सुनकर) निशाचरों के विकट योद्धा बाण, धनुष, तोमर, शक्ति, शूल, कृपाण (द्विधारा खड्ग), लोहाँगी और फरसा धारण किये हुए दौड़े। प्रभु श्रीरामजी ने पहले ही धनुष का बड़ा कठोर और घोर भयंकर टंकार किया। निशाचर उस टंकार से बहरे और व्याकुल हो गये, उस समय उन्हें कुछ होश-हवास नहीं रहा॥ शत्रु को बलवान जानकर उन्होंने सावधान हो धावा किया; श्रीरामजी पर बहुत तरह के अस्त्र-शस्त्र बरसाने लगे॥ रघुवीर श्रीरामजी ने उनके हथियारों को काटकर तिल के समान कर डाला, फिर धनुष को कान तक खींचकर अपने बाण छोड़े॥

विशेष—(१) 'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर···', यथा—"प्रथम कीन्हि प्रभु धनुष टँकोरा। रिपु दल बधिर भयउ सुनि सोरा॥" (लं० दो० ६६), कठोर शब्दों से बहरे हो गये और घोर भयंकर शब्दों से व्याकुल हो गये। टंकार का शब्द जब तक कानों में गूँजता रहा, तब तक होश नहीं रह गया, यथा—"सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥" (बा० दो० २६१)। आज राम-धनुष का प्रथम टंकार है, इससे पहले मारीच-सुबाहु-समर में टंकार की आवश्यकता नहीं थी।

(२) 'सावधान होइ धाये·····'—पहले असावधानी से धाये थे, यथा—"धाये बिकट भट···" जब टंकार सुना, तब सबल शत्रु जानकर सावधानी से दौड़े। 'लागे बरषन राम पर···', यथा—"ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन् रक्षसां गणाः॥ शैलेद्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।" (वाल्मी० ३।२५।१०-११), वर्षा से पहाड़ की हानि नहीं होती, वैसे इन शस्त्रों से श्रीरामजी की कुछ हानि न होगी।

(३) 'तिनके आयुध तिल···'—राक्षसों के शस्त्रास्त्र लोहे के हैं, उन्हें तिल के समान छोटे-छोटे कर डाला, लोहे और तिल का रंग काला होता ही है। आयुधों के काटने की वीरता पर 'रघुबीर' कहा है। 'पुनि छाँड़े निज तीर'—पहले प्रहार से उनके आयुध काटे थे, अब अपनी ओर से बाण चलाकर उन्हें काटेंगे।

छन्द—तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल।
कोपेउ समर श्रीराम। चले बिसिख निसित निकाम॥
अवलोकि खरतर तीर। मुरि चले निसिचर बीर।
भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ। जो भागि रन ते जाइ॥

तेहि बधब हम निज पानि। फिरे मरन मन महँ ठानि।
आयुध अनेक प्रकार। सनमुख ते करहिं प्रहार॥

शब्दार्थ—निसित (निशित) = चोखा, तेज। निकाम = अत्यन्त, पर्याप्त।

अर्थ— तब श्रीरामजी के भयंकर बाण चले, मानो बहुत-से साँप फुफकारते हुए चले जाते हों। श्रीरामजी ने युद्ध में क्रोध किया, तब उनके अत्यन्त तीक्ष्ण बाण चलने लगे॥ अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों को देखकर वीर राक्षस मुँह फेर कर भाग चले। इसपर तीनो भाई (खर-दूषण-त्रिशिरा) बड़े क्रुद्ध हुए (और बोले) कि जो युद्ध से भागकर जायगा॥ उसका वध हम अपने हाथों से करेंगे, तब वे मन से अपना मरना निश्चित करके लौटे और सामने आकर अनेक प्रकार से हथियार चलाने लगे॥

विशेष—(१) यह तोमर छन्द है, इसके प्रत्येक चरण में १२-१२ मात्राएँ होती हैं और उन प्रत्येक के अन्त में क्रमशः गुरु-लघु वर्ण रहते हैं। युद्ध प्रसंग में यह संगत है, क्योंकि तोमर भी एक आयुध का नाम है।

(२) 'फुंकरत जनु बहु ब्याल'—राक्षसों के बाणों को वर्षा कहा था और श्रीरामजी के बाणों को विषैले क्रोधी सर्पों की उपमा दी। भाव यह कि वर्षा से पर्वत की कुछ हानि नहीं होती, वैसे राक्षसों के प्रहार से श्रीरामजी की हानि न होगी। पर श्रीरामजी के सर्प के समान बाण राक्षसों के प्राण ही लेंगे, यथा—"राम बान अहि गन सरिस, निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न तब लगि ·" (सुं० दो० ३६); 'फुंकरत' से सक्रोध और विषैले होना जनाया। 'चले बिसिष' तो कहा गया, पर उनका लगना नहीं कहा गया, क्योंकि राक्षस गण 'मुरि चले'। तब पीठ दिये हुए राक्षसों पर वे बाण न लगे, क्योंकि श्रीरामजी की आज्ञा है, यथा—"समर बिमुख मैं हतउ न काहू।" ऊपर कहा गया है। 'कोपेउ समर श्रीराम'—राम में कोप कहाँ? पर समर में कोप से शोभा है, इसलिये कोप किया। अतः, शोभावाचक 'श्री' शब्द लगाया गया। कोप का स्वरूप वाल्मी० ३।२४।३४-३५ में लिखा है कि जैसे प्रलयाग्नि हो एवं दक्ष-यज्ञ का नाश करने में रुद्र ने कोप किया हो।

(३) 'मुरि चले निसिचर बीर'—पीठ देने पर भी उन्हें वीर कहा गया, इससे राम-बाण का प्रभाव कहा कि वीरों ने भी पीठ दे दी। वीर न मुड़ते तो बाणों की कौन बड़ाई थी, यथा—"नहि गजारि जस बधे सृगाला।" (ल० दो०२६)।

(४) 'भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ'—ये तीनो नहीं मुड़े थे, तीनो तीन दिशाएँ घेरे हुए हैं, चौथी दिशा से लड़ाई हो रही है। मरना निश्चय करके फिरे कि भागने पर भी तो मरना ही पड़ेगा तो यश के साथ क्यों न मरें यथा—"सनमुख मरन बीर कै सोभा।" (लं० दो० ४०), इसीसे सामने से प्रहार करने लगे।

रिपु परम कोपे जानि। प्रभु धनुष सर संधानि।
छाड़े बिपुल नाराच। लगे कटन बिकट पिसाच॥
उर सीस भुज कर चरन। जहँ तहँ लगे महि परन।
चिक्करत लागत बान। धर परत कुधर समान॥
भट कटत तन सतखंड। पुनि उठत करि पाखंड।

नभ उड़त बहु भुजमुंड । बिनु मौलि धावत रुंड ॥
खग कंक काक सृगाल । कटकटहिं कठिन कराल ॥

अर्थ—शत्रु को अत्यन्त कुपित जानकर प्रभु श्रीरामजी ने धनुष में बाण का अनुसन्धान (चढ़ा) करके बहुत-से नाराच नाम के बाण छोड़े, उनसे विकट पिशाच रूप भयंकर राक्षस कटने लगे ॥ छाती, सिर, भुजाएँ, हाथ, पैर जहाँ-तहाँ पृथ्वी पर कट-कटकर गिरने लगे। बाण लगने पर राक्षस चिंघाड़ते है, उनके धड़ (सिर बिना शरीर) पहाड़ के समान गिर रहे हैं ॥ योद्धाओं के शरीर कट-कटकर सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं, परन्तु फिर माया करके उठ जाते हैं। आकाश में बहुत-सी भुजाएँ और सिर उड़ रहे हैं, बिना सिर के धड़ मात्र दौड़ रहे है ॥ पक्षी-चील-कौए तथा गीदड़ कठिन और भयंकर कट्ट-कट्ट शब्द कर रहे है ।

विशेष—(१) 'परम कोपे'—क्योंकि फटकारे भी गये और अब मरने पर तुल गये हैं। 'प्रभु धनुष सर संधानि···'—पहले तीर छोड़े थे, तब राक्षस भागे थे। इससे बाण चलाना बन्द कर दिया था, क्योंकि समर-विमुख को नहीं मारते, यह आपका नियम है। जब शत्रु सन्मुख आये, तो अब फिर प्रहार करते हैं, किन्तु अब बाणों में "पाँच पंखवाले नाराच का प्रहार करते हैं। इनका चलाना बड़ा कठिन है, ये बाण लोहे के ही होते है। अन्य बाण चार पंखवाले होते हैं"—(हि० श० सा०)।

(२) 'लगे कटन ··'—अब कटने के भेद कहते हैं—(१) उर में बाण लगते ही चिंघाड़ते हैं और सिर कटते ही उनके धड़ पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। किसीके साथ ही उर आदि पाँचों अंग कट जाते हैं। (२) 'भट कटत तन सत खंड'—ये मायावी हैं, सौ टुकड़े होने पर भी माया से उठ खड़े होते हैं, मानों कटे ही न थे। पाखंड का अर्थ माया है, यथा—"कृत माया बिस्तार ॥ जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड।" (लं० दो० ९९)। पहले पाँच ही खंड कहे गये, ये सैकड़ों खंड हो जाते हैं। (३) 'नभ उड़त बहु भुज मुंड·····'—इनके सिर, भुजाएँ आदि आकाश ही में उड़ते है, भूमि पर नहीं आने पाते, इत्यादि। 'खग कंक काक ···· '—ये उपर्युक्त पहले प्रकार के ही राक्षसों को खाने आये, क्योंकि दूसरे और तीसरे प्रकार के राक्षस तो इन्हें मिलते ही नहीं थे ।

छन्द—कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं ।
बेताल बीर-कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं ॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज सिरा ।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धर धरुधरु करहिं भयकर गिरा ॥
अंतावरी गहि उड़त गीध-पिसाच कर गहि धावहीं ।
संग्राम-पुरबासी मनहुँ बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं ॥

अर्थ—गीदड़ (सियार) कटकट (शब्द) करते हैं, भूत-प्रेत और पिशाच खप्पड़ में मांस-रक्त, मज्जा आदि जमा करते हैं। बेताल (भूतों की एक योनि) वीरों की खोपड़ियों से ताल बजाते हैं और योगिनियाँ (उनपर) नाच रही हैं ॥ रघुवीर श्रीरामजी के प्रचड-बाण योद्धाओं के कलेजों, भुजाओं और सिरों को टुकड़े-टुकड़े काटते हैं। (वे टुकड़े) जहाँ-तहाँ गिरते हैं, फिर उनके धड़ उठकर लड़ते हैं और सिर पकड़ो, पकड़ो ऐसा भयंकर शब्द करते हैं ॥ गीध अँतड़ियों को पकड़कर उड़ते हैं और (उनके

नीचे के छोर) हाथों से पकड़कर पिशाच दौड़ते हैं। मानों संग्राम-रूपी गाँव के रहनेवाले बहुत-से बालक पतंग उड़ा रहे हों ॥

विशेष—(१) 'जोगिनि नचहीं'—कालिका पुराण में योगिनियाँ ६४ कही गई है, वे नाच रही हैं।

शंका—यहाँ तो उर, भुज, सिर से अलग हुए रुंड फिर उठ खड़े हो जाते है, तो जम्बुक आदि खाते किसको हैं ?

समाधान—जो अंग कटते हैं, वे पड़े ही रहते हैं, दूसरे शरीर तैयार हो जाते है। जैसे आगे रावण के सिर-बाहुओं का दसो दिशाओं में भर जाना कहा जायगा और फिर-फिर उसके नये-नये सिर-भुज होते जायँगे।

(२) 'धर धरुधरु करहि भयकर गिरा।'—यहाँ 'धर' धड़ के अर्थ मे है, यथा—"धर परत कुधर समान" (उपर्युक्त)। इन राक्षसों के हृदय में धरने की बात पहले से समाई हुई थी, वही सिर कटने पर भी उनके मुख से निकल रही है, यथा—"कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। ···धरहु धरहु धावत सुभट·····कहेउ कि धरहु धाये··· ·" इत्यादि। 'भयकर'—इसलिये कि इससे श्रीरामजी डर जायँ।

(३) 'अंतावरी गहि·····'—गीध समूह गुड्डियाँ हैं, अँतड़ी डोर और पिशाचगण पुर-बालक है। यहाँ वीभत्स-प्रसंग को भी कवि-शिरोमणि ने क्रीड़ा की उपमा से माधुर्य मे ढाल दिया है, ऐसे ही और जगह भी, यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई ॥" (अ० दो० १६९), तथा—"रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ।" (लं० दो० १०२), इत्यादि कवित्व की सूक्ष्म चातुरी है।

मारे पछारे उर बिदारे बिपुल भट कहरत परे।
अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे ॥
सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं।
करि कोप श्रीरघुबीर पर अगनित निसाचर डारहीं ॥
प्रभु निमिष महँ रिपु सर निवारि प्रचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचर-नायका ॥

शब्दार्थ—पछारे = गिराये (बाणो से)। कहँरत = पीडा से आह-आह करते हैं।

अर्थ—मारे हुए, गिराये हुए और हृदय फटे हुए बहुत-से वीर पड़े कँहरते है। अपने दल को व्याकुल देखकर त्रिसिरा आदि योद्धा और खर-दूषण ने उधर मुँह फेरे, अर्थात् ये भी आ झुके। अगणित निसाचर कुपित होकर एक बार ही बाण, शक्ति, तोमर, फरसा, शूल और कृपाण रघुवीर श्रीरामजी पर फेंक रहे है ॥ प्रभु श्रीरामजी ने क्षण-भर मे शत्रु के बाणों को निवारण करके और ललकारकर अपने बाण छोड़े। समस्त निशाचरों के सेनापतियों की छातियों मे दस-दस बाण मारे।

विशेष—'तिसिरादि खर-दूषन फिरे'—स्वामित्व के कार्य में खर-दूषण आगे कहे गये, यथा—"खर दूषन पहिं गै बिलपाता।", "सुनि खर-दूषन उर अति दहेऊ।", "सचिव बोलि बोले खर-दूषन।", इत्यादि। मर्यादा-रक्षण के अवसर पर तीनो भाई समान रहे, यथा—"भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ।" और यहाँ

रण-संकट में छोटा भाई त्रिशिरा आगे है, क्योंकि उसका धर्म है कि बड़े को कष्ट न होने दे, यथा—"कौसलेस-सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहि संग्रामा॥" (कि० दो० ६), इसमें भी रण-सम्बन्ध से श्रीलक्ष्मणजी आगे कहे गये है।

(२) 'एकहि बारहीं···'—पहले राक्षसों ने देख लिया कि ये आयुध नष्ट करने में निपुण हैं, यथा—"तिन्हके आयुध तिल सम, करि काटे रघुबीर।" (दो० १९), इसलिये अब सब एक-साथ ही प्रहार करते हैं कि जिससे रोक न पावे। पर प्रभु ने निमिष में ही सबको निवारण कर दिया, इसीसे शोभा-सूचक 'श्री' इस विशेषण के साथ रघुबीर पद दिया गया है कि आप श्रीमान्, वीर हैं। 'प्रचारि'—सचेत करके, यह युद्ध की श्रेष्ठ नीति है।

(३) 'दस दस बिसिष ··'—ये तीनों सब रावण के समान बली है, यथा—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" (दो० २२), रावण को दस-दस बाण मारे गये है, यथा—"दस दस बान भाल दस मारे।" (लं० दो० ९०), पुनः, एक-साथ भी रावण को तीस बाण मारे गये हैं, यथा—"तीस तीर रघुबीर पँवारे।" (लं० दो० ९०), यहाँ भी तीनों भाइयों के प्रति १०×३=३० बाण हुए।

महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवध-धनी॥
सुर-मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यौ।
देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपु-दल लरि मर्यौ॥

दोहा—राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्बान।
करि उपाइ रिपु मारे, छन महँ कृपा-निधान॥
हरषित बरषहिं सुमन सुर, बाजहिं गगन निसान।
अस्तुति करि करि सब चले, सोभित बिबिध बिमान॥२०॥

अर्थ—राक्षस योद्धा पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, फिर उठकर भिड़ पड़ते हैं, मरते नहीं, प्रत्युत अत्यन्त घनी माया करते है। प्रेत रूप भयंकर राक्षस तो १४ हजार हैं और श्रीअवध के स्वामी श्रीरामजी अकेले—यह देखकर देवता डरते है॥ मायानाथ प्रभु ने देवताओं और मुनियों को भयभीत देखकर अत्यन्त खेल किया। (जिससे) शत्रु-दल सब एक-दूसरे को श्रीराम-रूप-देखकर आपस में ही संग्राम करके लड़ मरे॥ सब 'राम-राम' कहते हुए ('यह राम है, इसे मारो' ऐसा कहते हुए) शरीर छोड़ते हैं और निर्वाण (कैवल्य-मोक्ष) पद पाते हैं। ऐसा उपाय करके कृपा-सागर श्रीरामजी ने क्षण-भर में शत्रुओं को मार डाला॥ प्रसन्न होकर देवता फूल बरसाते है और आकाश में नगाड़े बज रहे है। श्रीरामजी की स्तुति कर-करके तरह-तरह के विमानों पर सुशोभित सब देवता चल दिये॥२०॥

विशेष—(१) 'महि परत उठि भट भिरत··'—१४ हजार हैं, वे सभी फिर-फिर जी उठते है, यही अति घनी माया है, इससे एवं भयंकर होने से इन्हें प्रेत कहा है कि उतने ही बने है। कहा जाता हैं कि इन्हें श्रीशिवजी का वरदान था कि तुम किसी दूसरे के मारने से न मरोगे। आपस में ही लड़ोगे, तभी मरोगे और परस्पर वैर भी न होगा। 'अवध धनी'—क्योंकि देवताओं की दृष्टि माधुर्य पर ही है, इसीसे वे डरते है, क्योंकि उन्होंने इन्हें श्रीअवध-मात्र का स्वामी माना है।

(२) 'सुर-मुनि सभय प्रभु देखि ···'—सुन-मुनि ही है, यहाँ नर नहीं हैं, राक्षसों के भय से यहाँ सामान्य नर न रहते थे। 'मायानाथ'—राक्षस लोग अति घनी माया करते है, पर ये तो माया के नाथ हैं। अतः, न मोहे। पुनः ये मायानाथ हैं, फिर भी माया न की, किन्तु कौतुक किया, जिससे वे परस्पर एक-दूसरे को राम-रूप देखते हुए लड़ मरे। वाल्मीकीय रामायण से भी यह कौतुक ऐसा ही सिद्ध होता है, जैसा कि अकम्पन ने रावण से कहा है, यथा—"येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः॥ तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम्। इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ॥" (वाल्मी० ३।३१। १९-२०), यहाँ अद्भुत-रस है।

(३) 'राम राम कहि तनु तजहिं···'—ये परस्पर युद्ध करके मरे, राम-बाण से नहीं मरे थे, इससे मुक्ति न होती, किन्तु 'राम-राम' कहते हुए मरे। अतः, नाम-माहात्म्य से मुक्त हुए। लंका में बाणों द्वारा मुक्ति होगी, यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (सुं० दो० ३)। 'कृपानिधान'—क्योंकि क्षण-मात्र के कौतुक में महान् पापियों को मुक्त किया, उन्हें कष्ट न भोगने पड़े। पुनः देवताओं और मुनियों को भी अभय किया। यहाँ अनखभाव से नामोच्चारण का माहात्म्य है।

(४) 'हरषित बरषहि सुमन सुर···'—कार्य के पूर्ण होने से हर्षित होकर फूल बरसाना कहा है। अधूरा होता तो मलिन-मन से बरसाते, यथा—"भरतहि प्रसंसत बिबुध बरसत सुमन मानस मलिन से।" (अ० दो० ३०१)। 'अस्तुति करि करि' अर्थात् प्रत्येक ने पृथक्-पृथक् स्तुति की। 'सोभित बिबिध बिमान'—इस युद्ध से उन्हें आनन्द हुआ, इससे शोभित है, यथा—"बरषा घोर निसाचर-रारी। सुरकुल सालि सुमंगलकारी॥" (बा० दो० ४१)। इनका स्तुति करना—वाल्मी० ३।३०।३८-३६ में कहा गया है।

जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर-नर-मुनि सबके भय बीते॥१॥
तब लछिमन सीतहि लै आये। प्रभु-पद परत हरषि उर लाये॥२॥
सीता चितव स्याम मृदु गाता। परम प्रेम लोचन न अघाता॥३॥
पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुरमुनि सुखदायक॥४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने जब युद्ध में शत्रुओं को जीता और सुर, नर, मुनि सबके भय निवृत्त हुए॥१॥ तब श्रीलक्ष्मणजी श्रीसीताजी को लेकर आये, चरणों में पड़ते ही प्रभु श्रीरामजी ने हर्ष के साथ उनको अपने हृदय से लगा लिया॥२॥ श्रीसीताजी परम प्रेम से श्रीरामजी के श्यामल-कोमल शरीर के दर्शन कर रही हैं, उनके नेत्र तृप्त नहीं होते॥३॥ पञ्चवटी में निवास कर श्रीरामजी सुर-मुनियों को सुख देनेवाले चरित कर रहे हैं॥४॥

विशेष—(१) 'सुर-नर-मुनि सबके भय बीते।'—समर के समय भी इन्हें भय था, यथा—"सुर-मुनि सभय प्रभु देखि ···" ऊपर कहा है। पहले कहा गया—"अब प्रभु चरित सुनहुँ अति पावन। करत जे बन सुरनरमुनि भावन॥" (दो० १), "चले बनहि सुरनरमुनि ईसा॥" (दो० ६), वही 'सुरनरमुनि' पद देकर यहाँ सूचित करते है कि इन्हींको रक्षा के लिये चले थे, वही कार्य पूरा किया। यद्यपि रावणादि अभी जीवित ही हैं, तथापि रावण-समान खरादि के मरने पर रावणादि के मरने का भी विश्वास हो गया, इससे इन सबके भय दूर हो गये।

(२) 'प्रभु-पद-परत····'—श्रीलक्ष्मणजी विजय-प्राप्त स्वामी श्रीरामजी के चरणों में पड़े। प्रभु ने अपने सहृदय भाई को हृदय से लगा लिया।

(३) 'सीता चितव स्याम···'—ये स्त्री-भाव की शृंगार-दृष्टि से देख रही है, यथा—"नारि

बिलोकहिं हरषि हिय। निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥" (बा० दो० २४१), श्याम वर्ण शृंगार का रूप कहा गया है, यथा—"भ्रु पर मसि-बिंदु बिराज। जनु ·· रक्षक राखे रसराज।" (गी० बा० १९), 'परम प्रेम'—प्रेम तो सदा ही रहता है। पर आज स्वामी विजयश्री सहित हैं। अतः, परम प्रेम है, यथा—"बभूव हृष्टा वैदेही भर्त्तारं परिषस्वजे। मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान्। रामं चैवाव्ययं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥" (वाल्मी० ३।३०।३९--४०)।

इस प्रसंग में नवों रसों का वर्णन है। (१) 'रुचिर रूप धरि···'—शृंगार, (२) 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता।'—हास्य, (३) 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा।'—वीभत्स, (४) 'एक बार कालहु सन लरहीं।'—वीर, (५) 'कोपेउ समर श्रीराम।'—रौद्र, (६) 'उर सीम भुज ··लगे महि परन।'—भयानक, (७) 'देखहि परस्पर राम करि '—अद्भुत, (८) 'राम राम कहि तनु तजहिं···'—करुणा (मरते समय 'राम, राम' कहना करुणा सूचक भी है।), (९) 'सुर-नर-मुनि सबके भय बीते।'—शान्त।

(४) 'करत चरित सुरमुनि सुखदायक।'—यहाँ 'सुरमुनि' मात्र ही कहा गया है। उपर्युक्त चौ० १ के अनुरोध से 'नर' भी लेना चाहिये।

खर-दूषणादि के युद्ध-प्रसंग के बहुत अंश रावण के युद्ध-प्रसंग से मिलते हैं, जिससे—"खर-दूषन मो सम बलवंता।" यह चरितार्थ होता है, पर मैंने यहाँ विस्तार-भय से वह वृहद् मिलान-प्रसंग नहीं लिखा।

'जिमि सब मरम दसानन जाना'-प्रकरण

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा ॥५॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥६॥
करसि पान सोवसि दिन-राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥७॥

शब्दार्थ—धुआँ = धुर्री एवं धज्जी-धज्जी उड़ना, नाश होना, नाश के अर्थ में यह अवधी मुहावरा है, यथा—'हम तुम्हारा धुआँ (नाश) देखेंगे'। प्रेरा = उत्तेजित किया।

अर्थ—खर-दूषण का नाश देखकर शूर्पणखा ने जाकर रावण को उत्तेजित किया ॥५॥ वह भारी क्रोध करके वचन बोली—तूने तो देश और खजाने की सुध ही भुला दी ॥६॥ तू मदिरा पीता है और दिन-रात सोता है, तुझे यह खबर नहीं कि शत्रु तेरे सिर पर चढ़ आया है ॥७॥

विशेष—(१) 'बोली बचन क्रोध करि भारी।'—खर-दूषण से क्रोध करके बोली थी,—"धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता।" और यहाँ 'भारी' क्रोध करके बोली। 'देस कोस कै···'—खर-दूषणादि मारे गये, शत्रु ने जन-स्थान देश ले लिया, अब कोष भी लेगा, तुझे कुछ खबर ही नहीं!

(२) 'करसि पान सोवसि ··'—राज्य-कार्य से बेखबर रहना कि इन्द्रादि भी तो मेरे वश हैं, मुझे क्या डर है, इत्यादि नीति-विरुद्ध है, इसलिये आगे नीति कहती है। धर्मोपदेश करना बहन का धर्म भी है, यथा—"यदा यदा हि कौसल्या दासीव च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति।···" (वाल्मी० २।१२।६८–६९), इसमें भगिनी-रूप में धर्मोपदेश करना ही लिया गया है।

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥ ८ ॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम-फल पढ़े किये अरु पाये ॥ ९ ॥
संग ते जती कुमंत्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा ॥१०॥

प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी ॥११॥

सोरठा—रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिय न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन ॥

शब्दार्थ—प्रनय (प्रणय)=यह प्रीति के आठ अंगों में आदि है, यथा—"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, जानब अंग बिभाग ॥" इनमें—"मम तव तव मम प्रणय यह" अर्थात् 'मेरा सब कुछ तुम्हारा है और तुम्हारा सब मेरा है' ऐसा भाव होना प्रणय है। यती=मोक्ष के लिये यत्न करता हुआ सर्वस्व त्यागी। संग=विषयासक्ति।

अर्थ—बिना नीति के राज्य करना और बिना धर्म के धन की प्राप्ति, हरि के समर्पण किये बिना किया हुआ सत्कर्म ॥८॥ बिना विवेक उत्पन्न किये (पढ़ी हुई) विद्या, इनके पढ़ने, करने और पाने का परिश्रम-मात्र ही फल है, अर्थात् सब व्यर्थ है ॥९॥ विषयासक्ति से संन्यासी, बुरी सलाह से राजा, अभिमान से ज्ञान, मदिरा-पान से लज्जा ॥१०॥ प्रणय के बिना प्रीति और मद से गुणवान् का शीघ्र नाश होता है—ऐसी नीति मैंने सुनी है ॥११॥ शत्रु, रोग, अग्नि, पाप, प्रभु (समर्थ राजा) और साँप, इनको छोटा करके न जानना चाहिये—ऐसा कहकर अनेक प्रकार के विलाप करती हुई वह रोने लगी ॥२१॥

विशेष—(१) 'राज नीति बिनु···', यथा—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० १११), तथा—"दौर्मन्त्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनाद्, विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्। ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्, मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥" (भर्तृहरि नीतिशतक ४२), अर्थात् कुमन्त्रियों से राजा, विषयासक्ति से संन्यासी, दुलार से पुत्र, न पढ़ने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, खल की सेवा से शील, मद्यपान से लज्जा, बिना देख-भाल से खेती, परदेश में रहने से स्नेह, प्रणय हीनता से मित्रता, अनीति से वृद्धि और प्रमाद पूर्वक लुटाने से धन नष्ट होते हैं। रावण को नीति में असावधान कहकर उपदेश देना प्रारम्भ किया। इससे नीति को ही प्रथम कहा, क्योंकि इसीका प्रस्तुत प्रसंग है। शेष बातें इसीकी पुष्टि में उदाहरण के लिये एवं लोकशिक्षा के लिये कही गई हैं। 'धन बिनु धर्मा'—धन पाकर यदि उसे धर्म में न लगाया, तो उसका पाना व्यर्थ ही है, क्योंकि—"सो धन धन्य प्रथम गति जाकी।" (उ० दो० १२६), प्रथम गति=सुकृत में लगना, तथा—"दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥" (भर्तृहरि नीतिशतक ४३), अर्थात् दान, भोग और नाश, धन की ये तीन ही गतियाँ हैं। जो न देता है, न खाता है, उसकी तीसरी गति (नाश) होती है। 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।', यथा—"कृतः पुनः शश्वद्भद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥" (भाग० १।५।१२), अर्थात् निष्काम कर्म भी कल्याण स्वरूप भगवान् को अर्पण बिना कैसे शोभा पा सकता है। तथा भाग० २।४।१७ एवं ८।५।४७ में भी ऐसा ही कहा गया है। भानुप्रताप विधिवत् करते थे, यथा—"करइ जो धर्म करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृपज्ञानी ॥" (बा० दो० १५५)।

(२) 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाये।'—विवेक न हुआ तो विद्या वन्ध्या ही रह गई। अतः, उसके पढ़ने का श्रम व्यर्थ हुआ। 'श्रम-फल पढ़े किये अरु पाये।'—इसमें विपरीत क्रमालंकार है, विद्या के साथ 'पढ़े', सत्कर्म के साथ 'किये' और धन एवं राज्य के साथ 'पाये' को लगाना चाहिये।

'धन बिनु धरमा' से कर्मकाण्ड, 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।' से उपासनाकाण्ड और 'बिद्या बिनु बिबेक ···' से ज्ञानकाण्ड कहा गया है।

(३) 'संग ते जती', यथा—"संग से कामना, कामना-हानि से क्रोध, क्रोध से मोह आदि की अनर्थ-परम्परा होती है"—(गीता २।६२-६३), 'कुमंत्र ते राजा', यथा—"कहहि सचिव सब ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव येही भाँती ॥" (लं० दो० ८), 'मान ते ज्ञान', यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४), अर्थात् ज्ञान में तो एक भी मान न चाहिये। 'पान ते लाजा'—इसने अभी ही कहा है—"करसि पान सोवसि दिन राती।" फिर यहाँ नीति के अंग मे भी कहा कि इससे लज्जा नहीं रहती, अर्थात् इसीसे तू निर्लज्ज हो गया है, तभी तो मेरी इस दशा पर भी तुझे लाज नहीं है, यथा—"सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेखी ॥" (लं० दो० ३४), 'प्रीति प्रनय बिनु'—प्रणय-युक्त प्रीति के उदाहरण में विभीषणजी हैं, यथा—"देस कोस मदिर संपदा। देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा ॥ सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय।" इसपर श्रीरामजी ने कहा है—"तोर कोस गृह मोर सब ···" (लं० दो० ११५), इस तरह भाव के बिना प्रीति नहीं रहती। 'नीति अस सुनी' अर्थात् यह पढ़ी हुई नहीं थी, इससे 'सुनी' ऐसा कहा है।

अलंकार—'दीपक', क्योंकि 'नासहिं' यह धर्म, राजा वर्ण्य और शेष अवर्ण्य सभी का एक है।

(४) 'रिपु रुज पावक '—इनमें 'रिपु' और 'प्रभु' दो ही प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य हैं, शेष इनकी पुष्टि के लिये और लोकशिक्षा के लिये हैं। इसने पहले ही कहा था—"सुधि नहिं तव सिरपर आराती।" इससे रिपु को ही प्रथम कहा। इसीका मुख्य प्रयोजन है। शत्रु श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी समर्थ एवं राजा भी है, इससे उन्हें 'प्रभु' भी कहा है कि इनकी छोटी अवस्था एवं मनुष्यत्व को अल्पता पर न भूल जाना। अग्नि, रोग और पाप थोड़े से भी शीघ्र बढ़ जाते है और असाध्य हो जाते है, सर्प छोटा भी विषैला होता ही है। वैसे वैरी और राजा से भी सावधान रहना ही चाहिये, यथा—"बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा ॥" (बा० दो० १५९), तथा—"न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा। अल्पोऽपि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥" (महा० शान्ति ५८।१७), अर्थात् बलवान् पुरुष को निर्बल शत्रु की कदापि अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अग्नि थोड़ा भी भस्म करता है और विष थोड़ा भी प्राणों का नाश करता ही है। अ० दो० २२८ चौ० २ देखिये। 'लागी रोदन करन'—कि जिससे रावण इन बातों पर अवश्य ध्यान दे।

जैसे लंकिनी को श्रीहनुमानजी के मुष्टिका-स्पर्श से विवेक हुआ था, वैसे इसे नाक-कान-कटने में श्रीलक्ष्मणजी के स्पर्श से विवेक हुआ, इससे इसने विवेक की बाते कही हैं, यथा—"साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापराशि नसाइये।···अमानतादिक गुन भये।" (वि० १३६।१०)।

दोहा—सभा माँझ परि ब्याकुल, बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकंधर, मोरि कि असि गति होइ ॥२१॥

सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई ॥१॥
कह लंकेस कहसि निज बाता। केइ तव नासा कान निपाता ॥२॥

अर्थ—वह सभा के बीच में व्याकुल पड़ गई और बहुत तरह से रोकर कहती है कि अरे दस कन्धोंवाला रावण! तेरे जीते जी क्या मेरी ऐसी दशा हो? ॥२१॥ यह सुनते ही सभासद व्याकुल हो उठे, उन्होंने उसे समझाया और बाँह पकड़कर उठा लिया ॥१॥ लंकेश रावण ने कहा कि अपनी बात तो कह—किसने तेरी नाक और कान काट लिये हैं? ॥२॥

विशेष—(१) 'तोहि जियत ···'—तेरे ऐसे समर्थ विश्व-विजयी के रहते बहन की यह दशा हो, अनाथा की तरह मैं रहूँ, मेरी नाक और कान कटने पर भी एक सिर और दो बाहुवाला जीता रहे! तू तो दस कन्धोंवाला है, चलकर मेरा बदला चुका, अन्यथा तेरा मर जाना अच्छा है। 'असि गति' का ऐसा भी भाव है कि वह अभी तक मुँह ढँके हुई थी, अब पूरी बातें कहकर मुँह खोला और दिखा रही है कि मेरी ऐसी दुर्दशा हुई, क्योंकि छिपाये न होती तो रावण अभी तक चुप न रहता।

(२) 'उठे अकुलाई'—व्याकुल हो उठे कि कोई असाधारण शत्रु पैदा हो गया, अन्यथा रावण के डर से तो सभी काँपते हैं, उसकी बहन के नाक-कान काटने का साहस कैसे करते? 'समुझाई गहि बाँह उठाई'—समझाया, फिर बाँह पकड़कर उठा लिया, तब उठी। इससे जाना गया कि राक्षसों में मर्यादा का विचार बहुत कम था कि महाराजा की बहन वन-वन में घूमती थी, फिर सभा में आ गिरी और सभासदों ने बाँह पकड़कर उठा लिया।

(३) 'कह लंकेस'—लंका का राजा है, राजा नीति जानते है, इसीसे नीति को मानते हुए उसने पूछा। 'निज बाता'—भाव यह कि इधर-उधर की तो बहुत कही, पर अपनी बात कुछ न कही। यह तो कह कि ये नाक-कान किसने काटे? भाव यह कि औरों को नीति सिखाती है और स्वयं नाक-कान कटा आई। इसने सभासदों से न कहा था, अब रावण के पूछने पर कहेगी, क्योंकि इसीको प्रेरणा करने तो आई ही है, यथा—"जाइ सुपनखा रावन प्रेरा" यह कहा गया है।

अवध-नृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये ॥३॥
समुझि परी मोहि उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी ॥४॥
जिन्हकर भुज-बल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन ॥५॥
देखत बालक काल-समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना ॥६॥
अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता। खल-बध-रत सुर-मुनि-सुखदाता ॥७॥

अर्थ—(शूर्पणखा ने कहा—) श्रीअयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र जो पुरुषों में सिंह के समान हैं, वे वन में (शिकार) खेलने आये है ॥३॥ मुझको उनकी करनी ऐसी समझ पड़ी है कि वे पृथ्वी को निशाचर हीन कर देंगे ॥४॥ हे दशमुख! जिनकी भुजाओं का बल (आश्रय) पाकर मुनि लोग वन में निर्भय होकर विचर रहे है ॥५॥ वे देखने में तो बालक है, पर (पराक्रम में) काल के समान है और परम धीर है, धनुष-विद्या में निपुण और अनेक गुणवाले है ॥६॥ उन दोनों भाइयों में अतोल बल और प्रताप है, वे खलों के वध में लगे है और सुर-मुनियों को सुख देनेवाले है ॥७॥

विशेष—(१) 'अवध नृपति दसरथ···'—वाल्मीकीय रामायण में श्रीरामजी ने उसे अपना पूरा परिचय दिया है, यह स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में भी श्रीलक्ष्मणजी ने कहा ही है, यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा।" (दो० १६), इससे दशरथ-पुत्र कहा। 'पुरुष सिंह···' से 'रहित निसाचर करिहहि धरनी ॥" तक श्रीरामजी के उत्तर के अनुसार कहा, जो उन्होंने खर-दूषण को दिया है और इसने भी सुना है, यथा—"हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ॥" इत्यादि। 'पुरुष सिंह' —यह इसकी उस मनोवृत्ति का भी परिचायक है, जो कि यह उन्हें ही पुरुष, औरों को क्लीव समझकर उनपर आसक्त हुई थी, यथा—"तुम्ह सम पुरुष न···" (दो० १६), 'खेलन'—क्रीड़ा एवं विहार करने।

(२) 'जिन्हकर भुज बल ··', यथा—"जबते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा ॥" (दो० १३), 'देखत बालक काल-समाना', यथा—"मुनि पालक खल सालक बालक।" (दो० १८), 'परम धीर धन्वी गुन नाना।'—यह उसने अपनी आँखों देखी बात कही है कि सेना-भर से घिर

जाने पर भी हँसते ही रहे, इससे परम धीर है। धन्वीपना यह कि सबको क्षण-भर में मारा और अपने पर किंचित् आघात भी न होने दिया। ये सब बातें उसके हृदय में विध गई हैं, इसीसे कहती है।

सोभा-धाम राम अस नामा। तिन्हके संग नारि एक स्यामा ॥ ८ ॥
रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सतकोटि तासु बलिहारी ॥ ९ ॥
तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा ॥१०॥
खर-दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा ॥११॥
खर-दूषन-त्रिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता ॥१२॥

दोहा—सूपनखहि समुझाइ करि, बल बोलेसि बहुँ भाँति।
गयउ भवन अति सोचबस, नींद परइ नहिं राति ॥२२॥

शब्दार्थ—स्यामा = सोलह वर्ष तक की स्त्री, यथा—"शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला। सर्वर्तुवशोभाढ्या सा स्यामा परिकीर्तिता ॥" (प्रदीपोद्योते), लगे पुकारा = यह सहायक होने के अर्थ में मुहावरा है।

अर्थ—वे शोभा के स्थान हैं, उनका 'राम' ऐसा नाम है और उनके साथ एक स्यामा स्त्री है ॥८॥ वह रूप (सुन्दरता) की राशि है, उस स्त्री को ब्रह्मा ने सँवार कर बनाया है, उसपर सौ करोड़ रतियाँ निछावर हैं ॥९॥ उसके भाई ने मेरी नाक और कान काट लिये, (मैं) तेरी बहन हूँ, यह सुनकर (वे मुझसे) हँसी करते थे ॥१०॥ (मेरी पुकार) सुनकर खर-दूषण सहायक हुए, उनका सारा कटक क्षण भर में उन्होंने मार डाला ॥११॥ खर-दूषण और त्रिशिरा का संहार सुनकर रावण के सब अंग जल उठे ॥१२॥ रावण ने शूर्पणखा को समझाकर बहुत प्रकार से अपने बल का वर्णन किया, तब वह अपने घर में गया, पर अत्यन्त शोच के वश उसे रात में नींद नहीं पड़ रही है ॥२२॥

विशेष—(१) 'सोभा-धाम राम'''—उस शोभा में यह स्वयं मोही थी और खर-दूषण को भी कहते सुना है, यथा—'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहि अस सुंदरनाई ॥" (दो० १८), वही देखी-सुनी बात कह रही है।

(२) 'रूपरासि बिधि'''—ब्रह्माण्ड-भर में एक ही रति अत्यन्त सुन्दरी है, वैसी करोड़ों ब्रह्माण्डों की रतियाँ मिलकर भी उसकी तुलना के योग्य नहीं है। शूर्पणखा ने पहले नीति कहकर रावण की शासन-वृत्ति को उत्तेजित किया, अब उसके कामी स्वभाव को उत्तेजित करने को—'नारि एक स्यामा।' आदि कह रही है। ध्वनि यह भी है कि उसी सुन्दरी स्त्री के कारण मेरा अपमान किया है। शोभाधाम की शोभा के वर्णन से अपना आसक्त होना भी सूचित किया।

यह सपत्नी होने गई थी, फिर भी श्रीसीताजी की सुन्दरता का वर्णन करती है, इससे श्रीसीताजी का सौन्दर्य परिपूर्ण सूचित हुआ।

(३) 'तासु अनुज काटे ''—यह—"केहि तव नासा कान निपाता।" का उत्तर है। श्रीलक्ष्मणजी का नाम न कहा, क्योंकि ये शत्रु हैं, शत्रु का नाम नहीं लिया जाता। अथवा इनका नाम वह न जानती थी, चरित-प्रसंग में नहीं आया। 'सुनि तव भगिनि'''—भाव यह कि पूछने पर मैंने अपना नाम और तुम्हारा सम्बन्ध बतलाया, तब वे मुझसे हँसी-मजाक करने लगे और उन्होंने कहा कि तू अपना विवाह हमसे कर ले। मैं इसपर क्रुद्ध हुई तब मेरी नाक और कान काट लिये, अर्थात् उन्होंने तुम्हें कुछ नहीं गिना।

(४) 'छन महँ सकल ''', यथा—"करि उपाइ रिपु मारेउ, छन महँ कृपानिधान।" (दो०२०)।

(५) 'खर-दूषन-त्रिसिरा कर घाता।''—पहले "छन महँ सकल कटक उन्ह मारा ॥" कहा था,

उसपर तीनों भाइयों के मरने में सन्देह था। इससे इनका वध पृथक् भी कहा, इसीसे कवि ने दोहराया है। पहले—'रावण का भी कोई प्रबल शत्रु प्रकट हुआ'—इसपर सभासद् व्याकुल हुए थे। जब तीनों भाइयों का संहार सुना, तब रावण भी सर्वांग से जलने लगा, यथा—"सूखहि अधर जरहि सब अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू॥" (अ० दो० ३९), इसका मानसिक शोच आगे कहेंगे।

शूर्पणखा ने श्रीरामजी के नाम, रूप, धाम, गुण और लीला का परिचय दिया, यथा—"राम अस नामा"—नाम, "दसरथ के जाये" और "सोभा धाम"—रूप, "अवधनृपति"—धाम, "परम धीर धन्वी गुन नाना।"—गुण और "समुझि परी मोहिं उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहि धरनी॥"—लीला है।

शूर्पणखा ने इस प्रसंग में श्रीरामजी की मूर्त्ति का नव रसात्मक वर्णन किया है—

(१) शृङ्गार, यथा—"सोभाधाम राम···", (२) हास्य—"सुनि तव भगिनि करहि परिहासा।", (३) करुणा—"जिन्ह कर···अभय भये बिचरत मुनि कानन।", (४) रौद्र—"देखत बालक काल समाना।", (५) वीर—"परम धीर धन्वी गुन नाना।", (६) भयानक—"खल बध रत", (७) बीभत्स—"तासु अनुजकाटे श्रुति नासा।", (८) अद्भुत—"छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।" और (९) शान्त—"सुर मुनि सुखदाता।"

उपर्युक्त नाम-रूप आदि पाँच और यहाँ के नव रसात्मक वर्णन से इस प्रसंग रूप सागर में ये चौदह रत्न हैं।

(६) 'सूपनखहि समुझाइ करि···'—शूर्पणखा ने कहा था—"तोहि जियत···" उसी वचन से प्रेरित होकर रावण ने समझाया है और बहुत तरह से अपना पुरुषार्थ कहकर उसे धैर्य दिया। इसका बल वाल्मी० ३।३२।४-२३ में कहा गया है, तथा—"बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरे।" (लं० दो० ७)। रावण हृदय से तो डर गया है, पर ऊपर से बल कहता है, यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (सुं० दो० ५६), इसके हृदय की व्यवस्था उत्तरार्द्ध में कही गई है। 'अति सोच बस, नींद ''—खर और दूषण का क्षण-भर में मारा जाना सुनकर शोच में पड़ गया है, पहले—'सोवसि दिन-राती' कहा गया है, और अब शोच में रात में भी नींद नहीं आ रही है, यथा—"सो किमि सोव सोच अधिकाई।" (बा० दो० १६९), वही आगे कहते हैं—

सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥१॥
खर-दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥२॥
सुर-रंजन भंजन महि-भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥३॥
तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ॥४॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन-क्रम-बचन मंत्र दृढ़ येहा॥५॥
जौ नर-रूप भूप-सुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥६॥
चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु-तट जहवाँ॥७॥

अर्थ—(रावण अपने मन में सोचता है कि) देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षी में मेरे सेवकों (की बराबरी) का भी कोई नहीं है॥१॥ और खर-दूषण (तो) मेरे समान बलवान् थे। अतः, उन्हें भगवान् के बिना और कौन मार सकता है?॥२॥ देवताओं को आनन्द देनेवाले, पृथ्वी के भार का भंजन (हरण) करनेवाले भगवान् ने जो अवतार लिया है॥३॥ तो मैं हठ-पूर्वक जाकर उनसे वैर करूँ

और प्रभु के बाणों से प्राण छोड़कर भव (संसार) से तरूँ ॥४॥ (मेरे) इस तामसी शरीर से भजन नहीं होगा, (अतः) मन, कर्म और वचन से दृढ़ मन्त्र यही है ॥५॥ और जो मनुष्य-रूप में कोई राजकुमार होंगे, तो उन दोनों को युद्ध में जीतकर उनकी स्त्री को हर लूँगा ॥६॥ वह अकेला ही रथ पर चढ़कर वहाँ के लिये चला, जहाँ समुद्र के किनारे पर मारीच रहता था ॥७॥

विशेष—(१) 'सुर-नर असुर नाग खग माहीं।'—इनमें 'मुनि' को नहीं कहा, क्योंकि युद्ध का प्रसंग कह रहा है और मुनि युद्ध नहीं करते। शोभा आदि के वर्णन में प्रायः मुनि भी कहे गये हैं। 'अनुचर कहँ'—यहाँ 'कहँ' का तात्पर्य 'मारनेवाला' है, क्योंकि—"छन महँ सकल कटक उन्ह मारा।" यह शूर्पणखा ने कहा है और उसी पर रावण भी आगे कहता है—"तिन्हहि को मारइ।" 'कोउ नाहीं', यथा—"कुमुख अकंपन कुलिस रद, धूम-केतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८०), वाल्मी० ३।३१।४-७ में इन्द्र, काल, यम, विष्णु आदि के नाम गिनाकर उन्हें अपनी प्रतिद्वन्द्विता में असमर्थ कहा है और यहाँ 'कोउ' शब्द उनसे अधिक व्यापक है। पुनः यहाँ 'अनुचर' शब्द इसका वहाँ से अत्यधिक महत्त्व दिखाता है कि अनुचरों की समता का भी कोई नहीं है, तो मेरी समता की कौन बात ?

'खर-दूषन मोहि सम बलवंता'—इसपर यहाँ के खर-दूषण-युद्ध प्रसंग से रावण के युद्ध प्रसंग का मिलान किया जाता है। ५० द्वन्द्व पंक्तियों का मिलान पं० रामकुमारजी ने किया है। रामायणी श्रीराम बालक दासजी की टिप्पणी में है। विस्तार भय से यहाँ नहीं लिखा गया।

(२) 'जौं भगवंत ··· तौ मै जाइ ···'—अवतार के निश्चय में सन्देह है, इसीसे 'जौं' कहा है। अवतार सम्बन्ध से 'भगवंत' कहा है, क्योंकि भगवान् शब्द का अर्थ उत्पत्ति, पालन और संहारकर्त्ता होता है। उसी समर्थ्य से ईश्वर कार्य करता है, वह किसीसे वैर नहीं करता, इसलिये हठ से वैर करना कहा है।

(३) 'प्रभु-सर प्रान···' यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (मु० दो० ३), ईश्वर से तो मुक्ति ही चाहता है।

(४) 'होइहि भजन न तामस देहा।', यथा—"तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥" (सु० दो० ६)। 'मन-क्रम-बचन मंत्र दृढ़ येहा।'—इसने मुक्ति के लिये वैर और प्रीति इन दो मार्गों का निश्चय किया, उनमें प्रीति में अपना अनधिकार समझ वैर भाव के लिये दृढ़ मन्त्र किया। प्रीति करने के लिये इससे १६ बार अनेक सहेतुक वचनों से कहा गया—अरण्यकाण्ड में २ बार, सुन्दरकाण्ड में ६ बार, लंकाकाण्ड में ८ बार—पर इसने नहीं माना ऐसी दृढ़ता है। इस मन्त्र को इसने गुप्त ही रक्खा है।

(५) 'जौं नर-रूप भूप-सुत कोऊ।'—अर्थात् नर तो कभी हमें जीत सकता ही नहीं, क्योंकि नर के हाथ मेरी मृत्यु हो नहीं सकती, यथा—"नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥" (बा० दो० २८)। अतः, मैं ही उन्हें जीत लूँगा, खर और दूषण को मार ही लिया, तो क्या हुआ ?

इसे न तो भगवन्त के अवतार में ही निश्चय है और न नर-रूप ही में, इसीको परीक्षा कंचन मृग के द्वारा करेगा, अतएव मारीच के पास चला। इसे राम रूप में मानवता का संशय रहेगा ही—"नर के कर आपन बध बाँची।·· '' (लं० दो० २८)—इस ब्रह्म-वाणी की सत्यता भी रहेगी।

'चला अकेल ···'—अभी परीक्षा लेकर निश्चय करना चाहता है कि 'पुरुष सिंह बन खेलन आए' है। अतः, सोने का मृग भेजूँ, यदि ईश्वर होंगे तो उसपर न दौड़ेंगे। फिर मैं हठ करके वैर कर प्राण दे

मुक्त हूँगा, अन्यथा 'हरि हौ नारि···'। पर श्रीरामजी को तो निशाचर मात्र का वध करना है; इससे नर ही होकर उसके दुष्कर्म से प्रतिकार रूप में उसके साथ सभी राक्षसों का वध करेंगे। इससे भी अकेला गया कि जिससे शत्रु को कोई भेद न दे दे, नहीं तो परीक्षा विधि न बनेगी। तथा चोरी करने जाता है, इससे अकेले चला कि कोई न जाने।

महाभारत वन पर्व अ० २७७।५४-३६ मे कहा गया है कि रावण त्रिकूट और काल पर्वत को लाँघता हुआ, समुद्र-शोभा देखता हुआ आकाश मार्ग से गोकर्ण क्षेत्र में गया। वहाँ उसका पुराना मन्त्री मारीच श्रीरामजी के भय से तपस्वी वेष मे रहता था। वाल्मी० ३।३५।३७ मे भी—"तं तु गत्वा पर पारं समुद्रस्य नदीपतेः।" कहा गया है। पर वाल्मी० १।३०।१८ मे—"सम्पूर्ण योजनशतं क्षिप्रः सागर-सम्प्लवे॥" कहा गया है, जैसा बा० दो० २०६ चौ० ४ मे कहा है। परन्तु यहाँ 'जहवाँ' और 'तहवाँ' से दूर देश मात्र सूचित किया गया है। पूर्व बा० दो० २०६ चौ० ४ के अनुसार यह स्थल लंका के ही एक भाग में जान पड़ता है।

'पुनि माया सीता कर हरना'-प्रसंग

इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥८॥

दोहा—लछिमन गये बनहिं जब, लेन मूल फल कंद।
जनक-सुता सन बोले, बिहँसि कृपा-सुख-बृंद॥२३॥

अर्थ—यहाँ श्रीरामजी ने जैसी युक्ति बनाई, हे उमा! वह सुहावनी कथा सुनो॥८॥ जब श्रीलक्ष्मणजी कन्द-मूल और फल लेने गये, तब कृपा और सुख की राशि श्रीरामजी श्रीजानकीजी से विहँसकर बोले॥२३॥

विशेष—(१) 'इहाँ राम जसि·····'—"पंचबटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक॥" (दो० २०), पर यहाँ का प्रसंग छोड़कर वहाँ (लंका-मारीच-आश्रम) की कथा कहने लगे थे। अब फिर 'इहाँ' का प्रसंग लेते है। यह भी सूचित किया कि जिस समय वहाँ के चरित हुए, उसी समय यहाँ के ये चरित हुए। एक ही समय दो स्थलों के चरितकथन के 'इहाँ-उहाँ' ही संकेत है। पुनः 'इहाँ' से कवि अपनेको इस पक्ष मे भी सूचित करते है। 'सुनहु उमा'—अर्थात् यह कथा शिव-पार्वती के ही संवाद की है, जहाँ होगी, इसी संवाद मे मिलेगी। 'राम'—ये सबमें रमण करते है, इसीसे रावण का अभिप्राय सीता-हरण का जानकर वैसी युक्ति पहले ही से कर रहे है। 'जुगुति'—उधर रावण कपट-मृग लावेगा, पर आपको कपट नहीं भाता, यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (सु० दो० ४३), इससे उसके प्रतिकार में आप युक्ति बना रहे हैं कि उसी तरह यह 'माया-सीता' भी है। 'सुहाई'—क्योंकि यह गोप्य रहस्य है, श्रीलक्ष्मण को भी नहीं जनाया। इसमे ईश्वर के हृदय की अगाधता है। उमा के सम्बोधन का यह भी भाव है कि इसी चरित में पहले उन्हें मोह था, अब दिखाते है कि देख लो, पहले ही से जान करके हरण का प्रबन्ध कर रहे हैं। अतः, विलाप एवं खोजना सब लीला मात्र था, जो तुम्हें भ्रम था—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।" (बा० दो० ५०)।

(२) 'बिहँसि कृपा-सुख-बृंद'—हँसकर श्रीजानकीजी को प्रसन्न कर रहे है, यह भी जनाया कि आगे की विरह-लीला आदि हमारे हँसी-खेल हैं। हँसने का यह भी भाव है कि रावण-वध के लिये एवं सबपर कृपा करने तथा सुख देने के लिये स्त्री को लंका भेजकर परोपकार के लिये अब लोक की हँसी सहें।

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला । मैं कछु करबि ललित नरलीला ॥१॥
तुम्ह पावक महँ करहु निवासा । जौ लगि करउँ निसाचर नासा ॥२॥
जबहि राम सब कहा बखानी । प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ॥३॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता । तैसेइ सील रूप सुबिनीता ॥४॥
लछिमनहूँ यह मरम न जाना । जो कछु चरित रचा भगवाना ॥५॥

अर्थ—हे प्रिये ! हे सुन्दर पातिव्रत धर्म का पालन करनेवाली ! हे सुशील ! सुनो, मैं कुछ ललित नर-नाट्य करूँगा ॥१॥ अतः, जब तक मैं निशाचरों का नाश करूँ, तब तक तुम अग्नि में निवास करो ॥२॥ ज्यों ही श्रीरामजी ने यह सब बखान कर कहा, त्यों ही प्रभु श्रीरामजी के चरणों को अपने हृदय में रखकर वे अग्नि में समा गईं ॥३॥ श्रीसीताजी ने वहाँ अपना प्रतिबिम्ब रक्खा, उसमें वैसा ही शील, रूप और अत्यन्त विनम्रता थी ॥४॥ भगवान् ने जो कुछ चरित रचा, उस रहस्य को श्रीलक्ष्मणजी ने भी नहीं जाना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला ।'—'प्रिया'- भाव यह कि इस नर-नाट्य में रावण-वध तक पृथक् होने को कहना है, यह न मानना कि मैं अप्रिय हो गई, नहीं, तुम तो सदा प्रिया हो । यदि यह कहो कि आपसे पृथक् रहने से हमारा व्रत (पातिव्रत धर्म) भंग होगा, उसपर कहते हैं कि तुम 'व्रत रुचिर' हो, हमारी आज्ञा से जाने में तुम्हारा व्रत भी रहेगा । पुनः यह भी शंका नहीं कि खलों के समीप रहने में तुम्हारे शील का नाश हो, सो नहीं हो सकता, क्योंकि तुम 'सुशीला' हो । 'व्रत', यथा—"एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥" (दो० ४), वा, प्रिया हो, अतः, हमारा रुख रक्खो, व्रत रुचिर हो, अतः, आज्ञा मानो । सुशीला हो, अतः, उत्तर न दो । श्रीसीताजी इन गुणों की खान हैं, यथा—"हा गुन खानि जानकी सीता । रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥" (दो० २९), 'मैं कछु करबि ···'—'कछु'—ग्रन्थकार उसे शब्दों से भी छिपाते हैं । नहीं तो 'यह' कहते । 'ललित'—जिसमें ऐश्वर्य का लेश भी न हो, यथा—"मनहु महा बिरही अति कामी ।" (दो० २९) ।

(२) 'तुम्ह पावक महँ ···'—अग्नि में निवास कराते हैं । अन्त में उसीको साक्षी देकर उसीसे प्रकट करावेंगे, यथ—"सीता प्रथम अनल महँ राखी । प्रगट कीन्ह चह अंतर साखी ॥" (लं० दो० १०६), साक्षी भी अग्नि की दी जाती है, यथा—"पावक साखी देइकरि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ ।" (कि० दो० ४), भाव यह भी है कि तुम भी अपने ऐश्वर्य को अन्तर्भूत रक्खो, उसके दुःख देने पर शाप न दे दो, नहीं तो हमारी प्रतिज्ञा ही जायगी । श्रीसीताजी ने रावण से कहा भी है, यथा—'अमर्षशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् । न त्वा कुर्यां दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥" (वाल्मी० ४।२२।२०) ।

अग्नि में रखने पर ये भाव भी कहे जाते हैं—(क) अग्नि के दिये हुए पिंड से श्रीरामजी का जन्म है । अतएव अग्नि को पिता के समान मानते हैं । स्त्री पिता के यहाँ रखने में सुरक्षित रहती है । (ख) और तत्त्व में इनका तेज न छिपता । (ग) सोने की लंका जलाना है । अतएव अग्नि में शक्ति को रक्खा । (घ) श्रीरामजी तपस्वी वेष में हैं । अग्नि भी तपः-स्थान है । तपस् अग्नि का नाम भी है । श्रीजानकीजी उसमें रह सकेंगी, अन्यथा व्रतभंग की शंका करतीं, यथा—"तुम्हहि उचित तप मोकह भोगू ।" (अ० दो० ६९) ।

(३) 'प्रभु-पद धरि हिय अनल समानी ।'—श्रीजानकीजी 'व्रत रुचिर' हैं इससे इन्होंने पति-आज्ञा को शिरोधार्य किया । व्रत का स्वरूप, यथा—"काय बचन मन पति-पद प्रेमा ।", अतएव पति-पद

हृदय में रखकर उसे चरितार्थ किया। पुनः यह भी भाव है कि इन चरणों से गंगाजी प्रकट हुई हैं। अतः, इनके हृदय में रहने से साथ ही अग्नि में भी शीतलता बनी रहेगी।

(४) 'निज प्रतिबिंब राखि ''—श्रीरामजी ने प्रतिबिम्ब रखने को नहीं कहा, पर उनका रुख जानकर यह कार्य किया गया, इससे—"पति रुख लखि आयसु अनुसरहू।" (बा० दो० ३३३), इस शिक्षा को चरितार्थ हुआ। प्रतिबिम्ब व्यवहित (पृथक् किये हुए) देश में कैसे रह सकता है ? उत्तर में कहा जाता है—(क) प्रतिबिम्ब से तात्पर्य अंश का है। (ख) अघट घटना पटीयसी सामर्थ्य से असम्भव का सम्भव कर दिखाना ईश्वरता है। सूर्य की स्त्री सुवर्चला के छाया-रूप के पृथक्-स्थित रूप से उत्पन्न शनैश्चर एक ग्रह है, तब सच्चिदानन्द रूपिणी श्रीजानकीजी के प्रतिबिम्ब-रूप से पृथक् अस्तित्व में आश्चर्य ही क्या ? (ग) कोई-कोई यह भी कहते हैं कि वाल्मी० ७।१० में जो शक्ति श्रीसीतारूपा वेदवती नाम से कही गई है, यहाँ अयोनिजा सीताजी का प्रतिबिम्ब होने से अयोनिजा ही रही, उसमें ही श्रीसीताजी का आवेश प्राप्त हुआ और स्वयं श्रीसीताजी ने अग्नि में निवास किया—इस कथा का विशेष अंश स्कन्द पुराण, वैष्णव खण्ड, भूमि-वाराह खण्ड से मिलता है—गीता प्रेस के संक्षिप्त स्कन्द पुराणांक पृ० २१२-२१४ देखिये। (घ) प्रतिबिम्ब के द्वारा होनेवाले कार्य बिम्ब के ही होते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्ब रूप से होनेवाली लीलाएँ सब बिम्ब-रूप (वास्तविक) सीताजी की हैं, उनके महत्त्व में कोई कमी नहीं है। अतः, "पापानां वा शुभानां वा ''' (वाल्मी० ६।११३।४३), आदि श्रीजी के वाक्य जो मन्त्र रूप माने जाते हैं, उनमें न्यूनता नहीं है, इस भाव को स्पष्ट करने के लिये भी श्रीसीताजी के इस रूप को प्रतिबिम्ब कहा गया है।

'तैसेइ सील रूप सुबिनीता'—स्त्री में व्रत रुचिर, शील, रूप और नम्रता—ये चार गुण अवश्य चाहिये। वे सब इनके इस रूप में भी कहे गये हैं।

(५) 'लछिमनहूँ यह मरम न जाना।'''—श्रीलक्ष्मणजी प्रातःक्रिया करके कन्द, फल आदि लेने गये और उसी समय उधर रावण मारीच-आश्रम को गया। वहाँ मारीच से बातें हुईं, यहाँ श्रीसीताजी से यह सम्मत और अग्नि प्रवेश-लीला हुई। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी लौटकर आये और उधर से मारीच मृग रूप में आवेगा। 'लछिमन गये बनहि'''—उपक्रम है और यहाँ—'लछिमनहूँ यह मरम '''—यह उपसंहार है। श्रीलक्ष्मणजी को भी यह मर्म न जनाया, क्योंकि उनके जान लेने पर विरह आदि की 'ललित नर-लीला' करने न बनती और न उनके समझाने की ही लीला होती। फिर श्रीनारदजी का शाप—"नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥" (बा० दो० १३६), यह कैसे सत्य होता ? भगवान् का रहस्य चरित उनकी ही कृपा से वह भी परिमित अंश में ही कोई भी जानता है। 'भगवाना', यथा—"उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥" (वि० पु० ६।५।७८), अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति और नाश, आना और जाना एवं विद्या और अविद्या को जो जानता है, वही भगवान् कहलाने के योग्य है।

यहाँ उधर की गति जानकर तदुपयुक्त विधान रचने के सम्बन्ध में भगवान् पद अच्छा पड़ा है।

श्रीपार्वतीजी ने पूछा था—"औरउ राम रहस्य अनेका। कहहुनाथ ''" (बा० दो० ११०), यहाँ भी उसका उत्तर है। श्रीजानकीजी के रहस्यात्मक चरित को श्रीरामजी ही जानते हैं, यथा—'सिय महिमा रघुनायक जानी।" (बा० दो० ३०६), "लखा न मरम राम बिनु काहू।" (अ० दो० २५१), वैसे ही यहाँ भी इस अन्तरंग-लीला को वे ही जानते हैं। ऐसे ही श्रीरामजी के भी गुह्यतम रहस्य को श्रीजानकीजी ही जानती हैं, यथा—"अनुज सेवक सचिव सब सुमति साधु सखाउ। जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ॥ राम जोगवत सीय-मन प्रिय मनहिं प्रान प्रियाउ।' '" (गी० उ० २५), इत्यादि।

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा ॥६॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥७॥
भयदायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥८॥

दोहा—करि पूजा मारीच तब, सादर पूछी बात।
कवन हेतु मन व्यग्र अति, अकसर आयहु तात ॥२४॥

शब्दार्थ—अकसर (एक+सर) = अकेले। व्यग्र = घबराया हुआ, भयभीत।

अर्थ—दशानन (रावण) वहाँ गया, जहाँ मारीच रहता था और (वहाँ जाकर उसने उसे) सिर नवाया, (क्योंकि) वह नीच स्वार्थ परायण था ॥६॥ नीचों का नवना (नम्र होना) अत्यन्त दुःखदायी होता है, जैसे अंकुश, धनुष, साँप और बिल्ली का ॥७॥ हे भवानी! दुष्ट की प्यारी वाणी भी भय देनेवाली होती है, जैसे बिना समय (ऋतु) के फूल ॥८॥ तब मारीच ने उसकी पूजा करके आदर-पूर्वक बात पूछी—हे तात! तुम्हारा मन किस कारण अत्यन्त चिन्तित है और यहाँ क्यों अकेले आये हो? ॥२४॥

विशेष—(१) 'दसमुख गयउ जहाँ ···'—इसका उपक्रम—"चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच ···" से हुआ था। बीच में इधर का रहस्य कहा गया, अब फिर वही प्रसंग लेकर यहाँ उपसंहार किया। 'दसमुख'—का भाव यह कि इसके आगे एक मुखवाले मारीच की कुछ न चलेगी।

'नाइ माथ स्वारथ-रत नीचा।'—रावण ने ऊपर से भक्ति से प्रणाम करना जनाया, पर वह बात नहीं है, क्योंकि आगे मारने की धमकी देगा, इससे यह प्रणाम करना इसका स्वार्थ साधने के लिये है, इसीसे नीचता कही गई। मारीच इसका पुराना मन्त्री है और इसके अधीन है, अभी भी राजा मानकर इसकी पूजा करेगा। रावण अभिमानी कैसा है—"रबि ससि पवन बरुन धन धारी। ··आयसु करहि सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता॥" (बा० दो० १८१), वह अपने अधीन को प्रणाम करे, यह नीचता है। इसे ही कहते हैं—

(२) 'नवनि नीच कै अति दुखदाई।···'—प्रिय मधुर बोलता हुआ सिर नवाकर प्रणाम किया, इसलिये दोनों बातों को अंकुशादि और अकाल पुष्प की उपमाओं से दिखाते हैं। अंकुश झुके रहने से तुरत हाथी के मस्तक पर धँसा, धनुष जैसे ही खींचकर विशेष नवाया गया कि उससे किसी पर बाण का घात हुआ। साँप झुका कि तुरत लपक कर काटा, बिल्ली दबकी कि तुरत चूहे पर पड़ी। ये सब दूसरों को दुःख देने ही को नवते हैं। इनमें अंकुश और धनुष दूसरे की प्रेरणा से दुःखद है और साँप-बिल्ली स्वतः दुःख देते हैं, वैसे ही रावण शूर्पणखा की प्रेरणा से और अपनी इच्छा से भी इस दुःखद-कार्य में प्रवृत्त हुआ है।

(३) 'भय दायक खल कै प्रिय बानी। '—खल प्रायः कठोर ही वाणी बोलते हैं, यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा।" (बा० दो० ३), प्रिय बोलना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। जैसे अकाल के पुष्प प्रकृति के नियम के विरुद्ध होते हैं और भयदायक कहे गये हैं, इस रीति से खल का प्रिय बोलना भी भयंकर है। प्रिय वचन को फूल की उपमा दी जाती है, यथा—"मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥" (अ० दो० ५२), पर खल की वाणी प्रिय होने पर भी भयदायक है। अतः, उसे अकाल-पुष्प की उपमा दी, क्योंकि ऋतु के विरुद्ध वृक्षों का फूलना उस देश के राजा और प्रजा को भयंकर होता है। वैसे इस वचन से भी मारीच का वध और इसके वंश-भर का नाश होगा, यथा—"सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥" (लं० दो० ४), इससे रावण के लिये अपशकुन और श्रीरामजी को लाभ हुआ।

(४) 'करि पूजा मारीच ···'—रावण ने स्वार्थ-वश सिर नवाया, पर मारीच ने अपनी मर्यादा-रक्षा के लिये उसकी पूजा करके आगमन का हेतु पूछा, यथा—"करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा ॥ नाथ कृतारथ भयउ मैं, तव दरसन खगराज । आयसु होइ सो करउँ अब, प्रभु आयउ केहि काज ॥" (उ० दो० ६३), इत्यादि ।

दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे ॥१॥
होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनउँ नृप-नारी ॥२॥
तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर - रूप चराचर - ईसा ॥३॥
तासों तात बैर नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै ॥४॥

अर्थ—अभागे दशानन ने सारी कथा उसके सामने अभिमान के साथ कही ॥१॥ (फिर कहा कि) तुम छल करनेवाला कपट मृग बनो, जिस प्रकार मैं उस राजा की स्त्री को हर लाऊँ ॥२॥ फिर मारीच ने कहा कि हे दशशीस ! सुनो, वे मनुष्य रूप धारण किये हुए चराचर के स्वामी हैं ॥३॥ हे तात ! उनसे वैर मत कीजिये, उनके मारने से मरना और जिलाने से जीना चाहिये ॥४॥

विशेष—'दसमुख सकल कथा'···'—अभिमान सहित बोलने से 'दसमुख' कहा कि मानों दसो मुखों से कह रहा है। 'अभागे'—क्योंकि श्रीरामजी से वैर ठान रहा है, यथा—"बेद पढ़ै बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवै। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावै ॥ ऐसेहुँ भाग भगे-दसभाल ते जो प्रभुता कवि कोबिद गावैं। राम से बाम भये बिधि बामहि बाम सबै सुख संपति लावै ॥" (क० उ० २)। 'तेहि आगे'—एकान्त में उसीके आगे कहा कि और कोई न जाने। 'सहित अभिमान'—हमने इन्द्रादि को छल से वश में कर लिया, तो इन राजपुत्रों को क्या गिनती है ?

(२) 'होहु कपट-मृग '—वे राजपुत्र हैं शिकार के लिये अवश्य दौड़ेंगे। इसलिये तुम कपट मृग बनो, छल करके उन्हें श्रीसीताजी से दूर कर दो और श्रीरामजी के स्वर में मिलाकर श्रीलक्ष्मणजी को भी पुकारो कि वे भी दूर हो जायँ बस, मैं यती बन कर उनकी स्त्री हर लूँगा, क्योंकि उन्होंने हमारी बहन को कुरूपा किया है। 'छलकारी', यथा—"प्रगटत दुरत करत छल भूरी।···लछिमन के प्रथमहि लै नामा।···" (दो० २६)।

(३) 'तेहि पुनि कहा ···'—'पुनि' शब्द से वाल्मी० ३।३१।४१-५० के मत से प्रथम बार का समझाना भी आ गया जो कि अकम्पन के कहने से रावण मारीच के पास आया और इनके समझाने से लौट गया था। पीछे शूर्पणखा के कहने पर फिर आया और बहुत कुछ कह सुनकर इसे तैयार किया । 'पुनि' का दूसरा अर्थ फिर एवं तत्पश्चात् भी है। 'दस सीसा'—सम्बोधन से सूचित किया कि तुम्हारे दसों सिर काटे जायँगे नहीं तो उनसे वैर न करो। 'ते नर-रूप·· '—तुमने भूल से उन्हें नर माना है, वे रूपमात्र से नर हैं, पर चराचर के स्वामी हैं।

(४) 'तासों तात बैर नहिं कीजै ·'—प्रीति और वैर समान से ही हो सकता है, बड़े से वैर करने में हानि होती है, यथा—'प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३), "नाथ बैर कीजै ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥ तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा ॥ · तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिउ जाके हाथा ॥" (उ० दो० ५), 'मारे मरिय जियाये जीजै।' - सुबाहु और खर-दूषण आदि उनके मारने से मरे और मैं जिलाने से ही जीता हूँ, नहीं तो कब मर गया होता। पुनः वे उत्पत्ति, पालन और संहार के कर्त्ता अर्थात् ईश्वर हैं।

मुनि-मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥५॥

सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं ॥६॥
भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥७॥
जौ नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा ॥८॥

दोहा—जेहि ताड़का सुबाहु हति, खंडेउ हर - कोदंड।
खर-दूषन-तिसिरा बधेउ, मनुज कि अस बरिबंड ॥२५॥

अर्थ—कुमारावस्था में ही वे (विश्वामित्र) मुनि की यज्ञ-रक्षा करने को गये थे। तब उन श्रीरघुनाथजी ने मुझे बिना गाँसी (फल) का बाण मारा था ॥५॥ जिससे क्षण-भर में मैं सौ योजन (४०० कोस) पर आ गिरा। अतः, उनसे वैर करने में भलाई नहीं है ॥६॥ मेरी दशा भृङ्गवाले कीड़े की-सी हो गई, तबसे मैं उन दोनों भाइयों को ही जहाँ-तहाँ देखता हूँ ॥७॥ हे तात ! वे यदि मनुष्य ही है, तो भी अत्यन्त शूर-वीर है, उनसे वैर करके पूरा नहीं पड़ेगा ॥८॥ जिन्होंने ताड़का और सुबाहु को मारकर श्रीशंकरजी का धनुष तोड़ा, फिर खर-दूषण और त्रिशिरा का वध किया, क्या मनुष्य ऐसा बलवान् एवं प्रचण्ड हो सकता है ?

विशेष—(१) 'बिनु फरसर···'—इस बार फल सहित मारेंगे, तो अपने भाई सुबाहु की तरह मर ही जाऊँगा। 'सत जोजन आयउँ···', यथा—"सत जोजन गा सागर पारा।' (बा० दो० २०९), वहाँ (वकमर) से ४०० कोस दक्षिण समुद्र है और आगे सागर भी ४०० कोस चौड़ा है। (इसे वहाँ बा० दो० २०९ में भी देखिये), 'कुमारा'—भाव यह कि अब तो युवा अवस्था को प्राप्त हैं।

(२) 'भइ मम कीट भृंग की नाई। ''—भृङ्ग कीड़े को पकड़ता है, तब उसे चारों तरफ फिराता है और उसे शब्द सुनाता है, वैसे मुझे राम-बाण ने आकाश में फिराया और लाकर यहाँ फेंका। जो कीट भृङ्ग से छूटता है, उसे फिर भय से चारो ओर भृङ्ग ही देख पड़ता है। वैसे भय से चारो ओर जहाँ-तहाँ मुझे वे दोनों भाई ही देख पड़ते है, यथा—"वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनांबरम्। गृहीत धनुषं राम पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ अपि राम सहस्राणि भीतः पश्यामि रावण। रामभूतमिद सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ॥" (वाल्मी० ३।३९।१५-१६), भाव यह कि भय के मारे मैं उनके पास जा नहीं सकता।

(३) 'जो नर तात'' '—इसने स्वयं तो श्रीरामजी को ईश्वर ही निश्चित किया है, पर रावण ने नर कहा है, यथा—'हरि आनउँ नृप नारी'। अतः, उसका रुख लेते हुए श्रीरामजी को नर कहा है। 'तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा', यथा—"मानु अजहुँ सिख परिहरि क्रोधू। प्रिय पूरा अब काहि कहु करि रघुबीर बिरोधु ॥ जेहि ताड़का सुबाहु मारि मख राखि जनायो आपु। कौतुक ही मारीच-नीच-मिस प्रगटयो बिसिप-प्रतापु ॥ · ·" (गी० लं० १)—यह पूरा पद देखिये। मन्दोदरी ने रावण से कहा है, तथा—"दर्शनादेव रामस्य हतं मामवधारय। आत्मानं च हतं विद्धि हत्वा सीतां सबान्धवम् ॥ आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया। नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥" (वाल्मी० ३।४१।१८-१९), अर्थात् श्रीरामजी के सामने जाते ही मैं मरूँगा, फिर सीता को हरने पर मैं, तुम एवं लंका के सभी राक्षस मरेंगे। इनमें फिर प्रत्यक्ष प्रमाणों से मारीच अपना निश्चय ही सिद्ध करेगा कि वे मनुष्य से कोई विलक्षण ही हैं—

(४) जेहि ताड़का सुबाहु · '—इसने पहले अपना हाल कहा, फिर ताड़का सुबाहु की दशा की घटना क्रम से कही, क्योंकि पहले ताड़का वध हुआ था, तब सुबाहु का और फिर धनुर्भंग हुआ। ये सब कार्य नर की शक्ति से बाहर के है, यथा—"मारग जात भयावन भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥ घोर निसाचर बिकट भट, समर गनहि नहि काहु। मारे सहित सहाय किमि, खल मारीच सुबाहु ॥ कमठ

पीठ पवि कूट कठोरा । नृप समाज महँ सिव धनु तोरा ॥ ' सकल अमानुष करम तुम्हारे ।" (बा० दो० ३५६) । पुनः खर-दूषण के वध पर तो रावण ने स्वयं भी ईश्वरावतार की कल्पना की थी। अभी उसीने मारीच से कहा भी है, यथा—"दसमुख सकल कथा तेहि "

जाहु भवन कुल कुसल बिचारी । सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी ॥१॥
गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा । कहु जग मोहि समान को जोधा ॥२॥
तब मारीच हृदय अनुमाना । नवहि बिरोधे नहिं कल्याना ॥३॥
सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी । बैद्य बंदि कबि भानस गुनी ॥४॥

शब्दार्थ—भानस गुनी = रसोई के काम मे गुणवान्, सिद्धिप्रद प्रान्त में रसोई के कार्य को 'भानस' कहते हैं। सस्त्री = आयुध-ज्ञाता एवं आयुधवाला। सठ = मूर्ख।

अर्थ—अपने कुल की कुशलता विचार कर अपने घर को लौट जाओ, यह सुनते ही रावण जल उठा और उसने उसे बहुत गालियाँ दीं ॥१॥ अरे मूर्ख! गुरु की तरह मुझे ज्ञान सिखाता है। कह तो, जगत् भर में मेरे समान कौन योद्धा है? ॥२॥ तब मारीच ने अपने हृदय में विचार किया कि शस्त्री, भेदी, प्रभु (समर्थ राजा), मूर्ख, धनवान्, वैद्य, बन्दीजन, कवि और रसोइया—इन नवों के साथ वैर करने पर प्रतिपक्षी का कल्याण नहीं होता ॥३-४॥

विशेष—(१) 'सुनत जरा ···'—रावण मानार्थी है. पर मारीच ने उसे न्यून कहकर बार-बार वैर छोड़ने को कहा और शत्रु की बड़ाई की, इसीसे वह जल उठा, यथा—"तासो तात बैर नहि कीजै।", "तिन्ह सन बैर किये भल नाही।", "तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा।" इत्यादि, इस रीति से जो कोई भी वैर छोड़ने को कहता है, उसीपर जल उठता है, जैसे—"मृत्यु निकट आई खल तोही।···"—हनुमान-जी पर, "बूढ़ भयसि न त मरतेउँ तोहीं।···"—माल्यवान् पर, "पुनि दसकंठ रिसान अति···"—काल-नेमि पर, इत्यादि। शत्रु की बड़ाई पर भी बहुत चिढ़ता है, यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" (सुं० दो० ३९), "आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८)।

(२) 'गुरु जिमि'—क्योंकि मन्त्री का धर्म है कि राजा की बड़ाई करके सलाह दे, पर इसने तो उसकी लघुता ही कही, पुनः सलाह भी उसकी रुचि के विरुद्ध दी। वाल्मी० ३।३१।४१-५० भी देखिये।

(३) 'नवहि बिरोधे···', यथा—"शस्त्री प्रभेदी नृपतिः शठो वैद्यो धनी कविः। बन्दी गुणीति व्याख्यातैर्नवभिर्न विरुध्यताम्॥" यह प्रसिद्ध है। इससे भेद इतना ही मात्र है कि 'भानस गुनी' की जगह 'गुणी' मात्र कहा है। विरोध करने से शस्त्री मार डालेगा, मर्मी जो अपना गुप्त भेद जानता है, जैसे रावण के नाभिकुण्ड मे अमृत की बात श्रीविभीषणजी जानते थे। विरोध करने पर उन्होंने रावण को मरवा दिया। नृपति समर्थ होता है। शठ हानि-लाभ जानता ही नहीं, सहसा कुछ अनर्थ कर सकता है। धनी धन देकर किसीसे भी हानि करा सकता है। वैद्य विरुद्ध उपचार से रोग बढ़ा सकता है। भाट एवं कवि जगत् में अकीर्त्ति फैला सकते हैं। रसोइया भोजन मे विष मिलाकर प्राण ही ले सकता है, इत्यादि।

यहाँ रावण शस्त्र लिये हुए अवज्ञा पर मारने को उद्यत है, इससे यही 'सस्त्री' प्रस्तुत विषय है और प्रथम कहा गया है। शेष नीति उसीकी पुष्टि मे कही गई है।

उभय भाँति देखा निज मरना । तब ताकेसि रघुनायक-सरना ॥५॥

उतर देत मोहि बधब अभागे। कस न मरउँ रघुपति सर लागे ॥६॥
अस जिय जानि दसानन-संगा। चला राम-पद-प्रेम अभंगा ॥७॥
मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहउँ परम सनेही ॥८॥

अर्थ—(मारीच ने) दोनों तरह से अपना मरण देखा, तब उसने श्रीरघुनाथजी की ही शरण ताकी (वा, श्रीरामजी के बाणों को ही ताका, क्योंकि उनसे मरने पर मुक्ति होती है) ॥५॥ उत्तर देने से यह अभागा मुझे मार डालेगा, (तो) श्रीरघुनाथजी का बाण लगने से ही क्यों न मरूँ ? ॥६॥ वह हृदय में ऐसा जानकर रावण के साथ चला, उसका श्रीरामजी के चरणों में अचल प्रेम है ॥७॥ उसके मन में अत्यन्त हर्ष है कि आज (मैं, अपने) परम स्नेही को देखूँगा, परन्तु उस (रावण) को यह (हर्ष) नहीं जनाता ॥८॥

विशेष—(१) 'उभय भाँति देखा···'—यदि इससे प्रीति निबाहते हैं, तो श्रीरामजी के हाथ मरना होगा। वैर करके इसके ही हाथों से मरना होगा, यथा—"आसाद्यते जीवित संशयस्ते मृत्युध्रुवो-ह्यद्य मयाविरुद्धयतः। एतद्यथावत्परिगण्यबुद्धया यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथात्वम् ॥" (वाल्मी० ३।४०।२७), अर्थात् 'रामजी के विरोध से जीने में सशय है और मुझसे विरोध करने में आज ही मृत्यु निश्चय जानो' इसे ही—'उभय भाँति···' कहा। 'तब ताकेसि ···', यथा—"इत रावन, उत राम कर, बीच जानि मारीच। कपट कनक मृग-बेष तब, कीन्ह निसाचर नीच ॥" (रामाज्ञा० ३।२।६), वैर-भाव से शरण होने से भी मुक्ति होती है, यथा—"वैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर ॥ देहि परम गति·· " (ल० दो० ४३)।

(२) 'उतर देत मोहि बधब अभागे।'—रावण ने प्रश्न किया था—"कहु जग मोहि समान को जोधा।" इसका उत्तर मैं दे सकता हूँ कि यदि योद्धा हो तो चोरी करने को क्यों जाते हो। रण में जीतकर श्रीसीताजी को ले आओ। यह भी कि धनुष तोड़कर पहले ही क्यों न ब्याह लाये ? यथा—"जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला ॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन.ताही ॥" (ल० दो० ३४), 'अभागे'—श्रीरामजी के वैर करने से अब इसका भाग्य नष्ट हो गया।

(३) कस न मरउँ रघुपति सर लागे।'—श्रीरामजी के बाण से मरना श्रेयस्कर है, मुक्ति होगी, यथा—"रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहि सही।" (सु० दो० ३), तो इस अभागे के हाथ से क्यों मरूँ ? श्रीरामजी के ही बाण से मरूँगा, यथा—"उभयार्थादि मर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः।" (अनुनाटक)। श्रीरामजी के द्वारा ही मरने पर वाल्मीकीय रामायण से इतना कुछ और भी भाव मिलता है, यथा—"मां निहत्य तु रामो ऽसावचिरान्त्वां वधिष्यति। अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिते चार्यरिणा हतः ॥ दर्शनादेव रामस्य हत मामवधारय। आत्मानं च हतं विद्धि हत्वा सीता सबान्धवम् ॥' (वाल्मी० ३।४१।१७-१८)। भाव यह कि मैं शत्रु के हाथ से मारा जाऊँगा और साथ ही तुम सपरिवार मारे जाओगे। इससे मैं प्रसन्न हूँ, अर्थात् तुम मुझे मारोगे, तो मैं बदला नहीं ले सकता और इस तरह तो मैं तुम्हें सपरिवार मारकर मानो मरूँगा। इसीका मुझे सन्तोष है।

शंका—इसके ऊपर के श्लोक में 'अत्र त्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि।' कहा गया है, फिर साथ ही उसके विनाश पर यहाँ कृतकृत्य होना कैसे ?

समाधान—ऊपर तक इसने रोकने की चेष्टा की है कि वह ससैन्य विनाश से बच जाय। 'निवा-र्यमाणस्तु ··' आगे साथ ही कहा है। उसका रुख न बदलने पर यह निश्चित कर कृतकृत्य होना कहा कि मैं बदला सधा (कृतकृत्य हो) कर मरूँगा, इसका मुझे सन्तोष है।

इसी अभिप्राय-युक्त वचन को आगे साथ ही 'एवमुक्त्वा तु परुषं मारीचो रावणं ततः।" (वाल्मी० ३।४२।१), ऐसा महर्षिजी ने कहा है। यदि मारीच का रावण के प्रति शोक करना माना जाय, तो फिर रावण-विनाश पर उसका कृतकृत्य होना क्यों और महर्षि ने भी 'परुषं' क्यों कहना लिखा ?

इसीसे इसने श्रीरामजी के प्रति स्नेह रखते हुए भी छल किया कि जिससे इस दुष्ट का सपरिवार नाश हो, तो मेरी डाह मिटे। श्रीरामजी के पुरुषार्थ का इसे दृढ़ निश्चय था। लौकिक स्वामी रावण से और पारलौकिक स्वामी श्रीरामजी से भी इसने आगे छल ही किया है, इसीसे इसे नीच एवं कपटी कहा गया है, यथा—"सुकृत न सुकृती परिहरइ, कपटी न कपटी नीच। भरत सिखावन सो दियो, गीध राज मारीच ॥" (दोहावली ३४१)

(४) 'अस जिय जानि दसानन-संगा।'—"तब मारीच हृदय अनुमाना।" से विचार का उपक्रम हुआ, यहाँ—'अस जिय जानि ···' पर उसका उपसंहार है। 'प्रेम अभंगा।'—मरते तक इसका स्नेह बना रहा, यथा—"प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा ॥···अंतर प्रेम तासु पहिचाना ॥" (दो० २६)।

(५) 'मन अति हरष जनाव न तेही।'—श्रीरामजी के बाण से मरकर मुक्त होऊँगा, इसपर तो हर्ष है और 'आजु देखिहउँ परम सनेही।' पर 'अति हर्ष' है, क्योंकि स्त्री-पुत्र आदि जीव के स्नेही हैं और श्रीरामजी परमस्नेही है, वे गर्भ में भी साथ देते है। 'जनाव न तेही'—अति हर्ष को यदि रावण जान पावेगा, तो सन्देह करेगा कि दुःख के समय इसे हर्ष है। अतः, इसके मन में मुझसे भी छल है, मेरा कार्य न करेगा—ऐसा समझकर वह यहीं पर मुझे मार डालेगा।

रावण ने अपना मन्त्र, श्रीरामजी ने अपनी युक्ति और मारीच ने अपनी मुक्ति की विधि—तीनो ने गुप्त ही रक्खे और इसीसे सफल हुए, कहा भी है—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिय दुराऊ ॥" (बा० दो० १६७)।

छन्द—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहउँ।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत-पद मन लाइहउँ ॥
निर्बान-दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुख-सागर हरी ॥

दोहा—मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान।
फिर फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥२६॥

अर्थ—मैं अपने परम प्यारे को देख अपने नेत्रों को सुफल करके सुख पाऊँगा। श्रीजानकीजी के साथ और भाई श्रीलक्ष्मणजी सहित कृपा के स्थान श्रीरामजी के चरणों में मन लगाऊँगा ॥ जिसका क्रोध (भी) मोक्ष देनेवाला है और जिसकी भक्ति उन अवश (परम स्वतन्त्र) को वश करनेवाली है। वे ही सुख-सागर भगवान् अपने हाथों से धनुष पर बाण लगाकर मेरा वध करेंगे ॥ धनुष-बाण धारण किये हुए मेरे पीछे-पीछे मुझे धरने (पकड़ने) को दौड़ते हुए प्रभु श्रीरामजी को मै पीछे बार-बार लौट-लौट कर देखूँगा—मेरे समान दूसरा धन्य नहीं है ॥२६॥

विशेष—(१) 'निज परम प्रीतम···'—और स्नेही अपने नहीं हैं, ये सदा साथ रहनेवाले सहज सनेही हैं, यथा—"ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २१६), तथा—"राम प्रानप्रिय जीवन जी के।

स्वारथ रहित सखा सब ही के ॥" (अ० दो० ७३) । वि० १६६ में 'सद्ज-स्नेही' देखिये । अतः, अपने हैं, इसीसे 'निज' कहा है । 'श्रीसहित·· '—पहले केवल श्रीरामजी के ही दर्शनों से सुख पाना कहा था, अब तीनों को कहते हैं । यहाँ 'सहित' और 'समेत' पर्याय शब्द है और एक ही क्रिया में आये हैं, पर घटना-क्रम में पुनरुक्ति नहीं है । भाव यह कि पहले जब मैंने देखा था, तब वे श्री (शक्ति) सहित न थे, अब शक्ति सहित देखूंगा, फिर साथ ही भाई समेत को भी देखने की लालसा हुई, जो कि पूर्व उनके साथ थे । तब 'अनुज समेत' भी कहा, यथा—"तेहि अवसर नारद सहित, अरु रिपि सप्त समेत ।" (बा० दो०९७), इसमें भी ऐसा ही प्रयोग है ।

(२) 'निर्वान-दायक क्रोध···'—क्रोध से मुक्ति होगी, यथा—'निज पानि सर संधानि···' इससे मैं भव-तर जाऊँगा, यथा—'प्रभु-सर प्रान तजे भव तरऊँ ।" (दो० २२), मुक्त होकर सुख सागर हरि को प्राप्त हूँगा । निर्वाण मुक्ति में प्रभु के साधर्म्य गुणों के द्वारा सुख-सागर ही हो जाऊँगा । जैसे चन्दन के साधर्म्य (गन्ध-गुण प्राधान्य) से आम आदि की लकड़ी भी चन्दन ही कहाती है । पहले दर्शनों से सुख की प्राप्ति कही थी, उसका भी फल कहा—'भगति अवसहि बस करि' । 'अवसहि बस करी'—इस तरह रीझ और खीझ—दोनों का फल कहा, यथा—"रीझे बस होत खीझे देत निज धाम रे ।" (वि० ७१), 'सुख सागर' के साथ 'हरी' कहा है, भाव यह कि इस निर्वाण मुक्ति से जन्म-मरण हर लेंगे, यथा—"उभय हरहि भव संभव खेदा ।" (उ० दो० ११४) ।

(३) 'मम पाछे धर धावत ··', यथा—"कपट कुरंग संग धर धाये ।"।(सु० दो० ४१), अर्थात् पकड़ने को दौड़ेंगे । न पकड़ पाने पर बाण से मारेंगे, इसलिये 'धरे सरासन बान' कहा है । ऐसा ही अर० में कहा है—"पाये पालिवे जोग मंजु मृग मारेहुँ मंजुल छाला ।" पुनः 'धर धावत' का यह —मेरा पीछा धरे (पकड़े) हुए दौड़ते—जो कि शिकार की रीति है ।

) 'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ'—दर्शनों का उत्साह बहुत है, इसीसे बार-बार कहा है, जु देखिहउँ···परम प्रीतम देखि···फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ', इत्यादि । 'धन्य न मो सम धन्य का अर्थ है—सुकृती, यथा—"सुकृती पुण्यवान् धन्यः" । भगवान् के दर्शन बड़े सुकृत से यथा—"जिन्ह जानकी राम छबि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेषी ॥" (बा० दो० ३०९),
, यह कि श्रीशिवजी आदि को भी ध्यान में ही जिनके दर्शन होते हैं, वे ही प्रभु मेरे पीछे-, दौड़ेंगे और मैं बार-बार फिर-फिरकर प्रत्यक्ष देखूँगा । पुनः शिवादि उनके पीछे दौड़ते हैं प्राप्त्यर्थ यत्न करते हैं) और वे ही प्रभु मेरे पीछे धावेंगे, तो मेरे समान धन्य वे भी नहीं हैं । व्यासजी ने भी महापुरुषत्व के साथ इसी छटा का ध्यान किया है, यथा—"त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् । मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥" (भाग० ११।५।३४) ।

तेहि बन निकट दसानन गयऊ । तब मारीच कपट-मृग भयऊ ॥१॥
अति बिचित्र कछु बरनि न जाई । कनक-देह मनि-रचित बनाई ॥२॥
सीता परम रुचिर मृग देखा । अंग अंग सुमनोहर बेखा ॥३॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला । येहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥४॥
सत्य-संध प्रभु बध करि येही । आनहु चर्म कहति बैदेही ॥५॥

अर्थ—जब रावण उस (पञ्चवटी के) वन के समीप गया, तब मारीच कपट-मृग (माया का मृग) बन गया ॥१॥ वह अत्यन्त विचित्र है, उसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता । उसने मणियों से जटित

सोने की अपनी देह बनाई है ॥२॥ श्रीसीताजी ने परम रुचिर हिरण को देखा, उसके अंग-अंग का वेष अत्यन्त मनोहर था ॥३॥ वैदेही श्रीजानकीजी कहती है कि हे देव ! हे रघुवीर ! हे कृपालु ! सुनिये, इस मृग का चर्म (खाल) अत्यन्त सुन्दर है ॥४॥ हे सत्य प्रतिज्ञ ! हे प्रभो ! इसे वध करके इसका चर्म लाइये ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि बन निकट···'—पूर्व कहा—"पंचबटी बसि श्रीरघुनायक।" (दो० २०), यहाँ उसे ही 'तेहि' कहा है। 'निकट' का भाव वाल्मी० ३।४२।१३ में कहा गया है कि रावण ने जहाँ से श्रीरामजी का केले से घिरा हुआ आश्रम देखा, वहीं रथ से उतर कर मारीच को उसे दिखाया और तब वहीं पर मारीच कपट मृग बना। रावण ने कहा था—"होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी।" अतएव वह अपनी माया से मृग बना, यथा—"तब मारीच कपट मृग भयऊ।" मृग ही बना, क्योंकि इस कला में वह कुशल था, इस रूप से श्रीसीताजी के निकट जा सकेगा। उन्हें इससे भय न होगा, तभी देखकर मोहित होंगी और इसका चर्म भी काम का होता है, शूकर आदि का नहीं।

(२) 'अति बिचित्र कछु···'—मृग प्रायः सोने के रंग के होते हैं। अतः, देह सोने की ही बनाई और उसमें रंग-बिरंग की मणियों को अत्यन्त विचित्रता रची। विचित्र होता तो कुछ कहा भी जाता, यह तो 'अति विचित्र' है।

(३) 'सीता परम रुचिर मृग देखा।'—यद्यपि वह मृग आश्रम के सभी ओर फिरता था, तथापि उसे श्रीराम-लक्ष्मणजी ने नहीं देखा, सम्भवतः ये पर्णशाला के भीतर थे—"श्रीजानकीजी पुष्प तोड़ती थीं, उधर ही यह बार-बार गया। अतः, उन्हीं की दृष्टि पड़ी।" (वाल्मी० ३।४२।३१-३२)। यह भी कहा जाता है कि माया का मृग 'माया-सीता' की ही दृष्टि में पड़ा, परन्तु यह इसलिये ठीक नहीं कि आगे यह श्रीरामजी की दृष्टि का भी विषय होगा ही।

'परम रुचिर मृग ··', यथा—उसके सींग इन्द्रनीलमणि के समान थे, मुख की आकृति कहीं श्वेत और कहीं काली थी, लाल कमल के समान मुख, नील-कमल के समान दोनों कान, गर्दन कुछ ऊँची थी, वैदूर्य मणि के समान खुर, इन्द्र-धनुष के समान उसकी पूँछ उठी थी। वह चाँदी के सैकड़ों बिन्दुओं से चित्रित था। सर्वांग नाना धातुओं से चित्रित दर्शनीय और मनोहर रूप था। इत्यादि" (वाल्मी० ३।४२) 'अंग अंग सुमनोहर बेषा।', यथा—'अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वरसम्पच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥" (वा० रा० ३।४३।१५), अर्थात् अहा कैसा रूप है, कैसी शोभा है, कैसी सुन्दर बोली है ! विचित्रांग यह अद्भुत मृग मेरा मन हर रहा है। फिर इसी सर्ग में श्रीरामजी ने भी बहुत वर्णन किया है।

(४) 'सुनहु देव रघुबीर कृपाला।···'—'देव' अर्थात् दिव्य-दृष्टि हो इससे जानते ही हो कि यह राक्षस मृग बनकर आया है। 'रघुबीर' हो, इससे दुष्टों का वध करना ही है। 'कृपाला' हो, इसलिये दुष्टों को मारकर मुनियों पर कृपा करना ही है। यह मुनि-द्रोही है, यथा—"लै सहाय धावा मुनि-द्रोही।" (बा० दो० २०९), अथवा इसपर कृपा करके मारकर इसे मुक्ति दीजिये। मुझे भी चर्म ला दीजिये।

(५) 'सत्य-संध प्रभु बध करि येही।·····'—आप सत्यप्रतिज्ञ है, निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके है, उसे पूरा करें और इसका चर्म लाने की भी प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करें। यदि आप कहें कि यह तो माया का है। अतः, चर्म कैसे मिलेगा ? उसपर कहती है—'प्रभु' आप समर्थ हैं। अतः, उस चर्म को भी सत्य कर सकते है। 'कहति बैदेही'—वैदेही शब्द से लक्षित कराते है कि ये प्रतिबिम्ब-रूपा है, इसीसे आग्रह कर रही है। वास्तविक रूप से पति-से ऐसा हठ नहीं किया जाता, यथा—"कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥" (वाल्मी० ३।४३।२१), अर्थात् अपनी इच्छा-

पूर्त्ति के लिये मैं आपसे यह जो कह रही हूँ, यह कठोर है और स्त्रियों के लिये अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, फिर भी इस मृग के देखने से मुझे नितान्त कुतूहल उत्पन्न हो गया है। यह श्रीजानकीजी का ही वचन है।

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर-काज सँवारन ॥६॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥७॥
प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥८॥
सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥९॥
प्रभुहिं बिलोकि चला मृग भाजी। धाये राम सरासन साजी ॥१०॥
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया-मृग पाछे सो धावा ॥११॥

शब्दार्थ—परिकर = कमर का फेटा। साँधा = बाण को धनुष के रोदे पर चढाया।

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी जो सब कारण जानते है, हर्षपूर्वक देव-कार्य बनाने के लिये उठे ॥६॥ मृग को देखकर (उन्होंने अपनी) कमर का फेंटा बाँधा और हाथों में सुन्दर धनुष लेकर उसपर सुन्दर बाण चढ़ाया ॥७॥ प्रभु श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी को समझाकर कहा कि हे भाई! इस वन में बहुत-से निशाचर फिरते हैं ॥८॥ तुम बुद्धि, विवेक, बल और समय का विचार करके श्रीसीताजी की रक्षा करना ॥९॥ प्रभु श्रीरामजी को देखकर वह मृग भाग चला, श्रीरामजी धनुष सजा (रोदा चढ़ा) कर उसके पीछे दौड़े ॥१०॥ वेद जिसे नेति कहते हैं और श्रीशिवजी जिसको ध्यान में नहीं पाते, वही प्रभु श्रीरामजी माया-मृग के पीछे दौड़ रहे हैं ॥११॥

विशेष—(१) 'जानत सब कारन'—प्रभु सब जानते हैं कि यह मारीच है और वहाँ रावण भी आया है। वाल्मीकीय रामायण में तो श्रीलक्ष्मणजी ने और श्रीरामजी ने भी स्पष्ट कहा है कि यह मारीच है, इसे तो मुझे मारना ही है, इत्यादि आगे भी कहा गया है, यथा—"जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर त्राता ॥" (कि० दो० २२)। 'उठे हरषि सुर·····'—दूर जाने से रावण आवेगा और श्रीसीताजी का हरण करेगा, तब देव-कार्य सिद्ध होगा। इसलिये दूर तक दौड़कर जाने के लिये परिकर बाँधते हैं। 'रुचिर सर साँधा'—मृग रुचिर है, यथा—"सीता परम रुचिर मृग देखा।" कहा गया। उसके मारने को बाण भी रुचिर ही अनुसन्धान करते है कि जिससे उसके मायिक शरीर के साथ वास्तविक शरीर को भी वेध दे। श्रीरामजी रुचिर-प्रिय है ही, यह पहले लिखा गया है।

(२) 'प्रभु लछिमनहि···बुधि बिबेक बल समय बिचारी।'—श्रीलक्ष्मणजी को यही समझाया कि समय विचारना यही है कि हमसे रावण से वैर हो चुका है, छल रूप से कोई आवे, तो बुद्धि-विवेक से विचार लेना और सामना करे तो बल से काम लेना। इन बुद्धि आदि से विचार कर काम करने से कोई भी कठिन कार्य हो सकता है, यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥ कौन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥" (कि० दो० २९)। ये इन बुद्धि आदि से रक्षा का कार्य करेंगे, आगे दो० २७ चौ० ६ पर लिखा जायगा।

(३) 'प्रभुहि बिलोकि चला···'—प्रभु ने मृग को देखा और मृग ने प्रभु को, यथा—"मृगबिलोकि कटि परिकर बाँधा।", तथा—"प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी।" अर्थात् एक ने दूसरे को देख लिया और दोनों सावधान हो गये। :मारीच ने पहले कहे हुए—"फिरि फिरि प्रभुहिं बिलोकिहउँ" को भी चरित्रतार्थ किया। 'धाये राम सरासन साजी।' पहले—"करतल चाप रुचिर सर साँधा।" कहा गया

था, पर श्रीलक्ष्मणजी को समझाने के समय उतार लिया था, क्योंकि अंगुल्यानिर्देश करना था, इसीसे अब फिर 'सरासन साजी' कहा गया।

(४) 'निगम नेति सिव···'—वेद की वाणी के विषय नहीं हैं और शिवजी के मन के द्वारा भी ध्यान के विषय नहीं है। ध्यान मन से होता है, यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह।" (बा० दो० १११)। वेद की वाणी सर्वश्रेष्ठ है और श्रीशिवजी का मन भी परम स्वच्छ है, तब भी उन्हें दुर्लभ हैं, यथा—"यतो वाचो निवर्तन्ते ॥ अप्राप्य मनसा सह ॥" (तैत्त० २।४), तथा—"मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहि सकल अनुमानी ॥" (बा० दो० ३४०)। भाव यह कि आप कृपा करके ही वाणी और मन के विषय होते हैं। 'माया मृग पाछे सो धावा'—इसकी छटा गी० अर० ३-५ में देखने योग्य है।

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई। कबहुँक प्रगटइ कबहुँ छपाई ॥१२॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी। येहि बिधि प्रभुहि गयउ लै दूरी ॥१३॥
तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ करि घोर पुकारा ॥१४॥
लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महँ रामा ॥१५॥
प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा ॥१६॥
अंतर-प्रेम तासु पहिचाना। मुनि-दुर्लभ-गति दीन्ह सुजाना ॥१७॥

दोहा—बिपुल सुमन सुर बरषहिं, गावहिं प्रभु-गुन-गाथ।
निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ ॥२७॥

अर्थ—कभी समीप आ जाना और फिर दूर भागना, कभी प्रकट होना और कभी छिप जाना ॥१२॥ इस तरह प्रकट होते और छिपते एवं बहुत छल करते हुँए वह प्रभु श्रीरामजी को दूर ले गया ॥१३॥ तब श्रीरामजी ने ताककर उसे कठिन बाण मारा, (जिससे) वह जोरों से पुकार (चीत्कार) करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१४॥ उसने पहले श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पीछे श्रीरामजी का मन में स्मरण किया ॥१५॥ प्राण छोड़ते समय उसने अपना (राक्षसी) शरीर प्रगट किया और स्नेह-सहित श्रीरामजी का स्मरण किया ॥१६॥ सुजान प्रभु श्रीरामजी ने उसके अन्तःकरण का प्रेम पहचान कर उसे मुनि-दुर्लभ मुक्ति दी ॥१७॥ देवता बहुत फूल बरसाते हैं और प्रभु के गुणों की कथा गा रहे हैं कि श्रीरघुनाथजी ऐसे दीनबन्धु हैं कि असुर को (भी) अपना पद दे दिया ॥२७॥

विशेष—(१) 'कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई।'—यह काम शरीर का है और—'कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई।'—यह माया से कर रहा है। निकट आ जाता है कि निराश होकर लौट न जायँ, फिर दूर भागता है कि कहीं यहीं पर न मार दें। इसी तरह आशा देने को प्रकट होता है और बचने को छिप जाता है। 'करत छल भूरी'—क्योंकि रावण ने कहा था—"होहु कपट-मृग तुम्ह छलकारी।" वही चरितार्थ कर रहा है। इसी तरह प्रभु को दूर ले जाना था, वही—'गयो लै दूरी।' से कहा गया है।

(२) 'तब तकि राम कठिन ·····'—'तब' अर्थात् जब जान लिया कि इतना दूर आने पर रावण का कार्य भलीभाँति हो जायगा, तब 'कठिन सर'—इसकी कठिनता वाल्मी० ३।४४।१३-१६ में देखें, जिससे न बच सके। 'घोर पुकारा'—चीत्कार के साथ कौन शब्द कहा, वही आगे कहते हैं—

(४) 'लछिमन कर प्रथमहि ·· ···'—प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी को श्रीसीताजी की रखवाली में रक्खा था, इसलिये पहले उन्हींका नाम लिया कि जिससे वे घबराकर चले आवें। वह भी श्रीरामजी के स्वर

से मिलते आर्त्त-स्वर में कहा, यथा—"रघुबर दूरि जाइ मृग मार्‌यो। लखन पुकारि राम हरुए कहि मरतहुँ बैर सँभार्‌यो ॥ सुनहु तात ! कोउ तुम्हहि पुकारत प्राननाथ की नाईं।" (गी० अर० ६), छल के लिये श्रीलक्ष्मणजी का नाम लेकर पुकारा और मुक्ति के लिये मन में श्रीराम-नाम का स्मरण किया, यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥" (दो० ३०), 'प्रान तजत प्रगटेसि···'—स्वामी का कार्य साधकर छल छोड़ दिया। वा बेहोशी में छल छूट गया, तो उसका निज शरीर प्रकट हो गया। 'सुमिरेसि राम ···'—अब केवल स्नेह से श्रीराम-नाम का स्मरण किया।

(४) 'अंतर-प्रेम तासु···'—इसने तन से छल किया—कपट मृग बना, फिर वचन से भी छल किया—श्रीलक्ष्मणजी का नाम श्रीरामजी के स्वर में पुकारा। केवल मन शुद्ध है, उसीमें प्रेम है, उसे ही श्रीरामजी ने पहचाना और मुनि-दुर्लभ गति दी। कहा ही है—'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की ॥" (बा० दो० २८), "बचन बेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन सो जो बनै, बनी बनाई राम ॥" (दोहावली १५४), इत्यादि चरितार्थ है। 'सुजाना'—मन की शुद्ध भावना जान लेने के कारण 'सुजान' कहा है, यथा—"स्वामि सुजान जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की ॥" (अ० दो० ३१३)।

(५) 'बिपुल सुमन सुर···'—'गुनगाथ'—उत्तरार्द्ध में कहा है कि असुर को भी अधमोद्धारणादि गुणों से प्रेरित हो निज पद दिया। असुर था, इससे गो-ब्राह्मण द्रोही और हिंसक था, वैसे को भी मुक्ति दी। 'दीनबंधु'—वह परमार्थ-साधन-सम्पत्ति से रंक एवं दीन था, उसके सहायक हुए।

मृग-चर्म के लिये भेजते हुए श्रीसीताजी ने जो-जो विशेषण दिये थे, वे सभी चरितार्थ हुए हैं—

देव—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन ॥"

रघुबीर—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।"

कृपाल—"निज पद दीन्ह असुर कहँ, दीनबंधु रघुनाथ।"

सत्यसंध—"तब तकि राम कठिन सर मारा। धरनि परेउ···"

प्रभु—चर्म भी लाये, आगे यही बिछाया गया है—"तापर रुचिर मृदुल मृगछाला।" (लं०दो० १०), पुनः—"हेम कोरि हरिन हनि फिरे रघुकुल मनि लखन ललित कर लिये मृगछाल।" (गी० अर० ६)।

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा ॥१॥
आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता ॥२॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता ॥३॥
भृकुटि-बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परइ कि सोई ॥४॥
मरम बचन जब सीता बोला। हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला ॥५॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन ससि राहू ॥६॥

अर्थ—उस दुष्ट को मारकर रघुबीर श्रीरामजी तुरत लौटे, उनके हाथों में धनुष और कमर में तरकस सुशोभित हो रहे हैं ॥१॥ जब श्रीसीताजी ने वह आर्त्त-वाणी सुनी, तब वे अत्यन्त डरकर श्रीलक्ष्मणजी से बोलीं ॥२॥ शीघ्र जाओ, (तुम्हारे) भाई पर अत्यन्त संकट है, श्रीलक्ष्मणजी ने हँसकर कहा—हे माता ! सुनो ॥३॥ जिसकी भौं फिरने मात्र से सृष्टि का प्रलय होता है, वे स्वप्न में भी क्या संकट में पड़ सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं ॥४॥ जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन कहा, तब प्रभु श्रीरामजी की प्रेरणा से श्रीलक्ष्मणजी का मन चलायमान (अस्थिर) हो गया ॥५॥ वन और दिशा के सब देवताओं एवं और

पशु-पक्षी आदि सब प्राणियों को सौंपकर श्रीलक्ष्मणजी वहाँ चले, जहाँ पर रावण रूपी चन्द्रमा को (ग्रसनेवाले) राहु रूपी श्रीरामजी थे ॥६॥

विशेष—(१) 'खल बधि तुरत···'—ऊपर कहा गया कि इसने मरने तक वचन और तन से छल नहीं छोड़ा। इसीसे वक्ता लोग मुक्त होने पर भी उसे खल ही कहते है, श्रीरामकृपा से मुक्ति हो जाती है पर कुनाम रहता है, यथा—"तुलसी निज करनूति बिनु, मुक्त जात जब कोइ। गयो अजामिल लोक हरि, नाम सकेउ नहि धोइ॥" (दोहावली ५३१). अर्थात् अब भी वह "अपत अजामिल···" (बा० दो० ५५), एवं—"नाम अजामिल से खल कोटि" (क० अ० ५), आदि प्रमाणों से 'अपत' और 'खल' कहा ही जाता है। 'तुरत फिरे'—क्योंकि उसके पुकारने के शब्दों से आश्रम पर छल होने की शंका हुई, यथा—"हा सीते! हा लक्ष्मण! ऐसा जोर से चिल्लाकर यह राक्षस मरा है, यह सुनकर श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी की क्या दशा हुई होगी? यह सोचकर श्रीरामजी के रोएँ खड़े हो गये। वे दुखी एवं भयभीत हुए।···" (वाल्मी० ३।४४।२४–२६)। इसीसे शीघ्र ही फिरे। खल का वध किया, इससे 'रघुबीरा' कहा और इसीसे चाप, बाण एवं तरकस का सोहना कहा गया।

(२) 'आरत गिरा सुनी जब सीता।·· '—'आरत गिरा' अर्थात् त्राहि-त्राहि लक्ष्मण, यथा—"त्राहि त्राहि दयालु रघुराई॥ ··—सुनि कृपाल अति आरत बानी।" (दो० १), "प्रनत पाल रघुबंस मनि, त्राहि त्राहि अब मोहिं। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करैंगे तोहिं॥" (लं० दो० २०), यह भी श्रीरामजी के-से स्वर में कहा, यथा—"आर्त्तस्वरं तु तं भर्त्तु र्विज्ञाय सदृशं वने। उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीह राघवम्॥" (वाल्मी० ३।४५।१), 'परम सभीता'—भर्त्ता के शब्द है और अति संकट के है, यह समझकर देह काँपने लगी, रोएँ खड़े हो गये। 'संकट अति'—जब जान लिया कि वे तुम्हारी सहायता बिना नहीं बच सकते, तब ऐसे आर्त्त स्वर से पुकार की है। अतः, शीघ्र जाओ।

(३) 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता।'—बिहँसना श्रीसीताजी की असम्भव बात पर है, क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी जानते हैं कि श्रीरामजी पर संकट नहीं पड़ सकता और ये शब्द भी श्रीरामजी के नहीं, किन्तु राक्षस मारीच के है, यथा—"न स तस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः॥ गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।" (वाल्मी० ३।४५।१६–१७), इनके हँसने पर श्रीसीताजी बुरा न मानें इसलिये 'माता' कहा है।

(४) 'भृकुटि बिलास सृष्टि···'—भौंह के इशारे मात्र से संसार भर का नाश हो जाता है, तब उनके शरीर के बल का क्या कहना है? यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहै ऐसि लड़ाई॥" (लं० दो० ६४)। इस एक ही अर्द्धाली में वाल्मी० ३।४५।१०–१५ के भावों से अधिक भाव कह दिया गया।

(५) 'मरम बचन जब सीता बोला। '—मर्म वचन वाल्मी० ३।४५।२१–२७ में लिखे गये है, यहाँ श्रीगोसाईंजी ने उन्हें लिखना नहीं चाहा, इसीसे शब्द की ध्वनि मात्र से जना दिया कि श्रीलक्ष्मणजी के हँसने पर उन्होंने और भाँति की तर्कना की कि भर्त्ता के दुःख में इसे हर्ष हुआ, तो यह अवश्य उनका अनिष्ट चाहता है। मर्म वचन के शब्द से भी जनाया है कि वे वचन श्रीलक्ष्मणजी के कानों मे बाण की तरह लगे हैं और हृदय में घाव कर दिये है, यथा—"न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे॥ श्रोत्रयोरुभयोर्मध्ये तप्तनाराच संनिभम्।" (वाल्मी० ३।४५।३०–३१), उन परुष वचनों से श्रीलक्ष्मणजी के रोएँ खड़े हो गये, यथा—"इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम्।" (वाल्मी० ३।४५।२७), 'सीता बोला'—इन दिनों हिन्दी में 'बोलना' क्रिया के साथ 'ने' चिह्न का प्रयोग नहीं है, परन्तु श्रीगोसाईंजी के प्रयोग 'सीता-बोला' पर विचार करने से हिन्दी का उपर्युक्त नियम कट जाता है। यहाँ श्रीरामचरितमानस

में 'ने' का प्रयोग कहीं भी नहीं मिला है, परन्तु इस जगह (जब श्रीसीताजी ने मर्म वचन बोला) यह ध्वनि निकलती है कि उस समय 'बोलना' में ने चिह्न का प्रयोग होता था। कतिपय विद्वानों के लेखों में 'ने' का प्रयोग दीख पड़ता है। जैसे—श्रीरामचन्द्रजी ने झूठ नहीं बोला (रामजीलाल शर्मा), उन्होंने कभी झूठ नहीं बोला (बाल-विनोद), उसने कई बोलियाँ बोलीं। (पं० अ० प्र० बाजपेयी)।

'हरि-प्रेरित लछिमन मन डोला।'—प्रभु ने दृढ़ता-पूर्वक आज्ञा दी थी कि श्रीसीताजी की रखवाली करना और उन्हें श्रीरामजी की प्रभुता पर भी दृढ़ विश्वास था, तब क्यों गये? वहीं पर आस-पास छिपे रहते—ऐसी शंका जो कोई करे, तो उसका यहाँ समाधान है कि स्वयं श्रीलक्ष्मणजी ने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया, किन्तु लीलानुरोध से भगवान् ने ही उनसे ऐसा कराया। पुनः यह भी भाव है कि भक्तों पर औरों की माया नहीं लगती, प्रभु ही प्रेरणा करके उनसे कुछ भी कराते हैं, तथा—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगम्भीरमनोनुसारिणः॥" (आलवन्दार स्तोत्र—श्रीयामुनाचार्य)। 'मन डोला'—प्रभु की आज्ञा पर अटल थे, उससे चलायमान हो गये। श्रीसीताजी को छोड़कर श्रीरामजी के पास जाने की इच्छा हुई।

(६) 'बन दिसि देव सौंपि···', यथा—"रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।" (वाल्मी० ३।४५।३४), श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी—"सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥" (दो० २६), समय पर इन्होंने वैसा ही किया भी, यथा—"बन दिसि देव सौंपि···" में बुद्धि से रक्षा करना, "भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।···"—में बिवेक से और रेखा के भीतर श्रीसीताजी को रखना, यथा—"रामानुज लघुरेख खँचाई। सोउ नहि लाँघेउ असि मनुसाई॥" (लं० दो० ३५), यह बल से रक्षा करना है।

शंका—तब वन और दिशा के देवताओं ने क्यों न रक्षा की? यदि रावण से असमर्थ थे, तो श्रीलक्ष्मणजी ही को क्यों न जना दिया? कि वे बीच से ही लौटकर बचा लेते और प्राणियों ने कुछ न किया?

समाधान—देवतागण रावण का सपरिवार नाश कराना चाहते थे। अभी कहते, तो केवल रावण ही मारा जाता, अन्य चराचर प्राणी उससे तो पूर्व ही से भयभीत हैं। हाँ, श्रीरामजी के आने पर देवताओं ने सिय-हरण की खबर कही है, यथा—"जबहि सिय-सुधि सब सुरनि सुनाई। भये सुनि सजग बिरह सरि पैरत थके थाह-सी पाई॥" (गी० अर० ११)। और, मृगों ने भी वाल्मी० ३।६४।१५--२३ में संकेत से बतलाया है कि दक्षिण दिशा में आकाश मार्ग से हरी गई है। तब उधर को ही खोजते हुए चले हैं। फिर आगे कुछ चिह्न पाये हैं।

(७) 'चले जहाँ रावण ससि राहू।'—रावण को चन्द्रमा कहा है, क्योंकि चन्द्रमा भी 'निशि-चर' है और रावण की तरह 'कुल-कलंक' भी है, यथा—"रिपि पुलस्तिजस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका॥" (मुं० दो० २२), तथा—"दिन मलीन सकलंक" (बा० दो० २३७)। चन्द्रमा गुरु-तिय-गामी है, वैसे यह भी जगज्जननी को हरनेवाला है। पूर्ण चन्द्र को राहु ग्रसता है, वैसे ही अब रावण का भी भोग पूरा हो गया। अतः, इसे श्रीरामजी नष्ट करेंगे। राहु का अपराध पहले चन्द्रमा ने किया था, वैसे ही श्रीरामजी का अपराध रावण कर रहा है। इसीके फल-रूप में वह मारा जायगा।

सूर्य को भी राहु ग्रस लेता है, पर उसकी उपमा यहाँ न दी, क्योंकि उसमें उपर्युक्त सब धर्म न आते और यह विरोध भी होता कि सूर्य-कुल के सूर्य श्रीरामजी ही इसे मारेंगे और इसका तेज हरेंगे, यथा—"तासु तेज समान प्रभु आनन।" (लं० दो० १०१), सूर्य चन्द्रमा की छवि हरते हैं, यथा—"प्रभु प्रताप रवि छविहि न हरिही।" (अ० दो० २०८), "ससि छवि हर रवि···" (दोहावली ३२३)।

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेखा ॥७॥
जाके डर सुर-असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं ॥८॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं ॥९॥
इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा ॥१०॥

शब्दार्थ—सून (शून्य) = सूना, एकान्त, वा शून्याकार (०) की रेखा। बीच = अवसर, मौका।

अर्थ—इसी अवसर पर सूना आश्रम देखकर रावण यती के वेष में समीप आया ॥७॥ जिसके डर से देवता और दैत्य डरते हैं, उन्हें रात में नींद नहीं पड़ती और वे दिन में अन्न नहीं खा पाते ॥८॥ वही दस सिरवाला रावण कुत्ते की नाईं (डरता हुआ) इधर-उधर ताकता हुआ चोरी करने के लिये, चला ॥९॥ हे पक्षिराज गरुड़ ! इसी तरह कुमार्ग में पैर रखते ही तन में तेज, बुद्धि और बल लेश-मात्र भी नहीं रह जाते ॥१०॥

विशेष—(१) 'सून बीच दसकंधर देखा'—देखा कि दोनों भाई अब दूर निकल गये, आश्रम पुरुषों से शून्य है। अतः, हरण करने का अवसर है, यथा—"सठ सूने हरि आनेहि मोहीं।" (मु० दो० ८) वा शून्य (०) = रेखा के बीच में देखा। अतः, उसमें से बाहर निकालने के लिये यति-वेष में आया, यथा—"स व्याहरद्भर्मिणि देहि भिक्षामलंघयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम्। जग्राह ···" (हनुमन्नाटक अ० ४), अर्थात् रावण के भिक्षा माँगने पर श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी के धनुष के द्वारा चिह्नित रेखा का उल्लंघन किया, त्योंही रावण ने उनका हरण किया, तथा—"रामानुज लघु रेख···" यह प्रमाण ऊपर कहा गया है। 'दसकंधर देखा'—अर्थात् दसो दिशाओं में दसो ग्रीवाओं को उठाकर देखता था। इससे यह भी जाना गया कि वह सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ, कहीं पास से ही श्रीलक्ष्मणजी का रेखा-खींचना आदि सब देखता था और इसीसे वह श्रीसीताजी को वहाँ से निकालने के लिये यती बनकर आया कि भिक्षा माँगूँगा और रेखा के भीतर की भिक्षा को बँधी भिक्षा कहकर न लूँगा, तब वे बाहर निकलेंगी। अन्य वेष पर सन्देह से बाहर न होंगी। पुनः जिस कल्प में जलन्धर रावण हुआ, उसमें वृन्दा का भगवान् के प्रति ऐसा शाप भी था कि तुमने हमको यती-रूप से छला है। अतः, इसी वेष से हमारा पति भी तुम्हारी स्त्री को हरेगा।

(२) यती का वेष, यथा—"श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्त्तत।" (वाल्मी० ३।४६।३-४), अर्थात् उज्ज्वल कापाय (गेरुआ) वस्त्र पहने हुए था, सिर पर शिखा थी, छाता और जूता धारण किये हुए था। बायें कन्धे पर उत्तम दंड और कमंडलु धारण किये हुए था। संन्यासी के रूप में वह श्रीसीताजी के पास गया। पुनः महाभारत वन-पर्व अ० २७८।१६ में इसका यति-वेष धारण करने में त्रिदंड-धारण करना भी लिखा है। त्रिदण्ड धारण करना वैष्णव यतियों में होता आया है, (अतः) इससे वैष्णव-सम्प्रदाय के त्रिदण्डी संन्यासी सनातन से होते आ रहे हैं। इससे भी पहले सत्ययुग में भी ध्रुव-प्रह्लादजी को मन्त्र-दीक्षा की प्राप्ति सुनी जाती है। श्रीरामतापनीयोपनिषद् में भी कहा है, यथा—"मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयं। उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥" यह श्रीरामजी ने कहा है। त्रिदण्ड धारण के कुछ प्रमाण लिखे जाते हैं, यथा—"रावणस्तु यतिर्भूत्वा मुण्डः कुण्डी त्रिदण्डधृक्॥" (महा० वन० २७८।१६), तथा—"त्रिदण्डधारणं मौनं जटाभारोऽथमुण्डनम्।" (महा० वन० २००।९६), त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित्। छत्रादिषु कथं न स्यात्तुल्यहेतौ परिग्रहे॥" (महा० शान्ति० ३२०।४२), "तस्मात् त्रिदण्डाभिहतागच्छ भस्मेति मा चिरम्॥·····भुवि त्रिदण्डं विष्टभ्य शाद्वले समुपाविशत्॥" (महा० अनुशा० ९३।१०८-

११०), मनु ने त्रिदण्ड धारण का रहस्य लिखा है, यथा—"वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥" (मनु० १२।१०), अर्थात् वाग्दण्ड, मनोदण्ड और देहदण्ड, ये तीनों जिसकी बुद्धि में अवस्थित हैं (अर्थात् जो बुद्धि द्वारा अपने मन, वचन और शरीर को निषिद्ध कर्मों से रोकता है), वह त्रिदण्डी कहा जाता है। मनु० ६।२६६ में भी त्रिदण्ड की चर्चा है। इस प्रकार के बहुत प्रमाण हैं।

(३) 'जाके डर सुर-असुर डेराहीं।'—सुर से स्वर्ग का और असुर से पाताल का कहा, मर्त्यलोक का नहीं कहा गया, क्योंकि देवता और दैत्यों के समक्ष में नर की कोई गिनती ही नहीं, यथा—"जितेहु सुरासुर तव श्रम नाहीं। नर नानर केहि लेखे माहीं ॥" (सु० दो० ३६)।

(४) 'सो दससीस स्वान की नाईं।'''—कुत्ते की चोरी को भिड़िहाई कहते हैं, वह चोरी करने चलता है, तो इधर-उधर भय से देखता रहता है। रावण यती के वेष में कुत्ते का-सा काम करता है, इससे इसकी कीर्ति नष्ट हो जायगी और विजय न होगी, यथा—"सार्दूल को स्वाँग करि कूकर की करतूति। तुलसी तापर चहत है, कीरति विजय बिभूति ॥" (दोहावली ४१२), तथा—"नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्यमानिना। अपनीयाश्रमाद्रामं यन्मृगच्छद्मना त्वया ॥ आनीता रामपत्नी सा अपनीय च लक्ष्मणम्। कातर्यं च न ते युद्धे कदाचित्संस्मराम्यहम् ॥" (वाल्मी० ३।११।६८-६९), अर्थात् (मन्दोदरी ने कहा है—) शूरमानी होकर आपने स्त्री चुराने का यह छोटा काम क्यों किया ? आप मृग के कपट से श्रीरामजी को आश्रम से दूरकर, श्रीलक्ष्मणजी को भी दूरकर रामजी की स्त्री को ले आये। (इसके अतिरिक्त) आपने युद्ध में कायरता की हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। एवं—"रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तारामक्षममतापहृता श्ववत् ते।" (भाग० ९।१०।२२), अर्थात् श्रीरामजी ने रावण से कहा—"नीच राक्षस ! तुम कुत्ते की नाईं हमारी अनुपस्थिति में हमारी प्रियपत्नी को हर लाये, यह दुष्टता की हद कर दी।

(५) 'इमि कुपंथ पग देत ·····'—'कुपंथ'—श्रीसीताजी की चोरी करना कुमार्ग पर चलना है, यथा—"रे त्रिय चोर कुमारग गामी।" (लं० दो० ३१), इससे रावण का तेज नष्ट हुआ, इसीसे डरता हुआ वह चोर की तरह जा रहा है, यथा—"सो दससीस स्वान की ···"। बल का नाश, यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि पर नारी ॥" (लं० दो० २९), बुद्धि का भी नाश हो गया, क्योंकि समझता है कि श्रीसीताजी का कोई पता ही न पावेगा, पुनः श्रीरामजी राजकुमार ही तो हैं, पता लेकर जायँगे भी तो उन्हें जीत लूँगा।

बुद्धि, बल और तेज के नष्ट हो जाने से इसे विजय नहीं मिल सकती, यथा—"बुधि बल सकिय जीति जाही सों।" (लं० दो० ५), "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।" (सु० दो० १७), रावण प्रतापी राजा था, पर इस हीन कर्म से उसके तेज और बल नष्ट हो गये। अतः, चोर की तरह जा रहा है।

नाना बिधि करि कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई ॥११॥
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥१२॥
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की सुहावनी कथाएँ उसने रचकर कहीं और राजनीति, भय और प्रीति दिखाई ॥११॥ श्रीसीताजी ने कहा—हे यती गोसाईं ! सुनो, तुम दुष्ट की तरह वचन बोल रहे हो ॥१२॥ तब रावण ने अपना (वास्तविक) रूप दिखाया और जब उसने अपना 'रावण' यह नाम भी सुनाया, तब वे डर गईं ॥१३॥

विशेष—(१) 'नाना विधि करि·····'—'कथा सुहाई' से शृंगार रस उद्दीपन की कथाएँ ली जा सकती हैं। श्रीसीताजी की सुन्दरता सराही, फिर प्रेमी और प्रेमिकाओं की और कथाएँ कहीं। पुनः इन्हें राज्य-सुख भोग का प्रलोभन दिया।

(२) 'राजनीति भय प्रीति देखाई।'—राजनीति की दृष्टि से राज्य मात्र का रत्न राजा का होता है। तुम स्त्रियों में उत्तम रत्न हो, इससे तुम्हारे पास हम आये है, हमारे साथ चलो। तुम्हारे भर्त्ता नीति नहीं जानते, तभी तो वहाँ राज्य से च्युत हो गये, तब वन आये। यहाँ भी तुम्हें अकेली छोड़कर चले गये, इत्यादि। भय - यह तो निशाचरों का स्थान है, यहाँ तुम्हारे लिये भय है। यहाँ बाघ, सिंह आदि भयंकर जीव रहते है। अतः, यह तुम्हारे रहने योग्य नहीं है। प्रीति—तुम तो राजमहलों में रहने के योग्य हो, चलकर हमारी लंका की स्वामिनी बनो। वहाँ का राज्य-तिलक पाकर हमारे साथ सुशोभित होओ, हमारी सब स्त्रियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, हम सब प्रकार से रक्षा करेंगे, इत्यादि तीनों दिखाये, यथा—"भय अरु प्रीति नीति देखराई।" (कि० दो० १८)। 'भय' वाल्मी० ३।४६।२६-३१ में और 'प्रीति' वाल्मी० ३।४६।२४--२८ में देखिये।

(३) 'कह सीता सुनु जती ·· ··'—'गोसाईं' अर्थात् यती तो इन्द्रियजित होते है, उनका तो पर-स्त्रियों में माता का भाव रहता है, पर तुम तो दुष्टों के-से वचन कह रहे हो। श्रीसीताजी साधु को इतना मानती हैं कि उसके दुष्ट वचन सुनकर भी वेष की मर्यादा रखती हुई उसके वचन-मात्र को 'दुष्ट के-से' कहती है, यह भी नहीं कहा कि तू दुष्ट है।

(४) 'तब रावन निज रूप·····'—जब हमारे यती-रूप के कारण से हमारे वचन को अयोग्य मानती हो, तब अब हम अपना वास्तविक रूप प्रकट करते है, इसे ग्रहण करो। इस रूप से हम तीनों लोकों के राजा है। 'भई सभय जब नाम सुनावा'—नाम सुनने से अधिक भय हुआ, क्योंकि इसके नाम और दुष्टता को सुन चुकी थी। इसका नाम रूप की अपेक्षा अधिक भयंकर भी था, यथा—"बीधौ श्रवन सुनें नहि मोहीं। देखउँ अति असंक सठ तोहीं॥" (सुं० दो० २०)।

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा॥१४॥
जिमि हरि बधुहि छुद्र सस चाहा। भयेसि कालबस निसिचर-नाहा॥१५॥
सुनत बचन दससीस रिसाना। मन महँ चरन बंदि सुख माना॥१६॥

दोहा—क्रोधवंत तब रावन, लीन्हिसि रथ बैठाइ।
चला गगन-पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाइ॥२८॥

अर्थ—श्रीसीताजी ने विशेष धैर्य धारण करके कहा कि अरे दुष्ट! खड़ा रह, प्रभु आ गये॥१४॥ सिंह की स्त्री को चाहनेवाले खरगोश के जैसे तुच्छ निशाचर-राज! तू काल के वश हुआ है॥१५॥ वचन सुनते ही रावण क्रुद्ध हुआ, पर मन में इनके चरणों की वन्दना करके उसने सुख माना॥१६॥ तब क्रोध से भरे हुए रावण ने उन्हें रथ में बैठा लिया और वह आकाश-मार्ग से आतुरता के साथ चल दिया, भय के मारे उससे रथ हाँका नहीं जाता था॥२८॥

विशेष—(१) 'कह सीता धरि धीरज गाढ़ा।'—उसके रूप और नाम से अत्यन्त डर गई है, इसीसे बहुत भारी धैर्य धरने पर बोल सकीं। 'आइ गयउ प्रभु'—अर्थात् तुम्हें दण्ड देने में वे पूर्ण समर्थ है। रावण ने इन्हें भय दिखाया था, यथा—"राजनीति भय प्रीति देखाई।" वैसे ये भी उसे भय दिखाती हैं, या—"आइ गयउ प्रभु···" इसका प्रभाव भी पड़ा—"भय रथ हाँकि न जाइ।" तुरत कहा है। 'खल रहु···'—साधु वेष छोड़ने पर अब उसे खल कहती हैं।

(२) 'जिमि हरि बधुहि छुद्र सस···'—प्रभु कैसे दण्ड दे सकते हैं, यही दिखा रही है कि सिंह की स्त्री के चाहने पर खरगोश की जैसी दुर्दशा हो, वैसी ही तेरी दशा होगी। श्रीसीताजी ने पहले भी कहा था—"को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा। सिंह बधुहिं जिमि ससक सियारा॥" (अ० दो० ६६) —देखिये। उन्हीं बातों को अवसर पर यहाँ भी कहा। 'निसिचर-नाहा'—भाव यह कि तू स्वजनों एवं आश्रितों के साथ नाश होगा, यथा—"काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (सुं० दो० ३९), "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई॥" (सुं० दो० ३५)।

(३) 'सुनत बचन दससीस रिसाना।···'—श्रीसीताजी ने श्रीरामजी को 'सिंह' और इसे 'क्षुद्र शश' कहा। इस वचन पर उसे क्रोध हुआ, यथा—"आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥" (सुं० दो० ९), रावण मानी है, इससे मान-हानि पर उसे क्रोध हुआ।

(४) 'मन महँ चरन बंदि सुख माना।'—श्रीसीताजी के पातिव्रत्य पर प्रभावित होकर रावण ने मानसिक प्रणाम किया कि पतिव्रता को अपने धर्म का ऐसा ही गर्व होना चाहिये। यह—"डाटे पै नव नीच।" (सुं० दो० ५८), की रीति का प्रणाम है। मान-भंग की लज्जा से किया हुआ प्रणाम है। भक्ति-भाव का नहीं, क्योंकि सुष्ठु हृदय एवं भक्ति से प्रणाम करता, तो फिर देवी की शरण होकर क्षमा माँगता। तुरत ही क्रोध और भय कैसे होते? ये सकामता-बिना नहीं हो सकते। आगे भी श्रीसीताजी को सिर काटने की धमकी देगा। पुनः श्रीरामजी से जीतने के लिये यज्ञ भी करेगा। सेतु-बन्धन सुनकर घबरा गया, इत्यादि बहुत-से मानसिक विकार हुए, जिससे उसकी मानसिक भक्ति खंडित हो जाती है।

(५) 'क्रोधवंत तब रावन, लीन्हिसि रथ···'—किस तरह रावण ने रथ मे बैठाया, इस विषय में मतभेद है, सर्वमत रखते हुए यहाँ रथ में बैठाना ही कहा गया है। 'भय रथ हाँकि न जाइ'—श्रीसीताजी ने कहा था—'आइ गयउ प्रभु···" उसीका भय है, यथा—"भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।" (अ० दो० २४), डर से सर्वांग शिथिल पड़ गये, हाथ काम नहीं देते। रथ यहाँ पहले न था, समय पर स्मरण करके मायामय रथ मँगा लिया, इसीपर चढ़ कर मारीच के पास आया था, वह कहीं समीप में था, यथा—"स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः। प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः॥" (वाल्मी० ३।४९।१९)।

सीता-हरण के हेतु

भगवान् के चरित के अनेक हेतु होते हैं। उनकी ही कृपा से सब कोई यथा-मति अनुमान करते हैं। श्रीसीताजी श्रीरामजी की आदि शक्ति हैं, तत्त्वतः उनसे अभिन्न है। माधुर्य में दोनों पति-पत्नी-भाव से विराजमान हैं। वास्तविक दृष्टि से आप दोनों में कभी वियोग होता ही नहीं—वि० पु० १।९। १४२-१४५ देखिये। पर नर-नाट्य में इन सती-शिरोमणि का भी हरण होता है और वियोग मे श्रीरामजी रोते है, इत्यादि। यह चरित जान-बूझकर किया भी जाता है, यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काज सँवारन॥" (दो २६), वाल्मीकीय रामायण में भी श्रीलक्ष्मणजी ने बार-बार चेताया है कि यह मारीच की माया है, श्रीरामजी ने भी अपना जानना स्पष्ट कर दिया है। इस ग्रन्थ में श्रीसीताजी से भी ऐकान्तिक-सम्मत करना स्पष्ट है। वाल्मी० सुं० सर्ग २२ में श्रीसीताजी ने रावण से कह भी दिया है कि मैं अपने तेज से तुझे जला सकती हूँ, पर श्रीरामजी की आज्ञा नहीं है, इत्यादि। तब हरण-लीला के कौन हेतु हैं? इसपर कुछ हेतु लिखे जाते हैं—

(क) दण्डकवन के ऋषियों ने शरणागति की और अपने दुःख सुनाये। इसपर श्रीरामजी राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की, वाल्मी० ३।६।२५ तथा मानस में भी "भुज उठाय पन कीन्ह" कहा है। इसपर

वाल्मी० अर० सर्ग ६ में—"श्रीसीताजी ने श्रीरामजी से कहा कि मनुष्यों को इच्छा से उत्पन्न तीन दोष होते हैं—एक तो मिथ्या वचन, पुनः इससे भी बड़े दो और हैं—पर-स्त्री में भार्या का भाव और बिना विरोध के क्रूर कर्म करना। इनमें मिथ्या-भाषण और पर-स्त्री की चाह तो आपमें स्वप्न में भी नहीं है, पर तीसरे का संयोग आ बना है, जो आपने राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है। राक्षस लोगों ने आपका अपराध नहीं किया, फिर भी उन्हें मारेंगे, तो आपका चरित्र दूषित होगा। अतः, आपका शस्त्र साथ रखना ही ठीक नहीं, तपस्वि-वेष के साथ यह अनुचित है, इसपर आपने एक इतिहास कहा। तब श्रीरामजी ने यही कहा कि मैं शस्त्रास्त्र साधुओं की रक्षा के लिये रखता हूँ कि वे दुःखद वचन सुनावें, तो इनसे उनकी रक्षा करूँ और इसीपर मैंने प्रतिज्ञा कर ली, अब उसे छोड़ नहीं सकता, इत्यादि"।

तब श्रीसीताजी ने हृदय से निश्चय किया कि ऐसा संघटन हो कि राक्षस लोग मेरा हरण करें और इससे दोषी बनें, क्योंकि परस्त्री-हरण आततायीपन है। फिर मुझे न छोड़ने के विचार से युद्ध का सामना करके लड़ेंगे तब मारे जाने पर भर्ता का यश निर्मल रहेगा। इस प्रकार पति-संयोग का अपना स्वार्थ छोड़कर कठिन वियोग सहकर श्रीसीताजी ने शुद्ध भक्ति भर्त्ता की, की है। इसलिये जान-बूझकर श्री-महारानीजी ने यह लीला की है।

इसी तरह दूसरी बार वाल्मीकि-आश्रम में जाने की लीला भी विस्तृत-चरित-निर्माण के लिये ही हुई है, क्योंकि लंका-विजय करके श्रीरामजी आये और १०००० वर्ष तक उन्होंने राज्य किया, तबतक तो किसीने कुछ नहीं कहा। पीछे श्रीसीताजी ने ही वह हेतु भी रच लिया कि पहले आपने श्रीरामजी से ऋषि-आश्रम को जाने और उनकी पूजा करने का वर माँग लिया और फिर श्रीरामजी जब बाहर आये, तब सखाओं से श्रीसीताजी के विषय में निन्दा परक दुरुक्ति सुनी। जिससे उन्हें वन भेजा और वाल्मीकि के ही आश्रम में पहुँचाया। श्रीवाल्मीकिजी का इनमें पुत्रि-भाव था। बिना कारण इनका दूषित होना और इनका रोना सुनकर वे न रह सके, तब उन्होंने ध्यानात्मक सारा चरित रचा। श्रीसीताजी के लंका रहने मात्र के चरित की सफाई देते तो लोग अपूर्ण ही समझते। इसलिये जो चरित पुरजनों ने देखा है उसे भी लिखा कि इसी तरह परोक्ष के चरित को भी सत्य जानें। इनसे सम्पूर्ण चरित्र को सीता-चरित ही कहा है, यथा—"कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्॥" (वाल्मी० १।४।७), क्योंकि श्रीसीताजी की शुद्धता प्रकट करने के लिये सब रचा गया है। दस-ग्यारह वर्षों में रचा गया, क्योंकि शत्रुघ्नजी मथुरा गये, तब प्रारम्भ हुआ था और फिर १२ वर्ष बाद लौटे तब पूरा हो चुका था। उसी बीच लव-कुश का यज्ञोपवीत होने पर उन्हें ही वह पढ़ाया गया। फिर यज्ञ में जहाँ संसार-भर के लोग एकत्रित थे वहाँ श्रीवाल्मीकिजी गये। बाहर ही रहते हुए बालकों से पहले नगर में गान कराया गया। तब पीछे राजा श्रीरामजी के यहाँ यह गान हुआ, उसे सभी ने सत्य माना। ब्रह्माजी ने भी आकर साक्षी दी कि इस रामायण के चरित अक्षरशः सब सत्य है, बस, वहीं पर श्रीसीताजी अपनी लीला का उपसंहार करती हैं। जबतक पृथ्वी रहेगी, यह श्रीरामजी की कीर्त्ति भी अचल रहेगी, इसीके पठन-पाठन से संसार तरेगा, यह कृपामयी देवी के कृपासमुद्र का एक तरंग है। यहाँ भी अपना पति-साहचर्य का दिव्य सुख छोड़कर और कठिन वियोग दुःख सहकर पति-यश निर्माण कराके स्वार्थ-रहित पति सेवा की है। स्वामी ने भी प्रियाजी से लंका में संयोग होने पर, उपेक्षा कर भारी धैर्य से निष्ठुर वचन कहकर, प्रियाजी का यश अग्नि-परीक्षा के द्वारा प्रसिद्ध किया है। पुनः वाल्मीकि-आश्रम से आने पर भी उनका यश फैलाने के लिये यज्ञ-स्थल में समस्त द्वीपों के राजाओं के समक्ष उनकी सफाई शपथ द्वारा कराई है। यह दोनों ओर परम-पावन-प्रीति की पराकाष्ठा है। इसी प्रसंग पर ऐसा ही श्रीगोस्वामीजी ने भी लिखा है, यथा—"राम जोगवत सीय-मन प्रिय मनहि प्रान प्रियाउ। परम पावन प्रेम परिमिति समुझि तुलसी गाउ॥" (गी० उ० २५)।

(ख) रावण ने देव, यक्ष, गन्धर्व आदि की कन्याओं को बलात् ला-लाकर उनसे विवाह किया।

कितनी वहाँ कैद थीं। देवताओं ने बार-बार प्रभु के समक्ष दुःख रोये। उन देवियों की दारुण विपत्ति छुड़ाने के लिये करुणावश श्रीसीताजी ने उनको सान्त्वना के लिये स्वयं भी कैद होना स्वीकार किया और फिर सबको मुक्त कराया।

(ग) रामायण में तीन जगह भागवतापराधों का होना और उनके कराल दंड लिखे गये हैं। (१) विभीषणजी को रावण ने लात मारी और उसके फलरूप में सपरिवार वह मारा गया, यथा—"तौ लौ न दाप दल्यो दसकंधर जौ लौं बिभीषन लात न मार्‌यो।" (क० उ० ३)। (२) लंका में राक्षसों ने हनुमानजी के बाँधे जाने पर उन्हें लात मारी है। रावण ने तो तेल बोर पट बाँधकर आग लगाने एवं नगर में फिराने को ही कहा था। उसके फल-स्वरूप उसके सोने के भी घर-बार राख कर दिये गये। (३) यहाँ स्वयं श्रीमहारानीजी ने यह कार्य करके स्वयं उसका फल भोगा और संसार को शिक्षा दी। परम भागवत श्रीलक्ष्मणजी को जो अत्यन्त अयोग्य वचन कहा, उसके परिणाम मे कठिन वियोग का महान् दुःख भोगा।

हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया ॥१॥
आरति-हरन सरन-सुख - दायक। हा रघुकुल-सरोज-दिननायक ॥२॥
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा ॥३॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही ॥४॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा ॥५॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी ॥६॥

शब्दार्थ—पुरोडास = हवि, यज्ञ का भाग, यज्ञ से बचा हुआ हवि का अवशिष्ट।

अर्थ—हा जगत् के एक ही (अद्वितीय) वीर रघुराज श्रीरामजी! मेरे किस अपराध पर (आपने मुझपर) दया भुला दी ॥१॥ हे आर्त्ति (दुःख) हरनेवाले! हे शरणागत के सुख देनेवाले! हा रघुकुल-रूपी कमल के सूर्य! हा लक्ष्मण! तुम्हारा कुछ दोष नहीं, मैंने जैसा क्रोध किया वैसा उसका फल पाया ॥२-३॥ वैदेही श्रीसीताजी विविध प्रकार से विलाप कर रही हैं—कृपा के समूह और स्नेही प्रभु दूर निकल गये ॥४॥ मेरी विपत्ति उन प्रभु को कौन सुनावेगा? यज्ञ की हवि (खीर) को गधा खाना चाहता है ॥५॥ इस प्रकार का श्रीसीताजी का भारी विलाप सुनकर स्थावर-जंगम (जड़-चेतन) सभी जीव दुखी हुए ॥६॥

विशेष—(१) 'हा जगदेक वीर'· ···', यथा—"हा राम हा रमण हा जगदेक वीर हा नाथ हा रघुपते किमुपेक्षसे माम्॥" (हनुमन्नाटक अं० ४), 'जगदेक वीर'—यह धनुर्भंग और जयन्त-प्रसंग एवं खरदूषण-वध में आँखों से देखकर कह रही है। किंचित् अपराध मेरा किया, उसपर तो जयन्त को तीनों लोकों में शरण न मिली। वही मैं हूँ और आप वही वीर हैं, फिर अब मुझे क्यों नहीं बचाते? यह बात स्पष्ट रूप में श्रीहनुमानजी से आपने सुन्दर काण्ड में कही है। 'रघुराया'—रघुराज के पराक्रम को रावण भी मान गया था और आप तो उस कुल के शिरमौर हैं। अतः, मेरी रक्षा कीजिये।

(२) 'आरति-हरन·····'—आप आर्त्ति-हरण हैं, मैं आर्त्त हूँ। आप शरणागत को सुख देनेवाले हैं, मैं शरणागत हूँ। आप रघुकुल-कमल के सूर्य हैं, मेरे-हरण से कुल सकुचित हो जायगा। अतः, अपने कुल को शीघ्र बचाइये और उसे प्रफुल्लित कीजिये। पहले 'केहि अपराध' कहा, अब स्वयं अपराध मानती हैं—

(३) 'हा लछिमन·····'—यहाँ श्रीलक्ष्मणजी को निर्दोष बना अपना दोष मानकर फिर क्षमा चाहती हैं कि मैंने जो क्रोध किया था, उसका फल पाया, यथा—"कहे कटु बचन रेख लाँघी मैं तात क्षमा

सो कीजै। परी बधिक बस राजमरालिनि लपनलाल छिनि लीजै ॥" (गी० अर० ७), "हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक। ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा ॥" (वाल्मी० ३।४९।२४)।

(४) 'बिबिध बिलाप करति बैदेही।··· ··', यथा --"बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गये मृग संग परम सनेही।" (गी० अर० ७) 'बैदेही' अर्थात् देह-सुधि जाती रही। 'भूरि कृपा प्रभु'—आप सुन पाते तो अवश्य रक्षा करते, क्योंकि भूरि कृपावान् हैं और स्नेही हैं, पर आप दूर पड़ गये।

(५) 'बिपति मोरि को प्रभुहि ··'—'को' से यहाँ उनपर तात्पर्य है जिन्हें श्रीलक्ष्मणजी सौंप गये है, यथा—"बन दिसि देव सौंपि सब काहू।" इसे गी० अर० ७ मे स्पष्ट किया है, यथा—"बन देवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं। गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों, त्यों पर-हाथ परी हौं ॥" तथा—"दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे। नमस्कारोऽस्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ॥ यानि कानिचिदन्यत्र सत्त्वानि विविधानि च। सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ॥" (वाल्मी० ३।४९।२२-३३), 'पुरोडास चह ··'—इन्द्र का हवि-भाग गदहा चाहता है, पर पा नहीं सकता, चाहे मर भले ही जाय। वैसी ही रावण की गति होगी।

इन पाँच अर्द्धालियों में श्रीसीताजी का विलाप कहा गया। आगे—"हा गुन खानि···" से "मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥" तक की दस अर्द्धालियों में श्रीरामजी का विलाप कहा गया है। कारण यह है, इनके प्रेम के जाननेवाले एक श्रीरामजी ही हैं, यथा—"तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥" (सुं० १४), सच्चा प्रेम प्रेम-पात्र के हृदय को क्षुभित कर देता है, चाहे वह कितनी ही दूर पर क्यों न हो ? प्रेमी और प्रेम-पात्र अन्योन्याश्रित होते हैं, यह यहाँ चरितार्थ है, श्रीसीताजी की विरह-व्याकुलता पर श्रीरामजी उनसे दूना व्याकुल होते हैं। इनका 'बैदेही' शब्द से वेसुध होना कहा गया है, तो वहाँ 'लता तरु पाती' एवं 'खग मृग' से महा विरही एवं प्रमत्त की तरह पूछना कहा है। महा स्त्रैण की तरह इनके रूप-गुण आदि का बखान करते और विलाप करते हैं, इससे—"तुम्ह ते प्रेम राम कर दूना।" (सुं० दो० १४), यह वचन चरितार्थ हुआ है।

भगवान् का श्रीमुख-वचन है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गी० ४।११), अर्थात् भक्त लोग हमारे प्रति जितना व्याकुल होते है हम भी उनके लिये उतना ही व्याकुल होते है, तथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख काँति ॥" (वि० २३३), परन्तु प्रेम-व्याकुली के प्रति तो श्रीरामजी दूने व्याकुल होते हैं, यह यहाँ पर भक्तों को दिखाया है। इस 'ललित नर लीला' से वियोग-शृंगार का यथार्थ भाव दिखाया है जो कि भक्ति का एक मुख्य अंग है।

(६) 'सीता कै बिलाप सुनि ··· ···'—जैसे श्रीरामजी के वियोग में चराचर का दुखी होना कहा गया था, यथा—"बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। ··हय गय कोटिन्ह केलि मृग ··राम बियोग बिकल सब ठाढ़े।" (अ० दो० ८३), वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजी के वियोग में भी चराचर का दुखी होना है, यथा—"सरितजल मलिन, सरनि सूखे नलिन, अलिन गुंजत, कल कूजैं न मराल। कोलिन कोल किरात जहाँ-तहाँ बिलखात, बन न बिलोकि जात खग-मृग-माल ॥ तरु जे जानकी लाये, ज्याये हरि करि कपि हेरैं न हुँकरि, झरैं फल न रसाल। जे सुक सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले, तेऊ न पढ़त न पढ़ावै मुनि बाल ॥ (गी० अर० ९), क्योंकि आप दोनो तत्त्वतः एक है और सबकी आत्मा हैं, यथा--"अंतरजामी राम-सिय···" (अ० दो० २५६), इससे इनका विरह सबको व्याप गया।

शंका—अचर जीवों ने कैसे सुना ? और वे कैसे दुखी हुए ?

समाधान—अचर से उनके अधिष्ठातृ-देवताओं का सुनना और उनके दुखी होने से उनके स्थूलांग मे भी विकार का पहुँचना अभिप्रेत है, यथा—"मैल सकल जहँ लगि जग माहीं। गावहि मंगल सहित सनेहा ॥" (बा० दो० ९३), (—यह प्रसंग देखिये)।

चराचर सब दुखी ही हुए, पर कुछ कर न सके, जिसने सुनकर पुरुषार्थ कर दिखाया, उसे आगे कहते हैं—

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुल-तिलक-नारि पहिचानी ॥ ७ ॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछबस कपिला गाई ॥ ८ ॥
सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहउँ जातुधान कर नासा ॥ ९ ॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे। छूटै पवि पर्वत कहँ जैसे ॥१०॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही। निर्भय चलेसि न जानेहि मोही ॥११॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने श्रीसीताजी की दुःख भरी वाणी सुनकर पहचाना कि ये रघुकुल-श्रेष्ठ श्रीरामजी की पत्नी है ॥७॥ अधम निशाचर इन्हें (इस तरह) लिये जाता है, जैसे कपिला गाय म्लेच्छ के वश में पड़ गई हो ॥८॥ (वे बोले) हे श्रीसीते ! हे पुत्रि ! डरो मत, मै इस निशाचर का नाश करूँगा ॥९॥ क्रोध मे भरा हुआ वह पक्षी कैसे दौड़ा, जैसे पहाड़ के तोड़ने को वज्र छूटता है ॥१०॥ (जटायु ने कहा) रे रे दुष्ट ! खड़ा क्यों नहीं होता ? निर्भय चला जाता है, क्या मुझे जानता नहीं ? ॥११॥

विशेष—(१) 'गीधराज सुनि ''—राजा रावण से लड़ने के सम्बन्ध से 'गीधराज' कहा है, क्योंकि राजा से राजा ही लड़ता है। पुनः राजकुमारी का छुड़ाना और म्लेच्छ से कपिला गाय का बचाना भी राजा का ही कार्य है। 'सुनि आरत बानी'—"हा जगदेक वीर'''" से "हा रघुकुल सरोज-दिन-नायक" तक आर्त्त वाणी सुनी और इसीसे उन्हें रघुकुल-तिलक की महारानी जाना।

(२) 'अधम निसाचर लीन्हे जाई।'''—कहाँ तो रघुकुल-श्रेष्ठ की धर्मपत्नी और कहाँ यह अधम राक्षस ? इसका यह कार्य बड़ा ही गर्हित है, जैसे कपिला गाय का म्लेच्छ द्वारा हरा जाना। अतएव रक्षा करना सभीका धर्म है, फिर मै राजा हूँ, गृध्रराज हूँ, मुझे तो अवश्य ही इसकी रक्षा करनी चाहिये, यथा—"गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों, त्यों पर हाथ परी हौं ॥ तुलसि दास रघुनाथ-नाम-धुनि अकनि गीध धुकि धायो। 'पुत्रि-पुत्रि' ! जनि डरहि, न जैहै नीच, मीच हौं आयो ॥" (गी० अर० ७)।

(३) 'सीते पुत्रि करसि'''—जटायुजी राजा श्रीदशरथजी के सखा है, इससे श्रीरामजी इनके पुत्र के समान हैं और ये श्रीसीताजी पुत्र-वधू है, इससे कन्या के समान वात्सल्य की अधिकारिणी है, यथा—"अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी ॥" (कि० दो० ८), इससे 'पुत्रि' कहा। 'राक्षस का नाश करूँगा' ऐसा कहकर धैर्य दिया और श्रीसीताजी को प्रसन्न किया।

(४) 'छूटै पवि पर्वत कहँ जैसे।'—ऊपर से क्रोध-पूर्वक पंख समेटकर वज्र के समान वेग से चले, वज्र गिरने से पर्वत विदीर्ण हो जाता है, वैसे ही रावण पर भी बीती, यथा—"चोचन्हि मारि बिदारेसि देही। दन्ड एक भइ मुरुछा तेही ॥" आगे कहा है।

(५) 'रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही'''—रावण दुष्ट था, इसीसे प्रायः सभीने उसे दुष्ट कहा है, यथा—"बोलेहु बचन दुष्ट की नाई।"—श्रीसीताजी, "यह दुष्ट मारेउ नाथ पर द्रोह रत अति दुष्ट।" (लं० दो० १११)—इन्द्र, वैसे ही यहाँ जटायुजी भी कहते हैं—रे रे दुष्ट'''।

(६) 'न जानेहि मोही।'—यह नहीं जानता कि मैं इनका रक्षक हूँ और वीर हूँ, यथा—"जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।" (वाल्मी० ३। ५०।३), क्या मुझे नहीं जानता ? इससे जान पड़ता है कि जटायु की शूरता प्रसिद्ध थी। राजा श्रीदशरथजी के साथ इन्होंने शनैश्चर को पराजित किया था, पूर्व कथा कही गई। जटायुजी ने श्रीसीताजी की रक्षा का भार लिया था, यथा—"सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥" (वाल्मी० ३।१४।३४), इसीसे यहाँ रक्षा में सन्नद्ध हुए, तथा—"तिष्ठ

तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्त्तं पश्य रावण। वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्। युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर॥" (वाल्मी० ३।५०।२८)।

आवत देखि कृतांत - समाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना॥१२॥
की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥१३॥
जाना जरठ जटायू येहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा॥१४॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा॥१५॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिंत अस होइहि बहुबाहू॥१६॥
राम-रोष - पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥१७॥

अर्थ—यमराज एवं मृत्यु के समान जटायु को आते हुए देखकर दशानन रावण फिरकर अपने मन में अनुमान (विचार) करने लगा॥१२॥ कि यह या तो मैनाक पहाड़ होगा अथवा पक्षियों का राजा गरुड़ होगा; पर वह तो अपने स्वामी विष्णु के साथ मेरे बल को अच्छी तरह जानता है॥१३॥ फिर (पास आने पर) पहचाना कि यह बूढ़ा जटायु है, यह मेरे हाथ रूपी तीर्थ में अपना शरीर छोड़ेगा॥१४॥ यह सुनकर जटायु गृध्र क्रोध से भरकर शीघ्र दौड़ा और बोला कि रावण! तुम मेरा सिखावन सुनो॥१५॥ श्रीजानकीजी को छोड़कर कुशल पूर्वक घर चले जाओ, नहीं तो, हे बहुत भुजाओंवाले! ऐसा होगा॥१६॥ कि श्रीरामजी के क्रोध-रूपी अत्यन्त भयंकर अग्नि में तुम्हारा सारा परिवार फनगा हो जायगा॥१७॥

विशेष—(१) 'की मैनाक कि खगपति होई।···'—मैनाक तो इन्द्र के वज्र के डर से समुद्र में जा छिपा था और मेरे डर से इन्द्र भी भागा फिरता है, तब मैनाक मेरे सामने कैसे आवेगा? कुछ और समीप आने पर पक्षिराज गरुड़ का अनुमान किया और जाना कि यह तो विष्णु-सहित भी मेरा कुछ न कर सका था, तो अब अकेला कैसे आवेगा, यथा—"ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखित पीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ॥" (वाल्मी० ५।१०।१६), अर्थात् इन्द्र और विष्णु रावण का कुछ नहीं कर सके थे। यहाँ 'सन्देहालंकार' है।

(२) 'मम कर तीरथ छाड़िहि देहा।'—रावण को पक्षी आदि से अमरत्व का वर मिला ही है, इससे ऐसा अभिमान का वचन कहा कि यह तो बूढ़ा है। जैसे बूढ़े लोग मोक्ष के लिये तीर्थों में प्राण छोड़ने जाते हैं, वैसे यह मेरे हाथों से मरकर बुढ़ापे के कष्टों से मुक्त होने आता है, अर्थात् यह तो मानो मरा हुआ है ही।

(३) 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा'—पहले रावण अनुमान ही करता था, मैनाक और गरुड़ तक का अनुमान तो मन में ही किया, पर पास आने पर जटायु को पहचाना, तब—'जाना जरठ···' यह इसने गर्व में आकर वचन से भी कहा—'अहा! मैं जान गया···' इसीसे आगे 'सुनत गीध' कहा गया है। 'क्रोधातुर धावा'—जब रावण फिरकर अनुमान करता हुआ कुछ ठहर गया, तो जटायु भी धीमे वेग में हो गये थे, पर जब उसने ऐसे गर्व के वचन कहे, तब फिर ये क्रोधातुर हो दौड़े। रावण ने इन्हें जरठ कहा और जरठ लोग शिक्षा देते ही हैं, यथा—"मनहुँ जरठपन अस उपदेसा।" (अ० दो० १), इसीसे श्रीजटायुजी कहते हैं—'सुनु मोर सिखावा।'

(४) 'तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू।'—भाव यह कि नहीं छोड़ोगे तो पहले हमसे ही कुशल न होगी, फिर—'राम-रोष-पावक···'। 'बहुबाहू'—रावण को अपनी बाहुओं का बड़ा घमण्ड है, यथा—

"चला भवन निरखत भुज बीसा।" (लं० दो० ९), "मम भुज सागर बल जल पूरा।"·बोस पयोधि अगाध अपारा।" (लं० दो० २७), इत्यादि, इसीपर कहते हैं कि ये सब कट जायँगे।

(५) 'राम-रोष-पावक·····'—पतंग का संयोग दीपक से रहता है, यथा—"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।" (दो० ४६), पर यहाँ पावक कहा गया, क्योंकि बहुत फनगों के पड़ने से दीपक बुझ भी जाता है, इसीलिये 'अतिघोर पावक' कहा है, जिसमें सब जल जायँ और श्रीरामजी की कुछ हानि न हो, यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु।" (सुं० दो० १५), "लखन रोष पावक प्रबल, जानि सलभ जनि होहु।" (बा० दो० २६६), तथा—"क्षिप्तं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा। दहेद्दहनभूतेन वृत्तमिन्द्राशनिर्यथा॥" (वाल्मी० ३।५०।१६), अर्थात् श्रीजानकीजी को शीघ्र ही छोड़ दो, नहीं तो श्रीरामजी अग्नि के समान भयानक आँखों से तुम्हें जला देंगे, जैसे इन्द्र ने वज्र से वृत्तासुर को जलाया था।

जटायु के वाक्य का चरितार्थ आगे है, यथा—"प्रभु सनमुख धाए खल कैसे। सलभ समूह अनल कहँ जैसे॥" (लं० दो० ८४)।

उतर न देत दसानन जोधा। तबहि गीध धावा करि क्रोधा॥१८॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहि राखि गीध पुनि फिरा॥१९॥
चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही॥२०॥
तब सक्रोध निसिचर खिसियाना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना॥२१॥
काटेसि पंख परा खग धरनी। सुमिरि राम करि अद्भुत करनी॥२२॥

अर्थ—योद्धा रावण कुछ उत्तर नहीं देता, तब तो गृध्र जटायु क्रोध करके दौड़ा॥१८॥ सिर के बाल पकड़कर उसे रथ-विहीन कर दिया, वह भूमि पर गिर पड़ा, (तब) गृध्र श्रीसीताजी को (पृथक्) रख-कर फिर लौटा॥१९॥ और चोंचों से मारकर उसकी देह को विदीर्ण कर डाला, (यहाँ तक कि) एक दंड-भर उसे मूर्च्छा आ गई॥२०॥ तब खिसलाकर उस निशाचर ने क्रोध के साथ अत्यन्त भयंकर कृपाण (द्विधारा खड्ग) निकाली॥२१॥ उससे उसने उस पक्षी के पखने काट डाले, तब वह (पक्षी) अद्भुत करनी करके श्रीरामजी का स्मरण करता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा॥२२॥

विशेष—(१) 'उतर न देत···'—इसे वीरता का अभिमान है, इससे गृध्र को तुच्छ समझकर उत्तर ही न दिया कि हम करनी करके उत्तर देंगे, यथा—"सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहि आपु।" (बा० दो० २७४)। इसीसे अपना अपमान समझकर गृध्रराज क्रोध करके दौड़े।

गृध्रराज का तीन बार क्रोध करके आक्रमण करना कहा गया, यथा—"धावा क्रोधवंत खग', 'क्रोधतुर धा।', 'धावा करि क्रोधा', क्योंकि बीच-बीच मे कारण पाकर रुक जाते थे। पहले सीता-हरण पर फिर उसके सगर्व वचन पर और फिर उसके उत्तर न देने पर क्रोध हुआ।

(२) 'धरि कच बिरथ···'—सिर पर मँड़राते हुए केश पकड़ा, क्योंकि यह मर्मस्थल है, इससे खींचने पर बड़ी पीड़ा होती है और व्यक्ति वश मे हो जाता है। 'सीतहि राखि···'—हरि-इच्छा से उस समय जटायु की बुद्धि ऐसी न हुई कि वे श्रीसीताजी को श्रीरामजी के पास पहुँचा देते, क्योंकि रावण तो एक दण्ड तक मूर्च्छित ही रहा। माया-सीता को तो उसका विनाश करने के लिये लंका जाना ही था, नहीं तो वे स्वयं लौट चलतीं।

(३) 'चोंचन्ह मारि बिदारेसि···'—पहले इनका कृतान्त के समान आना कहा गया था, इन्होंने वैसा ही कार्य भी किया कि रावण वर के कारण जीता रह गया, नहीं तो ऐसी दशा होने पर मृत्यु में

सन्देह न था। जो उसका शरीर इन्द्र के वज्र एवं विष्णु के चक्र से भी नहीं कटता था, उसे नखों और चोंच से फाड़ा। 'देही' का अर्थ देह, शरीर है, यथा—"दच्छ-सुक्र-संभव यह देही।" (बा० दो० ६३), अन्तिम अनुप्रास मिलाने के लिये 'देह' का 'देही' किया गया है। उपर्युक्त 'छूटै पवि ···' यहाँ चरितार्थ हुआ।

(४) 'तब सक्रोध निसिचर···'—रावण जब अपमानित होता है, तब इसी कृपाण (चन्द्रहास) को निकालता है, यथा—"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥···चंद्रहास हरु मम परितापं···" (सुं० दो० ९), वैसे ही यहाँ जटायु से भी अपमानित होने पर इसे निकाला। यह श्रीशिवजी की दी हुई वरदानी कृपाण है, जब अपने बल से न जीता तब दैवबल से मारा।

(५) 'काटेसि पंख परा खग···'—पक्षी का पंख ही द्वारा जीवन होता है, इसके बिना वह अत्यन्त दीन हो जाता है, यथा—"जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥" (अ० दो० १४१), "जथा पंख बिनु खग अति दीना॥" (लं० दो० ५९), पंख ही काटा कि जिससे कष्ट झेल-झेलकर मरे। पुनः हरि की इच्छा से भी ऐसा किया, क्योंकि श्रीसीताजी ने कहा था, यथा—"बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा।" यदि सिर काटा होता, तो यह कार्य न हो सकता। 'सुमिरि राम', यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई।" (गी० अर० ११), "ईषत्स्थितासुरपतद्भुवि राम रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः॥" (हनुमन्नाटक), अर्थात् मोक्ष की इच्छावाला वह पक्षी जिसमें अब कुछ ही प्राण शेष हैं, निरन्तर राम-राम कहता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा। 'करि अद्भुत करनी'—त्रिलोक-विजयी रावण को मृतप्राय कर दिया और जीते-जी श्रीसीताजी को न जाने दिया, यथा—"फिरत न बारहिं बार प्रचारो। चपरि चोंच चंगुल हय हति, रथ खंड-खंड करि डारयो॥ बिरथ बिकल कियो, छीनि लीन्हि सिय, घन घायनि अकुलान्यो। तब असि काढ़ि काटि पर पॉवर लै प्रभु प्रिया परान्यो॥ राम काज खगराज आजु लरयो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहँग बड़भागी॥" (गी० अर० ८), तथा—"तद्वभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा॥" (वाल्मी० ३।५१।३), अर्थात् गीध और राक्षस का युद्ध अद्भुत हुआ।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥२३॥
करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याध-बिवस जनु मृगी सभीता॥२४॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी॥२५॥
येहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ। बन असोक महँ राखत भयऊ॥२६॥

दोहा—हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति देखाइ।
तव असोक पादप तर, राखिसि जतन कराइ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥२६॥

अर्थ—फिर श्रीसीताजी को रथ पर चढ़ाकर रावण उतावली से (जल्दी-जल्दी) चला, उसे बहुत डर था (कि कहीं दूसरा सहायक न आ पड़े, अथवा कहीं श्रीरामजी ही न आ जायँ)॥२३॥ श्रीसीताजी आकाश-मार्ग मे विलाप करती हुई (इस तरह) जा रही हैं, जैसे व्याधा के वश पड़ी हुई सभीत मृगी हो॥२४॥ पर्वत पर बैठे हुए वानरों को देख इन्होंने हरिनाम लेकर (अपना एक) वस्त्र डाल दिया॥२५॥ इस तरह उसने श्रीसीताजी को ले जाकर अशोक वन में रक्खा॥२६॥ वह दुष्ट बहुत प्रकार से डर और

प्रीति दिखाकर हार गया, तब एक अशोक-वृक्ष के नीचे उन्हें यत्न-पूर्वक रक्खा ॥ जिस प्रकार कपट-मृग के साथ श्रीरामजी दौड़े हुए चले थे, उसी छवि को श्रीसीताजी अपने हृदय में रखकर हरिनाम रटती रहती हैं ॥२६॥

विशेष—(१) 'ब्याध-बिवस जनु मृगी सभीता ।'—पहले—'जिमि मलेच्छबस कपिला गाई ।' कहा था, तब छुड़ानेवाले जटायु आये, क्योंकि म्लेच्छ से गाय को छुड़ानेवाले बहुत लोग होते हैं। अब व्याध-वश मृगी की उपमा देकर सूचित करते हैं कि अब कोई छुड़ानेवाला न मिलेगा, क्योंकि प्रायः लोग व्याधा से मृगी को छुड़ाने नहीं दौड़ते।

(२) 'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी ।'—यह प्रसंग कि० दो० ४ में कहा गया है, यथा—"गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता ॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी ॥" अतः, हरिनाम का अर्थ राम-नाम होगा। यद्यपि साधारणतया स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेतीं, तथापि आपत्काल में दोष नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में बहुत जगह इनका 'राम' नाम लेना पाया जाता है।

(३) 'हरि-नाम' के श्लोकार्थी बहुत भाव कहे जाते हैं—हे हरि (वानरो) ! यह वस्त्राभूषण हरि (श्रीरामजी) को देना, जो भूभार हरने आ रहे है और वे ही तुम्हारे (वालि-सम्बन्धी) दुःख भी हरेंगे। मेरा हरण कहना और यह भी ध्वनि है कि मैं सब दुःखों के हरनेवाले हरि (श्रीरामजी) की पत्नी हूँ, वे मेरा दुःख हरें।

(४) 'पट डारी'—वाल्मी० ३।५४।१-४ में कहा गया है—"पाँच वानरों को गिरिशृंग पर बैठे देखकर श्रीजानकीजी ने उत्तरीय वस्त्र में आभूषण लपेटकर गिरा दिया कि जिससे ये लोग मेरा पता श्रीरामजी को बतावें। घबराहट में रावण इनके इस कर्म को नहीं जान सका।" श्रीसीताजी उसके मरने के लिये उपाय करती जाती हैं, पर वह नहीं जान पाता।

(५) 'बन असोक महँ···'—यह वन रावण का सर्वश्रेष्ठ था, सम्मान के लिये उसमें रक्खा और इससे भी कि इसकी रमणीयता में लुभाई हुई जीवित रहेंगी, अन्यथा प्राण ही न त्याग दें, (पर श्रीसीताजी तो उसे शोकमय देखती थीं)।

(६) 'हारि परा खल···'—वाल्मी० ३।५५-५६ से जान पड़ता है कि उसने इन्हें पहले दिव्य रमणीय महलों में रखना चाहा, उन महलों के दिखाने और लुभाने पर इन्होंने उसे कठोर वचन कहे। तब अशोक-वन के भी दिव्य स्थानों में उनकी रुचि न देखकर अशोक-वृक्ष के नीचे रक्खा। 'प्रीति'—"यह कि सब राज्य-वैभव तुम्हारी ही है, मेरा जीवन तुम्हारे ही अधीन है। मेरी अनेक उत्तम स्त्रियों की तुम स्वामिनी बनो। तुम मुझे प्राणों से भी प्रिय हो, मेरी बात मानो", इत्यादि (वाल्मी० ३।५५।१६-१८)। 'भय'—'मैथिली, सुनो, बारह महीने तक यदि तुम मेरी बात न मानोगी, तो मेरे रसोइये प्रातःकाल के जलपान के लिये तुम्हें टुकड़े-टुकड़े काट डालेंगे।" इत्यादि (वाल्मी० ३।५६।२३-२५)। वनवास के अनुकूल समझकर श्रीजानकीजी वृक्ष के नीचे रहीं। 'जतन कराइ'—अनुकूल सेवा का प्रबन्ध करके और यह भी कि उनके पास कोई जा न सके।

(७) 'जेहि बिधि कपट·····'—'बिधि', यथा—"मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान।" (दो० २६), कपट-मृग के पीछे दौड़ते हुए आपकी छवि, यथा—"सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे। धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि बसै तुलसि उर आछे ॥" (गी० अर० ३), तथा गी० अ० ४-५ पूरे पद पढ़ने योग्य हैं, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा। 'श्रीराम'—भाव यह कि माया-मृग के पीछे आप परम शोभा को प्राप्त हैं, यथा—"माया मृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणार-

विन्दम् ॥" (भाग० ११।५।३४)। 'रटति रहति हरि नाम'—अपने क्लेश-हरण के उद्देश्य से राम-नाम रटती रहती हैं, यथा—"देखी जानकी जब जाइ।···रटति निसिबासर निरंतर राम राजिव नयन।" (गी० सुं० २), "रसना रटति नाम···" (गी० सुं० १८), "नाम पाहरू राति दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।" (सुं० दो० ३०), "रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि ॥" (वाल्मी० ५।३२।१२)।

'श्रीरघुवीर-विरह-वर्णन'-प्रकरण

रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेखी ॥१॥
जनकसुता परिहरेहु अकेली। आयेहु तात बचन मम पेली ॥२॥
निसिचरनिकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं ॥३॥
गहि पद-कमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ॥४॥
अनुज समेत गये प्रभु तहवाँ। गोदावरि-तट आश्रम जहवाँ ॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने भाई श्री लक्ष्मणजी को आते देखकर ऊपरी (दिखाव-मात्र की) बहुत चिन्ता की ॥१ हे तात! श्रीजानकजी को तुमने अकेली छोड़ दिया और मेरे वचन टालकर यहाँ चले आये ॥२॥ निशाचरों के झुंड वन में फिरते है, मेरे मन में ऐसा जान पड़ता है कि श्रीसीताजी आश्रम में नहीं हैं ॥३॥ भाई श्रीलक्ष्मणजी ने (श्रीरामजी के) चरण-कमलों को पकड़कर और फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ! इसमें मेरा कुछ दोष नहीं है ॥४॥ भाई-समेत प्रभु वहाँ गये, जहाँ गोदावरी नदी के किनारे पर आश्रम था ॥५॥

विशेष—(१) 'रघुपति अनुजहि आवत···'—श्रीरामजी की दृष्टि पंचवटी की ओर ही है, क्योंकि मारीच के छल-वचन सुनकर पहले ही से चिन्ता करते आते थे, यथा—"खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा।" पर कहा गया। यहाँ जब देखते हैं कि सत्य ही श्रीलक्ष्मणजी अकेले चले आ रहे हैं, तब विशेष चिन्ता हो गई। चिन्ता का कारण अगली अर्द्धालियों में कहते हैं। 'बाहिज'—यह बाह्य का अपभ्रंश है, अर्थात् ऊपर से ही, यथा—"बाहिज नम्र देखि मोहि साईं।" (उ० दो० १०४), चिन्ता मन से होती है, पर श्रीरामजी में ऊपर से दिखाव-मात्र है, क्योंकि पहले ही कह चुके है, यथा—"मैं कछु करब ललित नर लीला।" यह चिन्ता भी क्रीड़ा-रूप होने से दिव्य है, यथा—"जन्म कर्म च मे दिव्यं ··" (गीता० ४।८), दिव्य का अर्थ भी क्रीड़ा-रूप है, क्योंकि दिव-क्रीड़ार्थक धातु से दिव्य शब्द निष्पन्न होता है।

(२) 'जनक सुता परिहरेहु···'—भाव यह कि श्रीजानकीजी को अकेली छोड़कर उनका अहित और मेरी आज्ञा टालकर मेरा भी अपमान किया। श्रीजानकी के छोड़ने का दोष शब्दों से जनाया है—'जनकसुता' अर्थात् श्रीजनकजी से हम क्या कहेंगे? यथा—"किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः॥ मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम्।" (वाल्मी० ३।६४।११-१२)।

(३) 'मम मन सीता आश्रम नाहीं।', यथा—"मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्। असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्त्तते वा॥" (वाल्मी० ३।५७।२३), अर्थात् मेरा मन बहुत ही दीन और दुखी है, बाईं आँख फड़क रही है, लक्ष्मण, निस्सन्देह श्रीसीताजी नहीं है—कोई उन्हें हर ले गया या मारी गई अथवा कोई हरकर लिये जाता है।

(४) 'कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ।'—भाव यह कि इसमें दोष उन्हींका है, यथा—"हा लछिमन तुम्हार नहि दोषा । सो फल पायेउँ कीन्हेउँ रोषा ॥" (दो० २८), देखिये, कैसा शुद्ध सरल उत्तर है । बड़े भाई और भावज के प्रति कैसा सम्मान है ? कि अपनी सफाई देने से लिये भी श्रीसीताजी के दोष नहीं कहते । 'मेरा दोष नहीं है' इसमें ही सब आ गया, यहाँ सुशीलता की सीमा है । श्रीगोसाईंजी ने जैसे प्रथम मर्म वचन को नहीं कहा, वैसे यहाँ उसे कहने के अत्यावश्यक प्रसंग पर भी बहुत सँभाल की है ।

आश्रम देखि जानकी - हीना । भये बिकल जस प्राकृत दीना ॥६॥
हा गुनखानि जानकी सीता । रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥७॥
लछिमन समुझाये बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाँती ॥८॥

शब्दार्थ—पाँती = पंक्ति, कतार; यथा—"रटहु निरंतर गुनगन पाँती ॥" (उ० दो० १) ।

अर्थ—(वहाँ जाकर) आश्रम को श्रीजानकीजी से रहित देखकर (श्रीरामजी) उसी प्रकार व्याकुल हो गये, जिस प्रकार साधारण मनुष्य दीन (व्याकुल) होते है ॥६॥ हा गुणों की खान श्रीजानकि ! हा रूप-शील-व्रत-नियम-पवित्र सीते ! (तुम कहाँ हो ?) ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने बहुत प्रकार से समझाया, तब वे लताओं और वृक्षों की पंक्तियों (कतारों) से पूछते हुए चले ॥८॥

विशेष—(१) 'आश्रम देखि···'—सूने आश्रम के देखने का वर्णन गी० अर० ६ में विस्तार-पूर्वक है—'हेम को हरिन हनि ···'—देखिये ।

(२) 'जानकी सीता'—यहाँ विषाद मे वीप्सा है, पुनरुक्ति नहीं । 'जानकी' कहकर श्रीजनकजी का सम्बन्ध और उनसे बर्ताव का स्मरण कर रहे हैं, यथा—"निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥१२॥ कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् । विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥१३॥ सुता विनाशसन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।" (वाल्मी० ३।६२), अर्थात् वनवास से लौटने पर मिथिलेशजी जब मुझसे कुशल पूछेंगे तब मै उनकी ओर कैसे देखूँगा । सीताजी से रहित मुझे देखकर पुत्री-विनाश से सन्तप्त हो वे अवश्य मूर्च्छित हो जायँगे । 'सीता' शब्द से अपनेको शीतल करनेवाली कहा है, यथा—"या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥१२॥ सर्वं व्यापनयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।" (वाल्मी० ३।६४), अर्थात् राज्यहीन वन में वनवासी के समान रहते हुए मेरे सारे दुःखों को जो दूर करती थी, वह सीता कहाँ गई है ?

(३) 'लछिमन समुझाये बहु भाँती'—'बहु भाँती', यथा—(क) वाल्मी० ३।६१।१४-१८ के सब भाव जना दिये—"बुद्धिमान् ! आप विषाद न करें, किन्तु मेरे साथ श्रीसीताजी के ढूँढ़ने का प्रयत्न करें । इस पर्वत में अनेक कन्दराएँ हैं । श्रीसीताजी को वन मे घूमना बहुत रुचता है, वन को तो देखकर वे पागल हो जाती हैं, वे वन में गई होंगी । कमल के तालाब पर अथवा नदी तीर-पर गई होंगी, जहाँ मछलियाँ हैं और बेंतों का वन है । अथवा हमलोगों को डराने के लिये कहीं वन में छिप गई होंगी । हमलोगों की ढूँढ़ने की गति देखना चाहती होंगी—अतएव हमलोग उनके ढूँढ़ने का ही प्रयत्न करें, जहाँ-जहाँ उनके होने की आशा हो ।" (ख) वाल्मी० ३।६६।५-२० मे भी बहुत समझाया है—यदि आप ऐसे दुःखों को न सहेंगे, तो अल्प शक्तिवाले सामान्य लोग कैसे सहेंगे ? आपत्ति भी सब दिन नहीं रहती, आती है और फिर चली भी जाती है । धैर्य धारण करना चाहिये । आप अपने पराक्रम का स्मरण कर शत्रु के नाश के लिये प्रयत्न करें, इत्यादि । (ग) वाल्मी० ४।१।११४-१२४ में भी समझाया है—रावण पाताल में वा दिति के गर्भ में चला जायगा, तब भी उसे मारकर श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे । आप सावधान हों । उत्साह को धारण करें, इत्यादि ।

पर, मानस में विशेष समझाना यहीं पर कहा गया है ।

हे खग मृग हे मधुकर-श्रेनी । तुम देखी सीतामग - नैनी ॥ ६ ॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना । मधुपनिकर कोकिला प्रबीना ॥१०॥
कुंद-कली दाड़िम दामिनी । कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥११॥
बरुनपास मनोज-धनु हंसा । गज-केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥१२॥
श्रीफल कनक कदलि हरपाहीं । नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥१३॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू । हरषे सकल पाइ जनुराजू ॥१४॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥१५॥
येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महा बिरही अति कामी ॥१६॥
पूरन काम राम सुखरासी । मनुज-चरित कर अज अबिनासी ॥१७॥

शब्दार्थ—कपोत = लक्का कबूतर, जिसकी गर्दन सुन्दर होती है। दाड़िम = अनार। श्रीफल = बेल।

अर्थ—हे पक्षि-गणो ! हे मृग-वृन्द !! हे भ्रमर-समूह !!! तुम सबने मृगलोचनी श्रीसीताजी को देखा है ? ॥६॥ खंजन, तोता, कबूतर, हरिण, मछली, भ्रमर-समूह, मधुर-कूक-कुशल कोयल ॥१०॥ कुन्द की कली, अनार के दाने, बिजली, शरद-ऋतु के कमल और चन्द्रमा, नागिन ॥११॥ वरुण की फाँस, कामदेव का धनुष, हंस, हाथी और सिंह, ये सब आज अपनी-अपनी प्रशंसा सुन रहे है ॥१२॥ बेल, सोना (और), केला, ये सब प्रसन्न हो रहे हैं। जरा भी डर और संकोच इन सबके मन में नहीं है ॥१३॥ हे श्रीजानकीजी ! सुनो, आज तुम्हारे बिना ये सभी ऐसे प्रसन्न दीखते है, मानों इन्होंने राज्य पा लिया है ॥१४॥ तुमसे (इनकी) ईर्ष्या कैसे सही जाती है ? हे प्रिये ! क्यों नहीं शीघ्र प्रकट हो जाती ? ॥१५॥ इस तरह (सर्व जगत् के) स्वामी खोजते और विलाप करते हैं, मानों महाविरही और अत्यन्त कामी हैं ॥१६॥ श्रीरामजी पूर्णकाम और सुख की राशि है, अजन्मा और अविनाशी है, वे मनुष्य के समान चरित कर रहे हैं ॥१७॥

विशेष—(१) 'हे खग-मृग···'—खग-मृग पहले कहे गये है। इन्हींसे समाचार मिलेगा। 'ख' जटायु और 'मृग' (वानर) सुग्रीव।

श्रीगोस्वामीजी ने श्रीजानकीजी के शोभा-वर्णन के विषय में कहा था—"सियसोभा नहि जाइ बखानी। जगदंबिका रूप-गुन-खानी ॥ उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत-नारि-अंग अनुरागी ॥ ···कुकबि कहाइ अजस को लेई ॥" (बा० दो० २४६), अर्थात् माता के अंगों का वर्णन पुत्र कैसे करे ? दूसरी उपमाएँ सब प्राकृत स्त्रियों मे लगकर जूठी हो चुकी हैं। अब यहाँ उनके पति के मुख से ही पत्नी के अंगों की शोभा का वर्णन सुन्दर ढंग से 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' के द्वारा मर्यादा-सहित कराया है। यह वियोग-शृंगार की ११ अवस्थाओं में 'गुण कथन' संज्ञक अवस्था है।

श्रीरामजी नर-नाट्य करते हुए वन में जा रहे हैं। कवि लोग स्त्रियों के जिन अंगो की उपमा जिन पशु, पक्षी, वृक्ष, फल, बिजली आदि से दिया करते हैं, मार्ग में उन्हें देखकर श्रीसीताजी के उन अंगों का स्मरण हो आता है और विरह का उद्दीपन होने से उपमानों के नाम कहकर उपमेय रूप अंगों का वर्णन करते हैं।

खंजन, हिरण, मीन और कमल की उपमाएँ प्रायः आँख के लिये कवि लोग देते हैं, यथा—"अँखियाँ उपमा योग नहीं। कंज खंज मृग मीन होहिं नहि कवि जन वृथा कहीं ॥" (सूर)। शुक-तुंड

के समान नासिका, यथा—"चारु चिबुक सुकतुंड बिनिदक सुभग सुउन्नत नासा ॥" (गी० उ० १२), "नासिका सुभग सुक आननी ।" (गी० उ० ५), कपोत से गर्दन की उपमा दी जाती है। भ्रमर-समूह से काले बालों की, यथा—"कच बिलोकि अति अवलि लजाहीं ।" (बा० दो० २४२), "कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥" (बा० दो० १४६)। कोयल से स्वर एवं मीठे वचन की, यथा—"बोली मधुर बचन पिक बयनी ।"(अ० दो० ११६), कुन्द-कली और अनार के दानों से दाँतों की और दामिनी से (मुस्कान में) दाँतों की चमक की, यथा—"कुलिस कुंद कुडमल दामिनि दुति दसनन्हि देखि लजाई ।" (वि० ६२), दामिनी से वर्ण की, यथा—"दामिनि बरन लषन सुठि नीके ।" (अ० दो०११४), शरद कमल और शशि से मुख की, यथा—"सरद सरबरी नाथ मुख···" (अ० दो० ११६), "कंज मुख" (वि० ४५), नागिन से लट (चोटी) की, वरुण-पाश से कंठ की रेखाओं की और स्त्रियों की मुसकान की उपमा दी जाती है। मनोज के धनुष से भौंह की, यथा—"भृकुटि मनोज चाप छवि हारी ।" (बा० दो० १४६), हंस और गज (के चालों) से चाल की, यथा—"हंस गमनि तुम्ह नहि बन जोगू ॥" (अ० दो० ६२), "गावत चलीं सिधुरगामिनी ।" (उ० दो० २), सिंह से कमर की, यथा—"केहरि कटि पट पीतधर···" (बा० दो० २३३), श्रीफल से पयोधर की उपमा आकृति, गोलाई और कठोरता के लिये दी जाती है। कनक से वर्ण की, यथा—"इन्हते लहि दुति मरकत सोने ।" (अ० दो० ११५), कदली से जंघा को, यथा—"जंघा जानु आनु केदलि उर ··" (गी० उ० १६)।

नेत्रों की चंचलता, सफेदी और श्यामता के लिये खंजन की, जल-भरी, विशाल और उभरी हुई आँखों के लिये मृग की, चमक में मीन और आकार एवं कोमलता में कमल-दल की उपमा दी जाती है। कुन्दकली और अनार के दाने मिले हुए, पंक्तिवाले और कोर पर ललाई लिये भी होते है, इसीसे दाँतों की उपमा मे आते है। दाँतों की कान्ति बिजली सी कही जाती है। बिजली की उपमा वर्ण से भी दी जाती है, यथा—"दुलहिनि तड़ित बरन तन गोरो। (गी० बा० १०३)।

(२) 'नेकु न संक सकुच मन माहीं ।'—ऊपर के उपमानों के प्रति—"निज सुनत प्रसंसा ।' कहा गया और यहाँ 'श्रीफल कनक कदलि' के प्रति शंका और सकुच न होने का आक्षेप किया गया, क्योंकि उपमानों के उपमेय (अंग) सदा आवरण में (ढँके) रहते हैं और ये उपमान सब निरावरण हैं। भाव यह कि इन्हें लज्जा और किसीका संकोच नहीं है, इसीसे बाहर देख पड़ते हैं। पुनः शंका इस बात की नहीं है कि श्रीजानकीजी फिर आवेंगी और संकोच इस बात का नहीं है कि श्रीसीताजी के अंगों के समान नहीं है। और सब उपमाएँ तुम्हारे रहते अपनी निन्दा सुना करती थीं। अब तुम्हारे न रहने पर प्रशंसा सुन रही हैं।

(३) 'सुनु जानकी तोहि बिनु···'—पहले श्रीफल, कनक और कदली इन तीनों को ही हर्ष होना कहा था, अब 'सकल' (सब) का कहा। श्रीरामजी ने इन सबसे पूछा, पर कोई न बोला कि श्रीसीताजी कहाँ हैं ? इसीपर कहते हैं कि मानों राज्य पा गये हैं, मारे घमण्ड के बोलते ही नहीं। 'आजू' आज ही से तुम नहीं हो, इसीसे राजा बन बैठे हैं, भाव यह कि उपमान उपमेय का नौकर है, वह आज उपमेय के न रहने पर राज्य करने लगा, यह अनख की बात है, इसीपर आगे कहते हैं—

(४) 'किमि सहि जात अनख···'—सहता तो वह है जो कमजोर होता है। तुम तो इन सबों से बहुत ही उत्कृष्ट हो, तब कैसे सहती हो ? नौकर लोग राजा की गद्दी पर बैठकर घमण्ड दिखावें—यह बड़े अनख की बात है। अतः. 'बेगि प्रगटसि कस नाहीं ।' अर्थात् शीघ्र प्रकट होकर इनका राज्य छीन लो, तभी आपके योग्य हो। 'तेहिं पाहीं—भाव यह भी है कि तुम सर्वसहा (पृथ्वी) की कन्या हो, इससे चाहे सह भी लो। पर हे प्रिये ! हमसे तो नहीं सहा जाता (कि गुलाम लोग तुम्हारे पद का घमण्ड करें)

क्योंकि हम तो चक्रवर्त्ति-कुमार हैं। अतः, हमारे प्यार से तुम शीघ्र प्रकट हो जाओ और इनका घमण्ड छीन लो।

(५) 'येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।'—"पूछत चले लता तरु पाती॥" से "तुम्ह देखी सीता मृग नयनी॥" तक 'खोजत' और—"हा गुनखानि जानकी सीता।··· ··खंजन सुक···" से "प्रगटास कत नाहीं॥" तक 'बिलपत' कहा गया है। 'स्वामी', यथा—"सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥" (बा० दो० ११८), यह वक्ता लोग कहते हैं कि प्रभु सबके स्वामी हैं, पर यह 'ललित नर लीला' कर रहे हैं। 'मनहुँ महा बिरही अति कामी।'—मानो जगत्-भर के विरही और कामी लोगों से अधिक विरही और कामी हैं।

(६) 'पूरन काम राम···'—पूर्ण-काम ही हैं, तो इन्हें कामना किसकी? तब वियोग-जन्य विरह कैसा? आनन्द-राशि हैं तो दुःख कैसा? 'अज अबिनासी'—अर्थात् जन्म और नाश-रहित हैं, आदि अन्त-रहित है, यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११७), फिर भी मनुष्य के-से चरित कर रहे हैं। यह माधुर्य-लीला है।

(७) 'हा गुनखानि जानकी सीता।' में नाम का, 'रूप सील ब्रत नेम पुनीता।' मे गुण का और 'खंजन सुक कपोत···' से 'सुनु जानकी तोहिं बिनु आजू।' तक रूप का स्मरण किया गया है।

'पुनि प्रभु गीध-क्रिया जिमि कीन्हीं'-प्रकरण

आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत-राम-चरन जिन्ह रेखा॥१८॥

दोहा—कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबि-धाम मुख, बिगत भई सब पीर॥३०॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु को आगे पड़ा हुआ देखा, वह श्रीरामजी का स्मरण कर रहा था, जिनके चरणों में रेखाएँ (चिह्न) हैं॥१८॥ कृपासागर रघुवीर श्रीरामजी ने अपने कर-कमल से उसके सिर का स्पर्श किया, छविधाम श्रीरामजी का छविपूर्ण मुख देखकर उसकी सब पीड़ाएँ दूर हो गईं॥३०॥

विशेष—(१) 'आगे परा गीधपति···'—मनुज-चरित करते हुए आगे बढ़े, तो गृध्र को पड़ा देखा, देखने का प्रकार, यथा—"रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई। तुलसी रामहि प्रिया बिसरि गइ सुमिरि सनेह सगाई॥" (गी० अ० ११), अर्थात् जब श्रीरामजी कुछ आगे बढ़ गये, तब जटायु के राम-नाम रटने के शब्द उनके कानों मे पड़े, तब वे लौट पड़े और इनकी दशा देखकर प्रिया का विरह भूल गये।

'चरन जिन्ह रेखा।', यथा—'रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै।" (बा० दो० १९८), श्रीरामजी के दोनों चरणों मे २४-२४ चिह्न हैं। वे ही चिह्न श्रीजानकीजी के भी चरणों में हैं, केवल दाहिने-बायें का भेद है। इन्हीं २४ चिह्नों से २४ अवतारों के अंश भी कहे जाते है। अतः, ये पूर्ण ऐश्वर्य के बोधक हैं। महारामायण में इन चिह्नों का विशद वर्णन है। 'सुमिरत'—घायल होने के कारण आँखें बन्द थीं, इससे जो चरण-चिह्न देखा था, महत्त्व-विचारसहित उन्हींका स्मरण कर रहे थे। 'चरण-रेखा' पद से ध्वनि यह भी है कि चरणों का आगमन चाहते थे, क्योंकि श्रीसीताजी का समाचार सुनाना था, यथा—"मेरे एकउ हाथ न लागी। गयो बपु बीति बादि कानन ज्यों कल्पलता दव दागी॥ दसरथ सो न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी। बरबस हरत निसाचर पति सों हठि न जानकी राखी॥ मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाये। चाहत चलन प्रान पामर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाये॥ बार-बार कर मींजि सीस

धुनि गीधराज पछिताई। तुलसी प्रभुकृपाल तेहि अवसर आइ गये दोउ भाई ॥" (गी० अर० १२)।

(२) 'कर-सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु···'—श्रीरामजी ने कृपा करके कर-कमल से स्पर्श किया, यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (कि० दो० २२), "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल दुसह दुख हरेऊ ॥" (उ० दो० ८२), पुनः—'निरखि राम छबि धाम मुख ' ' कहकर भक्त की ओर से दर्शन करना कहा। भाव यह कि भगवान् कर-कमल फेरें अथवा भक्त उनके दर्शन करें। दोनों प्रकार से पीड़ा दूर होती है, यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा। तन भा कुलिस गई सब पीरा ॥" (कि० दो० ७), कर-कमल का प्रभाव ही ऐसा है, यथा—"सीतल सुखद छोंह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥" (वि० १३८), जहाँ भक्तों पर कर फेरने का प्रसंग होता है, वहाँ कमल की उपमा भी देते है, अन्यथा युद्ध आदि की कठोरता के प्रसंग में कर-मात्र ही कहते हैं, यथा—"बालि सीस परसेउ निज पानी।" (कि० दो० ९), और—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" आदि। 'सब पीर'—रावण के प्रहार की एवं काल, कर्म आदि की पीड़ा तो दूर हुई, पर सीता-हरण की पीड़ा तो रही ही, क्योंकि आगे करुण-स्वर से कहते हैं—

तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव-भीरा ॥१॥
नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही ॥२॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं ॥३॥
दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना ॥४॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ॥५॥

शब्दार्थ—कुररी = टिटिहरी—यह एक जल-पक्षी है जो टी-टी की-सी ध्वनि करती है।

अर्थ—तब धैर्य धारण कर गृध्रराज बोले—हे भवभय-नाशक श्रीरामजी! सुनिये ॥१॥ हे नाथ! दसमुखोंवाले रावण ने मेरी यह दशा (दुर्दशा) की है, उसी दुष्ट ने श्रीजनक-कुमारी को हर लिया है ॥२॥ हे गोसाईं! वह उन्हें लेकर दक्षिण दिशा को गया है। श्रीजानकीजी टिटहरी की तरह अत्यन्त विलाप कर रही थीं ॥३॥ हे प्रभो! आपके दर्शनों के लिये अभी तक प्राणों को रख रहा था, हे कृपा-निधान! अब वे प्राण चलना ही चाहते हैं ॥४॥ श्रीरामजी ने कहा—हे तात! शरीर रखिये (न छोड़िये), तब उसने मुख से मुसुकाते हुए यह बात कही ॥५॥

विशेष—(१) 'तब कह गीध बचन ···'—पीड़ा पहले ही दूर हो गई थी, किन्तु छवि देखकर शिथिलता और अधीरता आ गई, इससे धैर्य धरना पड़ा, यथा—"मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी ॥ पुनि धीरज धरि कुँवरि हँकारी।" (बा० दो० ३३६), "पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष के रचना ॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।" (कि० दो० १), 'सुनहु राम भंजन भव-भीरा।'—पहले मुखकमल के दर्शन किये, तब 'भंजन भव-भीरा' कहते है, क्योंकि इसीसे भव छूटता है, यथा—"देखि बदन पंकज भव मोचन ॥" (दो० ९)।

(२) 'नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि···'—उसके दस सिर और बीस बाहु थे, वह बड़ा वीर था, इसीसे उसने मुझे जीता। तब वह खल श्रीसीताजी को हर ले गया, अर्थात् हमारे जीते-जी वह नहीं ले जा सका, यथा—"रामकाज खगराज आज लरयो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहँग बड़भागी ॥" (गी० अर० ८), अपनी गति पर उसे 'दसानन' कहा, उसकी वीरता कही और सीता-हरण पर (परस्त्री-हरण पर) उसे खल कहा, क्योंकि सन्त लोग अपने अहित पर

किसीको बुरा नहीं कहते, पर दूसरे के दुःख देने पर ही कुछ कहते हैं। यह भी भाव है कि मुझे अपनी दुर्गति से अधिक श्रीसीताजी का ही दुःख है।

(३) 'लै दच्छिन दिसि···'—'गोसाईं' अर्थात् आप पृथ्वी-भर के स्वामी हैं, कहीं भी जाकर वह आपसे छिप नहीं सकता। 'बिलपति अति···'—श्रीसीताजी ने विलाप में कहा था—"बिपति मोर को प्रभुहि सुनावा।" तदनुसार जटायुजी सुना रहे हैं। स्वयं पक्षी हैं, इससे टिटिहरी की उपमा दी है। वह बड़े करुण-स्वर से 'टीं-टीं' करती हुई आकाश में उड़ती है। उसी तरह रोती हुई श्रीसीताजी को वह दुष्ट आकाश मार्ग से ले गया है, इस तरह श्रीसीताजी का अत्यन्त विलाप सूचित किया।

(४) 'दरस लागि प्रभु···'—भीष्म ने उत्तरायण सूर्य के लिये प्राण रोक रक्खे थे, वैसे इन्होंने दर्शनों के लिये प्राण रक्खे। 'कृपानिधाना'—आपने कृपा करके वह भी पूरा किया। जटायुजी की दो लालसाएँ थीं—मरते समय श्रीरघुवीर के दर्शन और श्रीसीताजी की विपत्ति श्रीरामजी को सुनाना। गी० अर० १२ का प्रमाण ऊपर दिया गया। तथा—"न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेही त्राता हठहरणतो राक्षसपतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयोऽभूत्सुकृतिनो जटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम्॥" (हनुमन्नाटक अं० ४), उन दोनों इच्छाओं को प्रभु ने पूरा किया।

(५) 'राम कहा तनु राखहु ताता।'—जटायु ने कहा था—'नाथ दसानन यह गति कीन्हीं।' उसपर आप कहते हैं—'तनु राखहु···', यथा—"अचल करउँ तनु राखहु प्राना।···" (कि० दो० ९)—यह बालि से कहा है, तथा—"मेरे जान तात ! कछू दिन जीजै। देखिय आप सुवन-सेवा-सुख मोहि पितु को सुख दीजै॥ दिव्य देह इच्छा जीवन जग बिधि मनाइ मँगि लीजै। हरि-हर-सुयस सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै।" (गी० अर० १५), ये सब भाव यहाँ हैं कि आपके पुत्र नहीं और मेरे पिता नहीं—दोनों की अभिलाषाएँ पूरी हों।

'मुख मुसुकाइ···', यथा—"बोल्यो बिहँग बिहँसि रघुबर बलि कहउँ सुभाय पती जै॥ मेरे मरिबे सम न चारि फल होहि तो क्यों न कही जै। तुलसी उत्तर दियो मौनही परी मानों प्रेम सही जै॥" (गी० अर० १५)। "मोहि जानि ··अस कौन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही।" (कि० दो० ९)। वहीं आगे यहाँ भी कहेंगे—'राखउँ देह नाथ केहि खोगे।', इत्यादि। मुस्कुराये कि क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं ?

जा कर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥ ६॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखउँ देह नाथ केहि खाँगे॥ ७॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात करम निज ते गति पाई॥ ८॥
पर-हित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ ९॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥१०॥

दोहा—सीता-हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाइ।
जौ मैं राम त कुल-सहित, कहिहि दसानन आइ॥३१॥

अर्थ—मरते समय जिनका नाम मुख पर आ जाने से अधम व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है, यह वेद कहते हैं॥६॥ वही आप मेरे नेत्रों के विषय होकर मेरे सम्मुख प्राप्त है, (तो) हे नाथ ! किस कमी (की पूर्त्ति) के लिये शरीर रक्खूँ ?॥६॥ आँखों में जल भरकर श्रीरघुनाथजी कहते हैं—हे तात ! अपने कर्म से (ही) आपने सद्गति पाई॥८॥ जिनके मन में दूसरों का हित बसता है, उनको जगत् में कुछ

दुर्लभ नहीं है ॥९॥ हे तात ! शरीर त्यागकर मेरे धाम को जाइये, आपको क्या दूँ, क्योंकि आप तो पूर्णकाम है ॥१०॥ हे तात ! सीता-हरण की बात पिताजी से जाकर मत कहना। यदि मैं राम हूँ, तो दस मुखों-वाला रावण स्वयं कुल-के साथ आकर कहेगा ॥३१॥

विशेष—(१) 'जा कर नाम मरत···', यथा—"जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहिं कहाँ पुनि पैहौ ? ॥" (गी० अर० १३), तथा—"जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥" (कि० दो० ९), "अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥" (गीता ८।५), 'अधमउ मुकुति होइ···', यथा—"अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ ॥" (बा० दो० २५)। 'श्रुति गावा', यथा—"यस्य नाम महद्यशः न तस्य प्रतिमास्ति।" (यजु०), अर्थात् जिसके नाम और यश महान् हैं, उसकी बराबरी का कोई नहीं है। इसकी महत्ता, यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी ॥" (बा० दो० ११८)—देखिये। तथा—"मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि तन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥" (श्रीराम ता० उप० ४।१२)। वेद भगवान् की साँस और गीता उनके वचन हैं। गीता का भी प्रमाण ऊपर दिया गया है, तथा—"मृत्युकाले द्विजश्रेष्ठ रामेति नाम यः स्मरेत्। स पापात्मापि परमं मोक्षमाप्नोति जैमिने ॥" (पद्मपुराण क्रियायोग० व्यास-वचन), "राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पद निर्वान।" (अर० दो० २०)।

(२) 'गोचर आगे'—'गोचर' पद-मात्र से दृष्टि की पहुँच तक का भाव रहता है, इसलिये 'आगे' भी कहा गया कि अत्यन्त समीप खड़े हैं। 'केहि खाँगे'—अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति से फिर कोई कमी नहीं रह जाती, यथा—"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥" (गीता ६।२२), तथा—"श्रवन बचन मुख नाम, रूप चख, राम उछंग लियो हौं। तुलसी सो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं ॥" (गी० अ० १४), "मेरे मरिबे सम न चारि फल···" ऊपर लिखा गया। दोहावली में २२२ से २२७ तक इनकी मृत्यु सराही गई है, वहीं पर देखिये।

निषादराज ने कहा है—"समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काज छन भंग सरीरा ॥" (अ० दो० १८९), वे सब बातें यहाँ प्रत्यक्ष हैं, गंगाजी के मूलभूत ये चरण ही प्राप्त है, श्रीरामजी गोद में लिये हुए है, इत्यादि बातें बहुत अधिक हैं।

(३) 'जल भरि नयन कहहि रघुराई।'—भक्त के दुःख पर करुणा से आँसू आ गये, यथा—"सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना ॥" (सुं० दो० ३१), 'रघुराई'—इतने बड़े रघुकुल के राजा होते हुए भी कृतज्ञता ऐसी है कि जटायु के उपकार पर कनौड़े बन रहे हैं। नेत्रों में आँसू भरे हैं। 'तात करम निज ते गति पाई।'—जटायु ने आपके नाम और रूप से मुक्ति कही है, उसपर कहते हैं कि तुम्हारी सद्गति मेरे नाम-रूप आदि से नहीं, किन्तु तुम्हारे कर्म से ही हुई। उस कर्म को आगे कहते हैं—

(४) 'पर हित बस जिन्हके·· '—'जग दुर्लभ कछु नाहीं' में अर्थ, धम और काम आ गये। 'गति पाई' से मोक्ष भी। पुनः, यथा—"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः (गीता १२।४), अर्थात् सर्व जगत् भगवान् का शरीर है। अतः, सबका हित करना भी भगवदुपासना ही है, यथा—"सदा सर्वगत सर्व-हित, जानि करेहु अति प्रेम ॥" (उ० दो० १६)।

भाव यह कि गति तो तुम अपने कर्म से पाते हो और जो हमारे लिये प्राण दिये—यह हमपर ऋण है।

(५) 'तनु तजि तात जाहु···'—पहले प्रभु ने तन रखना कहा, जब उसने नहीं स्वीकार किया, तब कहते हैं—तनु तजि···। 'तुम्ह पूरनकामा'—देह के लिये ही सब कामनाएँ की जाती हैं, तुम देह भी

नहीं चाहते। देह को मेरी सेवा में लगाया, मुझे सन्देशा कहने के लिये ही प्राण भी रक्खे थे। संसार में देह और प्राण ही प्रिय पदार्थ है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), तो इसके बदले हम तुम्हें क्या दें? अतः, मेरे धाम को जाओ। भगवान् का धाम उनका शरीर है। जटायु के शरीर-दान के बदले भगवान् अपना दिव्य धाम-रूप दिव्य शरीर दे रहे हैं, फिर भी आप कनौड़े बने हैं, यह आपकी उदारता है। सब कुछ देते हुए भी भक्तों के ऋणी रहना आपका स्वभाव है, यथा—"देवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ॥" (वि० १००)।

(६) 'सीता-हरन तात जनि···'—जटायु ने रावण से कहा था—"राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥" (दो० २८), इसे ही प्रतिज्ञा-द्वारा दृढ़ कर रहे हैं। बाह्य दृष्टि से जटायु के वधकर्त्ता रावण के वध की दृढ़ प्रतिज्ञा कर उन्हें सान्त्वना भी दी है। 'जो मैं राम तो··· ' यह शपथ एवं प्रतिज्ञा की रीति है। ये पिता के सखा हैं और अर्चिरादि मार्ग से इन्द्रलोक होते हुए जायँगे, तो सम्भव है कि उनसे मिलते हुए यह प्रसंग भी उन्हें कहें, इसलिये मना करते हैं। इसका भाव गी० अर० १६ में स्पष्ट है, यथा—"मेरी सुनियो, तात! सँदेसो। सीय-हरन जनि कहेहु पिता सों, ह्वै है अधिक अँदेसो॥ रावरे पुन्यप्रताप अनल महँ अलप दिननि रिपु दहि है। कुल समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहै॥" तथा—"तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तावन्निके मा कृथाः॥ रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्वीडानमत्कन्धरः, सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः॥" (हनुमन्नाटक ५।१६)। ऐसा ही अंगदजी ने भी कहा है, यथा—"दिन दस गये···राम-विरोध···" (लं० दो० २०)। 'कहिहि दसानन' अर्थात् वह दसो मुखों से कहेगा, क्योंकि उसके मुखों से कहे जाने में महत्त्व है। यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलकार' है, क्योंकि यहाँ 'रावण को मारूँगा' यह न कह उसके पर्याय शब्दों से कहा है।

गीध देह तजि धरि हरि-रूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा॥१॥
स्यामगात बिसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥२॥

अर्थ—गृध्रराज जटायु ने (अपना वह) गृध्र-शरीर छोड़कर हरि का रूप धारण कर लिया, (उस दिव्य रूप में) वे बहुत-से आभूषण और अनुपम (दिव्य) पीताम्बर पहने हुए हैं॥१॥ उनका श्याम वर्ण का शरीर है और विशाल चार भुजाएँ हैं। वे आँखों में जल भरे हुए स्तुति कर रहे हैं॥२॥

विशेष—(१) 'हरि-रूपा'—यहाँ चतुर्भुज-रूप से तात्पर्य है, आगे स्पष्ट है। अर्चिरादि मार्ग से जाते हुए वैकुण्ठ तक इनका चतुर्भुज रूप रहेगा, उससे आगे साकेत-प्राप्ति में द्विभुज-रूप होकर जायँगे। उसी मार्ग में इन्द्रलोक पड़ता है, जिसपर उपर्युक्त सन्देशा कहा गया है। किसी-किसीका यह भी मत है कि यहाँ कई कल्पों की मिश्रित कथाओं में से विष्णु-कल्प के प्रसंग की प्रधानता है।

छन्द—**जय राम-रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।**
दससीस-बाहु-प्रचंड-खंडन चंडसर मंडन मही॥
पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि राम कृपाल बाहु बिसाल भव-भय-मोचनं॥१॥
बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं।
गोबिंद गोपर द्वंद्वहर बिज्ञान-घन धरनीधरं॥

जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन-मन-रंजनं।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खलदल-गंजनं ॥२॥

शब्दार्थ—पद्दी = सत्य, शुद्ध। प्रचंड = प्रबल। चंड = तीक्ष्ण। अव्यक्त = अदृश्य। अप्रमेय = प्रमाण-रहित। द्वन्द्व = जन्म-मरण, शीत-उष्ण आदि परस्पर दो विरुद्ध वस्तुओं का जोड़ा। रंजन = चित्त प्रसन्न करना।

अर्थ—हे श्रीरामजी! आपका रूप उपमा-रहित है, आप निर्गुण तथा सगुण हैं और सत्य ही शुभ गुणों के प्रेरक है, आपकी जय हो। दस सिरवाले रावण की प्रबल भुजाओं को खण्डन करने के लिये तीक्ष्ण बाण धारण करनेवाले, पृथ्वी को भूषित करनेवाले। सजल (श्याम) मेघ के समान शरीर, कमल के समान मुख और लाल कमल के समान दीर्घ नेत्रवाले, आजानुबाहु, भव-भय के छुड़ानेवाले और कृपालु, हे श्रीरामजी! आपको मैं नित्य ही नमस्कार करता हूँ ॥१॥ प्रमाण-रहित बलवाले, अनादि, अजन्मा, अदृश्य, एक (अद्वितीय), अगोचर, गोविन्द, इन्द्रियों से परे, जन्म-मरण आदि द्वन्द्वजन्य विकारों के हरनेवाले, विज्ञान-समूह, पृथ्वी के धारण करनेवाले, जो सन्त श्रीराम-मन्त्र जपते है, उन अनन्त भक्तों के चित्त को आनन्द देनेवाले, निष्कामता जिनको प्रिय है या निष्काम भक्तों के जो प्यारे है, काम आदि दुष्टों की सेनाओं के नाश करनेवाले, हे श्रीरामजी! आपको मै नित्य नमस्कार करता हूँ ॥२॥

विशेष—(१) 'जय राम-रूप अनूप·'—'अनूप', यथा—"निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।" (उ० दो० ९२), 'निर्गुन सगुन'—आप गुणों के व्यापार-रूप जगत् के सम्यक् आधार है, यह सगुणत्व है और उनसे निर्लिप्त हैं, यही निर्गुणत्व है, यथा—"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गीता ९।४), बा० दो० ११५ चौ० १-३ देखिये। "जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।" (उ० दो० १२), "जासु गुन रूप नहि कलित निर्गुन सगुन संभु सनकादि मुक भगति दृढ़ करि गही।" (गी० उ० ६), सगुण होते हुए गुणों के प्रेरक हैं, जिससे त्रिदेवों के द्वारा जगद्व्यापार चलता है, यथा—"विधि हरिहर बंदित पद रेनू।" (बा० दो० १४५), एवं शुभ गुणों के प्रेरक हैं। अतः, ब्रह्म-गायत्री के प्रतिपाद्य ब्रह्म आप ही हैं, क्योंकि ब्रह्म-गायत्री में परमात्मा से शुभ गुणों की प्रेरणा करने की प्रार्थना है।

(२) 'दससीस-बाहु-प्रचंड·'—रावण ने प्रचण्ड बाहुओं से मेरे पक्ष काटे हैं। उनके काटने के लिये ही आप तीक्ष्ण बाण धारण किये हुए हैं। जटायुजी को दिव्य शरीर के साथ ही दिव्य ज्ञान भी प्राप्त है, इसीसे भविष्य की बाते कह रहे हैं। पुनः इस दिव्य शरीर से 'जय' कहकर स्तुति-द्वारा अपने पितृ-भाव से आशीर्वाद भी दिया है। जिससे श्रीरामजी निशाचर-वध की प्रतिज्ञा मे विजयी हों। इस तरह का भविष्य-वर्णन भाविक अलंकार भी कहा जाता है। 'मंडन मही'—रावण वध से पृथ्वी सुशोभित हुई, इसीसे आप पृथ्वी के भूषणरूप है, यथा—"दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा महि भूरि रुजा॥" (उ० दो० १३)।

(३) 'पार्थोद गात "भव-भय-मोचनं'—सब अंगों को कह अन्त में 'भव-भय-मोचनं' कहकर इसे सबके साथ सूचित किया है कि आपके सभी अंग भव-भय के छुड़ानेवाले है, यथा—"स्यामल गात प्रनत भय मोचन।" (सु० दो० ४४), मुख—"देखि बदन पंकज भव-मोचन।" (दो० ६), नेत्र—"राजीव बिलोचन भव-भय मोचन" (बा० दो० २१०), बाहु—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहै। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं॥" (गी० उ० १३), 'राजीव आयत लोचनं'—लाल कमल-दल के समान नेत्र कानों के पास तक लम्बे हैं।

(४) 'गोबिंद गोपर'—'गोविद' अर्थात् आप इन्द्रियों और उनके विषयों में भी अन्तर्यामी रूप से

प्राप्त हैं। साथ ही 'गोपर' कहा है कि आप इन्द्रियों से परे भी है, यथा—"मन गोतीत अमल अबिनासी।" (उ० दो० ११०), अर्थात् इन्द्रियों के विकारों से आप निर्लिप्त है। 'द्वंद्वहर', यथा—"द्वंद्व बिपति भव-फंद बिभंजय।" (उ० दो० ३३), 'बिज्ञान-घन', यथा—"ज्ञान अखंड एक सीतावर।" (उ० दो० ११), 'धरनीधरं'—आप कमठ और वाराह रूप से पृथ्वी के आधार है। 'अकाम प्रिय', यथा—"ते तुम राम अकाम पियारे।" (दो० ५)। साथ ही 'कामादि खल दल गंजनं' भी कहा है, क्योंकि प्रभु कामी की तरह लीला करते हैं। अतः, उन्हें कोई कामी न समझे, इससे 'कामादि गंजनं' कहा और यह भी कि कामी होते तो अकामियों के प्रिय न होते।

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अगजग मोहई।
मम हृदय-पंकज-भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई॥
जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पश्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो-बस सदा॥
सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन-धनी।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी॥

अर्थ—वेद जिसे निरंजन, ब्रह्म, व्यापक, निर्विकार (शुद्ध) और अजन्मा कहकर गाते हैं। जिसे अनेक मुनि अनेक प्रकार से ध्यान, ज्ञान, वैराग्य और योग (आदि साधन) करके पाते है॥ वही आप करुणा रूपी जल की वृष्टि करनेवाले मेघ, शोभा के समूह प्रकट होकर स्थावर-जंगम को मोहित कर रहे है। आपके अंग-अंग मे बहुत-से कामदेवों की छवि शोभा दे रही है, वही आप मेरे हृदय रूपी कमल के भ्रमर हों॥३॥ जो अगम और सुगम, निर्मल स्वभाव, विषम और सम एवं सदा शान्त रहते है। जिनको योगी लोग यत्न करके देखते है और जो सदा अपने मन और इन्द्रियों को वश मे किये हुए रहते हैं॥ सदा दासों के वश में रहनेवाले और तीनो लोकों के स्वामी रमानिवास वे ही श्रीरामजी, जिनकी पवित्र कीर्त्ति संसार के दुःखों का नाश करनेवाली है, मेरे हृदय में बसे॥४॥

विशेष—(१) 'जेहि श्रुति ··करि ध्यान ·'—इन दो चरणों में निर्गुण रूप कहा गया। 'मुनि जेहि पावहीं'—मुनि लोग जिसका अनुभव करते हैं।

(२) 'सो प्रगट करुनाकंद·· मम हृदय···'—इन दो चरणों में सगुण रूप कहते हैं। 'सो' अर्थात् वही निर्गुन ब्रह्म सगुन होता है, तब शोभा से चराचर को मोहता है, यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" (कि० दो० १६), "देखत रूप चराचर मोहा।" (बा० दो० २०३) 'करुनाकंद' अर्थात् भक्तों पर करुणा करके ही अवतार लेते हैं, यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥" (बा० दो० ११५), "अवतरेउ अपने भगत हित ··" (बा० दो० ५१)।

(३) 'जो अगम सुगम सुभाव निर्मल'—कुयोगियों के लिये अगम्य है, यथा—"कुयोगिनां सुदुर्लभं" (दो० ३), और योगियों के लिये सुगम है, यथा—"पश्यंति जं जोगी जतन करि ···" आगे कहा है। 'सुभाव निर्मल'—अगम सुगम होने मे आपके स्वभाव में विकार नहीं है, किन्तु साधकों के ही

स्वभाव भेद से आपके दोनों भाव है, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सों ज्यों दर्पन मुख काँति।" (वि० २३३)।

'असम सम सीतल सदा'—यहाँ भी भक्त-अभक्त-हृदय भेद से असम-सम कहे गये है, यथा—"जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहि न पाप पुन्य गुन दोषू॥···तदपि करहि सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८)—इसका भाष्य देखिये। आप तो सदा शीतल अर्थात् शान्त एकरस ही है, यथा—"तुम चहुँ जुग रस एक राम···" (वि० २९६), 'करत मन गो बस सदा'—क्योंकि मलिन मन और इन्द्रियों से रामरूप नहीं देखा जाता, यथा—"मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहि किमि दीना॥" (बा० दो० ११४), 'जासु कीरति पावनी', यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहि। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहिं॥" (ल० दो० ६४), "सकुल सदल प्रभु रावन मार्यो। पावन जस त्रिभुवन बिस्तार्यो॥" (लं० दो० ११४)। 'मम उर बसउ सो·· '—श्रीरामजी ने कहा था—"देउँ काह तुम्ह:पूरन कामा।" उसपर कहते है—"मम उर बसउ·· " फिर बसने का लाभ भक्ति-द्वारा होता है, इसलिये आगे भक्ति माँगते हैं—

यहाँ छन्द में दो नियम-भंग हुए है—एक तो एक ही चौपाई (२ अर्द्धालियां) पर छन्द अन्यत्र नहीं आया, पर यहाँ है। दूसरा—पिछली चौपाई के अन्तिम शब्द को लेकर प्रायः छन्द का प्रथम चरण लिखा जाता है, वह भी यहाँ नहीं है, क्योंकि गृध्रराज की मुक्ति भी तो औरों से विलक्षण हुई कि यहीं पर इन्हें दिव्यरूप मिल गया। प्रभु के कार्य में इन्होंने जीर्ण देह दी, तुरत प्रभु ने इन्हें दिव्य देह देकर सदा के लिये देहबन्धन से मुक्त किया।

दोहा—अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयउ हरि-धाम।
तेहि की क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम॥३२॥

अर्थ—अविरल भक्ति का वरदान माँगकर गृध्रराज जटायुजी भगवद्धाम को गये, उनकी क्रिया श्रीरामजी ने अपने हाथों से यथायोग्य (शास्त्रोक्त) रीति से की।

विशेष—(१) मुक्ति के लिये श्रीरामजी ने स्वयं कहा, यथा—'तनु तजि तात जाहु मम धामा।' पर भक्ति माँगनी पड़ी। अतः, मुक्ति से भी भक्ति अधिक है। 'तेहि की क्रिया ··'—जटायु को श्रीरामजी पिता के समान मानते थे। पिता की क्रिया करने मे ज्येष्ठ पुत्र विशेष अधिकारी माना जाता है, इसलिये श्रीलक्ष्मणजी से भी दाह-कर्म न कराया, स्वयं अपने हाथों से किया। कहा है—"दसरथ ते दस गुन भगति, सहित तासु कृत काज। सोचत बंधु समेत प्रभु, कृपासिंधु रघुराज॥" (दोहावली २२७)।

(२) वाल्मी० अर० स० ६८ में लिखा है कि प्रभु ने जटायु के गुणों पर श्रीलक्ष्मणजी के साथ शोच किया। कहा कि सीता-हरण की अपेक्षा मेरे लिये प्राण त्यागनेवाले इन गृध्रराज का दुःख मुझको अधिक है। मेरे लिये जैसे राजा दशरथ पूज्य और मान्य है वैसे श्रीजटायुजी भी, यथा—"राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः। पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥" (श्लोक २६), हे लक्ष्मण! लकड़ी एकत्र करो, मेरे लिये प्राण देनेवाले इन गृध्रराज का मैं अग्निसंस्कार करूगा। यज्ञ करनेवालों को, अग्नि-होत्रियों को, युद्ध में सामने लड़नेवालों को और भूमिदान करनेवालों को जो गति प्राप्त होती है—तुम उसीको प्राप्त हो। मै तुम्हारा संस्कार करता हूँ। ऐसा कहकर उनके अपने बान्धवों के समान दुखी होते हुए श्रीरामजी ने दाह-क्रिया की। पिंडदान किया और उस मन्त्र का जप किया, जो मृत प्राणी के लिये ब्राह्मण लोग जपते हैं। फिर दोनों भाइयों ने गोदावरी नदी में जाकर स्नान किया और उनके लिये तिलाञ्जलि दी, तथा—"पितु ज्यों गीध क्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो।" (गी० अर० १६)।

इस स्तुति में नाम, रूप, लीला और धाम चारो का महत्त्व आया है। नाम—"जे राम मंत्र जपंत···", रूप—"जय राम रूप अनूप ··", लीला—"दससीसबाहुप्रचंडखंडन···", धाम—"गीध गयउ हरि धाम।"

कोमल - चित अति दीन-दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥१॥
गीध अधम खग आमिष-भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥२॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय-अनुरागी ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त कोमल-चित्तवाले अत्यन्त दीनदयालु और कारण-रहित कृपालु है ॥१॥ (उन्होने) अधम पक्षी, मांस के खानेवाले गृध्र को वही गति दी, जिसको योगी लोग माँगा करते है ॥२॥ (श्रीशिवजी कहते हैं कि) हे उमा! सुनो, वे लोग अभागी हैं, जो भगवान् को त्यागकर विषयों के अनुरागी होते हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'कोमल-चित अति ····'—'अति' दीपदेहली है, अत्यन्त कोमल चित्त हैं, इसीसे जटायु के दुःख पर अत्यन्त दुखी हुए और शरीर रखने को कहा। अत्यन्त दीन दयालु हैं, इसीसे मुक्ति दी, अपने हाथ दाह-क्रिया की। और लोग कारण पाकर कृपा करते हैं, पर आप बिना कारण ही, यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥ (उ० दो० ४६), "अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (बा० दो० २११)।

शंका—जटायु ने श्रीसीताजी के लिये शरीर तक दे दिया और श्रीरामजी ने स्वयं कहा भी है, यथा—"तात करम निज ते गति पाई।" तब कारणरहित कृपालुता कैसी?

समाधान—जीवों में पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ की स्फूर्त्ति श्रीरामजी से ही होती है, यथा—"पौरुषं नृषु।" (गीता ७।८)। एवं—"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।···" (मुण्ड० २।२।४), इस श्रुति के अनुसार प्रेरक प्रभु से यह कार्यारूढ़ होता है, तथा उन्हींकी शक्ति से कार्य करता है। "मुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी ॥" (कि० दो० २६), इसीसे यहाँ वक्ता लोग प्रभु की कृपालुता आदि ही कह रहे हैं। गृध्रराज ने स्वयं भी अपने को अधम आदि कहा है और सद्गति में प्रभु की कृपा ही को माना है। "त्रिजग जोनि गत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृती समाज सब ऊपर आजु कियो हौं।" (गी० अर० १४), यहाँ उपदेश है कि अपनी करनी का अभिमान न होना चाहिये।

(२) 'गीध अधम खग आमिष-भोगी।···'—यहाँ 'आमिष-भोगी' को अधमता का लक्षण कहा और यह भी कि मांस भोजी को सद्गति नहीं मिलती, यथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावद्वर्षसहस्राणि।" (भाग० ५।२६।१४), अर्थात् जो पशु की हत्या करते हैं—वे पशु की देह में जितने रोएँ हैं—उतने ही वर्षों तक नरक में रहते हैं, तथा—"यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोह मारणम्। वृथा पशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥" (मनु० ५।३८), "यावन्ति पशुरोमाणि तावतो नरकान्व्रजेत।" (कूर्म० पु० उ० अ० १७) "यो भुङ्क्ते च वृथा मांसं मत्स्यभोजी च ब्राह्मणः। हरेरनिवेद्यभोजी क्रिमिकुण्डं प्रयाति सः॥ स्वलोममान वर्षं च तद्भोजी तत्र तिष्ठति। ततो भवेन्म्लेच्छजातिस्त्रिजन्मनियतो द्विज॥" (ब्रह्मवै० पु० प्र० खं० अ० ३०)। 'गति दीन्ही···', यथा—"खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। गति पावहिं जो जाँचत जोगी॥" (लं० दो० ४४), अर्थात् विधिवत् अष्टांग योग करके भी योगी लोग विनती करके माँगने से जो गति पाते है, वही गति दी।

(३) 'सुनहु उमा ते लोग ··'—विषय को त्यागकर भगवान् का भजन करने से जीव भाग्यवान् होता है, परम गति पाता है, यथा—"राम भजे गति केहि नहि पाई।" (उ० दो० १२६) और विषया-

नुरागी होने से भगवान् से विमुख होकर नरक जाता है, अभागी कहा जाता है, यथा—"अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥" (लं० दो० ४३)। 'ते लोग'—गृध्र ने गति पाई, तो मनुष्य तो परम अधिकारी हैं ही, यथा—"मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना।' (अ० दो० २६३), मनुष्य देह—"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" है, इसे पाकर भी जिसने परलोक न बनाया, वह परम अभागी है।

कबन्ध-वध-प्रकरण

पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई॥४॥
संकुल लता बिटप घन कानन। बहु खग-मृग तहँ गज पंचानन॥५॥
आवत पंथ कबंध निपाता। तेहि सब कही साप कै बाता॥६॥
दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु-पद पेखि मिटा सो पापा॥७॥

शब्दार्थ—बहुताई = अधिकता, सघनता। संकुल = परिपूर्ण।

अर्थ—फिर दोनों भाई (श्रीराम लक्ष्मणजी) श्रीसीताजी को ढूँढ़ते हुए वन की अधिकता (शोभा-सम्पन्नता) देखते चले जाते हैं॥४॥ लताओं और वृक्षों से परिपूर्ण वह वन सघन है, उसमें बहुत-से पक्षी, मृग (जंगली जानवर), हाथी और सिंह हैं॥५॥ मार्ग में आते हुए कबन्ध राक्षस को मारा, उसने सब अपने प्रति शाप की बातें कहीं॥६॥ कि मुझे दुर्वासा मुनि ने शाप दिया था, प्रभु (आप) के चरणों के दर्शनों से वह पाप मिट गया॥७॥

विशेष—(१) 'पुनि सीतहि खोजत दोउ भाई।'—पहले खोजते थे—"येहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी।" से गृध्रराज का प्रसंग आ गया, वहाँ देर लगी और श्रीसीताजी का समाचार मिल गया, इससे विरह कुछ कम पड़ा। इसीसे अब केवल 'खोजत' कहते हैं, 'बिलपत' नहीं। पहले लता आदि से पूछते थे, किन्तु अब उनकी शोभा ही देखते जाते हैं, पूछते नहीं। परन्तु 'खोजन' शब्द के अर्थ से खोजना अब भी सिद्ध हो रहा है, क्योंकि केवल दक्षिण दिशा को ले जाना ही मात्र तो जाना गया है, यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ ···" पर कहीं छिपा रक्खा हो? अतः, देखते जाते हैं। 'बन बहुताई' को आगे कहते हैं—'संकुल लता बिटप···', यथा—"तां दिशं दक्षिणां गत्वा···गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्। आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम्॥" (वाल्मी० ३।६८।२-३), अर्थात् दोनों भाई दक्षिण दिशा की ओर चले।···वह मार्ग गुल्मों [गुल्म वह पौधा है, जिसकी जड़ से कई पौधे निकलें, जैसे ईख, शर (सरपत) आदि] और लताओं, वृक्षों से भरा और घिरा हुआ था, वह देखने में भयानक और प्रवेश करने में कठिन था।

(२) 'आवत पंथ कबंध···'—"वहाँ से तीन कोस पूर्व क्रौंच वन मिला, फिर वहाँ से तीन कोस पूर्व मार्ग में मतंगमुनि का भयानक वन मिला। इसके आगे फिर एक सघन वन मिला, उसमें मार्ग पर कबन्ध मिला। वह बहुत बड़ा था, उसके सिर और गर्दन न थे। वह कबन्ध था, उसके पेट में मुख था, तीखे रोम थे और पर्वत के समान वह ऊँचा था। वह नील मेघ के समान, भयानक और मेघ के समान गरजनेवाला था। उसकी छाती में भयानक आँख थी, जिससे वह बहुत देखता था। मुँह में बड़े-बड़े दाँत थे, उसके एक-एक योजन के लम्बे हाथ थे जिनसे वह जानवरों को खींचता था।···वह इन दोनों भाइयों को ज्योंही खाने चला, त्योंही इन्होंने उसकी दोनों भुजाएँ काट डालीं। तब वह भूमि पर गिर पड़ा, फिर दीन होकर पूछा और परिचय पाकर प्रसन्न हुआ। तब उसने अपनी कथा कही—" (वाल्मी० ३।६९।७०)।

"मैं पहले बड़ा पराक्रमी था। सूर्य, चन्द्रमा और इन्द्र का-सा मेरा रूप था। पर मै लोगों को डरवाने के लिये राक्षस बनता और ऋषियों को डरवाता था। अनन्तर स्थूलशिरा नामक ऋषि मुझपर अप्रसन्न हो गये। वे जंगली फल चुनते थे, तब मैंने उन्हें डरवाया था। इसपर जन्होंने क्रोध करके कहा कि तुम्हारा यही क्रूर और निन्दित-रूप सदा के लिये हो जाय। फिर मेरी प्रार्थना पर वे बोले कि जब श्रीरामजी तुम्हारे हाथ काटकर निर्जन वन में तुम्हें जलायेंगे, तभी तुम अपना सुन्दर रूप पाओगे। मै दनु का पुत्र हूँ। पीछे मैने तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न किया और उनसे दीर्घायु पाई। तब मैंने अभिमान से इन्द्र को ललकारा। उन्होंने ऐसा वज्र मारा कि मेरा मस्तक और मेरे जंघे शरीर में घुस गये। मेरी प्रार्थना से उन्होंने मुझे मारा नहीं और ब्रह्माजी की बात रक्खी। मेरे जीवन-निर्वाह के लिये १-१ योजन लम्बी भुजाएँ दीं और पेट में तीक्ष्ण दाँत दिये। इन्द्र ने कहा था कि जब श्रीरामजी को पकड़ोगे और वे तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम स्वर्ग जाओगे। इसीसे मैं सुन्दर चीजें पकड़ता था कि कहीं श्रीरामजी मिल जायँगे। सलाह देकर मैं आपकी सहायता करूँगा। आप मेरा अग्नि-संस्कार कर दीजिये। यह सूर्यास्त से पहले ही हो जाय। तब मैं दिव्य-ज्ञान-युक्त होकर सलाह दूँगा।' शरीर के जलते ही अग्नि से उसका दिव्य-शरीर प्रकट हो गया, वह वस्त्राभूषण से युक्त था। वह हंसों के रथ पर सवार था, तेजस्वी एवं शोभायुक्त था। तब उसने श्रीसुग्रीवजी का और फिर श्रीशबरीजी का परिचय दिया।" (वाल्मी० ३।७१-७३)।

(४) 'तेहि सब कही साप कै बाता ॥ दुर्वासा'''—दुर्वासाजी के विषय में इतना ही सुना जाता है कि यह किसी कारण उनपर हँसा था, तब उन्होंने इसे शाप दिया कि राक्षस हो जा। शेष कथा उपर्युक्त वाल्मीकीय रामायण की ही लेनी चाहिये। केवल दुर्वासा की जगह स्थूलशिरा मुनि का शाप देना मात्र भेद है। 'प्रभु-पद पेखि '''—अर्थात मुनि ने यही अनुग्रह भी किया था कि श्रीरामजी के चरण आने से ही तेरा उद्धार होगा।

सुनु गंधर्व कहउँ मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्म-कुल-द्रोही ॥८॥

दोहा—मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥३३॥

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहि संता ॥१॥
पूजिय बिप्र सील गुनहीना। सूद्र न गुन गन ज्ञान प्रबीना ॥२॥

अर्थ— ऐ गन्धर्व ! सुन, मै तुझसे कहता हूँ—मुझे ब्राह्मण कुल से द्रोह करनेवाला नहीं अच्छा लगता ॥८॥ मन, कर्म और वचन से कपट छोड़कर जो पृथ्वी के देवता (ब्राह्मणों) की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता उसके वश में हो जाते है ॥३३॥ सन्त लोग ऐसा कहते है कि शाप देनेवाला, मारनेवाला और कठोर वचन कहनेवाला भी ब्राह्मण पूज्य है ॥१॥ शील और गुणों से रहित भी ब्राह्मण पूज्य है, किन्तु गुणगण और ज्ञान में प्रवीण भी शूद्र (पूज्य) नहीं है ॥२॥

विशेष—(१) 'मोहि न सोहाइ'''—मैं ब्रह्मण्यदेव हूँ। अतः, ब्राह्मण-द्रोही मेरा द्रोही है, ब्राह्मण का भक्त मेरी प्रसन्नता का पात्र है।

(२) 'मन क्रम बचन कपट'''—विप्र-सेवा में कपट का सर्वथा निषेध करते हैं, क्योंकि ब्राह्मण भगवान् की मूर्त्ति हैं, यथा—"मम मूरति महिदेव मई है।" (वि० १३९), और भगवान् को कपट नहीं भाता, यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३), अर्थात् मन में उनकी भक्ति रहे, तन

से सेवा कर्म करे और वचन से प्रिय बोले। उनसे स्वार्थ चाहना कपट है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००)। अथवा दिखाव के लिये ही सेवा करना छल है।

(३) 'मोहि समेत बिरंचि सिव····', यथा—"जौ बिप्रन्ह बस करहु नरेसा। तब तुअ बस बिधि बिष्नु महेसा॥" (बा० दो० १६४), पर यहाँ दोहे में विष्णु की जगह अपनेको ही कहा है। इस तरह विष्णु भगवान् को अपने अभिन्नांश होने से अपृथक् जनाया। 'जो कर'—किसी भी वर्णाश्रम का हो।

(४) 'सापत ताड़त परुष कहंता।···'—कबन्ध ने दुर्वासा मुनि का शाप देना कहा था, इसलिये 'सापत' पहले कहा। शाप हृदय के क्रोध से लगता है। अतः, मन का विकार है। 'ताड़त' कर्म का और 'परुष कहंता' वचन-विकार है। ब्राह्मण तीनों से दोषी हों, तब भी वे पूज्य ही हैं। ये तीनो बातें श्रीरामजी पर ही बीती हैं। श्रीनारदजी ने शाप दिया, श्रीभृगुजी ने लात मारी और श्रीपरशुरामजी ने परुष वचन कहे, पर आपने तीनों की पूजा ही की, यथा—"साप सीस धरि हरषि हिय, प्रभु बहु बिनती कीन्ह।" (बा० दो० १३७)—श्रीनारदजी से। "बिप्र चरन देखत मन लोभा।" (बा० दो० १९८), अर्थात् भृगु के चरण चिह्न को शोभा रूप में धारण किया है। "कर कुठार आगे यह सीसा ··कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा।···" (बा० दो० २८०-२८१),—श्रीपरशुरामजी से इस तरह निहोरा किया है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है, यथा—"विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥ यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः। तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक्॥" (१०।६४।४१-४२), तथा—"ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद्वा समाचरन्॥ सुखं दुःखं महद्ध्रस्वं कर्म यत्समुपागतम्॥" (महा० आदि० १९०।१३-१४), अर्थात् ब्राह्मण सुकर्म किया करें अथवा बुरा कर्म किया करें उनका अपमान नहीं करना चाहिये, चाहे सुख-दुःख-दायी और महत् वा क्षुद्र कैसा भी उपस्थित कार्य आ जाय। ऐसा ही वर्णन महा० वन० २००।८७-९२ में भी विस्तार से है कि ब्राह्मण पढ़े-अनपढ़े सभी पूज्य हैं, वे छिपी हुई अग्नि के समान हैं। तथा महा० अनुशा० ५६।२७ एवं १५१।२०-२३ तथा मनु० ६।३१७-३१८ में भी कहा है कि ब्राह्मण जैसे-तैसे भी पूज्य ही हैं। जैसे संस्कृत एवं असंस्कृत अग्नि महत् देवता है वैसे अविद्वान् अथवा विद्वान् ब्राह्मण भी महत् देवता रूप हैं। तेजस्वी अग्नि श्मशान में दूषित नहीं होता, यज्ञ में विशेष रूप से एवं घरों में शोभित होता है। ब्राह्मण सदा अनिष्ट कार्यों में रत भी सब तरह मान्य एवं देवता है।

(५) 'पूजिय बिप्र सील गुन हीना।···'—इससे जनाया कि ब्राह्मण जाति से (जन्मना) ही पूज्य है, शूद्र जाति की दृष्टि से पूज्य नहीं। दोषों के होने से ब्राह्मण अपूज्य नहीं हो जाता। उसके सुधार का भार उसके जातिवर्ग एवं राज्य पर है, निम्न वर्ग पर नहीं। निम्न वर्ग यदि श्रद्धा न रख सके, तो भी लोक संग्रह के लिये अवश्य बरतें। क्षत्रिय और वैश्य को न कहकर शूद्र ही को कहा, क्योंकि शील गुण-हीन ब्राह्मण शूद्र के समान कहा गया है। इसपर कहा है कि ऐसा भी ब्राह्मण पूज्य है, पर शूद्र गुण गण एवं ज्ञान युक्त भी नहीं। तात्पर्य यह कि श्रेष्ठ ब्राह्मण के अभाव में उक्त गुणहीन ब्राह्मण ही पूजे जायँगे, शूद्र श्रेष्ठ भी नहीं पूजे जा सकते। इसपर पूर्वोक्त दो० १५ चौ० ६ भी देखिये।

इसके लिये कोई-कोई श्रीगोस्वामीजी पर जातीय पक्षपात का दोष लगाते है। वे यह नहीं समझते कि उन विरक्त महापुरुष से जाति-पाँति का क्या सम्पर्क है, जो कहते हैं—"लोग कहैं पोच सुनि सोच न सँकोच मेरे, ब्याह न बरेखी जात पाँति न चहत हौं।" (वि० ७६), "मेरे जाति पाँति न चहौ काहू की जाति-पाँति।" (क० उ० १०७), इत्यादि। श्रीगोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे। वे सनातन मर्यादा का भंग होना नहीं सह सकते थे। जैसे मर्यादा भंग देखकर ही श्रीबलरामजी श्रेष्ठ आसन पर बैठे हुए पुराण कहनेवाले सूत पर हल लेकर दौड़े थे। व्यास आदि महर्षियों ने भी ब्राह्मणों का महत्त्व बहुत कहा है, यथा—"जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते। नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्॥" "अशक्यं स्पष्टुमाकाशमचाल्यो हिमवान्गिरिः। अधार्या सेतुना गङ्गा दुर्जया ब्राह्मणा भुवि॥ न ब्राह्मणविरोधेन शक्यां

शास्तुं वसुन्धरा । ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवताः ॥" (महा० अनुशा० ३५।१-२१), तथा—"न हि मे ब्राह्मणो वध्यः पापेष्वपि रतः सदा ॥" (महा० आदि० २९।२), अर्थात् सदा पाप में रत भी ब्राह्मण मेरे द्वारा वध्य नहीं है—यह श्रीगरुड़जी ने कहा है ।

कहि निज धर्म ताहि समुझावा । निज पद प्रीति देखि मन भावा ॥३॥
रघुपति-चरन - कमल सिर नाई । गयउ गगन आपनि गति पाई ॥४॥

अर्थ—अपना (मुख्य) धर्म कहकर उसे समझाया, अपने चरणों में उसकी प्रीति देखकर वह (श्रीरामजी के) मन में अच्छा लगा ॥३॥ श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों में सिर नवा अपनी गति (गन्धर्व रूप) पाकर वह (गन्धर्व) आकाश को चला गया ॥४॥

विशेष—(१) 'कहि निज धर्म···'—'निज धर्म'—ब्राह्मण भक्ति । पहले इसके पाप मिटे, यथा—"प्रभु पद देखि मिटा सो पापा ।" ऊपर कहा है, तब धर्म की प्राप्ति हुई, यथा—"कहि निज धर्म ताहि समुझावा ।" फिर धर्म-फल-रूप राम-पद-प्रीति कही गई, यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई ।" (दो० ६), तब कृतज्ञता एवं विदाई के रूप में प्रणाम किया । वा, निज धर्म से द्विजभक्ति प्राप्त हुई, उससे हरि-पद-प्रीति होती है, यथा—"भूत दया द्विज गुरु सेवकाई ।·· सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५) । अतः, 'निज पद प्रीति देखि' कहा गया । 'मन भाया', क्योंकि उपदेश का फल तुरत उसमें देखा । इससे प्रसन्न हुए, यथा—"सबके बचन प्रेम रस साने । सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने ॥" (उ० दो० ४६) ।

(२) 'आपनि गति'—पूर्व में गन्धर्व था, वही रूप पाया, यह रूप पाने पर अभी श्रीरामजी ने उसे—'सुनु गंधर्व···' कहा भी है ।

'सबरी गति दीन्हीं'-प्रकरण

ताहि देइ गति राम उदारा । सबरी के आश्रम पगु धारा ॥५॥
सबरी देखि राम गृह आये । मुनि के बचन समुझि जिय भाये ॥६॥
सरसिज-लोचन बाहु बिसाला । जटा-मुकुट सिर उर बनमाला ॥७॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई । सबरी परी चरन लपटाई ॥८॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा । पुनि पुनि पद-सरोज सिर नावा ॥९॥

अर्थ—उसको गति देकर उदार श्रीरामजी श्रीशबरीजी के आश्रम में पदार्पण किया ॥५॥ श्रीशबरीजी ने देखा कि श्रीरामजी (मेरे) घर में आये, तब मुनि के वचन का स्मरण कर वे मन में प्रसन्न हुईं ॥६॥ कमल के समान नेत्र, विशाल (आजानु) बाहु, सिर पर जटाओं का मुकुट और हृदय (छाती) पर वन-माला धारण किये हुए ॥७॥ सुन्दर श्याम-गौर दोनों भाइयों के चरणों में श्रीशबरीजी लिपट गईं ॥८॥ वे प्रेम में डूबी हैं, उनके मुँह से वचन नहीं निकलते, वे बार-बार चरण-कमलों में सिर नवा रही हैं ॥९॥

विशेष—(१) 'उदारा'—विराध, शरभंग, खर-दूषणादि, मारीच, जटायु और कबन्ध को गति दी । अब शबरी को भी गति देने जा रहे हैं—इससे उदार कहे गये । इनमें शरभंग ही एक मुनि थे, शेष सब अपात्र ही थे, पर उदार शिरोमणि ने सबको गति दी, यथा—"पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्यपेक्षणात् । वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरेः ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण), 'पगु धारा'—जाने के

अर्थ में आदर-सूचक मुहावरा है, यथा—"पुर पगु धारिय देइ असीसा।" (अ० दो० ३१८), 'सबरी के आश्रम'—सन्तों के स्थान आश्रम कहाते हैं, श्रीशबरीजी तो श्रीरामजी की परम उपासिका हैं, यथा—"सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।" (दो० ३५)। इसीसे इनकी कुटी को भी आश्रम कहा गया, यथा—"अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्॥" (वाल्मी० ३।७४।४), यह आश्रम मतंग ऋषि के आश्रम में ही है, यथा—"तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥" (वाल्मी० ३।७३।२५)।

(२) 'सबरी देखि···'—ये बराबर मार्ग देखा करती थीं, यथा—"छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै। दोउ भाइ आये सबरिका के प्रेम-पन पहिचानि कै॥" (गी० अर० १७), इससे आते ही देखा। 'मुनि के बचन समुझि जिय भाये।'—"जब श्रीरामजी चित्रकूट में थे, तभी मतंग मुनि परधाम जाते समय शबरीजी से कह गये थे कि तुम इसी आश्रम में रहो, तुम्हें श्रीरामजी के दर्शन प्राप्त होंगे। वे तुम्हारे अतिथि-सत्कार को ग्रहण करेंगे और तुम उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर अक्षय श्रेष्ठ लोकों को जाओगी। तब से श्रीशबरीजी वन के फल संचित करके श्रीरामजी की बाट देखा करती थीं।" (वाल्मी ३।७४।१४–१७), अब श्रीरामजी का आना उनके वचन (आशिष) से मान रही हैं, यह सोचकर कि मेरे भाग्य ऐसे कहाँ थे। यह भी भाव है कि मुनि के वचनों से इनके महत्त्व का भी ज्ञान हुआ कि ये ही परब्रह्म हैं, इससे भी अति-प्रीति है।

(३) 'सरसिज-लोचन···'—यहाँ लोचन से शृंगार का वर्णन होने से कोई यहाँ शृंगार-भावना को प्रधान कहते हैं। पर इनका श्रीरामजी में वात्सल्य भाव है, यथा—"सो जननी ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के।···तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि दई।" (गी० अर० १७), और माता की दृष्टि पुत्र के मुख पर पड़ती है, यथा—"जननिन्ह सादर बदन निहारे।" (बा० दो० ३५७), "जननी जियत बदन बिधु जोईहि।" (बा० दो० ६७)। नेत्र भी मुखमण्डल में ही है, अतएव श्रीशबरीजी की दृष्टि के अनुसार कहा गया है। 'उर बनमाला'—बनमाला प्रथम यहाँ नहीं कही गई थी, सम्भवतः गन्धर्व ने पूजा की होगी, अथवा यहाँ के मुनियों ने पहनाई हो। वात्सल्य-निष्ठ मनु के यहाँ प्रकट होने पर बनमाला थी—"उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।" (बा० दो० १४६), तथा श्रीकौसल्याजी के समक्ष भी प्रकट होने पर बनमाला कही गई है, यथा—"भूषन बनमाला···" (बा० दो० १९१)। वैसे यहाँ भी, इससे भी इनका वात्सल्य भाव प्रकट है। बनमाला में—तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात और कमल—ये पाँच दल-पुष्प होते हैं। उनमें तुलसी प्रधान है। इसके द्वारा श्रीशबरीजी को आश्वासन भी देते हैं कि हमने दैत्य (जलन्धर) की स्त्री को पावन करके धारण किया है, फिर तुम्हें तो अवश्य ही धारण एवं आदर करेंगे।

(४) 'सबरी परी चरन लपटाई'—प्रेम की विह्वलता से चरणों में लिपटना कहा गया है, यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।" (अ० दो० ५६)—यह श्रीकौसल्याजी के लिये भी कहा गया है।

(५) 'प्रेम मगन मुख···'—'प्रेम मगन'—मन की दशा, 'बचन न आवा'—वचन और 'सिरनावा'—कर्म की दशा है। ये मन, वचन, कर्म से प्रेम में डूबी हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।' यह अत्यन्त प्रेम के कारण है, यथा—"प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५)। यह सासों की प्रेम-दशा है। "बार बार नावइ पद सीसा।" (कि० दो० ६), यह सुग्रीवजी की प्रेम-दशा है।

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥१०॥

दोहा—कंद मूल फल सुरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेम-सहित प्रभु खाये, बारंबार बखानि॥३४॥

अर्थ—(श्री शबरीजी ने) आदर-पूर्वक जल लाकर (दोनों भाइयों के) चरण-प्रक्षालन किया। फिर सुन्दर आसन देकर उनको बैठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्द, मूल और फल लाकर (उन्होंने) श्रीरामजी को दिये। प्रभु श्रीरामजी ने बार-बार उन (फलों) की सराहना करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

विशेष—(१) 'सादर जल लै चरन···'—चरण धोना खड़े-खड़े ही हुआ, अत्यन्त प्रेम में निमग्न रहने से एवं वात्सल्य निष्ठा से प्रथम भोजन कराने के विचार से चरण धोने लगीं, तब सुन्दर आसन पर बैठाकर भोजन कराया। 'सुंदर आसन'—पुष्प आदि से सुसज्जित एवं पवित्र कुश का आसन।

(२) 'कंद मूल फल सुरस अति···'—सुरस तो और मुनियों के कन्द आदि भी थे, पर इनके 'अति सुरस' हैं। इन फलों में प्रधानतया प्रेम की ही माधुरी है, यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई।···घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई। तब तहँ कहे सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥" (वि० १६४)। भाव यह कि औरों के यहाँ अपनी श्रेष्ठता का कुछ मान रहा और शबरी नीच एवं मान-रहित हैं। अतः, इन्होंने शुद्ध प्रेम से दिया। इसीसे वाल्मीकिजी ने भी इन्हींके यहाँ श्रीरामजी का सम्यक् प्रकार से पूजित होना कहा है, यथा—"शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (मूल रा०)। 'प्रेम सहित प्रभु खाये···'—बार-बार बखानते है, जितने कौर (ग्रास) लेते हैं, उतनी बार तो अवश्य ही बखानते हैं, यथा—"प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि···" (गी० अर० १७)। भोजन की प्रशंसा करने का शास्त्र में निषेध है, यथा—पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः। न निन्द्यादन्न भक्ष्यांश्च स्वादु स्वादु च भक्षयेत्॥" (महा० शान्ति० १९३।६), पर यहाँ तो प्रेम प्रधान है। प्रेम में नियम का उतना बन्धन नहीं है, दूसरे बखान करनेवाले 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं—समर्थ को दोष नहीं होता, यथा—"समरथ कहँ नहि दोष गोसाइ। रवि पावक सुरसरि की नाईं॥" (बा० दो० ६८)।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीलक्ष्मणजी ने फल नहीं खाया। पर गीतावली में स्पष्ट लिखा है, यथा—"प्रभु खात माँगत देत सबरी···बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के॥" (गी० अर० १७), गीतावली का यह पूरा पद पढ़ने ही योग्य है, विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा गया।

वाल्मीकीय रामायण और मानस-रामायण में जूठे फल का खाना नहीं लिखा है। पर कुछ ग्रन्थों में है, यथा—"ल्यावे बन बेर लागी राम की औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं॥" (भक्तमाल टी० भ० र० बो० क० ३५), "प्रेम्णावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फलचतुष्टयम्। कृता रामेण भक्तानां शबरी कबरीमणिः (प्रेमपत्तन), अर्थात् बचे-खुचे जूठे चार फलों को प्रेम से भोजन करके श्रीरामजी ने शबरी को भक्तों की चूड़ामणि बना दिया, तथा—"फलानि च सुपक्वानि मूलानि मधुराणि च। स्वयनास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता। फलान्यास्वाद्य काकुत्स्थस्तस्यै मुक्तिं परां ददौ॥" (पद्मपुराण), अर्थात् शबरी वन के पके हुए फल, मधुर मूल स्वयं चख-चख कर परीक्षा करके भगवान् श्रीरामजी एवं लक्ष्मणजी को देती थीं। श्रीरामजी ने उनके फलों को खाकर उसे उत्कृष्ट मुक्ति दे दी (इन वचनों में तो यह भाव हो सकता है कि वृक्ष के फल चख, परीक्षा कर फिर उसीको लाकर रक्खे हुई थीं)।

श्रीशबरीजी श्रीरामजी को परब्रह्म जानती थीं, फिर भी उनका वात्सल्य भाव था। इस भाव से दोष नहीं होता। शबरीजी प्रेम से-विह्वल थीं उन्हें देहाध्यास भी नहीं था। श्रीरामजी स्वयं भी कह रहे हैं—"मानउँ एक भगति कर नाता। जाति पाँति कुल धरम बड़ाई।···भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥" इत्यादि। यदि कहा जाय कि प्रभु तो मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं, तो उत्तर यह है

कि शबरी की दृष्टि में वे राजकुमार नहीं हैं। प्रभु भक्तों के भाव के अनुसार बरतते है। इस दृष्टि से वह पक्ष भी संगत हो सकता है।

श्रीगोस्वामीजी ने उस पक्षवालों के लिये भी 'सुरस' पद देकर अवकाश दे दिया है कि उसने स्वाद की परीक्षा करके 'सुरस' कन्द-मूल-फल दिये होंगे। पर स्वयं तो स्पष्ट नहीं लिखा है।

पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी ॥१॥
केहि बिधि अस्तुति करउँ तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी ॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥३॥

अर्थ—(शबरी) हाथ जोड़कर श्रीरामजी के आगे खड़ी हो गईं, तथा प्रभु को देखकर (उनके हृदय में) प्रीति अत्यन्त बढ़ गई ॥१॥ (और बोलीं—) किस प्रकार मैं आपकी स्तुति करूँ? क्योंकि मैं अधम जाति की हूँ और भारी जड़बुद्धि हूँ ॥२॥ स्त्रियाँ अधम-से-अधम में भी अत्यन्त अधम होती है, उनमें भी हे पाप नाशक! मैं ओछी बुद्धि की हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'पानि जोरि आगे ···'—अभी तक बैठी-बैठी फल आदि खिला रही थीं, प्रभु के भोजन कर लेने पर हाथ जोड़कर खड़ी हुईं, अभी तक चित्तवृत्ति पूजा मे भी बँटी थी। इससे सामान्य रूप मे प्रीति बढ़ी थी, अब एकाग्र-चित्त से दर्शन करने लगीं, तो अत्यन्त प्रीति बढ़ी। कैसी बढ़ी? इसे ध्वनि से जनाया कि वह खड़ी हुई शबरीजी नहीं है, मानों अत्यन्त बढ़ी हुई उनकी मूर्त्तिमती प्रीति ही है।

(२) 'केहि बिधि अस्तुति··'—पूजा के पीछे स्तुति करनी चाहिये, उसपर कहती है कि स्तुति करने की योग्यता विद्या-बुद्धि से होती है, वह मुझमें नहीं है। अधम जाति की होने से विद्या नहीं पढ़ सकी और बुद्धि जड़ ही नहीं, किन्तु अत्यन्त जड़ है। स्त्रियों की बुद्धि स्वभावतः जड़ होती है, यथा—"अबला अबल सहज जड़ जाती ॥" (उ० दो० ११४), मै अधम जाति की हूँ, इससे भारी जड़मति हूँ। 'तुम्हारी'—कहाँ आप! कि जिसकी स्तुति मे ब्रह्मादिक असमर्थ हैं और कहाँ मैं अधम जाति एवं भारी जड़मति! अर्थात् आप अपनी कृपा से ही प्रसन्न हों।

(३) अधम ते अधम···'—जाति की अधम तो पहले ही कह चुकी है कि भील की जाति अधम है। उन अधमों में भी मै अधम हूँ, अर्थात् जाति से भी निकाली हुई भ्रष्ट हूँ, यथा—"जाति हीन अघ जन्म महि ··" (दो० ३६), "जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा ॥" (उ० दो० ९९)। अथवा नारी होने से मै अधम हूँ फिर मैं तो हीन जाति में हूँ, इससे अति अधम हूँ। 'अघारी'—आप पाप के नाश करनेवाले हैं और मै पापिनी हूँ, यथा—"मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई ॥" (बा० दो० २१०)। भगवान् श्रीरामजी अपना नाम, रूप, लीला और धाम सभी से पापनाशक हैं। नाम, यथा—"जासु नाम पावक अघ-तूला।" (अ० दो० २४७), रूप, यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहि तबहीं ॥" (सुं० दो० ४३), लीला, यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहि जे कथा श्रवन मन लाई ॥" (उ० दो० १२५), धाम, यथा—"देखत पुरी अखिल अघ भागा ॥" (उ० दो० २८)।

अलंकार—सार (अपकर्ष में), क्योंकि उत्तरोत्तर अपकर्ष कहा गया है।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥४॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ॥५॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा ॥६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने कहा—हे भामिनि! मेरी बात सुनो, मैं एक (अपनी) भक्ति का ही नाता मानता हूँ ॥४॥ जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुराई (इनके होते हुए भी) भक्ति से हीन मनुष्य कैसा सोहता है, जैसा बिना पानी का बादल (शोभा-रहित) देखा जाता है ॥५-६॥

विशेष—(१) 'मानउँ एक भगति कर नाता', यथा—"जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४), "अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥" (उ० दो० १५), "ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥" (गीता० ९।२९), भक्ति के समक्ष जिन नातों को नहीं मानते, उन्हें आगे गिनाते हैं—

(२) 'जाति पाँति कुल···भगति हीन···'—शबरीजी ने अपने को 'अधम जाति' कहा था, इसीसे नाता-निराकरण में पहले जाति ही कही। जाति-पाँति आदि जो १० गिनाई गई हैं, इनका गौरव भक्ति का बाधक है, यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥" (कि० दो० ६), ये दसो गुण बिना जल के बादल हैं। अतः, व्यर्थ हैं। 'सोहइ'—का भाव यह कि इन गुणों से युक्त व्यक्ति इनसे अपनी शोभा मानता है, पर वह दूसरों की दृष्टि मे वैसा ही शोभा-हीन है, जैसा बिना जल का बादल, यथा—"भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे॥ भजन हीन सुख कवने काजा।" (उ० दो० ८३)। भक्ति जल है, यथा—"राम भगति जल मम मन मीना।" (उ० दो० ११०), इससे युक्त होने से उन गुणों की भी शोभा है। कहा भी है—"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्। भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥" (भाग०११।१४।२१-२२), अर्थात् सन्तों का प्रिय आत्मा मै अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्ति से ग्रहण में आता हूँ। मुझे प्राप्त करने का यह एक ही उपाय है। मेरी भक्ति जन्म से चाण्डाल तक को भी पवित्र कर देती है। जो मेरी भक्ति रहित हैं, उनके चित्त को सत्य और दया से युक्त, धर्म और तपस्या से युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करने में असमर्थ है।

जलहीन मेघ धूप से छाया कर क्षणिक सुख देते हैं, फिर वही कड़ी धूप सहनी पड़ती है। वैसे ही जाति आदि गुण क्षणिक सुखद जान पड़ते हैं। अन्त में फिर चौरासी भ्रमण के त्रिविध ताप देते हैं।

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥७॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥८॥

दोहा—गुरु - पद - पंकज - सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करइ कपट तजि गान॥३५॥

अर्थ—मैं तुमसे नवधा-भक्ति कहता हूँ, सावधान होकर उसे सुनो और अपने मन में धारण करो॥७॥ सन्तों का संग (सत्संग) पहली भक्ति है, मेरी कथाओं के प्रसंगों में प्रेम करना, यह दूसरी भक्ति है॥८॥ अभिमान-रहित होकर गुरुजी के चरण-कमलों की सेवा करनी तीसरी भक्ति है और कपट छोड़कर मेरे गुण-समूह का गान करना चौथी भक्ति है॥३५

विशेष—(१) 'नवधा भगति कहउँ···'—जिस भक्ति के बिना सब गुण व्यर्थ है, उसे कहते हैं—नवधा (नव=नौ, धा=प्रकार) अर्थात् वह नौ प्रकार की है। सुनकर उसे मन में धारण करो।

श्रीरामजी पहले भी श्रीलक्ष्मणजी से नवधा-भक्ति कह आये हैं, यथा—"श्रवनादिक नव भगति

दृढ़ाहीं ॥" (दो० १५), पर उससे यह नवधा भिन्न है। वह प्रवृत्ति-युक्त अधिकारियों की है और यह निवृत्तिवालों की है, क्योंकि यह तपस्विनी श्रीशबरीजी से कही जा रही है।

(२) 'संतन्ह कर संगा'—बहुत-से सन्तों से सत्संग करे, न जाने किससे यथार्थ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो।

(३) 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'—पहले सन्तों का संग करना कहकर तब कथा-प्रसंग में रति कही, क्योंकि सत्संग से ही कथा-प्रसंग का मर्म जाना जाता है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि-कथा।" (उ० दो० ६१), कथा के प्रसंगों में प्रीति का होना यह कि कथाओं के सुनने में प्रेम करना और उनका तात्पर्य समझना कि इस कथा-प्रसंग में भगवान् का कौन गुण प्रधान है, जैसे अहल्योद्धार प्रसंग में कहा है—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।" (बा० दो० २११), अर्थात् प्रभु अपनी 'कारण रहित दयालुता' से दीनों की सहायता करते हैं, उनकी जड़ (शिलावत्) बुद्धि को चैतन्य करते हैं, यथा—"सहस सिला ते अति जड़ मति भई है। कासों कहौं कौन गति पाहनहि दई है।" (वि० १८१)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये। ऐसे ही प्रत्येक प्रसंग के गुणों को जानकर निष्ठा द्वारा कल्पवृक्ष-स्वभाव भगवान् से इन गुणों से लाभ उठाना चाहिये। बा० मं० सो० ५ का भाष्य भी देखिये। आगे—"गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई। ···" (उ० दो० ९२)—इसपर भी गुरु-निष्ठा-परक रहस्य देखिये।

(४) 'गुरु-पद-पंकज-सेवा···'—अमान होकर अर्थात् उनका मान करे, स्वयं अमान रहे, दास बनकर उनकी सेवा करे। गुरु-भक्ति, यथा—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" (श्वेता० ६।२३) अर्थात् परमात्मा देव में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भक्ति देव में है, वैसी ही गुरु में—ये अर्थ उस महात्मा के ही जानने में आते हैं। इस श्रुति का तात्पर्य यह कि गुरु भक्ति से भगवत्तत्त्व हृदय में प्रकाशित होता है, अन्यथा सुनी अनसुनी हो जाती है, तथा—"कल्मषं गुरु शुश्रूषा हन्ति मानो महद्यशः। अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ॥" (महा० अनुशा० ६९।१९), अर्थात् गुरु सेवा पाप को, अभिमान महान् यश को, तीन पुत्रों का होना अपुत्रता को और दस गायों की प्राप्ति वृत्ति हीनता को नष्ट करती है। ऊपर कथा प्रसंग में रति कहकर तब गुरुभक्ति कहने का यही आशय है, कि अमान होकर गुरुजी के द्वारा कथा के रहस्य को समझे, तब वह रहस्य हृदय में प्रकाशित होगा, यथा—"सूझहिं राम-चरित-मनि-मानिक···" (बा० दो० १), कहा ही है, यथा—"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान।" (उ० दो० ८९), तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" (गीता ३।३४) तथा—"तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥ तत्र भागवतान्धर्मान्शिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः। अमायया नुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥" (भाग० ११।३।२१-२२), अर्थात् जिसको अपना परम कल्याण जानने की इच्छा हो, उसे वेद के ज्ञाता और परब्रह्म में स्थित शान्त-स्वरूप गुरु की शरण में जाना चाहिये। और गुरु को ही आत्मा एवं इष्टदेव समझकर निष्कपटभाव से उनकी सेवा करके उन भागवत धर्मों को सीखना चाहिये, जिनसे अपने-आपको दे डालनेवाले परमात्मा हरि प्रसन्न हो जाते हैं—यह प्रबुध नाम योगीश्वर ने महाराजा निमि से कहा है, तथा भाग० ११।१८।३९ एवं ११।१७।२७-२९ में भी ऐसा ही कहा गया है, तथा—"येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद्ब्रह्मपूजितम् ॥" (महा० अनुशा० ७।२५), अर्थात् जिन कर्मों से गुरु को प्रीति युक्त किया जाता है, उनसे ब्रह्म पूजित होता है। गुरु-शिष्य के लक्षण भी श्रुति में कहे गये हैं, यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्-प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ॥ येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥" (मुण्डक० १।२।१२-१३), अर्थात् उस ब्रह्म के जानने के लिये श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास समित् आदि उपहार लेकर वह

अधिकारी जाय। वह विद्वान् गुरु इस प्रशान्त चित्त, इन्द्रियजित् और साधन मे कटिबद्ध शिष्य को उस यथार्थ ब्रह्म विद्या का उपदेश करे, जिससे अक्षर और सत्य पुरुष का ज्ञान हो।

इस श्रुति मे 'श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ' गुरु का लक्षण और प्रशान्त चित्त, इन्द्रियजित तथा साधन में कटिबद्ध, यह शिष्य-लक्षण कहा गया है और जिससे शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार हो, उसे ब्रह्मविद्या कहा गया है, चाहे वह मन्त्र योग हो या और ही प्रकार की ब्रह्म-विद्या हो।

(५) 'मम गुनगन, करइ कपट तजि गान।'—किसीको रिझाने एवं धन कमाने के लिये गुण-गान करना कपट-सहित है। पहले 'रति-कथा-प्रसंग' में सुनकर विचारना कहा गया था। तब गुरु-निष्ठा द्वारा उसका साक्षात्कार करना कहा। अब स्वयं भी गान (कीर्त्तन) करने को कहते है। ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही किया है, यथा—"मैं पुनि निज गुरु-सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।'''भाषाबद्ध करबि मैं सोई।" (बा० दो० ३०), कीर्त्तन-भक्ति का माहात्म्य श्रीमद्भागवत में लिखा है, यथा—"सङ्कीर्त्यमानो भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्। प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथातमोऽर्कोऽभ्रमिवाति वातः॥" (१२।१२।४७), अर्थात् कीर्त्तन के प्रभाव से भगवान् शीघ्र ही भक्तों के हृदयावशिष्ट हो जाते हैं और भक्तों के हृदय के सम्पूर्ण विकारों का विनाश कर देते हैं। जैसे सूर्य तम को और वायु बादलों को, अर्थात् पहले ज्ञान-रूप सूर्य के द्वारा अज्ञानान्धकार हटाते है, फिर काम-क्रोधादि रूपी मेघपटल को छिन्न-भिन्न कर देते है और भक्तों के हृदयाकाश को निर्मल कर देते है, तथा—"य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च। कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि। अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥" (भाग० ११।३१।२७-२८), अर्थात् जो मनुष्य देवदेव भगवान् के दिव्य जन्म-कर्मों का श्रद्धा-पूर्वक कीर्त्तन करता है, वह समस्त पापों से छूट जाता है। भगवान् हरि के मनोहर कल्याणकारी अवतार, पराक्रम तथा बाल-लीलाओं को सुनने तथा उनका गान करने से मनुष्य परमहंसों की गति-स्वरूप भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त होता है।

मंत्र-जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद-प्रकासा॥१॥
छठ दमसील बिरति बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन-धर्मा॥२॥
सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोते संत अधिक करि लेखा॥३॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥४॥
नवम सरल सब सन छल-हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥५॥

अर्थ—मेरे मन्त्र का जप करना और मेरा दृढ़ विश्वास रखना, यह पाँचवीं भक्ति वेदों मे प्रसिद्ध है॥१॥ दम-शील (इन्द्रिय-दमन में तत्पर), बहुत कर्मों से वैराग्य और सदा सज्जनों के धर्म में तत्पर रहना, यह छठी भक्ति है॥२॥ सारे जगत् को एक समान एवं मुझ-मय (राम-मय) देखे और सन्तों को मुझसे भी अधिक विचारे, यह सातवीं भक्ति है॥३॥ जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें सन्तुष्ट रहना और स्वप्न में भी पराये दोषों को न देखना, यह आठवीं भक्ति है॥४॥ सरल (सीधा-सादा) स्वभाव, सबसे छल-रहित, हृदय में मेरा भरोसा एवं हर्ष और दीनता न होना, यह नवीं भक्ति है॥५॥

विशेष—(१) 'मंत्र-जाप मम'''—जप, यथा—"मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्ये स्थितं मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥" अर्थात् मन्त्र का अर्थ हृदय में स्थिर हो और मन मन्त्र ही के आराधन में लगा रहे, इन दोनों की एकत्रता जप है। ऐसे ही नित्य जप करे, यथा—"मंत्रराज नित जपहि तुम्हारा॥" (अ० दो० १२८), साथ ही मन्त्रार्थभूत मन्त्र के देवता एवं उसके शब्दार्थ भूत उसके गुणों पर चित्त रहना चाहिये, यथा—"मननात्त्राणनान्मन्त्रः।", तथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः

स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥" (श्रीरामतापनीय उ०)। दृढ़ विश्वास भी चाहिये, क्योंकि बिना विश्वास के सिद्धि नहीं होती, यथा—"कवनिहुँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।" (उ० दो० ८९), बिना विश्वास के देवता का साक्षात्कार नहीं होता, यथा—"भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वास-रूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥" (बा० मं०)। 'वेद-प्रकासा'—ऋग्वेद की मन्त्र-रामायण, रामतापनीय-उपनिषद् और रामोपनिषद् से राम-मन्त्र विशेष प्रसिद्ध है।

(२) 'छठ दमसील···'—दमशील होना, सन्त-लक्षण है, यथा—"सम-दम-नियम-नीति नहि डोलहिं।" (उ० दो० ३७), 'बिरति बहु कर्मा', यथा—"नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोक प्रद सब त्यागहू।" (दो० ३६), तथा—"अन्ये विहाय सकलं सदसच्चकार्यं श्रीरामपङ्कजपदं सततं स्मरन्ति···" (महारामायण), तात्पर्य यह कि शरीर-निर्वाह-मात्र कर्म करे, यथा—"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥" (गीता ४।२१), अर्थात् दमशील बहुत कर्म न करे कि जिससे भजन का अवकाश न मिले। 'सज्जन-धर्मा', यथा—"जननी-जनक-बंधु-सुत-दारा।···सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥···अस सज्जन···" (सुं० दो० ४७)।

(३) 'सातवँ सम···', "सरग-नरक-अपबरग-समाना। जहँ-तहँ देख धरे धनु-बाना ॥" (अ० दो० १३१)। भाव यह कि भगवान् सबमें समान भाव से हैं। जगत् का बर्ताव उन्हींकी प्रेरणा से प्रत्येक जीव के परस्पर कर्मानुसार हो रहा है। ऐसी दृष्टि से व्यवहार में राग-द्वेष न होगा। उसका जगद्व्यवहार ही भक्ति-रूप में हो जायगा, यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥" (गीता ६।३१)। 'मोते संत अधिक···', यथा—"मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥···" से "अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम-भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥" (उ० दो० ११९) तक देखिये। सन्त श्रीरामजी को अत्यन्त प्यारे हैं, इससे भी उन्हें अधिक मानने को कहा। उनकी सेवा को श्रीरामजी अपनी सेवा की अपेक्षा अधिक मानते हैं। विशुद्ध सन्त शीघ्र श्रीरामजी को मिला देते हैं।

(४) 'आठवँ जथालाभ संतोषा···'—देह-निर्माण के साथ ही प्रारब्ध बन जाता है, तदनुसार निर्वाह होगा ही, अतएव सन्तोष रखना ही चाहिये, जिससे राग-द्वेष की बाधा न हो, यथा—"जो सुख संपति, सरग नरक संतत सँग लागी।" (वि० ११०), "जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहि बुलाये। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ॥ (वि० २०१), तथा—"सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥" (योगदर्शन २।१३), अर्थात् जब तक कर्म रूपी मूल है, तब तक उसके परि-णाम रूप जाति (में जन्म), आयु और भोग मिलते रहते हैं। एवं—"सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्। सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः ॥" (भाग० ७।६।३), अर्थात् प्रह्लादजी ने दैत्यों से कहा है कि इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न सांसारिक सुख तो सभी शरीरों में भाग्यवश अनायास आनेवाले दुःखों की भाँति अनायास ही प्राप्त होते रहते हैं। 'सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा'—पराया दोष देखने से अपना हृदय मैला होगा। उसकी बागडोर परमात्मा के हाथ है, वह सुधारेगा ही। किन्तु, यह व्यवहार-रहित सन्तों के लिये है। पहले ही कहा गया कि यह नवधा भक्ति निवृत्त-परक है। व्यवहार सहित सन्तों के लिये—"जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।" (बा० दो० १), कहा गया है। वहाँ 'दुरावा' का अर्थ दूर करना, हटाना है, ढाँक देना नहीं, क्योंकि ढँकने में तो और उसे घूस मिलेगी, दुःख सहना क्यों कहा गया है?

(५) 'नवम सरल सब सन छल-हीना।···'—सरलता सन्त-लक्षण है, यथा—"सरल सुभाव न मन कुटिलाई।" (उ० दो० ४५), 'मम भरोस···'—भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् हैं और हमारे रक्षक हैं, ऐसा विचार रहने पर सब छर-भार उन्हीं पर रहेगा, इससे लाभ-हानि की वृत्ति ही न होगी,

तब हर्ष एवं दीनता क्योंकर होगी, यथा—"है चर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं।" (वि० १०४)—इसका 'सिद्धान्त-तिलक' देखिये।

नव महुँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥६॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥७॥
जोगि-बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई ॥८॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥९॥

अर्थ—जिनको (हृदय में) नौ में से एक भी भक्ति होती है—स्त्री-पुरुष और चर-अचर कोई भी हो—वही मुझे अतिशय प्रिय है। हे भामिनि! तुममें तो सभी प्रकार की भक्तियाँ दृढ़ हैं ॥६-७॥ जो गति योगी लोगों को दुर्लभ है, तुम्हें आज वह सुगमता से प्राप्त हो गई ॥८॥ (क्योंकि) मेरे दर्शनों का परम अनुपम फल यह है कि जीव अपना सहज (स्वाभाविक-नित्य) स्वरूप पा जाता है ॥९॥

विशेष—(१) 'सोइ अतिसय प्रिय··'—प्रिय तो सभी है, पर भक्त अतिशय प्रिय है, यथा—"सब मम प्रिय सब मम उपजाये।", "पुनि पुनि सत्य करउँ तोहिं पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ॥" (उ० दो० ८५), 'भामिनि'—क्योंकि श्रीशबरीजी भक्ति-सम्बन्धी दिव्य गुणों से दीप्तिमती हैं, यह 'भामिनि' पद इसी अर्थ में इस प्रसंग में तीन बार (आदि, मध्य और अन्त में) आया है। श्रीरामजी का शबरीजी से मातृभाव है, यह ऊपर कहा गया है। मातृभाव में भी अन्यत्र आर्ष ग्रन्थों में 'भामिनि' सम्बोधन आया है, यथा—इमं मुहूर्त्तं दुःखानामन्तं द्रक्ष्यसि भामिनि।" (वाल्मी० ५।८०।१४ तथा ५।६७।२७)—यह श्रीहनुमानजी ने माता सीताजी से कहा है, तथा—"अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्। श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥" (भाग० ३।३२।११), अर्थात् कपिल भगवान् ने माता से कहा है कि माताजी, तुम अति भक्ति भाव से श्रीहरि की शरण जाओ। वे सभीके हृदयवासी हैं। 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे'—औरों में एक प्रकार की भक्ति का होना, फिर भी उसका दृढ़ होना दुर्लभ है, पर तुममें तो सभी प्रकार की (नवधा, प्रेमा, परा) भक्तियाँ हैं और वे सब दृढ़ हैं।

(२) 'जोगिबृंद दुर्लभ गति···'—योगी लोग योगशास्त्र की रीति से साधन करके भी कठिनता से मुक्ति पाते हैं, यथा—"जौ निर्बिघ्न पंथ निरबहई···" (उ० दो० ११८)।

(३) 'मम दरसन फल परम···'—जीव का सहज (स्वाभाविक) स्वरूप, यथा—"ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥" (उ० दो० ११६)—इसका भाष्य देखिये। यह माया-वश हुआ, तब योगशास्त्र के कैवल्य ज्ञान के साधनों से फिर इसका मुक्त होना भी कहा गया है। वहाँ तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणों से निर्मुक्त होने पर 'सोहमस्मि' यह वृत्ति प्राप्त हुई। तब ग्रन्थि-निर्मुक्त होने पर उसका कृतार्थ (मुक्त) होना कहा गया है। वही अवस्था यहाँ दर्शन-मात्र से कैसे हुई? इसका उत्तर यह है कि ऊपर जो—"जोगिबृंद दुर्लभ···" में फल कहा गया, उसीका इस—"मम दरसन फल ·" से समाधान किया गया है कि इसने श्रीरामजी के दर्शनों के द्वारा ही उपर्युक्त फल प्राप्त किया है।

इस तरह कि ऊपर 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे' से कहा गया कि इसमें सब प्रकार की नवधा, प्रेमा, परा भक्तियाँ दृढ़ हैं। यहाँ केवल नवधा ही के नवो प्रकार का अर्थ नहीं है, अन्यथा 'सकल प्रकार' की जगह नवो प्रकार कहा जाता। नवधा-मात्र कहने के लिये आपने प्रतिज्ञा की थी, इसलिये उतना ही कहा। "शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।" (वाल्मी० मू०), से भी इनमें सब भक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इन तीनों भक्तियों के सहित इसने अच्छी तरह श्रीरामजी के दर्शन किये हैं, उसीका महत्त्व यहाँ

श्रीरामजी ने कहा है, तथा—"राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥" (उ० दो० ११८)।

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा-भक्ति के साथ श्रीरामजी के दर्शन करता रहता है। इसमें इन्द्रियों के विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः, चित्तवृत्ति भगवान् में ही रहती है। फिर प्रेमा-भक्ति-द्वारा सूक्ष्म शरीर के दोषों को शुद्ध करता हुआ, श्रीरामजी मे चित्त रखता है और बुद्धि से उनके कृपा, सौहार्द्र आदि गुणों का विचार होने पर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों सहित प्रीति की उमंग में निमग्न रहता है। अतः, दर्शनों मे बाधा नहीं होती। पुनः पराभक्ति के दृढ़ अनुराग के प्रारम्भ में विरहाग्नि से कारण-शरीर (वासनामय) के भस्म होने पर तुरीयावस्था में साधक स्वतः प्राप्त होता है, जो अवस्था वहाँ 'सोहमस्मि' इस वृत्ति पर कही गई है। इस पराभक्ति में भगवान् के प्रति इसकी स्वतः एकरस गाढ़-स्मृति रहती है, यथा—"सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥" (अ० दो० १३०), इसमें ग्रन्थि छोड़ने की बाधाएँ (जो ज्ञान में कही गई हैं) कुछ नहीं कर पातीं, यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥" (उ० दो० ११५)। अतः, यह उन ग्रन्थियों से भी निर्मुक्त हो जाता है।

यहाँ तक के सब कार्य केवल श्रीरामजी के दर्शन-मात्र से हुए। अवस्थानुसार मन आदि इन्द्रियों के आधार के लिये नवधा आदि भक्तियाँ थीं। श्रुति भी यही कहती है, यथा—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥" (मुण्डक० २।२।८)।

जनक-सुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबर-गामिनी॥१०॥
पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव-मिताई॥११॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहूँ पूछहु मतिधीरा॥१२॥
बार बार प्रभु-पद सिर नाई। प्रेम-सहित सब कथा सुनाई॥१३॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने कहा—) हे भामिनि! करिवरगामिनी श्रीजनककुमारी का यदि कुछ समाचार जानती हो तो कहो॥१०॥ श्रीशबरीजी ने कहा—हे रघुराई श्रीरामजी! पम्पा-सर पर जाइये, वहाँ श्रीसुग्रीव-जी से मित्रता होगी॥११॥ हे देव! हे रघुबीर! यही सब समाचार कहेगा। हे मति धीर! आप जानते हुए भी मुझसे पूछते हैं॥१२॥ बार-बार प्रभु के चरणों मे सिर नवाकर प्रेम-पूर्वक उसने सब कथाएँ सुनाईं॥१३॥

विशेष—(१) 'जनक सुता कइ ·····'—यहाँ श्रीजानकीजी की हुलिया भी सूचित करते हैं कि वे श्रीजनकजी की कन्या हैं, श्रेष्ठ हाथी की-सी उनकी चाल है। हंस-गामिनी नहीं कहा, क्योंकि सम्भवतः शबरीजी ने हंस न देखा हो, पर हाथी तो अवश्य देखा होगा, क्योंकि उसी वन के प्रति कहा है, यथा—"बहु खग मृग तहँ गज पंचानन॥" (दो० ३२)। 'करिबर-गामिनी' यह शबरीजी के प्रति नहीं है, क्योंकि उसमें श्रीरामजी का मातृभाव है, यह ऊपर लिखा गया है।

(२) 'पंपासरहि जाहु ···सो सब···'—इसने मतंगजी से सुन रक्खा है, ऊपर लिखा गया कि वे इसे श्रीरामजी का महत्त्व और उनका आकर दर्शन देना आदि भविष्य बातें समझाकर परधाम गये थे। 'देव'—अर्थात् आप दिव्य ज्ञान से सब जानते ही हैं। 'रघुबीर' और 'मतिधीर' हैं। अतः, शत्रु को मारेंगे, क्योंकि बुद्धि और बल से ही विजय होती है, यथा—"बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।" (लं० दो० ५)।

(३) 'बार-बार प्रभु-पद सिर नाई'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में सिर नवाती हैं, यथा—"पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥" (सुं० दो० १८), "अंगद हृदय प्रेम नहि थोरा।···बार-बार कर दंड प्रनामा॥" (उ० दो० १८)। 'सब कथा सुनाई'—जो इससे गुरुजी

कह गये थे कि श्रीरामजी पधारेंगे, तुम उनका आतिथ्य कर और दर्शन करके शरीर त्याग देना। कथा ऊपर सूक्ष्म रूप में दी गई। वाल्मी० अर० सर्ग ७४ में विस्तार से है। श्रीजानकीजी के विषय की कथा तो सुग्रीवजी कहेंगे—यह शबरीजी पहले ही कह चुकी हैं।

छन्द—कहि कथा सकल बिलोकि हरि-मुख हृदय पद-पंकज धरे।
तजि जोग-पावक देह हरिपद लीन भै जहँ नहिं फिरे॥
नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम-पद अनुरागहू॥

दोहा—जाति हीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि।
महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहि बिसारि॥३६॥

अर्थ—सारी कथा कहकर, हरि श्रीरामजी के मुख के दर्शन कर, हृदय में उनके चरण-कमलों को रख, योगाग्नि में शरीर छोड़कर वह हरि-पद में लीन हो गई, जहाँ से (जीव) फिर नहीं लौटते॥ श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि हे मनुष्यो! अनेक प्रकार के कर्म, अधर्म और बहुत-से मत, सब छोड़ो, ये सब शोक देनेवाले हैं। विश्वास करके श्रीरामजी के चरणों में अनुराग करो॥ जातिहीन, पाप की जन्म-भूमि ऐसी स्त्री को भी (श्रीरामजी ने) मुक्त किया, अरे महामन्द मन! तू ऐसे प्रभु श्रीरामजी को भूलकर (फिर भी) सुख की चाह करता है?॥३६॥

विशेष—(१) 'हरि-पद लीन भइ ·····'—श्रीशबरीजी राम-पदानुरागिनी थीं, इसीसे 'पद लीन भइ' भी कहा गया, यथा—"सबरी परी चरन लपटाई।", "पुनि-पुनि पद सरोज सिर नावा।", "सादर जल लै चरन पखारे।", "बार-बार प्रभु पद सिर नाई।", "हृदय पद पंकज धरे।" वैसे ही यहाँ—"हरि पद लीन भइ" कहा गया है। तथा—"छलिन की छोड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति, कीन्हीं लीन आपमें सुनारी भोड़े भील की।" (क० उ० १७), पद का स्वरूप और परम पद (धाम) भी अर्थ होता है। धाम भी भगवान् का शरीर एवं स्वरूप है। अतः 'आपमें' और 'पद' में लीन होने का तात्पर्य यह कि भगवद्धाम को प्राप्त हुई, यथा—"अति प्रीति मानस राखि रामहि, रामधामहिं सो गई।" (गी० अर० १७)। यही अर्थ 'जहँ नहि फिरे' से भी सूचित किया, यथा—"यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।" (गीता ८।२१), सब प्रकार के मुक्त जीव परम धाम को ही जाते हैं, वे फिर संसार में नहीं आते। इसपर अनन्त श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य-प्रणीत वेदान्त के आनन्द भाष्य ४।४।२२ की व्याख्या देखिये। श्रीमदाचार्य चरण ने श्रुति, स्मृति, इतिहास के प्रमाणों के साथ विस्तार से कहा है।

(२) 'नर बिबिध कर्म ···'—'नर'—यह सम्बोधन देकर उपदेश देते हैं कि ऐसी स्त्री को भी मुक्ति दी, तो तुम तो नर होने से उत्तम अधिकारी हो। 'बिस्वास करि'—क्योंकि बिना विश्वास के भक्ति नहीं होती, यथा—"बिनु बिस्वास भगति नहिं ···" (उ० दो० ९०), विश्वास यह कि जब शबरी को मुक्ति दी, तब मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे, यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।···कि पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।···भजस्व माम्॥" (गीता ९।३०-३३)। 'राम-पद अनुरागहू।'—यहाँ पदानुरागिनी का प्रसंग है, इससे वही कहते हैं। 'बिबिध कर्म'—भक्ति से भिन्न जो भाँति-भाँति के कर्म हैं, वे शोक-प्रद हैं, यथा—"करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्त बीज सम बाढ़त जाहीं॥" (वि० १२८)। 'बहु मत', यथा—"बहु मत मुनि बहु पंथ पुरानन जहाँ-तहाँ झगरो सो।" (वि० १७३)।

(३) 'जाति हीन अघ जन्म महि·····'—'जाति हीन' इससे लोक-नष्टता और 'अघ जन्म महि' से परलोक-नष्टता सूचित की। श्रीचित्रकूट के कोल-किरातों ने कहा है, यथा—"पाप करत निसिवासर जाहीं।·· सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ।" (अ० दो० २५०), इससे शवर जाति का 'अघजन्म महि' होना प्रकट है। जाति-हीनता यह कि शवर-जाति वर्णाधम में परिगणित है।

'बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गये सरोबर तीरा ॥'-प्रकरण

चले राम त्यागा बन सोऊ। अतुलित बल नर-केहरि दोऊ ॥१॥
बिरही इव प्रभु करत बिषादा। कहत कथा अनेक संबादा ॥२॥
लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा। देखत केहिकर मन नहिं छोभा ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने उस वन को भी छोड़ दिया और वहाँ से आगे चले, वे दोनों भाई अतुल बलशाली और मनुष्यों में सिंह (रूप) हैं ॥१॥ प्रभु श्रीरामजी विरही की नाईं दुःख कर रहे हैं और (विरह-विषाद के) अनेक संवाद की कथाएँ कहते हैं ॥२॥ हे श्रीलक्ष्मणजी! वन की शोभा तो देखो, इसे देखकर किसका मन चलायमान न होगा? अर्थात् सभीका मन क्षुभित हो जायगा ॥३॥

विशेष—(१) 'चले राम त्यागा बन सोऊ।'—'सोऊ' अर्थात् मतंग वन को छोड़कर, उससे भी आगे पम्पासर के वन को चले। वनों के विभाग पृथक्-पृथक् हैं—

१. गंगातट से चित्रकूट एवं अत्रि-आश्रम तक एक वन है, यथा—"सखा-अनुज-सिय-सहित बन गवन कीन्ह रघुनाथ ॥" (अ० दो० १०४), पुनः—"कहेउ राम बन-गवन सुहावा। (अ० दो० १४१)।
२. अत्रि के यहाँ से शरभंगाश्रम तक विराधवाला वन है, यथा—"तब मुनि सन कह कृपा-निधाना। आयुस होइ जाउँ बन आना ॥" (दो० ५)।
३. शरभंगाश्रम से अगस्त्याश्रम तक एक वन है, यथा—"पुनि रघुनाथ चले बन आगे।" (दो० ८)।
४. फिर पंचवटी और जनस्थान का वन है, यथा—"दंडक बन पुनीत प्रभु करहू।" (दो० १२)।
५. तब आगे क्रौंच-वन, कबन्ध-वाला वन और मतंग-वन आदि कई वन मिले। उन्हें—"चले बिलोकत बन बहुताई।" (दो० ३२), से जनाया गया है।
६. अब मतंग-वन से पम्पातट के वन को जा रहे हैं। अतः, 'चले राम त्यागा···' कहा गया।

(२) 'अतुलित बल नर-केहरि दोऊ।'—ऐसे घोर वन में क्रीड़ापूर्वक विचरना सिंह के समान बलवान् मनुष्य का ही काम है। जैसे, एक ही सिंह वन के लिये बहुत है, वैसे ये एक ही विश्व-भर की विजय कर सकते हैं, फिर भी दोनों हैं, तो क्या कहना? सिंह की तरह गह्वर वन में आनन्द क्रीड़ा कर रहे हैं।

(३) 'बिरही इव प्रभु करत···'—'इव' पद से विरह की लीला-मात्र सूचित की गई। भीतर से तो क्रीड़ा ही है। श्रीजानकीजी का वियोग भी लीला-मात्र ही है, उन्होंने अग्नि में निवास किया है, तब भी श्रीरामजी में ही हैं, अग्नि भी श्रीरामजी का तेज ही है। पहले भी कहा गया—"मनहुँ महा बिरही अति कामी।" (दो० २९), तथा—"बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई ॥" (बा० दो ४८)। यहाँ 'पूर्णोपमालंकार' है।

(४) 'कहत कथा अनेक···'—नल, पुरूरवा आदि के अनेक विषाद के प्रसंग कहते हैं। 'देखत केहि कर मन नहि छोभा।'—किसे कामोद्दीपन नहीं होता?

नारि-सहित सब खग-मृग-बृंदा। मानहुँ मोरि करतहहिं निंदा ॥४॥
हमहिं देखि मृग-निकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥५॥
तुम्ह आनंद करहु मृग-जाये। कंचन-मृग खोजन ये आये ॥६॥
संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहुँ मोहि सिखावन देहीं ॥७॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिय। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय ॥८॥
राखिय नारि जदपि उर-माहीं। जुबती-सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥९॥

शब्दार्थ—राखिय = रक्षा किये जाने के योग्य।

अर्थ—सब पक्षियों और पशुओं के झुंड स्त्री-सहित हैं, मानों मेरी निन्दा कर रहे हैं, (कि यदि ऐसे ही तुम भी अपनी स्त्री को साथ लिये रहते, तो आज रोना क्यों पड़ता?) ॥४॥ जब हमें देखकर मृगों के झुंड भागते हैं, उनसे मृगियाँ कहती हैं कि हे मृगपुत्रो! तुमको भय नहीं है, (तुम क्यों भागते हो?) तुम आनन्द करो, तुम तो मृग से पैदा हुए हो, ये तो सोने के मृग को खोजने के लिये आये हैं ॥५-६॥ हाथी हथिनियों को अपने साथ लगा लेते हैं, मानों मुझे यह शिक्षा देते हैं, (कि तुमने इसी तरह अपनी स्त्री को साथ क्यों नहीं रक्खा) ॥७॥ अच्छी तरह चिन्तन किये हुए शास्त्र को भी पुनः पुनः देखना चाहिये। अच्छी तरह से सेवा किये हुए राजा को भी वश में न समझना चाहिये ॥८॥ स्त्री सदा रक्षा किये जाने के योग्य है, चाहे वह अपने हृदय (गोद) में ही रहती हो, (क्योंकि) स्त्री, शास्त्र और राजा ये किसीके वश में नहीं रहते ॥९॥

विशेष—(१) यहाँ ६ अर्द्धालियों मे अत्यन्त क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा है। प्रायः लोग औरों की निन्दा किया करते हैं, परन्तु कभी पश्चात्ताप एवं ग्लानिवश मनुष्य अपना भी उपहास स्वयं करता है। वह यहाँ श्रीरामजी दिखा रहे हैं, पशुओं के झुंड जोड़े-सहित रहते हैं। यह देखकर झींखते है कि ये पशु भी हमसे बुद्धिमान् है, ये जोड़ा सहित फिरते हुए मेरी निन्दा प्रकट कर रहे है कि तुमसे तो हम ही लोग चतुर हैं।

(२) 'हमहि देखि मृग · तुम्ह आनंद करहु·····'—मृग मनुष्यों को देखकर भागते हैं, कुछ दूरी पर जाकर खड़े हो जाते हैं और फिर पीछे देखने लगते हैं—यह उनका स्वभाव है। उनके भागने और खड़े हो जाने पर दो कल्पनाएँ करते है—'हमहिं देखि · '—देखकर भागते हैं कि हमको मारेंगे। पुनः—'मृगी कहहिं···'—जब मृगियाँ कहती हैं कि तुम न डरो, तब खड़े हो जाते हैं।

मृगियाँ ताना मारती हैं कि हे मृगो! तुम तो मृग से पैदा हुए हो, तुम्हें ये क्या करेंगे? ये तो सोने का मृग खोजने आये हैं, भाव यह है कि भला कहीं सोने का भी मृग होता है? ये इतना भी नहीं जानते, इसीसे कंचन के लिये स्त्री गँवा दी। कंचन देकर भी कंचनी (स्त्री) की रक्षा करनी चाहिये, पर इन्होंने तो उलटा ही किया। मृगियों को भय नहीं, क्योंकि शिकारियों की यह मर्यादा है कि वे मादा पर अस्त्र नहीं चलाते।

खग-मृग छोटे हैं। अतः, उनका ताना मारना एवं निन्दा करना कहा गया, पर हाथी बड़े और गम्भीर होते हैं। अतः, उनका उपदेश करना कहते हैं—

(३) 'संग लाइ करिनी···'—सूँड़ से इशारा करके साथ ले लेते हैं, इस प्रकार हाथी सिखाते हैं कि तुम्हारे तो हाथ हैं, हाथ से पकड़े रहते तो स्त्री कैसे जाती? मृगियाँ स्त्री हैं, इससे उन्होंने ताना मारा, पर ये हाथी पुरुष हैं, इससे शिक्षा देते हैं। शिक्षा के और स्वरूप आगे दो अर्द्धालियों में कहते हैं—

(४) 'सास्त्र सुचिंतित···राखिय नारि···', यथा—"शास्त्रं सुचिन्तितमपि परिचिन्तनीयमाराधि-

तोऽपि नृपतिः परिहरणीयः। क्रोडे कृतापि युवती परिरक्षणीया सर्वत्र नृपे च युवतौ च कुतो विश्वस्त्वम् ॥" (सुभाषित रत्नभाण्डागारम्), अर्थ चौपाइयों का ही है। 'बस नहिं लेखिय' का भाव 'परिहरणीयः' से स्पष्ट हो जाता है कि सुसेवित राजा से भी शंकित ही रहना चाहिये। 'राखिय नारि···' का भाव भी 'क्रोडे कृतापि···' से स्पष्ट हो जाता है कि चाहे स्त्री गोद में भी बैठी हो, तब भी उसकी रक्षा करनी ही चाहिये। महा० अनुशा० ४१-४२, इन तीनों अध्यायों में स्त्री-रक्षा के कई विधान इतिहास के साथ कहे गये हैं।

ऊपर अपनेको शोभी जानकर विरह करने की और अलभिज्ञ मानकर शिक्षा देने की कल्पना की है। आगे वसन्त की शोभा पर भय की भी कल्पना करते हैं—

देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥१०॥

दोहा—बिरह-बिकल-बलहीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर-खग, मदन कीन्हि बगमेल॥
देखि गयउ भ्राता-सहित, तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहु तब, कटक हटकि मन जात॥२७॥

अर्थ—हे तात! शोभायमान वसन्त-ऋतु को देखो, प्रिया (प्यारी स्त्री श्रीजानकीजी) के बिना मुझे उससे भय उत्पन्न हो रहा है ॥१०॥ कामदेव ने मुझे बिरह से व्याकुल, निर्बल और नितान्त (बिल्कुल) अकेला जानकर (सुशोभित) वन, भ्रमरों और पक्षियों के साथ चढ़ाई की॥ उसका दूत पवन मुझे भाई के साथ (अकेला नहीं) देख गया, तब उसकी बात सुनकर मानों कामदेव ने अपने (सुसज्जित) कटक को रोककर डेरा (पड़ाव) डाल दिया ॥२७॥

विशेष—(१) 'बसंत सुहावा···भय उपजावा'—बिरही को सुहावनी वस्तु अधिक दाहक होती है, इसीसे भय होता है कि मेरी क्या दशा होगी, वा प्रिया की क्या दशा होगी? यथा—"श्यामा पद्म-पलाशाक्षी मृदुभाषी च मे प्रिया। नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम्॥" (वाल्मी० ४।१।५०)।

यहाँ कामोद्दीपक पदार्थों को देखकर भय होना कहा गया है, ऐसे ही वियोग-शृंगार की एकादश दशाएँ कही गई हैं, जैसे—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) संप्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा और (११) मृत्यु—काव्य-प्रभाकर।

(२) 'बिरह-बिकल-बलहीन···'—बिरही को वन की शोभा, भ्रमरों की गुञ्जार और पक्षियों की बोली एवं रूप-रंग आदि की शोभा बिरह को अधिक उद्दीप्त करती हैं। इसीसे इन्हें लेकर काम की चढ़ाई करना कहते हैं। 'बगमेल' का अर्थ दो० १८ तथा बा० दो० ३०५ पर भी लिखा गया है। ऊपर वसन्त कहकर तब काम की चढ़ाई कही, क्योंकि वसन्त काम का सेनापति है, वह चढ़ाई करने में साथ रहता है, यथा—"जेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥" (बा० दो० १२५), "भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥···मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं।···" (बा० दो० २२६-२९)। पुनः वन-पक्षी आदि की शोभा भी सर्वत्र ऐसे स्थलों पर कही गई है। 'निपट अकेल'—भाव यह कि प्रिया के बिना अकेला तो हूँ ही, पर उसने तो बिल्कुल ही अकेला जान लिया था (कि भाई भी नहीं हैं)।

(३) 'तासु दूत सुनि बात'—यहाँ 'बात' शब्द श्लिष्ट है, वचन और वायु दोनों अर्थों में है। वायु

दूत है, यथा—"त्रिविधि बयारी बसीठी आई।" आगे कहा है। यहाँ दूत 'बात' को पुँल्लिंग कहा है, क्योंकि 'देखकर लौटना' कहना है। आगे जब उसे सबको चुनौती देना कहेंगे, तब 'बयारी' स्त्रीलिंग कहेंगे, क्योंकि स्त्री पुरुषों को वश करनेवाली होती है। हमको निर्बल जानकर धावा तो किया, पर जब देखा कि उनके रक्षक बड़े प्रबल भाई भी साथ हैं, जिनसे वह जीत न सकेगा, तब रुक गया। तात्पर्य यह कि दूसरे के साथ रहने पर काम जोर नहीं करता, अकेले ही में अधिक प्रभाव करता है, क्योंकि 'मन जात' है, अर्थात् मन को दूसरा आधार न रहने से वह प्रकट होता है।

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ १॥
कदलि ताल बर ध्वजा-पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥ २॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥ ३॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहावे। जनु भट बिलग बिलग होइ छावे॥ ४॥
कूजत पिक मानहुँ गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥ ५॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥ ६॥
तीतर लावक पदचर-जूथा। बरनि न जाइ मनोज-बरूथा॥ ७॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुन गन बरना॥ ८॥
मधुकर-मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयारि बसीठी आई॥ ९॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे॥१०॥

शब्दार्थ—ढेक = जल के किनारे रहनेवाला एक पक्षी। महोख = कौए के आकार का एक पक्षी, यह तेजी से दौड़ सकता है। इसके पैर काले और पूँछ काली, आँखें लाल और शेष अंग खैरे रंग के या लाल होते हैं। बिसरात = खबर।

अर्थ—बड़े-बड़े वृक्षों में लताएँ लिपटी हुई हैं, मानों अनेक चँदोवे तान दिये गये हैं॥१॥ श्रेष्ठ केले और ताल (ताड़ के वृक्ष) श्रेष्ठ ध्वजाएँ और पताकाएँ हैं, जिसका मन इन्हें देखकर मोहित नहीं हो, वही धीर पुरुष है॥२॥ अनेक वृक्ष नाना प्रकार से फूले हुए हैं, मानों बहुत बानेबन्द (वीर) बहुत-से बाने धारण किये हुए सुशोभित हैं॥३॥ कहीं-कहीं सुन्दर वृक्ष शोभायमान हैं, वे मानो योद्धा लोग हैं जो (सेना से) अलग-अलग होकर छाये (ठहरे) हैं॥४॥ कोयलें बोलती हैं, वे ही मानों मतवाले हाथी (चिंघाड़ते) हैं, ढेक और महोख (पक्षी) मानों ऊँट और खबर हैं॥५॥ मयूर, चकोर, तोते, कबूतर और हंस—ये सब श्रेष्ठ ताजी घोड़े हैं॥६॥ तीतर और लवा पैदल-सिपाहियों के झुण्ड हैं, (इस प्रकार की) कामदेव की सेना का वर्णन नहीं किया जा सकता॥७॥ पहाड़ की शिलाएँ रथ हैं, (शब्द करने-वाले) पानी के झरने नगाड़े हैं, पपीहा भाट हैं जो गुण-गण (विरुद) का वर्णन करते हैं॥८॥ भ्रमरों की गुंजार भेरी और शहनाई हैं, शीतल, मन्द और सुगन्धित—तीनों प्रकार की हवा आ रही है, यही दूत का आना है॥९॥ (इस प्रकार की) चतुरंगिणी सेना को साथ में लिये हुए (काम) सबको चुनौती (ललकार) देता हुआ विचरता है॥१०॥

विशेष—(१) 'कदलि ताल बर···'—केला वृक्ष छोटा और ताड़ बड़ा होता है, वैसे ही क्रमशः ध्वजा और पताका की ऊँचाई होती है। 'जनु बानैत···'—बानेबन्द वीर तरह-तरह के राख लिये हुए, यूथ-के-यूथ भिन्न-भिन्न रंग की वर्दियाँ पहने रहते हैं, वैसे ही वृक्षों के विविध रंग के पुष्प हैं। 'तीतर लावक पदचर जूथा'—इन्हें पैदल आदि न कहकर 'पदचर' कहा गया है, क्योंकि ये पक्षी अधिक पाँव से ही चलते हैं, 'कूजत पिक ···'—वसन्त का समय है, फूल फूल रहे हैं, काली कोयलें बौरे (फूले) हुए आम के

वृक्षों पर बैठी हैं। आम की बौरें ही मानों सोने की जंजीर (सीकड़) हैं। वायु लगने से पल्लव के साथ कोयल कुछ हिलती है, इसीसे उसे 'माते' कहा है। 'पारावत मराल सब ताजी'—ये झुण्ड-के-झुण्ड साथ रहते हैं, ऐसे ही घोड़सवार सेना के झुण्ड-के-झुण्ड भी साथ रहते हैं। 'रथ गिरि सिला'—यहाँ सेना पड़ी है, इसीसे शिला (अचल) कहा है। 'चातक बंदी गुन गन बरना।', यथा—"बंदी बेद पुरान गन, करहि बिमल गुन ग्राम।" (अ० दो० १०५), वैसे ही चातक काम के गुण-गण गाता है, 'पिय-पिय' इसके शब्द हैं, अर्थात् तुम सबको प्रिय हो, यथा—"समुझि काममुख सोचहिं भोगी।" (बा० दो० ८६)। पुनः 'पिय' अर्थात् सबके पति हो, क्योंकि काम से सबकी उत्पत्ति होती है, यथा—"प्रजनाश्चामि कन्दर्पः।" (गीता १०।२८), 'त्रिविध बयारि बसीठी आई।' काम ने डेरा डाल दिया है, यह ऊपर कहा गया, उसीकी ओर से त्रिविध बयारि दूत रूप में आई है। आकर मानों कहती है कि अभी काम की शरण हो, यथा—"चली सुहावनि त्रिविधि बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी॥" (बा० दो० १२५), अर्थात् त्रिविध वायु से कामोद्दीपन होता है, जिससे हृदय उसके वश हो जाता है।

(२) 'चतुरंगिनी सेन ···'—'गज माते'—गज, 'बर बाजी'—घोड़े, 'पदचर जूथा'—पैदल और 'रथ गिरि सिला'—रथ, ये चारों चतुरंगिणी सेनाएँ हैं। 'बिचरत सबहि···'—सबको ललकारता फिरता है, प्रतिभट पाता ही नहीं, यथा—"रन मद मत्त फिरै जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥" (बा० दो० १८१)।

लछिमन देखत काम - अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥११॥
येहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी॥१२॥

दोहा—तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञान-धाम मन, करहिं निमिष महँ छोभ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल, मुनिबर कहहिं बिचारि॥३८॥

अर्थ—हे लक्ष्मणजी! कामदेव की सेना देखते हुए जो धैर्यवान बने रह जाते हैं, उनकी संसार में साख (बँधी हुई मर्यादा) है॥११॥ स्त्री ही इसका एक परम बल है, जो उससे बच जाय, वही बड़ा भारी योद्धा है॥१२॥ हे तात! काम, क्रोध और लोभ ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। विज्ञान के स्थान मुनियों के मन को भी निमिष-मात्र में ये चलायमान कर देते है॥ चाह और दम्भ लोभ के बल है, काम के स्त्रीमात्र बल हैं और क्रोध का बल परुष वचन है—श्रेष्ठ मुनि विचारकर यह कहते हैं॥३८॥

विशेष—(१) 'लछिमन देखत···'—वन और वसन्त की शोभा-वर्णन में श्रीलक्ष्मणजी को प्रथम ही सम्बोधित किया, यथा—"लछिमन देखु बिपिन कै सोभा।" "देखहु तात बसंत सुहावा।" पर काम की सेना वर्णन में पीछे यहाँ कहा—'लछिमन देखत···' इस तरह कामादि का पृथक्-पृथक् वर्णन कर तीनों में विलक्षणता दिखाई। 'रहहिं धीर···'—इस सेना के आगे धैर्यवान् भी भाग जाते हैं, यथा—"भागेउ बिबेक सहाय सहित···" (बा० दो० ८४), पर जो खड़े रह गये, उनकी संसार में सुभटों में गणना होती है। ऊपर कहा था—"देखि न मोह धीर मन जाका।" उसीको यहाँ कहते हैं कि वे लोक-प्रसिद्ध होते हैं, यथा—"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः॥" (कुमारसम्भव), यह मानों श्रीलक्ष्मणजी की सराहना करते हैं।

(२) 'येहि के एक परम बल नारी'—चतुरंगिणी सेना बल है और नारी परम बल है। वा, काम स्वयं बली है, सेना द्वारा प्रबल है और नारी के द्वारा परम बली है। जो इसे जीते वह भट, सेना समेत को जीते वह सुभट और नारी सहित को जीते, वह भारी सुभट है। नारी के द्वारा ही इसके पाँचो बाण चलते हैं—स्त्री की चाल में आकर्षण, उसकी चितवन में उच्चाटन, हँसी में मोहन, बोलने में वशीकरण और रति मे मारण। पाँचो विषय भी काम के पञ्चबाण यहाँ है—गन्ध—"बिबिध भाँति फूले तरु नाना।", रस—"दुंदुभि झरना", क्योंकि "जल बिनु रस कि होइ संसारा।" (उ० दो० ८९), रूप—"देखि न मोह···", स्पर्श—"त्रिबिध बयारि बसीठी आई।", शब्द—"कूजत पिक···।"—इन्हीं पाँचो बाणों से काम अपने सम्मुख जीवों को वश करता है। कामी दीन हो उसके वश रहता है।

(३) 'तात तीनि अति प्रबल·····', यथा—"काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया-रूपी नारि।" (दो० ४३)। पहले नारी को परम बल कहा था। अब तीन भी कहते हैं। यहाँ काम का प्रकरण है, पर तीनों कहे गये, क्योंकि काम ही क्रोध और लोभ भी हो जाता है, यथा—"काम एष क्रोध एष···" (गीता० ३।३७), "कामै क्रोध लोभ बनि दरसै तीनों एकै तन में (काष्ठजिह्वा स्वामी)। कामना हानि पर क्रोध और कामनाओं की सिद्धि पर लोभ सम्पन्न होते हैं। तीनो के तीन प्रकार के बल भी पृथक्-पृथक् कहे गये, क्योंकि तीनो अपने-अपने बलों से अति प्रबल है।

यहाँ काम का प्रसंग है, इसलिये 'काम' को पहले कहा है—'काम क्रोध अरु लोभ।' ऐसे ही—"लोभ के इच्छा···" इस अगले दोहे मे 'लोभ' की प्रधानता है और—"क्रोध मनोज लोभ मद माया। ···" आगे कहा है। उसमें 'क्रोध' की प्रधानता है। भाव यह कि तीनो एक-से-एक प्रबल हैं, कम कोई नहीं है। इसीपर तो कहा गया है—"नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥" (कि० दो० २०), "को न क्रोध निरदहेउ, काम बस केहि नहिं कीन्हो? को न लोभ दृढ़ फन्द बाँधि त्रासन करि दीन्हों? कौन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारि नयन सर? लोचन जुत नहि अंध भयो श्री पाइ कौन नर? सुर-नाग-लोक महि मंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न? कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिव नयन॥" (क० दो० ११७)।

(४) 'मुनि बिज्ञान धाम मन···', यथा—"नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतम बादी॥···को जग काम नचाव न जेही।···केहिकर हृदय क्रोध नहिं दाहा।·· केहि कै लोभ बिडंबना, कीन्ह न यहि संसार॥" (उ० दो० ६९-७०)—इसमें नारद का नाम पहले कहा है, क्योंकि वे विश्वमोहिनी से काम वश हुए, फिर क्रोध किया, इसकी कथा बालकाण्ड में विस्तार से है।

(५) 'लोभ के इच्छा दंभ बल ·····'—जब किसी विषय की चाह होती है, साथ ही दम्भ रचा जाता है, तब लोभ की जीत होती है। अपनेको श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय एवं महात्मा आदि सूचित करने की चेष्टाएँ दम्भ हैं। स्त्री से प्रीति-व्यवहार हुए कि काम की विजय हुई। क्रोध की जय भी कठोर वचन बोलने के साथ जानना चाहिये। अतः, इच्छा उठते ही उसे दबा दे, स्त्री की चाह न होने पावे और कठोर वचन सुनकर उत्तर न दे, ये तीनों से बचने के उपाय हैं। तथा—"असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्। अर्थानर्थेक्षया लोभं भय तत्त्वावमर्शनात्॥···दम्भं महदुपासया॥" (भाग०७।१५।२-२२), अर्थात् काम को निःसंकल्पता से, क्रोध को कामनाओं के त्याग से, लोभ को अर्थ में अनर्थ बुद्धि करने से तथा भय को तत्त्व चिन्तन से···और दम्भ को महापुरुषों की सेवा से जीतना चाहिये। और भी, इन तीनों की प्रवृत्तियाँ और इनके जीतने की रीतियाँ कही गई है, यथा—"लोभात्क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते॥७॥ क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्त्तते। सङ्कल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते॥८॥ यदा विरमते

प्राज्ञो तदा सद्यः प्रणश्यति।...॥६॥ अज्ञान प्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा। अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्त्तते ॥२१॥" (महा० शान्ति० अ० १६३), अर्थात् लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है। वह पराये दोषों के द्वारा उद्दीप्त होकर फिर क्षमा के द्वारा रुकता है और क्षमा से ही निवृत्त होता है। संकल्पों से काम उत्पन्न होता है, वह सेवन करने से उतना ही बढ़ता जाता है। बुद्धिमानों के काम से विरत होने पर उसी समय वह उनके हृदय से नष्ट हो जाता है। अज्ञान से लोभ उत्पन्न होता है, और सारे विषयों की अस्थिरता देखने पर ज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति होती है।

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी ॥१॥
कामिन्ह कै दीनता दिखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ॥२॥
क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया ॥३॥
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला ॥४॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि-भजन जगत सब-सपना ॥५॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे उमा! श्रीरामजी सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से परे हैं, चराचर-जगत् के स्वामी और सबके अन्तःकरण के जाननेवाले एवं प्रेरक हैं॥१॥ उन्होंने कामी लोगों की दीन दशा (अपने में) दिखाकर धीर पुरुषों के मन में वैराग्य की दृढ़ता की है (कि स्त्रियों की आसक्ति से ऐसी दीन दशा होती है, अतएव इनसे वैराग्य ही रखना चाहिये)॥२॥ क्रोध, काम, लोभ, मद और माया—ये सब श्रीरामजी की दया से छूट जाते हैं॥३॥ (जैसे कि) जिसपर वह नट अनुकूल होता है, वह मनुष्य इन्द्रजाल (जादूगरी, मायाकर्म) में नहीं भूलता॥४॥ हे उमा! मैं यह अपना अनुभव कहता हूँ कि भगवान् का भजन सत्य है और समस्त जगत् स्वप्नवत् (झूठ) है॥५॥

विशेष—(१) 'गुनातीत सचराचर ·····'—जब ऐसे हैं, तो अज्ञान से रोते क्यों हैं, इसका समाधान करते हुए कहते हैं—'कामिन्ह कै दीनता देखाई।···'—ऊपर—"देखहु तात बसंत सुहावा।···" एवं—"बिरह बिकल बल हीन मोहिं···" इत्यादि कथन से कामियों की दीन दशा दिखाकर धीरों को वैराग्य की शिक्षा दी। दीनता, यथा—लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जगलीका॥" धीरता, यथा—"देखि न मोह धीर मन जाका।" इत्यादि रीति से दोनों बातें दिखाईं, यथा—"भ्राता वने कृपणवत्स्त्रियया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार।" (भाग० ९।१०।११), अर्थात् भाई लक्ष्मणजी के साथ वन-वन में दीन की भाँति फिरने लगे। इससे शिक्षा दी है—'जो स्त्रियों में आसक्ति रखते हैं, उनकी यही गति होती है।' तथा—"रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः। कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्॥" (भाग० १०।३०।३५), अर्थात् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं, अपने में ही सन्तुष्ट एवं पूर्ण हैं। जब वे अखण्ड हैं, उनसे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब उनमें काम (कामना करने) की कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियों की दीनता—स्त्री परवशता—और स्त्रियों की कुटिलाई दिखाते हुए उस गोपी के साथ एकान्त में क्रीड़ा की थी।

(२) 'क्रोध मनोज लोभ···'—ये सब श्रीरामजी की दया से छूट जाते हैं, तो उन्हें काम आदि विकार कैसे व्याप सकते हैं, यथा—"जासु कृपा असि भ्रम मिटि जाई।" (बा० दो० ११७)—"जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥" (बा० दो० ११५), श्रीरामजी की दया से इनका छूटना, यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जब दाया॥ नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०), तथा—"तब लगि हृदय

बसत खल नाना ।" से "तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला । ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला ॥" (सु० दो० ४६), इत्यादि अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर इन तीनो काण्डों की वन-लीला में श्रीरामजी की दया से ही कामादि का छूटना कहा है। श्रीरामजी की दया कैसे हो? इसका उपाय उनकी भक्ति है, यथा—"कहहु सो भगति करहु जेहि दावा ।" (दो० १३)। अतः, आगे भक्ति कहते हैं—

(३) 'सो नर इंद्रजाल नहिं भूला ···'—यथा—"हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या ।" (उ० दो० ७८), इन्द्रजाल (जादूगरी) का खेल झूठा होता है, वैसे 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' रूप नानात्व जगत् झूठा है। इसे ही आगे 'जगत सब सपना' कहकर स्पष्ट किया है। जिसे पूर्व अ० दो० ६१–६२ में विस्तार से कहा गया है। सुत-वित-देह-गेहादि भगवान् के शरीर हैं, इनके कार्य उन्हींके खेल हैं जिसपर वे अनुकूल होते हैं, उसे यह बात जना देते हैं कि सारा जगत् मेरा ही शरीर है। तब उसकी दृष्टि में नानात्व सत्ता निवृत्त हो जाती है, फिर राग-द्वेष की जड़ ही नहीं रह जाती, यथा—"माया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।" (गीता ११।४७), अर्थात् प्रसन्न (अनुकूल) होकर भगवान् ने अर्जुन को विराट् रूप दिखाया, तब उन्होंने सब जगत् को भगवान् के शरीर-रूप में ही देखा। पुनः, इस प्रसन्नता के कार्य को अनन्य भक्ति से ही होना कहा है, यथा—"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥" (गीता ११।५३)। तात्पर्य यह कि भजन करने से श्रीरामजी अनुकूल हो जाते हैं तो वे नानात्व जगत् की स्वप्नवत् सत्ता निवृत्त करा देते हैं। तब कामादि विकारों की जड़ ही कट जाती है। उसीको श्रीशिवजी अनुभव से कहते हैं।

(४) 'उमा कहउँ मैं अनुभव ···'—इसी काण्ड की लीला में उमा को सती तन में मोह हुआ था। इसलिये सीता-खोज-प्रसंग में यहाँ बार-बार 'उमा' के ही सम्बोधन आये हैं, यथा—"सुनहुँ उमा ते लोग अभागी ।" (दो० ३२), "राम उमा सब अंतरजामी ।" एवं—"उमा कहउँ मैं अनुभव ···" यहाँ कहा है। 'सत हरि-भजन जगत सब-सपना ।'—जब जगत् की नानात्व सत्ता रूपी स्वप्न की सत्यता निवृत्त होती है तब चराचरात्मक जगत् रूप से सुख देनेवाले भगवान् ही का साक्षात्कार होता है और फिर जगत् व्यवहार ही भजन रूप हो जाता है, यथा—"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥" (गीता ६।३१), "सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करहु अति प्रेम ।" (उ० दो० १६) नानात्व-सत्ता-निवृत्ति का उपाय भी श्रीमुख से कहा गया है, यथा—"जननी जनक बन्धु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥ समदरसी इच्छा ···अस सजन मम उर बस ···" (सुं० दो० ४७)। तथा—"जेहि जाने जग जाइ हेराई ···" (बा० दो० १११)—भी देखिये।

पुनि प्रभु गये सरोबर - तीरा। पंपा नाम सुभग गंभीरा ॥६॥
संत - हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी ॥७॥
जहँ-तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार-गृह जाचक-भीरा ॥८॥

दोहा—पुरइनि सघन ओट जल, बेगि न पाइय मर्म।
मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥
सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्म-सीलन्ह के, दिन सुख-संजुत जाहिं ॥३६॥

अर्थ—फिर प्रभु श्रीरामजी पम्पा नाम के सुन्दर और गहरे सरोवर के किनारे गये ॥६॥ सन्त के हृदय-जैसा उसका निर्मल जल है, उसमें मन को हरनेवाले चार घाट बाँधे गये हैं ॥७॥ तरह-तरह के पशु जहाँ-तहाँ जल पी रहे हैं, मानों श्रेष्ठ दाता के घर पर माँगनेवालों की भीड़ लगी हो ॥८॥ घनी पुरइनि की ओट में शीघ्र जल का पता नहीं चलता, जैसे माया से ढँका रहने पर निर्गुण ब्रह्म नहीं देख पड़ता (नहीं अनुभूत होता) ॥ सब मछलियाँ अत्यन्त गहरे जल में सदा एकरस सुखी रहती हैं, जैसे धर्मशील मनुष्यों के दिन सुख-सहित बीतते है ॥३६॥

विशेष—(१) 'पुनि प्रभु गये···'—'पुनि' शब्द से प्रसंग का बदलना सूचित किया। विरह-वर्णन करते हुए सरोवर तक आने का प्रसंग पूरा हुआ, अब आगे सर का वर्णन है। 'पंपा नाम'—'पंपा' नामक नदी से यह सर लगा हुआ है, इसीसे इसका नाम पम्पा-सर है—हिं० श० सा०। 'संत-हृदय जस···'—तालाब के जल में काई की मलिनता और सेंवार-रूपी दोष रहते हैं, वे इसमें नहीं हैं, जैसे सन्तों के हृदय में विषय-रूपी काई और विषय-कथा-रूपी सेंवार नहीं रहते, यथा—"काई-बिषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११४), "संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय-कथा-रस नाना॥" (बा० दो० ३७), उनका हृदय विषयरस से नीरस होता है। काई जल के ऊपर रहती है और सेंवार उसके भीतर भूमि पर रहता है। वैसे ही सन्त ऊपर से विषय सेवन नहीं करते और भीतर से उसकी कथाओं का भी स्मरण नहीं रखते। पम्पा का विशेष वर्णन वाल्मी० ४।१ मे है। पम्पा और मानससर के वर्णन का मिलान भी कुछ लोग करते हैं।

(२) जनु उदार-गृह···'—जैसे उदार के यहाँ से याचक सब कुछ पाते हैं, वैसे ही इसमें सभी प्रकार के जीवों के लिये जल का सुपास है। 'बिबिध मृग', यथा—"मृगद्विजसमाकुला" (वाल्मी० ४।१।७)।

(३) 'पुरइनि सघन ओट जल·· '—यहाँ माया के आवरण को पुरइनि की और निर्गुण ब्रह्म को जल की उपमा दी गई है। 'मैं, मोर, तैं, तोर' इस तरह की भावना माया कहलाती है, यह भावना जगत् को ब्रह्म का शरीर न मानने से होती है। इसीसे 'सुत-वित-देह-गेह-स्नेह' के रूप में नानात्व-दृष्टि का विलास रहता है। जैसे पुरइन के बहुत-से पत्ते मिलकर आवरण-से बने रहते है, वैसे ही इन नानात्व के व्यष्टिभेद (चर-अचर) बहुत हैं। जैसे पुरइनि के हटने से जल प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे नानात्व-दृष्टि के हटने से जगत् ब्रह्म के शरीर-रूप मे दिखलाई पड़ता है, तब—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छा० ३।१४।१), अर्थात् यह सब (जगत्) निश्चय ही ब्रह्म है—यह सगुण का देखना होता है। पुनः ब्रह्म सर्व जगत् का आधार होता हुआ भी इन सबसे निर्लिप्त है, ऐसा निश्चय होना निर्गुण ब्रह्म का देखना है, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (ल० दो० १११), "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्त्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥" (गी० ९।४)। अर्थात् मुझ अव्यक्त-मूर्त्ति ब्रह्म से यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत मुझमें स्थित हैं, (मेरे आधार से ही उनकी स्थिति है), किन्तु मैं उनमे स्थित नहीं हूँ (उनसे निर्लिप्त हूँ)। अतः, भगवान् का सर्वाधार होना सगुणत्व और सबसे निर्लिप्त रहना उनका निर्गुणत्व है। इससे आगे (गीता ९।५-६ में) भगवान् ने अपनी निर्लिप्तता के साथ जगत् का आधारत्व समझाया है।

(४) सुखी मीन सब एकरस···'—'मीन सब' के जोड़ में धर्मसीलन्ह यह बहुवचन कहा गया है। अनेक प्रकार की मछलियों की तरह अनेक प्रकार के धर्मात्मा है। धर्म अति अगाध जल है, इससे भी सुख होता है, यथा—"बरनाश्रम निज-निज धरम, निरत बेद-पथ लोग। चलहि सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग॥" (उ० दो० २०)। 'दिन सुख-संजुत जाहिं' अर्थात् बीतते जाते है। जब पुण्य-भोग समाप्त होते हैं, तब फिर उन्हें स्वर्ग से मर्त्यलोक में आना पड़ता है, यथा—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं

विशन्ति ॥" (गीता ६।२१) । किष्किन्धाकाण्ड में कहा है—"सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरि-सरन न एकउ बाधा ॥" (दो० १६), अर्थात् हरि-शरण में प्राप्त होने से फिर कोई बाधा नहीं रहती, यथा—"न मे भक्तः प्रणश्यति" (गी० ९।३१), यह धर्म और प्रपत्ति में भेद है ।

पहले वियोग-शृंगार कहकर तब यहाँ शान्त-रस कहा, क्योंकि यहाँ आते ही काम के वेग का शान्त होना दिखाना था ।

बिकसे सरसिज नाना रंगा । मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ॥१॥
बोलत जल-कुक्कुट कल हंसा । प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ॥२॥
चक्रवाक - बक खग - समुदाई । देखत बनइ बरनि नहिं जाई ॥३॥
सुंदर खगगन गिरा सोहाई । जात पथिक जनु लेत बोलाई ॥४॥
ताल-समीप मुनिन्ह गृह छाये । चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाये ॥५॥

अर्थ—अनेक रंग के कमल खिले हुए हैं, बहुत-से भौंरे मीठे-मीठे शब्दों से गुंजार कर रहे हैं ॥१॥ जल-मुर्ग और कलहंस ऐसे बोल रहे है, मानों प्रभु श्रीरामजी को देखकर वे उनकी प्रशंसा कर रहे हों ॥२॥ चकवे, बगुले आदि पक्षियों के समुदाय देखते ही बनते हैं, वर्णन नहीं किये जा सकते ॥३॥ सुन्दर पक्षिगणों की बोलियाँ सुहावनी लगती हैं, मानों जाते हुए बटोही को बुला लेती हों ॥४॥ तालाब के पास मुनियों के आश्रम बने हुए हैं और चारों ओर वन के वृक्ष सुशोभित हो रहे है ॥५॥

विशेष—(१) 'बिकसे सरसिज···'—पुरइन कहकर ही कमल कहना था, पर बीच में मछलियाँ कही गईं क्योंकि जैसे पुरइनि की ओट में जल है, वैसे ही जल की ओट में मछलियाँ हैं । अतः, साथ ही उन्हें भी कहा । 'नाना रंगा'—कमल कई रंगों के होते हैं । जैसे, राजीव और कोकनद लाल, पुण्डरीक श्वेत और नीलोत्पल श्याम रंग के होते है । पीत रंग के भी कमल अन्य देशों में सुने जाते हैं । बा० दो० ४० भी देखिये । भ्रमर कमल के पूर्णस्नेही होते हैं, इसलिये साथ ही उन्हें भी कहा । उनके पीछे जल-पक्षी भी कमल के स्नेही कहे जाते हैं । अतः, उन्हें भी कहते हैं—'बोलत जल-कुक्कुट कलहंसा ।'···'—प्रशंसा यह कि आपने कृपा कर हमें भी दर्शन दे कृतार्थ किया, ऐसे शील-स्वभाववाले आपकी जय हो ।

(२) 'बिकसे सरसिज नाना रंगा ।' से 'बरनि नहि जाई ।' तक सर के भ्रमर और पक्षी कहे गये हैं । सुंदर खगगन गिरा सोहाई ।' से 'कोकिल धुनि करहीं ।' तक बाग के, यथा—"बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं । आराम रम्य पिकादि खग-रव जनु पथिक हंकारहीं ॥" (उ० दो० २९), 'देखत बनइ' अर्थात् स्वरूप से सुन्दर हैं । 'जात पथिक जनु लेत बोलाई' से स्वर (वाणी) की सुन्दरता कही गई है कि उसे सुनकर बटोही स्वयं आकर वहाँ बैठ जाते हैं, यथा—"आराम रम्य पिकादि ···" ऊपर कहा गया है ।

शंका—यहाँ 'कल हंसा' और 'बक' भी साथ कहे गये हैं, पर ऐसा तो नहीं होता, यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत" (वि० १८५) ।

समाधान—यहाँ पर पम्पा-सर की उदारता है, उदार के यहाँ पात्रापात्र का विचार नहीं रहता, यथा—"जनु उदार-गृह जाचक-भीरा ।", तथा—"पात्रापात्राविवेकेन देशकालाद्यपेक्षणात् । वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरेः ॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण), अर्थात् पात्र-अपात्र के विचार न कर और देश-काल की भी उपेक्षा कर सर्व दिनों में, सर्व देशों में एवं सभी याचक मात्र को देना, उदारता है । महर्षिजी ने भी लिखा है—"हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता ॥" (वाल्मी० ४।१।६३) ।

चंपक बकुल कदंब तमाला । पाटल पनस पलास रसाला ॥६॥

नवपल्लव कुसुमित तरु नाना। चंचरीक-पटली कर गाना ॥७॥
सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ ॥८॥
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥९॥

दोहा—फल-भारन नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर-उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसंपति पाइ ॥४०॥

अर्थ—चम्पा, मौलसिरी, कदम्ब, तमाल, पाडर, कटहल, पलास (ढाक) और आम ॥६॥ आदि के वृक्ष नये पत्तों और सुगन्धित फूलों से युक्त हैं, भ्रमर-पंक्तियाँ गान कर रही हैं ॥७॥ शीतल, मन्द और अनेक सुगन्धित मन हरनेवाली सुन्दर हवा स्वाभाविक ही सदा चलती रहती है ॥८॥ कोकिलाएँ कुहू-कुहू की ध्वनि कर रही है, उनके रसीले शब्द सुनकर मुनियों के ध्यान छूट जाते हैं ॥९॥ फल के बोझ से सभी वृक्ष नम्र होकर (झुककर) पृथ्वी के पास आ रहे हैं (पृथ्वी को चूम रहे हैं), अर्थात् फलों से लदी हुई डाले झुक आई हैं, जैसे परोपकारी पुरुष श्रेष्ठ सम्पत्ति पाकर नम्र होते हैं ॥४०॥

विशेष—(१) 'नव पल्लव कुसुमित तरु···'—से जनाया गया कि वसन्त की बहार है। इसीसे कोयलों का कूकना भी कहा गया है। 'सुसंपति'—जो सम्पत्ति धार्मिक वृत्ति द्वारा उपार्जित की गई हो, जो दूसरों को दुःख देकर संचित हो, वह नहीं।

(२) 'फल-भारन नमि···'—यथा—"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥" (भर्तृहरि-नीति-शतक ७१), अर्थात् जैसे फल होने से वृक्ष नम्र होते है और जैसे नवीन जल भरने से मेघ भूमि पर झुक जाते है; वैसे ही सत्पुरुष भी सम्पत्ति पाकर उद्धत न होकर नवते हैं, यह परोपकारियों का स्वभाव ही है। तथा—सर्वकाल-फला यत्र पादपा मधुरस्रवाः ॥७॥ सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा। फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥८॥" (वाल्मी० ३।७३), अर्थात् सर्वकाल एवं सर्व ऋतुओं में फलनेवाले वृक्ष वहाँ हैं। वे लम्बी शाखावाले वृक्ष फल भार से झुके हुए रहते हैं।

फलने और उन फलों को परार्थ देने में वृक्ष अपनेको कृतार्थ मानते है, वैसे परोपकारियों की वृत्ति समझनी चाहिये—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी ॥" (उ० दो० १२४)।

यहाँ तद्गत, तल्लीन और तदाश्रित, तीनों कहे गये—"सुखी मीन सब एक रस'—तल्लीन, 'बिकसे सरसिज···'—तद्गत और 'मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ॥ बोलत जलकुक्कुट कल हंसा' ये तदाश्रित हैं, तथा 'नव पल्लव कुसुमित ··' और 'फल भारन ··'—इनमें क्रमशः पल्लव, पुष्प और फल रूप वृक्षों की तीनों सम्पत्तियाँ परिपूर्ण कही गई हैं।

देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा ॥१॥
देखी सुंदर तरुबर - छाया। बैठे अनुज - सहित रघुराया ॥२॥
तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये ॥३॥
बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला ॥४॥

अर्थ—श्रीरामजी ने अत्यन्त सुन्दर तालाब देखकर (उसमें) स्नान किया और परम सुख पाया ॥१॥ एक सुन्दर, श्रेष्ठ वृक्ष की छाया देखकर (वहाँ) श्रीरघुनाथजी भाई के साथ बैठ गये ॥२॥ फिर वहाँ समस्त

देवता और मुनि लोग आये, वे श्रीरामजी की स्तुति कर अपने-अपने स्थानों को चले गये ॥३॥ कृपालु श्रीरामजी परम प्रसन्नता से बैठे हुए भाई श्रीलक्ष्मणजी से रसीली कथाएँ कह रहे हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'देखि राम अति रुचिर तलावा । ···'—इतने लक्षण कहकर तब उसे अति रुचिर कहा गया । 'पुनि प्रभु गये सरोवर-तीरा'—प्रभु ने तीर पर खड़े होकर उसकी शोभा देखी और भाई से प्रशंसा की, इतने समय मे मार्ग-श्रम भी दूर हो गया, तब स्नान किया और परम सुख पाया । इस तरह वैद्यकशास्त्र के नियम का भी निर्वाह किया कि श्रम निवृत्त करके स्नान करना चाहिये ।

(२) 'देखी ··छाया । बैठे···'—ग्रीष्म काल है, इस बड़े सघन वृक्ष की छाया में बैठे, यथा—"त्रिविध समीर सुसीतल छाया । सिव बिस्राम बिटप श्रुति गाया ॥" (बा० दो० १०५) ।

(३) 'तहँ पुनि सकल देव-मुनि आये ।···'—'पुनि'—अब दोबारा आये हैं, एक बार चित्रकूट में भी आये थे, यथा—"अमर नाग किन्नर दिसिपाला । चित्रकूट आये तेहि काला ॥ राम प्रनाम कीन्ह सब काहू । ···" (अ० दो० १३३), यहाँ एकान्त है अच्छा अवसर है । आगे सुग्रीवादि के साथ भीड़ में रहेंगे । यहीं पर स्तुति में सब कुछ कह देंगे । फिर न कह सकेंगे । स्वार्थ-साधन का अवसर समीप आ गया है, फिर स्मरण कराना है । पर यहाँ श्रीरामजी का प्रणाम करना नहीं कहा गया, अभी श्रीनारदजी भी आकर स्वयं दण्डवत् करेंगे । कारण यह है कि अयोध्या-काण्ड तक माधुर्य-लीला थी, तब आप मुनियों और देवताओं को प्रणाम आदि विशेष माधुर्य-दृष्टि से करते थे, किन्तु इस काण्ड से ऐश्वर्य-प्रधान लीला चल रही है । इसीसे श्रीरामजी को 'राम', 'प्रभु', 'देव', 'ईश', नाथ' आदि, श्रीजानकीजी को 'श्री', 'सीता', 'रमा' और श्रीलक्ष्मणजी को 'लछिमन' आदि ऐश्वर्यपरक नाम ही कहे गये हैं । 'सिय' और 'लषन' माधुर्यपरक नाम यहाँ नहीं हैं । मंगलाचरण ही में 'श्रीराम-भूप-प्रियम्' से जना दिया है । श्रीरामजी के लिये 'प्रभु' विशेषण तो बहुत आये है । श्रीसीताजी के लिये भी चार जगह 'जानकी', एवं 'जनकसुता' विशेषण कहे गये है, जहाँ माधुर्य के प्रकरण थे । इन सबोंके उदाहरण विस्तार-भय से नहीं लिखे गये ।

(४) 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला । ···'—यहाँ पहले 'बैठे अनुज सहित···' पहले कहा गया था । बीच में देवगण आये । उन्हें उत्थान देकर फिर बैठे हैं । परम प्रसन्न बैठे, तब कथा कहने लगे । कथा सुख-पूर्वक ही कहना चाहिये, यथा—"एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे ··।" (दो० १३), तब कथा कही । पुनः, यथा—"फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई । सुख आसीन तहाँ दोउ भाई ॥ कहत अनुज सन कथा अनेका ।" (कि० दो० १२), वैसे ही यहाँ—'बैठे परम प्रसन्न ···' कहा गया है । कथा—यहाँ पम्पासर की उत्पत्ति, उसका माहात्म्य और नाम का हेतु, आदि, यथा—"सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ । हेतु नाम गुन पुन्य-प्रभाऊ ॥" (अ० दो० ३११), "सचिवहिं अनुजहि प्रियहि सुनाई । बिबुध नदी-महिमा अधिकाई ॥" (अ० दो० ८६), इत्यादि ।

'प्रभु-नारद-संवाद'-प्रकरण

बिरहवंत भगवंतहि देखी । नारद-मन भा सोच बिसेखी ॥ ५ ॥
मोर साप करि अंगीकारा । सहत राम नाना दुख भारा ॥ ६ ॥
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई । पुनि न बनिहि अस अवसर आई ॥ ७ ॥
यह बिचारि नारद कर बीना । गये जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥ ८ ॥
मारुत राम - चरित मृदु बानी । प्रेम - सहित बहु भाँति बखानी ॥ ९ ॥
करत दंडवत लिये उठाई । राखे बहुत बार उर-लाई ॥ १० ॥

स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे ॥११॥

दोहा—नाना बिधि बिनती करि, प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि ॥४१॥

अर्थ—भगवान् श्रीरामजी को विरही देखकर श्रीनारदजी के मन में विशेष शोच हुआ ॥५॥ कि मेरे शाप को स्वीकार करके श्रीरामजी अनेक दुःखों के भार सह रहे हैं ॥६॥ ऐसे कृपालु प्रभु को जाकर देखूँ, फिर ऐसा अवसर नहीं बन आवेगा ॥७॥ यह विचार कर श्रीनारदजी हाथ में वीणा लिये हुए वहाँ गये, जहाँ प्रभु सुखपूर्वक बैठे थे ॥८॥ (श्रीनारदजी) प्रेम-पूर्वक कोमलवाणी से बहुत प्रकार से बखान करके राम-चरित गा रहे हैं ॥९॥ दण्डवत् करते हुए उनको श्रीरामजी ने उठा लिया और बड़ी देर तक अपनी छाती से लगा रक्खा ॥१०॥ स्वागत पूछकर उन्हें पास बैठा लिया, आदर-पूर्वक श्रीलक्ष्मणजी ने उनके चरण धोये ॥११॥ अनेकों प्रकार से विनय (स्तुति) करके और प्रभु को प्रसन्न हृदय जानकर, श्रीनारदजी ने कमल-समान हाथों को जोड़ (ये) वचन कहे ॥४१॥

विशेष—(१) 'बिरहवंत भगवंतहि····'—पहले जब भगवान् विरही की दशा दिखा रहे थे, तभी श्रीनारदजी का यह विचार हुआ था, फिर जब प्रभु सुख से बैठे, तब तक वे आ गये।

(२) 'मोर साप करि···'—वे ईश्वर हैं, समर्थ हैं, चाहते तो शाप न मानते, पर उन्होंने कृपा करके उसको स्वीकार किया कि मेरा ऋषित्व न जाय। शाप, यथा—"नारि-बिरह तुम्ह होब दुखारी ॥ साप सीस धरि···" (बा० दो० १३७), वही यहाँ—"बिरहवंत भगवंतहि देखी।" में चरितार्थ है।

(३) 'नाना दुख भारा', यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुसपात। बसि तरु-तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात ॥" (अ० दो० २११), इन दुःखों के अतिरिक्त यह विरह की दशा और भी अत्यन्त दुःखद है।

(४) 'पुनि न बनिहि अस अवसर आई'—इस समय एकान्त है, फिर तो बानरों की भीड़ हो जायगी। तब तो उत्तर-काण्ड में 'सीतल अमराई' में ही अवसर मिलेगा।

(५) 'गावत राम-चरित···'—प्रेम-पूर्वक चरित-गान से भगवान् बहुत शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं, कहा भी है, यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" 'मृदु बानी'—वीणा से मिलती हुई कोमल-वाणी से। 'प्रेम-सहित'—क्योंकि भगवान् की प्रसन्नता का मुख्य हेतु प्रेम ही है, यों तो वेश्या-कत्थक आदि भी गाते ही हैं, पर उनकी दृष्टि ताल-स्वर ही पर विशेष रहती है। 'राम-चरित'—यहाँ 'हरि-चरित' 'प्रभु-चरित' आदि न कहकर 'राम-चरित' ही कहा गया है, इससे साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी के ही चरित को सूचित किया गया है।

शंका—शाप तो क्षीरशायी भगवान् को दिया गया था, तब उसकी संगति इस चरित के साथ कैसे होगी ? क्योंकि यह मानस का चरित तो साकेत-विहारी का ही है, यथा—"अपर हेतु सुनु·· जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा ॥···सो सब कहिहउँ··" (बा० दो० १४०), श्रीनारदजी ने यहाँ कैसे कहा ?—"मोर साप करि अंगीकारा।···" इत्यादि।

समाधान—यह समग्र चरित साकेत-विहारी का ही है, पर सब अवतारों में चरित एक ही होता है, अन्यथा नारद-शाप-जन्य सीता-हरण एवं विरह न हो, तो लीला अधूरी ही रहेगी। जैसे, श्रीभृगुजी ने विष्णु भगवान् को लात मारी थी, पर उस चिह्न को भगवान् सब अवतारों में धारण करते हैं। पुनः शालिग्राम होने का शाप भी विष्णु भगवान् को ही हुआ, पर सब विग्रह उसमें पूजे जाते हैं, इत्यादि। भगवान् के सब रूपों में तत्त्वतः अभेद है। शाप अंगीकार करने पर यहाँ श्रीनारदजी उनकी

कृपा का अनुभव कर रहे हैं और कृतज्ञता की दृष्टि से आये हैं। 'ऐसे प्रभुहि' अर्थात् ऐसा कृपालु और कौन होगा ?

(६) 'लछिमन सादर चरन पखारे।'—श्रीरामजी को स्वामी मानकर श्रीनारदजी ने दण्डवत की, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी ने चरण धोये। 'निकट बैठारे'—पास बैठाकर आदर दिया, यथा—"भरत बसिष्ठ निकट बैठारे।" (अ० दो० १७०)—देखिये।

(७) 'नाना बिधि बिनती···'—"सहत राम नाना दुख-भारा।" अतएव—'नाना बिधि बिनती करि।" अपराध-क्षमा के लिये बिनती की।

सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बरदायक ॥१॥
देहु एक बर माँगउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥
जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ ॥३॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी ॥४॥
जन कहँ कछु अदेय नहि मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥५॥

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक ! सुनिये, आप सुन्दर, अगम और सुगम वरदान देनेवाले है ॥१॥ हे स्वामिन् ! आप यद्यपि अन्तर्यामि-रूप से जानते ही हैं तथापि मैं एक वर माँगता हूँ, वह मुझे दीजिये ॥२॥ (श्रीरामजी ने कहा) हे मुनि ! तुम तो मेरा स्वभाव जानते ही हो, अपने भक्त से क्या मै कभी छिपाव करता हूँ ? ॥३॥ हे मुनिश्रेष्ठ ! कौन-सी वस्तु मुझे ऐसी प्यारी लगती है, जिसे तुम नहीं माँग सकते हो ? ॥४॥ मेरे पास भक्तों के लिये कुछ भी अदेय (न देने योग्य पदार्थ जिसे मै न दे सकूँ) नहीं है—ऐसा विश्वास भूलकर भी तुम मत छोड़ना ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनहु उदार सहज···'—'रघुनायक'—रघु महाराज भी बड़े उदार थे जिन्होंने अपना सर्वस्व ही दान कर दिया और आप तो उस कुल के 'नायक' हैं, इसलिये माँगता हूँ। उदार एवं राजा कहकर माँगने की रीति है, यथा—"नृप नायक दे बरदानमिदं" (लं० दो० १०९)। 'सुंदर अगम सुगम ··'—'सुंदर' अर्थात् आप परिणाम में दुःखद वर दास को नहीं देते। जैसे, मैंने विश्वमोहिनी की प्राप्ति के लिये आपका रूप माँगा, तो मेरे लिये कुपथ्य जानकर आपने मुझे नहीं दिया। 'अगम सुगम', यथा—"तुम्हहि देत अति सुगम गोसाँई। अगम लाग मोहि निज कृपिनाई ॥" (बा० दो० १४८)।

(२) 'देहु एक बर···'—आप 'स्वामी' हैं, इसीसे माँगता हूँ, यथा—"जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि।" (क० उ० २६), 'एक बर'—यद्यपि आप अनेक वरदान भी दे सकते हैं, तथापि मैं एक ही वरदान माँगूगा। अथवा एक (मुख्य) वरदान ही मै चाहता हूँ, उसे दीजिये। यह वरदान मुख्य है, क्योंकि इससे मैं राम-नाम का ऋषि बनूँगा।

(३) 'जन सन कबहुँ ··', यथा—"सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कवन दुराउ।", (गी० सुं० ४५)। 'मुनि'—आपने तो सब शास्त्रों का भी मनन किया है, इसीसे जानते है।

(४) 'कवन बस्तु···'—भाव यह कि मुझे वस्तु नहीं, किन्तु जन ही प्रिय है।

(५) 'अस बिस्वास तजहु जनि भोरे।'—ऐसा कहना अभिप्राय है, क्योंकि एक बार—आपन रूप देहु···जेहि बिधि नाथ ··" यह वर माँगने पर न मिला था, इसीसे यहाँ जोर देकर कहते हैं कि इस बार भूलकर भी विश्वास न छोड़ना।

तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई ॥६॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥७॥

राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका ॥८॥

दोहा—राका-रजनी भगति तव, रामनाम सोइ सोम ।
अपर नाम उड़ गन बिमल, बसहु भगत-उर-ब्योम ॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ, कृपासिंधु रघुनाथ ।
तब नारद मन हरष अति, प्रभु-पद नायउ माथ ॥४२॥

अर्थ—तब श्रीनारदजी ने प्रसन्न होकर कहा, कि मैं ऐसा वरदान माँगता हूँ, (यह) ढिठाई करता हूँ ॥६॥ यद्यपि प्रभु (आप-) के अनेको नाम है और वेदों ने एक-से-एक को अधिक कहा है ॥७॥ तथापि हे नाथ ! 'राम' नाम सभी नामों से अधिक (प्रभावशाली) है, (यह) पाप-रूपी पक्षि-समूह के लिये बधिक हो ॥८॥ आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात है, राम-नाम उस पूर्णिमा का (पूर्ण) चन्द्र है, आपके और नाम निर्मल तारागण है, (यह राम नाम उन सब नामों के साथ) भक्त के निर्मल हृदय-रूपी आकाश में बसे ॥ कृपासागर श्रीरघुनाथजी ने मुनि से 'एवमस्तु' कहा, तब श्रीनारदजी के मन में अत्यन्त आनन्द हुआ और फिर उन्होंने प्रभु के चरणों में सिर नवाया ॥४२॥

विशेष—(१) 'तब नारद बोले हरषाई ।···'—'तब'—जब श्रीरामजी ने वचन दिया—'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे ।' तब उनकी रुचि जानकर हर्ष-पूर्वक बोले । इससे पहले सन्देह था, अतएव हर्ष नहीं था, यथा—"नारद बोले बचन तब, जोरि सरोरुह पानि ।" यही मात्र कहा गया है । 'करउँ ढिठाई'—ये सामान्य नियम से अधिक बात माँगते हैं, इससे अन्य ऋषित्व के वर पानेवाले ऋषियों की अपेक्षा इनकी ढिठाई होगी ।

(२) 'जद्यपि प्रभु के नाम···', यथा—"विष्णोरेकैकनामापि सर्ववेदाधिकं मतम् । तादृङ्नाम-सहस्रेण रामनाम समं मतम् ॥ श्रीरामेति परं नाम रामस्यैव सनातनम् । सहस्रनामसदृशं विष्णोर्नारा-यणस्य च ॥" (विष्णुपुराणे व्यासवाक्यम्), अर्थात् विष्णु भगवान् का प्रत्येक नाम सब वेदों में श्रेष्ठ है । उन सबसे अत्यन्त गुण फलदायक रामनाम है ॥ 'श्रीराम' यह नाम साकेत-विहारी नित्य द्विभुज श्रीरामजी का ही सनातन से है, यह विष्णु-नारायण के अनन्त नामों के समान है ।

(३) 'राम सकल नामन्ह ते अधिका', यथा—"राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे । सहस्र-नामतातुल्यं रामनाम वरानने ॥" (पद्मपुराण), इसमें 'सहस्रनामता' कहा गया है, अर्थात् सहस्र नामों का समूह, जैसे, जनता का अर्थ जनसमूह होता है, अर्थात् विष्णु-सहस्रनाम, गोपाल-सहस्रनाम आदि अनेको नाम-समूह एक 'राम' नाम के तुल्य है ।

तात्पर्य यह कि ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप है, उसका अर्थ श्रीराम-नाम ही में पूर्णरूप से है, यथा—"चिद्वाचको रकारः स्यात्सद्वाच्याकार उच्यते । मकारानन्दवाच्यं स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥" (महारामायणे), अर्थात् चिद्वाचक रकार है, सद्वाचक आकार है और आनन्दवाचक मकार है, इन तीनों से सच्चिदा-नन्द सिद्ध होता है । वह एकरस अविनाशी है । और नाम जैसे, माधव, केशव, विष्णु, नारायण, ईश्वर आदि नाम ब्रह्म के गुण-कर्म द्वारा उसके वाचक हैं, यथा—"बहूनि मम नामानि कीर्त्तितानि महर्षिभिः । गौणानि तत्र नामानि कर्मजानि च कानि च ॥" (महा० शान्ति ३४१।९--१०), अर्थात् महर्षियों के द्वारा मेरे बहुत से नाम कहे गये हैं । उनमें कोई-कोई तो कर्मज (कर्म से होनेवाले) और कोई-कोई गौण (गुण से होनेवाले) हैं, तथा—"यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः । ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ॥" (महा० अनुशा० १।४९।१३), इसमें भी विष्णु सहस्रनाम में कहे हुए अनेक नामों

को गुण-द्वारा विष्णु वाचक कहा गया है। वे नाम साक्षात् स्वरूपवाचक नहीं हैं। गुण-कर्म स्वरूप (शरीर) होते है, इस तरह राम-नाम सब भगवन्नामों का भी प्रकाशक है, यथा—"विष्णुर्नारायणः कृष्णो वासुदेवो हरिः स्मृतः।'''नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकम् ॥" (महारामायण), विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥" (पद्मपुराणब्रह्मवाक्यं नारदं प्रति), इत्यादि।

जैसे, इस लोक में जन्म-समय के अनुसार नर-शरीर का नाम रक्खा जाता है, वह उसके स्वरूप का वाचक होता है, उसी नाम में उसकी कुण्डली के अनुसार जन्मभर की व्यवस्था रहती है। फिर उसके गुण-कर्म से पण्डित, वकील, कारीगर, रायबहादुर आदि नाम होते हैं और वे सब नाम उसी व्यक्ति के बोधक होते हैं। पर वे सब स्वरूपवाचक नाम के अधीन एवं आधार पर रहते हैं। इसका विशेष विचार 'श्रीरामतापनीयोपनिषद् भाष्य' और 'रामस्तवराज भाष्य' में है। विद्वानों को वहीं पर देखना चाहिये।

'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।'—बस, श्रीनारदजी श्रीराम-नाम के विषय में अधिकता इसी बात की माँग रहे हैं कि यह व्याधा की तरह अपने व्यसन से ढूँढ़-ढूँढ़कर पाप-रूपी पक्षियों को निर्दय भाव से मारा करे। जापक का हृदय आकाश है और उसमे पाप-सम्बन्धी संकल्प पक्षियों की तरह उड़ा करते हैं, यह उन्हें ढूँढ़-ढूँढ़कर मारे, जापकों के अनुसन्धान की अपेक्षा न करे।

तात्पर्य यह है कि और नाम एवं मन्त्र अर्थानुसन्धान सहित जप करने से पाप का नाश करते हैं, यथा—"तज्जपस्तदर्थ भावनम्" (योग सूत्र), "मननात्त्राणनान्मन्त्रः।" (रामतापनीय उ०), अर्थात् मन्त्रार्थानुसार देवता की शक्ति के समक्ष अपने पापों के नाश का अनुसन्धान करते हुए मन्त्र का जप करे, तब पाप नाश होते हैं। श्रीनारदजी माँगते हैं कि राम-नाम में यह नियम न रहे। चाहे किसी तरह भी जिह्वा से कहा जाय तो भी यह पापों का नाश करे, यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥" (बा० दो० २७) "बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं ॥" (बा० दो० ११८) "दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोषु। '''रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम संतोषु ॥" (वि० १५९), तथा—"प्रमादादपि संस्पृष्टो यथाऽनलकणो दहेत्। तथौष्ठपुटसंस्पृष्टं रामनाम दहेदघम् ॥" (ब्रह्मपुराणे ब्रह्मवाक्यं नारदं प्रति तथा स्कन्द पु० काशी० पू० २१।५७ में भी यही श्लोक है उसमें 'राम' के स्थान पर 'हरि' है।) इत्यादि बहुत प्रमाण है। वाराह पुराण में यवन की कथा इसके चरितार्थ रूप में प्रसिद्ध है।

(४) 'राका-रजनी भगति तव ''—जैसे चन्द्रमा तारागणों के साथ रात को सुशोभित करता है। वैसे ही और नामों से भगवान् के भिन्न-भिन्न गुण-कर्म जाने जाते हैं, जिनसे उनमें प्रीति बढ़ती है और श्रीराम नाम तो उनके साक्षात् सच्चिदानन्द स्वरूप का प्रकाशक है। यह अपने प्रभाव से पाप का नाश कर प्रेमामृत टपकाता है और अपने अर्थ-रूप-प्रकाश से अज्ञान-रूपी तम का भी नाश करता है, अन्य उपाय-रूपी ओषधियों का पोषण करता है। इस तरह (चन्द्रमा-रूप) से यह भक्तों के हृदय में बसे। पहले राम-नाम मात्र के सम्बन्ध का वरदान माँगा। उससे अन्य नामों की उपेक्षा समझी जाती, इससे इस 'राका रजनी'''' वाक्य से अन्य नामों में भी उनके सम्बन्धानुसार रुचि प्रकट की। अथवा 'भगत' शब्द से मैं जो भक्त हूँ, उसके हृदय का अर्थ लेने से भाव यह है कि मेरे हृदय में यह इस तरह बसे। जैसे चन्द्रमा अमृत स्रवता है, तो ओषधियाँ सजीव होती है; वैसे ही मेरे द्वारा राम-नाम के प्रकाश से अमृत स्रवे, उससे लोग भक्ति-रूपी सजीवता पावें। इस तरह माँगने मे अपना भक्ति-ऋषित्व माँगना भी आ जाता है। 'होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।' का ऋषित्व तो प्राप्त ही हुआ।

इस दृष्टान्त से और नामों से सम्बन्ध एवं अधिकता भी जना दी कि यह उन सबका स्वामी है।

अतः, बड़ाई में अधिक है और पाप-रूपी तम के नाश करने में भी अधिक है। अब यह स्वतः पापों को खोजकर उनका नाश किया करे।

(५) 'एवमस्तु मुनि सन कहेउ ··'—'कृपासिंधु'—क्योंकि श्रीरामजी ने मुनि पर अगाध कृपा की। अगम्य वर दिया। 'हरष अति'—वर देने की स्वीकृति पर 'बोले हरषाई' कहा गया था, जब पा गये तब यहाँ 'अति हरष' हुआ। अतएव कृतज्ञता ज्ञापन 'प्रभु-पद नायउ माथ' कहा गया है।

जैसे श्रीमनुजी ने रूप के माधुर्य-भाव का पितृत्व माँगा था, वैसे ही श्रीनारदजी ने नाम के 'अघ-खग-गन-बधिका' भाव का ऋषित्व रूप में पितृत्व माँगा है। दोनों ही ब्रह्माजी के पुत्र हैं। अतः, समान हैं, उधर रूप और नाम तुल्य हैं, इसलिये दोनों के माँगने मे शब्द भी समान आये है—

श्रीनारदजी	श्रीमनुजी (बा० दो० १४८-४९)
(१) सुनहु उदार परम रघुनायक।	दानि सिरोमनि कृपानिधि···
(२) सुंदर अगम सुगम बरदायक॥	सुगम अगम कहि जात···
(३) देहु एक बर मागउँ स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी॥	सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥
(४) जन कहँ कछु अदेय नहि मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥	सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं। मोरे नहि अदेय कछु तोहीं॥
(५) अस बर मागउँ करउँ ढिठाई।	प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई।
(६) राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका॥	चाहउँ तुम्हहि समान सुत,
(७) एवमस्तु मुनि सन कहेउ,	एवमस्तु करुनानिधि बोले।
(८) प्रभु पद नायउ माथ।	अस बर मागि चरन गहि रहेऊ।

अति प्रसन्न रघुनाथहिं जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी॥१॥
राम जबहि प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा॥४॥
करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥५॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥६॥

शब्दार्थ—सहरोसा = सहर्ष का अपभ्रंश है, यथा—"सबस देउँ आजु सहरोसा।" (बा० दो० २०७)।

अर्थ—श्रीनारदजी श्रीरघुनाथजी को अत्यन्त ही प्रसन्न जानकर फिर कोमल वाणी बोले॥१॥ हे श्रीराम! हे रघुराज!! आपने जब अपनी माया प्रेरित करके मुझको मोहित किया था॥२॥ तब मैंने अपना ब्याह करना चाहा था, हे प्रभो! किस कारण से आपने नहीं करने दिया था?॥३॥ (प्रभु ने कहा—) हे मुनि! सुनो, प्रसन्नतापूर्वक मैं तुमसे कहता हूँ कि जो सबका भरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं॥४॥ मैं सदा उनकी रक्षा करता रहता हूँ, जैसे माता अपने बालक की रक्षा करती रहती है॥५॥ जब शिशु (छोटा) बच्चा आग या साँप को दौड़कर पकड़ना चाहता है, तब माता वहाँ दौड़कर और अलग करके उसे रखती (बचाती) है॥६॥

विशेष—(१) 'अति प्रसन्न रघुनाथहिं जानी।'—पहले प्रभु प्रसन्न थे, यथा—"प्रभु प्रसन्न जिय जानि।" कहा गया। भक्त का मनोरथ पूर्ण करने से अब 'अति प्रसन्न' हैं। भाव यह है कि प्रसन्न रहना

तो उनका स्वभाव ही है। पर वे भक्तों के मनोरथ-सिद्ध करने में अत्यन्त सुख मानते हैं। 'पुनि नारद बोले ···'—'पुनि' से अब दूसरा प्रसंग सूचित किया, ऐसे ही प्रभु 'सुनु' पद से प्रसंग बदलेंगे, यथा—"सुनु मुनि तोहि कहउँ··" फिर—"सुनु मुनि कह पुरान···", इत्यादि।

(२) 'राम जबहि प्रेरेहु ·'—'निज माया', यथा—"श्रीपति निज माया तब प्रेरी।" (बा० दो० १२८), वह विद्या माया है, यथा—"हरि सेवकहिं न ब्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापइ बिद्या॥" (उ० दो० ७८)।

(३) 'भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा।', यथा—"ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशी कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥···साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥" (भाग० ९।४।६३-६८), 'जिमि बालक राखइ महतारी।'—जैसे, और काम करते हुए भी माँ का चित्त बच्चे पर ही रहता है, वैसे ही मैं सावधानी से अमानी भक्तों की रक्षा करता हूँ, यथा—"खेलत बालक ब्याल सँग, मेलत पावक हाथ। तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों, राखत सिय रघुनाथ॥" (दोहावली १४७), इसी तरह यहाँ भी आगे कहते हैं—

(४) 'गह सिसु बच्छ अनल ···'—'अरगाई' का अर्थ यहाँ पर 'अलगाई' का है, अर्थात् अलग करके, 'ल' की जगह पर 'र' आदेश हुआ है, क्योंकि—'रलयोरभेदः' कहा गया है, यथा—'सरिता नस जारा।" (ल० दो० १४)। अरगाई को 'अलं गानं' का विकृत रूप मानकर 'चुप रहने' का अर्थ भी होता है, वह यदि यहाँ ले तो 'चुपके से' बचा लेती है, ऐसा अर्थ होगा। शिशु छोटी अवस्था के अर्थ में है और बच्छ, (वत्स) 'बच्चा' के अर्थ में है। 'अनल'—क्रोध की उपमा में है, यथा—"रावण-क्रोध-अनल निज ·" (सु० दो० ४९), 'अहि' अर्थात् सर्प काम की उपमा में है, यथा—"काम-भुअंग डसत जब जाही।" (वि० १२७)। जैसे माता बच्चे को अग्नि और सर्प से बचाती है, वैसे ही मैं भक्त को क्रोध और काम से बचाता हूँ। इन्हीं दो बातों को आगे भी कहते हैं—"दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही।" भगवान वैराग्य देकर काम से और विवेक देकर क्रोध से बचाते हैं। श्रीनारदजी को पूर्व काम और क्रोध के जीतने का गर्व हुआ था, फिर वे दोनों के वश हुए, इससे यहाँ उन्हीं दो का ही प्रसंग है, लोभ नहीं कहा गया।

प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ ७॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ ८॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ ९॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥१०॥

दोहा—काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद, माया - रूपी नारि॥४३॥

अर्थ—(उसी बालक के) सयाना (बड़ा एवं समर्थ) होने पर माता उस पुत्र पर प्रीति करती है, पर वह पिछली बात (अग्नि और सर्प से बचाने की) नहीं रह जाती, (क्योंकि वह जानती है कि प्रौढ़ पुत्र तो स्वयं अपनी रक्षा के लिये समर्थ है)॥७॥ ज्ञानी मेरे सयाने पुत्र के समान है और अमानी (मान रहित) दास बालक (शिशु) पुत्र के समान है॥८॥ दास को मेरा बल रहता है और उस ज्ञानी को अपना बल रहता है, काम और क्रोध (ज्ञानी और दास) दोनों के शत्रु है॥९॥ यह विचार कर पंडित

(बुद्धिमान) लोग मुझे भजते हैं, ज्ञान पाने पर भी भक्ति नहीं छोड़ते ॥१८॥ काम, क्रोध, लोभ और मद आदि मोह की प्रबल सेनाएँ हैं, उनमें भी अत्यन्त कठिन दुःख देनेवाली माया-रूपिणी स्त्री है ॥४३॥

विशेष—(१) 'बालक सुत सम दास अमानी'—मान तो ज्ञानी में भी नहीं होता, यथा—"ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।" (दो० १४), पर वह अपनी रक्षा में समर्थ रहता है। दास अमानी है और बालक सुत के समान भोरे एवं असमर्थ है। बालकों की तरह इन्हें मान नहीं होता, यथा—"सबहि मानप्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७), मान दोनों ही को बाधक है, यथा—"मान ते ज्ञान पान ते लाजा। · नासहि बेगि · " (दो० २०), एवं—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३९)। 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहो।', यथा—"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥" (गी० ३।३७), श्रीनारदजी जब पहले अमानी भक्त थे, तब भगवान् ने उन्हें दोनों से बचाया है, यथा—"काम-कला कछु मुनिहिं न ब्यापी।" (बा० दो० १२५), "भयउ न नारद मन कछु रोसा।" (बा० दो० १२६), भगवान् ने ही रक्षा की है, यथा—"बड़ रखवार रमापति जासू।" (बा० दो० १२५), यह कहा गया है। उसे न समझने से जब श्रीनारदजी को गर्व हुआ, तो माया के द्वारा भगवान ने उन्हें काम-क्रोध के वश करके समझा दिया जिससे वे सदा के लिये समझ गये। इससे अब सदा अमानी दास रहते हैं, तथा—"एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥" (दो० ९)—श्रीसुतीक्ष्णजी। "तापर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहि कछु भजन उपाई॥ सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" (कि० दो० २)—श्रीहनुमानजी।

(२) 'यह बिचारि पंडित···'—ज्ञान में अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी और भक्ति में भगवान् समर्थ रक्षक रहते हैं, यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥" (गीता ९।२२), "ये तु सर्वाणि···तेषामहं समुद्धर्ता ··" (गीता १२।६-७), इसलिये वे ज्ञान की पूर्णावस्था पर भी भजन करते ही रहते हैं, यथा—सुक-सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।" "आत्मारामाश्चमुनयो···"—बा० दो० १६, चौ० २ देखिये। पूर्व 'ज्ञानमान जहँ ··' (दो० १४), पर सरस ज्ञान को भक्ति से अभेद कहा गया है, उसी ज्ञान का यहाँ प्रसंग है, क्योंकि उसके विरुद्ध रुक्ष ज्ञान में तो भक्ति की वैसी आवश्यकता ही नहीं है। 'पंडित'—सदसद्विवेकिनी बुद्धि को पण्डा कहा जाता है। अतः, पण्डित वही है, जो असत् रूप जगत्व्यवहार को छोड़कर सत् रूप भगवान् का भजन करे, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन ···" (दो० ३८)। महा० उद्योग० ३३।१५-२६ में पण्डित के लक्षण और वहीं पर आगे ३०-३६ में मूढ़ों के लक्षण विस्तार से कहे गये हैं।

(३) 'काम क्रोध लोभादि ··'—'आदि' शब्द देकर छहों विकारों को जना दिया। उनमें काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह ये पाँच कहे गये हैं, मत्सर को और भी ले लेना चाहिये। कामादि दुःखद हैं। मोह दारुण दुःखद और नारि अति दारुण दुःखद है। इसीको आगे विस्तार से कहते हैं। काम का यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है। इसीसे इसे आदि में कहा है और अन्त में नारि के द्वारा भी उसीका वर्णन है। 'धारि'—लूटने को धाई हुई सेना धारि है और ये कामादि जीव के सद्गुणों को लूटनेवाले हैं, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥" (गीता ३।३४), अर्थात् इन्द्रिय, इन्द्रिय के विषय में जो रागद्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनों इस (मुमुक्षु) के बटमार (डाकू) हैं।

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता॥१॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥२॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥३॥

दुर्बासना कुमुद - समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥४॥
धर्म सकल सरसीरुह - बृंदा । होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ॥५॥
पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥६॥
पाप - उलूक - निकर सुखकारी । नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥७॥
बुधिबल सील सत्य सब मीना । बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥८॥

दोहा—अवगुन - मूल सूल-प्रद, प्रमदा सब दुख-खानि ।
तातें कीन्ह निवारन, मुनि मैं यह जिय जानि ॥४४॥

शब्दार्थ—सुख मंदा = मंद सुखवाली । पलुहइ = हरा भरा होता है ।

अर्थ—हे मुनि ! सुनो, पुराण, वेद और सन्त (ऐसा) कहते हैं कि मोह-रूपी जंगल के लिये स्त्री वसन्त-ऋतु के समान है ॥१॥ जप, तप और नियम-रूपी समस्त जलाशयों को ग्रीष्म-ऋतु होकर स्त्री सबको सोख लेती है ॥२॥ काम, क्रोध, मद और मत्सर मेढ़क हैं, इन्हें हर्ष देने में वर्षा की तरह यह एक ही है ॥३॥ सारी दुर्वासनाएँ कुई के समुदाय (झुंड) हैं, यह उनको सदा सुख देनेवाली शरद्-ऋतु है ॥४॥ सारे धर्म कमलों के झुंड हैं, यह मन्द सुखवाली हिम-ऋतु होकर उन्हें जला डालती है ॥५॥ फिर ममता-रूपी यवास-समूह स्त्री-रूपिणी शिशिर-ऋतु को पाकर हरा-भरा हो जाता है ॥६॥ पाप-रूपी उल्लुओं के समूह को सुखी करनेवाली स्त्री घोर अँधेरी रात है ॥७॥ बुद्धि, बल, शील और सत्य, ये सब मछलियाँ हैं और स्त्री बंसी के समान है—ऐसा चतुर लोग कहते हैं ॥८॥ अवगुणों की जड़, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखों की खान (मद भरी हुई) स्त्री है । अतएव, हे मुनि ! जी में ऐसा जानकर मैंने तुमको रोका है ॥४४॥

विशेष - (१) 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति ···'—'सुनु मुनि' शब्द से यह वर्णन मुनियों के लिये सूचित किया, क्योंकि उपसंहार में भी 'मुनि मैं यह जिय जानि' कहा है । किन्तु गृहस्थों के लिये तो अपनी लीला द्वारा पतिव्रता स्त्री की रक्षा एवं उसका ढूँढ़ना ही दिखला रहे हैं, यथा—"पुनि सीतहि खोजन दोउ भाई । चले बिलोकन बन बहुताई ॥" (दो० ३२), आगे भी कहा है—"सीतान्वेषण-तत्परौ" (कि० मं०), यहाँ उपक्रम में ही नारी को 'अति दारुन दुखद' कहा गया है और उपसंहार में भी 'प्रमदा सब दुख-खानि' कहकर इसे दुःखमय जनाया, यथा—' जन्म-पत्रिका बरति कै, देखहु हृदय बिचारि । दारुन बैरी मीच के, बीच बिराजति नारि ॥" (दोहावली २६८), अर्थात् फलित ज्योतिष के अनुसार जन्म-कुण्डली का छठा शत्रु का और सातवाँ स्त्री का तथा आठवाँ मृत्यु का स्थान है, तदनुसार शत्रु और मृत्यु के बीच होने से यह दारुण है, तथा—"अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥" (महा० आदि० २।३९१) ।

'मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता ।'—वसन्त ऋतुराज है और मोह भी आसुरी सम्पत्ति में राजा है, यथा—"जीति मोह-महिपाल दल ···" (अ० दो० २३५), राजा के द्वारा राजा का बढ़ना कहा गया है । राजा अपने दल को बढ़ाया ही करता है, वैसे ही मोह भी अपनी सेना की वृद्धि में लगा रहता है । मोह ही सब विकारों का मूल भी है, यथा—"मोह सकल ब्याधिन कर मूला ।" (उ० दो० १२०), इसीसे पहले इसीका वर्णन किया गया कि स्त्री के संग से पहले मोह की वृद्धि होती है (देह-पोषकता रूपी अविवेक बढ़ता है) । स्त्री को त्यागने का उपदेश देते हुए, उसका ऋतुओं से रूपक बाँधा गया है । ऋतु स्त्रियों के रजोधर्म को भी कहते हैं । ऋतुमती स्त्री सर्वथा त्याज्य है । उस समय उसका स्पर्श महान् पापों का भागी बनाता है । आयुर्वेद से भी अत्यन्त वर्जित है ।

वसन्त से वन शोभायमान हो जाता है, वैसे ही स्त्री के आने से मोह (देहाभिमान) के विलासी साज बढ़ने लगते हैं, जिसकी सीमा नहीं, यथा—"सेवहि लखन सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥" (अ० दो० १४१)—देखिये। ये मोहादि श्रीनारदजी में स्त्री की वासना होते ही बढ़े थे, आगे मिलान लिखा जायगा।

(२) 'जप तप नेम जलासय झारी।···'—'झारी' कहकर सूचित करते है कि ग्रीष्म-ऋतु में भी भारी जलाशय नहीं सूखते। पर स्त्री-रूप ग्रीष्म मे तो जप, तप, नियम-रूपी सरित, कूप, तड़ाग नितान्त सूख जाते हैं। अर्थात् इनमें एक बूँद भी जल नहीं रह पाता। स्त्री झाड़-पोछकर सोख लेती है। जप आदि तीन ही कहे गये हैं, क्योंकि जलाशय भी प्रायः उपर्युक्त तीन ही प्रकार के कहे जाते हैं, जो सूख सकते है। 'झारी' से पहले के किये हुए जप आदि का नष्ट करना सूचित किया।

(३) 'काम क्रोध मद मत्सर भेका।···'—कामादि चारों को मेढ़क कहा गया, क्योंकि मेढ़क चार तरह के होते हैं। ये ग्रीष्म में टुकड़े-टुकड़े होकर सूख जायँ, तो भी वर्षा पाते ही जी उठते है और मोटे होकर टर-टर करने लगते हैं। वैसे ही विरक्त के मुए.मन में भी स्त्री को पाकर कामादि जग उठते हैं, यथा—"देखि मुयेहु मन मनसिज जागा।" (बा० दो० ८५), तथा—"बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहुँ हृदय का नर बापुरे॥" (उ० दो० १२१)।

(४) 'दुर्बासना कुमुद···'—स्त्री की प्रसन्नता के लिये की गई अनेक उद्योग एवं चेष्टाएँ दुर्बासना हैं। कुमुद के साथ ही कमल कहते हैं, क्योंकि दोनों ही जलज हैं।

(५) 'धर्म सकल···'—भाव यह है कि द्रव्य आदि नारी के ही व्यसन मे नहीं बच पाते, तो धर्म कैसे हो? 'सुखमंदा'—नीच सुख देकर परिणाम में स्त्री त्रिविध तापों से जलाती है, जैसे पाले से कमल जलता है।

(६) 'पुनि ममता जवास···'—जाड़े में जवासा पलुहता है, वैसे ही स्त्री के द्वारा पुत्र-पौत्र आदि बढ़ने पर उनमे ममता सघन होती जाती है।

यहाँ छः अर्द्धालियो मे छहो ऋतुएँ कहकर अब दो अर्द्धालियों में और भी तत्सम्बन्धी बाते कहते है। वन में उलूक रहते है, वैसे मोह वन कहा गया, तो उसमें पाप-रूप उलूक रहेंगे ही। पुनः जप-तप, नियम-रूपी जलाशयों में बुद्धि आदि मछलियाँ रहेंगी ही। अतः, उनका भी कहना आवश्यक ही है।

(७) 'पाप-उलूक निकर···'—उल्लू रात मे सुखी होता है, वैसे चोरी, व्यभिचार आदि पाप रात मे होते हैं। स्त्री के सम्बन्ध से चोरी व्यभिचार आदि पाप होते है, इसीसे इसे अँधेरी रात कहा गया है।

(८) 'बुधि बल सील सत्य सब मीना।···'—इन चारो को मछलियाँ कहा गया है, क्योंकि मछलियाँ भी चार जातियों की होती है, यथा—"धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥" (बा० दो० ३६), धंसी जल मे निमग्न मछलियों को चारे के लोभ मे फँसाकर मृत्यु को प्राप्त कराती है। वैसे ही स्त्रियाँ अपने मन्द-सुख में फँसाकर विषय-वारि के तल्लीन मीन-रूप पुरुषों को मृत्यु-रूपी चौरासी लाख योनियों मे भेजती हैं, यथा—"विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण स्त्रीसंज्ञितं वडिशमत्र भवाम्बुराशौ। येनाचिरात्तदधरामिषलोलमत्स्यमत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ॥" (भर्तृहरि, शृङ्गार-शतक ८४), अर्थात् इस संसार रूपी समुद्र में काम रूपी केवट स्त्री रूपिणी बंसी को पुरुष रूपी मत्स्य जो उनके अधर-मास के लोभी है, उन्हें बझाकर अनुराग रूपी आग मे पकाता है।

यहाँ तक का क्रमशः तात्पर्य यह है कि मोह होने से जप, तप, नियम का नाश होता है और काम, क्रोध, मद, मत्सर बढ़ते है। इनके बढ़ने में धर्म नाश हुए, तब ममता बढ़ी। फिर पाप की वृद्धि हुई और तब बुद्धि, बल, शील और सत्य नष्ट हुए। ये सब क्रमशः स्त्री-संग से होते है।

(६) 'प्रमदा सब दुख-खानि'--उपर्युक्त नारी शब्द का लक्ष्यार्थ यहाँ खोला गया है कि यहाँ उन्हीं नारियों से तात्पर्य है, जो सदा मद से भरी हुई रहती हैं, अन्यथा स्त्रियाँ तो ऐसी भी है कि जिनके स्मरण से पापों का नाश होता है। प्रमदा को सब दुःखों की खान होना भर्तृहरिशृङ्गारशतकः५४ में भीकहा है, यथा—"सत्यं जना वच्मि न पक्षपातात्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतत्। नान्यं मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्नच कश्चिदन्यः ॥" 'ताते कीन्ह निवारन'—यह श्रीनारदजी के प्रश्न—"प्रभु केहि कारन करइ न दीन्हा।" का उत्तर है।

जो दोष यहाँ स्त्री की आसक्ति से कहे गये हैं, वे सब श्रीनारदजी मे स्त्री की चाह होने से आये थे—

स्त्री की आसक्ति के दोष		श्रीनारदजी में (बा० दो० १२४ - १३८)
मोह-बिपिन कहँ नारि बसंता।	(१)	मुनिहि मोह मन हाथ पराये। मुनि अति बिकल मोह मति नाठी।
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥	(२)	जप तप कछु न होइ तेहि काला।
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरष-प्रद बरषा एका॥	(३)	हे बिधि मिलइ कौन बिधि बाला।—काम सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।—क्रोध हृदय रूप अहमिति अधिकाई।—मद मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे।—मत्सर
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥	(४)	करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी। जेहि प्रकार मोहि बरइ कुमारी॥ —यह योगी के लिये बड़ी भारी दुर्वासना है।
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा॥	(५)	"पर संपदा सकहु नहि देखी।" से "सदा कपट व्यवहार॥" तक के कठोर वचनों से इनके सेवक-धम का नाश हुआ।
पुनि ममता जवास अधिकाई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥	(६)	मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी। आन भाँति नहि पावउँ आँही॥ —ये ममता (के विकार) है।
पाप - उलूक - निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी॥	(७)	मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहि किमि मोरे॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम तिय कहहि प्रबीना॥	(८)	समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी।—बुद्धि का नाश अति आरत "करहु कृपा हरि"।—बल का नाश मैं दुरबचन कहे बहुतेरे। —शील का नाश कछुक बनाइ भूप सन भाष्यो। —सत्य का नाश

सुनि रघुपति के बचन सुहाये। मुनि-तनु पुलक नयन भरि आये॥१॥
कहहु कवन प्रभु कै अमि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥२॥
जे न भजहि अस प्रभु भ्रम त्यागी। ज्ञान रंक नर मंद अभागी॥३॥
पुनि सादर बोले मुनि नारद। सुनहु राम बिज्ञान - बिसारद॥४॥
संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन - भव - भीरा॥५॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी के सुहावने वचन सुनकर नारद मुनि का शरीर पुलकित हो गया और उनके

नेत्र (आँसू से) भर आये ॥१॥ (वे विचारने लगे कि) कहिये तो, ऐसी रीति किस स्वामी की है ? किसकी सेवक पर ममता और प्रीति है ॥२॥ भ्रम छोड़कर जो लोग ऐसे प्रभु को नहीं भजते वे ज्ञान के दरिद्र, मन्द (मति) और अभागे है ॥३॥ फिर श्रीनारद मुनि बड़े आदर के साथ बोले—हे विज्ञान-प्रवीण श्रीरामजी ! सुनिये ॥४॥ हे रघुवीर ! हे भव-भय का हरण करनेवाले ! हे नाथ ! मुझसे सन्तों के लक्षण कहिये ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनि रघुपति के बचन सुहाये।'—यह उपसंहार है। इसका उपक्रम—'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।' है। मुनि को यह समझ पड़ा कि मैं यदि विवाह कर पाया होता तो बड़े-बड़े अनर्थों का शिकार हो गया होता। ऐसा कृपालु स्वामी कौन होगा कि मेरे कल्याण के लिये शाप स्वीकार किया और इतना कष्ट सहते हुए प्रिया-वियोग सह रहे हैं, पर मुझ सेवक पर कष्ट नहीं आने दिया। यह समझ कर तनु में पुलक और नेत्रों में आँसू आ गये। 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर···', यथा—"सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥" (उ० दो० १५)। ऊपर कहा ही गया कि जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही आप सेवक की रक्षा करते है। दूसरे स्वामी तो सेवक को हेय दृष्टि से देखते हैं। 'भ्रमत्यागी'—क्योंकि भ्रम भजन का बाधक है, यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" (सुं० दो० २१), 'न भजहि' से उपासना-रहित, 'ज्ञान रंक' से ज्ञान-रहित और 'मंद अभागी' से कर्म रहित कहकर काण्डत्रयहीन कहा।

(२) 'पुनि सादर बोले···'—अब दूसरा प्रसंग प्रारम्भ हुआ। अतः, 'पुनि' कहा गया। 'विज्ञान-बिसारद'—ये जो प्रश्न करेंगे, उसका उत्तर विज्ञान की दृष्टि से चाहते हैं। इसलिये ये विशेषण दिये गये है। प्रकृति-वियुक्त जीवात्मा के ज्ञान को विज्ञान कहते है। जैसे—"तव विज्ञान-निरूपिनी ···" से "तेजरासि बिज्ञान मय" (उ० दो० ११७), तक से स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी सन्त-लक्षण कहेंगे। उन्हींका ग्रहण करना विज्ञान-साधन है, यथा—"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" (गीता १४।२६)। 'भंजन-भव-भीरा'—जिन लक्षणों से युक्त होने से उनके भव-भय का हरण होता है।

सुनु मुनि संतन के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ ॥६॥
षट-बिकार-जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥७॥
अमित बोध अनीह मित-भोगी। सत्य सार कवि कोबिद जोगी ॥८॥
सावधान मानद मद-हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥९॥

दोहा—गुनागार संसार - दुख - रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन-सरोज प्रिय, तिन्ह कहँ देह न गेह ॥४५॥

अर्थ—श्रीरामजी ने कहा—हे मुनि ! सुनिये, मैं अब सन्तों के गुण कहता हूँ, जिन गुणों से मैं उनके वश में रहा करता हूँ ॥६॥ छहो विकारों को जीते हुए, निष्पाप, निष्काम, स्थिरचित्त, निष्किंचन, पवित्र, सुख के स्थान ॥७॥ निःसीम ज्ञानवाले (अपरोक्ष ज्ञानवाले), चेष्टा-रहित, अल्पभोगी (थोड़े भोजन-वस्त्र आदि में निर्वाह करनेवाले), सत्य को सार-रूप में ग्रहण करनेवाले, कवि (काव्यकर्त्ता), कोविद (व्याख्याकर्त्ता), योगी ॥८॥ (कर्त्तव्य में) सावधान, दूसरों को मान देनेवाले (स्वयं मान-रहित), मदों (गाँजा, भाँग, आदि) का सेवन नहीं करनेवाले, धीर, धर्म की व्यवस्था में बड़े निपुण ॥९॥ गुणों

के घर, संसार-दुःख-रहित और सन्देह से विशेष रहित जो हैं, उनको मेरे चरणकमल को छोड़कर न देह ही प्रिय है और न गेह (घर) ही ॥४५॥

विशेष—(१) 'गुन कहऊँ···बस रहऊँ ।'—गुण तो उनमें और भी बहुत होते है, पर मै यहाँ उन्हीं गुणों को कहता हूँ जिनसे मैं उनके वश में हो जाता हूँ, यथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज । साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥ नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा ॥ ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥" (श्रीमद्भागवत ९।४।६३-६६), अर्थात् हे द्विज ! मैं पराधीन के समान भक्तों अधीन हूँ । उन साधु भक्तों ने मेरे हृदय पर अधिकार कर लिया है और मै भी उन भक्त जनो का सर्वदा प्रिय हूँ । हे ब्रह्मन् ! जिनका मै ही एकमात्र आश्रय हूँ, उन साधु-स्वभाववाले अपने भक्तो को छोड़ कर तो मैं अपने आत्मा और अनपायिनी लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करता । जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब, परम प्रिय प्राण और धन की लालसा त्याग कर एवं इहलोक तथा परलोक को छोड़कर मेरी शरण मे आये है, उनको भला मै कैसे त्याग सकता हूँ ? जिनका हृदय मुझमे लगा है वे समदर्शी साधु-पुरुष अपनी भक्ति से मुझको वैसे ही वश में कर लेते हैं जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सज्जन पति को वश मे कर लेती है । गुण सूत्र एवं रस्सी को भी कहते है, मानों ये गुण ही मुझे बाँध लेनेवाले है । ठीक ऐसा ही वर्णन स्कन्द पु० वै० वै० मा० १३।३४-३६ मे भी है ।

(२) 'षट-बिकार-जित'—काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर—ये छः विकार शत्रु-रूप है, इन्हें सन्त जीत लेते है । 'अचल'—राग-द्वेषादि से शुद्ध स्थिर-चित्त । 'अकिंचन'—जिन्हें धन, बड़ाई एवं स्वर्ग आदि की चाह नहीं है और उनके संग्रह भी नहीं करते, यथा—"तेहि ते कहहि संत श्रुति टेरे । परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥" (बा० दो० १६०), 'सुचि'—मन, वचन और कर्म से पवित्र ।

(३) 'अमित बोध अनीह···'—'अमित बोध'—भगवान् अमित एवं अप्रमेय है, उनका बोध प्राप्त रहने से सन्त अमित-बोध कहाते है, क्योंकि भगवान् के जानने पर फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता, यथा—"यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥" (छा० ६।१।४), अर्थात् हे सौम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड-द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थो का ज्ञान हो जाता है उसके विकार (घट आदि) केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है । 'मित भोगी', यथा—"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।···" (गीता ६।१७), हरि-यश-वर्णन से कवि, शास्त्रों के मर्म जानने से कोविद (पण्डित), सदा भगवान मे चित्त रखने से योगी कहे जाते हैं ।

(४) 'सावधान'—उचित व्यवहार एवं परमार्थ में चित्त से दृढ़ता रखनेवाले । 'धीर', यथा—"ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये" (पार्वती-मंगल २७), 'धर्म गति परम प्रवीना'—धर्म की गति अत्यन्त सूक्ष्म है । अतः, उसका जानना परम प्रवीणता है ।

(५) 'गुनागार'—उपर्युक्त गुण एवं और भी सद्गुणों के घर है । 'संसार-दुःख-रहित'—वे देह से अपनेको भिन्न मानते है । संसार के दुःख कर्मानुसार देह को होते हैं, पर वे इनसे निर्लिप्त रहते है, यथा—"ताहि न ब्यापै त्रिविध भव सूला ।" (सुं० दो० ४६), 'बिगत संदेह'—सद्गुरु-द्वारा अपने 'ध्येय-ज्ञेय' के विषय में सन्देह निवृत्त किये रहते हैं । 'देह न गेह' अर्थात् मै, मेरा—यह भावना त्यागे हुए है, यथा—"राम बिलोकि बंधु कर जोरे । देह गेह सब सन तृन तोरे ॥" (अ० दो० ६९) ।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं । पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥१॥

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती ॥२॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु-गोबिंद - बिप्र - पद - प्रेमा ॥३॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥४॥
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध यथारथ बेद पुराना ॥५॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥६॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु-रहित परहित-रत सीला ॥७॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥८॥

शब्दार्थ—सम = समान-चित्त, (शम)—वासना त्याग। अमाया = निष्कपट, दिखाऊ नहीं। दम = बाह्येन्द्रिय-निग्रह। हेतु-रहित = निस्स्वार्थ, बिना कारण।

अर्थ—वे अपने गुण कानों से सुनते सकुचाते हैं, दूसरों के गुणों को सुनकर बहुत प्रसन्न होते है ॥१॥ समचित्त और शीतल-स्वभाववाले हैं, नीति को नहीं छोड़ते, सरल स्वभाववाले होते है और सभी-से प्रीति रखते हैं ॥२॥ जप, तप, व्रत, दम, संयम, नियम तथा गुरु-गोविन्द और ब्राह्मण के चरणों मे प्रेम रखते हैं ॥३॥ श्रद्धा, क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता, मेरे चरणों में निष्कपट प्रेम ॥४॥ वैराग्य, विवेक, विशेष नम्रता, विज्ञान, वेद-पुराण का यथार्थ ज्ञान (ये गुण उनमें रहते है) ॥५॥ वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते, अनुचित मार्ग पर भूलकर भी पाँव नहीं देते ॥६॥ सदा मेरी लीला कहते-सुनते है, बिना कारण एवं निस्स्वार्थ भाव से परोपकार में तत्पर रहने का उनका स्वभाव होता है एवं शीलवान् होते है ॥७॥ हे मुनि ! सुनिये, साधुओं के जितने गुण है, उन्हें सरस्वती और वेद भी नहीं कह सकते, अर्थात् कहकर पार नहीं पा सकते ॥८॥

विशेष—(१) 'निज गुन श्रवन···'—गुणागार है। अतः, वह गुण-कथन यथार्थ ही है, तो भी सुनकर सकुचते हैं, भाव यह कि आत्मश्लाघा रहित हैं। 'पर गुन सुनत ·'—जैसे-जैसे सुनते हैं, हर्ष अधिक होता जाता है। 'सम'—शत्रु-मित्र के प्रति। 'सीतल', यथा—"जो कोइ कोप भरइ मुख बेना। सनमुख हतउ गिरा सर पैना॥ तुलसी तऊ लेस रिसि नाहीं। सो सीतल कहिये जग माहीं॥" (वैराग्य सदी० ४९), अर्थात् क्रोध-रूपी गर्मी नहीं आती। 'नहि त्यागहि नीती'—कैसा भी अवरेब आ पड़े, तो भी नीति का पालन करते ही है। 'जप तप ··प्रेमा'—'प्रेमा' का अन्वय सबके साथ है। जप आदि के करने मे और गुरु-गोविन्द-विप्र के चरणों में प्रेम है। 'मम पद प्रीति अमाया'—ऊपर 'गोबिंद पद प्रेम' कहा गया, यहाँ फिर 'मम-पद प्रीति' के साथ 'अमाया' पद देकर उसमें विशेषता कही गई है कि वह प्रीति माया (दिखावटी एवं स्वार्थ दृष्टि) सहित न हो, यथा—"माया दम्भ अपायाऊ" ऐसा कोषों में कहा गया है अथवा सूक्ष्म दृष्टि से प्रीति के आठ अंगों में प्रेम एक है—"प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि, लगन लाग अनुराग। नेह सहित सब प्रीति के, जानब अंग बिभाग॥" (श्रीवैजनाथ-टीका)। अतः, पुनरुक्ति नहीं है। 'बिज्ञान'—प्रकृति-वियुक्त आत्मा का ज्ञान—देखिये दो० ४४ चौ० ४। 'बोध यथारथ बेद पुराना।', यथा—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समिपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।" (मुण्डक० १।२।१२), अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना कहकर यहाँ सद्गुरु-लक्षण कहा गया है।

शंका—'जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ' ऐसा कहकर सत-गुण कहने लगे, किन्तु भगवान् को वश में करनेवाले शबरी, जटायु एवं निषाद आदि ऐसे भी हैं, जिनमें वेद-पुराण का यथार्थ ज्ञान नहीं कहा जा सकता। कवि-कोविद भी सब नहीं थे।

समाधान—(क) यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रसंग में कही हुई सभी बातें हों, तभी भगवान् वश हों, कुछ लक्षण हों तब भी वे सन्त ही हैं।

(ख) शुद्ध भाव से भक्ति करते हुए वेद-पुराण के तात्पर्य का ज्ञान स्वतः हो जाता है, यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" (गीता ९।३०-३१), अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्य-भाक् होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही है, क्योंकि वह सम्यक् प्रकार से निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शान्ति को भी प्राप्त हो जाता है।

वेद-पुराण ज्ञाता होकर भी अनन्य भक्ति ही करता है। अतः, इसे 'सम्यग्व्यवसिन' कहा गया है। शिवजी ने भी कहा है—"श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥ सोइ कवि कोबिद सोइ रन धीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥" (उ० दो० १२६), "श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिअ राम सब काम बिसारी॥" (उ० दो० १२२)। वि० १०६, २३६, २४० देखिये।

भगवान् का वश होना तो विशेष कर अनन्य भक्ति से होता है। हाँ, गुरुत्व के लिये उपर्युक्त श्रुति के अनुसार 'बोध जथारथ बेद-पुराना।' की अनिवार्य आवश्यकता है, यथा—"बंदउ गुरु पद कंज, कृपा-सिंधु नर रूप हरि। महामोह तम पुंज, जासु बचन रबिकर निकर॥" (बा० मं० श्लो० ५)—देखिये। इस प्रकार के सद्गुरु-लक्षण विशिष्ट सन्त के वश होकर तो भगवान् उनके समाश्रितों के भी वश होते है। यह विशेषता रहती है। 'दंभ मान मद करहिं न काऊ।'—यहाँ 'मद' अन्तरंग कहा गया है और ऊपर—'सावधान मानद मद हीना।' मे बहिरंग मद जानना चाहिये, क्योंकि वह सावधानता आदि बहिरंग वृत्तियों के साथ है और यह मान आदि अन्तरंग के साथ है, इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। बहिरंग मद भाँग, गाँजा, अफीम आदि हैं—ये उनका सेवन नहीं करते। 'दंभ', यथा—"दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः।" (महा० वन० ३१३।१००), अर्थात् धर्मध्वजीपन (यश फैलाने के लिये धर्म करना) दम्भ है। 'मान', यथा—"मानस्त्वात्माभिमानिता।" (महा० वन० ३१३।९४), अर्थात् अपनेको सबसे बड़ा समझना अभिमान है।

(२) 'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला···'—'हेतु-रहित' शब्द दीपदेहली है। लीला कहने मे स्वार्थ-साधन की दृष्टि नहीं रखते, जैसे कि कोई-कोई व्यास पहले ही द्रव्य की ठहरौनी करके कथा कहते हैं, किन्तु ये अपना कृत्य मानकर कथा कहते-सुनते है, यथा—"मम लीला रति अति मन माहीं।" (दो० १५) "कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।" (गीता १०।९), 'हेतु-रहित परहित-रत सीला।'—अर्थात् परोपकार भी निस्स्वार्थ-भाव एवं अपने सहज स्वभाव से करते हैं, यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥" (उ० दो० ४६), "पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खग राया॥" (उ० दो० १२०), क्योंकि—"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।" (उ० दो० ४०)। 'गावहिं' के साथ 'सुनहिं' भी कहा है, अर्थात् यह अभिमान नहीं करते कि हम तो स्वयं कथा जानते हैं तो दूसरे की क्यों न सुने?

स्त्रियों में आसक्ति के जो-जो दोष कहे गये हैं, सन्तों में उनके विपर्यय में गुण कहे गये है—

स्त्रियों के दोष		सन्तो के गुण
मोह बिपिन कहँ नारि बसंता।	१	अमित बोध
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम०	२	जप तप ब्रत दम संजम नेमा
स्त्री काम को बढ़ाती है	३	अकामा

स्त्री क्रोध को बढ़ाती है	४	श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया
स्त्री मद को बढ़ाती है	५	दंभ मान मद करहि न काऊ
स्त्री मत्सर को बढ़ाती है	६	पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं
दुरबासना कुमुद समुदाई ।०	७	भूलि न देहि कुमारग पाऊ
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा होइ हिम ·· सुख मंदा	८	धीर धरमगति परम प्रबीना
पुनि ममता जवास···पलुहइ०	९	तजि मम चरन ··तिन्ह कहँ देह न गेह
पाप उलूक निकर सुखकारी	१०	अनघ
बुधि बल···बंसी सम तिय०	११	कवि कोबिद, बोध जथारथ बेद०
स्त्री बल हरती है	१२	प्राणायाम रूपी परम बल से युक्त हैं
स्त्री शील हरती है	१३	सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती
स्त्री सत्य हरती है	१४	सत्य सार
स्त्री अवगुन मूल	१५	गुनागार
स्त्री सूल प्रद	१६	संसार दुख रहित(त्रिविध भव सूल-रहित)
प्रमदा सब दुख खानि	१७	सुखधामा

तात्पर्य यह कि स्त्री-त्याग से ही इनमें ये गुण है ।

'सुनु मुनि साधुन के गुन जेते ।'—यह उपसंहार है । इसका उपक्रम—"सुनु मुनि साधुन के गुन कहऊँ ।" से हुआ था—इस प्रसंग में साधु-लक्षण पूछा गया और प्रत्युत्तर मे भगवान् ने सन्तो के गुण कहे और उन गुणों का तात्पर्य भी कि मैं इन गुणों से उनके वश रहता हूँ । इसका तात्पर्य यह कि इन सन्त-लक्षणों पर लक्ष्य रखते हुए सदा इनके संग्रह की भावना रहनी चाहिये और इनकी प्राप्ति के लिये कल्प-तरु स्वभाव श्रीरामजी से भी कांक्षा रखनी चाहिये । 'प्रभु-नारद-संवाद' प्रकरण यहाँ पूरा हुआ ।

छन्द—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद-पंकज गहे ।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत-गुन निज मुख कहे ॥
सिर नाइ बारहिं बार चरननन्हि ब्रह्मपुर नारद गये ।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि-रँग रये ॥

दोहा—रावनारि - जस पावन, गावहिं सुनहिं जे लोग ।
राम-भगति दृढ़ पावहिं, बिनु बिराग जप जोग ॥
दीप-सिखा-सम जुवति तनु, मन जनि होसि पतंग ।
भजहि राम तजि काम-मद, करहि सदा सतसंग ॥४६॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम

❀ तृतीयः सोपानः समाप्तः ❀

अर्थ—(सन्तों के गुण) 'शारदा और शेष (भी) नहीं कह सकते'—यह सुनते ही श्रीनारदजी ने प्रभु श्रीरामजी के चरण-कमल पकड़ लिये। (कि) ऐसे दीनबन्धु और कृपालु प्रभु ने श्रीमुख से अपने भक्तों के गुणों (एवं उनके महत्त्व) को ऐसा कहा है॥ बार-बार प्रभु के चरणों में सिर नवाकर श्रीनारद जी ब्रह्मलोक को गये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं, जो इस प्रकार आशा छोड़कर भगवान् के प्रेम-रँग में रँग गये हैं॥ रावण के शत्रु श्रीरामजी के पवित्र यश को जो लोग गाते और सुनते हैं; वे वैराग्य, जप और योग के बिना ही दृढ़ श्रीरामजी की भक्ति पाते है॥ स्त्री का शरीर दीप की शिखा (लौ) के समान है, अरे मन! तू उसका फनगा न हो, प्रत्युत काम और मद का त्याग कर श्रीरामजी का भजन कर और सदा सत्संग किया कर॥४६॥

विशेष—(१) 'कहि सक न सारद सेष'—शारदा ब्रह्मलोक की रहनेवाली है और शेष पाताल के हैं। शारदा अनन्त मुखों से और शेषजी सहस्र मुखों से कहनेवाले है। जब ये भी न कह सके, तो मर्त्य लोक का कोई भी कैसे कह सकता है, यथा—"बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥ सो मो सन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥" (बा० दो० २) देखिये। 'दीन बंधु कृपाल'—यह प्रभु की दीनबन्धुता और कृपालुता है कि अपने मुख से भक्तों के गुण कहते है, उन्हें बड़ाई देते है। साधुओं के गुणों को अमित एवं अनन्त सिद्ध किया। कवि भी इसी अभिप्राय से 'कहि सक न' को दो बार कहा है। 'नारद सुनत पद पंकज गहे।'—भाव यह कि ये गुण भक्तों मे आपके चरणों की भक्ति करते हुए इन्हीं की कृपा से प्राप्त होते है, यथा—"यह गुन साधन ते नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (कि० दो० २०), आप स्वयं गुण देकर फिर उन्हीं गुणों पर रीझते है।

(२) 'सिर नाइ बारहिं बार···'—विदाई के समय प्रणाम करना ही चाहिये। पुनः सन्त-लक्षण सुने, उसकी कृतज्ञता के लिये एवं अत्यन्त प्रेम से बार-बार प्रणाम किया, यथा—"मोपहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥" (उ० दो० १२८), "प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५), 'आस बिहाइ'—क्योंकि आशा रहते हुए हरि का प्रेम नहीं होता। 'रये'—रँगे के अर्थ में है। ऐसे प्रेमी ही धन्य है।

'सिर नाइ·· '—यह उपसंहार है, इसका उपक्रम—'एक बार नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥" से हुआ है।

(३) 'रावनारि जस पावन ··'—सुर-मुनि की रक्षा के लिये रावण से निष्कपट युद्ध किया, जो क्षत्रिय का धर्म है, इसलिये इस यश को पावन कहा। इस काण्ड में रावण से वैर हुआ, उसके वर्ग के राक्षसों से युद्ध भी हुआ, इससे अभी से 'रावणारि जस ·· ' कहा है। 'गावहि सुनहि'—वक्ता श्रोता दोनों को आशीर्वाद देते है, यह तीन वक्ताओं की इति है। श्रीगोस्वामीजी की इति आगे लगी है। 'जो लोग'—कोई भी वर्णाश्रम के हो, सब अधिकारी है।

(४) 'राम-भगति दृढ़ पावहि, बिनु···', यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई। रघुबीर चरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावई॥" (दो० ६), यहाँ वही बात दृढ़ की गई है, केवल 'धर्म समूह' की जगह 'बिराग' कहा गया है, इसमें भी अन्तर नहीं है, यथा—"धर्म ते बिरति ··" (दो० १५), वहाँ कहा कि ये सब अनुपम भक्ति के साधन है, और यहाँ कहा कि बिना उन साधनों के ही केवल इस चरित के कथन-श्रवण से दृढ़ भक्ति प्राप्त हो जाती है। 'बिनु जप'—यहाँ पर राम मन्त्र जप के अतिरिक्त अन्य मन्त्र जप पर तात्पर्य है, क्योंकि यह तो राम-भक्ति में ही है।

अयोध्याकाण्ड की इति में—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति।" कहा गया था और यहाँ कहते हैं कि बिना वैराग्य आदि के ही दृढ़ भक्ति मिलती है, यह अधिकता है।

(५) 'दीप-सिखा-सम···'—श्रीरामजी ने कहा था—'प्रमदा सब दुख खानि' उसीको लेकर श्रीगोस्वामीजी अपनी इति लगाते हैं। दीप-शिखा सुन्दर होती है, पर फनगों को भस्म कर देती है। वैसे ही स्त्रियाँ तन से सुन्दरी हैं, पर आसक्त होनेवालों के धर्म-कर्म को भस्म कर देती है। 'रावनारि-जस···' कहकर साथ ही, यह दोहा कहकर यह भी जनाया कि इसी कारण रावण का नाश हो रहा है। 'जुवति' शब्द का भाव यह कि स्त्री का तन युवावस्था का ही दीप-शिखा के समान है। जैसे ऊपर 'प्रमदा' पर कहा गया था। 'भजहि राम तजि काम मद'—काम-मद में पड़ने से श्रीनारदजी की-सी दशा होगी। कामादि भक्ति के बाधक है और सत्संग भक्ति का साधक है। अतः, 'सदा सत्संग' करना कहा है, यथा—"बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग॥" (उ० दो० ६१), श्रीशिवजी ने भी ऐसा ही माँगा है, यथा—"पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग।" (उ० दो० १४), श्रीगोस्वामीजी ने कहा है—"यत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्म वश भ्रमत जग योनि संकट अनेकम्। तत्र त्वद्भक्ति सज्जनसमागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्॥" (वि० ५७)। तथा—"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्।" (श्रीमद्भाग० ११।१२।१-२), अर्थात् हे उद्धव! दूसरे समस्त सङ्गों के निवारण करनेवाले सत्सङ्ग से, मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियम किसीसे नहीं होता।

इस काण्ड में प्रथम ही जयन्त को सींक के बाण से व्याकुल करना, खर आदि का आपस में ही लड़ मरना और परस्पर राम-राम कहते एवं देखते सद्गति पाना, गृध्रराज का यहीं से चतुर्भुज रूप होना, सोने के मृग की कथा आदि अद्भुत हैं। अतः, इसमें अद्भुत रस प्रधान कहा जाता है।

इस काण्ड में काम मोहित शूर्पणखा को दंड देना, पर-स्त्री चाहनेवाले राक्षसों का वध और अन्त में विरक्तों को स्त्री-त्याग की विशद शिक्षा दी गई है, इसीसे इस सोपान का नाम 'विमल-वैराग्य-सम्पादन' है।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

चतुर्थ सोपान (किष्किन्धाकाण्ड)

कुन्देन्दीवरसुन्दरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृन्दप्रियौ ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥१॥

शब्दार्थ—इन्दीवर = नीलकमल । उभौ = दोनों । आढ्य = पूर्ण । नुत = स्तुत । वर्म = कवच ।

अर्थ—कुन्दपुष्प और नीलकमल के समान सुन्दर, अत्यन्त बलशाली, विज्ञान के स्थान, शोभापूर्ण, श्रेष्ठ-धनुर्धर, वेदों से प्रशंसित, गौ और ब्राह्मण के समूह जिनको प्रिय हैं, माया से मनुष्य-रूप धारण किये हुए, रघुकुल में श्रेष्ठ, सद्धर्मों के लिये कवच-रूप (रक्षक), हितकारी, श्रीसीताजी को ढूँढ़ने में तत्पर, मार्ग में प्राप्त दोनों रघुवर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी निश्चय हमको भक्ति देनेवाले हैं ॥१॥

विशेष—(१) कुन्द का पुष्प श्वेत होता है, वैसे स्वच्छ गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी और नील कमल के समान श्याम वर्ण श्रीरामजी हैं, यथा—"गौर किसोर बेष बर काछे ।···लछिमन नाम ···" (बा० दो० २२०), "श्याम सरोज दाम सम सुंदर, प्रभु ···" (सुं० दो० ९), दोनों सुन्दर हैं, यथा—"कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक ।" (बा० दो० २१५), दोनों अतिबली हैं, यथा—"राजन राम अतुल बल जैसे । तेज निधान लखन पुनि तैसे ॥ कंपहि भूप बिलोकत जाके ।" (बा० दो० २९२), दोनों विज्ञान-धाम हैं, यथा—"सर्बगुन ज्ञान-बिज्ञान साली ।" (वि० ५४)—श्रीरामजी । श्रीलक्ष्मणजी ने निषाद को विज्ञान की शिक्षा ही दी है, दोनों शोभा-पूर्ण हैं, यथा—"सोभा सींव सुभग दोउ बीरा ।" (बा० दो० २३२), दोनों श्रेष्ठ धनुर्धर हैं, यथा—"कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता । धन्वी सकल लोक बिख्याता ॥" (ज० दो० ४८), दोनों श्रुति से प्रशंसित हैं, यथा—"जय सगुन-निर्गुन-रूप ···" (उ० दो० १२), अंशी श्रीरामजी की स्तुति में अंश रूप श्रीलक्ष्मणजी की भी स्तुति है, यथा—"अंसन्ह सहित मनुज अवतारा ।····· " (बा० दो० १८६), 'गोविप्रवृन्दप्रियौ', यथा—"भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल । करत चरित धरि मनुज तन ··" (अ० दो० ९३), 'मायामानुषरूपिणौ', यथा—"मायामनुष्यं हरिम् ।" (सुं० मं०), "अंसन्ह सहित देह धरि ताता ।" (बा० १५१), 'रघुवरौ', यथा—"रघुकुलमनि दसरथ के जाये ।···राम लखन दोउ···" (बा० दो० २१६), 'सद्धर्मवर्मौ', यथा—"धर्म वर्म नर्मद गुन-ग्रामः ।" (अर० दो० १०), 'हितौ', यथा—"तन धन धाम राम हितकारी ।" (उ० दो० ४६), "लाड़ लाड़िले लखन हित हौ जन के ।"

(वि० ३७), 'सीतान्वेषणतत्परौ', यथा—"पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई। चले ···" (अर० दो० ३२), 'पथिगतौ', यथा—"···दोउ भाई। चले बिलोकत बन बहुताई।" (अर० दो० ३२), 'भक्तिप्रदौ', यथा—"अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना॥" (अर० दो० १०)—श्रीरामजी। "सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥" (अ० दो० ९३)—श्रीलक्ष्मणजी।

(२) 'कुन्देन्दीवर'—मे 'कुन्द' शब्द से श्रीलक्ष्मणजी की उपमा है और 'इन्दीवर' से श्रीरामजी की। फूल के समान कोमलता की दृष्टि से स्तुति प्रारम्भ की है, क्योंकि अभी श्रीहनुमानजी आकर इनकी सुकुमारता 'मृदुल मनोहर सुंदर' कहकर कहेंगे। यहाँ श्रीलक्ष्मणजी पहले क्यों कहे गये ? उत्तर—(क) व्याकरण की यह रीति है कि जब छोटे-बड़े शब्दवाले दो नाम साथ आते हैं, तो छोटा प्रथम रक्खा जाता है, यहाँ 'कुन्द' छोटा और 'इन्दीवर' बड़ा है। (ख) यहाँ मार्ग में चलते हुए का ध्यान है, श्रीरामजी विरही हैं, श्रीलक्ष्मणजी सावधान हैं, इससे सम्भवतः आगे है।

विशेषणों के क्रम का भाव—पहले अत्यन्त कोमल कुन्द और कमल के समान सुन्दर कहने में बल का सन्देह रहा, इसलिये 'अतिबलौ' कहा। फिर बल के अहंकार में ज्ञान-विज्ञान होने में सन्देह रहा। अतः, 'विज्ञानधामौ' भी कहा। विज्ञानी लोग प्रायः शोभा से युक्त नहीं होते, इसपर 'शोभाढ्यौ' कहा। शोभावालों में प्रायः मृदुता के कारण वीरता में सन्देह रहता है। अतः. 'वरधन्विनौ' कहा। इन सब बातों का मनुष्य में होना असम्भव है, इसलिये 'श्रुतिनुतौ' कहकर ईश्वरता कही। तब इस रूप में क्यों आये, अतः 'गोविप्रवृन्दप्रियौ मायामानुष रूपिणौ' कहा। पुनः 'सद्धर्मवर्मौ' से अवतार का कार्य कहा कि धर्म की मर्यादा-रक्षा के लिये आये। फिर 'सीतान्वेषणतत्परौ' से धर्म-रक्षा का कार्य चरितार्थ किया कि पतिव्रता स्त्री का खोजना धर्म है। अतः, खोज रहे हैं। कवि इतनी स्तुति क्यों कर रहे हैं ? इसका कारण 'भक्तिप्रदौ' से कहा कि भक्ति पाने के लिये।

(३) 'मायामानुषरूपिणौ', यथा—"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ स्वां प्रकृतिम् अधिष्ठाय आत्ममायया सम्भवामि। प्रकृतिः स्वभावः। स्वम् एव स्वभावं अधिष्ठाय स्वेन एव रूपेण स्वेच्छया सम्भवामि इत्यर्थः।" (गीता ४।६ रामानुज भाष्य)—इसमें माया इच्छा अर्थ लिया गया है। अतः, यहाँ पर अपनी इच्छा से, यह अर्थ होगा, यथा—"इच्छा मय नर बेष सँवारे। होइहउँ प्रगट···" (बा० दो० १५१)—इसका विशेष देखिये। माया का अर्थ कृपा भी है, यथा—"माया दम्भे कृपायाञ्च" ऐसा कोष का प्रमाण है, तथा—"कृपासिंधु मानुष तन धारी।" (सु० दो० ३८)। अतः, अपनी कृपा से नर-वेष में लीला करते हैं। मनुष्य-रूपता यह कि बाल, किशोर, युवा आदि अवस्थाएँ धारण कर मनुष्य की-सी लीला करते हैं।

इस चतुर्थ सोपान के चरित किष्किन्धा देश में हुए, पुनः किष्किन्धा पर्वत-श्रेणी का भी नाम है, जो किष्किन्धा देश में है। वहाँ बालि-सुग्रीव की राजधानी है, इसीसे इस काण्ड का नाम 'किष्किन्धा' पड़ा।

इस छन्द का नाम 'शार्दूलविक्रीड़ित' है। यहाँ श्रीरामजी सिंह के समान निर्भय विचर रहे हैं। अतः, इसी छन्द से उनकी स्तुति की गई।

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥२॥

शब्दार्थ—ब्रह्म = वेद, यथा—"वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्र. प्रजापतिरित्यमर.। अम्भोधि = समुद्र। अव्यय = निर्विकार, अविनाशी। कृतिन. = सुकृती लोग।

अर्थ—जो वेद समुद्र से उत्पन्न, पापों का प्रकर्ष नाशक, अविनाशी, श्रीमान् शम्भु भगवान् के सुन्दर श्रेष्ठ मुख-चन्द्र में सदा शोभायमान, भव-रोग की ओषधि, सुख के करनेवाले और श्रीजानकीजी के जीवन-स्वरूप, श्रीराम-नाम-रूपी अमृत को निरन्तर पान करते हैं, वे पुण्यात्मा धन्य है ॥२॥

विशेष—(१) 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं', यथा—"वेद प्रान सो" (बा० दो० १८), "यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥" (बा० दो० ९), 'कलिमलप्रध्वंसनं', यथा—"कलिमल विपुल बिभंजन नामः।" (अर० दो० १०), श्रीशिवजी सदा जपते है—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा० दो० १०७), 'संसारामयभेषजं', यथा—"जासु नाम भव भेषज, हरन घोर त्रयसूल।" (उ० दो० १२४), 'सुखकरं', यथा—'आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १९), "जपहि नाम जन आरत भारी। मिटइ कुसंकट होहि सुखारी॥" (बा० दो० २१), श्रीजानकीजीवनं', यथा—"नाम पाहरू रानि दिन, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित, प्रान जाहि केहि बाट॥" (सुं० दो० ३०), 'धन्यास्ते कृतिनः', यथा—"तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं। येन श्रीराम-नामामृतं पानकृतमनिममनवद्यमवलोक्य कालम्॥" (वि० ४६)।

यहाँ श्रीराम-नाम को अमृत रूप कहा गया है। अमृत समुद्र से निकला, यह वेद-रूपी समुद्र से, अर्थात् वेदों को मथन करने से सार-रूप राम-नाम निकला। विचार मन्दराचल, मुनि और सन्त देवता है, श्रीशिवजी मथनेवाले है, क्योंकि वेदों का ही उपबृंहण रूप रामायण है, उसे मथकर श्रीशिवजी का राम-नाम ही लेना कहा गया है, यथा—"सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि बामदेव नाम घृतु है॥" (वि० २५४), वेद के कर्म, ज्ञान, उपासना आदि और रत्न हैं, राम-नाम अमृत है। वह अमृत देवताओं को अमर करने और दैत्यों का नाश करने के लिये निकाला गया। वैसे यह अमृत भी कलिमल का नाश करने और जापकों को अमर करने के लिये है। उस अमृत के पीनेवालों का पुनर्जन्म होता है, पर इसके पीनेवालों का आवागमन छूट जाता है। 'प्रध्वंसनं' का भाव यह है कि इससे कलिमल जड़ मूल से नाश हो जाता है। 'श्रीमत्-शम्भु' का भाव यह कि ऐसे शोभायमान कल्याण करनेवाले ईश्वर भी इसे निरन्तर जपते हैं। पुनः उन्हें ये दोनों विशेषणों के भाव राम-नाम ही से प्राप्त हुए, यथा—"नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साज अमंगल मंगल रासी॥" (बा० दो० २५)। 'मुखेन्दु'—मुख को चन्द्रमा कहने का भाव यह कि वह अमृत चन्द्रमा में रहता है, वैसे यह श्रीशिवजी के मुख-चन्द्र पर सदा सुशोभित रहता है, यथा—"तुम्ह पुनि राम-राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥" (बा० दो० १०७), इसीके सम्बन्ध से मुख-चन्द्र की भी शोभा है। अतः, 'श्रीमत्' कहा गया है, किन्तु वह चन्द्रमा सदा शोभित नहीं रहता। किसी-किसी प्रति में 'श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं' पाठ है। उसका अर्थ—'श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुना सुन्दरवरं' अर्थात् श्रीमान् शिवजी के मुखचन्द्र के द्वारा (आराधित होने पर) अत्यन्त सुन्दर है। पुनः 'संशोभितं सर्वदा' का अर्थ सब काल में सम्यक् प्रकार से शोभा युक्त है। काशी की प्राचीन प्रति में 'वरे' पाठ है, और उसका अर्थ अच्छा होता है, इसलिये मैंने 'वरे' पाठ को ही समीचीन माना है। 'संसारामयभेषजं'—वह अमृत संसारी जीवन ही दे सकता है, भव-रोग से नहीं बचा सकता, पर यह भव-रोग से भी बचाता है। वह पीने से घटता है—यह 'अव्यय' है। इसकी महिमा सब देश काल में पूर्ण रहती है, घटती नहीं। 'श्रीजानकीजीवनं', कहकर इसका रहस्य बतलाया है कि श्रीजानकीजी ने इसका सेवन करके जीवन बनाया है। इसकी रीति उनसे सीखो, यथा—"जानकी जीवन जान न जान्यो तो जान कहावत जान्यो कहा है।' (क० उ० ३९), अर्थात् जिसने श्रीजानकीजी

के जीवन के ज्ञान को नहीं जाना, तो उसका ज्ञान कहावत (कहानी) मात्र है, उसने क्या जाना अर्थात् कुछ नहीं। 'जानकी-जीवन-ज्ञान'—श्रीजानकीजी ने अपनी प्रतिबिम्ब-रूपा (अंश-भूता) माया सीता को लंका भेजकर श्रीराम-नामाराधन से संसार का ज्ञान और उससे निवृत्ति दिखाई है। वैसे ही मुमुक्षु को भी श्रीराम-कृपा से सदसद्विवेकिनी बुद्धि मिलती है, यथा—"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" (गीता १०।१०), तब शरीरासक्ति-रूपा अशोक वाटिका—जो मोह-रूपी रावण की क्रीड़ा-स्थली है—इसे शोकमय दीखती है और प्रवृत्ति (अविद्यात्मक जगत्) रूपा लंका—यद्यपि मोहासक्तों के लिये स्वर्णमयी अर्थात् बहुमूल्य रूप से प्रिय है—तथापि इसे दुःख-रूपा एवं अप्रिय लगती है। प्रमाण—'बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग रचित मन दनुजमय-रूप धारी।' कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर ·· मोह दस मौलि···जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी प्रसित चिता।···प्रबल वैरागदारुन प्रभंजन तनय ·" (वि० ५८)।

इस दुःख की निवृत्ति के लिये राम-नाम का जप करना चाहिये, यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छवि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥" (अर० दो० ३२), तब जैसे वहाँ रावणप्रेरित राक्षसियाँ नाना प्रकार के भयंकर रूप धर-धरकर श्रीजानकीजी को डरपाती थीं। वैसे इसका हृदय ज्यों-ज्यों शुद्ध होता जायगा, प्रारब्धानुसार जो मोह-प्रेरित नाना प्रकार के रजोगुणी प्राकृत संकल्प होंगे, उनसे इसे भय लगेगा। फिर कुछ काल में श्रीराम-सम्बन्धी शुद्ध संकल्प होने लगेंगे, यथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११), यहाँ राम-नाम-जप से संकल्पों का उसीके अनुरूप हो जाना और उसी-से कथा सुनने की भ्रान्ति का अनुमान कहा गया है। तब वहाँ के श्रीहनुमानजी की प्राप्ति की तरह यहाँ श्रीराम-प्रेरित प्रबल वैराग्य प्राप्त होगा, उससे शरीरासक्ति उजाड़ और प्रवृत्ति राख के समान कुरूप एवं हेय हो जायगी। तब श्रीरामजी का तेज जानकर जीव श्रीविभीषणजी की तरह अनन्योपायतावुद्धिसहित (अन्य उपायों का भरोसा छोड़कर एक प्रभु-मात्र को अपना उपाय समझ) शुद्ध शरणागति प्राप्त करेगा। पुनः श्रीरामजी इसके देहाभिमान-रूपी सागर को बाँधकर मोह-परिवार-रूपी विकारों को दैवी सम्पत्ति रूपी वानरों के द्वारा नाश करेंगे और इसे (मुमुक्षु को) शुद्ध स्वरूप का राजा बनावेंगे, जिससे यह च्युत हुआ था, यथा—"निष्काज राज बिहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह पर्यो॥" (वि० १३६), मुक्त होने पर जीव का राजा होना कहा गया है, यथा—"स स्वराडभवति" (छा० ७।२५।२, फिर श्रीविभीषणजी ने श्रीजानकी-जी को लाकर श्रीरामजी को सौंपा और वे अग्नि-परीक्षा-द्वारा श्रीरामजी की नित्यश्री में लीन हुईं। वैसे जीव भी ज्ञानाग्नि-द्वारा पूर्व कार्य श्रीरामजी की ही आदिशक्ति के द्वारा होना निश्चित करेगा। वे (विभीषणजी) श्रीअयोध्या आकर दिव्य रूप से श्रीरामजी के परिकर हुए। वैसे यह निवृत्त हृदय में दिव्यधाम-सहित भगवान् के दिव्य शेषत्व (सेवा) का अनुभव करेगा। श्रीविभीषणजी फिर श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा वस्त्राभूषण पहनवाकर लंका भेजे गये, जिससे वे श्रीलक्ष्मणजी की तरह रात-दिन सेवायुक्त रहें, तो कल्पान्त में नित्य धाम को जायँगे। वैसे यह भी भजन-सहित अवशिष्ट प्रारब्ध (आयु) समाप्त कर नित्य-धाम को प्राप्त करेगा।

(२) 'धन्यास्ते कृतिन.'—भाव यह कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिये सुकृत करनेवाले धन्य नहीं हैं, पुण्य क्षीण होने पर नीचे गिरते हैं, सदा भव-प्रवाह में गोते खाते रहते हैं। पर ये धन्य हैं, जो रामनामामृत पीते हैं, यथा—"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥" (भाग० ३।३३।७), अर्थात् जिसकी जिह्वा पर आप (भगवान्)- का नाम

वर्त्तमान है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है, आपके नाम लेने वाले तप, स्नान, हवन और वेद पाठ कर चुके। धन्य कहे जाने का कारण उपर्युक्त 'जानकी-जीवन-ज्ञान' है।

'पिबन्ति सततं'—रात-दिन हर अवस्था में हर क्षण जपा करते, जिह्वा खाली नहीं रहती। जैसे कि इस श्लोक में श्रीजानकीजी और श्रीमच्छम्भु का रात-दिन जपना कहा गया है। ऊपर श्लोक मे नामी की, और इसमें नाम की वन्दना है।

सो०—मुक्ति-जन्म-महि जानि, ज्ञान-खानि अघ-हानि-कर।
जहँ बस संभु-भवानि, सो कासी सेइय कस न॥
जरत सकल सुरबृंद, बिषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद, को कृपाल संकर-सरिस॥

अर्थ—मोक्ष की जन्मभूमि, ज्ञान की खान, पापों का नाश करनेवाली और जहाँ पर श्रीशिव-पार्वतीजी सदा बसते हैं, यह जानकर उस काशीपुरी का सेवन कैसे न किया जाय, अर्थात् अवश्य उसमें वास करना चाहिये॥ जिस विषम (घोर) हालाहल विष से सब देव-समूह जल रहे थे, उसे जिन श्रीशिवजी ने पी लिया, हे मन्द मन! उनको तू क्यों नहीं भजता? श्रीशंकरजी के समान कृपालु कौन है?॥

विशेष—(१) विशेषणों के क्रमशः भाव—'मुक्ति-जन्म-महि', यथा—"काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह श्रुति है, अर्थात् काशी में मरने से मुक्ति होती है। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती, यथा—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" यह श्रुति है, इसपर कहते हैं—'ज्ञान-खानि' है, परन्तु पापों के क्षय हुए बिना ज्ञान नहीं होता, यथा—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मना॥" (महा० शान्ति० २०४।८), अर्थात् पापकर्मों के नष्ट होने पर मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है, तब निर्मल दर्पण की भाँति आत्मा से ही आत्मा के दर्शन करता है। इसपर कहा—'अघ-हानि-कर' है। इस तरह श्रुतियों के भावों को कहकर शंका की जगह नहीं रक्खी। पहले काशी का माहात्म्य कहकर तब 'संभु-भवानि' का बसना कहा कि यह उनका स्थान है। 'संभु', अर्थात् कल्याण के कर्त्ता हैं, यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥" (बा० दो० ११८)। 'भवानि' नाम से यह जनाया कि जब से श्रीशिवजी (भव) हैं, तभी से ये भी हैं, सती-पार्वती आदि नाम पीछे के हैं। तब ऐसी काशी तो अवश्य सेवन करने योग्य है। यहाँ वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण है।

जगत् में जीव तीन प्रकार के होते हैं, यथा—"बिपई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥" (अ० दो० २७६), काशी तीनों के सेवन करने योग्य है—विषयी के लिये 'अघ-हानि-कर' है, साधक (मुमुक्षु) के लिये सत्संग द्वारा 'ज्ञान-खानि' है और सिद्धों के लिये 'मुक्ति-जन्म-महि' है। वा, सहज वास से पाप का नाश करती है, सत्संग से ज्ञान देती है और वहाँ मरने पर मुक्ति देती है।

यहाँ काशी का माहात्म्य कहने का भाव यह कि मानस सप्त सोपान रूपी सात काण्डों मे है, उनमे यह चौथा काण्ड है। ऐसे ही मुक्ति देनेवाली सातो पुरी कही गई हैं, यथा—"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची ह्यवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैता मुक्तिदायिकाः॥" (नारद महापुराण पूर्व० २७।३३-३५), इनमें अयोध्या का नाम प्रथम आया है और काशी का चौथा। इसलिये पहले (बाल) काण्ड में श्रीअयोध्या-जी का माहात्म्य कहा गया था, वैसे इस चौथे (किष्किन्धा) काण्ड में काशी का माहात्म्य कहा गया। इस रीति से सातों काण्डों का मोक्षदायक होना जनाया।

पहले सोरठे में काशी-वास करना कहा गया, ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—"सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी ॥" (वि० २२), उसमें बसने से पाप नाश होकर ज्ञान का प्राप्त होना कहकर अधिकारी होने पर आगे काशी के स्वामी श्रीशिवजी की सेवा करने को कहते हैं। फिर श्रीराम-चरित कहेंगे, क्योंकि—"सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई ॥" (उ० दो० १०५)

(२) 'जरत सकल सुरबृंद···'—'जरत सकल सुरबृंद' से बिष की विषमता और 'जेहि पान किय' इससे उस विष को पीनेवाले श्रीशिवजी का सामर्थ्य कहा। इसकी कथा—"नाम प्रभाव जान सिव नीको।" (बा० दो० १८), पर लिखी गई है। 'सकल सुरबृंद' का भाव यह कि देवताओं के कई भेद हैं—वसु-वृन्द, रुद्र-वृन्द, आदित्य-वृन्द, आदि—वे सभी वृन्द जलने लगे थे। 'तेहि न भजसि मन मंद'—भाव यह कि श्रीशिवजी ने देवताओं को विष की ज्वाला से बचाया, वैसे भजन करने पर तुझे भी विषयाग्नि की ज्वाला से बचावेंगे, यथा—"मन करि बिषय अनल बन जरई।" (बा० दो० ३४), 'को कृपाल संकर-सरिस'—तुझपर भी कृपा करेंगे और शंकर (कल्याणकर्त्ता) होंगे।

प्रथम तीन काण्डों में श्रीशिवजी को इस ग्रन्थ के आचार्य मानकर पहले उनकी वन्दना की थी, क्योंकि आचार्य का पद भगवान् से भी बड़ा है, किन्तु इस काण्ड से उन्होंने हनुमान-रूप से श्रीरामजी का प्रत्यक्ष दासत्व ग्रहण किया है। अतः, उनके स्वामी श्रीरामलक्ष्मणजी की वन्दना पहले और वह भी देववाणी में करके तब भाषा में सेवक की वन्दना करना उचित माना है, यथा—"जेहि सरीर रति राम सौं, सोइ आदरहिं सुजान। रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान ॥" (दोहावली १४१), आगे बराबर श्रीशिवजी की नीचे ही वन्दना करेंगे, क्योंकि अब वे श्रीहनुमान रूप से सेवक-भाव में हैं। सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमानजी ही की वन्दना करेंगे, क्योंकि उसमें उनका चरित प्रधान है।

ऐतिहासिक दृष्टिवाले यों भी कहते हैं कि शैव-वैष्णव-विरोध मिटाने के लिये दोनों के इष्ट की एक साथ वन्दना करते हुए पहले तीन काण्डों में श्रीशिवजी को प्रथम स्थान दिया, तब पीछे चार काण्डों में श्रीरामजी को। पर इस ग्रन्थ से उपर्युक्त आचार्य-भाव से एवं—"संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोरि।" (उ० दो० ४५) की दृष्टि ही युक्त है।

ऊपर श्रीरामजी के विषय में नामी और नाम की वन्दना है, वैसे यहाँ श्रीशिवजी के प्रसंग में धाम और धामी की वन्दना है। इनके नाम की वन्दना नहीं की, क्योंकि ये स्वयं श्रीराम-नाम जपते हैं। अतः, इष्ट को समता का दोष होता, यथा—"साम्यं नाम च शङ्करस्य च हरेः" यह दस नामापराधों में एक अपराध कहा गया है।

'मारुति-मिलन'-प्रकरण

आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया ॥१॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बलसींवा ॥२॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल-रूप-निधाना ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी (उस पम्पासर से) फिर आगे चले और ऋष्यमूक पहाड़ समीप आ गया, अर्थात् उसके समीप पहुँच गये ॥१॥ वहाँ (उस पहाड़ पर) मन्त्रियों के साथ श्रीसुग्रीवजी रहते थे। अतुल बल की सीमा श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को आते हुए देखकर ॥२॥ वे बहुत ही डरकर बोले कि हे हनुमान! सुनो, ये दोनों पुरुष बल और रूप के निधान हैं ॥३॥

विशेष—(१) 'आगे चले बहुरि रघुराया ।'—पहले कह चुके हैं—"पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई। चले ···" (अर० दो० ३२), फिर श्रीशबरीजी के यहाँ ठहरे, तब वहाँ से भी चले, यथा—"चले राम त्यागा बन सोऊ ।" (अर० दो० ३६) । फिर पम्पासर पर बैठ गये थे, यथा—"बैठे अनुज सहित रघुराया ।" (अर० दो० ४०), वहीं पर श्रीनारदजी से सत्संग हुआ । उसी जगह से अब फिर आगे चले । इस तरह अरण्यकाण्ड से इस काण्ड का सम्बन्ध भी दिखाया—'रघुराया' शब्द से प्रसंग मिलाया । अभी श्रीनारदजी को स्त्री-त्याग की शिक्षा दी और स्वयं स्त्री को खोजने चले हैं, इसका भाव यह कि गृहस्थ को स्त्री का संग्रह उचित है और विरक्त को त्याग, 'रघुराया'—राजा हैं । अतः, नीति से काम लेंगे । कबन्ध और शबरीजी के कथनानुसार पहले श्रीसुग्रीवजी से मित्रता करेंगे, उसके शत्रु को मारेंगे और उससे अपना कार्य करावेंगे ।

(२) 'रिष्यमूक पर्वत नियराया ।'—इस पर्वत का नाम लिखा गया, क्योंकि यहाँ पर श्रीरामजी के कुछ कार्य होगा । श्रीसुग्रीवजी मिलेंगे, फिर और कार्य होंगे । इसका ऋष्यमूक नाम क्यों ?—(क) मृगों में गोकर्ण, केन, ऋष्य-संज्ञक मृग होते हैं, वे इस पर्वत पर मूक (चुप) रहते थे, इसीसे यह नाम हुआ । (ख) मतङ्ग ऋषि अमूक अर्थात् इस पर्वत पर वेद-पाठ, नाम-जप और चरित-पाठ आदि करते थे—इससे ऐसा नाम था ।

(३) 'तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा ।'—राज्य के सात अंग हैं—राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, किला और सेना—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च ।" (अमरकोष) । इनमें श्रीसुग्रीवजी के पाँच अंग नष्ट हैं, केवल मन्त्री और स्वयं (राजा) ही रह गये, किन्तु मन्त्री प्रधान अंग है, इससे साथ रक्खा है, यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ ।" (सुं० दो० ४०), यह श्रीविभीषणजी के लिये कहा गया है, यहाँ श्रीसुग्रीवजी को राज्य मिलेगा और श्रीविभीषणजी को भी आगे मिला है । श्रीशबरीजी ने पम्पासर पर ही सुग्रीव-मिताई को कहा था, पर यहाँ ऋष्यमूक पर श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, भाव यह कि यहाँ तक पम्पासर की ही भूमि है, उसीकी सीमा के भीतर यह भी है ।

'आवत देखि अतुल बलसींवा ।'—देखकर ही बल जान लिया, यथा—"सुचि सुजान नृप कहहि हमहि अस सूझइ । तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ ॥" (जानकी-मंगल ६६), बलवान् लोग देखकर ही बली का अन्दाजा कर लेते हैं, यथा—"देखी मैं दसकंठ-सभा सब मोते कोउ न सबल तो ।" (गी० सुं० १३)—यह श्रीहनुमानजी ने रावण से कहा है, तथा—"कपि देखा दारुन भट आवा ।" (सुं० दो० १८) ।

(४) 'अति सभीत कह···'—सभीत तो सदा ही रहते थे, यथा—"इहाँ साप बस आवत नाहीं । तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ॥" (दो० ५), अब इन 'अतुल बलसींव' को देखकर अति सभीत हो गये । श्रीसुग्रीवजी को वीर का प्रयोजन है, इसलिये प्रभु ने इन्हें वीर-स्वरूप का बोध कराया, यथा—"तावृष्यमूकस्य समीपचारी चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनौ तौ ॥ शाखामृगाणामधिपस्तरस्वी वितत्रसे नैव चिचेष्ट किञ्चित् ॥···दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम चिन्तापरीतो भयभारभग्नः ॥" (वाल्मी० ४।१।१३०-१३१), 'सुनु' यह अशान्ति गर्भित सम्बोधन भी श्रीसुग्रीवजी का सभीत होना सूचित करता है । 'बल-रूप-निधाना'—बल और रूप दोनों किसी एक व्यक्ति में साथ नहीं होते, पर इनमें हैं, इससे ये दोनों अवश्य कोई विलक्षण पुरुष हैं । पहले सुग्रीवजी के देखने में 'अतुल बल सींवा' कहा गया है, फिर हनुमानजी से कहने में 'बल-रूप-निधाना' कहा है । अतः, पुनरुक्ति नहीं है ।

धरि बटु रूप देखु तैं जाई । कहेसु जानि जिय सैन बुझाई ॥४॥
पठये बालि होहिं मन मैला । भागउँ तुरत तजउँ यह सैला ॥५॥
बिप्र-रूप धरि कपि तहँ गयऊ । माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥६॥

अर्थ—तुम ब्रह्मचारी का रूप धारण करके (वहाँ) जाकर देखो और उनके हृदय का भाव अपने जी से जानकर संकेत (इशारे) से समझाकर हमको कह देना ॥४॥ यदि वे बालि के भेजे हुए हों और मन के मैले (दुष्ट-चित्त) हों, तो मैं तुरत भागूँगा और इस पहाड़ को छोड़ दूँगा ॥५॥ ब्राह्मण रूप धर कर वानर श्रीहनुमानजी वहाँ गये और सिर नवाकर उनसे इस तरह पूछने लगे ॥६॥

विशेष—(१) 'धरि बटु रूप देखु ···'—'बटु' का अर्थ आगे कहा है, यथा—"विप्र-रूप धरि' यह रूप इसलिये धारण करने को कहा कि वानर शठ-बुद्धि होते है और उनसे प्रवीणता से बातचीत करनी है। इसलिये योग्य रूप को कहा, यथा—"कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः ॥" (वाल्मी० ४।३।२), पुनः ब्रह्मचारी अवध्य होते है, विद्याध्ययन के लिये वन में रहते है, शुद्ध-हृदय होते हैं। अतः, इनसे लोग अपनी बात कह देते हैं। भस्मासुर से भगवान् ने बटु-रूप से ही मम पूछा था और उसने कह दिया था। यदि विपक्ष के होंगे, तो बटु जानकर न मारेंगे। विद्यार्थी चपल-स्वभाववाले होते है। अतः, बिना प्रयोजन भी इनका पूछना अनुचित न माना जायगा।

श्रीहनुमानजी श्रीविभीषणजी के यहाँ और श्रीभरतजी के यहाँ भी इसी रूप से जाकर मिले हैं। श्रीभरतजी के यहाँ भी 'बटु' रूप धरने को कहा गया है और पहुँचने पर 'विप्र रूप' कहा गया है—"धरि बटु रूप अवध पुर जाई।" "विप्र रूप धरि पवन सुत, आइगयो जनु पोत।" यह वेष मंगलकारी माना जाता है। इन कारणों से भी यही रूप धारण किया है।

'कहेसु जानि जिय···'—सम्भाषण एवं चेष्टाओं से उनके हार्दिक भाव जान लेना, यथा—"इङ्गितानां कारैश्च रूपव्याभाषणेन च ॥ लक्षयस्व तयोर्भावं प्रहृष्टमनसौ यदि।···शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहिप्र त्वं प्लवङ्गम। व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टताऽनयोः ॥" (वाल्मी० ४।२।२४-२७)। 'सैन बुझाई'—कहीं कराग्रभाग से संकेत करना कहा है, कहीं और तरह, इसलिये यहाँ संकेत को गुप्त ही रक्खा है।

(२) 'पठये बालि होहि मन मैला'—बालि मन का मैला है, अतएव उसके भेजे होंगे, तो इनका भी मन मैला ही होगा। जो बिना कारण दूसरे का वध करने जाता है, उसका हृदय प्रसन्न नहीं होता, बातों से लख पड़ेगा। 'पठये बालि होहि'—इसका कारण वाल्मी० ४।२।२०-२३ में कहा गया है कि सुग्रीवजी कहते है कि इन दोनों पुरुष-श्रेष्ठों को बालि ने ही भेजा है, क्योंकि राजाओं के अनेक मित्र होते है। विश्वास करना उचित नहीं।···बालि बुद्धिमान् है, बड़ी योग्यता से काम करता है, हमे सावधान रहना चाहिये, इत्यादि। कहा भी है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ।" (अ० दो० २२८), इस दृष्टि से उनेस दूसरे को अवश्य भेजा होगा।

'मन मैला'—यह संकेत में भी लिया जा सकता है कि जो वे बालि के पठाये हुए हों तो तुम मन से उदास हो जाना, तो हम जान लेंगे, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी ने कहा है—"ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुङ्गव।" (वाल्मी० ४।२।२६), अर्थात् तुम हमारे सम्मुख खड़े होकर उनसे पूछना। अभिप्राय यह है कि तुम्हारी चेष्टा को हम लक्ष्य करते रहेंगे।

'भागउँ तुरत तजउँ यह सैला'—भाव यह कि पास आ जाने पर इनसे न बचेंगे। अभी भागने का अवसर है, श्रीसुग्रीवजी को भागने का बड़ा बल है, क्योंकि शीघ्रगामी सूर्य के अंश से उत्पन्न है। इसीसे चौदहो भुवनों में बालि ने पीछा किया, पर उन्होंने इन्हें नहीं पाया।

श्रीहनुमानजी को ही भेजा, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी के अति सभीत होने से और मन्त्री भी घबरा गये थे। पर श्रीहनुमानजी नहीं घबराये और उन्हें समझाया है, वाल्मी० ४।२।१३-१८ में विस्तार से कहा है। श्रीसुग्रीवजी श्रीहनुमानजी की बुद्धिमत्ता भी जानते हैं, यथा—"हनूमतीह सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम ॥

व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम् ॥" (वाल्मी० ५।६४।३०), यह श्रीरामजी से श्रीसुग्रीवजी ने ही कहा है।

(४) 'माथ नाइ'—श्रीहनुमानजी विप्र-रूप में गये, तब श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी को 'क्षत्री-रूप' में जानकर भी सिर क्यों नवाया ? इसका उत्तर यह है कि अत्यन्त तेजस्वी देखकर देव-बुद्धि से उन्हें प्रणाम किया, क्योंकि आगे इनके प्रश्नों से स्पष्ट है, यथा—"की तुम्ह तीनि देव महँ ···" इत्यादि। अर्थात् आपका रूप-मात्र क्षत्रिय का है, पर आप है, कोई देवता ही, यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरौ देवलोकादिहागतौ ॥···मानुषौ देवरूपिणौ ॥" (वाल्मी० ४।३।१२-१३), देवता तेजस्तत्त्व-प्रधान शरीर के होते हैं, यथा—"तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम्। कर्मजान्येव मोदगल्य न मातृपितृजान्युत ॥ न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव च। तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ॥ न म्लायन्ति स्रजस्तेषा दिव्यगन्धा मनोरमाः ॥" (महा० वन २६१।१३।१५), अर्थात् (स्वर्ग वासी) देवों के शरीर कर्मानुसार अग्नि-तत्त्व से होते है। वे माता-पिता से उत्पन्न नहीं होते। वहाँ किसीके पसीना, दुर्गन्धि, विष्ठा, मूत्र और रज नहीं होते, वहाँ देवों की दिव्य गन्धवाली और मनोहर माला कभी कुँभिलाती नहीं है, तथा—"रोदनादतिनिःश्वासाद्भूमिसंस्पर्शनादपि। न त्वां देवीमहं मन्ये राज्ञः संज्ञावधारणात् ॥" (वाल्मी० ५।३३।१०), अर्थात् रोने, श्वास लेने और पृथ्वी का स्पर्श करने के कारण तथा राजचिह्न युक्त होने के कारण मै तुम्हें देवांगना नहीं मानता। यह श्रीहनुमानजी ने श्रीजानकीजी से कहा कि इनके तेज-प्रताप से चकित होकर बिना जाने ही राजा जनक ने, शतानन्द-आदि के साथ इनका अभ्युत्थान किया, यथा—"उठे सकल जब रघुपति आये।" (बा० दो० २१४), वहाँ भी धनुष-बाण आदि इनके क्षत्रिय के चिह्न थे ही। उनके चित्त मे भी देव-बुद्धि ही आई, यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति " (बा० दो० २१५), तब तो स्वतः सिर झुकाना अनिवार्य है, यथा—"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपाद्यते ॥" (मनुस्मृति २।१२० तथा महा अनुशा० १०४।६४-६५), अर्थात् बूढ़े के आने पर जवान के प्राण ऊपर को चढ़ जाते है, उठने और अभिवादन से फिर ज्यों-के त्यों हो जाते है। जिनके किंचित् प्रताप को पाकर अंगद रावण की सभा मे गये, तो शत्रु रावण की सभा ने इनका अभ्युत्थान किया, यथा—"उठे सभासद कपि कहँ देखी।" (ल० दो० १९), तब स्वयं उन्हें विप्र रूप से श्री हनुमानजी का प्रणाम करना कोई आश्चर्यजनक नहीं है।

को तुम्ह स्यामल-गौर - सरीरा। छत्री-रूप फिरहु बन बीरा ॥७॥
कठिन भूमि कोमल-पद-गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥८॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता ॥९॥

अर्थ—साँवले और गोरे शरीरवाले आप (दोनों) कौन हैं ? जो वीर हैं और क्षत्रिय के रूप में वन में फिर रहे है ॥७॥ हे स्वामी ! यह भूमि कठोर है और आप (दोनों इसपर) कोमल चरणों से चल रहे हैं। किस उद्देश्य से आप वन में विचर रहे हैं ? ॥८॥ (आप दोनो के) कोमल, सबके मन को हरण करनेवाले और सुन्दर शरीर है और इनसे आप दोनों वन में कठिन धूप और हवा (लू) सह रहे है—यह किसलिये ? ॥९॥

विशेष—(१) 'को तुम्ह स्यामल-गौर-सरीरा।·· '—श्रीरामजी अधिक तेजस्वी हैं और आगे-आगे चल रहे हैं, इससे इन्हें बड़ा मानकर 'स्यामल' यह पहले कहा है, यथा—"चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा ॥" (बा० दो० १९७)। 'छत्री-रूप फिरहु बन बीरा'—अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए देखकर क्षत्रिय-रूप और वीर कहा, यथा—"देखि कुठार बान धनु धारी। भइ लरिकहिं

रिसि बीर बिचारी ॥" (बा० दो० २८१), पुनः वन मे वीर ही निर्भय विचर सकते हैं। अस्त्र-शस्त्र की करालता देखकर भी वीर कहते हैं। वाल्मी० ४।३।१५-१६ में श्रीहनुमानजी ने विस्तार से इनके शस्त्रों का वर्णन करते हुए इनकी वीरता सराही है। 'छत्री रूप'—आप (दोनो) क्षत्रिय नहीं हैं, देवता है, पर क्षत्रिय के रूप धारण किये हुए है।

(२) 'कठिन भूमि' का भाव यह कि आप दोनों इसपर चलने योग्य नहीं हैं, यथा—"जौ जगदीस इन्हहि बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥" (अ० दो० १२०), 'कोमल-पद-गामी'—भाव यह कि इन कोमल चरणों से आप पैदल चलने के योग्य नहीं हैं, किन्तु वाहनों पर ही चलने योग्य हैं, यथा—'ये बिचरहि मग बिनु पद त्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥" (अ० दो० ११८), 'बिचरहु बन' का भाव यह कि आप तो महलों मे विचरने के योग्य हैं, यथा—"तरुबर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रम कीन्हा ॥ (अ० दो० ११८), 'स्वामी'—लक्षणों से तो आप स्वामी (राजा) जान पड़ते है, यथा—"राज लखन सब अंग तुम्हारे।" (अ० दो० १११), यथा—"उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम् ॥ ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम् ॥ (वाल्मी० ४।३।१५)।

(३) 'मृदुल मनोहर सुंदर···'—आगे अभी थोड़े ही दिनों मे कहेंगे—"गत ग्रीषम बरषा रितु आई।" (दो० ११)। अतः, अभी ग्रीष्म ऋतु है, दो घड़ी दिनचढ़े पम्पा सर आये, स्नान किया। फिर श्रीनारदजी से बातचीत करके चले, चार कोस चलकर दोपहर को यहाँ पहुँचे हैं, इसीसे—'सहत दुसह बन आतप बाता।' कहते है। असह्य धूप और लू की लपट चल रही थी। श्रीभरतजी ने कहा है—"बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बर्षा बात ॥" (अ० दो० २११), पर यहाँ 'आतप बात' दो ही कहे गये हैं, क्योंकि श्रीहनुमानजी यह नहीं जानते कि इन्हें ऐसे ही १३ वर्ष हो गये, वे तो प्रत्यक्ष की ही बात कहते है।

पुनः मृदुल आदि के भाव ये हैं कि ये तो कुंकुम-कस्तूरी आदि से लेपन के योग्य हैं, दर्शन करने योग्य हैं। यहाँ इन तीनों अर्द्धालियों में 'बन' शब्द आया है—'बिचरहु बन', 'दुसहु बन', 'फिरहु बन' इससे जाना जाता है कि इन्हें वन मे विचरते देखकर श्रीहनुमानजी को बड़ा दुःख हुआ, इसीसे आगे कहा है—"लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।" इसी तरह श्रीभरतजी को भी इनके वन के कष्ट सहने का ही दुःख था, यथा—"राम लखन सिय बिनु पग पनही। करि मुनि बेष फिरत बन बन ही ॥ ··येहि दुख दाह दहइ दिन छाती।" (अ० दो० २११), इत्यादि।

श्रीहनुमानजी के प्रश्नों से भी इनमें उनकी ऐश्वर्य-भावना स्पष्ट है कि कठिन भूमि पर चलते हुए भी आपके चरण कोमल ही हैं और दुस्सह धूप और लू सहने पर भी 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता' बने हुए हैं, इससे आप कोई दिव्य तनवाले ही है, प्राकृत नहीं। अतः, कौन हैं ?

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर-नारायन की तुम्ह दोऊ ॥१०॥

दोहा—जगकारन तारन भव, भंजन धरनी-भार।
की तुम्ह अखिल भुवनपति, लीन्ह मनुज-अवतार ॥१॥

अर्थ—क्या आप तीनों देवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में से कोई हैं ? या क्या आप दोनों नर-नारायण हैं ? ॥१०॥ अथवा क्या आप जगत् के कारण (पैदा करनेवाले), भव (सागर) से उद्धार करनेवाले और पृथ्वी का भार भजन (नाश एवं हरण) करनेवाले हैं, जिससे सम्पूर्ण भुवनों (लोकों) के स्वामी होते हुए भी (आपने) क्या मनुष्य का अवतार लिया है ? ॥१॥

विशेष—(१) 'की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ'—विशेष तेजस्वी होने से देवताओं में भी श्रेष्ठ मानकर त्रिदेव मे होना पूछते हैं, 'कोऊ' अर्थात् आप शिव-विष्णु हैं या ब्रह्मा-विष्णु हैं। श्याम-गौर वर्ण

के अनुसार इस तरह कल्पना है, यथा—"कोउ कह नर-नारायन, हरि हर कोउ। कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ।" (बरवा अ० २२), फिर सोचा कि त्रिदेव तीन हैं, वे होते तो तीनों साथ ही होते। ये दो हैं। अतः, नर-नारायण होंगे, क्योंकि उनकी भी जोड़ी ऐसी ही है, वे परस्पर ऐसे ही प्रीतिवाले भी हैं, यथा—"नरनारायन सरिस सुभ्राता।" (बा० दो० १९)—देखिये। वे अवतार भी लेने हैं। यहाँ 'सन्देह-अलङ्कार' है, क्योंकि सन्देह बना ही है। इसपर भी उत्तर न मिला, तब तीसरा प्रश्न करते हैं—

(२) 'जगकारन तारन भव ···'—पहले तीन में प्रश्न किया, फिर दो में और अन्त में 'अखिल भुवनपति'—इससे एक के ही दो होने का प्रश्न किया, यथा—"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥" (बा० दो० २१५), स्थूल से अनुमान करते हुए सूक्ष्म में करना नियम है, यथा—"श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः। स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेत्॥" (भाग० ५।२६।३९), शुद्ध हृदय के भक्तों का अनुमान यथार्थ ही होता है, यथा—"बचन तुम्हार न होइ अनीका।" (बा० दो० २१५), अर्थात् जैसे श्रीजनकजी का अनुमान ठीक ही था, वैसे इनका भी यह तीसरा (निष्कर्ष-रूप) अनुमान ठीक ही है।

(३) 'अखिल भुवनपति'—का भाव यह कि सम्पूर्ण भुवन रावण-द्वारा पीड़ित है और उस भार से पृथ्वी दबी हुई है। अतः, आपने मनुष्य का अवतार लिया है, क्योंकि रावण की मृत्यु मनुष्य ही के हाथ है, यथा—"रावन मरन मनुज कर जाँचा।" (बा० दो० ४८), "स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ (वाल्मी० १।१५), पुनः "अखिल भुवनपति" से "जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥" (बा० दो० १४०) का और 'मनुज' से मनुसम्बन्ध से जायमान होनेवाले साकेत-विहारी के अवतार का भी लक्ष्य है।

'जगकारन' और 'तारन भव' से जगत् में जीवों का जन्म होना और जगत् से उनका छूटना दोनों ही कार्य श्रीरामजी के हाथों से होना सूचित किया, यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (अर० दो० १५), "तुलसिदास यह जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो मोइ छोरै।" (वि० १०२), इससे भी परम तत्त्व ही कहा। "भंजन धरनी भार" से आकाशवाणी में कहे हुए—"हरिहउँ सकल भूमि गरुआई।" (बा० दो० १८६), पर और "लीन्ह मनुज अवतार" से "अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ···" (बा० दो० १८६), पर लक्ष्य है कि आप वही है क्या ?

ऐसे ही भक्त श्रीविभीषणजी का अनुमान भी सत्य ही था, यथा—"की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥" (सुं० दो० ५), श्रीभरतजी ने ऐसा ही जाना भी है, यथा—"सेवक बचन सत्य सब जाने।" (अ० दो० २३४)।

कोसलेस दसरथ के जाये। हम पितु-बचन मानि बन आये॥१॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥२॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥३॥
आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥४॥

अर्थ—(श्रीरामजी उत्तर में कहते हैं—) हम कोसल देश (श्रीअयोध्या) के राजा श्रीदशरथजी के पुत्र हैं और पिताजी के वचन को मानकर वन में आये हैं॥१॥ हम दोनों के नाम राम-लक्ष्मण है, हम दोनों भाई हैं, (हमारे) साथ में सुन्दरी सुकुमारी स्त्री थी॥२॥ यहाँ (वन में) निशाचर ने वैदेही (श्री जानकीजी) को हर लिया, हे विप्र! हम उसीको ढूँढ़ते-फिरते हैं॥३॥ इस प्रकार हमने अपना चरित्र (परिचय) विस्तार से कहा, अब हे विप्र, अपनी कथा आप समझाकर कहिये॥४॥

विशेष—(१) 'कोसलेस दसरथ···'—श्रीहनुमानजी ने पूछा था—"को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा ।" इसका यह उत्तर है—'कोसलेस दसरथ के जाये ।'—'नाम राम-लछिमन दोउ भाई ।" । 'छत्री-रूप फिरहु बन बीरा ।' का उत्तर—'हम पितु बचन मानि बन आये ।' पिता दशरथजी राजा एवं क्षत्रिय जाति के प्रसिद्ध थे, इससे अपनी क्षत्रिय जाति का भी परिचय दिया । "कवन हेतु बन बिचरहु स्वामी ॥ मृदुल मनोहर सुंदर गाता । सहत···" का उत्तर—"संग नारि···" से "हम खोजत तेही ॥" तक है ।

शेष तीन प्रश्नों के उत्तर न दिये, जो—"की तुम्ह तीनि देव महँ···" से "लीन्ह मनुज अवतार ॥" तक कहे गये है, क्योंकि अपने ऐश्वर्य को गुप्त रखना है, यथा—"गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु, गये जान सब कोइ ।" (बा० दो० ४८) । 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' की दृष्टि से उसे स्वीकार किया कि हम वही 'अखिल···' हैं ।

'कोसलेस' से धाम, 'दसरथ के जाये' से रूप, 'नाम राम लछिमन' से नाम और 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।' से लीला सूचित की, चारों नित्य है, यथा—"रामस्य नाम रूपं च लीलाधामपरात्परम् । एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥" (नारद पञ्चरात्र-वसिष्ठ-संहिता), इसीसे चारों के द्वारा अपना परिचय दिया ।

(२) 'संग नारि सुकुमारि सुहाई ।'—भाव यह कि वह वन आने के योग्य न थी, पर स्नेह के कारण आई, यथा—"पुरते निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दिये मग में डग द्वै । झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गये मधुराधर वै ॥ फिरि बूझति है चलनोऽब केतिक, पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ? तिय की लखि आतुरता पिय की अखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥"(क० अ० ११) ।

(३) 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।···'—सीता-हरण तो पंचवटी में हुआ, तो 'इहाँ' ऐसा क्यों कहते है ? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजी ने उत्तर मे कहा कि हम अयोध्या के राजा के पुत्र है, पिता की आज्ञा से वन आये, हमारे साथ यह भाई और स्त्री दोनों आये, पर 'इहाँ' वैदेही को निशाचर ने हर लिया । श्रीअयोध्या को 'उहाँ' मानकर वन को 'इहाँ' कहते है, अर्थात् वन में ।

कोई-कोई 'इहाँ' से ऋष्यमूक का अर्थ लेकर 'हरी' से सुग्रीव, 'निसिचर' से रावण और 'बैदेही' से श्रीजानकीजी का अर्थ करते है और सीता-हरण को अध्याहार से लेते है । परन्तु 'खोजत तेही' इसमें 'तेही' यह एकवचन है, यदि तीनों के लिये होता, तो 'तिन्हही' ऐसा बहुवचन का प्रयोग होता । अतः, यह अर्थ ठीक नहीं है ।

'बैदेही' शब्द से श्रीजानकीजी के स्वभाव का भीरु होना भी सूचित किया कि वे निशाचर के डर से देह-रहित हो जायँगी, यह सम्भव है । पुनः विदेह का सम्बन्ध-सूचक नाम देकर विप्र से सहायता भी चाहते है, क्योंकि विप्र, मुनि आदि से विदेह का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । खोजने में उनका हुलिया भी कहा । पुनः 'बैदेही' शब्द में देह-रहित अर्थात् प्रतिबिम्ब-रूपा सीता का बोधक गूढ़ोक्ति भी है ।

(४) 'आपन चरित कहा हम गाई ।'—अर्थात् जो हमने कहा, यही हमारा चरित है—"कोसलेस दसरथ के जाये ।"—बालकाण्ड, 'हम पितु बचन मानि बन आये । —अयोध्याकाण्ड, 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।'—अरण्यकाण्ड और 'बिप्र फिरहि हम खोजत तेही ।" यह किष्किन्धाकाण्ड के वर्त्तमान चरित तक कहा है ।

'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।'—'बुझाई' शब्द से लक्षित करते है कि जैसे आपने कहा कि आप क्षत्रिय-रूप हो, पर नर नहीं हो, वैसे हम भी पूछते है कि आपके वचन सामान्य विप्र के से नहीं है । अतः, आप कौन है ? समझाकर कहिये, यथा—'नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः । नासामवेद विदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् । नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।···अनया चित्रया वाचा···" (वाल्मी०

४।३।२८–३४), अर्थात् इतने गुण मनुष्य रूप विद्यार्थी में नहीं हो सकते। इसीसे 'बिप्र' पद दो बार कह इसका निर्णय चाहते हैं।

(५) 'आपन चरित···'—हमने तो अपना चरित कह दिया। 'गाई'—सरल भाव से एवं विस्तार-पूर्वक कि विपत्ति के कारण हम वन में फिर रहे है। आप अपनी कथा समझा कर कहें कि आप कौन है और गुरु-सेवा छोड़कर वन में क्यों फिर रहे है? वा किसीके भेजने से आये है कि आपपर भी कोई विपत्ति है, जो ऐसे घोर वन मे और दुस्सह 'आतप-बात' (लू) मे विचर रहे है।

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥५॥
पुलकित तनु मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥६॥
पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्हीं। हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही ॥७॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी को पहचान कर श्रीहनुमानजी उनके चरणों को पकड़कर (भूमि पर) पड़ गये, अर्थात् उन्होने साष्टाङ्ग दण्डवत् की। (शिवजी कहते हैं कि) हे उमा! उस सुख का वर्णन नहीं किया जा सकता ॥५॥ (श्रीहनुमान रूपी वटु का) शरीर पुलकायमान हो गया है, उनके मुख मे वचन नहीं आता, वे (श्रीरामजी के) सुन्दर वेष की रचना को देख रहे है ॥६॥ फिर धैर्य धरकर उन्होंने स्तुति की, अपने नाथ (इष्ट) को पहचान कर उनके हृदय में आनन्द एवं प्रेम है ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रभु पहिचानि···'—कैसे पहचाना? (क) श्रीहनुमानजी ने सूर्य भगवान से वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया है। रामचरित का बीज-रूप वेद में भी है, उससे यह सुनकर जान गये। (ख) इन्होंने सूर्य को गुरुदक्षिणा माँगने को कहा था, तब उन्होंने अपने अंशभूत श्रीसुग्रीवजी की रक्षा करना माँगा था कि उन्हें विपत्ति-पर्यन्त रक्षा करना, इस-इस तरह से श्रीरामजी आवेंगे, तुम्हें बड़ा लाभ होगा, इत्यादि—उन्हीं बातों को प्रत्यक्ष घटित देखा, इससे जान गये। (ग) श्रीरामजी के जन्म से ही सब चरित श्रीनारदजी इन्हें सुनाया करते थे, यथा—"राम-जनम सुभ काज सब, कहत देव ऋषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमग न अमाइ॥" (रामाज्ञा-प्रश्न ४।४।१), इससे यहाँ चरित सुनकर जान गये, किन्तु इस समय तापस-वेष की रचना कुछ और है, इससे 'देखत रुचिर बेष की रचना।' कहा गया है। (घ) ये शिवरूप से आकाशवाणी के समय थे, वहाँ के वचनों से मिलाकर जान गये, जो वहाँ सुना था, हम कोसलपुरी में श्रीदशरथजी के यहाँ प्रकट होंगे, नारद-वचन को सत्य करेंगे। उन्हींके अनुसार यहाँ चरित सुना, इससे जान गये। (ङ) श्रीरामजी ने श्रीमुख से चरित सुनाया, इससे माया निवृत्त हुई, तुरत बोध हो गया, यथा—"तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहि प्रभु पहिचाना॥" यह आगे इन्होंने ही कहा है, वह माया निवृत्त हुई। जैसे तारा को ज्ञान दिया, माया हरी और श्रीदशरथजी को 'चितइ' (देख) कर ही दृढ़ ज्ञान दिया, एवं करस्पर्श से श्रीसुग्रीवजी को बल दिया और उनकी पीड़ा का हरण किया, इत्यादि।

'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना'—शिवजी उस शरीर के सुख को अत्यन्त जानकर अवर्ण्य कह रहे है, यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मनते भिन्न ···" (उ० दो० ५)। "सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥" "प्रभु सोभा सुख जानइ नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥" (उ० दो० ८७)। सुख तो नहीं कह सके, पर उससे होने वाली दशा कहते हैं—

श्रीहनुमानजी की कथा

पुञ्जिकस्थला नाम की एक परम सुन्दरी श्रेष्ठ अप्सरा थी, वह शापवश वानर-श्रेष्ठ कुञ्जर की कन्या अञ्जना नाम की वानरी हुई। वही केसरी वानर की स्त्री हुई। एक समय वह मनुष्य का रूप धारणकर

वस्त्राभरण से सुशोभित हो पर्वत के शिखर पर बैठी थी। वायुदेव मन मे उनपर मोहित हुए। वायुदेव के प्रभाव से महाबलवान्, महापराक्रमी और महातेजस्वी एवं कूदने-तैरने मे पवनदेव के समान श्रीहनुमानजी केसरी के क्षेत्रज और पवनदेव के औरस पुत्र हुए। उसी बाल-अवस्था मे ये महावन में सूर्य का उदय देख और लाल फल समझकर उसे कूदकर लेने के लिये आकाश की ओर उछले। उसी दिन सूर्यग्रहण का पर्व था। सूर्य के पास इन्हें देखकर राहु ने इन्द्र से पुकार की। उनकी रक्षा करने के लिये इन्द्र आये। इन्द्र के आगे राहु को देख सूर्य को छोड़कर हनुमानजी राहु को ही फल समझकर पकड़ने दौड़े। राहु चिल्लाता हुआ भागा। इन्द्र उसकी रक्षा करते हुए इनकी ओर बढ़े, इन्होंने उनके ऐरावत हाथी को ही बड़ा फल समझा और उसीकी ओर दौड़े। उस समय इनका रूप इन्द्रादि से अत्यन्त अधिक तेजस्वी एवं बड़ा भयङ्कर हो गया। इन्द्र ने क्रोध करके इनपर वज्र चलाया, जिसके आघात से एवं पर्वत पर घायल होकर गिरने से इनकी बायीं ठुड्डी (दाढ़ी) टेढ़ी हो गई। तभी से इनका कीर्त्तियुक्त 'हनुमान' नाम पड़ा। अबोध बालक पर इन्द्र ने ऐसा प्रहार किया, इसपर वायुदेव कुपित हुए। उन्होंने तीनो लोकों मे अपनी गति रोक दी। सब घबराये, देवताओं के साथ सभी प्रजा गण ब्रह्माजी की शरण गये। ब्रह्माजी सबको साथ लेकर वायुदेव को मनाने आये। उनके करस्पर्श से श्रीहनुमानजी स्वस्थ हो गये। वायुदेव प्रसन्न हुए, तब ब्रह्माजी के साथ सभी देवताओं ने इन्हें अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों से अभय होने का वरदान दिया। साथ ही यह भी वर दिया कि अपनी इच्छा से तुम्हारी मृत्यु होगी, इत्यादि। यह कथा वाल्मी० ४।६६।८--२८ एवं ७।३५-३६ के अनुसार बहुत सूक्ष्म रूप मे है, इसका विशेष वर्णन वहीं उभय स्थलों पर देखना चाहिये।

(२) 'पुलकित तनु मुख···'—श्रीहनुमानजी मन, वचन, कर्म तीनो से निमग्न हो गये है, यथा—'सो सुख उमा जाइ नहि बरना।'—यह सुख मन का धर्म है। 'पुलकित तनु'—यह तन एवं कर्म और 'मुख आव न बचना' यह वचन की दशा है। भाव यह कि स्तुति करने की इच्छा है, क्योंकि आगे स्तुति की है, पर वचन नहीं निकलते।

'देखत रुचिर बेष कै रचना।'—इस वेष का यथार्थ में इन्हीने अनुभव किया है, आगे लंका में श्रीजानकीजी के पूछने पर इन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से श्रीराम-लक्ष्मण के सर्वांग का वर्णन किया है—वाल्मी० ५।३५ देखिये।

(३) 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।'—श्रीरामजी की शोभा देखकर अधीर हो गये, यथा—"देखि भानु कुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान॥ धरि धीरज एक आलि सयानी।···" (बा० दो० २३३), तथा अर० दो० १० भी देखिये। 'हरष हृदय निज नाथहि चीन्हीं।'—ऊपर 'सुख' कहा गया। यहाँ फिर 'हर्ष' कहा गया है। हर्ष का प्रीति भी अर्थ होता है, यथा—"मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्ष इत्यमरः" वही प्रीति का अर्थ यहाँ लेना चाहिये। पुनरुक्ति का वचन यों भी है कि ऊपर—'सो सुख उमा···' में देखी हुई ऊपर की दशा कही गई है और यहाँ उनके हृदय का अनुभूत सुख कहते है। सुं० दो० ३२ भी देखिये।

मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥८॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥९॥

दोहा—एक मैं मंद मोहबस, कुटिल हृदय अज्ञान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ, दीनबंधु भगवान॥२॥

अर्थ—हे स्वामी! मैंने जो पूछा, वह मेरा (परिचय लेने के लिये पूछना) न्याय (उचित) था, (क्योंकि मायावश होने से मैंने हे प्रभो! आपको नहीं पहचाना था), परन्तु आप कैसे मनुष्यों की नाईं

पूछते हैं ? (अर्थात् आप तो सर्वज्ञ ईश्वर हैं, अल्पज्ञ मनुष्यों की तरह आपका यह पूछना अन्याय है) ॥८॥ क्योंकि मै तो आपके मायावश भूला हुआ फिरता हूँ, इसीसे मैंने स्वामी (आप)-को नहीं पहचाना ॥९॥ एक तो मै मन्द हूँ, मोहवश हूँ, हृदय का कुटिल हूँ और अज्ञान हूँ। उसपर भी, हे प्रभु ! हे दीनबन्धु !! हे भगवान् !! आपने मुझे भुला दिया, (अन्यथा ऐसा हमसे प्रश्न ही न करते—'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।') ॥२॥

विशेष—(१) 'तव माया बस···'—आपकी माया प्रबल है, यथा—"अतिसय प्रबल देव तव माया। छुटइ राम करहु जौ दाया ॥" (दो० २०), उसने मुझे वश में कर लिया, इससे पाया गया कि न पहचानने में माया का ही दोष है, मैं निर्दोष हूँ, इसपर अपने दोष कहते हैं—'एक मै मंद···'—ये मन्दता आदि दोष वानर जाति के हैं, पर कार्पण्य भक्ति की रीति से अपने मे कहते है, यथा—"कवित बिबेक एक नहि मोरे।" (बा० दो० ८)—यह गोस्वामीजी ने कहा है। साथ ही प्रभु को दीनबन्धु भगवान् भी कहा है, यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा।" (४० दो० १३०), आप दीनबन्धु है, मुझ दीन के सहायक हो। भगवान् हैं। अतः, मेरी सभा प्रकार की गति-अगति के ज्ञाता है, यथा—"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥" (वि० पु० ६।५।७८), अर्थात् सभी प्राणियों की उत्पत्ति और प्रलय, आने और जाने तथा विद्या और अविद्या को जो जानता है, वही भगवान् कहलाने के योग्य है। अतः, मुझे सँभाल सकते है। पर आपने भुला दिया, यही मेरा अभाग्य है, इसीमे जीव की हानि है, यथा—"तुलसी की बलि बार-बार ही सँभार कीजौ, जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान है ॥" (क० उ० ८०)।

अलंकार—'समुच्चय द्वितीय' क्योंकि एक कार्य न पहचानने मे कई हेतु कहे गये है।

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे ॥१॥
नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा ॥२॥
ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन-उपाई ॥३॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ॥४॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥५॥

अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि मुझमे बहुत से अवगुण है, तथापि (यह) सेवक प्रभु (आप) को न भूले, अर्थात् अवगुणी होने पर भी मुझ सेवक को आप न भुलावें, क्योंकि हे नाथ ! जो जीव आपकी माया से मोहित है, वह आपके ही अनुग्रह से छूट सकता है ॥१-२॥ उसपर भी, हे रघुवीर ! मै आपकी शपथ करके कहता हूँ कि मै कुछ भी भजन का उपाय नहीं जानता ॥३॥ सेवक अपने स्वामी के और पुत्र माता के भरोसे निश्चिन्त रहता है, तो हे प्रभो ! उन्हें पालन करते ही बनता है, अर्थात् ऐसे ही मै सेवक आप प्रभु पर निर्भर हूँ, तो आप मे। पालन ही करें ॥४॥ ऐसा कहकर श्रीहनुमानजी अकुलाकर चरणो पर गिर पड़े, इनके हृदय मे प्रीति छा गई और इन्होंने अपना (वानर) शरीर प्रकट कर दिया ॥५॥

विशेष—(१) 'जदपि नाथ अवगुन···'—पहले अपने में चार ही अवगुण कहे गये थे—मन्द, मोहवश, कुटिल-हृदय और अज्ञान। अब कहते है कि इतने ही नहीं, किन्तु बहुत-से अवगुण है और इन्हीं-से मैं आपको भूल गया, पर हे प्रभो !—'सेवक प्रभुहि परइ जनि भोरे।' (यह प्रार्थना करते है) भाव यह कि आप मेरे अवगुणों पर दृष्टि न देकर मुझे सँभालिये, अपनाइये, क्योंकि—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (उ० दो० १)।

(२) 'नाथ जीव तव···'—पहले कहा था—'तव माया बस फिरउँ भुलाना। ···' उसपर यहाँ

कहते हैं कि यह आपकी ही कृपा से छूट सकता है, मैं माया-मोहित हूँ, कृपया छुड़ाइये, यथा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥" (गी० ७।१४), अर्थात् यह मेरी गुणमयी दैवी माया निश्चय करके दुस्तर है, जो मेरी ही शरण होते हैं, वे ही इस माया से तरते हैं, तथा—"यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।" (बा० मं० श्लोक ६)—इसका विशेष देखिये। "बंध मोच्छप्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव॥" (अर० दो० १५), "अतिसय प्रबल देव तव माया।···" ऊपर देखिये।

यहाँ पर ब्रह्म-स्वरूप, जीव-स्वरूप, उपाय-स्वरूप, फल-स्वरूप और विरोधि-स्वरूप—इन पाँचो स्वरूपों के ज्ञान भी समझाये गये है—

क—ब्रह्म-स्वरूप—'सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।', 'पुनि प्रभु मोहिं ···'।

ख—जीव-स्वरूप—"तव माया बस फिरउँ···मोर न्याउ मैं···" अर्थात् माया के वश होना, फिर प्रभु की कृपा से छूटना जीव की व्यवस्था है।

ग—उपाय-स्वरूप—"सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥" इसमे उपाय शून्य शरणागति ही कही गई है।

घ—फल-स्वरूप—'परेउ गहि चरना', 'परेउ चरन अकुलाइ।' अर्थात् प्रभु की प्राप्ति ही फल-स्वरूप है।

ङ—विरोधि-स्वरूप—'माया बस' 'माया मोहा' आदि माया।

इनके जानने को अर्थपञ्चक ज्ञान कहते हैं, यथा—"प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्ति-विरोधि च॥ ज्ञातव्यमेतदर्थानां पञ्चकं मन्त्रवित्तमैः।" (रहस्यत्रय)।

(३) 'ता पर मैं रघुबीर····'—भजन का उपाय (साधन), यथा—"भगति के साधन कहउँ बखानी।' (अर० दो० १५), 'कछु'—थोड़ा भी भजन हो, तब भी माया कुछ नहीं कर सकती, यथा—"तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥" (उ० दो० ११५), 'जानउँ नहिं'—जीव के तरने के दो उपाय है, एक भजन और दूसरा भगवान् का छोह, सो एक को तो ये कहते हैं कि मै जानता ही नहीं, दूसरे के लिये प्रार्थना करते है—

(४) 'सेवक सुत पति ··'—सेवक कुछ सेवा-रूप पुरुषार्थ करता है, यह उपर्युक्त पहले मे है और सुत पुरुषार्थ-हीन है, वह केवल माता के ही भरोसे रहता है, यही उपाय शून्य-शरणागति है। श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से भी कहा है, यथा—"जिमि बालकहिं राख महतारी।" (अर० दो० ४२)। अन्त मे अपनी स्थिति इसीमे कहकर चरणों पर आकुल हो पड़ गये—

(५) 'अस कहि परेउ चरन'—इसीसे श्रीरामजी प्रसन्न होते हैं, यथा—"है तुलसी के एक गुन, अवगुन निधि कहै लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझबे जोग॥" (दोहावली ८५), यहाँ तन-मन-वचन से शरणागति हुई—'अस कहि'—में वचन की, 'परेउ चरन ··'—में तन की, और 'प्रीति उर छाई'—में मन की शरणागति है। 'निज तनु प्रगट···', यथा—"भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः।" (वाल्मी० ४।४।३४)।

प्रीति की विह्वलता में कपट-तन छूट जाने पर अब श्रीरामजी हृदय से लगावेंगे, क्योंकि श्रीमुख वचन भी है, यथा—"मोहि कपट छल छिद्र न भावा।" (सुं० दो० ४३), बहुत स्तुति करने पर भी बिना कपट छूटे नहीं अपनाया—यह साधकों के लिये शिक्षा है।

'रहइ असोच ·····'—योग-क्षेम से निश्चिन्त रहता है, यथा—"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥" (गीता ९।२२), अर्थात् जो अनन्य भक्त मुझे चिन्तन करते हुए भलीभाँति मेरी उपासना करते हैं, उन निरन्तर भक्ति करनेवालों का मैं योग क्षेम

वहन करता हूँ। उदाहरण—"लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहि दुरवासा॥" (अ० दो० २१७), तथा प्रह्लाद आदि की निष्ठा भी आदर्श है।

श्रीहनुमानजी भक्तों मे आदर्श हैं, इनमें भक्ति के सब अंग हैं, पर फिर भगवान् की अपेक्षा मे उन्हें कुछ न गिनते हुए वे कार्पण्य-शरणागति की रीति से स्तुति कर रहे है, जो भक्ति का परम आवश्यक अंग है।

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥६॥
सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥७॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक-प्रिय अनन्य गति सोऊ॥८॥

दोहा—सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥३॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीहनुमानजी को उठाकर अपने हृदय से लगाया और अपनी आँखो के जल से सींचकर उन्हें शीतल किया॥६॥ (और बोले—) हे कपि! सुनो, तुम अपने हृदय में अपने को ओछा मत मानो, तुम मुझे श्रीलक्ष्मणजी से दूने प्यारे हो॥७॥ मुझे सब कोई समदर्शी कहते हैं, पर मुझे सेवक प्यारा है, (क्योंकि) वह (सेवक) भी अनन्यगति होता है, अर्थात् उसका प्यारा एक मैं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं॥८॥ हे हनुमान! अनन्य वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि न टले कि स्थावर-जंगमात्मक (सारा जगत्) मेरे स्वामी भगवान का रूप है और मैं सेवक हूँ॥३॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति उठाइ उर लावा।'—'तब'—जब श्रीहनुमानजी निष्कपट-शरीर द्वारा मन, वचन, कर्म से शरण हुए। यद्यपि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, तथापि कपटमय होने से विप्र-तन को भी हृदय से नहीं लगाया। अतएव निश्छल भाव पर ही प्रभु कृपा करते हैं—यह निश्चय हुआ। श्रीभरतजी के वचनों में भी यही ध्वनि है, यथा—"कपटी-कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहि लीन्हा॥" (उ० दो० १), 'सींचि जुड़ावा'—सात्त्विक प्रेम का आँसू शीतल होता है, इस प्रेमाश्रु से श्रीहनुमानजी का वह ताप दूर हुआ, जो 'मोहि बिसारेउ' इसमें था, जान गये कि मुझपर स्वामी अनुकूल हैं, प्रेमाश्रु उनकी हार्दिक प्रीति के प्रकाशक है।

(२) 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना।'—श्रीहनुमानजी ने अपने मे बहुत अवगुणों का होना और प्रभु के द्वारा अपना भुलाया जाना कहा था, वही उनके हृदय में अपने प्रति न्यूनता है। अब उसका निराकरण करते है।

'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।'—दूना कहने का भाव—(क) यह सर्व-साधारण का मुहावरा है, इससे अत्यन्त प्रेम प्रकट किया जाता है, यथा—"तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई।" (दो० २०), 'भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे।" (उ० दो० ७), "जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥" (सुं० दो० १३), इन प्रसंगों में नाप-जोख के भाव नहीं है। वैसा ही भाव श्रीहनुमानजी ने ग्रहण किया है, यथा—"देखि पवनसुत पति अनुकूला।" यह आगे कहा ही है। (ख) श्रीलक्ष्मणजी का शरीर-सम्बन्धी नाता है, वे भाई है और श्रीहनुमानजी का स्नेह का नाता है। स्नेह के नाते को श्रीरामजी अधिक मानते हैं, यथा—"नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।" (वि० १६४), "अनुज राज संपति बैदेही। देह-गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। ...मोरे अधिक दास पर प्रीती॥" (उ० दो० १५)। (ग) जब एक बच्चे के पीछे दूसरा बच्चा होता है, तो माँ को यह नव-जात

शिशु बड़े की अपेक्षा अधिक प्यारा होता है, वैसे ही प्रभु भी नये शरणागत का अधिक प्यार करते है, इत्यादि।

इस कथन से उनके हृदय का संकोच दूर किया, जिसे उन्होंने कार्पण्य में कहा था।

(३) 'समदरसी मोहि कह ···· '—सब कोई कहते है, पर मैं सेवक के लिये उनका स्नेही हो जाता हूँ, यथा—"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" (गीता ६।२९), अर्थात् मै सब प्राणियों के प्रति समान हूँ, न मेरा कोई शत्रु है और न मित्र, परन्तु जो भक्ति से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे चित्त में और मै उनके चित्त में रहता हूँ—अ० दो० २१८ चौ० ३-५ भी देखिये। 'अनन्य गति सोऊ'—उनका भी मैं ही प्रिय हूँ, दूसरा नहीं, यथा—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥" (गीता ७।१७), तथा—'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" (भाग० ९।४।६८), अर्थात साधु मेरे हृदय हैं और मै उनका हृदय हूँ, वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते, वैसे मै भी उनसे भिन्न कुछ नहीं जानता। इसका मर्म, यथा—"तुलसी प्रभु सुभाव सुरतरु सो ज्यों दर्पन मुख काँति" (वि० २३३), "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥" (गीता ४।११)।

(४) 'मैं सेवक सचराचर, रूप ·· · '—सारा जगत् स्वामी का रूप है, यथा—"जगत्सर्व शरीरं ते ·" (वाल्मी० ६।११७।२५), "खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंचभूतं प्रणमेदनन्यः ॥" (भाग० ११।२।४१), "विस्वरूप रघुबंस मनि।" (लं० दो० १४)। मै सेवक हूँ, यह बुद्धि सदा अचल रहे। बुद्धि टलने की सम्भावना है, क्योंकि यह मन मे आवेगा कि मै भी भगवान् का शरीर हूँ, तो भगवान् ही हूँ, इसलिये सेवक-भाव मे दृढ़ बुद्धि रखना कहते है कि जैसे मनुष्य के शरीर ही मे चरण, हस्त आदि सेवक-भाव से रहते हैं, यथा—"सेवक कर पद नयन से " (अ० दो० ३०६), वैसे सचराचर रूप प्रभु का मैं सेवक हूँ। यही भाव सदा दृढ़ रहे, यथा—"सीय-राम-मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥" (बा० दो० ७), "निज प्रभु मय देखहि जगत, केहि सन करहि बिरोध।" (उ० दो० ११२) श्रीमुख-वचन है—"अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्वगत सर्व हित, जानि करेहु अतिप्रेम ॥" (उ० दो० १६), तथा—"जगच्चेदं जगन्नाथो नान्यच्चापि च कारणम् ॥ अहं च न ततो भिन्नो मत्तोऽसौ न पृथक् स्थितः। हानं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षण भावनम् ॥ दुर्लभा भक्तिरेषा हि मुक्तयेऽद्वैतसंज्ञिता ॥" (स्कन्द पु० वै० उ० १०।८६-८८), अर्थात् यह जगत् भगवान् जगन्नाथ का ही रूप है, उनसे भिन्न इसका और कारण नहीं है, मै भी भगवान् से भिन्न नहीं हूँ और वे भी मुझसे पृथक् नहीं है। ऐसा समझकर भेद परक बहुत बाह्य उपाधियों का त्याग कर अधिक प्रेम से भगवान की भावना करनी अद्वैत नामवाली भक्ति है, यह भव से मुक्ति के लिये अत्यन्त दुर्लभ है। 'हनुमंत'—इस सम्बोधन से जाना गया कि रूप प्रकट होने के साथ ही श्रीहनुमानजी ने अपना नाम भी कहा था। वाल्मीकीय रामायण मे इन्होंने अपना पूरा परिचय दिया ही है, वा, यहाँ श्रीहनुमानजी की प्रभु मे ऐश्वर्य-दृष्टि है। अतः, सर्वज्ञता से जानकर प्रभु कहा है।

श्रीहनुमानजी ने कहा था—"जानउँ नहि कछु भजन उपाई।" उसीपर प्रभु ने भजन के उपाय एवं भक्ति के स्वरूप कहे है।

देखि पवनसुत पति - अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला ॥१॥

अर्थ—स्वामी (श्रीरामजी) को अनुकूल देखकर श्रीहनुमानजी हृदय में हर्षित हुए, उनके सब शूल (दुःख) जाते रहे ॥१॥

विशेष—'देखि'—पहले मन में मान लिया था कि प्रभु ने मुझे भुला दिया, अब प्रत्यक्ष देखते

हैं कि प्रभु ने तन से हृदय लगाया है। 'तै मम प्रिय लछिमन ते दूना।' कहकर अपने मन की दशा कही है और वचन से अनन्य भक्ति को शिक्षा दी है, इस तरह तन-मन-वचन से उन्हें प्रसन्न देखा है। इसीसे श्रीहनुमानजी के सब शूल मिट गये। शूल—मैंने प्रभु को न पहचाना, मायावश हो गया, प्रभु ने मुझे भुला दिया, ये तीनो प्रकार के दुःख। वा, जन्म, जरा और मरण—ये त्रिविध शूल भी निवृत्त हो गये, यथा—"तुम्ह कृपालु जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिविध भव सूला॥" (सुं० दो० ४६), 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिविध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)। वा, प्रभु अर्थात् परम समर्थ स्वामी को अनुकूल पाकर बालि के द्वारा होनेवाले दुःखों की भी निवृत्ति समझी, जो कि इन्हीं (मन्त्री) लोगों ने बलात् श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर उसे बालि के कोप का भाजन किया था, जिससे श्रीसुग्रीवजी की बड़ी हानि हुई थी।

श्रीहनुमानजी पहले स्वयं कृतार्थ होकर अब श्रीसुग्रीवजी के हित का प्रयत्न करते हैं—

'सुग्रीव-मिताई'-प्रकरण

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥२॥
तेहि सन नाथ मयत्री कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै॥३॥
सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि॥४॥
येहि बिधि सकल-कथा समुझाई। लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई॥५॥

अर्थ—(श्रीहनुमानजी ने कहा—) हे नाथ! इस पहाड़ पर वानरों के स्वामी श्रीसुग्रीवजी रहते हैं, वे श्रीसुग्रीवजी आपके दास है॥२॥ हे नाथ! उनसे मित्रता कीजिये और दीन जानकर उन्हें निर्भय कीजिये॥३॥ वे श्रीसीताजी की खोज करावेंगे, उनके ढूँढ़ने के लिये जहाँ-तहाँ करोड़ों वानरों को भेजेंगे॥४॥ इस तरह सब कथा समझाकर दोनों जनों (श्रीराम-लक्ष्मण) को (अपनी) पीठ पर चढ़ा लिया॥५॥

विशेष—(१) 'नाथ सैल पर कपिपति रहई।'—यद्यपि इस समय कपिपति बालि है, तथापि श्रीसुग्रीवजी भी पहले कपिपति होकर राज्य कर चुके हैं, यथा—"मोहि राज दीन्हेउ बरिआई।" (दो० ५), यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा।" (अर० दो० १६), यह श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी को कहा है। पुनः आगे मित्रता करानी है, मित्रता समान में होती है। अतः, श्रीरामजी नरपति हैं, तो श्रीसुग्रीवजी कपिपति है। 'कपिपति' कहने से नाम जानने की इच्छा होगी, इसलिये 'सुग्रीव' कहा। प्रभु को वहाँ ले जाने के लिये उनका सम्बन्ध भी कहा—'दास तव अहई' अर्थात् आपके चलने पर वे कृतार्थ होंगे।

शंका—अभी तो श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी को देखा भी नहीं, तो दास कैसे?

समाधान—(क) श्रीसुग्रीवजी ईश्वर के भक्त हैं और श्रीरामजी ईश्वर हैं। (ख) ब्रह्मा के वचन से वे श्रीरामजी का स्मरण करते हैं, यथा—"हरि मारग चितवहिं मति धीरा॥" (बा० दो० १८७), इस तरह वे दास हैं। सुग्रीवजी के मन्त्री जाम्बवान ने ही कहा है—"हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी। निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ, रहहि मोच्छ सब त्यागि॥" (दो० २६)। अतः, सुग्रीव सनातनी दास हैं। 'सैल पर कपिपति रहई'—इस तरह कहकर श्रीसुग्रीवजी को दुखी सूचित किया कि राजा होकर पहाड़ पर रहते हैं, इसीसे आगे श्रीरामजी ने कहा है, यथा—"कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव।" (दो० ५), और पूछकर फिर उसकी निवृत्ति का उपाय किया है।

(२) 'तेहि सन नाथ ···'—पहले श्रीसुग्रीवजी को 'कपिपति' और 'तव दास' कहा था। तदनुसार कहते हैं—'तेहि सन नाथ मयत्री कीजै।' अर्थात् राजा को राजा से ही मित्रता करनी चाहिये, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३), पुनः वह आपका दास है। अतः,—'दीन जानि तेहि अभय करीजै।'—भाव यह है कि वे शत्रुभय से दीन है और आप दासो के अभयदाता हैं, यथा—"सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पट पीत सँभार न।" (वि० २०६)। अतः, उसकी दीनता छुड़ाइये, यथा—"कृत भूर बिभीषन दीन रहा।" (लं० दो० १०६)। यहाँ 'मैत्री' पद में शरण्य भाव से उसे ग्रहण करने का भाव है, क्योंकि 'दीन···' यह उत्तरार्द्ध में स्पष्ट किया है, 'अभय करीजै' में 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि' का भाव है। आगे सुग्रीवजी ने शरणागति की है—वाल्मी० ४।५।११-१५ में सुग्रीवजी ने अपना हाथ पकड़ाया है और श्रीरामजी ने उनका हाथ पकड़ा है, जैसे विवाह मे कन्या का हाथ वर पकड़ता है तो उसका जीवन भर का भार लेता है, वैसे ही शरणागत का भार श्रीरामजी लेते है। प्रमाण—"विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः। तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥" (वाल्मी० ४।२१।२०), प्रभु को शरणागत-वत्सल कहकर उनसे मैत्री करना कहने में शरण होने का अर्थ है।

(३) 'सो सीता कर खोज···'—पहले श्रीसुग्रीवजी को दास कहा था, अब 'दासत्व' कहते है, यथा—"सो सीता कर खोज कराइहि" श्रीसीताजी की खोज करवाना सेवा है, यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥" (दो० ४), पहले कहा था—'तेहि अभय करीजै' तब कहते है—'सो सीता कर खोज कराइहि' भाव यह कि जब आप उसे शत्रु-रहित राजा बनावेंगे, तब वह आपका कार्य करने के योग्य होगा। प्रश्न- अभी श्रीरामजी ने 'वैदेही' मात्र कहा था, सीता नाम हनुमानजी ने कैसे जाना? इसका समाधान यह है कि इन्होंने श्रीनारदजी से श्रीरामजी का चरित सुना है। ऊपर 'प्रभु पहिचानि···' मे रामाज्ञा प्रश्न ४।४।१ का प्रमाण देखिये। 'जहँ-तहँ' अर्थात् चारों ओर सर्वत्र। 'कोटि' शब्द यहाँ अनन्तवाची है।

(४) 'येहि बिधि सकल-कथा समुझाई।'—श्रीरामजी ने कहा था—"कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।" उत्तर देकर उपसंहार में कहते है—'येहि बिधि सकल···'। 'समुझाई'—क्योंकि श्रीरामजी ने ही बुझाकर कहने को कहा था। पुनः व्यवहार दोनों ओर से स्पष्ट चाहिये। दोनो मे मैत्री करानी है, इसलिये दोनों के कर्त्तव्य स्पष्ट कह दिये कि आप उन्हें शत्रु रहित कर दें और वे आपकी स्त्री की खोज करावें।

'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'—श्रीरामजी को पैदल चलते देखकर श्रीहनुमानजी को बड़ा दुःख हुआ था, यथा—'कठिन भूमि · मृदुल मनोहर ··' पर कहा गया था, इसीसे यहाँ दोनों जनों को पीठ पर चढ़ा लिया। वानर-रूप मे है, पैरों से पहाड़ पर चढ़ेंगे, यथा—"भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपिकुञ्जरः॥" (वाल्मी० ४।४।३४)।

पीठ पर चढ़ाया कि देखते ही श्रीसुग्रीवजी जान लेंगे कि सुहृद् है। पीठ पर आगे श्रीरामजी और पीछे श्रीलक्ष्मणजी है।

जब सुग्रीव राम कहँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥६॥
सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज-सहित रघुनाथा॥७॥
कपि कर मन बिचार येहि रीती। करिहहि बिधि मो सन ये प्रीती॥८॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने जब श्रीरामजी को देखा, तब उन्होंने अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना॥६॥ वे श्रीरामजी के चरणों में सिर नवाकर उनसे आनन्द-पूर्वक मिले। श्रीरघुनाथजी (भी) भाई के साथ उनसे गले लगकर मिले॥७॥ वानर श्रीसुग्रीवजी इस रीति से अपने मन में विचार करते है कि हे विधि!

क्या ये मुझसे प्रीति करेंगे ? अर्थात् मैं इनकी प्रीति (मित्रता) के योग्य नहीं हूँ, क्योंकि मैं दीन वानर और ये समर्थ मनुष्य हैं ॥८॥

विशेष—(१) 'जब सुग्रीव राम कहँ देखा ।···'—प्रभु के दर्शनों से उनके प्रताप में प्रतीति हुई और ऐश्वर्य समझ इनसे अपने भावी कल्याण का होना मानकर अपने जन्म को अत्यन्त धन्य माना। श्रीरामजी को ही देखा, क्योंकि ये प्रधान है, इसलिये आगे है और श्रीलक्ष्मणजी पीछे है।

(२) 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा ।'—श्रीहनुमानजी ने कहा था—'सो श्रीसुग्रीव दास तव अहई ।' तदनुसार श्रीसुग्रीवजी ने चरणों में मस्तक लगाकर (अर्थात् साष्टांग) प्रणाम किया। केवल सिर झुकाना ही होता तो 'पद' शब्द न रहता, यथा—"माथ नाइ पूछत अब भयऊ।" (दो० १), "नाइ सीस करि बिनय बहूता।" (सुं० दो० २३)। पुनः श्रीरामजी के लिये उन्होंने कहा था—"तेहि सन नाथ मयत्री कीजै।" तदनुसार प्रभु भाई-सहित श्रीसुग्रीवजी से मित्र-भाव से गले लगकर मिले, यथा—'भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा।' कहा है। 'सादर' का भाव यह कि श्रीसुग्रीवजी के मन से पूर्व की शंकाएँ जाती रहीं, पुनः कुछ फल-फूल आदि लेकर भी मिले।

(३) 'कपि कर मन बिचार ·'—श्रीरामजी के मन का विचार पहले से था, श्रीशबरीजी ने ही कह रक्खा था, यथा—"तहँ होइहि सुग्रीव मिताई।" (अर० दो० ३५), पुनः श्रीहनुमानजी के कहने से भी, यथा—"तेहि सन नाथ मयत्रा कीजे।" इसपर श्रीसुग्रीवजी के मन में अब विचार हो रहा है, भाव यह कि दोनों ओर से प्रीति की स्फूर्ति हुई, क्योंकि पारस्परिक अभिलाषा से प्रीति दृढ़ होती है। 'करिहहि बिधि···'—प्रीति करने के लिये ब्रह्मा को मना रहे है, क्योंकि संयोग-वियोग आदि के विधान सबकी बुद्धि के देवता ब्रह्मा के द्वारा होते है, तथा—"तन्मेवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो। यस्त्वमिच्छसि सौहार्दं वानरेण मया सह ॥" (वाल्मी० ४।५।१०), अर्थात् मुझ वानर से आप मैत्री करना चाहते है, यही मेरा सत्कार है और उत्तम लाभ है।

दोहा—तब हनुमंत उभय दिसि, की सब कथा सुनाइ।
पावक साखी देइ करि, जोरी प्रीति दृढ़ाइ ॥४॥

कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाखा ॥१॥

अर्थ—तब श्रीहनुमानजी ने दोनों ओर की सारी कथाएँ सुनाईं और अग्नि को साक्षी देकर दोनों की प्रीति दृढ़ करके जोड़ दी, अर्थात् दोनों ओर से दृढ़ प्रतिज्ञा-पूर्वक प्रीति हुई ॥४॥ दोनों ने (परस्पर) प्रीति की, कुछ अन्तर नहीं रक्खा, तब श्रीलक्ष्मणजी ने सारा श्रीरामचरित कह सुनाया ॥१॥

विशेष—(१) 'तब'—जब दोनों की उत्कृष्ट इच्छा देखी। दोनों ओर की कथा सुनाने का प्रयोजन यह कि जिससे दोनों के कर्त्तव्य पहले से निश्चित रहें कि किसे क्या करना होगा। श्रीरामजी की ओर से कहा—"ये श्रीरामजी श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र है, अजेय और सत्य-सन्ध है, पिता की आज्ञा से वन में आये है, वन में इनकी स्त्री को रावण ने हर लिया है, उसीको ढूँढ़ते हुए यहाँ आये हैं, आप (सुग्रीव)- को इनकी स्त्री का पता लगाना होगा।" (वाल्मी० ४।५।१-७)। श्रीसुग्रीव की ओर से कहा—"सुग्रीव को इनके भाई बालि ने राज्य से हटा दिया है, बालि इनसे शत्रुता रखता है, उसने इनकी स्त्री भी हर ली है, इससे भागे-भागे फिरते है। ये सूर्य-पुत्र श्रीसुग्रीवजी श्रीसीताजी की खोज में आपकी सहायता करेंगे। आपको इनकी सहायता करनी होगी।" (वाल्मी० ४।४।२७ २८)।

(२) 'पावक साखी देइ करि'—"श्रीहनुमानजी ने लकड़ी रगड़कर अग्नि प्रकट किया, वह बीच में रख दिया गया, उसकी पुष्प आदि से पूजा की गई। फिर श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी ने उस जलते हुए

अग्नि की प्रदक्षिणा की। इस प्रकार दोनों आपस में मित्र बन गये और दोनों प्रसन्न हुए। एक-दूसरे को देखते हुए तृप्त नहीं होते। 'आप मेरे मित्र है, हृदय से प्रिय हैं, हम दोनों के दुःख-सुख समान हैं।' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा।" (वाल्मी० ४।५।१४।१७), तथा—"रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत।" (वाल्मी० ५।३५।५१), अर्थात् हे देवि! इस प्रकार श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी की एकता (मैत्री) हुई। यह श्रीहनुमानजी ने कहा है। अग्नि के समक्ष ही दोनों ने एक-दूसरे की उक्त सहायता करने की दृढ़ प्रतिज्ञा की, यथा—"त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते।" (वाल्मी० ४।२९।२२), अग्नि को साक्षी देकर प्रीति जोड़ने की उस समय रीति थी, यथा—"अर्हिसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ।" (वाल्मी० ७।३३।१८), अर्थात् अग्नि की साक्षी देकर दोनों (रावण और राजा अर्जुन) ने अहिसक मैत्री स्थापित की, तथा—"त्वया सह चिरं सख्यं सुस्निग्धं पावकाग्रतः॥" (वाल्मी० ७।३४।४०), यह रावण ने बालि से कहा है कि मैं अग्नि को साक्षी देकर स्नेह-पूर्ण मैत्री सदा के लिये चाहता हूँ।

अग्नि की साक्षी होने का प्रयोजन यह है कि मित्रता वाक्य-प्रतिज्ञा-द्वारा की जाती है। वाक् के देवता अग्नि है और सबके हृदय की गति भी जानते है, क्योंकि सबके हृदय में भी बसते हैं, यथा—"तौ कृसानु सब के गति जाना।" (लं० दो० १०७)। अतः, प्रतिज्ञा के अन्यथा करनेवाले को वे भस्म कर डालने का दण्ड दें।

(३) 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।'—'बीच रखना'—भेद रखना, छिपाव रखना—यह मुहावरा है। कुछ भेद न रक्खा, क्योंकि भेद रहने से विश्वास नहीं होता और विश्वास बिना प्रीति दृढ़ नहीं होती। यही भाव उपर्युक्त 'राम सुग्रीवयोरैक्यम्' का भी है। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी के सब चरित कहे। श्रीहनुमानजी ने दोनों ओर की तत्कालीन ही कथा कही थी, जिसमें दोनों की स्त्री-सम्बन्धी ही वार्ता थी, इससे वहाँ 'कथा' स्त्रीलिंग के रूप में कही गई और यहाँ 'चरित' इस पुँल्लिंग प्रयोग से जनाते है कि श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामजी की पुरुषार्थ-सम्बन्धी कथाएँ कहीं—ताटका, सुबाहु, मारीच, विराध, कबन्ध, खर-दूषण आदि के वध के चरित कहे, जिनसे श्रीरामजी में श्रीसुग्रीवजी का विश्वास हो। मैत्री में विश्वास परमावश्यक है, यथा—"सुत को प्रतीति मीत की ···" (वि० २६८), तथा—"तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते।" (महा० शान्ति० १३९।९६), अर्थात् जिसपर विश्वास किया जाय, वही अपना मित्र है और जहाँ जीविका-निर्वाह हो, वही स्वदेश है। अपनी गुप्त बाते कहना और मित्र की पूछना नीति भी है, यथा—"ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥" (भर्तृहरि-शतक), अर्थात् देना, लेना, गुह्य कहना और पूछना तथा भोजन कराना और करना—प्रीति के ये छः चिह्न है।

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी॥२॥
मंत्रिन्ह-सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥३॥
गगन-पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥४॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने अपने नेत्रों में जल भरकर कहा—हे नाथ! श्रीमिथिलेश-कुमारीजी मिलेंगी॥२॥ मै यहाँ पर एक बार मन्त्रियों के साथ बैठा हुआ (कुछ) विचार कर रहा था॥३॥ अन्य के एवं शत्रु के वश में पड़ी बहुत विलाप करती हुई आकाश मार्ग से जाती (श्रीजानकीजी को) मैंने देखा है॥४॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव ···'—'नयन भरि बारी'—मित्र के दुःख मे दुखी हुए, स्त्री-विरह इनपर भी है, इससे वियोग-दुःख अच्छी तरह जानते है। कहा भी है—"जे न मित्र दुख होहि दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी॥" (दो० ६), 'मिलिहि'—यह इससे जाना कि श्रीसीताजी ने हमको देखकर सहि-

दानी डाल दी है और दैवात् श्रीरामजी भी आ गये, तो कार्य होने की सम्भावना है। श्रीलक्ष्मणजी ने श्रीरामचरित कहते हुए धनुर्भंग और श्रीमैथिलीजी का ब्याह आदि सब कहा था, इसीसे 'मिथिलेश-कुमारी' ऐसा श्रीसुग्रीवजी ने कहा है। यह नाम-कथन भी साभिप्राय है। भाव यह कि वे, पृथ्वी भर मथने पर मिलेंगी, हम उनके लिये पृथ्वी-भर मथ डालेंगे और दुष्टों का मान मथकर उन्हें ले आवेंगे।

(२) 'मंत्रिन्ह-सहित इहाँ···'—'इहाँ' इस पद से देश का निश्चय किया कि इसी जगह की बात है। 'एक बारा' इससे काल कहा, किन्तु इसका स्मरण नहीं है कि कौन दिन था। आगे वस्तु भी कहेंगे, यथा—'हमहि देखि दीन्हें पट डारी।' इस तरह देश, काल और वस्तु तीनों से परिचय दिया। 'करत बिचारा'—क्या मुझे आयु-भर दुःख ही भोगना पड़ेगा? न जाने, भगवान् मेरा दुःख कब छुड़ावेंगे, इत्यादि।

(३) 'परबस परी बहुत बिलपाता।', यथा—"लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥" (अर० दो० ३०)। 'पर' इस शब्द का अर्थ यहाँ अन्य और शत्रु का है, यथा—"परो दूरान्यवाची स्यात्परोऽरिपरमात्मनोः" (वैजयन्ती कोश)।

राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी॥५॥
माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥६॥

अर्थ—वे राम! राम!! हा राम!!! ऐसा पुकारती जाती थीं, हमलोगों को देखकर उन्होंने अपना वस्त्र गिरा दिया॥५॥ (यह सुनकर) श्रीरामजी ने उसे तुरत माँगा और तुरत ही श्रीसुग्रीवजी ने (लाकर) दिया, (उस) वस्त्र को हृदय से लगाकर श्रीरामजी ने बड़ा शोच किया॥६॥

विशेष—(१) 'राम राम हा राम ···'—इस तरह रोने का प्रयोजन यह कि सुननेवाले जान जायँ कि ये श्रीरामजी की पत्नी हैं और तब वे मुझको खोजते हुए श्रीरामजी को सन्देशा कहें। वस्त्र भी गिराया कि यह चिह्न दें। सामान्यतया पति का नाम लेना निषिद्ध है, यथा—"आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिक्रपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥" यह स्मृति का वचन है कि कल्याण चाहनेवाला इनके नाम न ले, यह उक्ति सामान्य दशा के लिये है, यहाँ तो श्रीसीताजी आपद्दशा में हैं। इससे आत्मरक्षार्थ पति का नाम ले-ले रोती थीं, यथा—"क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च भामिनी।··· तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात्।" (वाल्मी० ४।५८।१६-१८), ये सम्पाति के वचन हैं कि राम-राम कहने से हम उन्हें सीता मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि परिचय कराने के लिये उन्होंने नाम लिया है, यही सुग्रीवजी ने भी इसी प्रसंग पर कहा है, यथा—"अनुमानात्तु जानामि मैथिली सा न संशयः।·· क्रोशन्ती राम रामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।" (वाल्मी० ४।६।९-१०), इसपर अर० दो० २९ 'रटति रहति हरिनाम' यह भी देखिये। कुछ लोग 'राम राम हा राम' यह सुग्रीव का पुकारना अर्थ करते हैं, पर प्रमाणों से उक्तार्थ ही संगत जान पड़ता है।

(२) 'माँगा राम तुरत तेहि दीन्हा।'—'तुरत' यह दीपदेहली है, श्रीरामजी ने तुरत माँगा और सुग्रीवजी ने तुरत लाकर दिया, यथा—"तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्। आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलम्बसे॥ एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्। प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रियकाम्यया॥ उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च। इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः॥" (वाल्मी० ४।६।१३-१५), अर्थात् श्रीरामजी ने शीघ्र माँगा और श्रीसुग्रीवजी ने शीघ्र ही लाकर दिखाया। 'पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।'—शोच तो पहले से ही था, किन्तु प्रिया के चिह्न पाने से अति शोच हो गया, यथा—"हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत् क्षितौ।" (वाल्मी० ४।६।१७), अर्थात् हा प्रिये! ऐसा कहकर रोते हुए श्रीरामजी पृथ्वी पर गिर पड़े, धैर्य छूट गया, तथा—"भूषन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन कंप पुलक

तनु, नीरज नयन नीर भरे प्रिय के ॥ ···" (गी० कि० १), यह पूरा पद पढ़ने योग्य है, विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखा गया ।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥७॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥८॥

दोहा—सखा-बचन सुनि हरषे, कृपासिंधु बलसींव ।
कारन कवन बसहु बन, मोहि कहहु सुग्रीव ॥५॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि हे श्रीरघुवीर ! सुनिये, आप शोच का त्याग करें और मन में धैर्य रक्खें ॥७॥ सब प्रकार मैं आपकी सेवा करूँगा, जिससे आपको श्रीजानकीजी आकर मिलें ॥८॥ कृपा के सागर, बल की सीमा (सबसे बली) श्रीरामजी मित्र के बचन सुनकर हर्षित हुए (और बोले कि) हे सुग्रीव ! तुम किस कारण बन में बसते हो, हमसे कहो ॥५॥

विशेष—(१) "सुनहु रघुबीरा ।'—वीर कहकर सूचित करते हैं कि आपको अधीर न होन चाहिये, यथा—"बीरु अधीर न होहि ।" (अ० दो० १९१), शोच करते रहने पर धैर्य नहीं रहता, इसलिये शोच छोड़िये और धैर्य धारण कीजिये । पुनः 'रघुबीर' इस पद से वीरता सूचित करते हैं, यथा—"कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ।" (बा० दो० २८३), आप तो उस कुल में परम श्रेष्ठ हैं । अतः, आपको अपने पुरुषार्थ का भरोसा करना चाहिये । शोच वीर रस का नाशक है । अतः, इसे त्यागिये और धैर्य वीरता-वर्द्धक है, इसका आश्रयण कीजिये, तब आप शत्रु को जीतेंगे ।

इस अर्द्धाली में वाल्मी० ४।७।५–१३ के सब भाव आ गये हैं ।

(२) 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । ···'—यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें सखा बनाया है, तथापि श्रीरामजी के गुणों से वश होकर श्रीसुग्रीवजी अपनेको दास ही मानते हैं, इन्होंने ही रावण से कहा है, यथा—"लोकनाथस्य रामस्य सम्वादासोऽस्मि राक्षस ।" (वाल्मी० ६।४०।१०), इसीसे सहायता पद न कहकर 'सेवकाई' इस पद का प्रयोग करते हैं । 'सब प्रकार'—अर्थात् श्रीसीताजी का पता लगाना, शत्रु से लड़ना, श्रीजानकीजी को ले आकर आपको सौंपना । 'आई'—आपको जाना भी न पड़ेगा, यथा—"सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम । करिष्यामि तथा यत्न यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥ रावणं सगणं हत्वा···" (वाल्मी ४।७।३–४) । श्रीसुग्रीवजी ने अपना दुःख भूलकर श्रीरामजी की सेवा करने की प्रतिज्ञा की, वैसे श्रीरामजी भी अपना दुःख भूलकर श्रीसुग्रीवजी के दुःख-निवारण के लिये उन्हें पूछते और प्रतिज्ञा करते हैं, यथा—"तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान-प्रिया बिसराई ।" (वि० १६४) ।

(३) 'सखा-बचन सुनि हरषे···'—जो दुःख में सहायता करे, वह सखा है—'सहायं ख्यातीति सखा ।' श्रीसुग्रीवजी ने वैसा ही कहा है, इससे हर्षित हुए । 'कृपा-सिंधु बल-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर कृपा करेंगे और बल से उनके बलशाली शत्रु को मारेंगे । इसीलिये प्रश्न कर रहे हैं—"कारन कवन बसहु बन···" यह पूछ रहे हैं, यद्यपि श्रीहनुमानजी ने 'उभय दिसि की कथा' में उन्हें कहा है, तथापि श्रीरामजी श्रीसुग्रीवजी से कहलाते हैं कि वह स्वयं बालि का अपराध कहे, तब हम उसे दंड दें—यह नीति है ।

नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई । प्रीति रही कछु बरनि न जाई ॥१॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ । आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ ॥२॥
अर्द्ध राति पुर-द्वार पुकारा । बाली रिपु-बल सहै न पारा ॥३॥

अर्थ—(श्रीसुग्रीवजी ने कहा—) हे नाथ ! बालि और मैं दोनों भाई-भाई हूँ, हमदोनों भाइयों में ऐसी

प्रीति थी कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥१॥ हे प्रभो ! मय दानव का पुत्र, जिसका मायावी नाम था, वह एक बार हमारे ग्राम किष्किन्धा में आया ॥२॥ और उसने आधी रात के समय मेरे पुर के द्वार (फाटक) पर (आकर) पुकारा (युद्ध के लिये ललकारा), बालि शत्रु के बल को नहीं सह सका ॥३॥

विशेष—(१) 'प्रीति रही'—अर्थात् पहले थी, अब प्रीति नहीं है। बालि का नाम प्रथम देकर उसे बड़ा भाई जनाया। 'मायावी तेहि नाऊँ।'—वह माया से युक्त था और इसीसे उसका नाम भी मायावी था। 'हमरे गाऊँ'—जब वह आया, तब श्रीसुग्रीवजी किष्किन्धा में ही रहते थे, इससे वही उनका ग्राम था। 'अर्द्धरात पुर-द्वार ·'—रात में राक्षसों का बल बढ़ जाता है, यथा—"जातुधान प्रदोष बल पाई।" (लं० दो० ४४), "पाइ प्रदोष हरष दसकंधर।" (लं० दो० ९६)। अतः, आधी रात में पूरा बली होकर आया, उसने पुर के द्वार पर से ही पुकारा। डर से भीतर न आ सका। द्वार पर खड़ा रहा कि जो निकलेगा उसे मारूँगा और बालि के निकलने पर युक्ति से लड़ूँगा, उसे प्रबल जानूँगा, तो भाग जाऊँगा। 'पुकारा', यथा—"नर्दतिस्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे।" (वाल्मी० ४।९।५), अर्थात् क्रोध-पूर्वक बालि को युद्ध के लिये ललकारता हुआ गरजने लगा। रात में इससे भी आया कि वानर दिन के ही शूर है, रात में इन्हें देख नहीं पड़ता। अतः, भागने में मुझे न पावेगा। 'बाली रिपु-बल सहै न पारा', यथा—"स हि दुर्मर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि॥" (वाल्मी० ४।११।२३), अर्थात् वह (बालि) युद्ध में बड़ा निपुण है, उसे किसीकी ललकार सुहाती ही नहीं।

बालि और सुग्रीव

"एक समय सुमेरु पर्वत पर योगाभ्यास करते हुए ब्रह्मा के अश्रु-बिन्दु से एक वानर उत्पन्न हुआ। उसका नाम ऋक्षराज था। एक बार वह पानी में अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा और गिरते ही एक सुन्दर स्त्री बन गया। उस स्त्री से इन्द्र के अंश से बालि और सूर्य के अंश से सुग्रीव उत्पन्न हुए। पीछे उस (ऋक्षराज) ने उस स्त्री-रूप को छोड़ फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया और अपने दोनों पुत्रों को लेकर ब्रह्माजी के पास गये। ब्रह्माजी ने उन्हें किष्किन्धा में जाकर राज्य करने की आज्ञा दी। विश्वामित्र ने यहाँ मनोरमपुरी का निर्माण किया था। बालि उसी नगरी में जाकर वानरों का राजा होकर राज्य करने लगा। तीनों लोकों में इन दोनों भाइयों के समान वीर नहीं था।" (विश्वकोष), वाल्मी० ४।५७। ५ ६ में भी सूक्ष्म परिचय है।

"बालि महाबली था, वह चारों दिशाओं के समुद्रों पर नित्य सन्ध्या करने के लिये जाता और लौट आता था। एक बार रावण छल से उसे जीतने गया, किन्तु, बालि ने उसे पकड़कर काँख में दबा लिया और शेष समुद्रों की सन्ध्या करके किष्किन्धा में लाकर छोड़ा। रावण ने हार मानकर सन्धि कर ली।" (वाल्मी० ७।३४)। "गोलभ नाम के गन्धर्व से इसने १५ वर्ष तक युद्ध किया और उसे मार डाला।"—(वाल्मी० ४।२२।२७–२९)।

मायावी और दुन्दुभी

"मय एक दानव था, वह महा तेजस्वी, मायावी और शिल्प-विद्या में निपुण था। जब वह हेमा अप्सरा में आसक्त हुआ, तब इन्द्र ने मय को वज्र से मार डाला।" (वाल्मी० ४।५१)। 'मय सुत'—उसी मय के पुत्र मायावी और दुन्दुभी हुए। "दुन्दुभी राक्षस भैंसे के आकार का था, उसे हजार हाथियों का बल था। वह सर्वत्र फिरता हुआ बालि से लड़ने आया। वाद-विवाद कर युद्ध किया, बालि ने उसे मार डाला और उठाकर वेग से उसके शव को एक योजन पर फेंक दिया। उसके रक्त-बिन्दु मतंग मुनि के आश्रम में गिरे। अतः, आश्रम भ्रष्ट हो जाने पर मुनि ने शाप दिया कि शव का फेंकनेवाला यदि मेरे

आश्रम के एक योजन भीतर आवेगा, तो वह अवश्य मरेगा। उस बालि के पक्ष का कोई भी वानर यहाँ आवेगा, तो मेरे देखते ही वह पत्थर हो जायगा। बालि अनुग्रह कराने के लिये मुनि के पास आया, पर उन्होंने नहीं सुना।" (वाल्मी० ४।११), "दुन्दुभी के मारे जाने पर उसका ज्येष्ठ भाई मायावी (बालि से बदला लेने की घात में) था और बालि से उसका, स्त्री के कारण भी वैर हो गया था।" (वाल्मी० ४।९)।

धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गयउँ बंधु-सँग लागा ॥४॥
गिरिबर-गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई ॥५॥
परखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आबउँ तब जानेसु मारा ॥६॥
मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर-धार तहँ भारी ॥७॥

अर्थ—उसे देखकर बालि दौड़ा और इसे देखकर वह भागा, मैं भी भाई (बालि) के संग लगा हुआ चला गया ॥४॥ वह (मायावी) एक बड़े भारी पर्वत की बड़ी गुफा में घुस गया, तब बालि ने मुझे समझाकर कहा ॥५॥ कि पन्द्रह दिन तक मेरी राह देखना (इन्तिजारी करना), मैं उतने दिनों में नहीं आया, तो जान लेना कि बालि मारा गया, (आशय यह कि तब तुम यहाँ से चले जाना) ॥६॥ हे खरारि! मैं वहाँ एक महीने भर तक रहा, तब उस (गुफा) से रक्त की भारी धारा निकली ॥७॥

विशेष—(१) 'धावा बालि देखि···'—बालि बिना कुछ विचारे रात में ही दौड़ पड़ा, क्योंकि—"वाली रिपु बल सहै न पारा।" कहा ही गया है। वह मायावी देखते ही भागा, उसका युद्ध का उत्साह न रह गया। 'मैं पुनि'—'पुनि' तत्पश्चात् के अर्थ में है। इसे मैं के पहले लेना चाहिये, यथा—"मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।" (अ० दो० ५८), 'मैं पुनि करि प्रनाम पितु बानी।" (अ० दो० ६१), 'गयउँ बंधु-सँग लागा'—बालि ने मुझे नहीं कहा था, मैं ही स्नेहवश साथ लग गया, यथा—"ततोऽहमपि सौहार्दान्निःसृतो वालिना सह ॥" (वाल्मी० ४।९।८), यह श्रीसुग्रीवजी की प्रीति है। पुनः आगे बालि ने इन्हें गुफा में नहीं घुसने दिया, स्वयं घुसा, यह उसकी प्रीति है, इस तरह उपर्युक्त 'प्रीति रही कछु बरनि न जाई।'—वह यहाँ देख पड़ी।

(२) 'गिरिबर-गुहा पैठ सो ···'—हम दोनों को देखकर वह भागा और उसी भय से बिल में भी पैठ गया, यथा—"स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्। असुरो जातसन्त्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम् ॥" (वाल्मी० ४।९।९), गुफा में घुसने का यह भी कारण हो सकता है कि वहाँ उसके और भी साथी थे, यथा—"निहतश्च मया सद्यः स सर्वैः सह बन्धुभिः ॥" (वाल्मी० ४।१०।२०), इससे भी कि वानर अँधेरे में न जा सकेगा, जायगा भी, तो साथियों के साथ मैं इसे वहाँ घेरकर मार दूँगा। 'कहा बुझाई'—बालि ने समझाकर कहा कि तुम यहीं पर रहो, ऐसा न हो कि इसके कुछ साथी बाहर से बिल को घेर लें, वा इसे मूँद ही दें, इसलिये तुम यहीं पर सावधान होकर रहो, यथा—"इह तिष्ठाग्र सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः। यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम् ॥" (वाल्मी० ४।९।१३), अर्थात् तुम सावधान होकर यहाँ रहो, जबतक मैं शत्रु को मारता हूँ। अथवा, वहाँ इसके और साथी हों और माया करें तब हम दोनों भाई न मारे जायँ, यह भी समझाना हो सकता है। उपर्युक्त 'निहतश्च ··सहबन्धुभिः' से यह अनुमान भी ठीक ही था।

(३) 'परखेसु मोहि एक पखवारा।···'—'पखवारा'=(पक्ष+वार) १५ दिन। बालि ने अपने अनुमान से ऐसा ही निश्चय किया कि मैं उसे १५ दिन में मार दूँगा। पुनः स्नेह से भी श्रीसुग्रीवजी को अधिक दिन ठहरने को नहीं कहा। 'मास दिवस तहँ रहेउँ'—यह श्रीसुग्रीवजी की प्रीति है कि ये

उसकी नियत अवधि से दूने दिनों तक वहाँ रहे। 'खगारी'—आप खर (दुष्ट) के शत्रु हैं, मेरी इसमें दुष्टता नहीं है, दुष्टता बालि की है। कोई मास दिवस के अर्थ १२ दिन का करते हैं, पर इसमें तो श्रीसुग्रीव-जी ही दोषी होते हैं, और यहाँ वे अपनी सफाई और बालि के दोष दिखा रहे हैं। अतः, उपर्युक्त भाव ही संगत है। इस ग्रन्थ में 'मास दिवस' सर्वत्र ३० दिन के ही अर्थ में आया है। 'रुधिर-धार तहँ भारी'—क्योंकि विशालकाय मायावी अपने साथियों के साथ मारा गया; इससे बहुत रुधिर बहा, यथा—"तस्यैव च प्रवृत्तेन रुधिरौघेण तद्बिलम्। पूर्णमासीदुदुराक्रामं स्तनतस्तस्य भूतले।" (वाल्मी० ४।१०।२१), अर्थात् वह पृथ्वी पर गिर कर गरज रहा था, उसके शरीर से रुधिर की धार निकली और वह बिल भर गया, उससे भूमि पर चलना कठिन हो गया।

बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥ ८॥
मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥ ९॥
बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा॥१०॥
रिपु-सम-मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी॥११॥
ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥१२॥

अर्थ—उसने बालि को मार डाला, मुझे भी अब आकर मारेगा, (यह विचार कर) गुहा के दरवाजे पर एक शिला लगाकर मैं भाग चला (और किष्किन्धा आया)॥८॥ मन्त्रियों ने पुर को बिना स्वामी (राजा) का देखा, तो मुझे बरजोरी राज्य दिया॥९॥ बालि उस मायावी को मारकर घर आया, मुझे (राजगद्दी पर बैठा) देखकर उसने हृदय में बहुत बुरा माना॥१०॥ उसने मुझे शत्रु के समान (जोरों से) मारा और मेरा सर्वस्व (सब पदार्थ) तथा स्त्री—दोनों हर लिये॥११॥ हे रघुवीर! हे कृपालु! उसके डर से मैं समस्त लोकों में विह्वल होकर फिरता रहा॥१२॥

विशेष—(१) 'बालि हतेसि'—यह इससे जाना कि उसकी नियत अवधि से दूने दिन बीत गये और रुधिर प्रवाह के प्रथम असुरों के शब्द सुन पड़े, पर बालि के नहीं, यथा—"नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः। न रतस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः॥ अहं त्ववगतो बुद्ध्या चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्।" (वाल्मी० ४।९।१८-१९), 'मोहि मारिहि आईं'—जब उसने बालि को मार डाला, तब मैं उससे कब बच सकता हूँ? 'सिला देइ···'—भारी शिला डाल दी कि इसके उठाने में मायावी दब जायगा, वा उठा ही न सकेगा, यथा—"शिला पर्वतसङ्काशा बिलद्वारि मया कृता॥ अशक्तुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति।" (वाल्मी० ४।४६।७-८)।

'मंत्रिन्ह···बरिआईं', यथा—"बलादस्मिन्समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः॥ राजभावे नियुक्तोऽहं शून्यदेशाजिगीषया॥" (वाल्मी० ४।१०।१०-११), अर्थात् मन्त्रियों और पुरवासियों ने बलपूर्वक मुझे राजा बनाया है। इसलिये शून्य राज्य देखकर शत्रु न आक्रमण करे।

यहाँ तक सुग्रीवजी ने अपना निर्दोष होना कहा, आगे बालि के दोष कहते हैं—

(२) 'देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा।'—केवल सिंहासन पर बैठ जाने मात्र से जी में भेद न आता, क्योंकि उसने अवधि से दूने काल तक प्रतीक्षा की और इन्हें राज्य भी हठ से ही दिया गया था। पुनः बालि के राजा होने के साथ सुग्रीवजी युवराज पद पा चुके थे, यथा—"पित्र्ये पदे कृतो बाली सुग्रीवो बालिनः पदे॥" (वाल्मी० ७।३६।३८), इससे बालि के पश्चात् इनका राज्य पाने का अधिकार भी था ही। भेद इससे बढ़ाया कि इसने राज्य के लोभ ही से गुहा-द्वार पर शिला डाल दी कि बालि लौटने पर मार्ग न पावे और मैं उसका राज्य और उसकी रानी तारा को भी प्राप्त करूँ, यथा—"ततोऽहमागां किष्किन्धां

निराशस्तस्य जीविते ॥ राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह । मित्रेश्च सहितस्तस्य वसामि विगतज्वरः ॥" (वाल्मी० ४।४६।८-९), 'देखि मोहि'—देखते ही क्रोध में भर गया, लोगों से पूछ-ताछ भी नहीं की, यथा—"अभिषिक्तं तु मां दृष्ट्वा क्रोधात्संरक्तलोचनः ।" (वाल्मी० ४।९।२२), अर्थात् मुझे राज्याभिषिक्त देखकर क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गईं ।

(३) 'रिपु सम मोहिं ···'—बालि ने समझा कि यह मेरा मारा जाना चाहता था, इसीसे इसने बिलद्वार पर भारी शिला लगा दी थी कि बालि लौटने पर भी द्वार न पाकर एवं शिला न हटा सकने पर इसीमें मर जाय और मैं राज्य पा जाऊँ, यथा—"तत्रानेनास्मि संरुद्धो राज्यं मृगयतात्मनः । सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम् ॥" (वाल्मी० ४।१०।२५), अर्थात् स्वयं राज्य चाहनेवाले इस क्रूर सुग्रीव ने भ्रातृ-स्नेह भूलकर स्वयं राजा बनने के लिये मुझे बन्द कर दिया था । अतः, शत्रु है, इस बुद्धि से शत्रु की नाईं मारा । पुनः मेरा राज्य और सर्वस्व चाहता था, इससे सर्वस्व हर लिया और मेरे जीते-जी मेरी स्त्री तारा को ग्रहण किया, यह समझकर मेरी स्त्री को भी हर लिया, जो कि उसके लिये अग्राह्य थी, इसलिये 'अरु नारी' को सर्वस्व से पृथक् कहा । 'ताके भय रघुबीर कृपाला'—आप वीरता से उसे मारे और कृपाकर मेरा भय निवृत्त करें, यथा—"बालिनश्च भयात्तस्य सर्वलोकभयावह । कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात् ॥" (वाल्मी० ४।१०।३०), अर्थात् हे सर्व भयहारी ! आप बालि के डर से मेरी रक्षा कीजिये । 'सकल भुवन'—समस्त पृथ्वी के विभागों में, यथा—"तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान्सवनार्णवाम् ॥" (वाल्मी० ४।१०।२९), अर्थात् वन-सागर-सहित पृथ्वी-भर चारों दिशाओं की सीमा तक बालि ने पीछा नहीं छोड़ा । वाल्मी० ४।४६ में विस्तृत वर्णन है, जिस प्रकार बालि ने सर्वत्र इनका पीछा किया था ।

इहाँ सापबस आवत नाहीं । तदपि सभीत रहउँ मन माही ॥१३॥

अर्थ—यहाँ शापवश वह नहीं आता, तो भी मैं मन में (उससे) डरता रहता हूँ ॥१३॥

विशेष—जब कहीं भी बालि ने पीछा नहीं छोड़ा, तब श्रीहनुमानजी ने मुझे इस ऋष्यमूक पर ठहरने की सलाह दी और मतंग के शाप का भी स्मरण कराया, यथा—"ततो मां बुद्धिसम्पन्नो हनुमान्वाक्यमब्रवीत् । ··मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले । प्रविशेद्यदि वै वाली मूर्धास्य शतधा भवेत् ॥" (वाल्मी० ४।४६।२१-२२), 'तदपि सभीत ··'—स्वयं वह नहीं आ सकता, पर औरों को भेजा करता है, मेरे मारने के उपाय में लगा रहता है, यथा—"यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव । बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया ॥" (वाल्मी० ४।८।३४), अर्थात् उसने मेरे मारने के लिये बहुत वानर भेजे, मैंने उन सबों को मार डाला ।

श्रीसुग्रीवजी ने तन, धन और मन—इन तीनों के दुःख कहे—'रिपु सम मोहि मारेसि···'—में तन का, 'हरि लीन्हेसि सर्बस ··'—में धन का और 'सभीत रहउँ मन माही ।"—में मन का दुःख है ।

श्रीराम के प्रश्न—'कारन कवन बसहु बन' का उत्तर यहाँ तक सुग्रीवजी ने दिया । बालि का अपराध और अपना दुःख कहा । 'नाथ सैल पर···' से 'तदपि सभीत रहउँ···' तक 'सुग्रीव-मिताई' प्रसंग है ।

'बालि-प्रान-कर-भंग'-प्रकरण

सुनि सेवक-दुख दीनदयाला । फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला ॥१४॥

दोहा—सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान ॥६॥

अर्थ—सेवक (सुग्रीवजी) के दुःख को सुनकर दीन दयालु श्रीरघुनाथजी की दोनों विशाल (आजानु) भुजाएँ फड़क उठीं ॥१४॥ (श्रीरामजी ने कहा—) हे श्रीसुग्रीवजी ! सुनिये, मैं बालि को एक ही बाण से मारूँगा। ब्रह्मा और रुद्र की शरण जाने पर भी उसके प्राण नहीं बचेंगे ॥६॥

विशेष—(१) 'फरकि उठीं दोउ भुजा···'—आश्रित का दुःख-निवारण करने के लिये दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं कि कब उसे मारें। 'दीनदयाला' कहकर साथ ही भुजाओं का फड़कना कहा गया, इससे दीन पर करुणा का पूर्ण उदय हो आया। श्रीहनुमानजी ने कहा भी था—"दीन जानि तेहि अभय करीजै।" यहाँ श्रीसुग्रीवजी ने अपने मुख से अपना दुःख सुनाते हुए दीनता कही—"तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।" इसी पर करुणा, का उदय हुआ। करुणा, यथा—"आश्रितात्यग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्। कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्त्तिनिवारणम्। इतीच्छादुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणं त्वरा ॥ परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्याख्यगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः ॥ (श्रीभगवद्गुण दर्पण), अर्थात् आश्रित के दुःख-रूपी अग्नि से जिसका हृदय सोने की तरह पिघल जाय, चित्त अत्यन्त कोमल हो जाय, अश्रुपात आदि होने लगें। आश्रित के दुःख का निवारण कैसे करूँ ? कब करूँ ? इस इच्छा से आश्रित के दुःख से दुखी होकर आर्त्तों के रक्षार्थ त्वरा का होना (भुजा आदि का फड़कना), दूसरे के दुःख के अनुसन्धान से समर्थ भगवान् का विह्वल हो जाना, करुणा-रूप गुण है, यह आर्त्तों का भयनिवारक है।

यहाँ करुणा के पूर्ण अंग हैं—श्रीसुग्रीवजी आश्रित हैं, यह 'जोरी प्रीति दृढ़ाय' इस प्रसंग से स्पष्ट है, यथा—'सेाचते यदि मे सख्यं बाहुरेष प्रसारितः। गृह्यता पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥···संग्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥" (वाल्मी० ४।५।११-१२), अर्थात् श्रीसुग्रीवजी ने अपना हाथ फैलाया और श्रीरामजी ने उनका हाथ पकड़ा। जैसे पाणि-ग्रहण से भार्या का रक्षण-भार भर्त्ता पर हो जाता है, वैसे ही अब श्रीसुग्रीवजी के रक्षक श्रीरामजी हुए। उनकी रक्षा के लिये अत्यन्त त्वरा से श्रीरामजी की दोनों भुजाएँ भी फड़क उठीं, क्योंकि दोनों के द्वारा धनुष-बाण से बालि को मारना है। श्रीसुग्रीवजी ने अपना भय भी कहा, इसपर श्रीरामजी विह्वल हो गये, बाँहें फड़कने लगीं, बस, आपने सहसा प्रतिज्ञा ही कर ली कि मैं उसे एक ही बाण में मारूँगा। विह्वलता में भविष्य को न सोचा कि इसमें मुझे गाली सुननी होगी, यथा—"मारेउ मोहि ब्याध की नाईं।" (दो० ८), इसका उत्तर आपसे न बन पड़ा, तभी तो कहा गया है, यथा—"सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥" (वि० १६६)।

यदि विह्वलता न होती, तो करुण गुण की पूर्णता ही न होती, परमात्मा में सब गुण पूर्ण होते हैं। अवतार लेकर आप अपने इन कृपा, सुशीलता, सौहार्द्य, करुण आदि गुणों को प्रकाशित करते हैं। इसमें कष्ट भी सहने पड़ते हैं, यथा—"राम भगत-हित नर-तनु-धारी। सहि सकट किय साधु सुखारी ॥" (बा० दो० २३), वैसे ही इस गुण के प्रकट करने में गाली भी सहनी पड़ी। यह बालि-वध-औचित्य पर उत्तम समाधान है। करुण गुण की पूर्णता में सगुण प्रभु की शोभा है।

बालि को समझाते हुए भी आपने उसका यही दोष कहा है, यथा—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहेसि अधम अभिमानी ॥" (कि० दो० ८), बस, फिर बालि ने इसे स्वीकार कर लिया यथा—"सुनहु राम ···"

(२) 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ···'—उक्त करुण गुण से अति शीघ्र आश्रित के दुःख निवारण करने के लिये एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा करते हैं, एक ही बाण से मारेंगे, भाव यह कि किञ्चित् भी विलम्ब न करेंगे। वा, श्रीसुग्रीवजी को अपना बल दिखा कर उनका विश्वास दृढ़ कराने के लिये एवं चरित्र-दूषक बालि को दण्ड देकर शुद्ध करने के उद्देश्य से भी एक ही बाण से वध की प्रतिज्ञा की, तथा—"यावत्तं

नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्। तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः ॥" (वाल्मी० ४।१०।३३), अर्थात् मेरी आँख के सामने आने तक ही बालि जीवे। आगे 'इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई ···' इसका विशेष भी देखिये। 'ब्रह्म रुद्र सरनागत···', यथा—जौ खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥" (लं० दो० २६), उदाहरण—"ब्रह्म धाम सिव-पुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही ॥" (अर० दो० १)। यहाँ ब्रह्म रुद्र ही कहे गये है, विष्णु नहीं, क्योंकि अभिन्नांश होने से वे श्रीरामजी से अपृथक् हैं। यहाँ वक्ता श्रीरामजी ही है। परन्तु भक्त श्रीलक्ष्मणजी ने इष्ट परत्व पर दृष्टि रखते हुए कहा है—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्नु अज ईस।" (सु० दो० ५६)। यदि कहा जाय कि वह तो श्रीरामजी का द्रोही नहीं है, उसपर आगे मित्र-धर्म कहते है जिससे मित्र-द्रोही को अपना द्रोही सिद्ध करेंगे। ऊपर लिखा गया कि सुग्रीवजी श्रीरामजी के शरणागत है। अतः, उनसे ऐक्य भाव को प्राप्त है—'पावक साखी देइ ···' का विशेष देखिये। इससे सुग्रीव का द्रोही श्रीरामजी का द्रोही है, यथा—"यस्तान्द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्ताननु स मामनु। ऐकात्म्यं मां गतं बिद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः ॥" (महा० उद्योग० ९१।२८), अर्थात् जो उन (पाण्डवों) से वैर करता है, वह मेरा शत्रु है, जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है, धर्मात्मा पाण्डवों से मै पृथक् नहीं हूँ। महा० वन० १८६।५७-५८ में पाण्डवों की कृष्ण शरणागति कही गई है, इससे उनके शत्रुओं को भगवान् ने अपना भी शत्रु कहा है।

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ॥१॥
निज दुख गिरि-सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु-समाना ॥२॥
जिन्हके असि मति सहज न आई। ते मठ कत हठि करत मिताई ॥३॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटइ अवगुनन्हि दुरावा ॥४॥

अर्थ—जो अपने मित्र के दुःख से दुखी नहीं होते, उन्हें देखने से (भी) भारी पाप होता है ॥१॥ पहाड़ के समान भारी अपने दुःखों को धूल के समान (अल्प) जानना चाहिये और मित्र का दुःख धूल के समान (थोड़ा) भी हो, तो उसे सुमेरु पर्वत के समान जानना चाहिये ॥२॥ जिनके (हृदय में) स्वाभाविक ही ऐसी बुद्धि नहीं है, वे मूर्ख क्यों हठ करके मित्रता करते है ? ॥३॥ (मित्र को) कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर चलाना चाहिये, उसके गुणों को प्रकट करना और अवगुणों को दूर करना चाहिये ॥४॥

विशेष—(१) 'बिलोकत पातक भारी।'—क्योंकि पापी के संसर्ग से भी पाप लगता है, यथा—"ब्रह्महा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥ महापातकिनस्त्वेते तत्संसर्गी च पञ्चमः ॥" (नारद पु० पूर्व० १५।२२-२३), तथा—"ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥" (मनु० ११।५४), अर्थात् इन ब्रह्महत्या, मद्य पान, चोरी और गुरुपत्नी-गमन आदि भारी-भारी पापों के समान ही इनके संसर्गी भी पापी होते हैं। देखने मात्र से भारी पाप लगता है, अर्थात् वे महापापी है। 'निज दुख गिरि-सम ···'—भाव यह कि जब तक अपने दुःखों को अल्प न मानेगा, तब तक मित्र के दुःख भारी न जान पड़ेंगे। इसके आदर्श श्रीरामजी ही है—राज्य छूटा, वनवास हुआ, राक्षस-द्वारा श्रीजानकीजी का हरण हुआ—इस तरह पर्वत के समान दुःखों को तृण के समान मानकर भुला दिया और श्रीसुग्रीवजी के दुःख को भारी मानकर शीघ्र ही दूर किया, यथा—"तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रान प्रिया बिसराई।" (वि० १६४)।

(२) सहज न आई'—जो बुद्धि स्वभावतः रहती है, वह सदा एकरस रहती है, वही 'सहज' है

और जो देखा-देखी एवं सिखाने से आती है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती। 'हठि'—शास्त्र मना करते हैं कि ऐसे लोग मित्रता न करें, तब भी मित्रता करके दोष के भागी बनते हैं, इसीसे शठ है।

मित्रता के दोष कहकर आगे मित्र के धर्म (गुण) कहते हैं—

(३) 'कुपथ निवारि'''—पहले कुपथ का त्याग होता है, तब सुपथ की बुद्धि होती है। वैसे ही कहा गया है। 'गुन प्रगटइ'''—शिक्षा-द्वारा उनमें गुणों का विकास करावे और अवगुण हों तो उन्हें दूर करने की शिक्षा दे एवं आग्रह करे, परलोक-हानि का भय दिखावे, इत्यादि लोक-परलोक सुधारना कहा। आगे उनसे वर्ताव की रीति कहते हैं।

देत-लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ॥५॥
बिपत काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र-गुन येहा ॥६॥
आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥७॥
जाकर चित अहि-गति-सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥८॥

अर्थ—देने-लेने के विषय की शंका मन में न रक्खे, अपने बल के अन्दाज-भर (पुरुषार्थ-भर) सदा ही हित करना चाहिये ॥५॥ विपत्ति के समय (सामान्य दशा से) सौगुना स्नेह करना चाहिये—वेद कहते हैं कि सन्त-मित्र (अच्छे मित्र) के लक्षण ये ही हैं ॥६॥ सामने (मुख पर) तो कोमल वचन बनाकर कहे, पीछे बुराई (हानि) करे और मन में कुटिलता रक्खे ॥७॥ (तथा) हे भाई! जिसका चित्त साँप की चाल के समान (टेढ़ा) है, ऐसे बुरे मित्र को त्याग देने में ही भलाई है ॥८॥

विशेष—(१) 'देत-लेत मन ''—अर्थात् अपना और मित्र का धन एक ही मानें, यथा—"तोर कोस गृह मोर सब, सत्य बचन सुनु भ्रात।" (लं० दो० ११६), यही प्रणय है—"प्रीति प्रनय बिनु'''" (अ० दो० २०)—देखिये, तथा—"रजतं वा सुवर्णं वा शुभान्याभरणानि च। अविभक्तानि साधूनामव-गच्छन्ति साधवः॥ आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा। निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा-गतिः॥" (वाल्मी० ४।८।७-८), अर्थात् (सुग्रीवजी ने श्रीरामजी से कहा है—) चाँदी-सोने के उत्तम भूषण सज्जन मित्र परस्पर बँटे हुए नहीं मानते। धनी हो या दरिद्र, दुखी हो या सुखी, निर्दोष हो या सदोष, मित्र ही मित्र का सहारा है। 'देत' शब्द प्रथम देकर सूचित करते हैं कि देने का विचार पहले रक्खे। 'बल, अनुमान'—बल से कम करने में कपट होगा और अधिक किसी आवेश से कर भी डालेगा तो पीछे पश्चात्ताप होगा और उसे दूषित मानने लग जायगा।

(२) 'बिपति काल कर'''—कहा भी है, यथा—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परखि-यहि चारी॥" (अर० दो० ४), तथा—"पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं च गूहति गुणान्प्रकटी करोति। आपद्गतं च न जहाति ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥" (भर्तृहरि नीति शतक ७३), तथा—"मित्रं मिन्देर्नन्दतेः प्रीयतेर्वा सन्त्रायतेर्मिनुतेर्मोदतेर्वा।" (महा० कर्ण० ४२।३१), अर्थात् जो आपत्तियों से बचावे, चित्त को प्रसन्न करे और सब प्रकार की सहायता करे—वह मित्र है। आगे कुमित्र के लक्षण कहते हैं—

(३) 'बनाई'—ऐसा बनाकर झूठ कहते हैं कि सत्य की प्रतीति हो। इनके मन, वचन और कर्म तीनों में कपट रहता है। 'मन कुटिलाई'—मे मन, 'आगे कह मृदु बचन बनाई।'—में वचन और 'पाछे अनहित'—में कर्म है। 'पाछे अनहित' में करना आदि क्रिया-सूचक शब्द गुप्त हैं, क्योंकि कुमित्र छिपाकर ही अहित करते भी हैं। 'परिहरेहि भलाई'—पहले उन्हें मित्रता करने से मना किया, यथा—'ते सठ कत हठि करत मिताई।' जो वे न मानें, उसपर कहते हैं कि उन्हें त्यागने ही से भलाई है, अन्यथा वे दुःख

देंगे, यथा—"कपटी मित्र सूल सम चारी।" आगे कहते ही हैं। 'चित अहि-गति-सम'—इनके मन, मति और चित्त तीनों की मलिनता कही गई—'मन कुटिलाई' 'असि मति सहज न आई।' 'जाकर चित अहि-गति-सम भाई।' सर्प सदा टेढ़ा ही चलता है, वैसे इनके चित्त में सदा कुटिलता ही रहती है। सर्प-गति देख पड़ती है, पर चित्त-गति नहीं दीखती। अतः, इनका त्याग ही कहा गया है।

सेवक सठ नृप कृपिन कुनारी। कपटी मित्र सूल-सम चारी॥ ६॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥१०॥

अर्थ—मूर्ख सेवक, कंजूस राजा, कुत्सित (कर्कशा) स्त्री और कपटी मित्र ये चारो शूल के समान (दुःख देनेवाले) हैं॥६॥ हे सखा! मेरे बल (भरोसे) पर तुम शोच का त्याग करो, मैं तुम्हारे कामों को सब प्रकार से सम्पन्न करूँगा॥१०॥

विशेष—(१) 'सेवक सठ नृप···', यथा—"अविधेयाभृत्यजनाः शठानि मित्राण्यदायकः स्वामी। अविनयवती च भार्या मस्तकशूलानि चत्वारि॥" (प्रस्तावरत्नाकर), अर्थात् आज्ञा न माननेवाला सेवक, शठ मित्र, कृपण राजा और कर्कशा स्त्री, ये चारो मस्तक के शूल के समान है। "दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्य-श्चोत्तरदायकः। ससर्प च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः॥" (चाणक्यनीतिदर्पण), 'सूल'—एक बरछी की तरह शस्त्र, अथवा वायु के प्रकोप से होनेवाली पीड़ा, जो प्रत्यक्ष नहीं देख पड़ती, पर बरछी चुभने की तरह भीतर असह्य पीड़ा होती है, इसी पीड़ा को यहाँ उपमा में 'सूल सम' से कहा है, क्योंकि इन चारों द्वारा दुःख भी अप्रत्यक्ष रूप से हृदय में होते है।

यहाँ तक मित्र-धर्म कहकर उन्हें अपने आचरण से चरितार्थ करते है—

(२) 'सखा सोच त्यागहु ··'—'घटब', यथा—"सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।" (अ० दो० २५०)। 'सब बिधि'—उपर्युक्त मित्रों के सर्व धर्म-सहित। यहाँ श्रीसुग्रीवजी और श्रीरामजी के मित्र-धर्म समान कहे गये हैं—

श्रीसुग्रीवजी		श्रीरामजी
सुनि सुग्रीव नयन भरि बारी।	(१)	सुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि०
तजहु सोच मन आनहु धीरा।	(२)	सखा सोच त्यागहु बल मोरे।
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई।	(३)	सब बिधि घटब काज मैं तोरे।
जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई।	(४)	सुनु सुग्रीव मारिहउँ, बालिहि एकहि बान।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥११॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराये। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाये॥१२॥
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥१३॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे रघुवीर श्रीरामजी! सुनिये, बालि महाबलवान् और अत्यन्त रण-धीर है॥११॥ (सुग्रीवजी ने) दुन्दुभी की हड्डियाँ और ताड़ के पेड़ दिखाये, उन्हें बिना परिश्रम ही श्रीरघुनाथजी ने गिरा दिया॥१२॥ श्रीरामजी का अपरिमित (निस्सीम) बल देखकर श्रीसुग्रीवजी की प्रीति बढ़ी, ये बालि को मारेंगे—ऐसा विश्वास हुआ॥१३॥

विशेष—(१) 'बालि महाबल अति रनधीरा'—श्रीरामजी ने कहा था—"सखा सोच त्यागहु बल मोरे।" उसपर श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि आपके बल है और बालि के 'महाबल' है, आप वीर हैं और वह 'अति रनधीर' है, तब आप उसे कैसे मारेंगे? फिर श्रीसुग्रीवजी ने बालि के उक्त सामर्थ्य को प्रमा-

णित करने के लिये 'दुंदुभि अस्थि' को और 'सप्त ताल' इन वृक्षों को दिखाया कि देखिये ! यह हड्डी का ढेर उस दुन्दुभी का है, जिसे मारकर और फिर उठाकर इतनी दूरी पर बालि ने फेंक दिया है, जिसका सूखा पंजर भी उठाना औरों को कठिन है, फिर सातो ताल के वृक्षों को दिखाया कि जिन्हें बालि एक साथ ही हिलाकर पत्र रहित कर दिया करता था।

"इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने पूछा कि आपको कैसे विश्वास हो सकता है कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे ?" तब श्रीसुग्रीवजी ने कहा कि यदि श्रीरामजी इन हड्डियों को एक पैर से दो सौ धनुष की दूरी पर फेंक दें और एक ही बाण से सातो ताल-वृक्षों में से एक को भी काट डालें, तो मैं समझूँगा कि श्रीरामजी उसे मार सकेंगे। तब श्रीरामजी ने पैर के अँगूठे से ही सम्पूर्ण हड्डियों को उठाकर उन्हें दश योजन की दूरी पर फेंक दिया। फिर श्रीसुग्रीवजी ने संशय किया कि बालि ने जब इसे फेंका, तब यह पंजर मांस-रक्त से भरा होने से बहुत भारी था, फिर वह युद्ध में थका हुआ भी था। अतः, केवल हड्डियों के फेंकने से विश्वास नहीं हो सका, अतएव कृपया वृक्ष काटने का कर्म भी करें।

तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर एक बाण चलाया, वह सातो तालवृक्षों को फोड़ (काट) कर पर्वत और पृथ्वी को फोड़ता हुआ पाताल को चला गया। एक ही मुहूर्त्त में वह बाण फिर लौटकर श्रीरामजी के तरकस में आ गया। तब पूर्ण विश्वासी होकर श्रीसुग्रीवजी परम हर्षित हुए।" (वाल्मी० ४।११-१२), यहाँ बिनुप्रयास' कहा गया, वहीं वाल्मीकिजी ने 'पादांगुष्ठेन लीलया' कहा है। दुन्दुभी की कथा ऊपर दो० ५ की चौ० १-३ में दी गई है।

सप्तताल-वृक्षों के विषय में कहीं की कथा है, क्षेपकों में लिखी गई है कि एक समय बालि एक फल लाकर उसे सर के तट पर रख स्नान करने लगा, इतने में एक सर्प आकर उसपर गुड़री लगा बैठ गया। बालि ने आकर देखा, तो उस सर्प को शाप दे दिया कि तूने हमारे भक्ष्य को मलिन कर दिया। अतः, तेरे शरीर से फूटकर यह वृक्ष हो जायगा। गुड़री लगाये हुए साँप के ऊपर मंडलाकार रूप में इन वृक्षों की स्थिति थी। अतः, एक साथ इनका एक बाण से वेधना अत्यन्त कठिन था। पुनः हनुमन्नाटक अ० ५ में कहा गया है कि इनकी जड़ शेषजी की पीठ तक थी, और एक साथ ही यदि सातो न बेधे जायँ, तो ये मारनेवाले ही को मार डालते थे।

ऊपर जो कहा गया कि श्रीरामजी का बाण पाताल तक गया और लौटकर तरकस में आया, इस वाल्मीकिजी के वचन से भी शेषजी तक जड़ का होना प्रमाणित है।

अलंकार—'सम तृतीय', क्योंकि सुग्रीव का परीक्षण अभीष्ट निर्विघ्न सिद्ध हो गया।

(२) 'देखि अमित बल···'—पहले जब श्रीलक्ष्मणजी ने सब रामचरित कहा था, तब इन्होंने सुना था कि धनुर्भंग एवं खरदूषणादि बहुत राक्षसों का वध श्रीरामजी ने किया है। स्वयं श्रीरामजी ने भी कहा था कि मैं बालि को एक ही बाण से मार दूँगा। पर सुनकर श्रीसुग्रीवजी को बालि-वध की प्रतीति नहीं हुई थी, क्योंकि उसने कहा था, यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा।" यहाँ जब उसने आँख से देखा कि इनमें तो अमित बल है, जो कि 'बालि महाबल ··' की अपेक्षा कहीं अधिक है। "तब तो सुग्रीवजी श्रीरामजी को हाथ जोड़ प्रणाम कर कहने लगे कि आप तो देवताओं के सहित इन्द्र को भी रण में मार सकते हैं, फिर बालि की कौन बात ?" (वाल्मी० ४।१२।८), मैं आप-सा मित्र पाकर परम भाग्यशाली हुआ, वही यहाँ 'भइ परतीती' का भाव है। 'बाढ़ी प्रीती'—प्रीति तो पहले से ही थी, यथा—"कीन्ह प्रीति कछु बीच न राखा।" अब पूर्ण प्रतीति होने पर वह प्रीति बढ़ चली।

बार - बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥१४॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला ॥१५॥

सुख-संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥१६॥
ये सब राम-भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद-अवराधक ॥१७॥

अर्थ—(सुग्रीवजी) बार बार चरणों में सिर नवाते है, प्रभु श्रीरामजी को पहचानकर वानरेश्वर श्रीसुग्रीवजी मन में हर्षित हुए ॥१४॥ जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब ये वचन बोले—हे नाथ! आपकी कृपा से अब मेरा मन स्थिर हुआ ॥१५॥ सुख-सम्पत्ति, कुटुम्ब और बड़ाई, इन सबका त्यागकर मैं आपकी सेवा ही करूँगा ॥१६॥ हे श्रीरामजी! आपके चरणों का आराधन करनेवाले सन्त (ऐसा) कहते हैं कि ये सब श्रीरामजी की भक्ति के बाधक हैं ॥१७॥

विशेष—(१) 'बार-बार नावइ पद सीसा।'—ऊपर 'बाढ़ी प्रीति' कहा गया, उसीसे बार-बार प्रणाम करते हैं, यथा—"प्रेम बिबस पुनि-पुनि पद लागीं।" (बा० दो० ३३५), ऐश्वर्य ज्ञान से भी बार-बार प्रणाम करते है, यथा—"नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥" (गीता ११।३९)। यह भगवान् का ऐश्वर्य जानने पर अर्जुन ने कहा है।

श्रीसुग्रीवजी की क्रमशः कर्म, मन और वचन की प्रीति प्रकट हुई—'बार-बार नावइ पद सीसा।'—में कर्म की, 'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।'—में मन की और 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला।'—में वचन की प्रीति है। प्रभु को जानने से क्रमशः प्रतीति, प्रीति और भक्ति होती है, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥ प्रीती बिना नहि भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)। वैसी प्रतीति यहाँ हुई, यथा—"बालि बधब इन्ह भइ परतीती।" फिर प्रीति हुई, यथा—"देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।" पुनः आगे भक्ति भी हुई, यथा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।" सेवा करना भक्ति है।

(२) 'उपजा ज्ञान बचन ···'—पहले वचन अज्ञान के थे कि बालि शत्रु है, इत्यादि। प्रभु को जानना ही ज्ञान है, इसीसे 'प्रभुहि जानि' कहकर तब 'उपजा ज्ञान' कहा है। जब प्रभु का ज्ञान होता है, तब प्रभु ही सर्व जगत् के शरीरी जाने जाते है। तब जगत् के द्वारा होनेवाले व्यवहार जड़-चेतन-रूप के द्वारा प्रभु ही का करना निश्चय होता है, वह भी अपने कर्मानुसार होता है। ऐसा जानने से किसीसे भी शत्रु-मित्र का भाव नहीं रह जाता। पुनः सब रूपों से सुख देनेवाले प्रभु में प्रीति बढ़ती है। वही दशा श्रीसुग्रीवजी की हुई है। 'नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'—प्रभु ने कृपा करके दर्शन दिये, पुनः अपना प्रभुत्व भी स्वयं जनाया। तब ऐश्वर्य-ज्ञान से उक्त रीति से समता आ गई और मन स्थिर हुआ। अतः, इस कार्य को ज्ञान-द्वारा न कहकर प्रभु-द्वारा ही होना कहते हैं। आगे भी इन्होंने ही कहा है, यथा—"यह गुन साधन ते नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई॥" (दो० २०)।

(३) 'सुख-संपति परिवार बड़ाई।' '—'ये सब राम···'—श्रीसुग्रीवजी को प्रतीति हो गई कि अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रभु बालि को मारकर मुझे सुख आदि देंगे, इसीसे इन सुख आदि को त्यागकर भजन करने को कहते है कि ये सब श्रीराम-भक्ति के बाधक हैं। सांसारिक सुखों को पाकर लोग विलासी हो जाते है। पुनः विलासिता से ही इन्द्रियाँ खाली नहीं होतीं, भजन कैसे हो? सम्पत्ति होने से उसकी सँभाल में चित्त रहता और तत्सम्बन्धी राग-द्वेष से भी चित्त मलिन रहता है। परिवारवाले को भी भजन का अवकाश नहीं रहता, कभी कोई रोगी हुआ, कोई मरा और कोई पैदा हुआ, इत्यादि व्यवहारों से ही उसे छुट्टी नहीं रहती। बड़ाई प्राप्त होने पर अभिमान होता ही है और फिर श्रीठाकुरजी के मन्दिरों और सन्तों को सिर झुकाने में लाज लगती है। भगवान् की सेवा-झाड़ू आदि में भी लज्जा लगती है, इत्यादि। इसीसे इन्हें छोड़कर भजन करने को कहते हैं। 'कहहिं संत···'—सन्त लोग भजन करते हैं, तो ये सब उन्हें बाधक जान पड़ते हैं, इसीसे वे ही ऐसा कहते हैं। और लोग तो इन चारों को पाकर अपने को कृतार्थ

मानते हैं। कहा भी है, "मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद्भगवत्प्रियेषु नः। य. प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान्सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥" (भाग० ५।१४।१०), अर्थात् हे प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई वर्ग में हमारी आसक्ति न हो। यदि हो तो केवल भगवद्भक्तों में हो, क्योंकि जो धीर पुरुष केवल शरीर-निर्वाह योग्य अन्न आदि से सन्तुष्ट रहता है उसे जिस तरह शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है, उस प्रकार इन्द्रियलोलुप पुरुष को नहीं प्राप्त होती।

सुख-सम्पत्ति वित्तैषणा है, परिवार पुत्रैषणा और बड़ाई लोकैषणा है—ये तीनों एषणाएँ बुद्धि को मलिन करनेवाली हैं, यथा—"सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥" (उ० दो० ७०), इसीसे आत्मज्ञानी लोग भिक्षा से निर्वाह करके भजन करते हैं और तीनों एषणाओं का त्याग करते हैं, यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥" (बृहदा० ३।५।१)।

इन सुख आदि को पाकर आगे श्रीसुग्रीवजी स्वयं भी प्रभु को भूल जायँगे, यथा—"सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥" (दो० १७)।

सत्रु-मित्र सुख-दुख जग माहीं। माया-कृत परमारथ नाहीं॥१८॥
बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥१९॥
सपने जेहि सन होइ लड़ाई। जागे समुझत मन सकुचाई॥२०॥
अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती॥२१॥

अर्थ—जगत् में जितने (भी) शत्रु-मित्र और दुःख-सुख (आदि द्वन्द्व) हैं, वे सब माया के किये हुए हैं, परमार्थ (ज्ञान-दृष्टि) में वे नहीं हैं॥१८॥ हे श्रीरामजी! बालि तो मेरा परम हितैषी है कि जिसकी कृपा से दुःख का नाश करनेवाले आप मुझे मिले (अर्थात् उसके कोप ने मुझे प्रसाद का फल दिया, वह मुझे दीन बनाकर न निकालता, तो मैं यहाँ दीन होकर क्यों रहता और क्यों आपके दर्शन होते?)॥१९॥ उससे स्वप्न में भी यदि लड़ाई हो तो जागने पर उसको समझकर मुझे संकोच हो (कि मैं ऐसे परम-हितैषी से स्वप्न में नाहक लड़ा)॥२०॥ हे प्रभो! अब आप इस तरह की कृपा करें कि सब छोड़कर मैं दिन-रात (आपका) भजन ही किया करूँ॥२१॥

विशेष—(१) 'सत्रु-मित्र सुख-दुख ···'—शत्रु-मित्र आदि भाव मायाकृत है, इसे ही लक्ष्मणगीता अ० दो० ६१ चौ० ८ में 'मोह-मूल' कहा है, वहाँ भी देखिये। अज्ञान से जगत् में नानात्व-दृष्टि होती है, उसीसे मन शत्रु-मित्र आदि की कल्पना कर लेता है, इसी दृष्टि को द्वैत भी कहते हैं, यथा—"जौ निज मन परिहरइ बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेच्छनीय अहि हाटक तृन की नाईं॥" (वि० १२४)—इसका 'सिद्धान्त तिलक' देखिये। इसी दृष्टि से 'मै, मोर, तैं तोर' यह मायिक वृत्ति है।

(२) 'बालि परम हित ··'—सांसारिक उपकार करनेवाला हितैषी है और पारमार्थिक हित-कर्त्ता परम हितैषी। यहाँ 'लेश-अलंकार' है, क्योंकि दोष को गुन मान रहे हैं।

(३) 'सपने जेहि सन ··'—ऐसे हितैषी से यदि स्वप्न में भी मुझसे लड़ाई हो तो जागने पर मुझे संकोच हो—मैं ऐसा चाहता हूँ, अर्थात् अब मैं उससे लड़ना नहीं चाहता। 'समन बिषादा'—संसृति-दुःख हरनेवाले।

(४) 'अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती।'—यह चरण दीपदेहली है, ऊपर की अर्द्धाली के भी साथ है कि बालि से स्वप्न में भी लड़ाई हो, तो जागने पर मन में संकोच हो। अब इस तरह की कृपा करिये—

यह पूर्व से सम्बन्ध है और सब छोड़कर भजन करूँ, अब इस प्रकार कृपा कीजिये—यह पर से सम्बन्ध है।

प्रभु ने जो कहा था—"सखा सोच त्यागहु···मैं मारिहउँ बालिहि ···" वह कृपा अब मै नहीं चाहता। इनके मत मे कृपा से ही सब कुछ होता है। ऊपर भी लिखा गया, तथा—"अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥" (सुं० दो० ४८), अर्थात् विभीषणजी का भी यही मत है। भजन के सम्बन्ध मे तीन बार कहा—"सब परिहरि करिहउँ सेवकाई···", "ये सब राम-भगति···", "सब तजि भजन करउँ···" तीनो बार 'सब' शब्द का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि एक भी विकार रहने से भजन नहीं होता। यहाँ माया का आवरण हटने पर ज्ञान होने से वैराग्य एवं उसके फल रूप में भक्ति माँगी गई है। अतः, ज्ञान-विराग का फल भक्ति है, यथा—"ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥' (उ० दो० ११९)।

सुनि बिराग-संजुत कपि-बानी। बोले बिहँसि राम धनु-पानी॥२२॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृपा न होई॥२३॥
नट-मर्कट-इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥२४॥
लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप-सायक गहि हाथा॥२५॥

अर्थ—कपि सुग्रीवजी की वैराग्य संयुक्त वाणी सुन धनुर्धारी श्रीरामजी हँसकर बोले॥२२॥ जो कुछ तुमने कहा है वही सब सत्य है, पर हे सखे! मेरा वचन झूठ नहीं होगा, अर्थात् हम अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार करेंगे। बालि को मारकर तुम्हें राज्य देंगे॥२३॥ हे गरुड़! वेद ऐसा कहते है कि श्रीरामजी, जैसे मदारी बन्दर को नचाता है, वैसे ही सभी को नचाते रहते हैं॥२४॥ श्रीराघुनाथजी श्रीसुग्रीवजी को साथ मे लेकर और हाथों में धनुष-बाण लेकर चले॥२५॥

विशेष—(१) 'सुनि बिराग संजुत कपि बानी।···'—यहाँ निर्वेद (वैराग्य) है, यथा—"जेहि तेहि विधि संसार सुख, देखत उपजै खेद। उदासीनता जगत ते, सो कहिये निर्वेद॥" इसीसे विराग-संयुक्त वाणी कही गई है। 'कपि बानी'—कपि का चंचल स्वभाव प्रसिद्ध है, वैसे इनकी यह वृत्ति स्थिर न रहेगी। अभी इन्हें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों प्राप्त हैं, यथा—"उपजा ज्ञान", "सब परिहरि", "भजन करउँ दिन राती।" पीछे तीनो न रहेंगे, यथा—"बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।" (दो० १८)—यह ज्ञान न रहा। "पावा राज कोप पुर नारी।" (दो० १७)—यह वैराग्य न रहा। "सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।" (दो० १७)—यह भक्ति न रही।

'बोले बिहँसि राम धनु पानी।'—यहाँ बिहँसने के साथ श्रीरामजी को 'धनुपानी' कहा है। भाव यह है कि श्रीसुग्रीवजी का प्रथम से जो दुःख था उसे श्रीहनुमानजी ने कहा, श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं भी कहा। तब उनकी रुचि-पूर्त्ति के लिये प्रभु ने प्रतिज्ञा की। अब ज्ञान होने पर वे उससे हटाना चाहते है, पर श्रीरामजी के दर्शन जिस वासना से किये जायँ, उस वासना की सिद्धि अवश्य होनी चाहिये, यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥" (सुं० दो० ४८), अर्थात् श्रीविभीषणजी ने भी कहा—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥" (सुं० दो० ४८), इसपर श्रीरामजी ने अपने दर्शनों की सफलता के लिये उक्त वासना का भोग उन्हें दिया ही। ऐसे ही ध्रुव भी प्रथम राज्य-वासना सहित घर से चले, तो पीछे ज्ञान होने पर उन्हें ३६००० वर्ष राज्य-भोग कर लेने पर ही नित्य लोक की प्राप्ति हुई।

ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी की वासना-पूर्त्ति के लिये आपने धनुष-बाण से बालि को मारने की प्रतिज्ञा

की है, वह पूरी करेंगे। इसलिये विहँसकर माया द्वारा उसे अपने अनुकूल किया। जैसे श्रीकौसल्याजी और श्रीविश्वामित्रजी पर हँसकर माया डाली है, यथा—"उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसकाना। चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।" (बा० दो० १९१), "ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहि राम सुनि बानी॥" (बा० दो० २१५)। इनके भाव प्रसंग पर लिखे जा चुके हैं। कृपा के द्वारा यह माया का प्रयोग नित्य पार्षदों पर करके लीला का विधान करते हैं। इसीसे हँसकर प्रयोग करते हैं, यथा—"माया हास···" (लं० दो० १४)। "हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७), अभियुक्तों ने कहा भी है—"त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थितिप्रणाशसंसारविमोचनादयः। भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिकास्त्वदीयगम्भीरमनोनुसारिणः॥" (आलवन्दार-स्तोत्र), अर्थात् भगवान् अपने आश्रितों पर अपनी इच्छा से ही उत्पत्ति-विनाश और फिर उन्हें मुक्त करने का बर्ताव लीला-विधान एवं कोई वैदिक-विधान दृढ़ करने के लिये करते हैं। वैसे ही यहाँ श्रीसुग्रीवजी के कहे हुए विचारों को—"जो कछु कहेहु सत्य सब सोई।" रूप से स्वीकार करते हुए भी "सखा बचन मम मृषा न होई।" का विधान करेंगे और तुरत ही श्रीसुग्रीवजी बालि से लड़ने चलेंगे। 'सत्य सब सोई'—से श्रीसुग्रीवजी के उक्त विचारों का श्रीरामजी ने समर्थन किया कि शास्त्रोक्त दृष्टि तो यही है कि सब एषणाओं से रहित हो एवं राग-द्वेष छोड़कर भगवद्भजन करे।

(२) 'नट-मर्कट इव···'—श्रीसुग्रीवजी शीघ्र ही श्रीरामजी की इच्छा के अनुकूल हो गये और बालि से प्रत्यक्ष लड़ने को प्रस्तुत हो गये। इसी पर श्रीभुशुण्डीजी कहते हैं कि श्रीसुग्रीवजी ही नहीं, सारा जगत् श्रीरामजी की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। मदारी (नट) बन्दर को जैसा चाहता है, नचाता है, वैसे ही श्रीरामजी जीवों को नचाते हैं। जब जैसा चाहते हैं, वैसा ही काम कराते हैं। वानर नट के अधीन है वैसे जीव ईश्वर के अधीन हैं। प्रमाण—"राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करइ अन्यथा अस नहि कोई॥" (बा० दो० १२७), "राम-रजाइ सीस सबही के।" (अ० दो० २५३), "उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥" (दो० १०), "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥" (गीता १८।६१), अर्थात् सब प्राणियों के हृदय में ईश्वर स्थित है, वह शरीर रूप यन्त्र में आरूढ़ हुए सब जीवों को (उनके कर्मानुसार) अपनी माया से भ्रमाता है।

(३) 'लै सुग्रीव संग रघुनाथा।···'—ऊपर नट-रूप में श्रीरामजी की प्रधानता थी। 'नट' शब्द पहले था, वैसे ही यहाँ चलने में श्रीरघुनाथजी मुख्य है, क्योंकि अपनी इच्छाप्राधान्य में श्रीसुग्रीवजी को ले जा रहे हैं। श्रीरामजी मर्यादा के संस्थापक हैं। अतः, माधुर्य की दृष्टि से उपदेश देते हैं कि मित्र के कार्य में स्वयं अगुआ होकर उपस्थित रहना चाहिये, मित्र की प्रेरणा की राह देखने की आवश्यकता नहीं, 'रघुनाथा'—रघुवंशी सभी सत्य-सन्ध होते आये, यथा—"रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई।" (अ० दो० २७), ये तो उस कुल के नाथ हैं, फिर प्रतिज्ञा का निर्वाह क्यों न करें? 'चाप सायक' मात्र कहा है, तरकस नहीं, क्योंकि एक ही बाण से बालि-वध की प्रतिज्ञा की है। शेष शस्त्र और तरकस श्रीलक्ष्मणजी के पास हैं। वा, ऐसे भी प्रसंग हैं, जहाँ तरकस नहीं कहा गया, पर आगे उसके कार्य देखे गये हैं, यथा—"लछिमन चले सकोप तब, बान सरासन हाथ।" (लं० दो० ५१), इससे आगे—"नाना बिधि प्रहार कर सेषा।" कहा गया है। वैसे यहाँ भी आगे—'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' कहा है, तो वह बाण कहाँ से आया? अतएव तरकस भी रहना सम्भव है।

तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा॥२६॥
सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा॥२७॥

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा । ते दोउ बंधु तेज बल सींवा ॥२८॥
कोसलेस-सुत लछिमन-रामा । कालहु जीति सकहिं संग्रामा ॥२९॥

दोहा—कह बाली सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं, तौ पुनि होउँ सनाथ ॥७॥

अर्थ—(किष्किन्धा पहुँचकर) तब श्रीरघुनाथजी ने श्रीसुग्रीवजी को भेजा, वे (श्रीरामजी से) बल पा बालि के कोट के समीप जाकर गरजे ॥२६॥ सुनते ही बालि क्रोध में भरकर शीघ्र दौड़ा, उसकी स्त्री (तारा) ने अपने हाथों से (उसके) चरण पकड़कर समझाया ॥२७॥ हे पति ! सुनिये, जिनसे सुग्रीव मिला हुआ है वे दोनों भाई तेज और बल की हद्द हैं ॥२८॥ वे श्रीअयोध्या के राजा दशरथजी के पुत्र श्री रामजी और श्रीलक्ष्मणजी है। जो काल को भी रण में जीत सकते है ॥२९॥ बालि ने कहा—हे भीरु (स्वभावतः डरनेवाली) ! हे प्रिये !! श्रीरघुनाथजी समदर्शी हैं। जो वे कदाचित् मुझे मारेंगे, तो भी मैं सनाथ (कृतार्थ) हो जाऊँगा ॥७॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति सुग्रीव पठावा ।···'—'तब'—जब किष्किन्धा के निकट पहुँच गये। 'गर्जेसि जाइ निकट'—किष्किन्धा नगर भारी है, अतएव राजमहल के निकट जाकर गरजा कि जिससे वह गर्जन महल के भीतर भी बालि सुन सके। तभी वह लड़ने को आवेगा। 'बल पावा'—श्रीसुग्रीवजी के श्रीरामजी से पाया हुआ बल है और उसके महाबल है, यथा—"बालि महाबल अति रनधीरा ।" यह कहा गया है। इससे अबकी युद्ध में श्रीसुग्रीवजी हारेंगे, फिर जब श्रीरामजी विशाल बल देकर इन्हें भेजेंगे, तब नाना विधि की लड़ाइयाँ होंगी, यथा—"पठवा पुनि बल देइ बिसाला", "पुनि नाना बिधि भई लड़ाई ।" आगे कहा है । वा, वचन का बल पाकर, जो कि श्रीरामजी ने कहा है कि मैं उसे एक ही बाण से सत्य ही मारूँगा । अथवा प्रभु के निकट होने का बल पाकर ।

(२) 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा ।' क्योंकि—"बाली रिपु बल सहै न पारा ।" कहा गया है। क्रोधातुर होने से विचार नहीं रहता, इसीसे 'नारि समुझावा' कहा है।

'गहि कर चरन ·'—वाल्मी० ४।१५।१२-३८ में तारा का समझाना कहा गया है। तारा ने कहा कि सुग्रीव जैसे अहंकार से गरज रहा है, इसका विशेष कारण है। अंगद ने दूतों के मुख से सुना है कि सुग्रीव के हित करने के लिये प्रसिद्ध वीर श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअयोध्या से आये हुए है। वे संग्राम में दुर्जय है। शत्रु-सेना के नष्ट करने में प्रलयाग्नि के समान हैं, साधुओं के आश्रयदाता और पीड़ितों के रक्षक है। दुःखिया के सहायक, यश के भाजन और ज्ञान-विज्ञान से युक्त है। अतः, उनसे मेल कर लीजिये, सुग्रीव को युवराज पद देकर उसका पालन कीजिये। इसीमें भलाई है, इत्यादि।

'गहि कर चरन' का भाव यह भी कहा जाता है कि पहले कर पकड़ा और समझाना चाहा, यथा—"कर गहि पतिहि भवन निज आनी ।" (लं० दो० ५), पर उसने क्रोध में नहीं सुना। तब चरण पकड़कर रोकने को बैठ गई और फिर समझाया।

(३) 'सुनु पति'—आप हमारे रक्षक है, इसलिये मेरी प्रार्थना सुनिये। 'तेज बल सींवा'—तेजस्वी देखने में छोटा भी हो, तो उसे लघु न जानना चाहिये, यथा—"तेजवंत लघु गनिय न रानी ।" (बा० दो० २५५)। जहाँ तेज वहाँ बल भी है, यथा—'तेज-प्रताप-रूप जहँ तहँ बल बूझइ ।" (जानकी-मंगल ५९) 'कोसलेस-सुत'—से अवतार सूचित किया, जैसे कि आकाशवाणी से सुना गया है, यथा—"कोसलपुरी प्रगट नर भूपा ॥ ··तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई ॥" (बा० दो० १८६), इत्यादि; क्योंकि आगे बालि भी ईश्वर ही कहेगा, यथा—'समदरसी रघुनाथ' इत्यादि। 'लछिमन रामा'—श्रीलक्ष्मणजी

को यहाँ छन्दानुरोध से आगे कहा है। यह भी हो सकता है कि यहाँ—'कालहु जीति सकहि संग्रामा।' का प्रसंग है, युद्ध में छोटा भाई आगे रहता है, यथा—"त्रिसिरादि खर-दूषन फिरे।" (अर० दो० २०)। 'कालहु जीति·· '—योगी लोग भी काल को योग-बल से जीत सकते है, पर ये तो उसे संग्राम में भी जीत सकते है, यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥" (सुं० दो० ३८), "तुम्ह कृतान्त भच्छक सुर त्राता॥" (लं० दो० ८२)। तब तुम उनसे लड़ने के योग्य नहीं हो।

(४) 'कह बाली सुनु भीरु···'—तारा डर गई है, इससे उसे 'भीरु' कहा, किन्तु स्त्रियों के लिये यह आदरार्थ भी है। पुनः उसकी प्रसन्नता के लिये 'प्रिय' भी कहा है। 'जौ कदाचि'—पहले तो वे समदर्शी है और रघुवंशी सब-सरल स्वभाव और नीतिमान होते हैं। ये तो उस कुल के नाथ हैं, तो किसीका पक्ष लेकर मुझे क्यों मारेंगे, यथा—"न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति॥" (वाल्मी० ४।१६।५)। कदाचित् मारे, क्योंकि भक्तों के लिये आप विषमदर्शी हो जाते हैं, यथा—'जद्यपि सम ··तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥" (अ० दो० २१८), 'तौ पुनि होउँ सनाथ'—'तौ पुनि' = तो भी मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। श्रीरामजी के बाण से मरकर परम गति पाऊँगा, यथा—"राम बालि निज धाम पठावा।" (दो० १०), "रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।" (लं० दो० ३), तथा—"त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया॥ सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः। इत्युक्त्वा वानरो रामं विरराम हरीश्वरः॥" (वाल्मी० ४।१८।५७--५८), आपके द्वारा अपने वध की इच्छा से ही तारा के द्वारा रोके जाने पर भी सुग्रीव से द्वन्द्व युद्ध करने के लिये आया, ऐसा कह कर बालि चुप हो गया।

बालि को जैसे श्रीरामजी की ईश्वरता का ज्ञान था—"धरम हेतु अवतरेउ ··" कहा है, वैसे यह भी ज्ञान था कि प्रभु-शर से मरने पर भव पार हो जाऊँगा, इससे उनके हाथों से मरने में कृतार्थ होना कह रहा है।

अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी॥१॥
भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महा धुनि गर्जा॥२॥
तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि-प्रहार बज्र सम लागा॥३॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥४॥
एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउँ सोऊ॥५॥

अर्थ—ऐसा कहकर महा अभिमानी बालि श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान (तुच्छ) समझकर चला॥१॥ दोनों जुट पड़े (लड़ गये) बालि ने उसे बहुत डाँटा एवं धमकाया और फिर घूँसा मारकर बड़े जोर से उसने गर्जना की॥२॥ तब श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे, (बालि के) घूँसे की चोट उन्हें वज्र के समान लगी॥३॥ (सुग्रीव जी ने श्रीरामजी से कहा—) हे रघुवीर! हे कृपालु! मैंने जो कहा था कि यह मेरा भाई नहीं है, किन्तु काल है, (वही सत्य है)॥४॥ (श्रीरामजी ने कहा—) तुम दोनों भाई एक ही आकृति के हो, इसी भ्रम से मैंने उसको नहीं मारा (कि वह शत्रुनाशक बाण कहीं तुम्हें ही न लग जाय)॥५॥

विशेष—(१) 'अस कहि चला महा अभिमानी।'—बालि क्रोधावेश में था, इससे तारा की शिक्षा का प्रभाव उसपर न पड़ा, यथा—"क्रोधहि सम···ऊसर बीज बये फल जथा॥" (सुं० दो० ५७)। कालवश है, इसीसे अभिमान हुआ है, यथा—"काल बस्य उपजा अभिमाना॥" (लं० दो० ७), नारि

शिक्षा न मानने से भी महा अभिमानी कहा गया, यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (दो० ८), 'चला'—पहले क्रोधातुर धाया। जब स्त्री के समझाने से क्रोध का वेग शान्त हो गया, तब 'चला' कहा गया। 'तृन समान···'—श्रीसुग्रीवजी को तृण के समान मानने से 'अभिमानी' और आगे श्रीरामजी के आश्रित होने का चिह्न देखकर भी श्रीसुग्रीवजी को तुच्छ मानकर मारना चाहेगा, इससे 'महा अभिमानी' है, यथा—"मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥" (दो० ८)।

(२) 'भिरे उभौ बाली ···'—श्रीरामजी के बल से श्रीसुग्रीवजी भी बराबर भिड़े, इन्होंने बालि का भय नहीं माना, यथा—"उमा बिभीषन रावनहि, सनमुख चितव कि काउ। सो अस भिरत काल ज्यों, श्रीरघुबीर प्रभाउ॥" (ल० दो० ९३)। 'बाली अति तर्जा'—सुग्रीव तर्जा, तब बालि अति तर्जा। सुग्रीव गरजा था, यथा—"गर्जेसि जाइ निकट बल पावा।" और बालि सुग्रीव को मारकर महा ध्वनि से गरजा, इससे अपनी जीत जनाई, यथा—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा।" (सुं० दो० १७), अर्थात् अक्ष को मारकर श्रीहनुमानजी भी ऐसे ही गरजे थे।

(३) 'तब सुग्रीव बिकल होइ···'—वज्रपात के पीछे गरजन होता है, वैसे ही मुष्टि-प्रहार करके वह गरजा। वज्रपात की ध्वनि सुनकर लोग व्याकुल हो जाते हैं, यहाँ श्रीसुग्रीवजी व्याकुल होकर भागे। वज्र इन्द्र चलाते हैं, वैसे यहाँ इन्द्र के अंशभूत बालि ने मुष्टि-प्रहार किया।

(४) 'मै जो कहा रघुबीर कृपाला।···'—'मैं जो कहा'—यह पूर्व की बात पर लक्ष्य कराते हैं, यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५)। शत्रु के समान ही काल भी मारना चाहता है। 'रघुबीर कृपाला'—अर्थात् उससे लड़ने योग्य मैं नहीं हूँ, यथा—"ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मै फिरउँ बिहाला॥" (दो० ५)। आप रघुवीर हैं, इससे काल को मारने में समर्थ हैं, यथा—"कालहु डरहि न रन रघुबंसी।" (बा० दो० २८०)। कृपालु हैं, अतएव हमपर कृपा करके उसे मारें। चोट खाने पर भी श्रीसुग्रीवजी ने कोमल ही वचन कहा। यह मित्र के प्रति दृढ़ श्रद्धा दिखाई। श्रीसुग्रीवजी ने पहले बालि को शत्रु कहा, तब उसके वध के लिये श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा की थी। पीछे वह उसे 'परम हित' कहने लगा। तब श्रीरामजी उसे कैसे मारते? क्योंकि वे तो 'प्रनत कुटुम्ब पाल' हैं। अब एक ही चोट में इन्होंने उसे फिर काल कहा, तब मारेंगे। इसीसे पहले कम बल दिया था और अब विशाल बल देकर भेजेंगे। तब पीछे से मारेंगे।

अलंकार—'शुद्धापह्नुति' क्योंकि 'बन्धुत्व' उपमेय को असत्य कह कर 'कालत्व' को सत्य कहा गया है।

(५) 'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ।···'—श्रीरामजी नर-लीला कर रहे है। माधुर्य मे जैसे रोना, खोजना आदि सम्भव है, वैसे भ्रम भी सम्भव है, यथा—"अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौदेवाविवाश्विनौ।··· अलङ्कारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च। त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम्॥ स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर। विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वां नोपलक्षये॥ ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम। नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिवर्हणम्॥···त्वयि वीर विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया। मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात्कपीश्वर॥" (वाल्मी० ४।१२।१९७।३०-३४), अर्थात् तुम दोनों वीर अश्विनीकुमार के समान एक-से थे। अलंकार, वेष, ऊँचाई तथा गमन से तुम दोनो समान थे। स्वर, तेज, दृष्टि, विक्रम और वचन से समान थे। इसी रूप-समता की आशंका से मैं रुक गया और मोहित हो जाने से शत्रु-नाशक बाण नहीं चलाया। मेरे अज्ञान या शीघ्रता से यदि तुम मारे जाते तो मेरी मूर्खता और लड़काई समझी जाती। यहाँ 'सामान्य-अलंकार' है, क्योंकि दोनों भाई एक आकार के कहे गये हैं।

आशय यह भी है कि अभी वह बालि को 'परम हित' कह चुका था। उसने कपि स्वभाव से ही कहा था। एक बार हराकर उससे 'बंधु न होइ मोर यह काला।' कहलाना था, जैसा ऊपर भी कहा गया। पुनः एक ही ओर की जीत में रण की शोभा नहीं, बालि ऐसे वीर को भी रण-कर्म का यश देना था। पुनः दोबारा अधिक बल सहित और चिह्न सहित भेजकर उसे अपना आश्रित होना भी दिखाना था कि जब वह भागवतापराध करेगा, तो वध-रूप दण्ड पावेगा। आगे कहा भी है—"मम भुज बल आश्रित तेहि जानी।…"

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा ॥६॥
मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला ॥७॥
पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप-ओट देखहिं रघुराई ॥८॥

दोहा—बहु छल-बल सुग्रीव करि, हिय हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब, हृदय माँझ सर तानि ॥८॥

अर्थ—श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी के शरीर पर हाथ फेरा, तब उनका शरीर वज्र (के समान दृढ़) हो गया और सब पीड़ा चली गई ॥६॥ उनके गले में फूलों की माला पहना दी और फिर बड़ा भारी बल देकर उसे (बालि से लड़ने को) भेजा ॥७॥ फिर (दोनों में) अनेक प्रकार से लड़ाई हुई, श्रीरघुनाथजी किसी वृक्ष की ओट से देख रहे हैं ॥८॥ जब श्रीसुग्रीवजी बहुत छल और बल करके तथा डरकर हृदय से हार गये, तब श्रीरामजी ने धनुष चढ़ाकर और उसपर बाण का अनुसन्धान करके जोर से खींचकर बालि के बीच हृदय में बाण मारा ॥८॥

विशेष—(१) 'कर परसा सुग्रीव सरीरा।…'—आश्वासन करते हुए शरीर भर पर हाथ फेरा कि मित्र तुम्हें बड़ी चोट लगी, पर वस्तुतः उन्हें बल देने और तन वज्र के समान करने को ऐसा किया। पहले श्रीसुग्रीवजी का मन युद्ध से हट गया था कि बालि से अब न लड़ूँगा। तब उसके मन को उद्यत किया, तब कहा गया—'नट मर्कट इव…' और यहाँ तन से थक गया था, तब हाथ फेरकर उसे वज्र के समान किया। 'तन भा कुलिस …'—बालि ने इसे तृण के समान माना था, यथा—"तृन समान सुग्रीवहि जानी।" कहा गया। उसे ही श्रीरामजी ने वज्र के समान बना दिया, इससे—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ३३)। इस विरुद को चरितार्थ किया।

(२) 'बल देइ बिसाला'—विशाल बल उतना ही दिया कि वह बालि से लड़ सके, मारने भर को न दिया, अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा जाती। बल दिया, यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥…" (सुं० दो० २०), ऐसे ही श्रीसुग्रीवजी के तन में बल दिया।

(३) 'मेली कंठ सुमन की माला'—महर्षि ने लिखा है कि गज-पुष्पी लता लेकर श्रीलक्ष्मणजी ने कंठ में पहना दी, यथा—"ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम्। लक्ष्मणो गजपुष्पां तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत्॥" (वाल्मी० ४।१२।४०)। 'मेली कंठ'—श्रीरामजी ने कंठ में लगी हुई (कंठी की तरह) पहनाई, जिससे लड़ाई में टूट न जाय। बालि ने पहले श्रीरामजी को समदर्शी कहा था, इससे इन्होंने उसे नहीं मारा था। अब इसे अपने आश्रित होने का चिह्न देकर उसे संकेत करते हैं कि अब यह भागवत है। अतः, इससे द्वेष बुद्धि न करो, अन्यथा मैं मारूँगा, यथा—"जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥" (अ० दो० २१७) "सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८)।

(४) 'पुनि नाना बिधि……'—'नाना बिधि', यथा—"वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटि-

निर्भैर्नखैः ॥ मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः । तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥" (वाल्मी० ४।१६।२८--२९), अर्थात् शाखा युक्त वृक्षों, पर्वत शिखरों, वज्र के समान नखों, मूकों, लातों और बाहुओं से बार-बार दोनों का घोर युद्ध हुआ, जैसे इन्द्र और वृत्रासुर का हुआ था। 'बिटप ओट देखहिं'—खड़े होकर प्रकट देखते तो श्रीसुग्रीवजी की अधीरता होती कि हमें लड़ाकर आप कौतुक देखते हैं। पुनः ओट का यह भी भाव है कि बालि के हृदय में श्रीरामजी की भक्ति भी है, यथा—"जेहि जोनि जनमउँ···" आगे कहा है। सामने होने से कहीं प्रणाम आदि किया, तो प्रतिज्ञानुसार मारते न बनता और उसे बाण द्वारा शुद्ध करके परमगति देनी है, क्योंकि वह वीर है, उसे वीर गति ही चाहिये। कौतुक देखने से 'रघुराई' कहा है, यथा—"अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपाल रघुराई ॥" (लं० दो० ४), राजा लोग कौतुक देखते ही हैं।

(५) 'बहु छल बल सुग्रीव करि···'—युद्ध में छल भी एक प्रकार की रण-कला है। यह अनुचित नहीं माना जाता, क्योंकि दोनों पक्ष सावधान रहते हैं। यह एक प्रकार की चातुरी है, जो बुद्धि का युद्ध है। शारीरिक बल कम पड़ने पर योद्धा छल-कला से भी लड़ते हैं। इसे कूटनीति भी कहते है, इसमें अपने कार्य की वास्तविक दशा प्रतिपक्षी को नहीं जान पड़ती। वह कुछ का कुछ समझता है। श्रीसुग्रीवजी ने छल, बल दोनों के द्वारा हृदय से हार मानी और अपने पुरुषार्थ का भरोसा छोड़ प्रभु की सहायता चाही, तब श्रीरामजी ने खूब खींचकर बाण छोड़ा, क्योंकि महाबली को भी एक ही बाण से मारना है, यथा—"हीयमानमथापश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम्। प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः ॥ ततो रामो महातेजा आत्त दृष्ट्वा हरीश्वरम् ।···राघवेण महाबाणो बालि-वक्षसि पातितः ॥" (वाल्मी० ४।१६।३१-३५)।

छाती में ही बाण मारा, क्योंकि उसके हृदय का अहंकार दूर करना है, बाण लगते ही उसके हृदय मे प्रीति हुई भी, यथा—"हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।" आगे कहा है। पुनः सिर इसलिये नहीं काटा कि उसे बहुत कुछ कहना-सुनना है।

परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे ॥१॥
स्याम गात सिर जटा बनाये। अरुन नयन सर-चाप चढ़ाये ॥२॥
पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा ॥३॥

अर्थ—बाण के लगते ही व्याकुल होकर बालि पृथ्वी पर गिर पड़ा फिर प्रभु को आगे देखकर उठ बैठा ॥१॥ श्रीरामजी श्याम शरीर हैं और सिर पर जटा बनाये हुए हैं, उनके लाल नेत्र हैं, वे बाण लिये हुए हैं और धनुष को चढ़ाये हुए हैं ॥२॥ बार-बार दर्शन करके बालि ने (श्रीरामजी के) चरणों में चित्त लगा दिया, प्रभु श्रीरामजी को पहचानकर उसने अपना जन्म सुफल (कृतार्थ) माना ॥३॥

विशेष—(१) 'परा बिकल महि' '—इतना बड़ा वीर एक ही बाण के लगने से गिरकर व्याकुल हो गया, और कुछ समय मूर्च्छित भी रहा। इससे श्रीरामजी को अपने पास आते उसने नहीं देखा, सामने खड़े ही देखा है। यह राम-बाण के अद्भुत प्रभाव का द्योतक है, यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहिं एक सर।" (लं० दो० ३३), 'पुनि उठ बैठि ···'—यह प्रभु के दर्शन-प्रभाव से उत्पन्न बालि का साहस है कि ऐसा कठिन बाण लगने पर भी वह उठ बैठा, तथा—"भूमौ निपतितस्यापि तस्य देहं महात्मनः। न श्रीर्जहाति न प्राणा न तेजो न पराक्रमः ॥ शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता। दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा ॥" (वाल्मी० ४।१७।४--५), अर्थात् उस महान् शरीरधारी बालि के शरीर को भूमि पर गिरने पर भी शोभा, प्राण, तेज और पराक्रम नहीं छोड़ते थे। इन्द्र की दी हुई रत्न जटित सोने की माला, बालि के प्राण तेज और श्री की रक्षा करती थी। फिर वाल्मी० ४।२२।

१६-१८ में लिखा है कि बालि ने अपने जीते ही वह सोने की माला सुग्रीव को दे दी, अन्यथा उसकी श्री नष्ट हो जाती।

उस माला की मर्यादा-रक्षार्थ भी श्रीरामजी ने अभी कुछ देर के लिये उसमें वैसा सामर्थ्य दे दिया है। 'देखि प्रभु आगे'—श्रीरामजी दया करके उसे स्वयं दर्शन देने गये, यथा—"बहु मान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव। उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥" (वाल्मी० ४।१७।१३), अर्थात् दोनों भाई श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी ने बालि का सम्मान किया और उसके पास गये। प्रभु के उसके पास जाने का एक यह भी कारण था कि छिप कर मारने से बालि के हृदय में जो मेरे प्रति निन्दा का भाव है उसका निराकरण वह प्रश्नोत्तर द्वारा कर ले।

बालि ने पहले ही कहा था—"जौ कदापि मोहि मारि हैं, तौ पुनि होउँ सनाथ।" इसके अनुसार वह अपनेको कृतार्थ ही मानता है और इसीसे उसके हृदय में प्रीति भी है। पर उसने विचार किया कि इससे लोक में प्रभु की निन्दा होगी, अतएव मैं कठोर वचनों से पूर्वपक्ष करके उनके ही मुख से समाधान करा लूँ, अन्यथा प्रभु क्यों समाधान करेंगे? और इसका निराकरण न होने से नैतिक दृष्टिवाले प्रभु के चरित में दोष लगावेंगे।

(२) 'अरुन नयन सर-चाप चढ़ाये'—वीर-रस एवं आर्त्त-दुःख-हरण-प्रसंगों में प्रभु के नेत्र लाल कहे गये हैं और साथ ही लाल कमल की उपमा भी दी गई है, परन्तु वध के प्रसंग में कठोरता का भाव होने के कारण प्रायः कमल की उपमा नहीं देते है, केवल लाल ही (लाल डोरे पड़े हुए) कहते है, यह श्रीगोस्वामीजी की सँभाल है, यथा—"अरुन नयन उर बाहु बिसाला।" यह श्रीविश्वामित्रजी की रक्षा के एवं ताड़का आदि के वध के प्रसंग में कहा गया है। "भुज प्रलंब कंजारुन लोचन।"—श्रीविभीषणजी की रक्षा-प्रसंग में और "जलजारुन लोचन भूप बरं।" (लं० दो० १०९), यह पृथ्वी-मात्र के भार उतारने पर ब्रह्माजी ने कहा है, इत्यादि। 'सर-चाप चढ़ाये'—यहाँ श्रीरामजी ने धनुष पर बाण नहीं चढ़ाया है, केवल वे धनुष-मात्र चढ़ाये हुए है, यथा—"धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।" (दो० १७), "धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।" (दो० १९), जब रोदे पर बाण रक्खा जाता है, तब उसे सन्धानना कहते है, यथा—"संधानेउ प्रभु बिसिप कराला।" (सुं० दो० ५७), "सर संधान कीन्ह करि दापा।" (लं० दो० ७४)। इत्यादि, जहाँ सन्धानना कहा जाता है, वहाँ वह बाण अवश्य चलाया जाता है, निष्फल नहीं जाता। अतः, यहाँ केवल धनुप-मात्र का चढ़ाना कहा गया है।

प्रभु दृढ़-प्रतिज्ञ है। अतः, बालि-वध के लिये दूसरा बाण नहीं ले सकते। इस युद्ध-नीति से यह बाण हाथ में लिये हुए है कि यदि कोई बालि के पक्ष का आ जाय, तो उसे मारूँ।

(३) 'पुनि पुनि चितइ'''—श्रीरामजी का स्वरूप मनोहर है, इसलिये वह बार-बार देखता है, यथा—"पुनि पुनि रामहि चितव सिय, सकुचति मन सकुचै न।" (बा० दो० ३२६), दर्शनों से उसकी तृप्ति नहीं होती, यथा—"दरसन तृपिति न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन।" (अ० दो० २६०), इसीसे बार-बार देखता है। यह तो उसकी हार्दिक प्रीति के अनुसार 'पुनि-पुनि चितइ' का भाव है।

पुनः बाहरी वृत्ति से जो वह कठोर वचन कहेगा, तदनुसार भी बार-बार देखता है कि ये तो सब उत्तम लक्षणों से युक्त हैं, फिर भी इन्होंने मेरे साथ विषमता क्यों की? नीति के अनुसार मुझसे क्यों न पूछ लिया? फिर देखता है कि सुग्रीव से इनका कौन कार्य होगा? "यदि हमसे कहे होते, तो हम तुरत रावण को बाँधकर श्रीसीताजी को ला देते।" (वाल्मी० ४।१७।४७-४८)। छिपे क्यों रहे? इत्यादि बातों का विचार करता हुआ बार-बार देखता है।

(४) 'चरन चित दीन्हा'—अन्तरंग प्रीत्यात्मक दृष्टि से देखता है कि मैं इनके किस अंग का ध्यान करूँ? मन में निश्चय करके उसने चरणों में ही चित्त लगाया। बहिरंग-दृष्टि से भी सोचता है कि इन्होंने

जो कुछ भी किया है वह यथार्थ ही होगा, क्योंकि लक्षणों से ये साक्षात् ईश्वर ही प्रतीत होते हैं और ईश्वर के सब कृत्यों को जीव समझ भी तो नहीं सकता । अतएव उसके विधान न्यायपूर्वक ही होते है, ऐसा विश्वास करके उसमें प्रीति करनी चाहिये, यथा—"अस बिचारि जे तग्य बिरागी । रामहिं भजहि तरक सब त्यागी ।।" (ल० दो० ७२), इसीसे उसने दास-भाव से चरणों मे ही चित्त लगाया और इसी-में अपने जन्म को सफल माना, यथा—"पावन प्रेम राम चरन जनम लाभ परम ।" (वि० १३२), 'प्रभु चीन्हा'—बालि ने श्रीवत्स आदि प्रभु के चिह्नों से उन्हें ईश्वर जाना, अथवा मुझे एक ही बाण से मारकर व्याकुल कर दिया, अतएव ये नर नहीं हैं, ईश्वर ही हैं, यथा—"सो नर क्यों दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर ।" (ल० दो० ३२) ।

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा । बोला चितइ राम की ओरा ॥४॥
धर्म-हेतु अवतरेहु गोसाईं । मारेहु मोहि ब्याध की नाईं ॥५॥
मैं बैरी सुग्रीव पियारा । अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ॥६॥

अर्थ—(बालि के) हृदय में प्रीति है, वह श्रीरामजी की ओर देखकर मुख से कठोर वचन बोला ॥४॥ हे गोसाईं ! आपने धर्म के लिये तो अवतार लिया है, पर मुझे व्याध की भाँति (छिपकर) मारा, (इससे आपको किस धर्म का लाभ हुआ ?) ॥५॥ मैं वैरी हूँ ? सुग्रीव प्यारा है ? हे नाथ आपने किस अवगुण से मुझको मारा ? ॥६॥

विशेष—(१) 'मुख बचन कठोरा'—ऊपर कहा गया कि बालि बाह्य-वृत्ति से ही कठोर वचन कह रहा है, किन्तु प्रत्युत्तर से श्रीरामजी को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है । पर साथ-ही-साथ लोक-शिक्षा के लिये यह भाव भी है कि इसका कायिक अभिमान बाण लगने से ही न रहा, 'हृदय प्रीति' से मानसिक शुद्धि भी है ही, रह गई वाचिक, उसे भी श्रीरामजी इसको निरुत्तर करके तोड़ेंगे, यथा—"बंधु बधू रत कहि कियो, बचन निरुत्तर बालि ।।" (दोहावली १५७), इसी प्रकार अर्जुन का शारीरिक अभिमान गीता १।२९-३० में निवृत्त था । "कार्पण्य दोषोऽपहतस्वभावः" (गीता २।७) में मानसिक अभिमान भी निवृत्त हो गया । वाचिक अभिमान था, इससे उनके प्रश्नानुसार १८ अध्याय गीता कही गई । अन्त में गीता १८। ६३ में कहा कि मैंने गुह्य से गुह्य ज्ञान तुझसे कह दिया, इस सम्पूर्ण कथन का विचार कर इसीमें तुझे जैसा रुचे कर । इसपर अर्जुन ने रो दिया, फिर कुछ नहीं कहा (यहाँ का रोना आगे श्लोक ६६ के 'माशुचः' पद से सिद्ध है) । यहीं उनका वाचिक अभिमान भी शुद्ध हो गया । तब वे भगवान् की पूर्ण कृपा के अधिकारी हुए । अतः, तुरत उन्हें भगवान् ने श्लोक ६५-६६ में शुद्ध शरणागति का परम कल्याण-कारी उपदेश दिया, उससे अर्जुन कृतकृत्य हुए ।

कहा भी है—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहि रघुराई ।।" (बा० दो० १९९), उसी प्रकार बालि भी त्रिविध शुद्धि पर "अन्त काल गति तोरि" (दो० ९), पर प्रभुकृपा का पूर्ण अधिकारी हो जायगा । "मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन···" (बा० दो० १८६)—इसका विशेष भी देखिये । 'बोला चितइ ···'—श्रीरामजी की ओर देखकर अभिमान-पूर्वक बोला, क्योंकि बालि को बुद्धि का अभिमान है कि मानों श्रीरामजी उत्तर दे ही न सकेंगे, यथा—"अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे ॥५२॥··· क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम् ॥५३॥ (वाल्मी० ४।११), अर्थात् जो मैं अधर्म से (छिपकर) आपके द्वारा रण में मारा गया, यह अनुचित हुआ ।···पर यह छिपकर मुझे मारना आप के लिये यदि उचित हो तो आप इसका उत्तर सोचें ।

(२) 'धर्म-हेतु अवतरेहु गोसाईं', यथा—"धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।" (गीता ४।८), अर्थात् मैं धर्म-स्थापन के लिये युग-युग में अवतार लेता हूँ । 'गोसाईं' शब्द व्यंग्यात्मक भी है कि

आपने तो पृथ्वी का भार उतारने के लिये अवतार लिया है, आप गो (पृथ्वी) के स्वामी अर्थात् क्षत्रिय हैं। पर व्याधे की तरह किसी वीर को अनजाने मारना क्षत्रिय का धर्म नहीं है, इससे तो आप स्वयं अधर्मी होकर पृथ्वी का भार हो रहे हैं, तो आपको पाकर भी पृथ्वी अनाथ ही रह गई, क्योंकि अधर्मी राजा के रहने से पृथ्वी सनाथ नहीं होती, यथा—"त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुन्धरा । प्रमदा शीलसम्पूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥"(वाल्मी० ४।१७।४०)। धर्म के लिये ही आपने अवतार लिया, पर यह तो आपने उसके प्रतिकूल ही किया।

(३) 'मैं बैरी सुग्रीव पियारा।···'—आपने समदर्शी होते हुए भी मुझे वैरी और सुग्रीव को प्यारा समझा—यह अधर्म किया। 'नाथ' अर्थात् आप राजा हैं, मुझे बिना अवगुण के (सिद्ध किये) मारा, यह आपने नीति-विरुद्ध किया—यह भी अधर्म है। भाव यह कि भाई-भाई हम दोनों लड़ते थे, आपको दोनों का न्याय करना उचित था, न कि किसी एक का पक्ष लेना। 'अवगुन कवन···', यथा—"विषये वा पुरे वा ते यदापापं करोम्यहम्। न च त्वामवजानेऽहं कस्मात्त्वं हंस्यकिल्बिषम्॥ फलमूलाशनं नित्यं वानरं वनगोचरम्। मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम्॥" (वाल्मी० ४।१७।२५-२६), अर्थात् मैंने आपके देश में या नगर में कोई पाप (उपद्रव) नहीं किया, मैंने आपकी कोई अवज्ञा एवं अपमान नहीं किया। आपने मुझ निरपराधी को क्यों मारा है ? मैं वानर हूँ, वन में रहता हूँ, वन के ही फल-मूल खाता हूँ, मैं आपसे युद्ध नहीं करता था, दूसरे से लड़ता था, फिर आपने मुझे क्यों मारा है ? (क) व्याध की नाईं मारना, (ख) विषम दर्शी होना, (ग) बिना अवगुण (दोष) सिद्ध किये मारना। यहाँ बालि इन तीन बातों के उत्तर चाहता है।

अनुज-बधू भगिनी सुत-नारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी॥७॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥८॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥९॥
मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥१०॥

अर्थ—अरे शठ ! सुन, छोटे भाई की स्त्री, बहन, पुत्र की स्त्री और कन्या ये चारो बराबर हैं॥७॥ इन्हें जो बुरी दृष्टि से देखता है, उसका वध करने में पाप नहीं होता॥८॥ अरे मूर्ख ! तुझे अतिशय अभिमान है, स्त्री की शिक्षा पर तूने कान नहीं दिये, अर्थात् नहीं माना॥९॥ मेरे बाहु-बल के आश्रित जानकर भी उस सुग्रीव को, अरे अधम अभिमानी ! तूने मारना चाहा था॥१०॥

विशेष—(१) 'अनुज-बधू भगिनी···'—'अनुज-बधू' ही पहले कहा गया, क्योंकि यहाँ उसीका प्रस्तुत प्रसंग है। इनपर कुदृष्टि-मात्र रखनेवालों का वध उचित है, फिर तूने तो भाई के जीते-जी ही उसकी स्त्री को अपनी भार्या मानकर काम-भाव से ग्रहण किया। ऐसे दोष का दंड वध ही है और उचित दंड देना मेरा धर्म है, इसीसे मैंने तुझे मारा। यदि न मारता तो अधर्म होता, यथा—"न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥ प्रचरेन्न नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः।" (वाल्मी० ४।१८।२२-२३), अर्थात् कन्या, बहन और छोटे भाई की स्त्री के प्रति जो काम-भाव रक्खे, उसका दण्ड वध ही है। अतः, हम कुलीन क्षत्रिय होकर इस पाप को नहीं सह सके, इसलिये तुम्हें मारा है ! पुनः—"अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥" (मनु० ८।१२८), अर्थात् जो राजा अपराधियों को दण्ड न दे और निरपराधों को दण्ड दे, वह अपयश का भागी होता है और साथ ही नरक को जाता है।

(२) 'जोई'—यदि बालि कहे कि यह धर्म-विधान आपके समान श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है, किन्तु

मैं तो वानर हूँ, तो कहते हैं कि 'जोई' इन्हें कुदृष्टि से देखे, वही दण्डनीय है। पुनः यदि वह ऐसा कहे कि हम भाई-भाई लड़ते थे तो आपने मुझे क्यों मारा ? उसपर कहते हैं कि ऐसे पापी को 'जोई' (कोई भी) मारे तो उसे पाप नहीं होगा, क्योंकि पर-स्त्री हरनेवाला आततायी है और—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नातितायिवधो दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।" (मनु० ८।३५०-३५१), अनिष्ट करने को आते हुए आततायी को बिना विचारे ही मार डालने से मारनेवाले को दोष नहीं होता। आततायी के लक्षण, यथा—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा। क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥" (वसिष्ठस्मृति ३।१६), अर्थात् आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लिये हुए मारने को उद्यत, धन-हरण करनेवाला, जमीन (खेत) छीननेवाला और स्त्री का हरण करनेवाला—ये छहो आततायी हैं। इनमें अन्तिम तीन प्रकारों से बालि आततायी है। 'अविचारयन्' में छिपकर मारने का भी उत्तर आ गया है कि बिना विचारे चाहे जैसे मारे, उसे दोष नहीं होता।

अलंकार—'चित्रोत्तर द्वितीय', क्योंकि 'जोई' पद में कई सम्भवित प्रश्नों के उत्तर आगये हैं।

वाल्मी० ४।१८।३२-३३ में दो श्लोक मनुस्मृति ८।३१६,३१८ के हैं, जिनका भाव यह है कि पापी मनुष्य राजा के द्वारा पाप का दण्ड भोगकर निष्पाप हो जाता है और पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग को जाता है। शारीरिक दण्ड एवं निर्वासन से चोर आदि पापी मुक्त हो जाते हैं। राजा यदि दण्ड न दे, तो वही उस पाप का भागी होता है ॥

इस दृष्टि से एक ही बाण से मार मैंने तुम्हें शुद्ध करके परधाम के योग्य बनाकर धर्म किया है। इसमें पाप नहीं, यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम् ॥" (वाल्मी० ४।१७।८), अर्थात् वह अस्त्र उस वीर बालि को स्वर्ग में ले जानेवाला हुआ, श्रीरामजी के धनुष से छूटे हुए बाण ने उसे उत्तम गति दी। यह बालि के उपर्युक्त पहले प्रश्न का उत्तर हुआ। इसमें "धरम हेतु·····" का उत्तर हो गया।

'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।' का वाचिक उत्तर तो हुआ, परन्तु हृदय-ग्राही नहीं हो सका, नहीं तो श्रीगोस्वामीजी स्वयं ऐसा न कहते, यथा—"हत्यो बालि सहि गारी।" (वि० १६६), "का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निर्वाहु। जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९३)। बालि ने भी इसे बरियाई का ही उत्तर माना है, यथा—"सुनहु राम स्वामी सन···" इसका यथार्थ उत्तर वही है, जो पूर्व दो० ५ चौ० १४ पर करुण-गुण-परक कहा गया है। उसीपर कुछ विशेष रूप से विचार किया जाता है—

बालि-वध-रहस्य

श्रीमुख वचन है—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥" (गीता० ४।९), अर्थात् मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं, उन्हें जो तत्त्व से (यथार्थ) जानता है, हे अर्जुन ! वह शरीर त्याग कर फिर पुनर्जन्म नहीं पाता, मुझको ही पाता है। जन्म-कर्म दिव्य हैं, 'दिवु-क्रीड़ायाम्' इस धातु के कई अर्थों में क्रीड़ा प्रधान है। अतः, भगवान् के जन्म-कर्म क्रीड़ात्मक हैं। जैसे राजा लोग दिन-भर राज-काज करते रहते हैं, सन्ध्या समय पुष्प-वाटिका एवं उपवन आदि की क्रीड़ा में जाते हैं। जड़ाऊ बहुमूल्य वस्त्र उतारकर सूक्ष्म (हरे रंग आदि) वस्त्र धारण कर वहाँ क्रीड़ा करते हुए आनन्दित होते है। वैसे ही भगवान् भी परधाम में नित्य गुण रूपी बहुमूल्य वस्त्रों से युक्त रहते हैं, यथा—"तेजो बलैश्वर्यमहाबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः। परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे ॥८५॥·····संज्ञायते येन तदस्तदोषं शुद्धं परं निर्मलमेकरूपम्। संदृश्यते वाप्यवगम्यते वा तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम् ॥८७॥" (वि० पु० ६।५), अर्थात् वे (भगवान्) तेज, बल, ऐश्वर्य, महान् ज्ञान, वीर्य और

शक्ति आदि गुणों की एकमात्र राशि हैं। वे प्रकृति आदि से परे हैं और उन परमेश्वर में अविद्या आदि सम्पूर्ण क्लेशों का अत्यन्ताभाव है।.....जिसके द्वारा वे निर्दोष, विशुद्ध, निर्मल और एक रूप परमात्मा देखे या जाने जाते है, उसीका नाम ज्ञान है, और, जो इसके विपरीत है, वही अज्ञान है। वि० पु० ६।५।७६ में भी ऐसा ही कथन है।

तात्पर्य यह कि भगवान् में उक्त तेज आदि दिव्य गुण नित्य हैं और उनमें दूषण के अवगुण एक भी नहीं हैं। यही उनके दिव्य गुण रूपी दिव्य वस्त्र हैं। ये नित्य हैं।

भगवान् के करुणा, कृपा, अनुकम्पा, दया और वात्सल्य आदि भी गुण है। परन्तु इन गुणों की प्रवृत्ति नित्य धाम में नहीं रहती, क्योंकि वहाँ तो सभी जीव भगवान् के साधर्म्य प्राप्त कर 'अपहतपाप्मत्व' आदि आठो गुणों से युक्त रहते हैं, सभी सत्यकाम और सत्यसंकल्प रहते है। वहाँ करुणा आदि किस पर बरतें।

राजाओं के सन्ध्याकाल के उपवन-विहार की भाँति भगवान् भी इन कृपा आदि गुण-रूपी वस्त्रों से सुसज्जित हो प्रतिकल्पान्त रूप सन्ध्याकाल में उपवन-रूपी इस लीला विभूति में पधारते हैं—'भये प्रकट कृपाला' 'कृपासिंधु जन हित तन धरहीं' आदि वचन इसके सूचक हैं। लीला मर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकिजी ने स्पष्ट कहा है, यथा—"जस काछिय तस चाहिअ नाचा॥" (अ० दो० १२६), अर्थात् आप जैसे-जैसे गुण रूपी वस्त्र आदि सज धजकर इस भूमण्डल में आये हैं, तदनुसार ही अभिनय कर रहे हैं। "जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।" (बा० दो० २७), इसका विशेष भी देखिये।

भगवान् के प्रत्येक चरित उनके किसी गुण के प्रकट करने के रूप में होते हैं। जैसे अहल्योद्धार प्रसंग के अन्त में यहाँ के गुण को स्पष्ट कहा गया है—"अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित कृपाल।" (बा० दो० २११)—इस गुण का रहस्य—"राम एक तापस-तिय तारी।..." (बा० दो० २३)—इसके विशेष में देखिये। वहाँ बा० दो० २३-२४ के नव प्रसंगों में भगवान् के नव गुणों के रहस्य इस भाष्य में देखिये।

प्रत्येक चरित के बीज रूप गुण के साथ भगवान् आराधित होने पर अपने कल्पवृक्ष स्वभाव से उस गुण के द्वारा उपासक का कल्याण करते हैं, इसी दृष्टि से कहा गया है—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।" (बा० दो० १२१)—देखिये।

इस सुग्रीव-रक्षण प्रसंग में श्रीरामजी का करुण गुण है—दो० ५ चौ० १४ के विशेष में कहा गया (तथा बा० दो० २४ चौ० १-२ में इस गुण का रहस्य भी लिखा गया है)। उस करुण गुण की सम्पन्नता में आपको विह्वलता दिखलानी अनिवार्य थी। इससे पीछे गाली सहनी पड़ी। पर उस गाली से न्यूनता नहीं हुई, प्रत्युत करुण गुण सम्पन्नता से करुणानिधान की शोभा सम्पन्न हुई है।

शंका—कोई-कोई कहते है कि नर नाट्य में प्रभु ने यह दिखाया है कि मनुष्य में चूक भी होती है।

समाधान—मनुष्य में गुण और दोष दोनों होते हैं। पर उपर्युक्त वि० पु० ६।५ के प्रमाणों से सिद्ध है कि भगवान् में दूषण एवं कोई भी हेय बातें नहीं होतीं। श्रीव्यास-श्रीवाल्मीकि एवं श्रीगोस्वामी आदि ने भगवान् के गुण-गान की प्रतिज्ञा की है, न कि समालोचना की। इनके ग्रन्थों में भगवान् के गुण ही कहे गये हैं। उपर्युक्त वि० पु० ६।५।८७ में तो स्पष्ट कहा है कि जहाँ भगवान् निर्दोष, विशुद्ध और निर्मल आदि न कहे जायँ, वह अज्ञान है।

अतः, इस चरित में करुण गुण की शोभा कही गई है, इसी प्रकार लं० दो० ५६ में लक्ष्मणजी के प्रति करुण-प्रसंग में रोते हुए विह्वलता दिखाने में चार जगह अन्यथा बातें कही गई हैं। वहाँ की व्याख्या भी देखिये।

यह भी निश्चित है कि शोक-व्याकुलता में ज्ञान, धैर्य और लज्जा नहीं रहते, यथा—"सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥" (अ० दो० २७५), इस दृष्टि से लक्ष्मण-शोक की व्याकुली में ज्ञान का विस्मृत हो अन्यथा कहा जाना करुण गुण की पूर्णता में ही है। वैसे यहाँ भी करुण-गुण की सम्पन्नता में जो की हुई प्रतिज्ञा-निर्वाह में छिपकर बालि-वध की लीला हुई है, वह सगुण भगवान् की शोभा-प्रदर्शन में है।

(३) 'मूढ़ तोहि अतिसय'''मम भुज'''—'नारि' (तारा) की शिक्षा में श्रीरामजी का ऐश्वर्य-कथन है। बालि 'समदरसी रघुनाथ'—जानकर भी उनके आश्रित को मारने चला, इसीसे 'महा अभिमानी' कहा गया, फिर श्रीरामजी ने अपनी ओर से श्रीसुग्रीवजी को अपने आश्रित होने का चिह्न-रूप 'सुमन की माला' पहना और विशाल बल देकर अपनेको स्वयं भी जनाया, तो भी बालि ने उनके आश्रित को मारना चाहा, इससे उसका अभिमान चरम कोटि को पहुँच गया, इसीसे उसे 'अधम अभिमानी' कहा गया है। अधम-अभिमानियों के वध के लिये ही प्रभु का अवतार है, यथा—"जब जब होइ धरम कै हानि। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी॥'''तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा० दो० १२०), अर्थात् बालि अधम-अभिमानी है। अतः, उसे मारकर प्रभु ने धर्म की ही रक्षा की है और साथ ही उन्होंने भक्तों की पीड़ा का भी हरण किया है। उसने स्त्री की शिक्षा नहीं मानी, इससे उसे 'मूढ़' कहा गया और प्रभु के आश्रित को मारना चाहा, इससे 'अधम-अभिमानी' हुआ। श्रीरामजी तो भक्तों का अभिमान नहीं रहने देते, यहाँ तक कि श्रीनारदजी का भी अभिमान दूर करने में उन्होंने जो कठोर व्यवहार किया—प्रसिद्ध ही है। 'करसि न काना'—भूतकाल की बात को वर्त्तमान की भाँति कहा है, क्योंकि समीपी भूतकाल वर्त्तमानवत् कहा जाता है।

'मैं बैरी सुग्रीव पियारा' का उत्तर यहाँ दिया है कि तू हमारे आश्रित को मारना चाहा था, इसीसे तू 'मम बैरी' है, यथा—सेवक बैर बैर अधिकाई।" (अ० दो० २१८), "पावक साखी देइ करि'''" (दो० ४)—इसका विशेष भी देखिये। उस ऐक्य से सुग्रीवजी का वैरी श्रीरामजी का वैरी है। 'सुग्रीव पियारा' है, यथा—"रामहि सेवक परम पियारा।" (अ० दो० २१८)। प्रभु के आश्रितों से द्रोह करना अवगुण है। इसमें 'अवगुन कवन' का भी उत्तर हो गया।

दोहा—सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरि मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंत काल गति तोरि॥९॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! सुनिये, स्वामी (आप) से मेरी चातुरी नहीं चल सकती, हे प्रभो! मुझे अन्तकाल में आपकी गति (शरण) प्राप्त हुई, तो अब भी क्या मैं पापी ही हूँ? (अर्थात् मैं आपकी शरण हूँ और इसीसे अब मुझमें पाप नहीं रह गया।) ॥९॥

विशेष—'स्वामी सन चल न चातुरी', यथा—"प्रतिवक्तुं प्रकृष्टेहि नापकृष्टस्तु शक्नुयात्।" (वाल्मी० ४।१८।४९), अर्थात् श्रेष्ठों के सामने छोटे बोल भी नहीं सकते। 'अंतकाल गति तोरि', यथा—"मामप्यवगतं धर्माद्धर्यतिक्रान्तपुरस्कृतम्। धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय॥" (वाल्मी० ४।१८।५०), अर्थात् सबसे बड़ा धर्म-त्यागी मैं भी आपके यहाँ आया हूँ। हे धर्मज्ञ! धर्मयुक्त वचनों से आप मेरी रक्षा करें। 'अजहूँ मैं पापी'? अर्थात् आपकी शरण होते ही सब पाप नाश हो जाते हैं, यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहि तबही॥" (सुं० दो० ४३), पुनः ऊपर चौ० ७-८ के प्रसंग में मनुस्मृति के दो श्लोकों के भाव कहे गये हैं कि राज-दंड मिलने पर प्राणी पापों से मुक्त हो जाते हैं, उस दृष्टि से भी बालि ने कहा कि क्या आपके बाणों से दण्डित होने पर भी मैं पापी ही हूँ? अर्थात् अब मुझे

पापी न कहिये। फिर जब अन्त समय में आप मेरे सम्मुख प्राप्त हैं, तो मैं पापी कहाँ रहा ? यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सात हयजान सों।" (गी० सुं० ३३),

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि-सीस परसेउ निज पानी ॥१॥
अचल करउँ तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥२॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बालि की अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही उसके मस्तक पर अपना हाथ फेरा ॥१॥ (और कहा कि) अब मैं तुम्हारे शरीर को अचल किये देता हूँ, तुम अपने प्राण रक्खो (जीवन धारण करो)। बालि ने कहा कि हे कृपानिधान ! सुनिये ॥२॥

विशेष—(१) 'अति कोमल बानी'—बालि ने अन्त में दीन होकर कहा—"प्रभु अजहूँ मैं पापी, अंतकाल गति तोरि।" ये उसके अत्यन्त कोमल शब्द हैं। श्रीरामजी के द्वारा बाण से मारे जाने पर भी उन्हें 'स्वामी' कहा और पूर्ण आदर का भाव रक्खा, इसीसे 'अति कोमल बानी' यह कहा गया है। पहले उसने 'मुख बचन कठोरा' कहा था, उस वाग् दोष की भी निवृत्ति अब हो गई। 'बालि सीस परसेउ निज पानी।'—बालि के विशेष नम्र वचनों को सुनकर प्रभु ने आश्वासन देते हुए उसके सिर पर हाथ फेरा है। प्रायः भक्तों के सिर पर हाथ फेरे जानेवाले हाथ की कमल से उपमा दी जाती है, यथा—"परसा सीस सरोरुह पानी।" (दो० २२), "कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।" (उ० दो० ८२), किन्तु जहाँ युद्ध की कठोरता के प्रसंग हैं, वहाँ हाथ की उपमा कमल से नहीं रहती, यथा—"कर परसा सुग्रीव सरीरा।" (दो० ७), इन दोनों भेदों के उदाहरण—"कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहउ नाथ सीस मेरे···" (वि० १३८), इस पूरे पद में देखने योग्य है। यहाँ भी युद्ध-प्रसंग होने से कर के साथ कमल विशेषण नहीं है।

(२) 'अचल करउँ तनु '—बालि ने कहा था—'मारेहु मोहि', 'नाथ मोहि मारा' इसपर कहते हैं कि मैंने तुम्हारे तन में बाण मारा है, सो उसे अचल किये देता हूँ, तुम प्राणों को रक्खो। भाव यह कि मेरी प्रतिज्ञा है, यथा—"ब्रह्म रुद्र सरनागत, गये न उबरिहि प्रान।" पर मैं तो ब्रह्म-रुद्र से परे हूँ। अतः, मेरी शरण आने पर तुम्हारे प्राण रह सकते हैं। शरणागत के लिये श्रीरामजी प्रतिज्ञा छोड़ भी देते हैं, यथा—"निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥" (अ० दो० २६५), यहाँ तो प्रतिज्ञा-निर्वाह के साथ व्यवस्था है। इस तरह अचल तन से चिर-जीवित रहो। 'कृपानिधाना'—में बालि का कथन है कि मुझ पापी पर कृपा की, दर्शन दिये, सिर पर हाथ रक्खा, इत्यादि। वह अब प्रभु-कृपा से, प्रभु के हाथ से एवं वीर-गति से मरने का संयोग पाने से शरीर-त्याग को ही श्रेष्ठ मानता है, और इसीको आगे कहा है—

जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥३॥
जासु नाम-बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी ॥४॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥५॥

अर्थ—मुनि लोग जन्म-जन्म अभ्यास करते है, (तथापि) अन्त समय उनसे 'राम' नहीं कह आता (यह ऐसा दुर्लभ है) ॥३॥ जिनके नाम के बल से काशीजी में श्रीशंकरजी सबको एक समान अविनाशिनी मुक्ति देते हैं ॥४॥ वही प्रभु आकर मेरे नेत्रों के विषय-रूप में प्राप्त हुए। हे प्रभो ! क्या फिर ऐसा (संयोग) बनाने से बनेगा अर्थात् ऐसी उत्तम मृत्यु का संयोग फिर बनाने से नहीं बन सकेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'जन्म-जन्म मुनि·····'—अन्तकाल आपके रूप की प्राप्ति तो दुर्लभ है ही, आपके नाम की प्राप्ति के लिये भी मुनि लोग जन्म-जन्म निरन्तर यत्न (अभ्यास) करते रहते है, जिससे वे मुक्त

होकर आपको पावें, यथा—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥" (अर० दो० ३०), "जाकर नाम मरत मुनि-दुर्लभ तुम्हहिं कहाँ पुनि पैहौं।" (गी० अर० १३), तथा—"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।" (गीता ७।१९), "अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥" (गीता ८।५)।

(२) 'जासु नाम-बल-संकर कासी। '—मुक्ति की एक अवस्था (जीवन्-मुक्ति) नाशशील भी होती है, यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥" (उ० दो० १२), वैसी गति श्रीशिवजी नाम के द्वारा नहीं देते, किन्तु अविनाशिनी गति देते हैं, यथा—"मुकुत भइ जहँ नहि फिरे।" (अर० दो० ३६), "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" (गीता १५।६), श्रीरामतापनीयोपनिषत् में श्रीराम के द्वारा एवं स्कन्द पु० काशी० पूर्वार्द्ध में अगस्त्यजी के द्वारा कहा गया है कि काशीजी में मरते समय जीवों को शिवजी राम नाम एवं राम-मन्त्र का उपदेश दे मुक्त करते हैं। 'सम गति', यथा—"जो गति अगम महा मुनि दुर्लभ कहत संत श्रुति सकल पुरान। सो गति मरन काल अपने पुर देत सदा सिव सबहि समान॥" (वि० ३), "जो गति अगम महा मुनि गावहि। तव पुर कीट पतंगहु पावहि॥" (वि० ७), शंकर=कल्याण-कर, भाव यह कि शिवजी तो जीवमात्र को एक समान ऐसी उत्तम गति देकर उनका कल्याण करते हैं।

पहले कहा गया है कि अन्तकाल में राम-नाम कहने से मुक्ति होती है, फिर कहते हैं कि श्रीशिवजी के द्वारा काशी क्षेत्र में सुनने से मुक्ति होती है, अर्थात् मुनियों के मनन करते हुए कहने और काशीजी में शिवजी के द्वारा सुनने, दोनों ही से मुक्ति होती है।

(३) 'मम लोचन गोचर'···'—भाव यह कि मुनि लोग और काशी-वासी आपके नाम ही को पाते हैं और उसके द्वारा मरने पर फिर कहीं नित्य-धाम में रूप को पाते हैं और मुझे तो यहीं आँखों के आगे आप स्वयं प्राप्त हैं, तो मुझ-सा भाग्यवान् वे लोग भी नहीं है।

छन्द—सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥
मोहि जानि अति अभिमानबस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही॥

अर्थ—जिसका गुण 'नेति' (= यह गुण इतना ही नहीं जो मैंने कहा है) कहकर श्रुतियाँ सदा गाया करती हैं और जिन्हें, पवन और मन को जीतकर तथा इन्द्रियों को नीरस (शब्दादि विषयों से विरक्त) करने पर मुनि लोग कभी-कभी ध्यान में पाते हैं, वे ही आप मेरे नेत्रों के विषय हुए, अर्थात् मेरे आगे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं॥ मुझे अत्यन्त अभिमान के वश जानकर, हे प्रभो! आपने कहा कि अपने शरीर को रख। ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो हठ से कल्प-वृक्ष को काटकर उससे बबूल के वृक्ष की बारी बनायेगा, अर्थात् कल्पवृक्ष से बबूल के वृक्ष को रूँधेगा॥

विशेष—(१) 'जिति पवन मन गो निरस करि·····'—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान—ये पञ्च प्राण कहलाते है। इन्हें ब्रह्माण्ड पर चढ़ा लेना इनका जीतना है। मन को वश एवं एकाग्र करना उसे जीतना है। मन का जीतना और नीरस करना दोनों ही कहे गये हैं, यथा—"रे मन सबसों निरस ह्वै, सरस राम पद होहि।" (दोहावली ५१), "जीतहु मनहि सुनिय अस, रामचंद्र के राज।" उ० दो० २२)

पहले पवन जीता जाता है, तब मन और फिर इन्द्रियाँ नीरस होती हैं, तब ध्यान किया जाता है, वैसे ही क्रम से कहे गये है। मन और पवन एक-दूसरे के सापेक्ष हैं, इसीसे साथ जीते जाते है, यथा—"दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि। यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिः॥" (हठप्रदीप), तथा—"पवनो वध्यते येन मनस्तेनैव वध्यते। मनस्तु वध्यते येन पवनस्तेन वध्यते॥" (मानस-तत्त्व-भास्कर), अर्थात् दूध और जल की भाँति मन और पवन मिले हुए है, दोनों की क्रियाएँ एक ही है, जहाँ मन है, वहीं पवन की पहुँच है और जहाँ पवन है, वहीं मन की पहुँच है। पवन और मन एक ही उपाय से बाँधे भी जाते हैं। इसीसे दोनों साथ लिखे गये है। 'मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं', यथा—"जे हर-हिय-नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥" (अ० दो० २०९), तथा—"मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥" (बा० दो० ५१)—इसका विशेष भी देखिये।

तात्पर्य यह है कि जिनका नाम मुनियों को दुर्लभ, गुणवेदों को दुर्लभ और ध्यानयोगियों को दुर्लभ है, वे ही आप मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हैं।

(२) 'मोहि जानि अति·····'—प्रभु ने कहा था—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" इसीपर बालि ने कहा—'मोहि जानि···', 'प्रभु' अर्थात् आप मेरे शरीर को अचल करने में समर्थ है।

(३) 'कवन सठ हठि काटि सुरतरु··· ···'—आपकी प्राप्ति कल्प-वृक्ष के समान सभी मनोरथों को देनेवाली है, यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥" (तैत्त० १।२), अर्थात् वह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ-साथ सारी कामनाओं का भोग करता है, क्योंकि मुक्त होने पर इसे ब्रह्म-साधर्म्य प्राप्त होने पर ये आठ गुण परधाम में इसमें नित्य रहते है, यथा—"य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको-भिजिघित्सोपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।" (छान्दो० ८।७।१), अर्थात् यह आत्मा पाप-शून्य, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा-हीन, तृषा-हीन, सत्यकाम और सत्य-सङ्कल्प है। उससे इस नश्वर देह की अचलता चाहना मानों कल्पवृक्ष से बबूल रूँधना है। यहाँ शरीर को बबूल कहा गया, क्योंकि इसमें विषय-सम्बन्धी सुख-दुःख-रूपी काँटे भरे हुए हैं। भगवान् से देह-सुख चाहना, कल्प-वृक्ष से बबूल रूँधना है, ऐसा तो शठ ही कर सकता है, तथा—"अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि बिषय बबूर बाग मन लायो।" (वि० २४४)।

बालि किसी भी तन से भक्ति ही चाहता है, तो उसे यह तन भी रखना अनुकूल ही होता, पर इसका नाश करने की प्रभु-प्रतिज्ञा जानकर ही उसने तद्विरुद्ध इच्छा नहीं की।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ राम-पद अनुरागऊँ॥
यह तनय मम सम बिनय-बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिये॥

दोहा—राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु-त्याग।
सुमन-माल-जिमि कंठ ते, गिरत न जानइ नाग॥१०॥

अर्थ—हे नाथ! अब करुणा करके मेरी ओर देखिये और मैं जो वर माँगता हूँ वह दीजिये। कर्म के वश में होकर जिस योनि में मेरा जन्म हो, वहाँ राम-पद में मेरा अनुराग हो॥ हे प्रभो! हे कल्याण-

दाता ! यह मेरा पुत्र विनय और बल में मेरे बराबर ही है। इसकी बाँह पकड़ लीजिये (अर्थात् इसे मैं आपको सौंपता हूँ) और, हे सुर-नर-नाथ ! इस अंगद को अपना दास कीजिये ॥ (इतना कहकर) श्रीरामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति करके बालि ने (इस तरह) देह त्याग की, जैसे अपने गले से फूल की माला का गिरना हाथी नहीं जानता, अर्थात् बालि को शरीर-त्याग का कुछ भी दुःख नहीं जान पड़ा ॥१०॥

विशेष—(१) **अब नाथ करि करुना'''**—श्रीरामजी ने तन अचल करने को कहा है, परन्तु यह उनकी कृपा-दृष्टि नहीं है। वह सोचता है कि मैंने इनके आश्रित को मारना चाहा था, इसीसे अभी तक प्रभु के नेत्र क्रोध से लाल हैं, यथा—"अरुन नयन सर चाप चढ़ाये।' ऊपर कहा गया है। इसलिये बालि ने विनती की कि हे नाथ ! करुणा करके देखिये। 'देहु जो बर माँगऊँ'—का भाव यह है कि आपने जो—'अचल करउँ तन'''' का वरदान देने को कहा है, वह मैं नहीं चाहता, किन्तु मैं जो माँगता हूँ, वही वर मुझे दीजिये ! प्रभु की दृष्टि को करुणापूर्ण कराके तब माँगा, क्योंकि उसे दुर्लभ वर माँगना है।

(२) **'जेहि जोनि जनमउँ'''**—भाव यह कि तन कोई भी क्यों न हो, मुझे आपका पदानुराग रहे। भक्त लोग किसी भी रीति से भगवान् का संयोग ही चाहते हैं, यथा— "खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ॥" (वि० २३१), तथा—"पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं, धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्। तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गनव्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्ताल-वृन्तेऽनिलः ॥" अर्थात् विह्वल चित्त से एक भक्त विधाता से प्रार्थना करता है कि पाँचो तत्त्व तो अलग-अलग होंगे ही, हे प्रभो ! आप इतना कर दीजिये कि जल प्रियतम के कुँए में, अग्नि उनके दर्पण में, पृथ्वी उनके मार्ग में, वायु उनके पंखे में और आकाश-तत्त्व उनके आँगन में जाकर मिल जायँ, तथा—"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्। येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥" (भाग० १०।१४।३०), अर्थात् प्रभो ! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो जिससे मैं इस जन्म में या दूसरे जन्म में अथवा किसी तिर्यग्योनि में ही जन्म लेकर आपके दासों में से एक होकर आपके चरण-कमलों की सेवा कर सकूँ। भाग० १०।४७।६७ में भी ऐसा ही कहा है। अ० दो० २३ 'जेहि-जेहि जोनि'''' का विशेष भी देखिये।

(३) **'यह तनय मम सम'''**—उसी समय अंगद भी वहाँ आ गये थे। **'मम सम बिनय बल'**—का भाव यह है कि अंगद आपके कार्य के योग्य है। **'कल्यानप्रद'**—इसका भी कल्याण कीजिये। **'लीजिये। गहि बाँह'**—बाँह पकड़कर इसे अपनाइये, यथा—"तुलसी तृन जल कूल को, निरधन निपट निकाज। कै राखै, कै सँग चलै, बाँह गहे की लाज ॥" (दोहावली ५४४), अर्थात् बालि के मन में यह भाव है कि अंगद की बाँह पकड़ने से इसकी रक्षा का पूर्ण भार इन्हींके ऊपर रहेगा और श्रीसुग्रीवजी के पश्चात् इसे ही राज्य मिलेगा। **'सुर-नर-नाह'**—जैसे आप सुर-नर की रक्षा करते हैं, वैसे ही इसकी भी रक्षा करें। अथवा आपकी सेवा तो बड़े-बड़े देवता और मनुष्य करते हैं, यह कौन विशेष सेवा करेगा। पर मेरे वर माँगने से आप इसे अपना दास बना लीजिये।

"इस प्रसंग मे बालि के अनेक गुण कहे गये" (मानस तत्त्व भास्कर)—(१) "सुनत बालि क्रोधातुर धावा।"—शूरता। (२) "भिरे उभौ बाली अति तरजा। मुठिका मारि महाधुनि गरजा ॥"—युद्ध निपुणता। (३) "मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।"—बल। (४) "पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।"—धैर्य। (५) "पुनि-पुनि चितइ चरन चित दीन्हे। --भक्ति।" (६) "सुफल जनम माना प्रभु चीन्हे।"—ज्ञान। (७) "धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं" से "सुनत राम अति कोमल बानी।" तक—वचन चातुरी। (८) "जनम-जनम मुनि जतन कराहीं।" से "अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही।" तक—पण्डिताई। (९) "अब नाथ करि करुना बिलोकहु" से "गहि बाँह सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिये ॥" तक—बुद्धि।

(१०) "राम-चरन दृढ़ प्रीति करि, बालि कीन्ह तनु-त्याग।"—सावधानता। (११) "राम बालि निज धाम पठावा।"—भाग्य। (१२) "नगर लोग सब ब्याकुल धावा।"—प्रजा पालकता।

(४) 'राम-चरन दृढ़ प्रीति करि···'—'दृढ़ प्रीति', यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥" (मु० दो० ४७), बालि ने पहले प्रभु से राम-चरण-अनुराग माँगा, तब पुत्र को उन्हें सौंपकर निश्चिन्त हो गया और अब सभी ओर से ममता खींचकर उसने राम-चरण में दृढ़ प्रीति की, इसीसे मरने का दुःख उसे नहीं हुआ। जैसे हाथी की सूँढ़ से माला, खिसक पड़े, वैसे ही अनायास शरीर छूट गया।

'सुमन माल जिमि ···'—यहाँ ध्वनि से वाल्मी० ४।२२।१६-१८ मे वर्णित इन्द्र की दी हुई माला का देना भी जनाया गया, जिसे बालि ने अन्त समय में श्रीसुग्रीवजी को दिया था। वह माला दिव्य थी, बालि के पहने हुए ही शरीर-त्याग होने से वह प्रभा-हीन हो जाती। इसलिये सौहार्द्र से बालि ने पहले ही इन्हें माला दे दी।

"श्रीगोस्वामीजी ने श्रीरामजी के साथ बालि और सुग्रीव के व्यवहार एक समान कहे हैं" (मानस-तत्त्व-भास्कर)—

बालि		सुग्रीव
पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।	१	जब सुग्रीव राम कहँ देखा।
सकल जनम माना प्रभु चीन्हे।	२	अतिसय धन्य जनम करि लेखा।
राम चरन दृढ़ प्रीति करि,	३	जोरी प्रीति दृढ़ाय।
पुनि-पुनि चितइ चरन चित दीन्हा।	४	बार-बार नावइ पद सीसा।
सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा।	५	प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।
अब नाथ करि करुना···देहु जो ·। जेहि जोनि जनमउँ ··रामपद अनुरागऊँ॥	६	अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती॥
गहि बाँह· ·आपन दास अंगद कीजिये।	७	सब प्रकार करिहौ सेवकाई।
बालि शरण हुए—'अंतकाल गति तोरि'	८	सुग्रीवजी श्रीरामजी की शरण हुए।

इसीसे श्रीरामजी ने दोनों भाइयों के प्रति एक समान व्यवहार किये है—

बालि		सुग्रीव
बालि सीस परसेउ निज पानी।	१	कर परसा सुग्रीव सरीरा।
सुनत राम अति कोमल बानी।	२	मुनि सेवक दुख दीन दयाला।
सुनु सुग्रीव मारिहौं, बालिहि एकहि बान	३	जेहि सायक मारा मैं बाली, तेहि सर हतउ ··।
दोनों के अर्थ श्रीरामजी ने प्रतिज्ञा छोड़ी --		
अचल करउँ तन राखहु प्राना।	४	भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव
दोनों को राज्य दिया—'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ'	५	अंगद कहँ जुवराज
राम बालि निज धाम पठावा।	६	सुग्रीव को किष्किन्धा धाम दिया

--इस प्रकार उपर्युक्त 'सम दरसी रघुनाथ' पद चरितार्थ हुआ।

मानस में पञ्चसंस्कार

इस ग्रन्थ के सातो काण्डों में किष्किधाकाण्ड मध्य का है, अतएव यह समग्र ग्रन्थ का हृदय-रूप कहा जाता है। इसके पहले के तीन काण्ड ऊपर के और पीछे के तीनों नीचे के ढक्कन हैं। इस तरह के बने डब्बे में यत्नपूर्वक रक्खे रत्न की तरह यह काण्ड है। पुनः "बालकाण्ड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन

मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किन्धा सोहै।" ऐसा भी कहा गया है। इससे ग्रन्थकार ने अपना (वैष्णवों का) परम रहस्य-रूप पंचसंस्कार इसीमें गुप्त रीति से सजा रक्खा है। नाम, कंठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा (धनुष-बाण) और मन्त्र, ये ही पञ्चसंस्कार हैं। नाम, यथा—"आपन दास अंगद कीजिये" इसपर श्रीरामजी ने अंगद की बाँह पकड़ी और उसे अपना दास माना। कंठी, यथा—"मेली कंठ सुमन की माला।"—इसमें 'सुमन की' पद श्लिष्ट है। 'मनका' माला के बड़े-बड़े दाने को कहते है, और 'मनकी' छोटे दाने को, जिनकी कंठी बनती है। सु उपसर्ग यहाँ उत्तम काष्ठ के अर्थ से तुलसी की 'मनकी' बोधक है। उसकी माला जब कण्ठ में मेली जायगी, तो दोहरा होने पर ही कण्ठ से संलग्न रहेगी, अन्यथा हृदय पर लटक जायगी। ऊर्ध्वपुण्ड्र, यथा—"पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हें। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हें॥" ऊर्ध्वपुण्ड्र भी 'हरिपादाकृति' ही है, यहाँ बालि के प्रभु-चरणों में चित्त देने का वही भाव है। इसी ऊर्ध्वपुण्ड्र से वैष्णव लोग अपने जन्म की सफलता भी मानते है। इसे ही 'प्रभु चीन्हें' अर्थात् प्रभु का चिह्न भी मानते हैं—श्रीवाले, बेंदीवाले आदि संज्ञा से कहे जाते हैं। मुद्रा, यथा—बाण से प्रभु ने बालि के सब पापों का नाश किया और उसीसे उसे परम पद भी दिया, यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत्परमां गतिम्॥" ॥ (वाल्मी० ४।१७।८), (अर्थ ऊपर कहा गया है।), बाण के माहात्म्य के साथ-साथ धनुष का भी है। मंत्र, यथा—"जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥ जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी॥" इसमें एक अर्द्धाली में मन्त्र का जपना और दूसरी में शिवजी के द्वारा कान में मन्त्र का सुनाया जाना कहा गया है। मन्त्र और नाम अभेद हैं, यथा—"सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥" (मत्स्यपुराण), पुनः राम-नाम राममन्त्र का बीज है, मन्त्र का अवशिष्ट अंश बीज का विवरण (अर्थ) है। 'जन्म जन्म मुनि···'—'जन्म-जन्म' अर्थात् नित्य प्रातःकाल, क्योंकि सोकर जागना जन्म के समान माना जाता है, इसीसे प्रातःकाल प्राण-प्रतिष्ठा और भूत-शुद्धि आदि विधियाँ की जाती हैं। 'मुनि' अर्थात् मन्त्र का अर्थ मनन करते हुए। 'जतन कराहीं' अर्थात् गुप्त रूप से जप करते है। 'अंत राम कहि'—अन्तकाल तक नित्य ऐसे 'राम' कहते (जपते) हुए। 'आवत नाहीं'—फिर संसार में नहीं आते। दूसरी अर्द्धाली में शिवजी का मन्त्रोपदेश देना स्पष्ट ही है, यथा—"त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।" (रामतापनीय उ०), मन्त्रोद्धार सर्वत्र गुप्त ही रहता है, वैसे यहाँ भी है, विस्तार-भय से सूक्ष्म में ही कहा गया। इन पाँचों संस्कारों का रहस्यात्मक वर्णन मेरे ग्रन्थ 'श्रीमन्मानस-नाम-वन्दना' एवं 'प्रपत्ति-रहस्य' में देखें।

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥१॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥२॥
तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी ने बालि को निजधाम (परम गति) में भेज दिया, उस नगर के सब लोग व्याकुल होकर दौड़ पड़े॥१॥ तारा नाना भाँति से विलाप कर रही है, उसके सिर के बाल छूटे हुए हैं और देह की सँभाल नहीं है॥२॥ श्रीरघुनाथजी ने तारा को व्याकुल देखकर उसे ज्ञान दिया और उसपर से माया हर ली॥३॥

विशेष—(१) 'निज धाम'—बालि श्रीरामजी के बाण के प्रभाव से निष्पाप हो गया, फिर उसने श्रीरामजी के दर्शन पाये और उनके चरणों में दृढ़ प्रीति करके शरीर-त्याग किया। अतः, प्रभु के 'निज धाम' (साकेत धाम) को गया। श्रीरामजी यहाँ खड़े हैं, अतएव उनका ही निज (स्वकीय)

धाम का अर्थ लेना होगा, यथा—"तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम् ॥" (वाल्मी ४।१७।८), इसमें स्वर्ग शब्द नित्यधाम का वाचक है, क्योंकि आगे 'परमां गतिम्' स्पष्ट है। वाल्मीकीय रामायण की 'शिरोमणी' टीका में स्वर्ग शब्द का अर्थ, वैदिक प्रमाणों से, दशरथजी के सम्बन्ध में परधाम का ही किया गया है। जब उसने श्रीराम-चरण में दृढ़ प्रीति करके प्राण छोड़े, तब तो—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (गीता ७। २३), "यान्तिमद्याजिनोऽपि माम्।" (गीता ९।२५), के अनुसार परमधाम अर्थ करना ही पड़ेगा। 'नगर लोग सब···'—"लोगों के व्याकुल होने का कारण उनका भय है कि अब हम लोगों को बालि-पक्ष का मानकर श्रीसुग्रीवजी वैर का बदला लेंगे"—वाल्मी० ४।१६ में कहा है अथवा बालि उन्हें विशेष रूप से पालन करता था, अतएव प्रिय था। इससे उसकी मृत्यु सुनकर सब व्याकुल होकर दौड़े।

(२) 'नाना बिधि बिलाप···'—तारा का विलाप वाल्मी० ४।२०-२४ में विस्तार से कहा गया है, उसे ही 'नाना विधि' से यहाँ सूचित किया गया। 'छूटे केस न देह सँभारा'—से उसका शोक से व्याकुल होना जनाया गया, यथा—"सोक-बिकल दोउ राज-समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा ॥" (अ० दो० २७५), ज्ञान न रहा, इसीसे नाना प्रकार से विलाप करती है। धैर्य न रहने से देह की सँभाल नहीं है और लाज न रहने से केश छूट गये है।

"तारा सुषेण वानर की कन्या (और बालि की स्त्री) है, बालि ने श्रीसुग्रीवजी से कहा है कि तारा सूक्ष्म विषयों के विवेचन करने तथा नाना प्रकार के उत्पात-सूचक विषयों के जानने में अत्यन्त पटु है। इसकी सम्मति से किये गये कार्य अवश्य सिद्ध होते है।" (वाल्मी० ४।२२।१३-१४), पुराणों के अनुसार यह पाँच प्रातः स्मरणीय स्त्रियों में से है, जिनका स्मरण मांगलिक माना जाता है—अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मन्दोदरी, यथा—"अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा। पञ्चकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम् ॥" यह प्राचीन श्लोक है।

(३) 'तारा बिकल देखि·····'—श्रीरघुनाथजी कोमल स्वभाव के है। अतः, इसकी व्याकुलता पर उन्हें दया आ गई। इसीसे उसे ज्ञान देकर उसका शोक निवृत्त किया, यथा—"सोक निवारेउ सबहि कर, निज बिज्ञान प्रकास ॥" (अ० दो० १५६) "होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥" (अ० दो० ९२)—इसमें भी विवेक (ज्ञान) से माया के अंगभूत मोह-भ्रम की निवृत्ति कह कर तब श्रीराम-भक्ति का होना कहा गया है। प्रभु ने पहले ज्ञान देकर माया दूर की और जब उसने प्रभु से भक्ति माँगी तो उन्होंने दया-दृष्टि से विचारा कि मेरे सम्मुख प्राप्त होकर इसका शोक एवं अज्ञान रहना ठीक नहीं, इससे उन्होंने अपनी अलौकिक वाक्शक्ति से ज्ञान देकर उसका अज्ञान हर लिया।

अलंकार—'परिवृत्ति प्रथम' क्योंकि बहुत देकर थोड़ा लेना कहा गया है।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच-रचित अति अधम सरीरा ॥४॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा ॥५॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु, इन पाँचो तत्त्वों से यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया है ॥४॥ वह शरीर तेरे सामने प्रत्यक्ष सोया हुआ है और जीव तो नित्य है, फिर तुम किसके लिये रोती हो ? ॥५॥

विशेष—(१) 'छिति जल पावक·····'—यहाँ तत्त्वों के वर्णन शरीर-रचना के क्रम से है जो—'पंच रचित···' से स्पष्ट है। भाव यह कि माता का रज पृथ्वी-तत्त्व है और पिता का वीर्य जल-तत्त्व है। इनका खौलकर पिंड बन जाना अग्नि-तत्त्व से होता है, उसमें का पोला भाग आकाश-तत्त्व है और फिर उसमें प्राण का आना वायु-तत्त्व है। पुनः सुन्दरकाण्ड दो० ५८ मे—"गगन समीर अनल जल

धरनी।" यह क्रम कहा गया है, क्योंकि वहाँ पाँचो तत्त्वों के उत्पत्ति-क्रम के वर्णन का प्रसंग है, यथा—"तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु ..." (सुं० दो० ५८), और श्रुति में भी तत्त्वो की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार कहा गया है, यथा—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः॥ आकाशा द्वायुः॥ वायोरग्निः॥ अग्नेरापः॥ अद्भ्यः पृथिवी॥ पृथिव्या ओषधयः॥ ओषधीभ्योऽन्नम्॥ अन्नात्पुरुषः॥" (तैत्तरीय० २।१)।

'अति अधम सरीरा।'—जीव का सहज स्वरूप उत्तम है, वासनामय होने से कारण शरीर मध्यम है, सूक्ष्म-शरीर अधम है और पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर अति अधम है, क्योंकि वह सप्त धातुमय एवं अत्यन्त विकारी है, तथा—"अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्। चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णंमूत्र-पुरीषयोः॥ जराशोकसमाविष्टं रोगायतमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतवासमिमं त्यजेत्॥" (मनु० ६।७६--७७), अर्थात् हड्डी खम्भा है, स्नायु से बँधा है, इसपर मांस और रुधिर का लेप चढ़ा है, यह चमड़े से ढँका है, मल-मूत्र से भरा है, दुर्गन्धि से युक्त है, बुढ़ापे और शोक से घिरा है, रोगों का घर है, भूख-प्यास से आतुर रहनेवाला है, भोगाभिलाषी एवं क्षण-भंगुर है, प्राणियों के रहनेवाले ऐसे घर का त्याग ही करना चाहिये (जिसमे फिर इसमें न आना हो)।

(२) 'प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।'—जिस तन के लिये तुम रोती हो, वह तो तुम्हारे सामने ही लेटा हुआ प्रकट है। इस देह का प्रकाशक जो जीव है, वह नित्य पदार्थ है। तब इस अनित्य पाञ्च-भौतिक तन मे नित्य पदार्थ सदा कैसे रह सकता है? इसलिये इसमें से उसका पृथक् होना अनिवार्य ही है और यही मरण कहा जाता है। जो बात अनिवार्य है, उसके लिये रोना व्यर्थ है, यथा—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥" (गीता २।२७), अर्थात् जन्म लेनेवाले की निश्चित मृत्यु और मरनेवाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध है, इससे अपरिहार्य (निरुपाय) विषय के लिये शोक करना योग्य नहीं है। तात्पर्य यह कि अनित्य देह की कितनी ही रक्षा की जाय, वह नाश होगी ही और नित्य जीव को कोई कितना ही मारे-काटे उसका नाश हो ही नहीं सकता। इसपर गीता २।११--३० मे (बीस श्लोकों में) सुन्दर व्याख्या है, उसे अवश्य देखना चाहिये। विस्तार-भय से यहाँ नहीं लिखा गया।

'प्रगट'—देह प्रकट है और जीव अप्रकट है, यथा—"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥" (गीता० २।२९), अर्थात् जीव इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना सभी आश्चर्यजनक हैं।

'जीव नित्य', यथा—"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥" (गीता० २।२०), वाल्मीकीय ४।२४।४२--४४ में श्रीरामजी ने तारा को समझाया है, जिसका सारांश यह है कि बालि की मृत्यु के लिये विधाता का विधान इसी तरह का है। समस्त संसार उसीके विधानानुसार चलता है, ऐसा ही वेद का विधान है, तुम भी उसके इस विधान से सन्तुष्ट रहो, वीर-स्त्रियाँ वीर-गति-प्राप्त पति के लिये शोच नहीं करतीं।

इतनी ही बातों से पति-शोक में छाती पीटती हुई व्याकुल तारा को ज्ञान प्राप्त हो गया, यह श्रीरामजी की वाणी का ही प्रभाव है, यथा—"आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन। सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन सुवेषरूपा विरराम तारा॥" (वाल्मी० ४।२४।४४), अर्थात् प्रभावशाली, परन्तप, महात्मा श्रीरामजी के समझाने पर वीर-पत्नी तारा ने विलाप करना छोड़ दिया, उसके हृदय में शान्ति हुई, वह मुख की सुन्दरता के रूप में प्रकट हुई।

उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परमभगति बर माँगी॥६॥

उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं ॥७॥
तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक-कर्म बिधिवत सब कीन्हा ॥८॥

अर्थ—जब ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब वह श्रीरामजी के चरणों में लगी और उनसे वर माँगकर उसने परम भक्ति ले ली ॥६॥ (शिवजी कहते हैं कि) हे पार्वतीजी ! गोस्वामी श्रीरामजी सबको कठपुतली की नाईं नचाते हैं, अर्थात् सब जीव कर्मानुसार श्रीरामजी की प्रेरणा से परस्पर बर्ताव करते हैं ॥७॥ (जब तारा ने ज्ञान-द्वारा परम भक्ति का वर माँगकर पति के साथ सहमरण का विचार छोड़ दिया) तब श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी और उन्होंने वालि के सब मृतक-कर्म विधिपूर्वक किये ॥८॥

विशेष—(१) 'उपजा ज्ञान चरन तब···'—श्रीरामजी की वाणी के प्रभाव से तारा को उसी क्षण ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब उसने पति के साथ सहमरण-रूपी पति-भक्ति को त्यागकर श्रीरामजी की परम भक्ति माँग ली, क्योंकि ज्ञान आदि सभी साधनों का फल हरि-भक्ति ही है, यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी ॥" (उ० दो० १२५), तारा को ज्ञान तो श्रीरामजी ने स्वयं दिया, पर प्रभु-भक्ति उसे माँगने से मिली, क्योंकि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है, यथा—"सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत मद माया ॥" (उ० दो० ५३), "प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥" (उ० दो० ८३), इत्यादि।

(२) 'उमा दारु-जोषित की नाईं।···'—श्रीरामजी गोस्वामी अर्थात् इन्द्रियों के प्रेरक स्वामी हैं। अन्तर्यामी-रूप से उन्हें प्रेरित कर सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं। जैसे कठपुतली नचानेवाला परदे की ओट से तार-द्वारा उसे नचाता है, वैसे ही श्रीरामजी नानात्व जगत् की ओट से गुण (सत्त्वादि एवं करुणा, वात्सल्य आदि) रूपी तार-द्वारा सबको नचाते हैं, यथा—"सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥" (बा० दो० १०४), "यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया। एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥' (भाग० १०।५४।१२), अर्थात् जैसे नट की इच्छानुसार कठपुतली नाचती है, वैसे ही यह जीव ईश्वराधीन होकर सुख-दुःख के लिये चेष्टा करता है; तथा—"यथा दारुमयी योषा नर-वीर समाहिता। ईरयत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः ॥ आकाश इव भूतानि व्याप्य सर्वाणि भारत। ईश्वरो विदधातीह कल्याणं यच्च पापकम् ॥" (महा० वन० ३०।२४-२५), अर्थात् हे नर-वीर ! हे राजन् ! जिस प्रकार कठपुतली नचानेवाले पुरुष के वश में रहती है, वैसे ही यह जगत् भी ईश्वर के वश में रहता है। भारत ! ईश्वर आकाश के समान सबमें व्याप्त होकर सबको कल्याण और पाप के फल को यथा-योग्य देता है। (यह द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा है)।

श्रीरामजी जीवों के कर्मानुसार गुण-रूपी तार (डोर) के द्वारा स्वेच्छा से सभी को नचाते हैं और यह तार दूसरों को नहीं दिखाई पड़ता, इसी तरह अपना भविष्य कोई नहीं जान पाता। जीव चेतन होते हुए भी प्रभु की इच्छा के बिना कुछ नहीं कर सकता और न अपने यत्न से कुछ पाने ही में स्वतन्त्र है, इससे यह जड़ के समान परतन्त्र कहा गया है। ईश्वर की कृपा से ही ज्ञान, भक्ति आदि प्राप्तकर सकता है। श्रीसुग्रीवजी के विषय में भी कहा गया है, यथा—"नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत ॥" श्रीसुग्रीवजी पुरुष थे, इससे वहाँ मर्कट पुरुष रूप कहे गये। तारा स्त्री है, इसलिये कठ-पुतली कही गई। कपीश की बात खगेश से और तारा (स्त्री) की उमा से कही गई। दोनों जगह नचानेवाले प्रभु को 'राम' शब्द से कहा गया। 'रमु क्रीड़ायाम्' धातु के अनुसार राम शब्द क्रीड़ा-सूचनार्थ है। 'सबहिं' शब्द दोनों जगह है और उसका अर्थ समस्त जगत् है। एक जगह जगत् को मर्कट-रूप में चैतन्य कहा और दूसरी जगह उसे दारुयोषित के रूप में जड़ कहा है। इस भेद का कारण यह है कि खगेश उपासना-घाट के हैं और उमा ज्ञान-घाट की हैं। उपासना की दृष्टि से प्राकृत चेष्टाएँ जीवों की

अपनी हैं, इसमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि और उसके कार्य श्रीरामजी की कृपा से प्राप्त होते हैं। अतएव सब जीव मर्कट की तरह हैं, बन्दर की प्राकृत चेष्टाएँ अपनी होती हैं। सद्गुण, सिखानेवाले एवं नचानेवाले नट के है, यथा—"गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। (अ० दो० १३०), "निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै।" (वि० २३९)। ज्ञान-दृष्टि से उभय प्रकार की चेष्टाएँ परमात्मा की ही सत्ता से होती है, यथा—"बोले बिहँसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥" (बा० दो० १२४)। अतः, सब जीव कठपुतली की तरह है, यथा—"सतरंज को सो साज काठ की सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ···" (वि० २४६)।

(३) 'तब सुग्रीवहि ·'—"श्रीसुग्रीवजी बालि की मृत्यु और तारा आदि का रोना देखकर करुणार्द्र हो आत्महत्या करने पर उद्यत हो गये, तब श्रीरामजी ने समझाया और प्रेत-कर्म के लिये उन्हें आज्ञा दी।" (वाल्मी० ४।२५।१-११। 'बिधिवत'—श्रीसुग्रीवजी ने बालि की अन्त्येष्टि क्रिया अंगद के द्वारा ही करवाई, क्योंकि पिता की क्रिया का श्रेष्ठ अधिकारी पुत्र ही है। पुनः शास्त्रोक्त विधियों से राजा के योग्य तैयारी से सभी विधान किये गये। वाल्मी० ४।२५ में विधियाँ दी गई हैं।

सुग्रीव-राज्याभिषेक-प्रकरण

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई॥ ९॥
रघुपति-चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा॥१०॥

दोहा—लछिमन तुरत बोलाये, पुरजन - बिप्र - समाज।
राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुवराज॥११॥

अर्थ—श्रीरामजी ने अपने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को समझाकर कहा कि जाकर श्रीसुग्रीवजी को (किष्किन्धा का) राज्य दो॥९॥ श्रीरघुनाथजी के चरणों मे सिर नवाकर श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से सब चले॥१० श्रीलक्ष्मणजी ने पुरवासी गण और विप्र-समाज को शीघ्र बुलाया। श्रीसुग्रीवजी को राज-पद और श्रीअंगदजी को युवराज-पद दिया॥११॥

विशेष—(१) 'समुझाई'—श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से श्रीअंगदजी को युवराज-पद देने के लिये कहा और समझाया कि यदि उसे यह पद नहीं देंगे, तो लोग कहेंगे कि बालि तो अपना पुत्र इन्हें सौंप गया, पर इन्होंने उसका कुछ भी उपकार नहीं किया और हो सकता है कि पीछे श्रीसुग्रीवजी भी उसकी अवहेलना करें। अतः, उसके युवराज होने से हमारा कृपापात्र समझकर उसे पुत्र के समान सुख देंगे। आगे स्पष्ट है, यथा—"राज दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ युवराज॥" यहाँ गुप्त रूप से कहने का कारण यह है कि श्रीरामजी का स्वभाव संकोची है, श्रीसुग्रीवजी के सम्मुख शीलवश यह नहीं कह सके कि श्रीसुग्रीवजी का पुत्र उत्तराधिकारी नहीं होगा। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे गुप्त ही रक्खा और कार्य हो जाने पर खोला।

यहाँ के समझाने का विषय वाल्मी० ४।२६।१२-१३ में श्रीरामजी ने सुग्रीवजी से ही कहा है कि 'सुग्रीव! तुम लोक-व्यवहार के ज्ञाता हो, यह अंगद चरित्रवान् है, बली और पराक्रमी है, इसको भी युवराज-पद का ही अभिषेक करो। यह तुम्हारे बड़े भाई का ज्येष्ठ पुत्र है और पराक्रम में अपने पिता के समान है, इसकी आत्मा श्रेष्ठ है। अतः, यह युवराज होने के योग्य है'।

(२) 'रघुपति-चरन···'—चरणों में प्रणाम करके विदा होना शिष्टाचार है। 'रघुपति'—का भाव

यह है कि एक तो सभी रघुवंशी धर्मात्मा है, फिर आप तो उनमें श्रेष्ठ है, अतएव धर्म और नीति के अनुसार ही किया। इस कार्य में सुग्रीव और बालि के वंश की भी भलाई की। 'प्रेरित रघुनाथा'—बालि के मारे जाने पर सभी विकल थे कि हमें बालि के पक्ष का (विरोधी) मानकर सुग्रीवजी के पक्षवाले दुःख देंगे। उसपर संकेत से श्रीरामजी ने लक्षित करा दिया कि अंगद का युवराज्य भी होगा, तब सब प्रसन्न होकर कृतज्ञता से चरणों में प्रणाम करके चले।

(३) 'लछिमन तुरत बोलाये ···'—स्वामी के आज्ञा-पालन में शीघ्रता एवं श्रद्धा से शीघ्र ही अभिषेक में बुलाये जाने योग्य पुरजनों और विप्रों को बुलाया। सम्भवतः मुहूर्त्त भी शीघ्रता का था और लौटकर शीघ्र ही स्वामी की सेवा में आना भी था। सबके समक्ष ही श्रीसुग्रीवजी को राज्य और अंगदजी को युवराज-पद दिया। इस प्रकार की नीति इनमें प्रथम से ही आ रही है। बालि के राजा होने के साथ भी सुग्रीव युवराज बनाये गये थे। "मोहिं देखि जिय भेद बढ़ावा।" (दो० ५)—इसके विशेष में प्रमाण देखिये। वैसे यहाँ पर सुग्रीवजी के राजा होने के साथ ही अंगदजी को युवराज-पद दिया जाना उत्तम बर्ताव है। इसीसे वाल्मी० ४।२६।३६--४० में सभी वानरों ने अंगद को यौवराज्य पर सुग्रीवजी की प्रशंसा और श्रीराम-लक्ष्मण की बार-बार प्रशंसा की है।

उमा राम-सम हित जग माहीं। गुरु-पितु-मातु-बंधु-प्रभु नाहीं ॥१॥
सुर-नर-मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥२॥

अर्थ—हे पार्वती! संसार में श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु, पिता, माता, भाई और स्वामी कोई नहीं है ॥१॥ देवता, मनुष्य और मुनि आदि सबकी यह रीति है कि ये सब स्वार्थ के लिये प्रीति करते है ॥२॥

विशेष—(१) 'उमा राम-सम ···'—यह चौपाई काव्य वैदर्भी रीति की है, जिसमें मधुर वर्णों द्वारा मधुर रचना की जाती है। इसमें दो-ही-दो अक्षरों के सब मधुर पद है।

इसमें कहा गया है कि श्रीरामजी सबसे बड़े हितकारी हैं, आगे अर्द्धाली—'सुर-नर-मुनि···' से उसका हेतु भी कहा है कि सब स्वार्थ-दृष्टि से ही हित करते है, पर श्रीरामजी निर्हेतु कृपालु हैं, यथा—"अति कोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी ॥" (वि० १६६), सुर-मुनि स्वार्थी है, यथा—"जे सुर सिद्ध मुनीस जोग बिद बेद-पुरान बखानें। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने ॥" (वि० २३६), नर, यथा—"सुहृद समाज दगावाजी ही को सौदा सूत जब जाको काज तब मिलै पाय परिसो ॥" (वि० २६४)।

श्रीसुग्रीवजी का हित करने में श्रीरामजी का वास्तव में कोई स्वार्थ नहीं है, यथा—"का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति निर्बाहु। जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सुहात न काहु।" (वि० १९३), "कपि सुग्रीव बंधु-भय ब्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी ॥" (वि० १६६), "दीन जानि तेहि अभय करीजे।" (दो० ३), यह श्रीहनुमानजी ने कहा है।

शंका—यहाँ कहा गया कि श्रीरामजी के समान हितकारी गुरु भी नहीं है, तो—"तुम ते अधिक गुरुहिं जिय जानी।···" (अ० दो० १२८), एवं—"गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" यह किस भाव से कहा है?

समाधान—गुरु का महत्त्व ईश्वर-प्राप्ति के सम्बन्ध से है, गुरु की कृपा से ईश्वर की प्राप्ति होती है। उनमें गुरुत्व-शक्ति ब्रह्म से ही प्राप्त रहती है, उस शक्ति-सम्बन्ध से उतने अंश में वे ही परब्रह्म हैं,

दिव्य गुण उत्पन्न करने से ब्रह्मा, भक्ति-प्रदान-द्वारा शिष्य का पालन करने से विष्णु और मोहादि दुर्गुणों के संहार करने से गुरु शिव-रूप भी है। फिर भी वे अपने शिष्यों के लिये ही हैं। और, ईश्वर का ऐश्वर्य सब पर है। भगवान् ने ही गुरु सेवा को अधिक गौरव स्वयं दिया है कि जिससे जीव शीघ्र कृतार्थ हो, यह भी उनकी ही दया है। वास्तव में सब नातों द्वारा उन्हींकी प्रेरणा से कार्य होते है, यथा—"जासों सब नाते फुरै तासों न करी पहिचान।" (वि० १९०), "पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनुहेतु हित नहि तैं लखा॥" (वि० १३५), इसीसे कहा है—"गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानै दृढ़ सेवा॥" (अर० दो० १५), तथा—"राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुरु स्वामि सनेही॥" (क० उ० ३६), "जननी जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।" (वि० ११३)।

यहाँ ईश्वरी सत्ता का महत्त्व कहा गया है। जहाँ गुरु को अधिक कहा है, वहाँ सौलभ्य गुण को लेकर कहा गया है, जैसे—"कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।" (बा० दो० २२), इसमें भी नाम जप का फल रूप की प्राप्ति है, पर सौलभ्य अंश में नाम को अधिक कहा गया है।

बालि-त्रास ब्याकुल दिन-राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥३॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर-सुभाऊ॥४॥
जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं॥५॥

अर्थ—जो (सुग्रीव) दिन-रात बालि के डर से व्याकुल रहता था, जिसके शरीर में बहुत घाव हो गये थे और चिन्ता के मारे जिसकी छाती जला करती थी॥३॥ उसी सुग्रीव को वानरों का राजा कर दिया। अतः, रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव अत्यन्त ही कृपालु है॥४॥ जानते हुए भी जो मनुष्य ऐसे प्रभु श्रीरामजी को छोड़ देते हैं, वे विपत्ति के जाल में क्यों न फँसें?॥५॥

विशेष—(१) 'बालि-त्रास ब्याकुल ···'—श्रीसुग्रीवजी ने स्वयं कहा है—"तदपि सभीत रहउँ मनमाहीं।", "सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।" (दो० ५), 'तनु बहु ब्रन', यथा—"रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।" (दो० ५), इसीसे तन में बहुत घाव हो गये थे। यह बाहरी दुःख है और 'चिंता जरु छाती'—यह भीतरी दुःख भी कहा। 'तनु बहु ब्रन'—इसपर यह शंका की जा सकती है कि बालि-सुग्रीव का वैर बहुत पहले का है, पीछे तो ऋष्यमूक पर रहने लगे थे तो वे घाव बने ही रहे। इसका समाधान यह है कि "तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।" (दो० ५)—इसके विशेष में लिखा गया कि बालि सुग्रीवजी को मारने के उद्योग में लगा ही रहता था, इससे उसके भेजे हुए वीरों से लड़ने में बार-बार घाव शरीर में हो जाया करते थे, और भविष्य की चिन्ता में इसीसे छाती भी जला करती थी।

(२) 'अति कृपालु'—श्रीरामजी ने किसी स्वार्थ दृष्टि से उसका हित नहीं किया, किन्तु दीन जानकर उसपर अत्यन्त कृपा की है, यथा—"बालि बली बल सालि दलि, सखा कीन्ह कपि राज। तुलसी राम कृपालु को, बिरद गरीब निवाज॥" (दोहावली १५८), अर्थात् बालि अत्यन्त बली था, स्वार्थ चाहते तो उसीको मित्र बनाते, उसने कहा भी है—"आप मुझे आज्ञा दिये होते, तो मैं रावण को एक ही दिन में गला बाँध कर ला देता, एवं श्रीजानकीजी को ला देता।" (वाल्मी० ४।१७।४९-५१), फिर उन्हें किसीसे भी सहायता लेने की आवश्यकता ही क्या थी?, यथा—"कामं खलु शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्। वशे दाशरथी कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते॥" (वाल्मी० ४।२९।२२), अर्थात् श्रीरामजी बाणों-द्वारा देवता, दैत्य और महानागों को अपने वश में कर सकते है, तो भी वे तुम्हारी (श्रीसुग्रीवजी की) प्रतिज्ञा को देख रहे हैं। जाम्बवान् ने भी कहा है—"तव निज भुज बल राजिव नयना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥" "राम

सीतहिं आनि हैं।" (दो० ३०)। 'रघुबीर' अर्थात् वे पंच वीरता युक्त हैं उन्हें किसीकी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

(३) 'जानतहूँ अस प्रभु···'—'जाल'—समूह तथा फँसानेवाला। 'प्रभु'—वे जाल काटने में समर्थ है। ऐसे कृपालु प्रभु को न भूलना चाहिये, यह उपदेश है। इस प्रसंग में यह भी भाव है कि आगे श्रीसुग्रीवजी कुछ भूल गये, इससे विषय-जाल में फँस गये, तब श्रीलक्ष्मणजी के डाँटने से उन्हें चेत हुआ, इससे सबको सावधान रहना चाहिये।

पुनि सुग्रीवहिं लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृप-नीति सिखाई ॥६॥
कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दसचारि बरीसा ॥७॥
गत ग्रीषम बरषारितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई ॥८॥
अंगद-सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू ॥९॥

अर्थ—फिर श्रीरामजी ने सुग्रीवजी को बुला लिया और उन्हें बहुत प्रकार से राज-नीति की शिक्षा दी ॥६॥ फिर प्रभु ने कहा—हे कपीश सुग्रीव! सुनो, मैं चौदह वर्ष पर्यन्त पुर (बस्ती) में नहीं जाऊँगा ॥७॥ ग्रीष्म ऋतु बीत गई और वर्षा ऋतु आ गई, मैं तुम्हारे समीप ही पर्वत पर स्थिर निवास करूँगा ॥८॥ अंगदजी के साथ तुम राज्य करो, मेरा कार्य सदा हृदय से स्मरण रखना।

विशेष—(१) 'पुनि सुग्रीवहिं ···'—बुलाना पड़ा, क्योंकि राज्य पाते ही विषय के वश हो गये, श्रीरामजी के पास भी न आते थे। इसलिये उचित राजनीति की शिक्षा देने के लिये बुलाया। राज्य का योग कर दिया अब उसके क्षेम के लिये नीति सिखाते हैं। कहा भी है—"राज कि रहइ नीति बिनु जाने।" (उ० दो० १११), नीति, यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धरम के चरन सुहाये। अस जिय जानि नाथ पहि आये॥ धरम हीन प्रभु-पद बिमुख, काल बिवस दससीस। तेहि परिहरि गुन आये, सुनहुँ कोसलाधीस॥" (लं० दो० ३६) पुनः—"मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कहँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित बिबेक॥ राज धरम सरबस एतनोई।···" (अ० दो० ३१५), "मालो भानु किसानु सम, नीति निपुन नरपाल। प्रजा भागबस होहि गे, कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥" (दोहावली ५०७), इत्यादि राजनीतियाँ नीति के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

(२) 'कह प्रभु सुनु···'—इससे जान पड़ता है कि श्रीसुग्रीवजी ने घर पर पधारने की प्रार्थना की थी। उसपर प्रभु कहते हैं—'दस चारि'=१४ वर्ष तक मैं पुर (बस्ती) में नहीं जा सकता। प्रभु ने पहले 'दश' कहकर तब 'चारि' कहा, क्योंकि अधिक वर्ष बीत गये, अब थोड़े ही रह गये है। 'पुर' आदि के भाव अ० दो० ५३ और ८८ में भी देखिये। 'हरीसा'—श्रीसुग्रीवजी राजा हुए हैं। अतः, सम्मान के लिये प्रभु ने स्वयं भी कहा है।

प्रभु ने श्रीसुग्रीवजी को यहाँ 'हरीसा', श्रीविभीषणजी को 'भ्राता' (लं० दो० ११५) और निषादराज को 'सखा सुजाना' (अ० दो० ८७) कहा है। उत्तरोत्तर अधिक सम्मान भी दिया है, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी बुलाने पर आये और श्रीविभीषणजी तो स्वयं आये और उन्होंने विनती भी विशेष की। निषाद-राज का प्रेम उन दोनों से भी अधिक है। इन्होंने तो अपना धरनि-धन आदि कुछ माना ही नहीं। इसीसे विदाई के समय प्रभु ने इनका अधिक आदर किया है, इसीसे कहा है—"सदा रहेहु पुर आवत जाता।" (उ० दो० १९)।

(३) 'गत-ग्रीषम बरषा···'—ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म के ये दोनों महीने उद्योग के योग्य थे, पर वे बीत गये। वर्षा-ऋतु आ गई, अर्थात् श्रावण लग गया। वर्षा के चार महीने होते हैं, उन महीनों में जो जहाँ रहते

Port [illegible] Library

हैं, वहीं रह जाते हैं। इस समय दुर्गम स्थानों में जाने के काम प्रायः बन्द से रहते हैं, यथा—"पूर्वोऽयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः॥ नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्। अस्मिन्वत्स्याम्यहं सौम्य पर्वते सहलक्ष्मणः॥" (वाल्मी० ४।२६।१४–१५), इससे शिक्षा भी है कि सब कार्य समय पर ही करना चाहिये, यथा— समरथ कोउ न राम सों, तीय हरन अपराध। समयहि साधे काज सब, समय सराहहि साधु॥" (दोहावली ४४८), इसका आशय यह है कि वर्षा के बाद वैसे-वैसे काम करने चाहिये।

(४) रहिहउँ निकट' का भाव यह कि तुम घर पर चलने को कहते हो, पर वहाँ तो मैं नहीं जा सकता। हाँ, वियोग का भय न करो, पास ही रहूँगा। साथ ही यह भी भाव है कि नवीन राज्य पर विघ्न आना भी सम्भव है, तो रक्षा के लिये मै पास ही हूँ।

(५) 'अंगद सहित करेहु···'—अंगद की अवहेलना न करना, राज्य-कार्य में उसकी भी सम्मति लेते रहना। इससे बालि के पक्ष की प्रजा भी तुम्हारे अनुकूल ही रहेगी। 'संतत हृदय···'—क्योंकि कार्य में बराबर चित्त रहने से वह भुलाता नहीं और तत्सम्बन्धी बहुत-सी युक्तियाँ भी सूझती रहती हैं। 'हृदय धरेहु'—भाव यह कि बिना उद्योग प्रारम्भ हुए प्रकट भी न हो, हृदय में ही रहे, समय पर ही प्रकट हो।

शैल-प्रवर्षण-वास-प्रकरण

जब सुग्रीव भवन फिरि आये। राम प्रबरषन गिरि पर छाये॥१०॥

दोहा—प्रथमहि देवन्ह गिरि-गुहा, राखेउ रुचिर बनाइ।
राम कृपानिधि कछुक दिन, बास करहिंगे आइ॥१२॥

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप-निकर मधु-लोभा॥१॥
कंद मूल फल पत्र सुहाये। भये बहुत जब ते प्रभु आये॥२॥

अर्थ—जब श्रीसुग्रीवजी घर लौट आये, तब श्रीरामजी ने प्रवर्षण पहाड़ पर स्थिर निवास किया॥१०॥ देवताओं ने प्रथम ही से पर्वत की एक गुफा को सुन्दर बना रक्खा था कि कृपासागर श्रीरामजी आकर यहाँ कुछ दिन निवास करेंगे॥१२॥ फूला हुआ सुन्दर वन अत्यन्त सुशोभित है, भ्रमर-समूह मधु (पुष्प-रस) के लोभ से गुंजार कर रहे हैं॥१॥ जबसे प्रभु श्रीरामजी आये, तबसे सुहावने कन्द, मूल, फल और पत्ते बहुत हुए (क्योंकि ये सब प्रभु के काम आवेंगे)॥२॥

विशेष—(१) 'राम प्रबरषन गिरि पर छाये।', यथा—"आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्।" (वाल्मी० ४।२७।१)। प्रस्रवण प्रवर्षण का पर्याय है, अर्थात् जहाँ बहुत वर्षा होती है। यह पर्वत माल्यवान् गिरि का एक भाग है, यथा—"वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥" (वाल्मी० ४।२८।१), यह पर्वत किष्किन्धा के पास ही है। इससे पूर्वोक्त—"रहिहउँ निकट सैल पर छाई।" यह चरितार्थ हुआ।

(२) 'प्रथमहि देवन्ह गिरि-गुहा···'—यह देवताओं के द्वारा बनाई गई थी, इसीसे 'गुहा' कही गई, यथा—"देवखात बिले गुहा इत्यमरः।" 'कृपानिधि'—क्योंकि इसमें रहकर श्रीरामजी हमारे श्रम को सफल करने की कृपा करेंगे। देवों ने बना रक्खा था, अन्यथा सुग्रीव बनवाते।

प्रश्न—चित्रकूट में तो श्रीरामजी के पहुँचने पर कुटी बनाई गई। गोदावरी-तट पर भी कुटी में ही रहते थे। यहाँ गुहा क्यों बनी और पहले ही क्यों बनाई गई?

उत्तर—पहले चित्रकूट से श्रीरामजी के लौटने का भी सन्देह था, इससे उनके आने पर बनाई गई। वह सन्देह यहाँ नहीं है, क्योंकि बहुत समय बीत चुका है। वहाँ प्रभु 'प्रिया' सहित रहते थे, इससे पर्ण-शाला ही बनाई गई। यहाँ कन्दरा का अनुकूल होना विचारकर उसे ही बनाया। वर्षा में बनाने में कठिनाई होती, इसीलिये पहले ही से उसे बना रक्खा था।

(३) 'सुंदर बन कुसुमित ···'—वाल्मी० ४।२७-२८ (इन सर्गों) में इस वन का विस्तृत वर्णन है। यही 'सुंदर' शब्द से जनाया। 'कुसुमित' है। अतः, 'अति सोभा' है। 'गुंजत मधुप-निकर···'—मधु पीने के लोभी है, इससे 'मधुप' कहा। मधुप = मधु पीनेवाले। यहाँ स्थावर की सेवा है। 'सुहाये' पद अन्त मे है। अतः, कन्द आदि चारो का विशेषण है।

आगे जंगम की सेवा कहते हैं—'मधुकर खग-मृग···', इत्यादि।

देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज-सहित सुरभूपा ॥३॥
मधुकर खग-मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध-मुनि प्रभु की सेवा ॥४॥
मंगल-रूप भयउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते ॥५॥
फटिक-सिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ दोउ भाई ॥६॥

अर्थ—मन को हरनेवाला अनुपम (एवं जल-पूर्ण) पहाड़ देखकर देवताओं के सम्राट् श्रीरामजी भाई के साथ वहाँ रहने लगे ॥३॥ देवता, सिद्ध और मुनि—भ्रमर, पक्षी तथा वन्य-पशु (हिरण) के शरीर धारण करके प्रभु की सेवा करने लगे ॥४॥ रमापति श्रीरामजी ने जबसे यहाँ निवास किया, तबसे यह वन मगल-रूप हो गया ॥५॥ स्फटिक की एक अत्यन्त उज्ज्वल शिला सुशोभित है, उसपर दोनों भाई सुख पूर्वक विराजमान हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'देखि मनोहर सैल···'—पहले वन की शोभा कहकर तब शैल का वर्णन है। अतः, वह वन पहाड़ के ऊपर है, यह निश्चित हुआ। अनूप के अर्थ उपमा-रहित तथा जलप्राय स्थान है। इसके ये दोनों अर्थ 'अनूप' के श्लेषार्थ से ही निकलते हैं, यथा—"अनुगता आपो यस्मिन् असौ अनूपम्। "जलप्रायमनूपं स्यात्—इत्यमरः।" अर्थात् जलप्राय स्थान, जिसपर जल बहुत होता है, प्रवर्षण नाम से भी वही सिद्ध होता है।

'सुरभूपा'—क्योंकि देवांश-रूप वानरों की रक्षा करते हुए यहाँ विराज रहे है। अपना रक्षक जान-कर ही प्रत्यक्ष-रूप से देवताओं ने गुहा का निर्माण किया है। पुनः वे मधुकर आदि रूपों से सेवा भी कर रहे हैं।

(२) 'मधुकर खग-मृग···'—ये रूपान्तर से आये, क्योंकि प्रत्यक्ष-रूप से सेवा करने से ऐश्वर्य खुलता और उससे ब्रह्माजी के वचन झूठे होते। पुनः मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजी देवताओं से सेवा लेते भी नहीं। वे लोग चित्रकूट मे भी कोल-किरातों के रूप से आये थे, क्योंकि वहाँ पर्णकुटी बनानी थी, यथा—"कोलकिरात बेष सब आये। रचे परन तृन सदन सोहाये ॥" (अ० दो० १३२), और यहाँ श्रीरामजी विरही हैं, और उनके मन को रमाना है, इसीलिये भ्रमरादि रूपों से आये। भ्रमर अपनी सुन्दर गुंजार से, पक्षी अपनी मधुर सुरीली बोली से और मृग अपने सुन्दर नेत्र दिखाकर स्वामी की सेवा करते हैं, यथा—"मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी ॥" (अ० दो० ३१०)।

यहाँ मुनि मधुप हैं, वेद-पाठ आदि उनकी गुंजार हैं, फिर मनन करनेवाले मुनि की तरह वे भ्रमर मौन हो जाते हैं। सिद्ध लोग पक्षी हैं, इनका एक जगह से दूसरी जगह उड़कर जाना, सिद्धि-बल से स्थानान्तर को जाने की तरह है। देवता मृग हैं, विषयी होने से मृगवत् चंचल स्वभाववाले होते हैं। ऊपर

जो मधुप कहे गये, यथा—"गुंजत मधुप निकर मधु लोभा।" वे प्राकृत हैं और ये दिव्य हैं। वे मधु के लोभी हैं और ये सेवा के लोभी हैं।

'रमापति'—श्रीलक्ष्मीजी से मंगल होता है। यहाँ श्रीरामजी के निवास से वन मंगल-स्वरूप हो गया, अतएव उन्हें 'रमापति' कहा गया है। यह भी सूचित किया कि इनके निवास से वन मंगलमय हो गया। अब इन्हें किसी तरह का भी खेद नहीं है। विरह का नाट्य तो ऊपरी है। तथा—इनकी श्रीजी तो (गुप्त-रूप से) साथ ही हैं। पूर्व पञ्चवटी के वन को मंगल रूप नहीं कहा गया, क्योंकि वहाँ अमंगल कर्त्ता राक्षस भी जनस्थान में थे ही और वहीं से हरण एवं जटायु वध भी होना था। राम प्रवरपन गिरि पर छाये।'—उत्क्रम है और यहाँ 'फटिकसिला···सुख आसीन···'—यह उपसंहार है।

'बरनत बरषा'-प्रकरण

कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृप-नीति बिबेका ॥७॥
बरषा-काल मेघ नभ छाये। गरजत लागत परम सुहाये ॥८॥

दोहा—लछिमन देखु मोर-गन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति-रत हरष जस, बिष्नु-भगत कहँ देखि ॥१३॥

अर्थ—(श्रीरामजी) छोटे भाई से भक्ति, वैराग्य, राजनीति और सदसद्विवेक (विचार) की अनेक कथाएँ कहते हैं ॥७॥ वर्षा-काल में आकाश में मेघ छाये (फैले) हुए हैं, (और) वे गरजते हुए बहुत ही सुहावने लगते हैं ॥८॥ हे श्रीलक्ष्मणजी! देखो, मोरों के समूह बादलों को देखकर नाचते हैं, जैसे वैराग्य में निरत गृहस्थ विष्णु-भक्त (विरक्त वैष्णव) को देखकर हर्षित होते हैं ॥१३॥

विशेष—(१) 'कथा अनेका'—वाल्मीकीय रामायण में इस प्रसंग पर वन का वर्णन करते हुए विरह तथा अन्य व्यवहारों की भी उपमाएँ दी गई हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णु-पुराण में वर्षा के वर्णन के साथ ही ज्ञान, वैराग्य और राजनीति की भी उपमाएँ हैं, वैसा ही विषय विस्तार-पूर्वक यहाँ भी कहा गया है। किन्तु सर्वमतरक्षा के लिये 'कथा अनेका' भी कहा है। श्रीरामजी अपने आचरण से शिक्षा देते हैं कि ऐसी ही बातों में कालक्षेप करना चाहिये।

प्रथम भक्ति कही गई, क्योंकि अरण्य-काण्ड में श्रीलक्ष्मणजी ने इसीका मुख्य प्रश्न किया था और इसीपर वे अत्यन्त सुखी हुए थे, यथा—"भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन···" (अर० दो० १६), वहाँ सब बातें समझा चुके हैं, यहाँ केवल कथा कहते हैं, क्योंकि इन्हीं बातों में कालक्षेप करना आपको प्रिय है।

(२) 'बरषा-काल मेघ···'—'परम सुहाये'—आकाश में छाये हुए मेघ सुहावने लगते हैं और गरजते हुए 'परम सुहाये' लगते हैं। पुनः 'बरषा-काल' के योग से भी मेघ और गर्जन की शोभा है। समयानुकूल बातें सुहावनी होती ही हैं, यथा—"वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥ अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः। संवृश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः॥" (वाल्मी० ४।२८।१-२), अर्थात् माल्यवान् पहाड़ पर बैठे हुए श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी से कहा—लक्ष्मण! यह जल बरसने का समय आ गया, पहाड़ के समान मेघों ने आकाश को घेर लिया, इन्हें देखो।

मेघ आठ महीने भूमि से जल खींचते हैं तब नहीं जान पड़ता, पर जब वर्षा ऋतु में बरसते हैं, तब उनकी शोभा होती है। ऐसे ही नीति से चलनेवाले राजा जब प्रजा से कर लेते हैं, तब किसीको

नहीं जान पड़ता, और जब वे वही धन प्रजा को देते हैं, तब उनकी शोभा होती है—यहाँ नीति है, यथा—"बरषत हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होइ ॥" (दोहावली ५०८), "अष्टौ मासान् निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु। स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते॥" (भाग० १०।२०।५), अर्थात् सूर्यराजा की भाँति पृथ्वी रूपी प्रजा से आठ महीने तक जल का कर ग्रहण किया था। अब समय आने पर वे अपने किरण रूपी करों एवं सेवकों द्वारा फिर उसे बाँटने लगे है।

आगे का—'लछिमन देखु' दीपदेहली है, मेघ और मोर दोनों के नृत्य दिखाने में है।

(३) 'लछिमन देखु मोर-गन···', यथा—"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः। गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥" (भाग० १०।२०।२०), अर्थात् मेघों के शुभागमन से मोरों के रोम-रोम खिल रहे हैं, वे अपनी कूजन एवं नृत्य के द्वारा आनन्द-उत्सव मना रहे है। जैसे गृहस्थी के जंजाल में फँसे हुए तीनों तापों से सन्तप्त एवं घबराये हुए (अतएव विरति-रत) लोग विष्णुभक्तों (विरक्त-वैष्णवों) के शुभागमन से आनन्दमग्न हो जाते है।

पहले सजल मेघों का गरजना कहकर तब मोरों का नाचना कहा गया है, क्योंकि मेघों का गर्जन सुनकर और उन्हें देखकर मोर नाचने लगते हैं। 'बारिद पेखि'—मोर समझते हैं कि ये हमको वारि+द =जल देंगे, इसीसे नाचते हैं। ऐसे ही 'बिरति-रत गृही' हर्षित रहते है कि हमे विष्णु-भक्त से श्रीराम-यश सुनने को मिलेगा। यहाँ विष्णु-भक्त से वैष्णव से तात्पर्य है, क्योंकि उनसे वैराग्य-निष्ठ गृहस्थ का हर्षित होना कहा गया है।

गृही का धर्म पालन करने से वैराग्य होता है, और तब वैष्णव-धर्म में प्रीति होती है, यथा—"निज-निज कर्म निरत श्रुति-रीती ॥ यहि कर फल मन विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥" (अर० दो० १५), 'गृही बिरति रत' के उदाहरण में मनु महाराज एवं श्रीजनकजी है।

विष्णु-भक्त बारिद और राम-यश जल, यथा—"बेद पुरान उदधि घन साधू ॥ बरषहि राम सुजस बर बारी।" (बा० दो० ३५), गृही सन्त के दर्शनों से सुखी होते है, यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।"(उ० दो० १२०)। जैसे मेघ के गर्ज-गर्जकर बरसने पर मोर हर्षित हो नाचते है। वैसे ही सन्त गर्ज-गर्जकर राम-यश रूपी जल बरसाते है, जिससे गृही हर्षित होते है। जैसे मोर ग्रीष्म की ताप से तपे रहते है, वैसे ही गृही गृह-जाल एवं विषयाग्नि से तपे रहते है। इसीसे दोनों शीतल होने से सुखी होते है। एक तो सामान्यः मेघ से ही मोर सुखी होते हैं, पर गरजने बरसनेवाले से तो अत्यन्त ही सुखी होते है। इसी तरह गृही सामान्य सन्त के दर्शनों से तो सुखी होते ही है, पर श्रीराम-यश वक्ता के दर्शनों से अत्यन्त सुखी होते है। इस दोहे मे भक्ति और वैराग्य कहा गया है। वर्षा के प्रारम्भ मे मोरों का हर्ष कहना कवियों की रीति है, यथा—"वर्षा ही हरषित कहहि, केकी केसव दास।" (कवि प्रिया)।

घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया-हीन डरपत मन मोरा ॥१॥
दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं ॥२॥

अर्थ—मेघ गर्वपूर्वक आकाश में घोर गर्जन कर रहे है, प्रिया (श्रीसीताजी के) बिना मेरा मन डरता है ॥१॥ बिजली की चमक मेघों में (स्थिर) नहीं रहती (ठहरती नहीं), जैसे दुष्ट की प्रीति स्थिर नहीं रहती ॥२॥

विशेष—(१) 'घन घमंड नभ···'—विरह में घन-गर्जन प्रतिकूल होने से यह उसके गर्व का द्योतक है। 'प्रिया-हीन'—ऊपर मोर का आनन्द से नाचना कहा है। अतः, कहते है कि उसकी मयूरी को राक्षस ने नहीं हरण किया, इसीसे वह नाचता है, पर मेरी प्रिया श्रीसीताजी का हरण हुआ है,

अतएव मेरा मन डरता है, यथा—"मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया ॥ तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया। मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुःसहः ॥" वाल्मी० ४।१।४०-४१)। 'डरपत मन'—कि यदि वर्षा होगी तो "बारिद तपत तेल जनु बरिसा।" (सुं० दो० १४), की यातना सहनी पड़ेगी। मेघ का गरजना, बिजली की चमक और मोर का नाचना आदि शृंगार रस के उद्दीपक विभाव है, अतएव विरही को दुखदायी है, इसीसे प्रभु ने अपने मन का डरना कहा है। स्त्री की आसक्ति से वियोग का दुःख हुआ। अतः, इससे वैराग्य रखना चाहिये, यह लोगों को शिक्षा है—यहाँ वैराग्य है।

कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ की ४० अर्द्धालियों में कहीं भी श्रीरामजी ने अपने विषय में कोई बात नहीं कही और प्रत्येक चौपाई में दो-दो बातें (दृष्टान्त और दार्ष्टान्त) कही गई है, यहाँ भी वैसा ही अर्थ करना चाहिये, अतएव 'मन मोरा' का 'मन मोड़े हुए' अर्थ होगा, अर्थात् विषयों से मन मोड़े हुए उदासीन लोगों को डर लगता है, क्योंकि मेघ कामदेव का समाज है और इसका गर्जन उसकी ललकार है।

(२) 'दामिनि दमक रह न ···'—यथा—"न बबन्धाबरे स्थैर्यं विद्युदन्त्यन्तचञ्चला। मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता ॥" (वि० पु० ५।६।४२), अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष के साथ दुर्जन की मित्रता के समान अत्यन्त चञ्चला विद्युत् आकाश मे स्थिर न रह सकी। मेघ आकाश मे है और मोर नीचे भूमि पर। फिर भी इसकी प्रीति उसमें है, इसीसे उसे देखकर नाचता है और बिजली भी मेघ से ही उत्पन्न होती है, पर उसमे उसकी प्रीति स्थिर नहीं है, इसीसे वह उसमें स्थिर नहीं रहती। तात्पर्य यह कि सज्जन लोग दूर रहकर भी प्रीति का निर्वाह करते है और चंचल स्वभाववाले दुष्ट लोग सगे सम्बन्धी के भी अपने नहीं होते। अतः, इनसे दूर ही रहना चाहिये—यहाँ नीति है।

बरषहिं जलद भूमि नियराये। जथा नवहिं बुध बिद्या पाये ॥३॥
बूँद-अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे ॥४॥

अर्थ—पृथ्वी के समीप आकर बादल (नीचे झुककर) बरस रहे है, जैसे विद्वान् लोग विद्या पाकर नम्र हो जाते हैं ॥३॥ बूँदों की चोट पहाड़ कैसे सहन करते हैं, जैसे दुष्टों के वचन सन्त सहते है ॥४॥

विशेष—(१) 'बरषहि जलद भूमि···', यथा—"भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमिविलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥" (भर्तृहरि, नीति शतक ७१)। 'जलद'=जल देनेवाले, मेघ जल देते है और पण्डित लोग विद्यार्थियों को विद्या दान देते है, जैसे मेघ जल के भार से नवते है, वैसे ही पण्डित भी अधिक विद्या पाकर नम्र होते है। अबुध नहीं, यथा—"अधम जाति मैं बिद्या पाये। भयउँ जथा अहि दूध पियाये ॥" (उ० दो० १०५)। अतः, विद्वान् को विनम्र होना चाहिये—यहाँ नीति है।

(२) 'बूँद-अघात सहहि · '—सन्त पर्वत है और दुष्टों के वचन बूँदों के समान है, जैसे बूँदें अनेक होती है, वैसे ही वचन भी अनेक है। गिरि जड़ है, उनमें जल प्रवेश नहीं कर पाता, वैसे ही सन्त लोग भी जड़ की तरह कुवचन सह लेते हैं, हृदय में क्षोभ नहीं हो पाता। यद्यपि वन्य-पशु भी बूँद सहते ही हैं, तथापि इन्हें कुछ क्षोभ तो होता ही है। इसीसे पर्वत की ही उपमा दी गई है। इससे उपदेश है कि सन्तों को क्षमा चाहिये—यहाँ नीति है। यहाँ क्षमा गुण के लिये पृथ्वी की भी उपमा दी जा सकती थी, यथा—"क्षमया पृथिवी समः।" (वाल्मी० १।१।१८), पृथ्वी 'सर्वसहा' कही भी जाती है। परन्तु सर्वज्ञ ग्रन्थकार को वह उपमा नहीं रुची, क्योंकि बूँदों के आघात से पृथ्वी में छिद्र हो जाते हैं। पृथ्वी जल को अपने में रख लेती है। फिर वह उस जल को कुछ काल में दूर करती है। परन्तु सन्त जड़ गिरि के समान खलों के वचनों को सहते हैं। वे वचन उनके हृदय वेध नहीं पाते, तुरत दूर हो जाते हैं। उनकी स्मृति

इन्हें नहीं रह जाती। हाँ, सामान्य लोगों की क्षमा पृथ्वी के समान होती है। वे सह लेते हैं, कुछ काल में उसे फिर भूल जाते हैं।

जो वचन औरों के लिये वज्र के समान हैं, यथा—"बचन बज्र जेहि सदा पियारा।" (बा० दो० ३), वे ही सन्तों के लिये पानी की बूँदों के समान शीतल हैं। मिलान, यथा—"गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः। अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः॥" (भाग० १०।२०।१५), अर्थात् मूसलधार वर्षा की चोट से पहाड़ व्यथित नहीं होते, जैसे दुःखों की भरमार पर भी हरि-भक्तों को व्यथा नहीं होती। तथा—"जो कोइ कोप भरै मुख बैना। सनमुख हनै गिरा सर पैना॥ तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिये जग माहीं॥" (वैर ग्य सन्दी० ४९)।

'सहहि गिरि कैसे' में यह भी भाव है कि वे कैसे सहते हैं? हमसे तो नहीं सहा जाता। भाव यह कि विरही को वर्षा दुःखद लगती है, यथा—"बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥" (सु० दो० १४)।

छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई॥५॥
भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥६॥

शब्दार्थ—तोराई—त्वरा से, तेजी से, वेग से। इतराना=घमण्ड करना, ठसक दिखाना।

अर्थ—छोटी-छोटी नदियाँ भरकर वेग (त्वरा) से चलने लगी, जिस प्रकार थोड़ा भी धन पाकर दुष्ट घमण्ड करने लगता है॥५॥ पृथ्वी पर पानी पड़ते ही मटमैला हो गया है, जैसे जीव को माया लिपट गई हो॥६॥

विशेष—(१) 'छुद्र नदी भरि·····'—क्षुद्र नदी का पेट भारी नहीं है, इसीसे थोड़े ही जल में वह सीमा के बाहर हो जाती है और लोगों के घर, वृक्ष, कृषी आदि को डुबाती हुई अन्त में सूख जाती है। ऐसे ही दुष्ट थोड़े ही धन से फूला नहीं समाता, उसका धन भी उपद्रव में लगकर शीघ्र ही (त्वरा से) समाप्त हो जाता है। फिर सदा उसका पेट जलता ही रहता है। जैसे क्षुद्र नदी मूलरहित है, वैसे ही दुष्ट का धन भी हरि भक्ति-रहित है, इसीसे शीघ्र नाश हो जाता है,—"राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं॥ (सुं० दो० २२)। दुष्ट की सम्पत्ति अन्याय से आती है, इसीसे बुरे कर्मों में ही लगती भी है। मिलान, यथा—"ऊहुरुन्मार्गवाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः। मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव॥" (वि० पु० ५। ६।३८), अर्थात् जैसे नया धन पाकर दुष्टों का चित्त उच्छृंखल हो जाता है, वैसे नदियों का जल सब ओर अपना नियत मार्ग छोड़कर बहने लगा।—यहाँ नीति है।

दुष्ट के मन, वचन, कर्म तीनों नष्ट है, यथा—"खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।"—यह मन का दोष है और प्रीति मन का धर्म है। "खल के बचन संत सह जैसे।"—यह वचन का दोष है और—"जस थोरेहु धन खल इतराई।"—यह कर्म का दोष है।

पहाड़ों के पानी को नदी-द्वारा चलाकर आगे भूमि के जल का वर्णन करते हैं—

(२) 'भूमि परत भा ढाबर ··'—पत्थर पर गिरा हुआ पानी कम गँदला होता है, पर भूमि पर पड़ने से बहुत ही मैला हो जाता है। गिरि की उपमा ऊपर सन्तों से दी गई, यथा—"बूँद अघात···" और यहाँ भूमि की उपमा माया से दी जाती है। भाव यह कि जो जीव साधु-कुल में जन्म लेते हैं, उनमें माया कम व्याप्त होती है, यथा—"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।···यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥" (गीता ६।४२-४३), और जो मायिक जीवों के यहाँ जनमते हैं, वे पूर्ण-रूप से माया में लिप्त होते हैं। 'भूमि परत'—उपमान और उपमेय दोनों के साथ है। जल जब आकाश में था, तब निर्मल था, परन्तु भूमि में पड़ते ही धूल-सहित होकर गँदला हो गया। वैसे ही जीव जब गर्भ में था, तब तक

इसे ज्ञान था, यथा—"तोहिं दियो ज्ञान बिवेक जन्म अनेक की तब सुधि भई···" से "अब जग जाइ भजउँ चक्रपानी ॥" तक (वि० १३६), और यह निर्मल था, पर भूमि पर पड़ते ही इस जीव में माया लिप्त हो गई, यह रजोगुणी नातों में ओत-प्रोत हुआ, यथा—"पितृपुत्रसुहृद्भ्रातृमातृबन्धुमयीमिमाम् । यन्मायां नालमुत्तर्तुं जगत्तस्मै नमोनमः ॥" (वि० पु० ४।१७।१३), अर्थात् जिनकी इस पिता, पुत्र, सुहृद्, भ्राता, माता और बन्धु-रूपिणी माया को पार करने में जगत् सर्वथा असमर्थ है, उन मायापति को बार-बार नमस्कार है ।

वास्तव में ये नाते श्रीरामजी के शरीर हैं, उनकी ही जीव के कर्मानुसार प्रेरणा से सबकी प्रवृत्ति रहती है, किन्तु अविद्या से इन्हें स्वतन्त्र उपकर्त्ता मानकर इनमें आसक्त होना माया का सम्पर्क होना है । इन नातों में अविद्यात्मक सम्पर्क जन्म लेकर भूमि पर पड़ने से ही होता है, फिर दिनोदिन इनमें ममता बढ़ती ही जाती है ।

परम दयालु भगवान् इस जीव के जन्म लेकर भूमिपर पड़ते ही अर्थात् माया-सम्पर्क होते ही प्राकृतिक अपशकुनों के द्वारा इसे सचेत करते है, यथा—"जनमत पहिलेहि छींक भइ, पीछे दीन्हेसि रोइ । ताते जग में जीव की, कुसल कहाँ ते होइ ॥" अर्थात् बालक जन्म लेते ही पहले छींकता है, फिर रोता है और रोते हुए 'कहाँ-कहाँ' ऐसी ध्वनि व्यक्त करता है ।

इस मायिक जगत् की यात्रा में पाँव देते ही इसे साथ ही तीन अपशकुन होते है—छींकना, रोना और 'कहा' (जाते हो ?) । इनमें एक भी अपशकुन यात्रा में होना प्राण घातक माना जाता है । यहाँ तो साथ ही तीन हुए है—'तीन तीकट महा विकट' यह कहावत है । अतः, यह जगत् इसे बार-बार जन्म देनेवाला भयंकर है; यथा—"अस बिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी ।" (वि० १२१)

यात्रा से अपशकुन होने पर लोग आगे न जाकर लौट पड़ते हैं, तब उसके भयंकर परिणाम से बच जाते है । वैसे ही जीव मात्र ईश्वर के अंश हैं । अतः, उसी अंशी की ओर होना जगत्-यात्रा से पीछे लौटना है, क्योंकि सब वहीं से जगत् में आते हैं ।

प्रीत्यात्मक भाव से ईश्वर की ओर रुख करना उसकी भक्ति करना है । जीवों में सदसद्विवेक किशोर अवस्था से होता है । तब इन अपशकुनों का दुष्परिणाम समझ सबको हरि-भक्ति करनी चाहिये । उसीसे भगवान् की प्राप्ति एवं भव-निवृत्ति होती है, यथा—"भक्त्या मामभिजानाति यावन्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥" (गीता १८।५५), "मद्भक्ता यान्ति मामपि ।" (गीता ७।२३), "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥" (गीता ८।१६), यही माया-सम्पर्क से छूटने का उपाय है ।

इस अविद्या माया से छुड़ाने का उपाय श्रीरामजी विद्यामाया के द्वारा प्रकट करते हैं । उ० दो० ७८-७८ में विद्यामाया की व्याप्ति पर भुशुण्डीजी ने सारा जगत् श्रीरामजी के उदर में ही देखा है । इस प्रकार अपनी व्यापकता दिखाई है कि सारा जगत् मेरा शरीर है ; अतः, संसार के सभी चराचर की प्रवृत्ति मेरी ही प्रेरणा से होती है । इस ज्ञान से व्यष्टि जगत् में फैली हुई प्रीति एक श्रीरामजी में होती है कि सब रूपों से वे ही पालन-पोषण करते हैं । तब कृतज्ञता दृष्टि से उन्हीं की भक्ति करनी चाहिये, यथा—"जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥" (मु० दो० ४७) । इस प्रकार का ज्ञान भी भगवान् भक्ति से ही कराते हैं—गीता ११।४७ में कहा गया है । रज और जल दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, प्रयत्न करने पर अलग-अलग हो जाते हैं, ऐसे ही मायिक नाते और जीव भी हरि-गुरु-कृपा से विवेक सहित भक्ति से उपर्युक्त रीति से पृथक् हो जाते हैं, इसपर वि० १३६ पूरा पद पढ़ने योग्य है—यहाँ ज्ञान है ।

समिटि समिटि जल भरहिं तलावा । जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा ॥७॥

सरिता-जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥८॥

दोहा—हरित भूमि तृन-संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड-बाद ते, गुप्त होहिं सदग्रंथ ॥१४॥

अर्थ—जल एकत्र हो-होकर तालाबों में भर रहा है, जैसे सद्गुण (एक-एककर के) सज्जन के पास आते हैं ॥७॥ नदी का जल सागर में जाकर अचल (एक रस स्थिर) होता है, जैसे जीव भगवान् को पाकर (अचल हो जाता है) ॥८॥ पृथ्वी घास से परिपूर्ण होकर हरी हो गई है, (इससे) मार्ग नहीं समझ पड़ता जैसे पाखण्ड-वाद से श्रेष्ठ ग्रन्थ गुप्त हो जाते हैं ॥१४॥

विशेष—(१) 'समिटि-समिटि जल·····'—पहाड़ों के जल नदियों में और भूमि के जल का तालाबों में जाना कहा गया। 'समिटि-समिटि' का भाव यह है कि सज्जनों के हृदय में सद्गुण क्रमशः आते हैं। 'आवा' अर्थात् स्वयं आते हैं, सज्जनों को प्रयास नहीं करना पड़ता, जैसे कि तालाबों में सभी ओर के जल स्वतः चले आते हैं, यथा—"पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई ॥ जिमि सरिता सागर महँ जाहीं। जद्यपि ताही कामना नाहीं ॥" (बा० दो० २९३), "खल सहि साँसति पति लहत, सुजन कलेस न काय। गढ़ि-गुढ़ि पाहन पूजिये, गंडकि सिला सुभाय ॥" (दोहावली), जैसे तालाब के जल से लोगों का उपकार होता है, उसी तरह सज्जन अपने सद्गुणों से परोपकार करते हैं और क्षुद्र नदी की तरह दुष्ट अपने धनरूपी जल की बाढ़ से सबको दुःख ही देता है।

(२) 'सरिता-जल जलनिधि·····'—जो जल तालाब से निकलकर वा, यों ही नालों के द्वारा सीधे नदी में गया, वह समुद्र को चला। 'सरिता' अर्थात् 'सरति गच्छति इति सरित्' आगे अचल होना है। अतः, इसे अभी चल कहते हैं। सरिता-जल की तरह जीव भी हरि-प्राप्ति के पहले चल (जंगम) ही रहते हैं, यथा—"आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥" (उ० दो० ४३)।

'जल निधि'—जैसे जल का अधिष्ठान समुद्र है, वैसे ही जीव-मात्र का अधिष्ठान ईश्वर है। 'होइ अचल'—जैसे जल नदियों में प्राप्त होकर भी अचल न हुआ, समुद्र में ही पहुँचकर अचल हुआ, वैसे ही अन्य देवी, देवताओं की उपासना से उन्हें प्राप्त होकर जीव अचल नहीं होता, किन्तु इसका आवागमन बना ही रहता है, क्योंकि वे देवता तो स्वयं भव-प्रवाह (जन्म-मरण के चक्र) में पड़े हुए 'चल' हैं, यथा—"भव प्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे ॥" (७० दो० १०८)।

जल पहले समुद्र में ही था, मेघ-द्वारा आकर्षित होकर वृष्टि से भूमि पर आया। फिर संयोग से नदियों में प्राप्त हो समुद्र में पहुँचकर ही अचल हुआ। वैसे ही जीव भी माया के योग से हरि से पृथक् हुआ, फिर सत्संग से हरि को ही पाकर अचल हुआ अर्थात् जन्म-मरण से रहित हुआ। जो जीव महात्माओं के आश्रित नहीं हुआ वह भव-प्रवाह में ही पड़ा रहा। 'होइ अचल', यथा—"यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥" (गीता १५।६), और भी कहा है, यथा—"राम सरूप सिंधु समुहानी।" (बा० दो० ३६)—यहाँ ज्ञान है। इसमें पूर्णोपमा है—सरिता-जल और जीव, जलनिधि और हरि, उपमेय-उपमान हैं, 'जिमि' वाचक और 'अचल होइ' धर्म है। यहाँ उपमा का तात्पर्य अचल होने ही से है। जैसे कि 'कमल सम कोमल चरण' में कोमलता धर्म है और उपमा का प्रयोजन कोमलता से ही है, कमल के रंग आदि चाहे जैसे हों।

(३) 'हरित भूमि तृन ··'—पहले भूमि पर जल-वर्षा होना कहा गया, अब उसके द्वारा उपजने-वाले तृण के विषय में कहते हैं। 'पाखंड-बाद', यथा—"साखी सब्दी दोहरा, कहि कहनी उपखान।

भगति निरूपहिं कलि भगत, निंदहिं बेद पुरान ॥" (दोहावली ५५४), तृणों की तरह पाखण्ड-वाद वैदिक समीचीन मार्ग का आच्छादक है। जैसे तृण काटने से मार्ग खुल जाते है, वैसे ही पाखण्डवाद के ग्रन्थों का खण्डन करने से वेद-मार्ग-प्रतिपादक सद्ग्रन्थ प्रकाशित हो जाते है और समीचीन मार्ग खुल जाते हैं। यथा—"मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः। नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥··· जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे। पाखण्डिनाममद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥" (भाग० १०। २०।१६–२३), अर्थात् जो मार्ग कभी साफ नहीं किये जाते थे, वे घास से ढँक गये, इससे उनका समझना कठिन हो गया। जैसे ब्राह्मण जब वेदों का अभ्यास नहीं करते, तब कालक्रम से वे उन्हें भूल जाते है।··· वर्षा ऋतु मे भारी वृष्टि से नदियों के बाँध और खेतों की मेड़ें टूट-फूट जाती हैं, जैसे कलियुग में पाखण्डियों के भाँति-भाँति के असत् वादों से वैदिक मार्ग की मर्यादा ढीली पड़ जाती है, तथा—"मार्गा बभूवुरस्पष्टास्तृणशष्पचयावृताः। अर्थान्तरमनुप्राप्ताः प्रजडानामिवोक्तयः ॥" (वि० पु० ५।६।४३), अर्थात् महामूर्ख लोगों की अन्यार्थिका उक्तियों की भाँति मार्ग तृण और दूर्वा समूह से आच्छादित होकर अस्पष्ट हो गये।

अवतरण—वर्षा के चार महीने होते हैं, इसमें ऊपर —'सरिता-जल जलनिधि महँ जाई।···' तक श्रावण मास का वर्णन किया गया है। इस दोहे से आगे भादों का प्रारम्भ होना जनाया है, क्योंकि 'दादुर धुनि ··' मे सामवेदियों की श्रावणी का रूपक है, जो भादो में होती है। इससे आगे के दोहे में क्वार और फिर कार्त्तिक का भाव रहेगा। इसी तरह चारो दोहों में क्रमशः कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्ति ये चारो कहे गये है। पहले दोहे में—'गृही बिरति रत···' से निष्काम कर्म प्रारम्भ करके 'होइ अचल जिमि ··' तक कर्ममार्ग सूचित किया गया है। पुनः इस दोहे में पाखण्ड-खण्डन, वेद-पाठ और विवेक साधन से प्रारम्भ करके ज्ञान का साधन कहते हुए—"जिमि इंद्रिय गन उपजे ज्ञाना।" तक ज्ञान-मार्ग कहा गया है। पुनः 'पाइ सुसंग' से प्रारम्भ कर—'कोउ एक पाक भगति जिमि मोरी।' तक भक्ति-मार्ग कहा गया है, फिर—'जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।' से लेकर 'सद्गुरु मिले जाहि जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।' तक शरणागति कही गई है।

दादुर-धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु-समुदाई ॥१॥
नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका ॥२॥

अर्थ—चारो दिशाओं से मेढ़कों की ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती है, मानों ब्रह्मचारियों के वृन्द वेद पढ़ रहे हों ॥१॥ अनेक (तरह के) वृक्ष नवीन पल्लवों से युक्त हो गये है, जैसे साधन करनेवालों का मन विवेक-प्राप्त होने पर होता है ॥२॥

विशेष—(१) 'दादुर-धुनि चहुँ दिसा सुहाई।···'—वेदध्वनि सुहावनी होती है, वैसी ही इस समय दादुर-ध्वनि भी सुहावनी लग रही है। श्रीरामजी जहाँ बैठे हैं उसकी चारों ओर के जलाशयों में मेढ़क बोल रहे है और वह ध्वनि सुहावनी लग रही है। ब्राह्मण लोग भी ग्राम के चारो ओर तालाबों पर बैठकर श्रावणी किया करते हैं, अर्थात् वेद पढ़ते है। वेद-ध्वनि सुहावनी तो सभीको लगती है, पर सर्व साधारण की समझ में नहीं आती। वैसे ही दादुर की ध्वनि सुहावनी तो लगती है, पर समझ में नहीं आती। सामवेदियों की श्रावणी भादों में होती है, यथा—"मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्मन्ब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्याय समयः सामगानामुपस्थितः ॥" (वाल्मी० ४।२८।५४), अर्थात् भादो का महीना वेद पढ़नेवाले साम ब्राह्मणों के लिये अध्ययन का समय है, अर्थात् उपाकर्म काल है। मेघ-गर्जन सुनकर दादुर बोलते है। वैसे ही ऊँचे बैठे हुए पूर्णवैदिक आचार्य से वाक्य सुनकर बटुगण जोर से वेद-पाठ करने लगते है। मिलान, यथा—"श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन्गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा

नियमात्यये ॥' (भाग० १०।२०।९), अर्थात् जो मेढ़क पहले चुपचाप सो रहे थे, वे मेघों की गरजन सुन कर टर्र-टर्र करने लगे, जैसे नित्य नियम पूर्ण कर गुरु की आज्ञा के अनुसार ब्राह्मण लोग वेद पाठ करने लगते हैं।

(२) 'साधक-मन जस···'—साधकों का तन वृक्ष, साधन ग्रीष्म का ताप, श्रम धूप सहना और साधन से कामादि दूर होना पत्तों का झड़ना और विवेक होना नवीन पल्लव होना है। जैसे पल्लव स्वयं आ जाते हैं वैसे विवेक भी स्वयं ही आ जाता है। पर, पहले वृक्ष के समान जड़ होकर साधन-कष्ट सहने मे अचल रहना होता है। मिलान, यथा—"पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्त्तयः। प्राक्तामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥" (भाग० १०।२०।२१), अर्थात् जो वृक्ष पहले ग्रीष्म मे सूख रहे थे, वे अब अपनी जड़ो से जल पीकर पत्तों, फूलों और डालियों से सजधज गये हैं। जैसे सकाम तपस्वी पहले दुर्बल रहते हैं, फिर कामनापूर्त्ति पर मोटे तगड़े हो जाते हैं।—यहाँ ज्ञान है।

वर्षा में इतनी वस्तुओं का वर्णन होता है, यथा—"वर्षा हंस पयान बक, दादुर चातक मोर। केतकि पुंज कदंब जल, त्यों दामिनी घन जोर ॥" (कविप्रिया)।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल-उद्यम गयऊ ॥३॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी ॥४॥

अर्थ—मदार और जवासे बिना पत्तों के हो गये, जैसे सुन्दर राज्य में दुष्टों के उद्यम (धन्धे) जाते रहे ॥३॥ ढूँढ़ने पर भी कहीं धूल इस प्रकार नहीं मिलती जिस प्रकार क्रोध धर्म को दूर कर देता है। (धर्म ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता अर्थात् क्रोध करने से धर्म का नाम-निशान भी नहीं रहता) ॥४॥

विशेष—(१) 'अर्क जवास पात बिनु भयऊ।···'—ग्रीष्म-ऋतु में जब और-और वृक्ष एवं पौधे बिना पत्ते के हो गये थे, तब आक और जवासे में पत्ते हुए थे और वर्षा-ऋतु में जब सबोंमें पत्ते हुए, तब ये दोनों पत्तों से हीन हुए [मदार आषाढ़ की पहली वर्षा पर पत्ता-हीन हो जाता है, फिर पीछे, श्रावण-भादो मे उसमें पत्ते हो जाते हैं, यहाँ पहली वर्षा से ही तात्पर्य है।], इसी तरह कुराज्य होने से जहाँ सब लोग दुखी होते है, वहाँ दुष्ट सुखी होते हैं। यहाँ ग्रीष्म कुराज्य और वर्षा सुराज्य है। मदार-(आक) के पत्ते बड़े और जवासे के छोटे होते हैं, इनसे वर्षा-ऋतु-रूपी सुराज्य मे दुष्टों के छोटे-बड़े सभी उद्यमों का नाश होना कहा गया है। सुराज्य में दुष्ट तो रहते ही है, पर उनके उद्यम नहीं रह जाते। जैसे कि अर्क-जवासे के पौधे (धड़) मात्र वर्षा में भी बने रहते है। जैसे अर्क और जवास दो के नाम दिये गये, क्योंकि ये दो ही है, वैसे ही सुराज्य में दुष्ट विरले ही रहते हैं। जिस तरह वर्षा मे पल्लववाले वृक्ष बहुत रहते हैं, उसी तरह सुराज्य मे सज्जन भी बहुत होते है। अतः, उन्हें 'अनेका' से कहा गया, यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका।" पुनः सुराज्य में जो दो-एक खल वर्षा मे आक और जवासे की तरह होते हैं, वे प्रसिद्ध हो ही जाते है, इसीसे कवि ने भी उनके नाम दे दिये है। सब कोई उन्हें जान लेते है, इससे उनका उद्यम भी नहीं चलता—यहाँ नीति है। यहाँ 'उल्लास तृतीय अलंकार' है।

(२) 'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।'—क्रोध तमोगुण से होता है, तमोगुण से किया हुआ धर्म भी व्यर्थ हो जाता है, यथा—"तामस धर्म करहि नर, जप-तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनि पर, बये न जामहिं धान ॥" (उ० दो० १०१), अर्थात् क्रोधी धर्म करता है, पर वह व्यर्थ हो जाता है। धर्म को धूलि के समान कहने का भाव यह कि जैसे धूलि सूक्ष्म और अनन्त होती है, वैसे धर्म की गति भी बड़ी सूक्ष्म है और धर्म अनन्त प्रकार के हैं, "यथा ह्यकस्माद्भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः। तथैवेह भवेद्धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा ॥" (महा० शान्ति० ३६।११), अर्थात् जैसे पत्थर आदि

से पिस कर धूल अत्यन्त सूक्ष्म होती है, धर्म उससे भी अधिक सूक्ष्मतर है। जिस तरह वर्षा होने से कीचड़ की अधिकता होती है, वैसे ही क्रोध से अविवेक और अनीति बढ़ती हैं—यहाँ विवेक है।

ससि-संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी ॥५॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा ॥६॥

शब्दार्थ—ससि (सं० शस्य) = कृषी, नई घास, अन्न।

अर्थ—धान्य से लदी हुई पृथ्वी कैसी शोभित होती है, जैसी परोपकार करनेवाले की सम्पत्ति (शोभित होती है) ॥५॥ रात में अन्धकार और मेघ होने से जुगनू चमकते (एवं शोभित) होते है, मानों पाखंडियों का समाज जुटा हो ॥६॥

विशेष— (१) 'ससि संपन्न सोह···'—खेती पृथ्वी की सम्पत्ति है, इससे पृथ्वी की शोभा है, क्योंकि खेती से समस्त जीवों का उपकार होता है। इसीसे पृथ्वी की गणना उपकारियों में है, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी ॥" (उ० दो० १२४)। यहाँ दृष्टान्त मे उपकारी की सम्पत्ति की शोभा कही गई और दार्ष्टान्त में (उपकारी) पृथ्वी की। इस तरह अन्योन्य-शोभा-सापेक्षत्व सूचित किया, अर्थात् सम्पत्ति से उपकारी की शोभा है और उपकारी से सम्पत्ति की, यथा—"मणिना वलयं वलयेन मणिर्मणिना वलयेन विभाति करः। पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः॥ शशिना च निशा निशया च शशिः शशिना निशया च विभाति नभः। भवता च सभा सभया च भवान्भवता सभया च विभाम वयम्॥" (सुभाषित-रत्नभाण्डागारम्), इत्यादि। यहाँ नीति है, यथा—"क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्॥" (भाग० १०।२०।१२), अर्थात् सब खेत अनाजों से सम्पन्न होने से किसानों को आनन्द दे रहे हैं किन्तु सब कुछ प्रारब्ध के अधीन है, यह न जाननेवाले धनिकों के चित्त में बड़ी जलन हो रही है। (कि अब ये किसान मेरे यहाँ डेढ़ी-सवाई पर अन्न लेने क्यों आवेंगे ?)।

(२) 'निसि तम घन···'—दिन में भी कभी-कभी अन्धकार हो जाता है, यथा—"कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम।" (दो० १५), पर उसमें जुगनू की शोभा नहीं होती। इसलिये 'निसितम' कहा। 'बिराजा'—केवल अँधेरी रात मे 'राजते' हैं और घन-घटाच्छादित अँधेरी रात में तो 'विशेष राजते' हैं। 'घन' का यह भी भाव है कि जब तारागण एवं चन्द्रमा आदि का प्रकाश नहीं रहता, तभी इनकी शोभा होती है। वैसे ही जहाँ अज्ञानियों की सभा-रूपी अँधेरी रात रहती है और तारागणों की तरह सामान्य विद्वान् और चन्द्रमा की तरह श्रेष्ठ विद्वान् नहीं होते, वहीं पर जुगनू-रूपी दम्भियों का समाज शोभा पाता है। विद्वत्ता से दम्भ का पोल खुल जाता है। दम्भी अपने चमत्कार से अज्ञान-तम को नहीं दूर कर सकते, यथा—'निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः। यथा पापेन पाखण्डा न हि वेदाः कलौ युगे॥" (भाग० १०।२०।८), अर्थात् वर्षा मे सन्ध्या समय मेघ से सघन अन्धकार छा जाने पर ग्रहों का प्रकाश तो नहीं दीखता। परन्तु जुगनू चमकते है, जैसे कलियुग मे पाप की प्रबलता हो जाने पर पाखण्ड मतो का प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय लुप्त हो जाते हैं।

महा बृष्टि चलि फूटि कियारी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी ॥७॥
कृषी निरावहि चतुर किसाना। जिमि बुधतजहिं मोह-मद-माना ॥८॥

अर्थ—अत्यधिक वर्षा होने से क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतन्त्र हो जाने से स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं ॥७॥ चतुर किसान खेतों को निराते (घास आदि निकालते) हैं, जैसे पंडित लोग मोह, मद और मान का त्याग करते है ॥८॥

विशेष—(१) 'महा बृष्टि चलि·····'—स्त्रियों की मर्यादा ही क्यारी है और उनकी स्वतन्त्रता महा वृष्टि है। जैसे अति वृष्टि के आघात से क्यारियाँ टूट-फूटकर बह जाती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ स्वतन्त्र होने से धर्म च्युत हो बिगड़ जाती हैं, अर्थात् नष्ट हो जाती हैं। जिस तरह महा वृष्टि होने से ही क्यारी फूटती है, उसी तरह अधिक स्वतन्त्र होने से स्त्रियाँ भी बिगड़ती हैं। इसीलिये कहा है—"पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥" (मनु० ९।३), तथा—"बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः। एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥" (मनु० ५।१४८--१४९), अर्थात् स्त्री बाल्यावस्था में पिता के, युवा मे पति के और पति के मरने पर वह पुत्रों के अधीन रहे, स्वतन्त्र न रहे। वह पिता, पति एवं पुत्रों से पृथक् रहने की इच्छा न करे, अन्यथा वह पिता और पति—दोनों के कुलों को निन्दित करती है। मनु० ९।२–५ में भी इन्हीं बातों की विशेष पुष्टि की गई है। मनु० ९।१६ में लिखा है कि ब्रह्मा ने इन्हें रक्ष्य मानकर रचा है। अतः, इनकी रक्षा कर इन्हें सुखी रखना चाहिये।

(२) 'कृषी निरावहिं चतुर·····'—तृणों को पृथक् करके अन्न की रक्षा करना किसानों की चतुराई है। ऐसे ही मोह, मद और मान को त्याग कर भक्ति-रूपी खेती की रक्षा करना बुद्धिमानों की चतुराई है। तृण आदि बोये नहीं जाते, स्वतः उपजते हैं। वैसे ही मोह, मद और मान स्वभाव ही से उपजते हैं, इन्हें न दबाने से ये ही शुभ गुणों को दबा देते हैं, यथा—"परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस।" (सुं० दो० ३९), तथा—माली भानु किसान सम, नीति-निपुन नरपाल। प्रजा भाग बस होहि गे, कबहुँ-कबहुँ कलिकाल ॥" (दोहावली ५००)—यहाँ ज्ञान है।

देखियत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥९॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा ॥१०॥

शब्दार्थ—ऊषर = वह भूमि जहाँ रेह अधिक हो और कुछ उत्पन्न न हो। (हिन्दी-शब्दसागर)

अर्थ—चकवा पक्षी नहीं देख पड़ते हैं, जैसे कलियुग को पाकर धर्म भाग जाते हैं ॥९॥ ऊसर मे वर्षा होती है, पर घास नहीं जमती। जैसे हरिभक्त के हृदय मे काम नहीं उत्पन्न होता ॥१०॥

विशेष—(१) 'देखियत चक्रवाक···'—जैसे चक्रवाक पक्षी कहीं रहते तो अवश्य है, पर दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही धर्म भी ग्रन्थों मे ही लिखा रह जाता है, कलियुग मे लोगों के द्वारा आचरित होते नहीं देखा जाता, यथा—"सकल धर्म बिपरीत कलि, कलपित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार बन, दुरे पुरान सद्ग्रंथ ॥" (दोहावली ५५६)। 'धर्म पराहीं'—यहाँ धर्म का भागना कहा गया, क्योंकि धर्म को वृषभ-रूप और कलि को कसाई का रूप कहा जाता है, यथा—"कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है।" (क० उ० १८१)—मिलान, यथा—"संप्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः।" (वाल्मी० ४।२८।१६), अर्थात् मानस सर मे रहने के लोभी चक्रवाकों ने अपनी स्त्रियों के साथ प्रस्थान किया। इस प्रमाण से चक्रवाकों का वर्षा में मानस सर मे चला जाना सिद्ध है। किष्किन्धा मे बैठे हुए त्रेतायुग की यह बात है, तदनुसार श्रीगोस्वामीजी ने लिखा है। आजकल यदि कहीं देख पड़ते हों तो देश-काल परिवर्त्तन से जानना चाहिये।—यहाँ नीति है।

(२) 'ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा। ··'—वर्षा से सर्वत्र भूमि में तृण जमते हैं, पर ऊसर में क्यों नहीं जमते? इसका कारण यह कि वहाँ की जमीन इतनी ठोस (कठोर) और कंकरीली होती है, जिससे उसके नीचे जल प्रवेश ही नहीं कर पाता, ऊपर ही से बह जाता है। इसीसे वह भूमि सरस नहीं होती। अतः, उसमें तृण नहीं जमते। वैसे ही हरिजनों के हृदय में केवल हरि की ही कामना रहती है, उनकी सब इन्द्रियों के विषय हरि ही रहते हैं। जैसे नेत्रों से हरि के दर्शन और रसना से उन्हींका प्रसाद-

सेवन, आदि। उसी सम्बन्ध से उनकी भीतर और बाहर की वृत्ति हरि में ही लगी रहती है। इससे उनके चित्त में काम का प्रवेश ही नहीं हो पाता, यथा—"कंदर्प नाग मृगपति मुरारि।" (वि० ६४), "आपूर्य-माणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न काम-कामी॥ (गीता २।७०) 'हरिजन' शब्द से भी ध्वनित है कि वे हरि अपने जनों की रक्षा करते हैं, यथा—"बालक सुत सम दास अमानी॥", "करउँ सदा तिन्हकी रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥" (अर० दो० ४२)—यहाँ ज्ञान है, तथा—"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते। भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥" (भाग० १०।२२।२६), अर्थात् जिसका मन मुझमें लगा हुआ है उनकी कामनाएँ सांसारिक भोगों की हेतु रूपा नहीं होतीं, जैसे भुने हुए या उबाले हुए धान अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकते, तथा—"न धीर्मय्येकभक्तानामाशाभिर्भिद्यते क्वचित्॥" (भाग० १०।५१।६०), अर्थात् (भगवान् कहते हैं कि) मेरे अनन्य भक्तों की बुद्धि कभी कामनाओं से विद्ध नहीं हुआ करती।

बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा। प्रजा-बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥११॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना॥१२॥

दोहा—कबहुँ प्रबल बह मारुत, जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।
जिमि कपूत के उपजे, कुल सद्धर्म नसाहिं।
कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग॥१५॥

अर्थ—नाना भाँति के छोटे-छोटे जीवों से पूर्ण पृथ्वी सुशोभित है, जैसे अच्छे राजा को पाकर प्रजा की वृद्धि होती है और फिर (प्रजा-वृद्धि से) राजा की शोभा होती है॥११॥ जहाँ-तहाँ अनेक बटोही इस प्रकार ठहर गये हैं, जिस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्रियाँ शिथिल एवं शान्त हो जाती हैं॥१२॥ कभी हवा बड़े जोर से चलती है, (जिससे) जहाँ-तहाँ मेघ नष्ट हो जाते हैं, जैसे कुपुत्र के उत्पन्न होने पर (उसके द्वारा) कुल के प्रशस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं॥ कभी तो दिन में ही घोर अँधेरा हो जाता है और कभी सूर्य प्रकट होते हैं। जैसे कुसंग पाकर ज्ञान का नाश होता है और सुसंग (सत्संग) से ज्ञान उत्पन्न होता है॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रजा-बाढ़ ···', यथा—"धरनि धेनु चारित चरत, प्रजा सुबच्छ पेन्हाइ" (दोहा-वली ५१२), अर्थात् उत्तम राजा के चलाये हुए सद्धर्माचरण से प्रजा बढ़ती है, फिर प्रजा की वृद्धि से राजा की शोभा होती है। यहाँ 'बिबिध जंतु' और 'प्रजा' एवं 'महि' और 'सुराजा'—उपमेय और उपमान है। 'जिमि' वाचक और 'भ्राजा' धर्म है। अतः, पूर्णोपमा अलंकार है। 'जिमि इंद्रिय गन ···'—यहाँ इन्द्रियाँ ही पथिक हैं, क्योंकि जहाँ-तहाँ विषयों की ओर दौड़ा करती हैं। ज्ञान होने से जीव आप्तकाम हो जाता है और वह सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता है। इससे इन्द्रियाँ निष्क्रिय होकर शिथिल हो जाती हैं, यथा—"जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।" (दो० १०), "कर्म कि होंहिं स्वरूपहिं चीन्हें॥" (उ० दो० १११), कहा भी है—"बालम के संग सोइ गई पाँचो जनी।" (कबीर)—यहाँ ज्ञान है।

(२) 'जहँ तहँ मेघ बिलाहिं'—जैसे पवन के एक ही झकोरे से कितने ही मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही एक कुपुत्र के होने से अनेक सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्षा के आदि में—'मेघ नभ छाये' कहा और यहाँ अन्त में 'मेघ बिलाहिं' कहा है।—यहाँ नीति है।

(३) 'कबहुँ दिवस महँ···'—क्षण में सूर्य छिप जाते हैं और फिर क्षण ही में प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही कुसंग से शीघ्र ही ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसंग से शीघ्र ही उसका विकास होता है। वर्षा के आदि में "गृही बिरति रत ···" कहा गया था और अन्त में "बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि" कहा गया है। ज्ञान के उदय पर प्रसंग की समाप्ति की है इसीसे 'उपजइ' और 'सुसंग' को बाद में कहा है—यहाँ ज्ञान और नीति दोनों हैं।

शरद-वर्णन-प्रकरण

बरषा बिगत सरद-रितु आई। लछिमन देखहु परम सोहाई ॥१॥
फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा-कृत प्रगट बुढ़ाई ॥२॥
उदित अगस्ति पंथ-जल सोषा। जिमि लोभहिं सोषइ संतोषा ॥३॥

अथ—हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा ऋतु बीत गई और परम शोभायमान शरद् ऋतु आ गई ॥१॥ फूले हुए कासों से सारी पृथ्वी छा गई, मानो वर्षा ऋतु ने अपनी बुढ़ाई प्रकट की है ॥२॥ अगस्त्य (तारा) का उदय हुआ और मार्गों का जल सोख लिया गया, जैसे सन्तोष (का उदय) लोभ को सोख लेता है ॥३॥

विशेष—(१) 'बरषा बिगत' से वर्षा-वर्णन-प्रकरण की इति हुई। 'सरदरितु आई' से शरद् ऋतु के वर्णन का प्रसंग प्रारम्भ हुआ जैसे वर्षा-वर्णन के प्रारम्भ में 'लछिमन देखु मोरगन ··' कहा गया था, वैसे ही शरद के प्रारम्भ में भी 'लछिमन देखहु' कहा है। वर्षा को—'गरजत लागत परम सुहाये।' कहा था, वैसे यहाँ भी—'देखहु परम सोहाई' कहते हैं। एक बात समाप्त करके दूसरी प्रारम्भ करते हुए 'लछिमन देखहु' कहा है, ऐसी ही रीति भी है, यथा—"सुनु मुनि कह पुरान···" "सुनु मुनि संतन्ह·· " इत्यादि अर० दो० ४३-४४ में श्रीरामजी ने श्रीनारदजी से कहा है। 'परम सोहाई'—वर्षा ऋतु सुन्दर तो थी, पर उसमें कीच आदि के दोष थे और नदियों का जल भी मलिन था। शरद में ये दोष नहीं हैं, प्रत्युत स्वच्छता आदि गुण हैं जिनसे यह सुहावनी है और यह ऋतु श्रीसीताजी की शोध के उद्योग करने के योग्य है, इससे परम सोहाई है—यहाँ नीति है।

जैसे वर्षा के वर्णन में मेघ मुख्य हैं और वे श्यामता प्रकट करनेवाले हैं, वैसे शरद् के वर्णन में उज्वलता प्रधान है। इसलिये इसके आदि में कास का फूलना कहा गया, यथा—"प्रावृड् व्यतीता विकस-त्सरोजा चाभवच्छरत् ॥" (वि० पु० ५।१०।१), अर्थात् वर्षाकाल बीत गया और प्रफुल्ल कमलों से युक्त शरद् ऋतु आ गई।

श्वेत केशों से बुढ़ापे का अनुमान होता है, वैसे ही कास के फूल श्वेत होकर मानों ऋतु का बुढ़ापा सूचित कर रहे हैं। शरद्-ऋतु के वर्ण्य विषय, यथा—"अमल-अकास प्रकास-ससि, मुदित कमल कुल कास। पंथी पितर पयान नृप, सरद सुकेसव दास ॥" (कविप्रिया)।

(२) 'उदित अगस्ति पंथ-जल ···'—अगस्त्य महर्षि ने समुद्र सोख लिया था, उन्हींके नाम का यह (अगस्त्य) तारा है। इसका भी प्रभाव है कि इसके उदय से वर्षा का अन्त और जल का शोषण होता है। इसमें तालाब आदि का भी जल सूखता है, पर मार्ग का तो बिल्कुल सूख जाता है, इसीसे यहाँ कहा गया। इसी प्रकार सन्तोष के उदय होने से कामना नहीं रह जाती, तब लोभ कहाँ रह सकता है? यथा—"बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ॥" (उ० दो० ८९)। जल रहने से कीचड़ के द्वारा मार्ग मलिन रहते हैं और उसके सूख जाने पर साफ हो जाते हैं। इसी तरह लोभ से हृदय मलिन रहता है, जिससे परमार्थ-मार्ग भी मलिन ही रहता है, यथा—"सुख हित कोटि उपाय

निरंतर करत न पायँ पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय पिराने ॥" (वि० २३५) अर्थात् स्थिर हृदय से ही भजन होता है और फिर उससे सुख होता है। जैसे अगस्त्य का आकाश में उदय होता है, वैसे ही सन्तोष का आविर्भाव हृदयाकाश में होता है।

सरिता-सर निर्मल जल सोहा। संत-हृदय जस गत मद मोहा ॥४॥
रस-रस सूख सरित-सर-पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी ॥५॥
जानि सरद रितु खंजन आये। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाये ॥६॥

शब्दार्थ—रस-रस = रसे-रसे, धीरे-धीरे। ममता = अपनापन, मदीयत्व।

अर्थ—नदियों और तालाबों में निर्मल जल ऐसा सोहता है, जैसा मद और मोहरहित होने से सन्तों का हृदय ॥४॥ नदियों और तालाबों का पानी धीरे-धीरे ऐसे सूख रहा है, जैसे ज्ञानी धीरे-धीरे (देह-गेह एवं तत्सम्बन्धी वर्ग की) ममता का त्याग करते हैं ॥५॥ शरद् ऋतु जानकर खंजन-पक्षी ऐसे आते हैं, जैसे समय पाकर सुन्दर पुण्य आते हैं, अर्थात् उनके फल दिखाई पड़ते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'सरिता सर निर्मल·····'—वर्षा का जल भूमि में पड़कर मैला हो गया था, यथा—"भूमि परत भा ढाबर पानी।" कहा गया है। वही जल नदी और तालाब में भी गया। इससे वे भी मैले हो गये और शरद् में जब वे निर्मल हुए, तभी उनकी शोभा कही गई। वैसे ही पहले प्राकृतिक दोष के कारण सन्त मद और मोह से युक्त थे। उनमें विचरनेवाले सन्त सरिता-रूप और स्थायी रहनेवाले तालाब-रूप हैं। उनके हृदय जल एवं मद और मोह मल हैं। ये उभय प्रकार के सन्त भी भगवान् के ज्ञान से मद और मोह रहित होकर शोभा पाते हैं, यथा—"सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन्। ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम् ॥" (वि० पु० ५।१०।११), सर्व व्यापक भगवान् विष्णु को जान लेने पर मेधावी (सद्बुद्धिवाले) पुरुषों के मनों के समान जलाशयों का जल स्वच्छ हो गया। 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'—'अहं-मम' अज्ञान से होते हैं, इनका ज्ञान से त्याग होता है, ज्ञान के साधनों में कहा भी गया है, यथा—"असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।" (गीता १३।८), तथा—"जासु ज्ञान-रबि-भव निसि-नासा। बचनकिरन मुनि-कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह-ममता नियराई।···" (अ० दो० २७६)—यहाँ ज्ञान है, यथा—"शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः। ममत्वं क्षेत्रपुत्रादिरूढ-मुत्सर्जेयथा बुधाः॥" (वि० पु० ५।१०।८), अर्थात् जैसे क्षेत्र और पुत्र आदि में बढ़ी हुई ममता को विवेकी लोग धीरे-धीरे त्याग देते हैं, वैसे ही जलाशयों का जल धीरे-धीरे अपने किनारों को छोड़ने लगा। तथा—"द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्। ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥" (महा० आश्व० ५१।२९), अर्थात् "मम" इन दो अक्षरों को मृत्यु और "न मम" इन तीन अक्षरों को शाश्वत ब्रह्म जानना चाहिये।

(२) 'जानि सरद रितु खंजन···'—पहले दो प्रकार से धर्म का चला जाना कहा गया था, एक क्रोध से और दूसरा कलि से, यथा—"करहि क्रोध जिमि धरमहि दूरी।" और—"कलिहि पाइ जिमि धरम पराहीं।" इनमें जो धर्म क्रोध के कारण दूर चला गया, वह तो लौटकर नहीं आ सका और जो कुसमय-रूप कलि के कारण भागा था, वह सुसमय पाकर (अच्छा काल पाकर) फिर आ गया। जिस तरह खंजन प्रायः निर्जन स्थानों एवं पहाड़ों में रहते हैं और जाड़े के दिनों में नीचे उतर आते हैं, वैसे ही सुकृत के फल समय पाकर प्राप्त होते हैं, यथा—"दसरथ सुकृत राम धरे देही। जनक सुकृत मूरति बैदेही॥" (बा० दो० ३०६), सुकृत के उदय होने की गति विधाता के हाथ है, वह जिस समय उदय करे, वही उसका समय है, यथा—"कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥"

(अ० दो० २८१), "लोचन गोचर सुकृत फल मनहु किये बिधि आनि ॥" (अ० दो० १०६)। पत्नियों में खंजन के विषय में ही कहा गया, क्योंकि यह नियमित समय पर आता है।

पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥७॥
जल संकोच बिकल भइँ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन-हीना ॥८॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥९॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥१०॥

अर्थ—पृथ्वी पर न कीचड़ है और न धूल, इससे यह ऐसी शोभित है, जैसी नीति-निपुण राजा की करतूत ॥७॥ जल के संकोच (कमी) हो जाने से मछलियाँ व्याकुल हो गईं, जैसे धन-रहित होने से मूर्ख एवं अज्ञानी कुटुम्बी व्याकुल होते हैं ॥८॥ बिना बादलों के निर्मल आकाश सोह रहा है, जैसे सब आशाओं को छोड़कर हरिभक्त शोभित होते हैं ॥९॥ शरद्-ऋतु की वर्षा कहीं-कहीं और वह भी थोड़ी-थोड़ी होती है, जैसे मेरी भक्ति कोई एक ही पाते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'पंक न रेनु सोह···'—ग्रीष्म में धूल से और वर्षा में पंक से पृथ्वी अशोभित थी अब दोनों के दूर होने से शोभित है। ऐसे ही 'नीति-निपुन नृप कै करनी' होती है, अर्थात् राजा न किसी पर गर्म हो और न शीतल, किन्तु उसे तो नीति के अनुसार ही करना चाहिये, यथा—"क्षमाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः। हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥ तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः। वसन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥" (महा० शान्ति० ५६।३९-४०), अर्थात् क्षमावान राजा के सिर पर नीच लोग चढ़ते हैं, जैसे शीलवान् हाथी के सिर पीलवान सदा चढ़ा रहता है। अतएव राजा को न तो बहुत गर्म और न बहुत शीतल ही होना चाहिये, किन्तु वसन्त ऋतु के सूर्य की भाँति रहना चाहिये ['मध्य दिवस अति सीत न घामा।' यह वसन्त के सूर्य के प्रति कहा गया है]। ऐसी करणी को धरणी की उपमा दी गई, क्योंकि यह करणी प्रजा को धरणी की तरह धारण करने में समर्थ होती है। नहीं तो प्रजा नष्ट हो जाय—यहाँ नीति है।

(२) 'जल संकोच बिकल भइँ मीना।···—पहले जल का 'रस-रस सूखना' कहा गया था। अब जल इतना कम हो गया कि मछलियाँ विकल होने लगीं। 'अबुध' अर्थात् गुण-हीन हैं, इसीसे धन की प्राप्ति नहीं कर सकते और परिवार भारी है। अतः, पालने की चिन्ता में विकल होते हैं, यथा—"नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं ॥" (उ० दो० १२०), जैसे मीन को आगे जल की आशा नहीं, वैसे इन्हें आगे धन मिलने की आशा नहीं, क्योंकि अबुध है। पाहुनों का सम्मान भी नहीं कर पाते, यही मीन के शरदातप का-सा दुःख है। मीनों का रहा-सहा जल सूर्य खींच लेते हैं, वैसे अबुधों का शेष धन भी महाजन आदि लेते है, इससे व्याकुलता बढ़ जाती है। 'अबुध' हैं, इससे सुख-दुःख के सहनेवाली समबुद्धि भी नहीं होती, जिससे कि दुःख न व्यापे, यथा—"सुख हरषहि जड़ दुख बिलखाहीं। दुहुँ सम धीर धरहि मन माँही ॥" (अ० दो० १४९), यहाँ नीति और ज्ञान है। मिलान, यथा—"गाधवारिचरास्तापमविन्दन् शरदर्कजम्। यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥" (भाग० १०।२०।३८), अर्थात् थोड़े जल के मछली आदि जलचर शरद् ऋतु के सूर्य से उत्पन्न ताप को प्राप्त हुए, जैसे दरिद्र, सूम, इन्द्रिय वशवर्त्ती और कुटुम्बी पुरुष विकल होते हैं।

गृहस्थ की बातें कह आगे विरक्तों की व्यवस्था कहते हैं—

(३) 'हरिजन इव परिहरि सब आसा।'—हरिजन एक हरि से आशा करते हैं और किसीसे नहीं, यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा ॥" (उ० दो० ४५), हरि से भी केवल हरि ही को चाहते हैं और सभी आशाओं का त्याग कर देते हैं, तभी वे शोभा पाते हैं, नहीं

तो शोक से मलिन रहते हैं, यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम॥" (दोहावली १६), तथा—"आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्गुमात्। आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयेव वा पुनः॥" (महा० शान्ति० १२५।६), अर्थात् मैं वृक्षों से युक्त पहाड़ से भी आशा को वृहत् समझता हूँ। यह आकाश से भी अप्रमेय है। यह त्याग से ही क्षीण होती है, यथा—"आशामयनयस्वाशु ततः कृशनरीमिमाम्॥" (महा० शान्ति० १२८।२४), अर्थात् आशा को शीघ्र ही दूर करो, तब यह अत्यन्त दुर्बल होगी, तथा—"आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥" (भाग० ११।८।४४), तथा—"आशाया ये दासा दासास्ते सर्वलोकस्य। आशा दासी येषां तेषां दासायते लोकः॥" (स्कन्द पु० वै० वै० २०।१८)। जैसे घन से आकाश मलिन रहता, वैसे ही आशा से लोगों का हृदय मलिन रहता है—यहाँ वैराग्य है।

(४) 'कहुँ कहुँ बृष्टि ···'—शारदी (शरद्-ऋतु की) वृष्टि कहीं-कहीं होती है और वह भी थोड़ी ही होती है। वैसे ही कोई एक मेरी (प्रभु) भक्ति पाते हैं, वह भी थोड़ी, पूर्ण नहीं, अर्थात् भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यथा—"नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक ···" से "सब ते सो दुर्लभ सुर राया। राम भगति रत गत मद माया॥" (उ० दो० ५३) तक। इन चौपाइयों के अनुरूप ही महारामायण अ० ४६ श्लोक ३ में भी कहा गया है, तथा—"ये कल्पकोटि सततं जपहोमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहो रत ब्रह्म-ज्ञानात्। ते देवि धन्यमनुजा हृदि बाह्यशुद्धाः भक्तिस्तदा भवति तेषु च रामपादौ॥" (महारामायण ४९।४), अर्थात् निरन्तर सैकड़ों कल्पों तक जो जप-होम आदि विविध साधन करते एवं ब्रह्मज्ञान में रत रहते हैं, उन हृदय के और बाहर के भी शुद्ध एवं धन्य मनुष्यों के हृदय में राम-भक्ति होती है। तात्पर्य यह कि भक्ति ज्ञान से भी दुर्लभ है, क्योंकि ज्ञान के पानेवाले अनेक कहे गये, यथा—"नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥" जैसे शारदी वृष्टि से मुक्ता आदि बहुत पदार्थ उत्पन्न होते है, वैसे भक्ति से भी मुक्ति आदि बहुत बातें स्वतः सिद्ध होती हैं—यहाँ भक्ति है। आगे कुछ भक्ति पानेवालों को गिनाते हैं—

दोहा—चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि॥१६॥

शब्दार्थ—श्रम=परिश्रम, दुःख, यथा—"देखि बिभीषन प्रभु श्रम पायो।" (लं० दो० ६३)।

अर्थ—राजा (स्वदेश निरीक्षणार्थ एवं विजय के लिये), तपस्वी (वन में तपस्या के लिये), व्यापारी (व्यापार करने के लिये) और भिखारी (भिक्षाटन के लिये) हर्षित हो नगर छोड़कर चले। जैसे भगवान् की भक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (आश्रम के) दुःख (श्रम) को छोड़ देते हैं॥१६॥

विशेष—(१) जब तक भक्ति प्राप्त न थी तबतक आश्रमों में रहकर उनके धर्मसेवन के क्लेश सहते थे और धर्म को नहीं छोड़ते थे, क्योंकि दूसरा आधार नहीं था। जब भक्ति प्राप्त हो गई, तब निर्भीक होकर हर्ष पूर्वक आश्रम-धर्म छोड़ दिया, क्योंकि उन्हें—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" (गीता १८।६६), एवं—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥" (वा० रा० ६।१८।३३), तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥" (भाग० ११।५।४१), अर्थात् जो सब कर्म-वासनाओं का त्यागकर सर्वात्मना भगवान् की शरण हो जाता है वह देवों, ऋषियों, पितरों, प्राणियों एवं कुटुम्बियों के ऋण से उऋण हो जाता है, वह किसीके अधीन एवं किसीका सेवक नहीं रहता (शरणागति का विशेष रहस्य बिभीषण शरणागति सुं० दो० ४१-४७ में देखिये)। इससे हरि का भरोसा हो जाता है। भक्तिप्राप्ति का तात्पर्य पूर्ण (परा) भक्ति से है। जो लोग ऐसे भक्त है, उन्हें कर्म छोड़ने के दोष नहीं होते, यथा—"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ (भाग० ११।२३।९),

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि साधक को कर्म तभी तक करना अति आवश्यक है जब तक वैराग्य उत्पन्न न हो, अथवा मेरी कथा के श्रवण आदि में जब तक श्रद्धा नहीं पैदा हो।

(२) चार आश्रम—ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। इन आश्रमों में से जिसीमें भक्ति प्राप्त हो जाय वह और उसके आगे के आश्रमों के साधन छूट सकते हैं। यों भी तो गृही होने पर ब्रह्मचर्याश्रम छूट जाता है, वानप्रस्थ में जाने से गृहस्थाश्रम छूट जाता है और संन्यास में प्राप्त होने पर वानप्रस्थ छूट जाता है। वैसे ही जिस आश्रम से ही पूर्ण भक्ति प्राप्त हो जाय तो उसके आधार से वे आश्रम छूट जाते हैं, क्योंकि भक्ति सब साधनों का फल स्वरूप है, यथा—"जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥" (उ० दो० १२५)—यहाँ भक्ति है।

पहले ही कहा गया है—"जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।" अर्थात् वर्षा के कारण जहाँ-तहाँ पथिक ठहरे हुए थे। फिर क्रमशः वर्षा का बीतना, मार्ग के जल का सूखना, पंक और रेणु की निवृत्ति इत्यादि मार्ग की सभी कठिनाइयों का दूर होना कहा गया, तब पथिकों का चलना कहा। उनमें 'नृप' के विषय में पहले कहा गया, क्योंकि यही यहाँ का प्रस्तुत प्रसंग है कि सभी राजा तो चल दिये, पर सुग्रीव राजा हमारे कार्य के लिये नहीं चले अर्थात् श्रीसीताजी की खोज में वे प्रवृत्त नहीं हुए, यथा—"अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज। उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः॥ इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज। न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥" (वाल्मी० ४।३०।६०-६१), अर्थात् हे राजपुत्र लक्ष्मण! परस्पर वैर रखनेवाले तथा अपनी विजय चाहनेवाले राजाओं का यही उद्योग काल है। हे राजपुत्र! राजाओं की यात्रा का यही प्रधान समय है, परन्तु राजा सुग्रीव को नहीं देखता हूँ और न उनका वैसा कोई उद्योग ही देख पड़ता है।

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥१॥
फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥२॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग-रव नाना रूपा॥३॥

अर्थ—जो मछलियाँ अथाह जल में हैं वे सुख से हैं। जैसे भगवान् की शरण में एक भी बाधा नहीं रहती॥१॥ कमलों के फूलने से सरोवर कैसा शोभित है जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होने पर शोभित होता है॥२॥ भौंरे गूँजते हैं, उनके शब्द अनुपम हैं। सुन्दर पक्षी अनेक रूप के हैं। वे सुन्दर शब्द कर रहे हैं॥३॥

विशेष—(१) 'सुखी मीन जे…'—पहले 'सँकोच जलवाली' मीनों की विकलता कही गई। उसीके समक्ष अगाध जल की मीनों की निर्भयता कहते हैं। इससे यह भी जनाया कि जो हरि शरणागति छोड़कर परिवार ही का सेवन करते हैं, वे दुखी रहते हैं। हरि की शरण में बाधा नहीं होने पाती, हरि अपने आश्रितों की रक्षा करते ही हैं, उन्हीं की बाधा निवारण के लिये तो वे अवतार भी लेते हैं, इसीसे आगे अवतार कहा गया है, यथा—फूले कमल सोह…'। शरणागति का स्वरूप भी दिखलाया है कि जैसे मछली का 'जल जीवन जल सोइ' है, वैसे ही भक्त के भी उपाय-उपेय (फल) भगवान् ही होते हैं, यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत्। शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानात्विवेकिभिः॥" (रहस्यत्रय), कहा भी है—"राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को।" (वि० २६९)। मीन की एक मात्र गति जल ही है, वैसे हरिभक्त के भी हरि ही गति हैं, यथा—"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमांगतिम्॥" (गीता० ७।१८), "परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान्रात्तसेभ्यो नृपात्मज॥" (वाल्मी० ३।६।२०)। ऐसे प्रपन्न (शरणागत) को किसी बाधा की चिन्ता नहीं रहती, यथा—"मां प्रपन्नो

जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम्।" (भाग० १०।५१।४४), अर्थात् (भगवान् मुचकुन्द से कहते हैं—) जो पुरुष मेरी शरण में आ जाता है उसे फिर कोई चिन्ता नहीं रहती।

'अबुध कुटुंबी' को इतना ज्ञान नहीं है कि जगत् मात्र के रक्षक प्रभु की शरण में जाय, वे पूर्णतया सार-सँभार करेंगे ही। इसीसे दुखी भी रहते हैं। शरणागत होनेवालों का अपना कर्त्तव्य कुछ रह ही नहीं जाता, यथा—"सोवे सुख तुलसी भरोसे राम नाम के।" (क० उ० १०३), "त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो।" (भाग० १०।२।३३), अर्थात् (आपके भक्त) बड़े-बड़े विघ्नकर्त्ताओं के सरदारों के सिर पर पैर रख कर निर्भय विचरते हैं, क्योंकि उनके रक्षक आप रहते हैं। "सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥" (बा० दो० १२५)। शरणागत की भी सर्वात्मना स्थिति हरि ही में रहनी चाहिये। मन, वचन और कर्म से उन्हीं की सेवा मे लगा रहे।

(२) 'फूले कमल सोह···'—यहाँ कमल सगुण ब्रह्म है और जल निर्गुण ब्रह्म है, यथा—"मायाछन्न न देखिये, जैसे निर्गुण ब्रह्म।" (अर० दो० ३९)—देखिये। कमल के फूलने से जिस तरह सर की शोभा होती है, उसी तरह सगुण होने से निर्गुण ब्रह्म की शोभा होती है। कमल रूप में प्रभु के सर्वाङ्ग की शोभा—"नव कंज लोचन, कंज मुख, कर कंज, पद कंजारुनं॥ कंदर्प अगनित अमित छवि नव नील नीरज सुंदरं।" (वि० ४५)—इसके 'सिद्धान्त-तिलक' में देखिये। मानस में कमल चार रंग के कहे गये हैं—श्वेत, पीत, रक्त और श्याम। वैसे ही सगुण ब्रह्म के भी चार रंग कहे गये हैं, यथा—आसन्वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः॥ शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः।" (भाग० १०।८।१३), अर्थात् युगानुसार भगवान् श्वेत, लाल, पीत और श्याम रूप धारण करते हैं। इस समय श्यामता को प्राप्त हैं। महा० वन० १४६।११-३४ में विस्तार पूर्वक युग वृत्तियाँ कही गई है, वहाँ भी भगवान् को सत्ययुग में शुक्ल, त्रेता में लाल, द्वापर मे पीत और कलियुग में कृष्ण वर्ण का कहा गया है।

पहले आश्रम धर्म से भक्ति-प्राप्ति का वर्णन हुआ, यथा—"जिमि हरि भगति पाइ श्रम···" तब भक्ति की रीति और भगवान् का रक्षकत्व कहा गया—"जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।" फिर कहा गया कि इन्हींके लिये हरि अवतार भी लेते हैं, यथा—"फूले कमल···" पश्चात् उपमा द्वारा भक्तों का प्रभु-गुण-गाना कहते हैं, यथा—"गुंजत मधुकर मुखर···"—जैसे क्वार के प्रारम्भ को सूचना कास के फूल द्वारा दी गई वैसे ही कार्तिक के आरम्भ को यहाँ कमल के फूलने से सूचित किया। भ्रमर कमल का विशेष स्नेही होता है, तत्पश्चात् जल-पक्षी। वैसे ही क्रम से इनका वर्णन भी करते हैं कि कमल के फूलने पर भ्रमर गूँजते हैं। ऐसे ही निर्गुण ब्रह्म के सगुण होने पर मुनि एवं दास लोग प्रभु का गुण-गान करते हैं, यथा—"बिकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु बिराग पाइ सकल सोक कूप गृह बिहाइ भृत्य प्रेम मत्त फिरत गुनत गुन तिहारे॥" (गी० बा० ३७)। मुनि लोग ही पक्षी रूप कहे गये हैं यथा—"बोलत खग निकर मुखर···मनहुँ बेद बंदी मुनिबृंद सूत मागधादि बिरद बदत जय-जय-जयति कैटभारे।" (गी० बा० ३७)। निर्गुण ब्रह्म का गान नहीं करते बनता, यथा—"ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे॥" (भाग० १०।८७।१), अर्थात् अनिर्देश्य और निर्गुण ब्रह्म जो सत्-असत् से परे है, उसके विषय में गुण वृत्तिवाली श्रुतियाँ कैसे कुछ कह सकती हैं, उसका गान सगुणत्व में ही होता है—यहाँ ज्ञान है।

चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर-संपति देखी॥४॥
चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही॥५॥
सरदातप निसि ससि अपहरई। संत-दरस जिमि पातक टरई॥६॥

अर्थ—रात को देखकर चकवे के मन में दुःख होता है। जैसे दूसरे की सम्पत्ति को देखकर दुष्ट

दुखी होते हैं ॥५॥ पपीहे रट लगाये हुए हैं। (क्योंकि) उन्हें अत्यन्त प्यास है। जैसे श्रीशंकरजी से द्रोह करनेवाला सुख नहीं पाता ॥५॥ शरद ऋतु की ताप (धूप) को रात्रि में चन्द्रमा हर लेता है, जैसे सन्तों के दर्शनों से पाप दूर होते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'चक्रवाक मन ···'—सम्पत्ति वैसे सबको विश्राम और सुख देती है, जैसे रात। जैसे वही रात चकवे को दुखदायी होती है, वैसे ही पर-सम्पत्ति भी दुर्जनों को दुःखद होती है, यथा—"खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी ॥" (उ० दो० ३८), रात्रि के नाश से चकवे वैसे ही सुखी होते हैं, जैसे पर सम्पत्ति के नाश से दुष्ट, यथा—"परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिपाद बसेरे ॥" (बा० दो० ३)।

(२) 'चातक रटत तृषा अति ···'—जैसे वर्षा के रहते हुए भी चातक को सुख नहीं, वैसे ही सुख-साज के रहते हुए भी शंकर-द्रोही को सुख नहीं होता। क्योंकि उसने शं + कर = कल्याणकर्त्ता से ही द्रोह किया। शिवजी अहङ्कार के देवता हैं, अहङ्कार शरीर का रहता है। उसके देवता शिवजी की प्रतिकूलता से शरीर रोगी हो जाता है, फिर समस्त भोग रहते हुए भी जीव सुखी नहीं होता, यथा—"सहज शरीर बादि बहु भोगा।" (अ० दो० १७७)—यहाँ विवेक है।

यहाँ से शंकर, सन्त, हरि, ब्राह्मण और सद्गुरु इन पाँचो की सेवा क्रम से कहते हैं। इन्हींके मध्य में हरि की प्राप्ति लिखी गई है, जिसका भाव यह है कि उपर्युक्त पाँचो संसार-सागर से उद्धार करनेवाले है और शेष चारो की सेवा से हरि मिलते हैं, यथा—"द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पावई।" (वि० १३६), तथा—"जनक-सुकृत-मूरति बैदेही। दसरथ-सुकृत राम-धरे देही ॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे ॥" (बा० दो० ३०६),—शिव-सेवा से, "भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहि राम दुख हरन ॥" (वि० २०३)—सन्त-सेवा से, "मन क्रम बचन कपट तजि, जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव, बस ताके सब देव ॥" (अर० दो० ३३)—द्विज-सेवा से, और—"श्रीहरि गुरु पद कमल भजहु मन तजि अभिमान। जेहि सेवत हरि पाइये सुख निधान भगवान ॥" (वि० २०३)—सद्गुरु-सेवा से। अर्थात् जिसे हरि प्राप्ति की इच्छा हो, वह इन चारो उपायों को करे।

(३) 'सरदातप निसि ससि···'—'निसि ससि' अर्थात् चन्द्रमा तो कभी-कभी दिन में भी रहता है, पर उसकी आतप-हरण-शक्ति का विकास रात को ही होता है। यहाँ सन्त को और आगे हरि को चन्द्रमा के समान कहा गया है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं, यथा—"संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।" (वि० ५७), जैसा सुख हरि के दर्शनों से सन्तों को मिलता है, वैसा ही सुख सन्त के दर्शनों से इतर लोगों को होता है, परन्तु जैसे सन्त के दर्शनों से जगत् के लोगों के पापों का नाश होना कहा गया, वैसे हरि के दर्शनों से सन्तों का पाप हरना नहीं कहा गया, क्योंकि सन्त निष्पाप होते हैं—उनमें पाप होता ही नहीं। 'टरई' का भाव यह कि पाप टर जाता है, पर यदि सन्तों के-से आचरण न धारण किये जायँ तो फिर भी वैसा ही पाप होता है; यही उस पाप का लौट आना है, जैसे प्रत्येक निशि में चन्द्रमा ताप हरण करता है और फिर भी नित्य ताप होता ही है—यहाँ सन्त-भक्ति है। श्रीमद्भागवत में भी कहा है—"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥" (१०।४८।३१ तथा १०।८४।११), अर्थात् केवल जलमय तीर्थ, और मिट्टी या शिला के देवता ही, तीर्थ और देवता नहीं हैं, (साधु जन उनसे भी बड़े तीर्थ और देवता हैं, क्योंकि) तीर्थ और मूर्त्ति आदि तो बहुत दिनों तक सेवा करने से पवित्र करते हैं, किन्तु साधु जन दर्शन-मात्र से ही कृतार्थ कर देते हैं। भाग० १०।८६।५२ एवं १२।१०।२३ में भी ठीक ऐसा ही कहा गया है, तथा—"साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः। तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥ (स्कन्द पु० ना० २१।६८)।

देखि इंदु चकोर-समुदाई । चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥७॥
मसक-दंस बीते हिम त्रासा । जिमि द्विज द्रोह किये कुलनासा ॥८॥

दोहा—भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद रितु पाइ ।
सदगुरु मिले जाहिं जिमि, संसय - भ्रम - समुदाइ ॥१७॥

अर्थ—चकोरवृन्द चन्द्रमा को देखते हैं, जैसे हरि-भक्त हरि को पाकर उनके दर्शन करते हैं ॥७॥ मच्छड़ और डाँस (विषैली मक्खी) हिम (जाड़े) के डर से ऐसे नष्ट हो गये, जैसे ब्राह्मण से वैर करने पर कुल का नाश होता है ॥८॥ पृथ्वी में जो जीव परिपूर्ण (व्याप्त) थे, वे शरद ऋतु को पाकर नष्ट हो गये, जैसे सद्गुरु के मिलने पर संशय और भ्रम के समूह चले जाते हैं ॥१७॥

विशेष—(१) 'देखि इदु चकोर···'—वर्षाकाल में चकोर घनघोर-घटाओं के कारण चन्द्रमा को नहीं देख पाते, अब देखते हैं। 'चितवहिं जिमि ···'—हरि की प्राप्ति दुर्लभ है, जो ऊपर अर्द्धाली ५ में भी कही गई है। सन्त जब प्रभु को पाते हैं, तब चकोर के समान एकटक देखते ही रहते हैं अर्थात् तैल धारावदवच्छिन्न एकरस प्रेम करते हैं। जैसे अनन्त तारागणों को छोड़कर चकोर चन्द्रमा को ही देखता है, वैसे ही हरिजन अनन्त देवों को छोड़कर एक हरि ही से लौ लगाते हैं, यथा—"मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत, मानहु निकर चकोर ॥" (अर० दो० १२), 'चदि-आह्लादे' इस धातु से चन्द्र शब्द निष्पन्न होता है। अतः, चन्द्रमा आह्लादमय है, वैसे आह्लादमय हरि भी चन्द्रमा की तरह एक ही हैं और हरिजन चकोरों की तरह अनन्त हैं—यहाँ अनन्य-भक्ति है।

(२) 'मसक-दंस बीते·····'—मच्छड़ छोटे और डाँस बड़े होते हैं, अर्थात् छोटे-बड़े सभी द्विज-द्रोही मच्छड़-डाँस की तरह नष्ट हो जाते हैं, यथा—"दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।" (अ० दो० १२५), "एकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥" (महा० उद्यो० ४०।८), अर्थात् एक ही क्रोधी ब्राह्मण देश का नाश करता है, तथा—"न स जातोऽजनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन। यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत् ॥ दुर्माद्यो मुष्टिना वायुर्दुःस्पर्शः पाणिना शशी। दुर्धरा पृथिवी राजन् दुर्जया ब्राह्मणा भुवि ॥" (महा० अनुशा० ३३।२६-२७), अर्थात् जो ब्राह्मणों के साथ विरोध करके सहज मे जीने का उत्साह करे, इस पृथ्वी मण्डल पर ऐसा कोई पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ और न होगा। हे राजन्! जैसे हवा मुट्ठी में नहीं ग्रहण की जाती, जैसे हाथ से चन्द्रमा का स्पर्श करना असम्भव है, और जैसे पृथ्वी का धारण करना असम्भव है, वैसे ही इस भूमण्डल पर ब्राह्मणों को भी कोई जीतने में समर्थ नहीं हो सकता, तथा—"इंद्र कुलिस···जो इन्ह कर मारा···" (उ० दो० १०८)—इसका विशेष भी देखिये।—यहाँ विवेक है। 'हिमत्रासा' से कार्तिक का अन्त कहा गया है।

(३) 'भूमि जीव संकुल रहे···'—ऊपर जलचर और थलचर कह चुके, यथा—"सुखी मीन जे नीर अगाधा।"—जलचर, "गुंजत मधुकर···" "सुंदर खगरव···" "मसक दंस बीते···" नभचर। अब यहाँ से "भूमि जीव···" इन थलचरों के विषय में कहा जाता है। 'संशय'—किसी वस्तु के विषय में तरह-तरह का ज्ञान होना, जिससे यह न जान पड़े कि कौन ठीक है और कौन नहीं। भ्रम—जैसे नाव पर बैठकर चलते तो हैं स्वयं, और समझते हैं कि तट के और-और वृक्ष-लतादि चल रहे हैं, ऐसे ही देहेन्द्रिय के धर्मों को आत्मा में मान लेना भ्रम है, यथा—"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।" (गीता ३।२७), सद्गुरु से ब्रह्मनिष्ठ गुरु का अर्थ है—बा० मं० सो० ५ 'बंदउँ गुरु पद···' देखिये।

शरद् ऋतु का उपक्रम—"बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।" से हुआ था, यहाँ—"सद्गुरु मिले जाहिं···" पर उसका उपसंहार हुआ।—यहाँ विवेक है।

'वर्षा और शरद् का मिलान' (मानस तत्त्व भास्कर)—

वर्षा		शरद
गत ग्रीषम बरषा रितु आई।	१	बरषा बिगत सरद रितु आई।
बरषा काल मेघ नभ छाए।	२	बिनु घन निर्मल सोह अकासा।
भूमि परत भा ढाबर पानी।	३	सरिता सर निर्मल जल सोहा।
छुद्र नदी भरि चली तोराई। सिमिटि-सिमिटि जल भरहि तलावा	४	रस-रस सूख सरित सर पानी।
महा बृष्टि चलि फूटि किआरी।	५	कहुँ-कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।
हरित भूमि तृन संकुल समुझि परै नहिं पंथ	६	उदित अगस्ति पंथ जल सोखा।
बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा।	७	भूमि जीव संकुल रहे, गये सरद रितु पाय।
देखियत चक्रवाक खग नाहीं।	८	चक्रवाक मन दुख निसि पेखी।
जहँ-तहँ रहे पथिक थकि नाना।	९	चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।

'वर्षा और शरदऋतु के वर्णन में विविध विषय' (मानस तत्त्व भास्कर)—

वर्ण-धर्म—"बेद पढ़हि जनु बटु समुदाई।"—में ब्राह्मण का, 'प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा।"—में क्षत्रिय का, 'उपकारी कै संपति जैसी।—मे वैश्य का और "जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।" में शूद्र का धर्म कहा गया है, यह चौपाई शूद्र के प्रति घटित होती है, क्योंकि द्विज-सेवा ही इनका मुख्य धर्म है।

आश्रम-धर्म—"सदगुरु मिले जाहि जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।"—ब्रह्मचारी का। "गृही बिरति रत हरष जस ···"—गृहस्थ का। "साधक मन जस मिले बिबेका।"—वानप्रस्थ का और "जिमि इंद्रिय गन उपजे ज्ञाना।"—संन्यास का।

सन्त-असन्त (खल)-लक्षण—'सन्त'—(१) खल के बचन संत सह जैसे। (२) जिमि हरिजन हिय उपज न कामा। (३) संत हृदय जस गत मद मोहा। (४) हरिजन इव परिहरि सब आसा।

'खल'—(१) खल कै प्रीति जथा थिर नाही। (२) जस थोरेहि धन खल इतराई। (३) जिमि दुरजन पर संपति देखी।

परमार्थ विधि—क्रोध-रहित कर्म करे, यथा—"करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी।" और साधन-सहित विवेक को प्राप्त करे, यथा—"साधक मन जस मिले बिबेका।", निष्काम भक्ति करे, यथा—"हरिजन इव परिहरि सब आसा।" "जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।"

पंच-तत्त्वों के कार्य—

पृथ्वी—ससि संपन्न सोह महि कैसी। जल—महाबृष्टि चलि फूटि कियारी। अग्नि—कबहुँ दिवस महँ निविड़ तम, कबहुँक प्रगट पतंग। प्रकाश करना अग्नि का कार्य है। वायु—कबहुँ प्रबल बह मारुत··· मेघ बिलाहि। मेघ का उड़ाना वायु का कार्य है। आकाश—बिनु घन निर्मल सोह अकासा।

बुध-अबुध-लक्षण—'बुध'—'जथा नवहि बुध बिद्या पाये।' 'जिमि बुध तजहि मोह मद माना।' 'अबुध'—'अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना।'

काण्डत्रय के फल—कर्म के फल सुख-दुःख है, यथा—"जिमि सुख लहइ न संकर-द्रोही।" "जिमि द्विज-द्रोह किये कुल नासा।", ज्ञान का फल—"सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥", उपासना का फल—"चितवहि जिमि हरिजन हरि पाई।"

माया, जीव और ब्रह्म के लक्षण—

माया—"जनु जीवहिं माया लपटानी।" अर्थात् जीव के स्वरूप पर आवरण रखना माया का लक्षण है। "होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।" अर्थात् हरि से पृथक् होना और फिर उनमें प्राप्त होना ही जीव का लक्षण है। "निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥"—यह ब्रह्म का लक्षण है।

वर्षा के प्रदर्शन में इन्द्रधनुष का वर्णन नहीं किया गया, क्योंकि यह निषिद्ध है, यथा—"न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः॥" (मनु० ४।५९), अर्थात् इन्द्रधनुष को देखकर दूसरे को दिखाना मना है। वर्षा-वर्णन के पहले दोहे की अपेक्षा दूसरे मे ड्योढ़ी चौपाइयाँ हैं, इससे दूसरे मास में महावृष्टि का होना सूचित किया गया है।

'राम-रोष कपित्रास'-प्रकरण

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥१॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ। कालहु जीति निमिष महँ आनउँ॥२॥

अर्थ—वर्षा ऋतु बीत गई और निर्मल ऋतु आ गई। हे तात लक्ष्मण! श्रीसीताजी का समाचार नहीं मिला॥१॥ एक बार किसी प्रकार एवं कैसा भी समाचार पाऊँ तो काल को भी जीतकर निमेष-भर में उन्हें ले आऊँ॥२॥

विशेष—(१) 'बरषा गत···'—पहले भी—'बरषा बिगत सरद ऋतु आई' कहा गया था, उसका भाव यह था कि विशेष वर्षा तो बीत गई, किन्तु अब शरदऋतु आई है, जिसमें सामान्य वर्षा होती है, जैसा कि यहीं पर—"कहुँ-कहुँ वृष्टि सारदी थोरी।" से स्पष्ट है। वहाँ 'वि-गत' 'वि' उपसर्ग विशेष के अर्थ में है और यहाँ 'गत' मात्र देकर वर्षा का नितान्त निवृत्त होना कहा है, अर्थात् चतुर्मास (वर्षा का चौमासा) बीत गया, यथा—"व्यतीतांश्चतुरोमासान्विहरन्नावबुध्यते।" (वाल्मी० ४।३०।७८), इसीसे आगे शरद्-ऋतु न कहकर 'निर्मल रितु' कहा है, अर्थात् आकाश नितान्त साफ हो गया।

कोई-कोई यों भी कहते हैं कि वहाँ श्रीलक्ष्मणजी को दिखाने में 'बिगत' कहा था और यहाँ सीता-सुधि पाने के विषय में उसीको 'गत' कहा है।

(२) 'एक बार कैसेहुँ···'—'कैसेहुँ' अर्थात् मृत वा जीवित होने की, क्योंकि आगे इन्हीं दो प्रकारों की व्यवस्था कही गई है कि मृतक होंगी, तो काल के यहाँ होंगी, फिर निमिष अर्थात् अत्यन्त अल्प-काल में ही काल को जीतकर श्रीजानकीजी को लाऊँगा। और, यदि जीवित होने का समाचार मिले, तो अन्य उपायों के द्वारा लाऊँगा, चाहे जहाँ कहीं भी होंगी। 'कैसेहुँ' शब्द से मरण का भाव जना दिया, पर प्रिया के विषय में अमंगल शब्द का प्रयोग श्रीरामजी से नहीं होने पाया, जैसे—"देखी सासु आन अनुहारी॥" (अ० दो० १२५), पर कहा गया है। यहाँ काल के जीतने मे अपने बल का वर्णन किया।

कतहुँ रहउ जौ जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई॥३॥
सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज-कोष-पुर-नारी॥४॥

अर्थ—हे तात! कहीं भी रहें, पर यदि वे जीती होंगी तो, उन्हें यत्न करके लाऊँगा॥३॥ श्रीसुग्रीवजी ने भी मेरी सुधि भुला दी (क्योंकि) वे अब राज्य, कोष, नगर और स्त्री पा गये, अर्थात् राज्यादि चार में यदि एक भी शेष रहता, तो वे न भूलते, वा उन्हें एक ही का मद बहुत था, पर चार एकत्र हो गये, तब तो कुछ कहना ही नहीं?॥४॥

विशेष—(१) 'कतहुँ रहउ जौ जीवित होई ···'—पहले उन्होंने श्रीसीताजी के काल-वश होने

की सम्भावना की, क्योंकि इसका कारण है कि निशाचरों ने खा लिया होगा, यथा—"नर अहार रजनीचर चरहीं।" (अ० दो० ६२), अथवा वे स्वयं राक्षसों के भय से नहीं जी सकी होंगी, यथा—"चित्र लिखित कपि देखि डेराती।" (अ० दो० ५९), वा हमारे विरह में उन्होंने प्राण त्याग दिये होंगे, यथा—"दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्त्तते। नालं वर्त्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता ॥" (वाल्मी० ४।१।५१), अर्थात् मेरे विरह में श्रीसीताजी अच्छी तरह नहीं रह सकतीं। जीवित होने में 'जौ' दुविधा वाचक कहा। 'कतहुँ रहउ' का भाव यह है कि यह तो निश्चय है कि सब जीव मरने पर काल के यहाँ जाते हैं। पर जीवित रहने में ही सन्देह है कि न जाने उस राक्षस ने कहाँ ले जाकर रक्खा होगा। अतः, सर्वत्र उन्हें खोजने का यत्न करना पड़ेगा। इससे कुछ विलम्ब हो सकता है, पर काल के यहाँ से तो उसको जीतकर पल-भर में ले आऊँगा—इसमें बल का गौरव है। यत्न से लाने में बुद्धि का गौरव कहा गया। बल और बुद्धि से ही जय प्राप्त होती है। भाव यह है कि हम श्रीसुग्रीवजी ही के भरोसे नहीं हैं।

(२) 'सुग्रीवहु' का भाव यह है कि काल तो हमारे विपक्ष में है ही, यथा—"कीन्ह मातु मिस काल कुचाली।" (अ० दो० २५२), उसने ही हमपर विपत्ति डाली। उसपर श्रीसुग्रीवजी ने भी मेरी सुध भुला दी। भाव यह है कि जैसे हम काल को जीतेंगे, वैसे ही कृतघ्नी सुग्रीव को भी मारेंगे। 'बिसारी' अर्थात् जानकर मेरी सुधि भुला दी, यथा—"चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः। मम शोभाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥ चक्रवाकीव भर्त्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्। विषमं दण्डकारण्यमुन्मानमिव चाङ्गना॥ प्रियाविहीने दुःखार्त्ते हृतराज्ये विवासिते। कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण॥" (वाल्मी० ४।३०।६४-६६), अर्थात् वर्षा के ये चार महीने प्रिया के विरह में मुझे सैकड़ों वर्षों के समान बीते हैं। जो सीता चकवी की नाईं दण्डक वन को मेरे साथ उद्यान मानकर चली आई, उस प्रिया से विहीन, दुःख से आर्त्त और राज्य से पृथक् हुए मुझपर राजा सुग्रीव भी कृपा नहीं कर रहे हैं। 'मोरि' इस दीनतापरक वचन में यह वाल्मीकीय आशय भी रक्खा है।

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली॥५॥
जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा। ता कहँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥६॥

अर्थ—(अतएव) जिस बाण से मैंने वालि को मारा था, उसी बाण से इस मूढ़ को (क्या) कल मारूँ ? (तो उसकी सारी विलासता खाक में मिल जाय ?) ॥५॥ हे उमा ! जिसकी कृपा से (औरों के) मद और मोह छूटते हैं, उसे स्वप्न में भी क्या क्रोध हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं, यह तो विरहातुर नर का नाट्य है) ॥६॥

विशेष—(१) 'तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली।'—यहाँ 'हतउँ' यह अपूर्ण क्रिया है, अर्थात् 'मारूँ'। पूर्ण क्रिया 'मारूँगा' के लिये 'मारिहउँ' या 'हतिहउँ' ऐसा होना चाहिये, पर ऐसा नहीं है। अतः, 'हतउँ' का अर्थ 'क्या मारूँ ?' एवं 'यदि मारूँ' यह है, तो यह अभिप्राय आगे के वचन—'भय देखाइ ले आवहु···' से सिद्ध है। श्रीरामजी विरह का नाट्य कर रहे हैं, अथवा विरह से पीड़ित मनुष्य की तरह कह रहे हैं। श्रीसुग्रीवजी से स्वार्थ-भाव से मित्रता तो थी नहीं—दो० ११ चौ० १-४ देखिये। श्रीसुग्रीवजी आर्त्त एवं अर्थार्थी भक्त हैं। अतः, उनकी रक्षा करना ही भगवान का उद्देश्य है। उसने अग्नि की साक्षी देकर मित्रता की थी, प्रभु ने वचन-मात्र के दण्ड से उन्हें पाप-मुक्त किया, अन्यथा अग्निदेव ही उसे दंड देते। वचन-मात्र से भी इतना ही कहते हैं कि कल मारूँगा, पर ऐसा होगा नहीं, क्योंकि वह तो आज ही शरण में आ जायगा। 'मूढ़', क्योंकि मेरे बल को आँखों देखकर भी भुला दिया।

(२) 'जासु कृपा छूटहिं मद-मोहा।···', यथा—"क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल

राम की दाया ॥" (अ० दो० ३८), यहाँ 'मद और मोह' दो ही कहे गये है, क्योंकि ये दोनों क्रोध के मूल है। जब वे मूल ही उनकी कृपा से छूटते है तो उन्हींका कार्य-रूप क्रोध इन्हें कैसे हो सकता है? 'स्वप्न में भी न होगा' यह मुहावरा है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता। उमा का क्रोध होने का सन्देह हुआ, इस-पर शिवजी ने समाधान किया है।

जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर-चरन रति मानी ॥७॥
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना ॥८॥

दोहा—तब अनुजहि समुझावा, रघुपति करुना-सींव।
भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव ॥१८॥

अर्थ—इस चरित (के मर्म) को मुनि, ज्ञानी और जिन लोगों ने रघुबीर श्रीरामजी के चरणों में प्रीति का गर्व कर रक्खा है, वे ही जानते हैं ॥७॥ श्रीलक्ष्मणजी ने प्रभु को क्रोधयुक्त जाना, (तब उन्होंने) धनुष चढ़ाकर बाण को अपने हाथ में ग्रहण किया, अर्थात् श्रीसुग्रीव को मारने के लिये उद्यत हो गये ॥८॥ तब करुणा की सीमा श्रीरघुनाथजी ने छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को समझाया कि हे तात! सुग्रीव सखा है, उसको भय दिखाकर ही ले आओ, अर्थात् किसीको सखा बनाकर फिर उसे मारना उचित नहीं है ॥१८॥

विशेष—(१) 'जानहिं यह चरित्र···'—मुनि से अधिक ज्ञानी और ज्ञानी से अधिक उपासक प्रभु के चरित को जानते हैं। इसी प्रकार क्रम से कहा गया है। 'लछिमन क्रोध···'—श्रीलक्ष्मणजी ने जाना, पर प्रभु क्रोधयुक्त है नहीं।

शंका—श्रीलक्ष्मणजी भी तो 'रघुबीर-चरन रति मानी' हैं ही, यथा—"बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन-रति मानी॥" (बा० दो० १९७), फिर क्यों नहीं जान सके?

समाधान—श्रीरामजी ने यह मर्म उन्हें नहीं जनाया, इससे उन्होंने नहीं जाना, यथा—"लछिमन-हूँ यह मरम न जाना।" (अर० दो० २३), श्रीरामजी को ललित नरलीला करनी है, नर-शरीर में क्रोध, भ्रम, आदि का होना सम्भव है, इसीलिये ये वैसा ही चरित्र करते है—"जस काछिय तस चाहिय नाचा।" (अ० दो० १२६)। प्रभु का रहस्य उन्हींके जनाये से, वह भी परिमित अंश में ही, कोई जानता है। यदि श्रीलक्ष्मणजी जान लेते तो प्रभु से विरह आदि की लीला नहीं करते बनती।

(२) 'तब अनुजहि समुझावा···'—'करुना-सींव'—श्रीसुग्रीवजी पर भी अत्यन्त करुणा है। इसलिये भाई को समझाया। 'अनुजहि' और 'सखा'—का भाव यह है कि तुम हमारे छोटे भाई हो और श्रीसुग्रीवजी सखा अर्थात् 'समानं ख्यातीति सखा' इस दृष्टि से वह हमारे समान हैं। अतः, वे तुम्हारे द्वारा आदरणीय है। समझाना वाल्मी० ४।३१।४-८ में कहा गया है "जब श्रीलक्ष्मणजी ने कहा कि मैं आज ही असत्यवादी सुग्रीव को मारता हूँ। रहा सीता-शोध, वह अंगद के द्वारा करा लूँगा। तब श्रीरामजी ने कहा कि तुम्हारे समान मनुष्य को ऐसा पाप नहीं करना चाहिये। जो कोप को विवेक से शान्त करते है, वे ही वीर पुरुषोत्तम कहे जाते है। हे श्रीलक्ष्मणजी! साधु-चरित्रवाले तुमको सुग्रीव के मारने की बात नहीं सोचनी चाहिये। पहले मैत्री की गई है, उसका स्मरण करो। काल बीत जाने के सम्बन्ध मे कोमल वचनों से रुखाई दूर करके तुम सुग्रीवजी से कहना।"

यह भी समझाया कि अपने ही बनाये हुए को बिगाड़ना नहीं चाहिये, यथा—"आपने निवाजे कोपै कीजै लाज महाराज, मेरी ओर हेरि कै न बैठिये रिसाइ कै। पालि कै कृपाल ख्याल बालकौ न मारिये, औ काटिये न नाथ विपट्ट को रूख लाइ कै॥" (क० उ० ६२)।

इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। राम-काज सुग्रीव बिसारा ॥१॥
निकट जाइ चरननन्हि सिर नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा ॥२॥

अर्थ—यहाँ (किष्किन्धा में) वायु के पुत्र श्रीहनुमानजी ने हृदय में विचार किया कि श्रीसुग्रीवजी ने श्रीरामजी के कार्य को भुला दिया ॥१॥ समीप जाकर उन्होंने उनके चरणों में प्रणाम किया और साम, दाम, भेद और दण्ड, इन चारों तरह से उन्हें कहकर समझाया ॥२॥

विशेष—(१) 'इहाँ पवन सुत···'—भुला देना इससे जाना कि स्मरण होता, तो वर्षा के बीतते ही हमसे कार्य करने को कहे होते, पर कभी उन्होंने चर्चा भी नहीं की। श्रीहनुमानजी नहीं भूले, क्योंकि इनका तो राम-कार्य के लिये अवतार ही है, यथा—"राम काज लगि तव अवतारा।" (कि० दो० २६)। पुनः इन्होंने ही बीच में पड़कर दोनों तरफ से प्रतिज्ञा सहित मैत्री कराई थी। इनके हृदय में सदा श्रीरामजी बसते हैं, इससे प्रमाद नहीं हो सका और ये सावधान रहे।

(२) यहाँ श्रीहनुमानजी ने श्रीसुग्रीवजी में एवं श्रीरामजी में मन, वचन, कर्म की भक्ति प्रकट की—'हृदय बिचारा'—मन, 'चरननन्हि सिर नावा'—कर्म और 'कहि समुझावा'—वचन है। 'निकट जाइ'—इसलिये कि जिससे दूसरा कोई न सुने। इस बात के प्रकट होने में राजा की लघुता है। प्रणाम करके मन्त्र कहना नीति है। 'चारिहु बिधि'—श्रीरामजी परम श्रेष्ठ हैं, उन्होंने आपसे आकर प्रीति की और पहले आपका उपकार किया। अतः, आपको उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये—यह साम है। उन्होंने आपको राज्य दिया। अतः, बदले में उनका कार्य करना चाहिये—यह दाम है। बालि ने अंगद को सौंपा है, यदि अप्रसन्न होकर श्रीरामजी उसे ही राज्य दे दें तो आप क्या कर सकेंगे ? अतः, उनका कार्य शीघ्र कीजिये—यह भेद है। फिर जिन्होंने बालि को मारा, उनके सामने आप क्या हैं ?—यह दण्ड है।

वाल्मी० सर्ग २६ में श्रीहनुमानजी का समझाना विस्तार से है। 'इहाँ' अर्थात् इस समय कवि की स्थिति परम भक्त श्रीहनुमानजी की ओर है, यह भी भाव है। 'बिसारा' श्रीरामजी ने कहा भी था—"संतत हृदय धरेहु मम काजू।" (दो० १३), तब भी इन्होंने भुला दिया। 'पवनसुत', यथा—"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना।" (दो० २९), इसीसे इन्होंने बुद्धि से विचार कर कहा।

सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना ॥३॥
अब मारुत-सुत दूत-समूहा। पठवहुँ जहँ तहँ बानर-जूहा ॥४॥
कहहु पाख महँ आव न जोई। मोरे कर ताकर बध होई ॥५॥

अर्थ—श्रीहनुमानजी के वचन सुनकर श्रीसुग्रीवजी ने अत्यन्त डर माना (और कहा—) कि विषय ने मेरे ज्ञान को हर लिया ॥३॥ हे पवनपुत्र ! अब जहाँ-जहाँ वानरों के यूथ (वृन्द) रहते हैं, वहाँ-वहाँ (उन्हें बुलाने के लिये) बहुत-से दूत भेजो ॥४॥ और दूतों एवं सर्वत्र के वानर यूथों से कहो एवं कहला दो कि जो कोई एक पक्ष (१५ दिन) में नहीं आवेगा, उसका वध मेरे हाथों से होगा ॥५॥

विशेष—'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।'—पहले ज्ञान था, यथा—"उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला। सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (दो० ६), उसी पर वहाँ लक्ष्य है। विषय ज्ञान को हर लेता है, यथा—"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥" (गीता २।६७), 'अब मारुत-सुत···'—मारुत सुत शीघ्रता के लक्ष्य से कहा गया कि वायु-वेग से दूतों को भेजो, वैसी ही तेजी से वे सब जायँ और वैसी ही तेजी से आनेवालों को बुलावें। 'दूत-समूहा', यथा—"शतान्यथ

सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्। प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः ॥···आनयन्तु हरीन्सर्वा-स्त्वरिताः शासनान्मम ॥" (वाल्मी० ४।३७।१३-१५), अर्थात् सौ हजार करोड़ दूत शीघ्र जायँ और मेरे अधीन वानरों को शीघ्र ले आवें। 'जहँ-तहँ' वाल्मी० ४।३७।२२-२५ में कैलास, हिमालय, विन्ध्याचल आदि पर्वतों एवं क्षीरसमुद्र के तट के, तमाल वन के तथा और भी नदियों, वनों के नाम दिये गये हैं, वे ही यहाँ 'जहँ तहँ' से कहे गये। इससे अन्य रामायणों के मतों का भी समावेश हो गया। 'जूहा' यूथा का अपभ्रंश है। 'बानर-जूहा'—वानर शरीर से हल्के होते हैं। अतः, शीघ्र जायँगे, इससे इन्हींको भेजा है। भालू देह के भारी होते हैं। अतः, उतनी शीघ्र गति से सम्भवतः न जा सकेंगे। वा, वानर समूह में रीछों को भी समझना चाहिये, यथा—"बानर कटक उमा मैं देखा।" (दो० २१)—इसमें भालू भी कहे गये हैं। 'मोरे कर'—दूसरे के हाथों से चाहे बच भी जाते।

तब हनुमंत बोलाये दूता। सब कर करि सनमान बहूता ॥६॥
भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिर नाई ॥७॥
येहि अवसर लछिमन पुर आये। क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये ॥८॥

दोहा—धनुष चढ़ाइ कहा तब, जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब, आयउ बालि-कुमार ॥१६॥

अर्थ—(जब श्रीसुग्रीवजी ने कहा—) तब श्रीहनुमानजी ने दूतों को बुलाया और उन सबका बहुत सम्मान कर ॥६॥ उन सबको भय, प्रीति और नीति दिखाई, वे सब वानर चरणों में सिर नवाकर चले ॥७॥ (दूतों के भेजे जाने पर) उसी अवसर पर श्रीलक्ष्मणजी (किष्किन्धा) पुर में आये, उनका क्रोध देखकर वानरगण जहाँ-तहाँ से (उनसे लड़ने के लिये) दौड़े ॥८॥ तब (जब अस्त्र धारण किये हुए वानरों को दौड़ते देखा, तब उन्हें लड़ने पर उद्यत जानकर) श्रीलक्ष्मणजी ने धनुष चढ़ाकर कहा कि (अग्निबाण से) इस पुर को जलाकर भस्म कर दूँगा। इसपर नगरवासियों को व्याकुल देखकर बालि-पुत्र श्रीअंगदजी (श्रीलक्ष्मणजी के पास) आये ॥१६॥

विशेष—(१) 'तब हनुमंत बोलाये·· '—'तब' जब राजा की आज्ञा मिली। 'करि सनमान'—यथा—"लै-लै नाम सकल सनमाने।" (अ० दो० १९०), सम्मान के द्वारा उनमें अपना प्रेम दिखाया। कहा कि तुम सब सुग्रीवजी के विश्वासी एवं मित्र हो, तुम्हारा उन्हें बड़ा भरोसा है, इत्यादि।

(२) 'भय अरु प्रीति नीति'··'—पक्ष-भर में जो न आवेगा, राजा उसे स्वयं मारेंगे—यह भय, शीघ्र आनेवाले एवं कार्य करनेवाले पर राजा प्रसन्न होंगे और तदनुसार पारितोषिक देंगे—यह प्रीति और दूतों की नीति बतलाई। नीति में यह भी कहा है कि सुग्रीव राजा का यह पहला कार्य है, इसमें त्रुटि करने-वाला पूर्व के विरोधी पक्ष का समझा जायगा। श्रीसुग्रीवजी ने केवल भय दिखाने की आज्ञा दी थी, इसी-से भय को पहले कहा। नीति और प्रीति को इन्होंने अपनी ओर से कहा—यह इनकी स्वामि-भक्ति है।

(३) 'क्रोध देखि जहँ-तहँ ··'—भय दिखाने के लिये श्रीलक्ष्मणजी क्रोध की चेष्टा किये हुए हैं, उनके नेत्र लाल और भौंहें चढ़ी हुई हैं, वे धनुष के रोदे से कठोर शब्द कर रहे हैं। 'जहँ-तहँ कपि धाये'—चारों तरफ दौड़-दौड़कर मोरचेबन्दी करने लगे कि किसी ओर से जाकर श्रीसुग्रीवजी को मारने न पावे। सशस्त्र लड़ने पर उद्यत देखकर श्रीलक्ष्मणजी का क्रोध और बढ़ गया, यथा—"ततस्तैः कपि-भिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः। अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥ ततस्ते हरयः सर्वे प्राकार-परिखान्तरात्। निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥" (वाल्मी० ४।३१।२६-२७), तब हाथ में पेड़ लिये हुए महाबलवान् वानरों से भरी हुई उस किष्किन्धा पुरी को क्रुद्ध लक्ष्मणजी ने देखा, उसमें प्रवेश

करना कठिन था। शहर की चार दिवारी और खाई के बाहर निकल कर वे बड़े बली वानर सामने खड़े हो गये।

'येहि अवसर'—श्रीहनुमानजी के दूत भेजने के पश्चात् लगभग १४ दिन पर लक्ष्मणजी का यह आगमन है, क्योंकि १४ दिन में आने के लिये सबको अवधि दी गई थी। आगे—"एहि बिधि होत बतकही, आए बानर जूथ।" (दो० २१) कहा गया है।

(४) 'धनुष चढ़ाइ कहा ''—कहने मात्र पर नगर-भर व्याकुल हो गया, यह कथन भय-दर्शन के लिये ही है, यथा—"भय देखाय लै आवहु"—यह श्रीरामजी की आज्ञा है, इसका पूरा प्रभाव पड़ा। 'धनुष चढ़ाइ'—पहले धनुष चढ़ाना कहा गया था, यथा—"लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥" पर यहाँ फिर चढ़ाना कहा गया, इससे जाना गया कि उस समय श्रीरामजी के समझाने पर धनुष उतार दिया था। यहाँ इन लोगों की मोरचेबन्दी देखकर इन्हें लड़ने को उद्यत जान फिर धनुष पर रोदा चढ़ाया। 'करउँ पुर छार'—क्योंकि पुरवालों ने लड़ने की तैयारी की। इसीसे सबको जलाना कहते हैं। 'बालि-कुमार'—बालि ने सौंपा है, इससे हमपर कृपा ही करेंगे, यह जानकर अंगद आया। पुनः बालि के बसाये हुए पुर पर आपत्ति देखकर उसकी रक्षा करने के लिये आया तथा बालि की तरह धीर एवं विनीत है—इससे घबराया नहीं और प्रसन्न करने के लिये आया। इन कारणों के प्रकट करने को 'बालि-कुमार' कहा है।

चरन नाइ सिर बिनती कीन्ही। लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही॥१॥
क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भय अकुलाना॥२॥
सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा॥३॥
तारा-सहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु-सुजस बखाना॥४॥
करि बिनती मंदिर लै आये। चरन पखारि पलँग बैठाये॥५॥

अर्थ—श्रीअंगदजी ने श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में सिर नवाकर विनती की। श्रीलक्ष्मणजी ने उसे अभय बाँह दी, अर्थात् उसको अपने कोप से निर्भय कर दिया॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी क्रोधयुक्त हैं, ऐसा अपने कानों से सुनकर श्रीसुग्रीवजी भय से अत्यन्त व्याकुल हो गये और बोले॥२॥ हे हनुमान! सुनो, तारा को साथ लेकर जाओ और प्रार्थना करके राजकुमार को समझाओ, अर्थात् शान्त करो॥३॥ तारा के साथ जाकर श्रीहनुमानजी ने श्रीलक्ष्मणजी के चरणों की वन्दना करके प्रभु श्रीरामजी का सुन्दर यश वर्णन किया॥४॥ और फिर प्रार्थना करके महल में ले आये और चरणों को धोकर उन्हें पलँग (वृषी संज्ञक आसन) पर बैठाया॥५॥

विशेष—(१) 'अभय बाँह'—यह मुहावरा है कि तुम्हें कोई भय नहीं है, हम नगर न जलायेंगे।

(२) 'सुनि काना'—ये महल के भीतर थे, इससे इन्होंने कानों से ही सुना। बाहरवाले वानरों ने उनका क्रोध देखा भी था, यथा—"क्रोध देखि जहँ-तहँ कपि धाये।" ऊपर अंगदजी का अभय होना कहकर श्रीसुग्रीवजी का सुनना कहा गया, इससे सूचित किया कि अंगदजी ने ही आकर कहा, जैसा कि वाल्मी० ४।३१।४२-५१ एवं ३२।१ में स्पष्ट कहा गया है।

(३) 'अति भय अकुलाना'—श्रीहनुमानजी के ही समझाने से उन्होंने परम भय माना था, अब श्रीलक्ष्मणजी को क्रुद्ध सुनकर तो अत्यन्त ही व्याकुल हो गये। सोचते हैं कि श्रीरामजी होते तो उन्हें मित्र के नाते समझा भी लेते, इनपर तो मेरा वश नहीं है।

(४) 'संग लै तारा।'—स्त्री पर बड़े लोग दया ही करते हैं, तारा बड़ी बुद्धिमती भी है, बालि ने

कहा भी था—यह पूर्व कहा गया और श्रीहनुमानजी बुद्धि, विवेक और विज्ञान के निधान हैं एवं श्रीरामजी के विशेष कृपापात्र हैं, इन्हींने मैत्री कराई थी। अतएव ये दोनों समझा सकेंगे। अंगद को अभय-बाँह दे चुके है। अतः, उसकी माता पर भी दया ही करेंगे। अतः, मेरा अपराध भी क्षमा करेंगे, तथा—"त्वद्दर्शनेन विशुद्धात्मा न स्म कोपं करिष्यति। न हि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित्कुर्वन्ति दारुणम्॥ त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्। ततः कमलपत्राक्षं द्रष्टयाम्यहमरिंदमम्॥" (वाल्मी० ४।३३।३६-३७), अर्थात् सुग्रीवजी ने तारा को भेजते हुए कहा है कि तुम्हें सामने देखकर विशुद्धात्मा लक्ष्मणजी क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि महात्मा लोग स्त्रियों पर क्रोध नहीं करते। कोमल वचनों द्वारा तुम्हारे क्षमा करा देने पर और उनके प्रसन्न हो जाने पर मैं कमलनयन श्रीलक्ष्मणजी से भेंट करूँगा (तारा को भेजने के ये सब हेतु है)। समझाना यह कि आपने अपने हाथ से जिसका तिलक किया है, उसे स्वयं न मारना चाहिये, इस नीति से राजकुमार को समझाना। 'कुमारा'—श्रीरामजी राजा है, उन्होंने श्रीसुग्रीवजी को मित्र बनाकर बराबर का पद दिया है। अतः, आप (कुमार)-के द्वारा वे सम्मान के पात्र है। 'बिनती'—जैसे कि नाग-पत्नी की बिनती से श्रीकृष्ण भगवान् ने नाग को बचाया है।

(५) 'तारा सहित जाइ···'—श्रीलक्ष्मणजी द्वार पर ही थे। अतः, ये लोग वहाँ तक गये। 'प्रभु-सुजस', यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" (उ० दो० १), "अपनेहुँ देखे दोष, राम न सपनेहु उर धरेउ।" (दोहावली ४७), "न घटे जन जो रघुबीर बढ़ायो!" (क० उ० ६०)। "सुजस सुनि श्रवन हौ नाथ आयों सरन। उपल केवट गीध सबरी संभृति समन, सोक-श्रम-सींव सुग्रीव आरति हरन।" (गी० सुं० ४३), राम-भक्तों को प्रसन्न करने का यह सहज उपाय है कि उन्हें राम-यश सुनावे, क्योंकि यही उनका जीवन-धन है, यथा—"राम भगत जन जीवन धन से।", "सेवक सालि पाल जलधर से।" (बा० दो० ३१-३२)।

'तारा सहित' एवं 'संग लै तारा' से श्रीहनुमानजी की प्रधानता है, वाल्मीकीय रामायण में तारा की ही प्रधानता है।

(६) 'करि बिनती मंदिर लै आये।'—श्रीलक्ष्मणजी भीतर नहीं जाना चाहते थे, तब भीतर चलने के लिये बिनती की, यथा—"तदागच्छ महाबाहो चारित्रं रक्षितं त्वया। अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम्॥" (वाल्मी० ४।३३।६१), अर्थात् तारा ने कहा, आइये, किसीके घर में जाकर स्त्रियों को देखना न चाहिये—इस मर्यादा का आपने पालन किया, पर मित्र-भाव से सज्जनों को पर स्त्री को देखना अनुचित नहीं है, अतएव आप भीतर चलिये। मन्दिर में ले आने से श्रीलक्ष्मणजी का अधिक सम्मान हुआ। चरण धोये, पलँग पर बैठाया, एवं और भी सेवा की। श्रीसुग्रीवजी भीतर बुलाकर फिर भी कोप शान्त कराके मिले, क्योंकि बाहर श्रीलक्ष्मणजी की डाँट-फटकार से प्रजा के सामने मान-हानि थी, यहाँ तो घर की बात घर में ही है।

शंका—यद्यपि उदासीन वृत्ति का नियम श्रीरामजी के लिये है। श्रीलक्ष्मणजी नगर में भी आते जाते है, तथापि स्वामी श्रीरामजी तो भूमि-शयन वृत्ति से है तो सेवक लक्ष्मणजी पलँग पर कैसे बैठ सकते है? जब कि स्वामि-सेवा में ये भी मुनि-वेष में रहते हैं।

समाधान—पलंग (पर्यङ्क) का पर्यायी पद 'वृषी' है, यह ब्रह्मचारी आदि यतियों का आसन है, वही यहाँ युक्त है, यथा—"पल्यङ्को मञ्चपर्यङ्कवृषीपर्यस्तिकासु च।" (मेदिनी कोष), तथा—"व्रतिनामासनं वृषी।" (अमर कोष), अर्थात् व्रतियों के आसन को वृषी या 'वृसी' कहते हैं, यह ब्रह्मचारी आदि के आसन का नाम है।

तब कपीस चरननि सिर नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥६॥

नाथ बिषय-सम मद कछु नाहीं। मुनि-मन मोह करइ छन माहीं ॥७॥
सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहुबिधि समुझावा ॥८॥
पवन-तनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गये दूत-समुदाई ॥९॥

दोहा—हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगे करि, आये जहँ रघुनाथ ॥२०॥

अर्थ—(जब श्रीलक्ष्मणजी शान्त हुए) तब श्रीसुग्रीवजी ने उनके चरणों में सिर नवाया, श्रीलक्ष्मणजी ने हाथ पकड़कर उन्हें गले से लगा लिया ॥६॥ (श्रीसुग्रीवजी ने कहा—) हे नाथ! विषय के सदृश (अनिष्ट करनेवाला) और कोई मद नहीं है, यह क्षण-भर में मुनियों (मनन-शीलों) के मन को भी मोहित कर लेता है ॥७॥ विनम्र वचन सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने सुख पाया और फिर उनको बहुत भाँति से समझाया ॥८॥ श्रीहनुमानजी ने सब कथाएँ सुनाईं, जिस तरह दूत समूह गये, अर्थात् चारों तरफ भेजे जानेवाले दूतों की व्यवस्था कह सुनाई ॥९॥ तब अंगद आदि वानरों को साथ लेकर तथा श्रीरामजी के छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी को आगे कर श्रीसुग्रीवजी हर्षित होकर चले और जहाँ श्रीरघुनाथजी थे, वहाँ आये ॥२०॥

विशेष—(१) 'कपीस'—ये राजा हैं, अतएव इन्होंने नीति के अनुसार किया कि पहले अंगदजी आ मिले, फिर तारा एवं श्रीहनुमानजी के द्वारा उनका क्रोध शान्त कराया, तब मिले और उनके चरणों पर पड़े।

(२) 'नाथ बिषय-सम मद ···'—मद अज्ञानियों को ही मोहित करता है, पर यह (विषय-रूप) मद ज्ञानियों को भी मोहता है। यह मन को मलिन कर देता है, यथा—"काई बिषय मुकुर मन लागी।" (बा० दो० ११४), "मन मलिन बिषय सँग लागे।" (वि० ८२)। 'मुनि-मन मोह करइ', यथा—"सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्। प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः॥ घृताच्यां किल संसक्तो दशवर्षाणि लक्ष्मण। अहो मन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः॥" (वाल्मी० ४।३५।६-७), अर्थात् पहले सुग्रीवजी दुःख से सो पाते थे, उन्हें अब उत्तम सुख मिला है। अतः, उन्हें समय का अन्त नहीं जान पड़ा, जैसे महामुनि विश्वामित्र जब घृताची पर आसक्त हो गये थे, तब दस वर्षों का उन्होंने एक दिन समझा था। (तब साधारण लोगों की कौन बात है), तथा—"अभिष्वङ्गस्तु कामेषु महामोह इति स्मृतः। ऋषयो मुनयो देवा मुह्यन्त्यत्र सुखेप्सवः॥" (महा० आश्व० ३६।३२), अर्थात् देह सुख के अभिलाषी ऋषि, मुनि और देवगण भी इस विषय-कामना रूपी महामोह में मोहित हो जाते हैं। बहु बिधि समुझावा'—आप श्रीरामजी के सखा हैं, उनके तुल्य हैं। अतः, साम्मान्य है, पर मैंने श्रीरामजी के विरह के दुःख से ही कुछ क्रोध किया था, अब कोई भय नहीं। हाँ, अब शीघ्र चलकर अपने सखा को समझाइये। 'बिनीत बचन'—वाल्मी० ४।३६ में विस्तार से दिये गये हैं कि पहले की नष्ट राज्यश्री, कीर्त्ति और निरन्तर वानरों का राज्य श्रीरामजी की कृपा से ही मुझे पुनः प्राप्त हुए हैं। उनका बदला चुकाने एवं सहायता करने में कौन समर्थ हो सकता है। वे स्वयं श्रीसीताजी को प्राप्त करेंगे, रावण को मारेंगे।··· मैं भी पीछे-पीछे जाऊँगा। विश्वास के कारण वा स्नेह के कारण यदि इस दास से अपराध हो गया है, तो उसे क्षमा करें, क्योंकि दासों से अपराध हो ही जाते हैं, इत्यादि।

(३) 'पवन-तनय सब कथा ···'—पहले उन्हें कुपित जानकर न कहा था, अब प्रसन्न जानकर सुनाते हैं। सुग्रीवजी ने स्वयं नहीं कहा कि लक्ष्मण सत्य न मानेंगे, समझेंगे कि डर से अपने वचने के

लिये बना कर कह रहे हैं। पुनः श्रीहनुमानजी ने सब व्यवस्थाएँ की थीं, इससे उन्होंने ही कहा। वे मन्त्री और परम वाक्य-विशारद भी है। अतः, इनकी बातों से विश्वास होगा। 'पवन-तनय'—क्योंकि इनके वचन भी श्रीलक्ष्मणजी को वायु की तरह शीतल करनेवाले है।

(४) 'हरषि चले सुग्रीव··· ' '—हर्षित होकर चले, क्योंकि राम-कार्य प्रारम्भ कर चुके हैं और श्रीलक्ष्मणजी भी अनुकूल हो गये। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी के अनुज है, इसलिये उन्हें आगे किया, तब स्वयं और फिर अंगद आदि है। अंगदजी का नाम स्पष्ट कहा गया है, क्योंकि श्रीरामजी ने कहा ही था—"अगद सहित करहु तुम राजू।" (दो० ११)। अतः, इन्हें साथ रखने से श्रीरामजी प्रसन्न होंगे। चलने की रीति भी जनाई कि आगे श्रीलक्ष्मणजी हैं, फिर श्रीसुग्रीवजी और तब अंगद, आदि।

नाइ चरन सिर कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहि न खोरी ॥१॥
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौ दाया ॥२॥
बिषय-बस्य सुर-नर-मुनि-स्वामी। मैं पामर पसु कपि अति कामी ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के चरणों मे मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे नाथ! मेरा कुछ दोष नहीं है ॥१॥ हे देव! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है, हे श्रीरामजी! जो आप दया करें तो छूटे ॥२॥ हे स्वामी! सुर, नर और मुनि सभी विषय के वश मे है, (तो) मै पामर (नीच) पशु और अत्यन्त कामी वानर किस गणना मे हूँ? ॥३॥

विशेष—(१) 'नाइ चरन सिर कह·····'—हाथ जोड़कर सिर नवाना श्रीरामजी को प्रिय है, यथा—"भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है ॥" (वि० १३५), चरण के सम्बन्ध से सिर नवाना साष्टांग दंडवत् के अर्थ मे है, अन्यथा केवल 'माथ नाइ' आदि कहते, यथा—"माथ नाइ पूछत अस भयऊ।" (दो० १), अंगदजी एवं तारा और श्रीहनुमानजी ने भी चरणों की वन्दना और विनती ही की थी, यथा—"चरन नाइ सिर बिनती कीन्हीं।" —अंगदजी, "चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ॥"—तारा और हनुमानजी, उसी भाँति सुग्रीवजी ने भी किया।

'नाथ मोहि कछु नाहि न खोरी···'—भाव यह कि माया आपकी ही है, आपही की प्रेरणा से बाँधना और छोड़ना ये दोनो ही कार्य होते है, यथा—"बंध मोच्छ प्रद सर्ब पर, माया प्रेरक सीव।" (अर० दो० १५), "तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधे सोइ छोरै।" (वि० १०२), भाव यह कि मैंने तो प्रथम ही माँगा था कि वैसी कृपा कीजिये, जिससे सब छोड़कर भजन करूँ—"अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती ॥ (दो० ६)। पर, आपने माया का सम्बन्ध कर दिया तो मै क्या करूँ? अतः, अब ऐसी कृपा कीजिये कि मोह से बचकर आपका भजन करूँ, यथा—"काल करम गति अगति जीव की सब हरि हाथ तुम्हारे। सोइ कछु करहु रहहु ममता मम फिरहुँ न तुम्हहि बिसारे ॥" (वि० ११२)।

(२) 'अतिसय प्रबल देव ··', यथा—"सिव बिरंचि कहँ मोहै, को है बपुरा आन।" (उ० दो० ६२), "जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।" (वि० ९८)। 'छूटइ नाथ करहु जौ दाया', यथा—"सो दासी ··छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहउँ पद रोपि।" (उ० दो० ७१), "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥' (गीता ७।१४) अर्थात् यह मेरी गुणमयी दैवी माया निःसन्देह दुस्तर है, जो मेरी ही शरण होते है वे ही इसे तरते हैं, तथा वि० ११६ और १२३ इन पूरे-पूरे पदों को भी पढ़िये।

(३) 'बिषय-बस्य सुर-नर मुनि···'—सुर में श्रेष्ठ इन्द्र, अहल्या में आसक्त हुए, मनुष्यों में आदि

पुरुष मनुजी ने स्वयं कहा है, यथा—"होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथपन ।" (बा० दो० १४२), मुनि नारदजी के विषयवश होने की कथा आ चुकी है। सुर सत्त्वप्रधान हैं। अतः, ज्ञान-रूप ही होते है। 'मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना ।' (अ० दो० २६३), यह नरों के लिये कहा ही है। मुनि मननशील एवं विज्ञान-धाम होते हैं, जब वे विषय-वश हो जाते है, तो वानर पशु—जो कि अत्यन्त कामी होते है—का क्या कहना ? यथा—"महर्षयो धर्मतपोभिरामाः कामानुकामा प्रतिबद्धमोहाः । अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥" (वाल्मी० ४।३३।५७)—ये तारा के वचन श्रीलक्ष्मणजी से हैं कि धर्म और तप से शोभित मोह रहित महर्षि भी विषयाभिलाषी हो जाते है तो स्वभाव से ही चंचल वानर और फिर राजा यदि सुख मे आसक्त हुआ तो क्या आश्चर्य है ? श्रीसुग्रीवजी ने ऐसा ही निश्छल भाव से श्रीलक्ष्मणजी से भी कहा है, यथा—"नाथ बिषय सम मदकछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं ॥" (दो० १९) ।

यहाँ तक बाह्येन्द्रिय-विषय शब्दादि कहे गये, आगे अन्तःकरण के आच्छादन करनेवाले कामादि विकारों को कहते हैं—

नारि-नयन-सर जाहि न लागा । घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥४॥
लोभ-पास जेहि गर न बँधाया । सो नर तुम्ह-समान रघुराया ॥५॥
यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥६॥
तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ॥७॥

अर्थ—स्त्री का नयन-बाण जिसको नहीं लगा, जो घोर क्रोधरूपी अँधेरी रात मे जागता रहता है, अर्थात् क्रोध का अवसर आने पर भी जो सचेत रहता है ॥४॥ लोभरूपी रस्सी (फन्दे, बन्धन) से जिसने अपना गला नहीं फँसाया, अर्थात् जो लोभ में नहीं फँसा, हे श्रीरघुनाथजी ! वह मनुष्य आपके ही समान है ॥५॥ ये गुण साधनों से नहीं प्राप्त होते । आपकी ही कृपा से कोई-कोई पाते हैं ॥६॥ तब श्रीरघुनाथजी मुस्कुराकर बोले कि हे भाई ! तुम मुझे भरतजी की तरह प्रिय हो ॥७॥

विशेष—'नारि-नयन-सर ···'—जैसे कि भौंहे कमान और नेत्र की पुतली बाण है और अंजन काजल आदि के सहित नेत्रों का होना बाणों का गाँसी लगे हुए एवं विष बुझे हुए होना है । कटाक्ष चलाना प्रहार करना है । श्रीसुग्रीवजी काम-वश हुए, इसीसे प्रस्तुत प्रसंग को पहले कहते हैं । 'घोर क्रोध तम निसि ···'—क्रोध अँधेरी रात की तरह है, क्योंकि इसमें भी लोगों को उचित-अनुचित नहीं सूझता, यथा—"लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल । जेहि बस जन अनुचित करहि, चरहि बिस्व प्रतिकूल ॥" (बा० दो० २७१) ।

(२) 'लोभ-पास जेहि···'—लोभ नट रूप है, आशा पाश है, यथा—"लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि ।" (वि० १५८), "लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जग मे बहु नाच न नाचे ।" (क० उ० ११८) । 'गर न बँधाया'—बन्दर स्वयं बँधता है, वैसे जीव भी आशा मे स्वयं बँधता है ।

भर्तृहरि ने भी कहा है—"कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः । कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥" (नीति शतक १०८), अर्थात् स्त्रियों के कटाक्षरूपी बाण जिसके चित्त को नहीं वेधते और क्रोध-रूपी अग्नि की आँच जिसके चित्त को नहीं जलाती तथा इन्द्रियों के बहुत विषय लोभ-रूपी फाँस में डालकर जिसके चित्त को नहीं खींचते, वही धीर पुरुष तीनो लोकों को जीतता है ।

काम, क्रोध और लोभ को क्रम से कहा, क्योंकि तीनों अत्यन्त प्रबल है, यथा—"तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ । मुनि बिज्ञान धाम मन, करहि निमिष महँ छोभ ॥" (अ० दो० ३८),

तथा—"को न कोध निरदह्यो···भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान ते बाँचे।···" (क० उ० ११७–११८) –इन पूरे-पूरे पदों को पढ़िये। मनुस्मृति ७।४७–५२ में काम के दस एवं चार व्यसन, क्रोध के आठ एवं तीन व्यसन तथा लोभ की भी करालता लिखी गई है।

'सो नर तुम्ह-समान ···'—भाव यह कि ईश्वर के बिना कोई भी इनसे सर्वथा अपनी शक्ति से नहीं बच सकता। इसीसे कोई भी जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता, यथा—"जीव कि ईस समान।" (उ० दो० १११), विकार छः है, पर तीन ही कहे गये, क्योंकि काम से मद, क्रोध से मोह और लोभ से ईर्ष्या होती है। अतः, तीन के ही जीतने मे छहों से विजयी हो सकना है।

(३) 'यह गुन साधन ते ···'—और गुण साधन से होते हैं, यथा—"धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।" (अर० दो० १५), पर यह गुण क्रिया साध्य नहीं है, केवल कृपासाध्य ही है। कृपा से भक्तों में ही ये गुण होते हैं, जैसे श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमानजी इत्यादि में है। अन्यत्र भी कहा है—"क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥" (अर० दो० ३८)।

(४) 'तब रघुपति बोले मुसुकाई।'—श्रीसुग्रीवजी काम के वश हो गये थे और कहते हैं कि कामादि आपकी कृपा से छूटते है, इससे सूचित किया कि मुझपर आपकी कृपा नहीं है। इसपर प्रभु ने हसकर अपनी कृपा सूचित की, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)। हँसकर प्रसन्नता प्रकट करके श्रीसुग्रीवजी के हृदय की ग्लानि दूर की। इसपर भी हँसना कहा जाता है कि जीव जब भूलता है, तब किसी भी रीति से मुझपर ही दोष रखता है, यथा—"दोष-निलय यह बिषय सोक प्रद कहत संत श्रुति टेरे। जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे॥" (वि १८७)।

'तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई'—श्रीहनुमानजी श्रीसुग्रीवजी के मन्त्री है, उन्हें श्रीलक्ष्मणजी के प्रियत्व की उपमा दी थी, यथा—"तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।" (दो० २), श्रीसुग्रीवजी राजा है, और श्रीहनुमानजी से बड़े है, इसलिये राजा और श्रीलक्ष्मणजी से बड़े श्रीभरतजी के समान कहा है। श्रीभरतजी भाई है, वैसे श्रीसुग्रीवजी भी हैं, यथा—"त्वमस्माकं चतुर्णां वै भ्राता सुग्रीव पञ्चमः।" (वाल्मी० ६।१२७।४३), यह भी भाव है कि दासत्व सम्बन्ध से श्रीहनुमानजी को श्रीलक्ष्मणजी के समान और सख्यत्व में इन्हें श्रीभरतजी के समान कहा है। हँसने से और श्रीभरतजी के समान प्रिय कहने से श्रीसुग्रीवजी का भय जाता रहा। इससे 'कपि त्रास' प्रसंग समाप्त हुआ।

'जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये'-प्रकरण

अब सोइ जतन करहु मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई॥८॥

दोहा—येहि बिधि होत बतकही, आये बानर-जूथ।
नाना बरन सकल दिसि, देखिय कीस-बरूथ॥२१॥

अर्थ—मन लगाकर अब वही उपाय करो, जिस तरह श्रीसीताजी का समाचार मिले॥८॥ इस तरह बात-चीत हो ही रही थी कि वानरों के झुण्ड आ गये। सब दिशाओं में अनेक रंगों और अनेक जातियों के वानरों के झुण्ड दिखाई देने लगे॥२१॥

विशेष—(१) 'अब सोइ जतन···'—अभी तक विषय में मन लगाये हुए थे, अब सीता-शोध में मन लगाओ, फिर न भूलना, जो हुआ सो हुआ। श्रीसुग्रीवजी ने तो कहा था, यथा—"सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥" पर सर्वज्ञ प्रभु ने उतना ही कहा, जितना कि उनसे होना है. श्रीसीताजी का लाना तो प्रभु के अपने ही पुरुषार्थ से होगा।

(२) 'येहि बिधि होत बतकही···'—'बतकही' शब्द का भाव बा० दो० ८ चौ० २ पर लिखा गया, वहीं देखिये। यहाँ वानरों के यूथों के आगमन से स्पष्ट है कि पहले जो श्रीहनुमानजी ने दूतों को भेजा था और पक्ष भर की अवधि दी थी, वह पक्ष भर हो गया। उस समय के वचन से जान पड़ता है कि पक्ष के भीतर आना कठिन था। इससे पूर्वोक्त—"येहि अवसर लछिमन पुर आये।" का भाव पक्ष पूर्त्ति के लगभग करना होगा। तारा के वचनों से स्पष्ट है, यथा—"कृता सुसंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा। अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः॥" (वाल्मी० ४।३५।२१), अर्थात् हे लक्ष्मण! सुग्रीवजी ने जैसी व्यवस्था की है, उसके अनुसार आज ही वे महाबलवान वानर आ जायँगे। 'नाना बरन'—वाल्मी० ४।३८।२७-३४ में इनका विशद वर्णन है। ये सब असंख्य कहे गये, इनकी कई जातियाँ और कई रंग भी थे। सब भयंकर, वीर और विशालकाय थे, क्योंकि राक्षसों से युद्ध के लिये ब्रह्मा की आज्ञा से पैदा हुए थे।

वानर-कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥१॥
आइ राम-पद नावहिं माथा। निरखि बदन सब होहिं सनाथा॥२॥
अस कपि एक न सेना माहीं। राम-कुसल जेहि पूछी नाहीं॥३॥
यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई॥४॥

अर्थ—(शिवजी कहते हैं कि, हे उमा! मैंने वानरों की सेना देखी है, वह मूर्ख है जो उनकी गणना करना चाहे (अर्थात् वह असंख्य थी, तो गिनने का प्रयास करना मूर्खता ही है) ॥१॥ सब आ-आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं और उनके मुख के दर्शनों से कृतार्थ होते हैं॥२॥ एक भी वानर सेना में ऐसा नहीं था जिससे श्रीरामजी ने कुशल नहीं पूछी हो॥३॥ प्रभु के लिये यह कुछ बड़ी बात नहीं है, (क्योंकि) रघुराई श्रीरामजी विश्व (विराट्) रूप और (सर्व) व्यापक हैं॥४॥

विशेष—(१) 'मैं देखा'—श्रीशिवजी भी वहाँ देवताओं के साथ थे, यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा॥" (दो० १२), इसीसे कहते हैं कि मैं अपनी देखी बात कहता हूँ।

यहाँ सभी आकर श्रीरामजी के चरणों में मस्तक नवाते हैं, श्रीरामजी सबसे कुशल पूछते हैं और वे सब दर्शनों से अपनेको सनाथ मानते हैं, क्योंकि जिन स्वामी की राह देखते थे, वे ही प्राप्त हुए, यथा—"हरि मारग चितवहिं मतिधीरा।" (बा० दो० १८७), अभी तक अनाथ थे, अब नाथ को पाकर सनाथ हुए, इससे अपनेको कृतार्थ मानते हैं। सब परिचित की तरह श्रीरामजी को दंडवत प्रणाम करते हैं और असंख्य वानरों में प्रत्येक से श्रीरामजी कुशल पूछते हैं, यह उनका रहस्य है। श्रीपार्वतीजी ने 'औरउ राम रहस्य अनेका।' का प्रश्न किया था। उसके उत्तर में यह भी एक रहस्य है। दंडवत् करना सेवक का धर्म है और सेवक का सम्मान करना स्वामी का धर्म है। श्रीरामजी स्वामित्व में बड़े सावधान हैं, यथा—"बड़ी साहिबी में नाथ बड़े सावधान हैं।" माधुर्य की दृष्टि में यह आश्चर्य बात है कि एक ही श्रीरामजी सबसे कैसे कुशल पूछते हैं, इसीसे ऐश्वर्य कहकर उसका समाधान करते हैं।

(२) 'बिस्वरूप ब्यापक···'—अर्थात् व्यापक और व्याप्य दोनों वे स्वयं हैं। संसार भर उनका शरीर है और सबमें वे ही परमात्मा रूप से व्याप्त हैं, तब सबसे कुशल पूछना उनके लिये कौन अधिकता है, यथा—"यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाही॥" (अ० दो० २४३)

(३) 'सो मूरुख जो करन चह लेखा।'—महर्षि वाल्मीकीजी ने इनकी संख्या के विषय में जिन

शब्दों से कहा है, उनसे इनका अनन्त होना ही सिद्ध है, यथा—"शतैः शतसहस्रैश्च वर्त्तन्ते कोटिभिस्तथा। अयुतैश्चावृता वीर शंकुभिश्च परन्तप॥ अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानराः। समुद्राश्च परार्द्धाश्च हरयो हरियूथपाः॥" (वाल्मी० ४।३८।३२--३३), अर्थात् किसी यूथप के साथ सौ वानर, किसीके साथ सौ हजार एवं करोड़, दस हजार शंकु (लाख करोड़), अर्बुद (हजार शंकु), सौ अर्बुद, मध्य अर्बुद (दस अर्बुद), अन्त्य अर्बुद (मध्य अर्बुद के दस गुने), समुद्र (अन्त्य के दस गुने) और किसीके साथ परार्द्ध (समुद्र के तीस गुने) वानर हैं। आगे ग्रन्थकार ने भी कहा है, यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (सु० दो० ५४), पर एक-एक यूथप के साथ उक्त रीति से ही वानर है, तब तो संख्या करना असम्भव ही है। इतने थे कहाँ? इसपर भी कहा है, यथा—"गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥"

देश और काल के अनुरोध से सृष्टि के क्रम में परिवर्त्तन हुआ करता है। आजकल के वानरों के चिबुक नहीं होती। ये प्राकृत वानर भी उस समय थे, श्रीवाल्मीकिजी ने जहाँ तहाँ कहा है, पर श्रीहनुमानजी के चिबुक थी, जिसपर इन्द्र के वज्र सहने से हनुमान नाम हुआ। उसी जाति के सब वानर थे, वे बड़े वीर थे। उनका केवल मस्तिष्क मात्र मनुष्य की अपेक्षा कम होता था। मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक जंगलीपन होता था। उनसे पहले ही राक्षसों की सृष्टि बढ़ी थी, जिनके संहार के लिये वानरों की सृष्टि हुई थी। उनका विकास हुआ और फिर कुछ समय पर उनका नाश भी हो गया। उनका विकास रामावतार के समय में पराकाष्ठा को पहुँच गया और फिर नाश का समय भी आ गया, क्योंकि वे सब भगवान् के नित्य धाम के परिकर है, भगवान् के साथ ही उन्हें भी परधाम जाना था, यथा—'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥...सगुन उपासक संत तहँ, रहहि मोच्छ सब त्यागि॥" (दो० २६)।

ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई॥५॥
राम-काज अरु मोर निहोरा। बानर-जूथ जाहु चहुँ ओरा॥६॥
जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयेहु भाई॥७॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराये॥८॥

अर्थ—वे सब आज्ञा पाकर जहाँ-तहाँ खड़े हो गये। तब सबको सुग्रीवजी ने समझाकर कहा॥५॥ कि यह श्रीरामजी का कार्य है और मुझपर तुम्हारा एहसान है। हे वानरों के समूहो! तुम चारों ओर जाओ॥६॥ और जाकर, हे भाई! जनक-पुत्री (सीताजी) का पता लगाओ और महीने-भर में वापस आ जाना॥७॥ जो कोई पता लगाये बिना (एक मास की) अवधि बिताकर आवेगा, तो मुझे उसका वध करवाना ही पड़ेगा, अर्थात् मैं उसे अवश्य मारूँगा॥८॥

विशेष—(१) 'ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई।'—'आयसु पाई' दीपदेहली है, अर्थात् श्रीरामजी की आज्ञा पाकर वानर यूथ जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये, क्योंकि अत्यन्त भीड़ के कारण चलने का अवकाश नहीं था। पुनः श्रीरामजी की ही आज्ञा पाकर श्रीसुग्रीवजी ने सबको समझाकर कहा। वाल्मी० ४।४० में कहा है कि श्रीसुग्रीवजी ने सेना की प्रशंसा करते हुए श्रीरामजी से कहा कि ये सब आपके अधीन है, इच्छानुसार आज्ञा दीजिये। इसपर श्रीरामजी ने कहा कि हे सौम्य! वैदेही का पता लगाना चाहिये, श्रीसीताजी जीवित है कि नहीं, वे कहाँ है, रावण कहाँ हैं, इत्यादि। इस कार्य के कर्त्ता हम और श्रीलक्ष्मणजी नहीं हैं, किन्तु आप ही हैं, आप ही इनके स्वामी हैं। अतः, इन्हें आज्ञा दें। 'समुझाई'—वाल्मीकीय रामायण में पृथ्वी-भर का हाल वानरों को समझाना लिखा है, वह भी आ गया, शेष समझाना आगे है—

(२) 'राम काज अरु मोर निहोरा । ···'— राम-कार्य मुख्य है, क्योंकि उससे परलोक बनेगा। अतः, उसे प्रथम कहा। 'मोर निहोरा'—पीछे कहा, क्योंकि इससे हम प्रसन्न होंगे, तो लौकिक पदार्थ जो माँगोगे, वही देंगे, क्योंकि—"अस्मिन्कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये। ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदांवर ॥" (वाल्मी० ४।४३।५), अर्थात् इस कार्य के सिद्ध होने पर और श्रीरामजी के प्रिय कार्य करने पर हमलोग ऋणमुक्त होंगे और कृतार्थ होंगे, इससे लोक बनेगा। 'राम-काज' का स्वरूप आगे कहते हैं—

(३) 'जनकसुता कहँ खोजहु जाई। ···'—'जनकसुता'— का भाव यह कि श्रीसीताजी को अपने जनक (पिता) की पुत्री (सगी बहन) मानकर तत्परता से खोजना। यदि पता लगा दोगे, तो वही यश पाओगे जो श्रीजनकजी को सुता-प्रदान करने से प्राप्त हुआ है, यथा—"जो सुख सुजस लोक पति चहहीं।···सो सुख सुजस सुलभ मोहि स्वामी।" (बा० दो० ३४२)।

'मास दिवस महँ आयेहु भाई'—प्रीति और भय दोनों दिखाना है, इस अर्द्धाली में 'भाई' सम्बोधन से प्रीति दिखा रहे हैं, यह मित्र रूप से आज्ञा है। यह भी आशय है कि जो महीने के भीतर श्रीसीताजी का पता लगाकर आयेगा, वह हमारा भाई ही होगा, हमारे तुल्य ऐश्वर्य भोगेगा, भारी अपराध पर भी वह हमारा भाई (सम्मान का पात्र) ही होगा। यही भाव वाल्मी० ४।४१।४७-४८ का है।

(४) 'अवधि मेटि जो बिनु····'— अर्थात् पता लगने से यदि अवधि बीत जाने पर आवे, तब भय नहीं है। जो पता भी न लगावे और न अवधि बिताकर आवे, वही दण्ड के योग्य होगा, अर्थात् वह हमारे यहाँ मरने को ही आवेगा। यह प्रभु-रूप से आज्ञा है। इसीसे तीन दिशाओं के वानर अवधि के भीतर ही आ गये हैं। वाल्मी० ४।४७।७-९ में लिखा है। सम्पूर्ण पूर्व दिशा ढूँढ़ कर विनत वानर सेना के साथ महीने के भीतर ही आ गया। शतबलि ससैन्य उत्तर से ढूँढ़ कर डरता हुआ अवधि के भीतर आ गया और पच्छिम दिशा ढूंढ़ कर सुषेण ससैन्य महीना पूर्त्ति के पूर्व ही आ गया।

'मास दिवस' के श्लेषार्थ से चार प्रकार के सेवक (उत्तम, मध्यम, नीच, लघु) का भाव भी कहा जाता है। मास = १२, मास + दिवस (१२ + ७) = १९, मास = ३० दिन। जो १२ दिन में ही समाचार लेकर आवे, वह अत्यन्त शीघ्रगामी होने से उत्तम है; जो १९ दिन में समाचार लेकर आवे, वह मध्यम; जो ३० दिन में समाचार लेकर आवे, वह नीच भक्त है, (पर जो पता लेकर अवधि बीते भी आवे तो वह तीसमार अर्थात् बड़ा बहादुर है।); और जो अवधि भी बिताकर आवे और पता भी न लावे, वह लघु है और मेरा शत्रु है, वह वध होने के लिये ही आवेगा।

यद्यपि श्रीजटायुजी और श्रीसुग्रीवजी से भी जाना गया है कि रावण श्रीसीताजी को ले गया और दक्षिण दिशा को गया है और उधर ही रहता भी है, तथापि सब दिशाओं को वानर भेजे गये, क्योंकि रावण चोरी से सीताजी को ले गया है—"इत उत चितइ चला भड़िहाई।" (अर० दो० २७)। चोरी की वस्तु लोग प्रायः अन्यत्र ही रखते हैं, न जाने किस दिशा में उन्हें छिपाकर रक्खा हो? इसीसे सर्वत्र खोज कराते हैं।

दोहा—बचन सुनत सब बानर, जहँ तहँ चले तुरंत।
तब सुग्रीव बोलाये, अंगद नल हनुमंत ॥२२॥

सुनहु नील - अंगद - हनुमाना। जामवंत मति-धीर सुजाना ॥१॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता - सुधि पूछेहु सब काहू ॥२॥
मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सवाँरेहु ॥३॥

अर्थ—वचन सुनते ही (जब) सब वानर जहाँ-तहाँ तुरत चल दिये, तब सुग्रीवजी ने अंगदजी, नलजी और हनुमानजी को बुलाया ॥२२॥ (और कहा—) हे नील, अंगद, हनुमान और जाम्बवान्! सुनिये, आप लोग धीर-बुद्धि और प्रवीण हैं ॥१॥ आप सब योद्धा मिलकर दक्षिण दिशा को जायँ और सब किसीसे श्रीसीताजी का समाचार पूछें ॥२॥ मन, कर्म और वचन से वही यत्न विचारें और श्रीरामजी का कार्य अच्छी तरह से करें ॥३॥

विशेष—(१) 'जहँ-तहँ चले तुरंत'—"उत्तर दिशा में शतबलि, पूर्व में विनत और पश्चिम में सुषेण अपनी-अपनी सेनाओं के साथ भेजे गये।" (वाल्मी० ४।४५)। 'तुरंत' शब्द से इन सबका उत्साह सूचित किया किया। पर ये तीन दिशाओं के वानर चलते समय आतुरी मे श्रीरामजी का प्रणाम करना भूल गये, क्योंकि इनके द्वारा कार्य-सिद्धि भी नहीं होगी। दक्षिणवाले प्रणाम करके चलेंगे, यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले सकल सुमिरत रघुराई ॥" आगे कहा है। अतः, ये ही श्रीसीताजी का पता पावेंगे और यश के भागी होंगे। कहा भी है—"संग नील नल कुमुद गद, जामवंत जुवराज। चले राम पद नाइ सिर, सगुन सुमंगल साज ॥" (रामाज्ञा प्र० ३।७।२)। "तुलसी करतल सिद्धि सब, सगुन सुमंगल साज। करि प्रनाम रामहि चलहु, साहस सिद्ध सुकाज ॥" (रामाज्ञा प्र० ३।६।७), "मंग मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल, को खनै। तेहि रघुनाथ हाथ माथे दियो को ताकी महिमा भनै ॥" (गी० सुं० ४०)।

'सुनहु नील अंगद···'—इन वानरों के नाम भी लिये, क्योंकि ये सब प्रधान-प्रधान हैं। नील-सेनापति, अंगद युवराज, श्रीहनुमानजी मन्त्री और श्रीजाम्बवान्जी ऋक्षराज एवं मन्त्री भी हैं। सम्मान के लिये इनके नाम लिये गये, यथा—"देखि सुभट सब लायक जाने। लै-लै नाम सकल सनमाने ॥" (अ० दो० १९०)। 'जामवंत मतिधीर सुजाना।'—जाम्बवान्जी की मतिधीरता और सुजानता दोनों ही प्रशस्त है। समुद्र तट पर अंगदादि सभी वानर घबरा गये, इन्होंने सबको समझाया है, यह मतिधीरता है और हनुमानजी को प्रेरित कर लंका भेजने एवं उन्हें शिक्षा देने में सुजानता है। पुनः आगे लक्ष्मण-मूर्च्छा पर भी इन्हींने सुषेण वैद्य आदि को बुलाने की सम्मति दी है, यह सुजानता है।

(२) 'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।'—तीन दिशाओं में एक-एक मुख्य भट भेजे गये हैं, दक्षिण में समस्त सुभटों को भेजते हैं, क्योंकि जटायु से खबर मिल चुकी है कि रावण श्रीसीताजी को हर कर दक्षिण ले गया है। अतः, वहाँ युद्ध की सम्भावना है। 'मिलि'—सब वीर मिलकर भारी कार्य भी कर सकते है। 'सब काहू'—छोटे-बड़े सभी से पूछना, न जाने किससे समाचार मिल जाय।

इस दिशा में श्रीअंगदजी को प्रधान करके भेजते हैं, इसलिये बुलाने में उन्हें प्रथम कहा है। पुनः नील आदि के नाम छन्दानुरोध से हैं। श्रीअंगदजी के साथ मुख्य वानर गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान, जम्बवान् और तार के नाम वाल्मी० ४।५०।५-६ में कहे गये हैं।

(३) 'मन क्रम बचन सो' ··'—यत्न विचारना मन का कार्य, सँवारना कर्म और सीता-सुधि पूछना वचन का कार्य है। आज्ञानुसार इन लोगों ने किया भी है, यथा—"इहाँ बिचारहिं कपि मन माही।" (दो० २५)—मन, "चले सकल बन खोजत···" (दो० २३)—कर्म, और—"सब मिलि कहहि परस्पर बाता।" (दो० २५)—यह वचन है।

मन, कर्म और वचन के साक्षी क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि हैं इनमें 'रामचंद्र' में चन्द्र शब्द ध्वनि से लिया गया और सूर्य तथा अग्नि के नाम अगली अर्द्धाली में आये हैं। भाव यह कि मन आदि तीनों से छल न हो, नहीं तो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा दण्ड देंगे।

भानु पीठि सेइय उर आगी। स्वामिहि सर्ब भाव छल त्यागी ॥४॥
तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका ॥५॥

देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई ।।६।।
सोइ गुनज्ञ सोई बड़ भागी। जो रघुबीर - चरन - अनुरागी ।।७।।

अर्थ—सूर्य का पीठ से और अग्नि का उर (छाती) से सेवन किया जाता है, (अर्थात् धूप तापने में सूर्य की ओर पीठ करके बैठने की रीति और आग तापने में अग्नि के सम्मुख बैठने की रीति है—यह वैद्यक का नियम है, इसके विरुद्ध में शारीरिक हानि होती है।) परन्तु स्वामी की सेवा सब छल छोड़कर सब भावों से करनी चाहिये ।।४।। माया (देह, गेह, धन, पुत्र आदि की ममता) का त्याग करके परलोक का सेवन किया जाय, (तो) भव (संसारासक्ति) से उत्पन्न जितने प्रकार के शोक है, वे सब मिट जायँ ।।५।। हे भाई ! देह धारण करने का यही फल है कि समस्त काम (कार्य) एवं कामनाएँ छोड़कर श्रीरामजी का भजन किया जाय ।।६।। जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों का अनुरागी है, वही गुणवान् है और वही बड़ा भाग्यवान है, अर्थात् आप लोग श्रीरामजी के प्रेम से उनके कार्य में जा रहे है, अतएव बड़े भाग्यशाली हैं ।।७।।

विशेष—(१) 'भानु पीठि सेइय···'—सूर्य पीठ से सेवन करने से सुखदायी होते हैं, अग्नि उर से सेवन करने से और स्वामी सब भावों (माता, पिता, गुरु, स्वामि आदि सभी भावों) से सेवन करने से सुखदायी होते है। 'छल त्यागी'—भाव यह कि सूर्य और अग्नि के सेवन में स्वार्थ-साधन रूप छल रहता है, सेवा में स्वार्थ ही छल है, यथा—"स्वारथ छल फल चारि बिहाई।" (अ० दो० ३००), अर्थात् चार फलों तक का स्वार्थ ही छल है। सूर्य के सेवन में यह स्वार्थ है कि पीठ से सेवन करने से वह वात और शीत का नाशक है। सामने से सेवन करने से दृष्टि की हानि होती है। ऐसे ही अग्नि को सामने से तापने से जठराग्नि बढ़ती है। पीठ से सेवन करने पर काम (वीर्य) की हानि होती है। यह समझकर स्वार्थ-दृष्टि से सेवन किया जाता है। पर यह दृष्टि स्वामी की सेवा में न होनी चाहिये, किन्तु उसका सब भावों से निःस्वार्थ होकर सेवन करना चाहिये।

यह भी भाव है कि सूर्य का लोग पीछे से सेवन करते हैं और अग्नि का आगे से, पर स्वामी की सेवा सब भावों से जैसे उनके आगे की सेवा करे वैसे ही परोक्ष (पीछे) की भी सेवा करनी चाहिये। ऐसा न करे, यथा—"आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ।।" (दो० ६)। 'सर्व भाव' और 'छल त्यागी', यथा—"पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ। सर्व भाव भज कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ ।।" (उ० दो० ८७)।

सारांश यह कि मन, तन और वचन से देह की ममता त्यागकर निःस्वार्थ भाव पूर्वक सब प्रकार से स्वामी की सेवा करनी चाहिये, ऐसा ही इन वानरों ने किया भी है, यथा—"राम काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह ।।" (दो० २३)। यही यथार्थ अर्थ है, इसके लोग बहुत तरह से अर्थ करते है, विस्तार भय से यहाँ वे अर्थ नहीं लिखे गये।

(२) 'तजि माया सेइय परलोका। ···'—माया, यथा—"मै अरु मोर तोर तै माया।" (अर० दो० १४), अर्थात् देह और तत्सम्बन्धियों की ममता ही माया है, यथा—"सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहि रे। सबकी ममता तजि कै समता सजि संत-सभा न बिराजहि रे ।।" (क० उ० ३०)।

(३) 'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम ···'—देह जड़-चेतन जगत् के द्वारा निष्पन्न हुआ है। इन सब रूपों से श्रीरामजी ने ही इसका पालन-पोषण किया है, अतएव इसे उनके ही काम में लगाना इसकी सफलता एवं कृतज्ञता है। अन्यथा इन्द्रियाँ विषयों की ओर ही रहेंगी, विषय सेवन इस देह का फल नहीं है, यथा—"येहि तन कर फल विषय न भाई।" (उ० दो० ४३), "मनुज देह सुर साधु सराहत

सो सनेह सिय-पीके।" (वि० १७५), अर्थात् और शरीर प्रकृति-प्रवाह में नियमित विषय भोगने के लिये है, पर मनुष्य देह ही, "साधन धाम मोच्छकर द्वारा।" है। अतः, इससे ही परलोक बनाना चाहिये, तभी इसकी सफलता है। 'भाई' यह मित्र सम्मित प्रिय सम्बोधन है। इन प्रधान वानरों से प्रीतिमात्र दिखाते हैं और धर्मोपदेश द्वारा कार्य करना चाहते हैं। पहले सामान्य वानरों के प्रति भय और प्रीति दोनों दिखाये थे, यह ऊपर कहा गया। किन्तु यह भय-प्रदर्शन भी इन वानरों के समक्ष ही समष्टि में कहा गया है, इसीसे इन लोगों ने भी अपने पर माना है, यथा—"उहाँ गये मारिहि कपिराई। (दो० २५), यह सर्वप्रधान अंगदजी का वचन है। बड़ों को उपदेश देने की यही रीति है कि सामान्यों के द्वारा बड़ों को भी लक्ष्य करा दिया जाता है, जैसे श्रीशिवजी ने देववृन्द के उपदेश के द्वारा ब्रह्माजी को भी समझाया था, यथा—"बिधिहि भयो आचरज बिसेषी।···सिव समुझाये देव सब ·" (बा० दो० ३१४)।

(४) 'सोइ गुनज्ञ सोई···'—यहाँ 'सोइ' और 'जो' पद से सूचित किया है कि किसी भी जाति एवं योनि का हो और चाहे स्त्री, पुरुष या नपुंसक हो, सभी रघुवीर-चरण अनुराग से बड़भागी हैं। 'सोइ' और 'सोई' का भाव यह कि इसके बिना चाहे कितने भी गुण क्यों न हो, वह गुणवान् नहीं और कितना भी ऐश्वर्य हो पर वह बड़भागी नहीं है, यथा—"ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद-मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग-जल-जलधि हिलोरे॥" (वि० १९४), "बड़े भाग अनुराग राम-पद होइ।" (बरवा ग०)। राम-पदानुरागियों को ही सातों काण्डों में बड़भागी कहा गया है, यह—"अतिसय बड़भागी चरनन्ह लागी···" (बा० दो० २१०), पर लिखा गया है। इसके प्रतिकूल अभागी है, यथा—" ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी॥" (वि० १४०)।

आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥ ८॥
पाछे पवन-तनय सिर नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा॥ ९॥
परसा सीस सरोरुह - पानी। कर-मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥१०॥
बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल-बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥११॥

अर्थ—यह सुनकर आज्ञा माँग, चरणों में सिर नवा और प्रसन्न होकर (सब) श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए चले॥८॥ (सबसे) पीछे श्रीहनुमानजी ने सिर नवाया, (इनसे) कार्य का होना जानकर प्रभु श्रीरामजी ने इनको समीप बुलाया॥९॥ अपना हस्त-कमल श्रीहनुमानजी के सिर पर फेरा तथा अपना भक्त जानकर हाथ की अँगूठी दी॥१०॥ (और कहा कि) बहुत प्रकार से श्रीसीताजी को समझाना, हमारा बल और विरह कहकर तुम शीघ्र ही आना॥११॥

विशेष—(१) 'आयसु माँगि चरन ··'—यहाँ आज्ञा श्रीरामजी से माँगनी है, श्रीसुग्रीवजी ने तो स्वयं आज्ञा दी थी, यथा—"सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।" आगे के 'सुमिरत रघुराई' एवं 'पाछे पवन-तनय सिर नावा।·· ' से भी स्पष्ट है। 'चले हरषि'—प्रस्थान के समय हर्ष होना कार्य-सिद्धि का शकुन है। पुनः राम-कार्य करने को मिला, इससे अपनेको बड़भागी मानने पर हर्ष हुआ।

ये लोग मन, वचन, कर्म से राम-कार्य में लगे, यथा—"हरषि सुमिरत"—मन से, "सिर नाई। चले"—कर्म से और "आयसु माँगि" यह वचन से है। श्रीरामजी के स्मरण से कार्य की सिद्धि होती है, इसलिये 'सुमिरत' चले। श्रीसुग्रीवजी की शिक्षाएँ इसी अर्द्धाली में चरितार्थ हुईं—

उपदेश		चरितार्थ
'भानुपीठ···स्वामिहि···तजि माया सेइअ···'	१	'आयसु माँगि' 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'
'भजिअ राम सब काम बिहाई'।	२	'सुमिरत रघुराई' सुमिरना भजन है।
'सोइ···जो रघुबीर चरन अनुरागी।'	३	'चरन सिरनाई' यह चरण-अनुराग है।

(२) 'पाछे पवन-तनय सिर नावा ।···'—श्रीहनुमानजी के पीछे प्रणाम करने का कारण यह कि और वानरों को समझाकर श्रीसुग्रीवजी इनसे कुछ बातें कर रहे थे, इसीसे विलम्ब होने से ये पीछे आये। वे वचन वाल्मी० ४।४४।१–७ में कहे गये है, जिनसे श्रीहनुमानजी के द्वारा कार्य होने का श्रीसुग्रीवजी का दृढ़ निश्चय जाना गया, तब—'जानि काज प्रभु निकट बोलावा ।'—अर्थात् श्रीरामजी ने जान लिया कि इन्हींसे कार्य होगा, यथा—"जान सिरोमनि जानि जिय, कपि बल-बुद्धि निधान। दीन्हि मुद्रिका मुदित प्रभु, पाइ मुदित हनुमान ॥" (रामाज्ञा प्र० ३।६।६), वाल्मी० ४।३।३३-३५ से भी स्पष्ट है कि श्रीहनुमानजी की बुद्धिमत्ता से श्रीरामजी बहुत ही प्रसन्न हुए थे। 'प्रभु निकट बुलावा'—क्योंकि कुछ गुप्त रहस्यात्मक विरह का सन्देश कान में लगकर कहना था, यथा—"कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहउँ मैं विद्यमान की। कहँ हरि मित्र-अज पूज्य ज्ञानघन नहि बिसरति वह लगनि कान की ॥" (गी० सुं० ११), यही सन्देश श्रीहनुमानजी ने सुं० दो० १४ में कहा है। प्रभु-प्रेरणा से भी श्रीहनुमानजी पीछे मिले, क्योंकि इनके साथ कुछ विशेष बर्ताव होना है। यदि अंगदादि के समक्ष इन्हें ही मुद्रिका-प्रदान एवं गुप्त सन्देश कहना आदि होता तो उनमें न्यूनता समझी जाती।

(३) 'परसा सीस सरोरुह-पानी ।···'—इन हस्तकमलों के स्मरण-मात्र से भव-सागर का तरना भी सुगम हो जाता है, यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ नाँघत कोउ उतरत थाहैं ॥" (गी० उ० १३), इसीसे इनके सिर पर हाथ फेरा, क्योंकि इन्हें समुद्र-पार जाना है, जिससे वह सुगम हो जाय। प्यार की मुद्रा तो है ही। पुनः यथा—"सीतल सुखद छोँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। निसि बासर सोइ कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया ॥" (वि० १३८), इससे श्रीहनुमानजी को लंकापुरी जलाने का पाप, अग्नि का ताप और सुरसा, सिंहिका एवं मेघनाद की माया न लगेगी। 'जन जानी'—श्रीरामजी ने—सिर पर हाथ फेरना, कान में गुप्त बातें कहना और मुद्रिका देना आदि बर्ताव—इन्हें अपना विश्वासी एवं कृपा-पात्र जानकर ही किये। 'कर मुद्रिका दीन्हि'—यह मुद्रिका श्रीसीताजी के विश्वास के लिये दी, यथा—"अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा। मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति ।" (वाल्मी० ४।४४।१३), अर्थात् इससे श्रीसीताजी तुम्हें हमारे पास से आया हुआ जानेंगी और देखकर घबरायँगी नहीं, तथा—"दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी ।" (सुं० दो० १२), अर्थात् विश्वास के लिये यह मुद्रिका दी गई थी। मुद्रिका को मुख में रख लिया, यथा—"गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवन पूत सिर नायो ॥" (गी० सुं० १)।

(४) 'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु'—समझाना सुन्दरकाण्ड में कहा गया है, यहाँ श्रीरामजी ने कान में गुप्त कहा है, इसीसे श्रीगोस्वामीजी ने भी यहाँ गुप्त ही रक्खा है। 'बेगि तुम्ह आयेहु'—शीघ्र आना, जिससे हम शीघ्र उनकी प्राप्ति के उपाय करें। पुनः यह भी भाव है कि तुम्हीं आना, श्रीसीताजी को साथ न लाना, यह श्रीहनुमानजी के वचनों से सिद्ध होता है, यथा—"अबहि मातु मैं जाउ लेवाई। प्रभु आयसु नहि राम दोहाई ॥" (सुं० दो० १५), 'तुम्ह आयेहु', अर्थात् यह यश तुम्हींको प्राप्त होगा। अतः, इस कथन में आशिष भी है। 'सीतहि'—ऐसा समझाना कि जिससे वे शीतल हों। 'बल' और 'बिरह' दोनों कहना, केवल बिरह कहने से बल-हीन समझेंगी, यथा—"तव प्रभु नारि बिरह बल होना।" (लं० दो० २२), और यदि बल ही कहोगे, तो समझेंगी कि हमारे लिये प्रयास ही क्यों करेंगे। अतः, दोनों कहने से आशा करेंगी। 'बल' के अर्थ में यहाँ सेना का भी अर्थ है कि पूरे दल-बल से आ रहे है, इससे उन्हें विश्वास होगा। शारीरिक बल तो श्रीसीताजी जानती भी है, यथा—"तात सक्र-सुत कथा सुनायेहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझायेहु ॥" (सुं० दो० २६), यह उन्हींका वचन है।

हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना ॥१२॥

जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता ॥१३॥

अर्थ—श्रीहनुमानजी ने यह सुनकर अपना जन्म सफल समझा और कृपानिधान श्रीरामजी को अपने हृदय में रखकर वे चल दिये ॥१२॥ देवताओं के रक्षक प्रभु यद्यपि सब बातें जानते हैं, तथापि वे राजनीति की रक्षा करते है ॥१३॥

विशेष—(१) 'हनुमत जनम सुफल करि जाना।'—इनका अवतार ही राम-कार्य के लिये है, यथा—"राम-काज लगि तव अवतारा।" (दो० २९), इसीसे जब राम-कार्य करने को मिला, तब इन्होंने जन्म की सफलता मानी, यद्यपि अभी कार्य सम्पन्न नहीं हुआ, तथापि जब श्रीरामजी ने सिर पर हाथ फेरा, मुद्रिका दी और 'श्रीसीताजी को समझाकर शीघ्र लौटना'—यह कहा, तब इन्हें कार्य-सिद्धि का दृढ़ निश्चय हो गया, क्योंकि प्रभु के वचन अन्यथा नहीं हो सकते, यथा—"भयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहि आदर दियो।" (लं० दो० १७)। 'हृदय धरि कृपानिधाना'—हृदय में विचारते जाते हैं कि प्रभु ने बड़ी कृपा की। आगे श्रीजानकीजी से भी कहा है—"कहँ हम पसु साखा मृग···" ऊपर लिखा गया है।

(२) 'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता।···'—प्रभु अर्थात् समर्थ है। अतः, जानते है और संकल्प-मात्र से रावण को मार भी सकते हैं, पर आपका अवतार देवता (ब्रह्मा) के वचन की रक्षा (सत्य करने) के लिये है, अतएव मनुष्य की तरह राजनीति से चल रहे है, रावण ने देवों का अपमान किया है, उन्हीं-की वानर देहों से बदला भी सधायेंगे, इससे 'सुरत्राता' कहा गया है। ऐसी नीति है कि पहले दूत के द्वारा शत्रु का समाचार लेकर तब उससे युद्ध करना चाहिये। ऐसे ही पहले भी कहा गया, यथा—"तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर-काज सँवारन॥" (अर० दो० २६)।

'सीता खोज सकल दिसि धाये'-प्रकरण

दोहा—चले सकल बन खोजत, सरिता सर गिरि खोह।
राम-काज लयलीन मन, बिसरा तनु कर छोह ॥२३॥

कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा। प्रान लेहिं एक-एक चपेटा ॥१॥
बहु प्रकार गिरि-कानन हेरहिं। कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं ॥२॥

अर्थ—वे सब वानर सभी वनों, नदियों, तालाबों, पहाड़ों और खोहों (दो पहाड़ों के बीच के तंग मार्गों) को ढूँढ़ते हुए चले जाते है। राम-कार्य में उनका मन तन्मय है और शरीर का ममत्व भूल गया है ॥२३॥ जो कहीं निशाचर से भेंट होती है तो एक-ही-एक थप्पड़ लगाकर सब उसके प्राण ले लेते है॥१॥ बहुत तरह से पर्वतों और वनों को देखते है, कोई मुनि मिल जाते है, तो उन्हें सब घेर लेते है (क्योंकि मुनि सर्वज्ञ होते है, अतः प्रार्थना करने पर—श्रीसीताजी जहाँ होंगी—ध्यान करके बतला देंगे।) ॥२॥

विशेष—(१) 'चले सकल बन खोजत···'—पहले भी चलना कहा गया—'चले हृदय सुमिरत रघुराई।' पर वह विदाई के सम्बन्ध में है और यहाँ 'खोजते हुए' यह चलने के सम्बन्ध में कहते हैं। अतः, पुनरुक्ति नहीं है।

(२) 'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेटा।···'—खर-दूषणादि के मारे जाने पर इधर से राक्षस भाग गये हैं, इससे कहीं-कहीं मिलते हैं, उसे रावण समझकर मारते हैं, श्रीरामजी ने कहा ही है—"इहाँ हरी निसिचर बैदेही।" (दो० १), वाल्मी० ४।४८।१७-२१ में कहा गया है कि एक राक्षस को देखकर अंगदजी ने उसे रावण समझकर ऐसा मूका मारा कि वह मर गया।

'कोउ मुनि मिलइ···'—निशाचरों के भय से वहाँ मुनि कम रहते हैं। मुनियों से पूछते हैं—'सीता सुधि पूछेहु सब काहू।' इसका यहाँ चरितार्थ है।

'बिवरप्रवेस'-प्रकरण

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल बनगहन भुलाने ॥३॥
मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जलपाना ॥४॥
चढ़ि गिरि-सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥५॥
चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥

अर्थ—बहुत प्यास लगने से सब वानर अत्यन्त व्याकुल हो गये, कहीं जल नहीं मिलता था और वे सब सघन वन में भूल गये ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने अपने मन में अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपान के ही मरना चाहते हैं ॥४॥ उन्होंने पहाड़ के शिखर पर चढ़कर चारों ओर देखा, (तो) उन्हें पृथ्वी के एक बिल मे एक आश्चर्य चरित्र दिखाई पड़ा ॥५॥ चकवे, बगले और हंस उड़ते हैं और उसमें बहुत से पक्षी प्रवेश (भी) करते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'लागि तृषा अतिसय अकुलाने।···'—ढूँढ़ने में अधिक श्रम हुआ, इससे अत्यन्त प्यासे हो गये, सबके कंठ, ओष्ठ और तालू सूखे हुए है, यहाँ तक कि वे सघन वन में दिशा भूल गये।

(२) 'मन हनुमान कीन्ह अनुमाना···'—श्रीहनुमानजी को प्यास नहीं लगी, क्योंकि इनपर श्रीरामजी की विशेष कृपा हुई है। फिर रामनामांकित मुद्रिका इनके मुख में है, राम-नाम अमृत-रूप है ही, यथा—"धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्।" यह मंगलाचरण में कहा गया। ये सदा रामनाम जपते हैं और इनके हृदय में सदा धनुर्धर श्रीरामजी का ध्यान भी रहता है।

(३) 'चढ़ि गिरि-सिखर···'—सघन वन था, कुछ दिखाई नहीं पड़ता था, इससे पर्वत पर चढ़े, उसपर भी वन था। अतः शिखर पर चढ़ना पड़ा। 'कौतुक'—रंग-बिरंग के नाना पक्षिगणों का प्रवेश करना और भींगे-पाँखों के साथ उनका निकलना कौतुक ही है। पुनः हंस और बक का एकत्र होना कौतुक (आश्चर्यजनक) ही तो है, यथा—"जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।" (वि० १८५)।

(४) 'चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं।···', यथा—"अवकीर्णं लतावृक्षैर्ददृशुस्ते महाबिलम्। तत्र क्रौञ्चाश्च हंसाश्च सारसाश्चापि निष्क्रमन्॥ जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च रक्ताङ्गाः पद्मरेणुभिः। विस्मयव्यग्रमनसो बभूवुर्वानरर्षभाः।" (वाल्मी० ४।५०।९-११), अर्थात् (वानरों ने) लताओं और वृक्षों से छिपा हुआ महाबिल देखा। वहाँ से क्रौञ्च, हस, सारस और चक्रवाक पक्षियों को निकलते देखा। पद्म की धूलि से रक्तवर्णवाले एवं जल से भींगे हुए पक्षियों को निकलते देखा।·····वहाँ वानर आश्चर्य से व्यग्रचित्त हो गये। अर० दो० ३६ चौ० २-३ भी देखिये।

गिरि ते उतरि पवनसुत आवा। सब कहँ लै सोइ बिबर देखावा। ७॥
आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥८॥

दोहा—दीख जाइ उपबन बर, सर बिकसित बहु कंज।
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप-पुंज ॥२४॥

अर्थ—पहाड़ से उतरकर श्रीहनुमानजी आये और सबको ले जाकर (उन्हें भी) वह बिल दिखाया

॥७॥ सभी ने श्रीहनुमानजी को आगे कर लिया और उस बिल में पैठ गये, देरी नहीं की, (क्योंकि सब अत्यन्त प्यासे थे) ॥८॥ वहाँ जाकर (इन लोगों ने) देखा कि उत्तम उपवन और सुन्दर सरोवर है, जिसमें बहुत-से कमल खिले हुए हैं और वहीं पर एक सुन्दर मन्दिर भी है, उसमें तपस्या की पुञ्ज एक स्त्री बैठी हुई है ॥२४॥

विशेष—(१) 'गिरि ते उतरि पवनसुत·····'—शीघ्रता से उतरे, इससे 'पवनसुत' कहा। सबको ले जाकर दिखाया, क्योंकि अनुमान की वस्तु मे दूसरो की भी सम्मति ले लेनी चाहिये। पुनः इस कौतुक को सभी देखना चाहेंगे और देखने से कुछ धैर्य होगा, जिससे वहाँ तक चलने का साहस करगे। जल का अनुमान इससे है कि पक्षी भींगे-पंख बाहर निकलते हैं।

(२) 'आगे करि हनुमंतहि लीन्हा। ··'—बिल में अँधेरा है, भय लगता है। श्रीहनुमानजी भारी पराक्रमी हैं और ये सावधान भी हैं। 'हनुमंत' शब्द का भाव यह कि इनकी चिबुक इन्द्र के वज्र को भी सहने में समर्थ है, आगे से कोई बाधा होगी, तो सह लेगे—"जाकी चिबुक चोट चूरन कियो रद मद कुलिस कठोर को।" (वि० ३१)। बिल-प्रवेश में वानरों की प्रधानता है, श्रीहनुमानजी गौण हैं, क्योंकि प्यासे वे ही लोग हैं। पैठने का प्रकार, यथा—"अन्योन्यं संपरिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्। ते नष्टसंज्ञास्तृषिताः सम्भ्रान्ताः सलिलार्थिनः ॥···आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा।" (वाल्मी० ४।५० २१-२३), अर्थात् जल के प्यासे, जल चाहनेवाले, विवेक-रहित, चंचल वानर परस्पर पकड़े हुए एक योजन तक उस बिल में चले गये। ··जब वे जीवन से निराश हो गये, तब उन्हें प्रकाश देख पड़ा।

(३) 'दीख जाइ उपबन बर·····'—'उपबन बर'—श्रेष्ठ नजरबाग, जो मन्दिर के पास टहलने एवं जी रमाने के लिये था। इस श्रेष्ठ उपवन का वर्णन वाल्मी ४।५०।२४-३७ मे है। बिल के भीतर एक योजन पर सर आदि का होना आश्चर्य है, वहाँ वायु का सञ्चार नही, सूर्य का प्रकाश नहीं, तब कमल आदि कैसे खिले हुए हैं ? फिर वहाँ वृक्ष आदि सोने के कहे गये हैं। अतः, यह सब आश्चर्यमय है। फिर वहाँ से निकलना उस तपस्विनी की ही कृपा से होना भी आश्चर्य ही है। इससे 'कौतुक' कहा जाना बहुत ही उपयुक्त है। 'रुचिर मंदिर' का वहीं पर विस्तृत वर्णन है, वहाँ के वृक्षादि स्वर्ण के ही है और उनके फल-फूल आदि भी। यहाँ 'वर' और 'रुचिर' शब्द मात्र से लक्ष्य करा दिया गया है। 'नारि तप-पुंज', यथा—"ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं काञ्चिददूरतः। तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्॥ तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा।···" (वाल्मी० ४।५०।३८-३९), अर्थात् शूर वानरो ने कुछ दूर पर एक स्त्री देखी, वह काले रंग की साड़ी पहने और नियमित आहार करनेवाली थी, अपने तेज से प्रकाशित उस तपस्विनी को देखकर वानर विस्मित हो गये। तप के कारण उसमें तेज था, यथा—"जिनु तप तेज कि कर बिसतारा।" (उ० दो० ८९)।

दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछे निज बृत्तांत सुनावा ॥१॥
तेहि तब कहा करहु जलपाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना ॥२॥
मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये। तासु निकट पुनि सब चलि आये ॥३॥

अर्थ—उसे सभीने दूर ही से प्रणाम किया और उसके पूछने पर अपना समाचार सुनाया (श्रीहनुमानजी ने सबकी ओर से कहा) ॥१॥ तब उस तपस्विनी ने कहा कि (पहले) जलपान करो और अनेक रसीले सुन्दर फल खाओ ॥२॥ (यह सुनकर) सभीने स्नान किया, मीठे-मीठे फल खाये और फिर सब उसके पास चले आये ॥३॥

विशेष—(१) 'दूरि ते ताहि·····'—डर के मारे पास न गये कि तपस्विनी है, कहीं ढिठाई करने से अपना अनादर समझकर शाप न दे दे। पुनः तपस्विनी ही जानकर भक्ति के साथ उसे प्रणाम

भी किया। सबकी ओर से एक श्रीहनुमानजी ने ही समाचार सुनाया है, वाल्मी० ४।५० में स्पष्ट लिखा है, क्योंकि ये ही अगुआ हैं। 'सिर नावा'—समष्टि में सबने साथ ही प्रणाम किया है, इससे एकवचन प्रयोग हुआ है, यथा—"नगर लोग सब ब्याकुल धावा।" (दो० १०)।

(२) 'तेहि तब कहा करहु जल पाना। ·····'—पहले जल पीने ही को कहा, क्योंकि सुन चुकी है, ये सब प्यासे हैं। पीछे फल खाना कहा। फल खाने में रसीले और देखने में सुन्दर हैं।

(३) 'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये।···'—थके हुए थे, इससे उन वानरों ने पहले स्नान ही किया, स्नान के साथ ही जल भी पी लिया, क्योंकि पृथक् पीना नहीं कहा गया है। कपि-स्वभाव से एवं भक्त होने से स्नान पहले किया।

'तासु निकट पुनि···'—श्रीहनुमानजी ने अपना हाल कहकर उसकी व्यवस्था जानने का भी प्रश्न किया था, पर उसने कहा था कि आपलोग पहले जल-पान, भोजन कर लें, तब कहूँगी। वही बात सुनने के लिये एवं उसका शान्त स्वभाव जानकर उसके निकट आये। 'चलि आये'—चलकर धीरे-धीरे आये, दौड़कर नहीं, क्योंकि धृष्टता करने से डरते हैं।

तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई ॥४॥
मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहिं जनि पछिताहू ॥५॥

अर्थ—उसने अपनी सम्पूर्ण कथा सुनाई और कहा कि जहाँ पर रघुराई श्रीरामजी हैं अब मैं वहाँ जाऊँगी ॥४॥ (इस बिल में जो चला आता है, उसका जीवित लौटना दुष्कर है। मैं तुम्हें अपने तपोबल से निकाल सकती हूँ, तुम सब बिना आँख मूँदे भी नहीं निकल सकते—वाल्मी० ४।५२।२६—२८ अतएव) आँखें मूँदो और बिल को छोड़कर बाहर जाओ, श्रीसीताजी को पाओगे, पछताओ मत ॥५॥

विशेष—(१) 'तेहि सब आपनि कथा सुनाई।'—वाल्मी० ४।५१ में इस प्रकार कथा है—"उस तपस्विनी ने श्रीहनुमानजी से कहा—महातेजस्वी मय नाम का एक महा मायावी राक्षस था। उसीने इस समस्त वन को माया से बनाया है। पहले दानवों में श्रेष्ठ विश्वकर्मा हो गये हैं॥ उन्होंने ही यह सोने का उत्तम भवन बनाया है। हजार वर्ष तक उन्होंने बड़े घोर वन में बड़ी तपस्या की॥ ब्रह्मा से वर में उन्होंने शुक्राचार्य का समस्त धन (शिल्प-विद्या और शिल्प की सामग्री) पाया। इससे वे बली होकर अपनी सृष्टि के उपभोग में समर्थ हुए॥ मयदानव ने इस वन में कुछ दिनों तक सुख-पूर्वक वास किया। वहीं मय हेमा नाम की अप्सरा पर अनुरक्त हुआ॥ इन्द्र ने वज्र से मयदानव को मार दिया, ब्रह्मा ने यह उत्तम वन हेमा को दे दिया। ··मैं मेढ़ सावर्णि की कन्या हूँ, मेरा स्वयंप्रभा नाम है॥ मैं हेमा के घर की रक्षा करती हूँ। मेरी प्यारी सखी हेमा नाचने गाने में निपुण है॥ मैंने हेमा को वर दिया है, इसलिये मैं उसके घर की रक्षा करती हूँ।"

"मेरी सखी हेमा ने मुझसे कहा था कि त्रेतायुग में भगवान् अवतार लेंगे। वे भू-भार-हरण करने के लिये वन में आवेंगे। उनकी भार्या को ढूँढ़ते हुए वानर आवेंगे, तुम उनका पूजन करना और फिर भगवान् श्रीरामजी के पास जाकर स्तुति करना, तब तुम योगियों के प्राप्य विष्णु लोक को जाओगी।" (अध्यात्म रा० सर्ग ६)।

'मैं अब जाब'···'—मेरे यहाँ रहने की अवधि इतनी ही थी।

(२) 'पैहहु सीतहि'—यह तपस्विनी की आशिष भी है। उसने और पता न कहा, क्योंकि वह दिव्य-दृष्टि से जानती है कि सम्पाती के द्वारा खबर मिलेगी। उसके पंख भी इन सबके स्पर्श से जमेंगे और चन्द्रमा मुनि के वचन भी सत्य होंगे। 'जनि पछिताहू'—वाल्मी० ४।५२ में कथा है कि जिस दिन बिल में वानर लोग पैठे, उसी दिन श्रीसुग्रीवजी के द्वारा नियत अवधि समाप्त हो गई। तब सब वानर

शोचवश हो गये। उन्होने स्वयंप्रभा से प्रार्थना की कि हमें बिल के बाहर कर दीजिये। तब उसने आश्वासन देते हुए कहा कि मत पछताओ और उपर्युक्त रीति से बाहर कर दिया।

नयन मूँदि पुनि देखहि बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥६॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल-पद नायेसि माथा ॥७॥
नाना भाँति बिनय तेहि कीन्हीं। अनपायनी भगति प्रभु दीन्हीं ॥८॥

दोहा—बदरी बन कहँ सो गई, प्रभु-आज्ञा धरि सीस।
उर धरि राम-चरन जुग, जे बंदत अज-ईस ॥२५॥

अर्थ—(कुछ देर) आँखें बन्द करके फिर (आँखें खोलकर) सब वीर देखते हैं कि वे सब समुद्र के तीर पर खड़े है ॥६॥ तब वह स्वयंप्रभा वहाँ पर गई, जहाँ पर श्रीरघुनाथजी हैं, जाकर उसने श्रीरघुनाथजी के चरण-कमलों मे सिर नवाया ॥ ७ ॥ और उसने बहुत तरह से विनती की, प्रभु ने उसे अविनाशिनी भक्ति दी ॥८॥ प्रभु की आज्ञा सिरोधार्य करके उनके युगल-चरणकमलों को—जिनकी वन्दना ब्रह्माजी और शिवजी किया करते है—हृदय में धरकर, वह (तपस्विनी) बदरिकाश्रम को चली गई ॥२५॥

विशेष—(१) 'नयन मूँदि पुनि'' '—बिल में खड़ा होकर आँखें मूँद ली थीं, पल-मात्र में आँखें खोलकर फिर देखा तो सब समुद्र के तट पर अपने को वैसे ही खड़ा पाया। 'बीरा'—वीरता से तप का प्रभाव अधिक जनाया, क्योंकि वीरता से न निकल सकते थे।

(२) 'नाना भाँति बिनय ''—विनय भक्ति की प्राप्ति के लिये ही की, इसे तप के फल रूप में श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, इनके दर्शन-फल रूप में श्रीराम-दर्शन और श्रीराम-दर्शनों से उनकी भक्ति प्राप्त हुई।

(३) 'प्रभु-आज्ञा धरि सीस'—'प्रभु' हैं, अतएव इनकी आज्ञा अपेल है, यथा—"प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।" (सुं० दो० ५८), "नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु-पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥" (बा० दो० ७६), 'जे बंदत अज-ईस'—चरणों को हृदय में धारण करते हुए इस महिमा को विचारती है कि जो जगत्-भर को उत्पन्न करते है और संहार करते हैं, ऐसे ईश्वर-रूप ब्रह्मा और शिवजी भी जिनकी वन्दना करते है, उन्हींके मैने दर्शन किये, हमारे बड़े भाग्य है, यथा—"अहो भाग्य मम अमित अति, राम-कृपा सुख-पुंज। देखेँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज॥" (सुं० दो० ४७)।

सम्पाति-मिलाप-प्रकरण

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं ॥१॥
सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लिये करब का भ्राता ॥२॥
कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी ॥३॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गये मारिहि कपिराई ॥४॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही ॥५॥

अर्थ—यहाँ (समुद्र के किनारे) वानर गण मन में विचारते हैं कि अवधि बीत गई, (बिल में

पहुँचने तक १ मास की अवधि बीत गई), पर कार्य कुछ नहीं हुआ ॥१॥ सब मिलकर आपस में बाते करते हैं कि भाई ! श्रीसीताजी का समाचार लिये बिना क्या करेंगे ? अर्थात् बचने का कोई उपाय नहीं है ॥२॥ आँखों में जल भरकर श्रीअंगदजी ने कहा कि हमारी दोनों प्रकार से मृत्यु हुई ॥३॥ यहाँ तो श्रीसीताजी की खबर नहीं मिली और वहाँ जाने पर कपिराज सुग्रीवजी मारेंगे ॥४॥ वे तो पिता के वध होने पर ही मुझे मार डालते, पर श्रीरामजी ने मेरी रक्षा की, इसमें उन (सुग्रीवजी)-का कुछ एहसान (उपकार) नहीं है ॥५॥

विशेष—(१) वानरों को मन, वचन, कर्म से शोच है, यथा—'इहाँ बिचारहि कपि मन माहीं । ...' "कहहिं परस्पर बाता", "बिनु सुधि लिये करब का भ्राता ।" अर्थात् इनका शोच क्रमशः मन, वचन और फिर कर्म में आया ।

(२) 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु'—एक 'इहाँ' दूसरी 'उहाँ'—यहाँ सुधि न पाने पर प्रायोपवेशन करने से मरना होगा, यथा—"अप्रवृत्तो च सीतायाः पापमेव करिष्यति । तस्मात्त्वममिहाद्यैव गन्तुं प्रायोपवेशनम् ॥" (वाल्मी० ४।५३।१५), अर्थात् श्रीसीताजी का पता न पाने पर वे (सुग्रीव) हम सबका वध करेंगे, इसलिये यहाँ पर हमलोगों को प्रायोपवेशन करना ही उचित है । और, वहाँ जाने पर श्रीसुग्रीवजी मारेंगे, यथा—"तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः । न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ ''पापमेव करिष्यति" (वाल्मी० ४।५३।१४), अर्थात् सुग्रीवजी तीक्ष्ण-स्वभाव के है, राज्य-पद पर हैं, अपराध करके जाने पर वे हम सबको न क्षमा करेंगे ।'.....वध ही करेंगे ।

(३) 'पिता बधे पर मारत'''—क्योंकि नीति है—"रिपु रिन रंच न राखब काऊ ।" (अ० दो०२२८), अर्थात् शत्रु के वंश को ही निश्शेष कर देना चाहिये । 'राखा राम''—वाल्मी० ४।५३।१७-१६ में कहा गया है कि श्रीसुग्रीवजी तो मुझसे पहले से ही वैर रखते थे, उन्होंने मेरा अभिषेक नहीं किया, किन्तु धर्मात्मा श्रीरामजी ने किया है । अपराध देखकर श्रीसुग्रीवजी तीव्र दंड दे मारेंगे, मेरे जीवन-नाश को देख मित्रों को भी दुःख होगा, मित्रगण कर ही क्या सकेंगे ? इससे यही पवित्र समुद्र-तीर पर मैं प्रायोपवेशन करूँगा ।

पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं । मरन भयउ कछु संसय नाहीं ॥ ६ ॥
अंगद - बचन सुनत कपि बीरा । बोलि न सकहिं नयन बह नीरा ॥ ७ ॥
छन-एक सोच मगन होइ गये । पुनि अस बचन कहत सब भये ॥ ८ ॥
हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना । नहिं जइहैं जुवराज प्रबीना ॥ ९ ॥
अस कहि लवन-सिंधु-तट जाई । बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥१०॥

अर्थ—(व्याकुलता से) बार-बार अंगदजी सबसे कह रहे हैं कि मरण हुआ, अब इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥६॥ अंगदजी के वचन वीर वानर सुनते हैं, पर कुछ बोल नहीं सकते, उन सबकी आँखों से जल बह रहा है ॥७॥ एक क्षण-भर सब शोच में डूब गये, फिर वे ऐसे वचन कहने लगे ॥८॥ कि हे प्रवीण युवराज ! हम सब श्रीसीताजी की सुध बिना लिये नहीं लौटेंगे ॥९॥ ऐसा कहकर सब वानर लवण (खारी) समुद्र के तट पर जाकर कुशासन बिछा बैठ गये ॥१०

विशेष—(१) 'पुनि पुनि अंगद ''—सबसे कहने का प्रयोजन यह कि आप सब चतुर हैं । जीने का कोई उपाय बतायेंगे, यथा—"भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः । ''इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्रसंशयः । ' न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् ॥ अप्रवृत्तो च सीतायाः पापमेव करिष्यति । ' ध्रुवं नो हिंसते राजा सर्वान्प्रतिगतानितः ॥ ' घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः । '' यथा न हन्येम तथा विधानमसक्तमद्यैव विधीयतां नः ॥" (वाल्मी० ४।५३), इस प्रसंग में अंगदजी

ने सबको नीति-विशारद कह कर पाँच बार मरण होने की बात कही है और फिर अन्त में सबसे बचने का उपाय पूछा है कि जिस प्रकार हमलोग न मारे जायँ वैसा उपाय शीघ्र किया जाय। यह सब भाव इस अर्द्धाली के 'पुनि-पुनि'''मरन भयो'''' में आ गये है। 'कछु संसय नाहीं'—भाव यह कि पिता के वध पर श्रीसुग्रीवजी के मारने मे संशय था, क्योंकि श्रीरामजी रक्षक थे। अब तो हमने श्रीरामजी का ही कार्य नहीं किया, तब तो सुग्रीवजी निश्चय ही मेरा वध करेंगे।

(२) 'अंगद-बचन सुनत कपि बीरा।'''—सब वीर है, इससे शोचवश होने पर इतने अधीर न थे। अंगदजी के वचन सुनकर सबके आँसू बहने लगे। सब अत्यन्त डर गये कि जब अंगदजी का ही वध श्रीसुग्रीवजी करेंगे, तब और कोई कैसे बच सकता है। 'बीरा'—वीर हैं, पुरुषार्थ का काम होता तो करते और युवराज का दुःख-निवारण करते, पर यहाँ कोई वश नहीं चलता।

(३) 'हम सीता कै सुधि '''—वाल्मी० ४।५३।२५-२६ में तार वानर ने इस विषय पर सलाह दी थी कि हमलोग श्रीसुग्रीवजी के पास न जायँगे, और उसी स्वयंप्रभा के बिल में छिपकर सुख से पड़े रहेंगे। तब सर्ग ५४ मे उस सम्मति का श्रीहनुमानजी ने खंडन किया है कि इस बिल का एवं स्वयंप्रभा की माया का खंडन करना श्रीलक्ष्मणजी के लिये कुछ नहीं है। पुनः सब वानर भी इसमें सहमत न होंगे। यद्यपि अंगदजी को सहेतु वचनों से धैर्य दिया है तथापि अंगदजी ने प्रायोपवेशन (अनशन-व्रत करके मरने) का ही निश्चय किया। वह भाव यहाँ के 'नहिं जैहहिं' से सूचित कर दिया कि न जायँगे, तो इस जगह रहेंगे। अनशन व्रत, यथा—"तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्त्तनः। निवृत्या वर्त्तमानस्य तपो नानशनात्परम्॥ अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः। एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात्परम्॥'''इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये। तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नाशनात्परम्॥" (महा० शान्ति० १६१।७-१०)। इसी तरह महा० अनुशा० १०३ एवं १०६।६५-६६ में बहुत विस्तृत रूप मे अनशन-व्रत (उपवास) का महत्त्व कहा गया है। 'प्रवीना'—भाव यह है कि आप चतुर है। जानते ही हैं और ऐसी नीति है कि जब राजा ऐसी कड़ी आज्ञा दे, तो कार्य करके ही उसके पास जाय, यथा—"न क्षमं चापराधानां गमनं स्वामिपार्श्वतः।" (वाल्मी० ४।५३।२३), अर्थात् अपराधियों को स्वामी के पास जाना उचित नहीं है। पुनः वाल्मी० ४।५४ में श्रीहनुमानजी ने अंगद की प्रशंसा की है कि तुम तेज, बल, पराक्रम से पूर्ण हो, बुद्धि मे बृहस्पति के समान और बल मे बालि के समान हो, इत्यादि 'प्रवीण' शब्द में आ गये।

उपर्युक्त दो प्रकार की मृत्यु मे एक प्रकार का समाधान तो वानरों ने किया, पर दूसरी प्रकार का न कर सके और सभी प्रायोपवेशन की विधि से आचमन करके कुश बिछाकर उसपर बैठे, यथा—"परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन्प्रायमासितुम्। तद्वाक्यं वालिपुत्रस्य विज्ञायप्लवगर्षभाः॥ उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाः समुपाविशन्। दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः॥" (वाल्मी० ४।५५।१९-२०), अर्थात् अंगदजी के चारो ओर से घेर कर वे सब प्रायोपवेशन करने के लिये प्रस्तुत हो गये। अंगदजी के वचन समझकर वे सब वानर जल का आचमन कर पूर्व मुख करके बैठ गये। समुद्र के उत्तर तट पर जाकर दक्षिणाग्रमुख बिछाये हुए कुश पर बैठ गये। 'तट'—पहले तीर पर थे, अर्थात् लहर से जल बढ़ने की सीमा तक थे, अब तट (जल के पास) जाकर बैठे। समुद्र तीर्थपति है उसके तट पर कुश पर बैठकर प्राण त्यागना श्रेष्ठ है।

वानर लोग मन, वचन, कर्म तीनों से शोक में हैं, यथा—"सोच मगन होइ गये'—मन, 'अस बचन कहत सब भये'—यह वचन है और 'दर्भ डसाई'—यह कर्म है।

जामवंत अंगद - दुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेखी॥११॥

तात राम कहँ नर जनि मानहु । निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥१२॥
हम सब सेवक अति बड़ि भागी । संतत सगुन ब्रह्म - अनुरागी ॥१३॥

दोहा—निज इच्छा प्रभु अवतरइ, सुर-महि-गो-द्विज लागि ।
सगुन उपासक संग तहँ, रहहिं मोच्छ सब त्यागि ॥२६॥

अर्थ—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने विशेष उपदेश की कथाएँ कहीं ॥११॥ (और फिर यह कहा—) हे तात ! श्रीरामजी को मनुष्य मत मानो प्रत्युत उन्हें निर्गुण ब्रह्म, अजित और अजन्मा जानो ॥१२॥ हम सब सेवक गण बड़े ही भाग्यशाली हैं । जो कि सगुण ब्रह्म श्रीरामजी के निरन्तर अनुरागी हैं ॥१३॥ अपनी इच्छा से प्रभु देवता, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मणों के लिये (जहाँ) अवतार लेते हैं, वहाँ सगुण उपासक सब मोक्षों को भी छोड़कर उनके साथ ही रहते हैं ॥२६॥

विशेष—(१) 'दुख देखी । कही कथा···'—क्योंकि कथा से दुःख दूर होता है, यथा—"रामचंद्र गुन बरनइ लागा । सुनतहि सीताकर दुख भागा ॥" (सुं० दो० १२), 'कथा उपदेस बिसेखी'—कथा के द्वारा जो उपदेश होता है, वह परमार्थ-सम्बन्ध-सहित होता—इससे विशेष है ।

(२) 'नर जनि मानहु'—भाव यह कि तुमने उन्हें नर मान रक्खा है, इसीसे व्याकुल हो गये हो । पर वे नर नहीं हैं, ईश्वर हैं । तब हमलोगों की दुर्दशा कैसे होगी, जब कि उन्हींकी आज्ञा के अनुसार कार्य में तत्पर हैं—वे ही कल्याण का संयोग करेंगे ।

'निर्गुन ब्रह्म अजित·····'—निर्गुण से सगुण हुए हैं, हम सब सेवक बानर हुए हैं । 'अजित'—काल, कर्म, गुण, स्वभाव से अजेय हैं । 'अज' जीवों की तरह कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किन्तु स्वेच्छा से अवतार लेते हैं, यथा—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥" (गीता ४।६), "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।" (गीता ४।९), तथा—"अजायमानो बहुधा विजायते ।" (यजु० ३१।१९), अर्थात् वह (ईश्वर) न जन्मता हुआ भी बहुत प्रकार से जन्मता है । 'अति बड़भागी'—वैराग्यवान् होने से 'भागी', ज्ञानवान् होने से 'बड़भागी' और सेवक होने से 'अति बड़भागी' हैं । 'नर जनि मानहु', यथा—"सो नर क्यों दस सीस अभागा ।···राम मनुज कस रे सठ बंगा·····" (लं० दो० १५), "सो नर क्यों दस-कंध·····" (लं० दो० १२) ।

'हम सब सेवक···संतत सगुन···', यथा—"प्रभु कृतज्ञ सर्बज्ञ हैं परिहरु पछिली गलानि । तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान पहिचानि ॥" (वि० १९३), "ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती ।" (बा० दो० १९), "पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः ।" (गीता ९।१७), "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता···" (यजु० अ० ३२), परधाम में भी भक्त परिकर साथ रहते हैं, यथा—"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चित ।" (तैत्त० १।२), अर्थात् वह मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ-साथ सब कामनाओं का भोग करता है ।

(३) 'निज इच्छा प्रभु·····'—पहले निर्गुण ब्रह्म का सगुण होना आदि कहा था । उसका हेतु यहाँ कहते हैं, यथा—"इच्छामय नर बेष सँवारे । होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे ॥" (बा० दो० १५१)—इसका विशेष भी देखिये । 'सुर-महि-गो-द्विज लागि'—यह अवतार लेने का प्रयोजन है, यथा—"तात राम नहि नर भूपाला । भुवनेस्वर कालहु कर काला ॥ ब्रह्म अनामय अज भगवंता । ब्यापक अजित अनादि अनंता ॥ गो द्विज धेनु देव हितकारी । कृपासिंधु मानुष तनु धारी ॥" (सुं० दो ३८) । 'मोच्छ सब'—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि सगुण उपासना की मुक्तियों को भी त्याग देते है और भक्ति के अनुरागी होते हैं, यथा—"जनम-जनम रति राम पद, यह बरदान न आन ।" (अ० दो० २०४), इत्यादि ।

येहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती । गिरि - कंदरा सुनी संपाती ॥१॥
बाहेर होइ देखि बहु कीसा । मोहि अहार दीन्ह जगदीसा ॥२॥
आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ । दिन बहु चलेउ अहार बिनु मरऊँ ॥३॥
कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा । आजु दीन्हि बिधि एकहिं बारा ॥४॥

अर्थ—इस तरह बहुत प्रकार की कथाएँ कह रहे हैं, (इनके वचन) पहाड़ की कन्दरा में सम्पाती ने सुने ॥१॥ बाहर निकलकर और बहुत-से वानरों को देखकर (उसने कहा कि) मुझे जगदीश ने आहार दिया ॥२॥ आज मैं इन सभी को खाऊँगा, बिना भोजन के बहुत दिन बीत गये, मैं मर रहा था ॥३॥ मुझे कभी पेट-भर कर भोजन नहीं मिलता था, आज ब्रह्माजी ने एक ही बार (परिपूर्ण) दे दिया ॥४॥

विशेष—(१) 'कथा कहहि बहु भाँती'—ऊपर कथा कहना केवल श्रीजाम्बवान्‌जी का ही लिखा गया है और यहाँ 'कहहि' बहुवचन से सबका कहना कहा गया है, इसका भाव यह कि जाम्बवान्‌जी कहते हैं, शेष सब अनुमोदन करते हैं, उन्हीं में कोई विषय लेकर दूसरे कुछ भिन्न प्रकार से भी कहते हैं, इसीसे 'बहु भाँती' भी कहा है। वाल्मी० ४।५५।२१-२२ में सब वानरों का परस्पर कथा कहना लिखा है कि श्रीरामजी का वनवास, राजा दशरथजी का मरण, जनस्थान का युद्ध, श्रीजानकीजी का हरण, श्रीजटायुजी का वध, बालि-वध और श्रीरामजी का कोप कहते हुए वानर भयभीत हो गये। यह प्रसंग भी 'कहहिं' में आ गया। 'गिरि-कंदरा सुनी संपाती'—कथा-श्रवण के प्रभाव से सम्पाती को श्रीराम-भक्तों के दर्शन हुए, उसके पक्ष जमे और सभी दुःख दूर हुए। वानर लोग सीता-शोध के लिये व्याकुल थे, कथा कहने के प्रभाव से बैठे-बैठे ही सम्पाती के द्वारा सुध मिल गई।

(२) 'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।'—जगदीश जगत्-भर के ईश्वर (प्रेरक) हैं और पालक हैं, इसीसे प्रेरणा करके इतने वानरों को इकट्ठा कर मरने पर उद्यत कर दिया और मेरे भोजन का प्रबन्ध कर दिया। नहीं तो अपने पराक्रम से मुझे इतने वानर कैसे मिलते ?

(३) 'आजु सबन्हि कहँ भच्छन करऊँ'—सब मरने को बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा, यथा—"परस्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम्। उवाचैतद्वचः पक्षी तान्निरीक्ष्य प्लवङ्गमान्॥" (वाल्मी० ४।५६।५), अर्थात् वह जीवित वानरों को खाने के लिये नहीं कहता। 'दिन बहु चलेउ ···'—यह पक्ष-हीन था, वाल्मी० ४।५६।८ में लिखा है कि इसका पुत्र सुपार्श्व इसे आहार कभी-कभी ला देता था। पर गृध्रों को क्षुधा अधिक होती है, इसीने कहा है—"तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजङ्गमाः। मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम्॥" (वाल्मी० ४।५९।६), इसीसे इसका पेट नहीं भरता था। 'आजु दीन्हि बिधि एकहि बारा।', यथा—"विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्त्तते। यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः॥" (वाल्मी० ४।५६।८), अर्थात् जिस तरह कर्म के अनुसार लोक में मनुष्यों को फल मिलता है, वैसे ही पूर्वार्जित कर्म से प्राप्त यह भोजन मेरे लिये आया है।

डरपे गीध - बचन सुनि काना । अब भा मरन सत्य हम जाना ॥५॥
कपि सब उठे गीध कहँ देखी । जामवंत मन सोच बिसेखी ॥६॥
कह अंगद बिचार मन माहीं । धन्य जटायू - सम कोउ नाहीं ॥७॥
राम - काज - कारन तनु त्यागी । हरिपुर गयउ परम बड़भागी ॥८॥

अर्थ—गृध्र सम्पाती के वचन कानों से सुनकर सब वानर डर गये (और बोले—) हमने अब जान लिया कि सचमुच हमारा मरण हुआ ॥५॥ उस गृध्र को देखकर सब वानर उठ खड़े हुए, तब

जाम्बवान्‌जी के मन में अधिक सोच हुआ ॥६॥ श्रीअंगदजी ने अपने मन में विचार कर कहा कि श्रीजटायुजी के समान कोई भी धन्य नहीं है ॥७॥ वह परम बड़भागी राम-कार्य के लिये शरीर छोड़कर हरिपुर (भगवान् के धाम) को गया ॥८॥

विशेष—(१) 'डरपे गीध-बचन सुनि···', यथा—"ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवङ्गमाः। चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति ॥" (वाल्मी० ४।५७।२), अर्थात् प्रायोपवेशन में बैठे हुए वेवस वानर गृध्र को देखकर "यह हम सबको खा जायगा।" ऐसा भयानक विचार करने लगे। इसका स्वरूप और इसके वचन दोनों भयंकर है। 'अब भा मरन सत्य'—भाव यह कि प्रायोपवेशन से चाहे मृत्यु न भी होती, पर अब तो यह अवश्य ही सबको खा जायगा।

शंका—ये लोग ऐसे भारी-भारी वीर है, क्या सब मिलकर भी उससे न लड़ सकते थे ?

समाधान—श्रीसीताजी की शोध न पाने से और उपर्युक्त दोनों प्रकार की मृत्यु के भय से सब वीर व्याकुल हो गये हैं, पराक्रम की सुधि नही है, कहा ही है—"रहत न आरत के चित चेतू।" (अ० दो० २६८)।

(२) 'कपि सब उठे गीध कहँ देखी।···'—कुशासन पर बैठे थे, घबराकर उठ पड़े। शोच तो सभी को है, जाम्बवान्‌जी के मन में विशेष शोच है कि हमारे देखते हुए क्या सब बानर खा लिये जायँगे ? अंगदजी के दुःख को इन्होंने कथा कहकर दूर किया, किन्तु इस आपत्ति के हटाने का उपाय इन्हें नहीं सूझता था। किसी-किसीका यह भी मत है कि प्रायोपवेशन के नियमबद्ध होने से लड़ नहीं सकते थे, इससे भी विशेष शोच हुआ कि गृध्र के द्वारा अपमृत्यु होगी।

(३) 'कह अंगद···'—अंगदजी का दुःख देखकर जाम्बवान्‌जी ने उनको समझाया था, वैसे जाम्बवान्‌जी के शोच को अंगद दूर करेंगे, क्योंकि दोनों ही समान बुद्धियुक्त हैं। अंगद ने उसकी जाति की प्रशंसा करके उसे प्रसन्न करने के उपाय का निश्चय किया और कहा—'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।' जाम्बवान्‌जी ने कहा था—"हम सब सेवक अति बड़भागी।" उसपर अंगदजी कहते हैं कि जटायुजी के समान धन्य कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने राम-कार्य में शरीर ही त्याग दिया, यथा—"राम काज खगराज आज लरथो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहँग बड़भागी ॥" (गी० अर० ८), तथा वाल्मी० ४।५६।६-१४ में श्रीअंगदजी का कथन जटायुजी कि प्रशंसा रूप में है, वह यहाँ की इन दो अर्द्धालियों में आ गया है। और फिर वहीं पर दिव्य देह पाकर हरि-धाम को गये, अतएव वे 'परम बड़भागी' हैं। पुनः श्रीरामजी के लिये लड़े और उन्होंने उनकी गोद में बैठकर शरीर-त्याग किया। श्रीरामजी ने स्वहस्त से उनकी अन्त्येष्टि क्रिया की, इत्यादि कारणों से वे परम बड़भागी हैं। दोहावली २२२-२२० में जटायुजी की मृत्यु की सराहना देखने योग्य है। यहाँ अंगदजी की परम नीति-निपुणता है।

सुनि खग हरष-सोकजुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी ॥ ९ ॥
तिन्हहिं अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई ॥१०॥
सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति-महिमा बहु बिधि बरनी ॥११॥

दोहा—मोहि लै जाहु सिंधु तट, देउँ तिलांजलि ताहि।
बचन-सहाइ करबि मैं, पैहहु खोजहु जाहि ॥२७॥

अर्थ—सम्पाती पक्षी हर्ष और शोकयुक्त वाणी सुनकर वानरों के समीप आया, इससे वानर गण

डरे ॥९॥ उसने उन्हें निर्भय करके और (समीप) जाकर (जटायु की) सारी कथा पूछी, उन्होंने उसे सम्पूर्ण कथा सुनाई ॥१०॥ भाई जटायु की करनी सुनकर सम्पाती ने बहुत भाँति से श्रीरघुनाथजी की महिमा का वर्णन किया ॥११॥ (और कहा—) मुझे समुद्र के किनारे ले चलो, उसे मैं तिलाञ्जलि दूँ, फिर मैं वचनों से तुम्हारी सहायता करूँगा (अर्थात् यह बतलाऊँगा कि श्रीसीताजी इस समय कहाँ हैं), जिन्हें ढूँढ़ते हो उन्हें पाओगे ॥२७॥

विशेष—(१) 'हरष-सोकजुत बानी'—जटायु का पुरुषार्थ और उसकी सद्गति हर्ष का कारण है और मृत्यु होने की बात शोक का हेतु है। 'आवा निकट'—अब वह जटायु का समाचार पूछने के लिये समीप आया, पर वानरों ने जाना कि खाने को ही आता है इससे इन्होंने भय माना।

(२) 'तिन्हहिं अभय करि···'—पहले अभय किया कि जिसमें वानर भाग न जायँ, तब समीप गया, इसलिये 'जाई' क्रिया पीछे दी गई है। 'कथा सकल'—पहले जटायु की कथा संक्षेप में अंगद ने कही थी। अब उसे विस्तार-पूर्वक कहा।

(३) 'बंधु कै करनी'—'करनी' शब्द श्लेषार्थी है, एक तो पुरुषार्थपरक है, यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४), दूसरे उसकी मृतक-क्रियापरक है, यथा—"पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी।" (अ० दो० १७०)। दोनों प्रकार की करनी उसकी प्रशंसनीय हैं, जैसे कि रावण ऐसे वीर से संग्राम करके उसे मूर्च्छित कर दिया और श्रीसीताजी की रक्षा के लिये प्राण दिये। दूसरे श्रीरामजी ने स्वयं उसकी मृतक-क्रिया की और उसे परम उत्तम गति दी, यथा—"गीध अधम खग, आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी॥" (अर० दो० ३२), "दसरथ ते दसगुन भगति, सहित तासु कृत काज।" (दोहावली २२७), श्रीरघुनाथजी की महिमा वर्णन की कि उन्होंने ऐसे अधम को भी गति दी।

(४) 'मोहि लै जाहु सिधु-तट'—सम्पाती पहले पहाड़ के ऊपर ही कन्दरा में से निकलकर ऊँचे पर, किन्तु वानरों के समीप आया था। ऊपर से ही कहता था कि ये मरने को तो बैठे ही हैं, क्रमशः मरते जायँगे और मैं खाता जाऊँगा। वानर लोग अपभय से स्वयं डर गये थे, क्योंकि वह तो पंख हीन होने से नीचे उतर भी नहीं सकता था। भाई का मरना सुना है, अतएव अब उसे सूतक लगा, भाई को तिलांजलि देना चाहता था, इसलिये उतारने की प्रार्थना की और इन्हें श्रीसीताजी का समाचार बतलाने का वचन दिया।

इसमें उसका कुछ गुप्त आशय भी है कि जब इनके स्पर्श से मेरे पक्ष जम आवेंगे, तब समझूँगा कि ये रामदूत हैं और तब श्रीसीताजी की खबर बतलाऊँगा। चन्द्रमा मुनि ने यही पहचान कही थी। सम्पाती को श्रीहनुमानजी उस पर्वत पर से उतारकर लाये थे, यथा—"जयति धर्मासु-संदग्ध-संपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह दाता।" (वि० २८)।

अनुज - क्रिया करि सागर-तीरा। कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा ॥१॥
हम दोउ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गये रबि निकट उड़ाई ॥२॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि नियरावा ॥३॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा ॥४॥

अर्थ—समुद्र के किनारे पर भाई जटायु की क्रिया करके उसने अपनी कथा कही—हे वीर वानरो! सुनो ॥१॥ हम दोनों भाई पहली (एवं चढ़ती) जवानी में उड़कर सूर्य के निकट जाने के लिये गये ॥२॥ वह सूर्य का तेज नहीं सह सका, इससे लौट आया, मैं अभिमानी था, इससे सूर्य के समीप गया ॥३॥ सूर्य के अत्यन्त अपार तेज से मेरे पंख जल गये, तब मैं घोर चिक्कार करके इस भूमि पर गिर पड़ा ॥४॥

विशेष—(१) 'अनुज-क्रिया करि···'—क्रिया करके पहले शुद्ध होकर तब कथा कहो । अपनी वीरता की कथा कही, जिससे इन सब वीरों का भी उत्साह बढ़े और राम-कार्य में तत्पर हों । 'मैं अभिमानी···'—मुझे बल का बड़ा अभिमान था, भाई से अधिक अपना बल दिखाने को और आगे बढ़ा। अभिमान का फल दुःख है, वही मुझे मिला । 'अति तेज अपारा'—सूर्य का तेज भूमि पर भी नहीं सहा जाता, तो समीप का क्या कहना ? 'करि घोर चिकारा'—पंख जलने का दुःख और फिर पृथ्वी की भी ठोकर लगी, इससे चिल्ला उठा ।

(२) जटायुजी की कथा अरण्यकाण्ड में दी गई है, यह (सम्पाती) उसीका बड़ा भाई था । इसने पहले अभिमान किया, उसका फल दुःख मिला । अब श्रीराम-भक्तों के दर्शनों से इसके पाप क्षीण हुए। नवीन पक्ष हुए और यह सुखी हुआ ।

मुनि एक नाम चंद्रमा ओही । लागी दया देखि करि मोही ॥५॥
बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा । देह-जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥

अर्थ—वहाँ एक मुनि रहते थे, उनका चन्द्रमा नाम था, मुझको (गिरा हुआ) देखकर उनको दया लग आई ॥५॥ उन्होंने बहुत तरह से मुझे ज्ञान सुनाया और मेरे देह-विषयक, अभिमान को दूर किया ॥६॥

विशेष—(१) 'मुनि एक नाम चंद्रमा ओही । ··'—चंद्रमा मुनि अत्रिजी के पुत्र थे, ये ब्रह्माजी के अवतार माने जाते हैं । इनका आत्रेय और निशाकर भी नाम है । 'लागि दया'—क्योंकि सन्त कोमल चित्त होते हैं, यथा—"नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ॥" (अर० दो० १) । दया से ज्ञान सुनाया, क्योंकि गृध्र ज्ञान सुनाने का अधिकारी नहीं था ।

(२) 'बहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा ।'—वाल्मी० ४।६०-६३ में कथा है—सम्पाती जब पक्ष जलने से गिरा, तब चन्द्रमा मुनि के दर्शन होने पर और उनके पूछने पर इसने अपना हाल कहा, तब ऋषि ने ध्यान किया और फिर इससे कहा कि तुम मरने की बुद्धि न करो, तुम्हारे पक्ष फिर जमेंगे । उन्होंने फिर श्रीरामजी के जन्म से यहाँ तक की कथा कही और यह भी कहा कि मैं तुम्हें अभी सपक्ष कर सकता हूँ । पर इससे तुम न जाने कहाँ चले जाओ, तो राम-कार्य में हानि होगी । अतः, तुम यहीं पर रहकर समय की प्रतीक्षा करो और यहाँ रहते हुए, लोक का कल्याण करो । उन्होंने और भी अनेक वाक्यों से मुझे समझाया, तब मैंने आत्मघात की इच्छा छोड़ दी । प्राणों की रक्षा के लिये मुनि ने जो बुद्धि दी थी । उसीसे मेरे सब दुःख दूर होते हैं, जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा से अन्धकार दूर होता है ।

(३) 'देह-जनित अभिमान छुड़ावा ।'—देह जनित अभिमान छूटने का ज्ञान गीता २।११-३० में विस्तार से है, वहीं देखना चाहिये । तात्पर्य यह है कि देह अनित्य है, अतएव नाशवान् है, कितना भी प्रबन्ध किया जाय, पर कभी नाश होगा ही और जीवात्मा नित्य है, अतएव अविनाशी है, किसी भी बाधा से किसी तरह इसका नाश नहीं हो सकता । जीव और देह भिन्न-भिन्न स्वभाव के पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं । विवेकी लोग देह के धर्मों को जीवात्मा में नहीं मानते । आधि-व्याधि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को देह का ही धर्म मानकर स्वयं उससे भिन्न रहते हैं ।

त्रेता ब्रह्म मनुज-तनु धरिही । तासु नारि निसिचरपति हरिही ॥७॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता । तिन्हहि मिले तैं होब पुनीता ॥८॥
जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता । तिन्हहिं देखाइ दिहेसु तैं सीता ॥९॥
मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू । सुनि मम बचन करहु प्रभु-काजू ॥१०॥

अर्थ—(और फिर कहा—) त्रेता युग में ब्रह्म (श्रीरामजी) मनुष्य का शरीर धारण करेंगे, उनकी स्त्री को राक्षस-राज रावण हरण करेगा ॥७॥ उस स्त्री का पता लगाने के लिये प्रभु श्रीरामजी दूत भेजेंगे, तू उनके मिलने पर पावन हो जायगा ॥८॥ तेरे पक्ष फिर जम आयेंगे, चिन्ता मत कर, तू उन्हें श्रीसीताजी को दिखा देना ॥९॥ मुनि की वह वाणी आज सत्य हुई, मेरा वचन सुनकर (तुमलोग) प्रभु श्रीरामजी का कार्य करो ॥१०॥

विशेष—(१) 'त्रेता ब्रह्म मनुज-तनु ···'—त्रेता कहने से यह वृत्तान्त सत्ययुग का सूचित किया। "त्रेता ब्रह्म मनुज-तनु धरिही।"—बालकाण्ड, "तासु नारि निसिचरपति हरिही।"—अरण्यकाण्ड, "तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहिं मिले तें होब पुनीता।"—किष्किन्धाकाण्ड, यहाँ तक की कथा चन्द्रमा मुनि ने कही थी, वही सम्पाती ने यहाँ कही। अयोध्याकाण्ड नहीं कहा गया, क्योंकि वह भरत-चरित है और यहाँ राम-चरित ही के कहने का प्रयोजन था। 'पठइहि प्रभु दूता'—'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, सब जानते हैं, फिर भी राजनीति की मर्यादा से दूत भेजेंगे। उन दूतों के मिलने (दर्शनों) से तू पवित्र होगा। 'करसि जनि चिंता'—पक्ष न होने की चिन्ता मत कर, ये जमेंगे। पहले पक्ष जमना कहकर चिन्ता दूर करके तब श्रीसीताजी का दिखाना कहा है, भाव यह कि पहले पक्ष जम जायँगे, तब तू श्रीसीताजी को दिखाना। इतना काल कैसे बीतेगा ? इस चिन्ता के निवारण के लिये ज्ञान कहा है।

इस अर्द्धाली में 'चिंता' और 'सीता' के अनुप्रास हैं, इसी तरह अन्यत्र भी हैं, यथा—"मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता॥" (लं० दो० ९७)।

(२) 'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।'—वाणी यों सत्य हुई कि मेरे पक्ष जम आये, तब शेष वचन भी सत्य ही होंगे। श्रीसीताजी तुम्हें मिलेंगी। अतएव मेरे वचनों पर विश्वास करके प्रभु का कार्य करो। 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, तुम्हें सामर्थ्य देंगे। पूर्व कहा था—"बचन सहाइ करबि मैं" वही कर रहा है—'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू' वाल्मी० ४।६३।१०-१३ में भी ऐसा ही कहा है कि मुनि के प्रसाद से हमारे जले हुए पक्ष फिर जम आये। अतः, यह देखकर विश्वास के साथ यत्न करो, श्रीसीताजी को पाओगे।

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका ॥११॥
तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोच-रत अहई ॥१२॥

दोहा—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं, गीधहिं दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ, कछुक सहाय तुम्हार ॥२८॥

अर्थ—त्रिकूट पहाड़ पर लंका बसी हुई है, वहाँ स्वाभाविक निःशंक रावण रहता है ॥११॥ वहाँ एक अशोक का उपवन है, जहाँ पर श्रीसीताजी शोक में निमग्न बैठी हैं ॥१२॥ मैं यहीं से देख रहा हूँ, पर तुम नहीं देख सकते, क्योंकि गृध्रों की अपार दृष्टि होती है। मैं बूढ़ा हो गया हूँ, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता ॥२८॥

विशेष—(१) 'गिरि त्रिकूट ऊपर बस···'—जाम्बवान् ने पूछा था—"क सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्। तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्॥" (वाल्मी० ४।५९।३), अर्थात् श्रीसीताजी कहाँ हैं, किसने देखा और किसने उनका हरण किया है। यह सब आप कहें और वानरों के रक्षक हों। इसपर सम्पाती ने कहा है कि तीन कूटवाले पहाड़ पर लंका बसी है, अर्थात् वह गिरि-दुर्ग बड़ा दुर्गम है, यथा—"गिरि त्रिकूट एक सिंधु मझारी। बिधि निर्मित दुर्गम अति भारी॥" (बा० दो० १७७), 'रावन सहज असंका'—रावण स्वाभाविक निश्शंक है, कुछ दुर्ग (किले) के भरोसे पर नहीं, यथा—"सहज

असंक लंकपति···' (लं० दो० १६), "सुनासीर सत सरिस सो ··परम प्रबल रिपु सीस पर, तथपि सोच न त्रास ॥" (लं० दो० १७)।

(२) 'तहँ असोक उपबन···'—श्रीसीताजी को 'असोक उपबन' में कहकर रावण के निवास से पृथक् सूचित किया। 'बैठि' अर्थात् सदा बैठी ही रहती हैं, यथा—"देखि मनहि महँ कीन्ह; प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि जामा ॥" (सुं० दो० ७), वह अशोक उपवन भी उन्हें शोक-रहित नहीं कर सकता, प्रत्युत शोक रूप हो रहा है।

(३) 'मैं देखउँ तुम्ह नाहीं···'—वाल्मी० ४।५८।२६-३० में सम्पाती ने कहा है कि मैं यहीं से श्रीजानकीजी को देखता हूँ। हमलोगों को गरुड़ के समान शक्तिप्राप्त है। भोजन के बल से तथा स्वभाव से सौ योजन एवं इससे भी आगे तक हमलोग देख सकते हैं, तथा—"जनकन्यात्मजा राज्ञस्तस्यां द्रक्ष्यथ मैथिलीम् ॥ ज्ञानेन खलु पश्यामि दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यथ ।" (वाल्मी० ४।५८।२३-२४), अर्थात् राजा जनक की कन्या सीता को तुम लोग देखोगे। ज्ञान से मैं देख रहा हूँ, तुमलोग सीता को देखकर लौट आ सकते हो।

जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो रामकाज मति-आगर ॥१॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम-कृपा कस भयउ सरीरा ॥२॥
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥३॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदय धरि करहु उपाई ॥४॥

अर्थ—जो चार सौ कोस का सागर लाँघ जाय और बुद्धिमान् हो, वह श्रीरामजी का कार्य करे, अर्थात् इसमें बल और बुद्धि दोनों की आवश्यकता है ॥१॥ मुझे देखकर मन में धैर्य धरो, (यह देखते ही हो कि मैं कैसा था और श्रीराम-कृपा से कैसा हो गया, यह श्रीरामजी का ही प्रभाव है) कि श्रीराम-कृपा से मेरा शरीर कैसा (नया एवं पुष्ट) हो गया ? ॥२॥ पापी भी जिनका नाम स्मरण करते हैं और अत्यन्त अपार भवसागर को तर जाते हैं ॥३॥ तुम तो उनके दूत हो। अतः, कादरपना छोड़कर और श्रीरामजी को हृदय में रखकर उपाय करो ॥४॥

विशेष—(१) 'जो नाँघइ सत जोजन सागर···'—पहले सम्पाती ने सभीको श्रीराम-कार्य के लिये उत्साहित किया था, यथा—"सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।" अब वह कहता है कि प्रस्तुत कार्य में एक ही व्यक्ति का काम है, जो ४०० कोस के समुद्र को लाँघ सके और वह बुद्धि का भी तीव्र हो। पहले गिरि त्रिकूट मात्र कहा था, यहाँ यह भी जनाया कि वह ४०० कोस के सागर के पार है। 'सागर' नाम देने में यह भी भाव है कि श्रीरामजी के पुरुषा सगर के पुत्रों का खोदा एवं बढ़ाया हुआ है। अतः, कृतज्ञता से यह भी श्रीराम-कार्य में सहायता करेगा, यथा—"जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रम हारी ॥···मोहि कहाँ बिश्राम, (सुं० दो० १), यह प्रसंग आगे है।

(२) 'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा।'—इसने पहले वानरों का अधीर होना जानकर उन्हें धैर्य धरने को कहा। फिर आगे कायरता छोड़ने को भी कहा है, यथा—"मुद मरकट रोग बारिनिधि हेरि हारे जीव जामवंत को भरोसो तेरो भारिये।" (हनुमान बाहुक २३)।

(३) 'पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं।···'—सम्पाती ने पहले अपना प्रत्यक्ष प्रमाण दिया। अब वे और पापियों के उदाहरण देते है, जो वेद-पुराणों में कहे गये हैं—यह शब्द-प्रमाण है। 'पापिउ'—पापी भवसागर तरने में असमर्थ हैं वे भी, 'अति अपार भवसागर'—भाव यह कि वे अत्यन्त असमर्थ भी अति अपार को पार कर जाते हैं, तुम्हारा तो श्रीरामजी से सम्बन्ध है, अतएव समर्थ हो, फिर इस १०० योजन के परिमित सागर के तरने में क्या है ?

(४) 'तासु दूत तुम्ह'''—भाव—पापियों से प्रभु का सम्बन्ध नहीं है, तो भी वे नाम-स्मरण मात्र से भवसागर तरते हैं तुम तो उनके दूत हो, इस सम्बन्ध से श्रीरामजी अवश्य सहायता करेंगे, यथा—"चतुर्भिः कारणैः कृष्ण त्वया रक्ष्याऽस्मि नित्यशः। सम्बन्धाद् गौरवात्सख्यात्प्रभुत्वेनैव केशव॥" (महा० वन० १२।१३०), अर्थात् हे कृष्ण! मैं चार कारणों से आपके द्वारा नित्य ही रक्षा पाने के योग्य हूँ। सम्बन्ध से (नाते से), आपके बड़ेपन से, सख्य भाव से और आपके स्वामी होने से। इन चार कारणों में 'सम्बन्धात्' ही प्रथम कहा गया है, इससे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'राम हृदय धरि'—जिनकी कृपा से मेरे पक्ष जमे, पापी भवसागर तरते हैं, उन्हींको हृदय में धरकर उपाय करो तो अवश्य सिद्धि होगी।

'सुनि सब कथा समीर कुमारा'-प्रकरण

अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्हके मन अति बिसमय भयऊ॥५॥
निज निज बल सब काहू भाषा। पार जाइ कै संसय राखा॥६॥
जरठ भयउँ अब कहै रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बललेसा॥७॥
जबहिं त्रिबिक्रम भयउ खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी॥८॥

दोहा—बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्ही, सात प्रदच्छिन धाइ॥२६॥

अर्थ—हे गरुड़! ऐसा कहकर जब गृध्र सम्पाती चला गया, तब उन वानरों के मन में अत्यन्त आश्चर्य हुआ, (कि इतना चौड़ा समुद्र कैसे लाँघा जायगा, पुनः गृध्र का पक्ष जमना आदि का आश्चर्य तो था ही) ॥५॥ सब किसीने अपना-अपना बल कहा, पर समुद्र के पार जाने में सन्देह ही रक्खा॥६॥ ऋक्षराज जाम्बवान् जी ने कहा कि अब मैं बूढ़ा हो गया, मेरे शरीर में पहलेवाले बल का लेशमात्र भी नहीं रह गया (नहीं तो यह कार्य कुछ न था)॥७॥ जब खर के शत्रु भगवान् वामन रूप हुए तब मेरी युवा अवस्था थी और मुझमें भारी बल था॥८॥ बलि को बाँधने के समय परम समर्थ भगवान् बढ़े, उस शरीर का वर्णन नहीं हो सकता, दो ही घड़ियों में मैंने उस शरीर की सात प्रदक्षिणाएँ दौड़कर कीं (इतना भारी मेरा बल था)॥२६॥

विशेष—(१) 'निज निज बल सब'''—पूर्वार्द्ध में सन्दिग्ध रह गया कि किसने कितना कहा, उसका उत्तरार्द्ध में निर्णय कर दिया कि सौ योजन के भीतर ही में सभी रह गये। पहले वानरों ने कहा, तब जाम्बवान्जी ने कहा, फिर अंगदजी ने कहा। इस क्रम से निश्चय हुआ कि जब अंगदजी सौ योजन जा सकते हैं, तब जाम्बवान् नब्बे और शेष वानर अस्सी योजन के भीतर ही रह गये। ऐसा ही वाल्मी० ४।६५ में प्रमाण भी है कि अपना-अपना बल कहते हुए गज ने १०, गवाक्ष ने २०, शरभ ने ३०, ऋषभ ने ४०, गन्धमादन ने ५०, मैन्द ने ६०, द्विविद ने ७० और सुषेण ने ८० योजन तक कूदना कहा। तब जाम्बवान्जी ने ९० योजन तक जाना कहा और यह भी कहा कि इस वृद्धावस्था में भी मैं इतना जा सकता हूँ।'''पीछे अंगदजी ने कहा कि मैं १०० योजन जा सकता हूँ, पर लौटने की शक्ति मुझमें रहेगी कि नहीं इसमें सन्देह है। इसपर जाम्बवान्जी ने अंगद की बहुत सराहना की और कहा कि आप हजारों योजन जा सकते हैं, पर स्वामी प्रेषक होता है, प्रेष्य नहीं।—इत्यादि सम्पूर्ण प्रसंग यहाँ मिलता है।

(२) 'खरारी'—अर्थात् खर राक्षस के शत्रु श्रीरामजी। विष्णु-नारायण आदि से श्रीरामजी का तत्त्वतः अभेद है, ये सब श्रीरामजी के अभिन्नांश हैं, इसीसे इनमें प्रत्येक के अवतार और उनसे विस्तार

किये हुए गुण प्रत्येक में माने जाते हैं, जैसे कि अजामिल ने नारायण का नाम लिया था, पर वह श्रीरामजी के नाम-प्रभाव में कहा गया है, यथा—"नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदी भव-बूड़त काढ़े।··· सोइ प्रभु स्वै सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥" (क० अ० ५)। 'अस कहि गरुड़'—गरुड़ सम्बोधन इससे है कि सम्पाती इनके वंश का सम्बन्धी है, इनके भाई अरुण का पुत्र है।

(३) 'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ'—बढ़ने और बाँधने के सम्बन्ध से 'प्रभु' शब्द दिया गया। प्रभु का अर्थ समर्थ है, यह सामर्थ्य इन्हींमें था, इन्द्रादि देवता हार चुके थे। 'सो तनु बरनि न जाइ'—जिसकी विशालता का वर्णन करना भी अशक्य है उसको मैंने दो ही घड़ियों में सात प्रदक्षिणाएँ कीं, मुझमें इतना भारी बल था, यथा—"जाम्बवानृक्षराजस्तु भेरीशब्दैर्मनोजवः। विजयं दिक्षु सर्वासु महोत्सवमघोषयत्॥" (भाग० ८।२१।८), अर्थात् बलि-बन्धन के समय ब्रह्मादि प्रभु की पूजा करने लगे, उस समय मन के समान वेगवान् ऋक्षराज श्रीजाम्बवान्‌जी बड़े उत्साह से भेरी बजाते हुए सब दिशाओं में भगवान् के विजय महोत्सव की घोषणा कर आये। 'उभय घड़ी'—का भाव यह कि वह रूप दो ही घड़ी रहा, इसी-से दौड़कर प्रदक्षिणा की, नहीं तो दौड़कर प्रदक्षिणा नहीं की जाती।

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा॥१॥
जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइय किमि सबही कर नायक॥२॥
कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥३॥
पवन-तनय बल पवन-समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान-निधाना॥४॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥५॥
राम-काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्वताकारा॥६॥

अर्थ—अंगदजी ने कहा कि मैं सागर के पार तो चला जाऊँगा, पर लौटती बार के लिये मेरे जी में कुछ संशय है॥१॥ जाम्बवान्‌जी ने कहा—तुम सब लायक हो, पर तुम सबही के नायक (नेता, प्रेषक, स्वामी) हो, तुमको हम कैसे भेजें ?॥२॥ ऋक्षराज जाम्बवान्‌जी कहते हैं कि हे बलवान् हनुमान ! सुनो, तुम क्या चुप साध रहे हो ?॥३॥ तुम पवन के पुत्र हो, (अतः) पवन के समान बली हो और बुद्धि, विवेक और विज्ञान के खजाना हो॥४॥ जगत् में कौन-सा काम कठिन है जो हे तात ! तुमसे नहीं हो सकता॥५॥ श्रीरामजी के कार्य करने के लिये ही तो तुम्हारा अवतार है, यह सुनते ही श्रीहनुमानजी पहाड़ के समान विशाल शरीरवाले हो गये॥६॥

विशेष—(१) 'जिय संसय कछु फिरती बारा।'—श्रीसुग्रीवजी ने वानरों को चारों दिशाओं में वहाँ तक जाने को कहा है, जहाँ तक सूर्य का प्रकाश है। उसके बीच में ही सातों महासागर आ जाते हैं, वाल्मी० ४।४३--४४ में स्पष्ट कहा गया है। इससे निश्चित है कि सामान्य वानर भी सब समुद्र लाँघ सकते थे, और सेतु बाँधने पर भी बहुत आकाश मार्ग ही से गये हैं, पुनः श्रीहनुमानजी ने अपनी अप्राकृत वानरी जाति का स्वभाव कहते हुए कहा भी है—"कामगं कामचारिणाम्।" (वाल्मी० ४।३।२३), अर्थात् हम इच्छानुसार रूप धर सकते हैं और जहाँ चाहें जा सकते हैं। पुनः वाल्मी० ५।३६।३५--३७ में भी कहा है कि हमलोग मन के संकल्प से काम करनेवाले हैं, ऊपर-नीचे और सामने कहीं भी हमलोगों की गति नहीं रुकती, इत्यादि-इत्यादि।

तब इन बड़े-बड़े सुभटों का इस सौ योजन के समुद्र के विषय मे ऐसा कहना कुछ हेतु से है। जाम्बवान् आदि को मालूम है कि श्रीहनुमानजी को अपने बल-विस्मृति का शाप है, उन्हें उत्साहित करके उनका बल जगाना है। लंका जाने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ हैं, उनसे बचने की योग्यता श्रीहनुमानजी में ही है, किसी और को उतने वरदान नहीं प्राप्त हैं। उन्हें सहिदानी भी प्राप्त है, अतएव उन्हींका वहाँ जाना

योग्य है। इसलिये सबने योग्यतानुसार कुछ-कुछ पराक्रम अधिक कहते हुए, उतना ही कहा कि जितने में कार्य होने में संशय ही रहे, तो सबकी असमर्थता पर श्रीहनुमानजी उत्साहित किये जायँगे, यथा—"जब अंगदादिन की मति गति मंद भई, पवन के पूत को न कूदिबेको पलुगो। (क० कि० १), "बनचर बिकल बिषाद बस, देखि उदधि अवगाहु।" (रामाज्ञा प्रश्न ३।७।४)। 'संसय राखा'—'राखा' शब्द में यह अभिप्राय गर्भित है कि इन लोगों ने जान-मानकर संशय रख छोड़ा था कि जिसपर श्रीहनुमानजी प्रेरित किये जायँ। वही आगे कहते हैं—

(२) 'जामवंत कह तुम्ह सब लायक।'……'—उपर्युक्त रीति से अंगदजी ने भी संशय रक्खा, उसपर अंगदजी की न्यूनता होती, क्योंकि वे बालि के समान बली है, इसलिये जाम्बवान्‌जी सँभालते हैं। वाल्मी० ४।६५।२०-२७ में जाम्बवान्‌जी ने ऐसा ही कहा है कि आपकी शक्ति हम जानते हैं, आप सौ या हजार योजन जा सकते हैं, पर आप स्वामी है, प्रेषक है, प्रेष्य नहीं। आप इस कार्य के मूलभूत हैं अतएव रक्ष्य हैं। इसपर फिर अंगदजी ने कहा कि फिर कार्य कैसे हो? तब जाम्बवान्‌जी ने श्रीहनुमानजी को उत्साहित किया।

(३) 'कहइ रीछपति सुनु……'—'रीछपति' कहकर बोलने का कारण जनाया कि ये बड़े और बूढ़े है, अतएव ये ही श्रीहनुमानजी को प्रेरित कर सकते हैं। 'हनुमाना' और 'बलवाना' शब्द से बाल्यावस्था के बल का स्मरण कराते हैं कि तुमने इन्द्र के वज्र को भी सह लिया है, इसीसे 'हनुमान' नाम पड़ा है। तुमने वज्र के मद को चूर्ण कर दिया। बाल्यावस्था में ऐसे बलवान् थे और अब तो तरुण-अवस्था है। 'का चुप साधि रहेहु'—सभी ने अपना-अपना बल कहा है, पर तुम बलवान् होते हुए भी चुप क्यों हो?, यथा—"तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य हनूमन्किन्न जल्पसि।" (वाल्मी० ४।६६।२)।

(४) 'पवन-तनय बल'……'—यहाँ जाम्बवान्‌जी ने 'पवन-तनय' शब्द से इनके जन्म की कथा का स्मरण कराया, जो कि वाल्मी० ७।३५-३६ में कही गई है। 'बल', यथा—"जयति जय बाल-कपि-केलि-कौतुक-उदित-चंडकर-मंडल-ग्रास-कर्त्ता। राहु-रवि सक्र-पवि-गर्व-खर्वी करन सरन भय-हरन, जय भुवन-भर्त्ता॥" (वि० २५), "जाकी बाल बिनोद समुझि जिय डरत दिवाकर भोर को। जाकी चिबुक चोट चूरन कियो रद मद कुलिस कठोर को॥" (वि० ३१)। पवन के पुत्र हो। अतः, समुद्र के लाँघने में उन्हींके समान बल है। आगे छली और बली राक्षसों से काम पड़ेगा। उसमें बुद्धि, विवेक और विज्ञान से काम लेना होगा वे भी तुममें पूर्ण हैं। बुद्धि से व्यवहार समझोगे, विवेक से उचित-अनुचित समझोगे और विज्ञान से कार्य का अनुभव करोगे।

(५) 'राम-काज लगि तव अवतारा।'—अभी तक अपनी प्रशंसा थी, इससे चुप थे, जब श्रीराम-कार्य के लिये ही इनका अवतार कहा गया, तब बढ़े और गरज उठे। "सुनतहिं भयउ पर्वताकारा।"—श्रीराम-कार्य के लिये अपना जन्म सुनकर हरषे और शरीर बढ़ाया, तो वे पर्वताकार हो गये, यथा—"राम-काज लगि जन्म सुनि, हिय हरषे हनुमान।" (रामाज्ञा ५।१।४), पुनः—'का चुप साधि रहेहु' का उत्तर—'सिंह नाद करि बारहिं बारा।' से देंगे।

जाम्बवान्‌जी ने पाँच बातें कहीं, उनके उत्तर हनुमानजी ने भी वैसे ही दिये।

जाम्बवान्‌जी		हनुमानजी
का चुप साधि रहेहु बलवाना।	(१)	सिंहनाद करि बारहिं बारा।
पवन तनय बल पवन समाना।	(२)	लीलहि नाँघउँ जलनिधि खारा।
बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना।	(३)	सहित सहाय रावनहि मारी।
कवन सो काज कठिन जगमाहीं।…	(४)	आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी।
राम काज लगि तव अवतारा।	(५)	सुनतहि भयउ पर्वताकारा।

कनक-बरन तन तेज बिराजा । मानहुँ अपर गिरिन्ह कर राजा ॥ ७ ॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा । लीलहिं नाघउँ जलनिधि खारा ॥ ८ ॥
सहित सहाय रावनहि मारी । आनउँ इहाँ त्रिकूट उपारी ॥ ६ ॥
जामवंत मैं पूछउँ तोही । उचित सिखवान दीजहु मोही ॥१०॥

अर्थ—(किस पर्वत के आकार के हुए, यह कहते हैं) उनके शरीर का रंग सोने का-सा है, उनके शरीर में तेज विराजमान है, (ऐसे जान पड़ते हैं कि) मानों दूसरे पर्वतों के राजा (सुमेरु) हैं ॥७॥ बार-बार सिंह की नाईं गरज-गरजकर बोले—इस खारे समुद्र को तो मैं लीला (क्रीड़ा, खेल) में ही लाँघ जाऊँगा। (अर्थात् मैं सब समुद्रों को लाँघ सकता हूँ, यह खारा समुद्र तो सबसे छोटा है। अतः, इसका लाँघना तो मेरे लिये क्रीड़ा है।) ॥८॥ सहायकों (सेना-सुभट आदि) के साथ रावण को मारकर, त्रिकूट गिरि को उखाड़ कर यहाँ ले आऊँगा ? ॥६॥ हे जाम्बवान्‌जी ! मैं आपसे पूछता हूँ। अतः, मेरे लिये उचित (कर्त्तव्य की) शिक्षा दीजिये ॥१०॥

विशेष—(१) 'कनक-बरन तन···'—सुमेरु गिरि सोने का है, भारी है और सब पर्वतों का राजा है। वैसे ही श्रीहनुमानजी स्वर्ण-वर्ण, शरीर से भारी और वानरों के राजा हैं, यथा—"वानराणाम-धीशम्।" (सुं० मं०), "कवीश्वर कपीश्वरौ" (बा० मं०), उपर्युक्त 'पर्वताकारा' का रहस्य यहाँ खोला है कि पहाड़ों में राजा सुमेरु की नाईं हो गये, यथा—"कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति-बल बीरा॥" (सुं० दो० १५), "स्वर्न-सैल-संकास कोटि-रवि-तरुन-तेजघन (हनु० बाहुक० २)।

(२) 'सहित सहाय ··'—सम्पाती ने कहा था, 'गिरि त्रिकूट रावन सहज असंका' उसपर कहते हैं कि लंका की कौन कहे, मैं त्रिकूट ही उखाड़ लाऊँगा और रावण को उसके सहायकों के साथ भी मारकर आऊँगा।

(३) 'उचित सिखावन दीजहु मोही।'—भाव यह कि आपकी प्रेरणा से मैंने भी अपना बल कहा। जैसा कि पूर्व औरों ने कहा है, पर मेरे लिये उचित कर्त्तव्य क्या है ? यह आप कहें, क्योंकि जो मैंने रावण-वध आदि कहा था, उसमें श्रीरामजी का अपमान है, यथा—"जौ न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥ तोहि पटकि महि सेन हति, चौपट करि तव गाउँ। तव जुवतिन्ह समेत सठ, जनक सुतहि लेइ जाउँ॥" (लं० दो० ३०), भाव यह कि श्रीरामजी अपनी मर्यादा को अपने ही बाहुबल से सुरक्षित रखना चाहते हैं। यही आगे जाम्बवान्‌जी कहेंगे—'तव निज भुज बल राजिव नयना।····' इत्यादि। उनकी स्त्री को रावण हर ले गया, उन्हें दूसरा कोई लौटा लावे—यह उनके योग्य नहीं। यही बात महा० वन० १५०। ६-२० में कही गई है—भीमसेन ने श्रीहनुमानजी का विशाल रूप देखकर कहा था—"आपसे अकेले भी ससैन्य रावण लड़ने में समर्थ नहीं था।" तब हनुमानजी ने स्वीकार करते हुए कहा है—"भीमसेन न पर्याप्तो ममाऽसौ राक्षसाधमः॥ मया तु निहते तस्मिन्रावणे लोककण्टके। कीर्त्तिर्नश्येद्राघवस्य तत एतदुपेक्षितम्॥" हे भीमसेन ! वह राक्षसाधम मुझसे भी लड़ने में समर्थ नहीं था, यदि मैं उसे मार देता तो रामजी की कीर्ति नष्ट हो जाती, इससे मैंने उपेक्षा कर दी।

यद्यपि श्रीरामजी ने इन्हें कहा है—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।' तथापि ये वीर-रस के आवेश में भूल गये और अधिक कह गये, जो कि सम्भवतः इनसे न हो सकता, यथा—'रावन मरन मनुज कर जाँचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा॥" (बा० दो० ४८)।

यहाँ जाम्बवान्‌जी के वचन उद्दीपन विभाव, प्रसन्नता एवं बल कथन आदि अनुभाव, उग्रता आदि संचारी और राम-कार्य का उत्साह स्थायी भाव है। अतः, वीर-रस है।

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई ॥११॥
तब निज भुज-बल राजिव-नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना ॥१२॥

छन्द—कपि-सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजस सुर-मुनि - नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर - पद - पाथोज-मधुकर दास तुलसी गावई॥

अर्थ—(श्रीजाम्बवान् ने कहा—) हे तात! तुम जाकर इतना ही करो (अभी अधिक पराक्रम का काम नहीं है) कि श्रीसीताजी को देख-आकर समाचार कहो ॥१२॥ तब राजीवलोचन श्रीरामजी अपने बाहु-बल से कौतुक (लीला) करने के लिये वानरी सेना को साथ लेंगे ॥१२॥ वानरी सेना साथ लिये हुए निशाचरों का नाश करके श्रीरामजी श्रीसीताजी को लावेंगे। तीनो लोकों के पवित्र करनेवाले इस सुन्दर यश को सुर, मुनि और श्रीनारदजी आदि बखान करेंगे॥ (और) जिसे सुनते, गाते, कहते और समझते हुए मनुष्य परम पद पाते हैं एवं जिसे रघुबीर-पद-कमलों का भ्रमर तुलसीदास गाता है।

विशेष—(१) 'राजिव-नैना'—यह दीपदेहली है। प्रायः कृपा के प्रसंग में ही 'राजीव-नयन' विशेषण दिया जाता है, यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७), "सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥" (सुं० दो० ३१)। भाव यह है कि भुजबल से राक्षसों को मारेंगे और मुक्त करेंगे, यह उनपर कृपा है और साथ में वानरों की सेना लेंगे, यह वानरों पर कृपा है, यथा—"उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैर भाव मोहि सुमिरत निसिचर॥ देहि परम गति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥" (लं० दो० ४३)। "मैं देखौं खल बल दलहिं, बोले राजिव नयन।" (लं० दो० ६६), इस प्रसंग में कुम्भकर्ण ने पहले भक्ति भाव प्रकट किया था, फिर मद-मांस खिलाने पर लड़ने चला, उसे भी उसके वैर-भाव से ही मुक्ति देने की कृपा करेंगे। "दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥" (लं० दो० ११६)।

सम्पाती ने चन्द्रमा मुनि की कही हुई किष्किन्धाकाण्ड तक की कथा कही थी। चन्द्रमा मुनि ब्रह्माजी के अवतार हैं। ब्रह्माजी के ही अवतार जाम्बवान्‌जी भी है। वे आगे की कथा (सुन्दरकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक की) सुनाते है, यथा—"तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥"—यह सुन्दरकाण्ड है। "तब निज भुज बल···" से "राम सीतहिं आनि है।" तक—लंकाकाण्ड और—"त्रैलोक पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानिहै॥" यह उत्तरकाण्ड है, यथा—"बार-बार नारद मुनि आवहि। चरित पुनीत राम के गावहि॥" (उ० दो० ४१), "राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥" (बा० दो० २४)।

(२) 'जो सुनत गावत कहत समुझत···'—यहाँ सुयश का माहात्म्य कहते हैं। 'सुनत'=श्रोता, 'गावत'=राग से गानेवाले, 'कहत'=वक्ता, व्यास रूप से कहनेवाले और 'समुझत'=अर्थ एवं भाव को समझनेवाले। ये चारो क्रमशः सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति पाते हैं। श्रोता कुछ दूर से सुनते है, इससे सालोक्य पाते हैं। गायक के समीप भगवान् रहते हैं, यथा—"मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।" इससे सामीप्य पाते हैं। वक्ता (व्यास) भगवान् का रूप है अतएव वह सारूप्य पाता है और समझनेवाले सायुज्य के अधिकारी हैं, यथा—"जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।" (अ० दो० १२६)।

इन चारो में से अपनेको श्रीगोस्वामीजी गानेवाला कहते हैं, यथा—'दास तुलसी गावई' और लोग परम पद पाते हैं, श्रीतुलसीदासजी 'रघुबीर-पद-पाथोज-मधुकर' हैं, अर्थात् श्रीराम-पद-प्रीति चाहते हैं। इससे सूचित किया कि इस चरित से परम पद और श्रीराम-पद-प्रीति, दोनों ही मिलते हैं, यथा—"राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा, करउ श्रवन पुट पान॥" (उ० दो० १२८), 'पद पाथोज मधुकर', यथा—"पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना॥" (बा० दो० २१०), भ्रमर मकरन्द पान करता है और फिर गुञ्जार करता है। वैसे ही मैं (तुलसीदास) राम-पद-कमल में अनुराग करता हूँ और चरित गाता हूँ। जाम्बवान्‌जी के मुख से अपना सम्बन्ध कहलाना—'भाविक अलंकार' है।

'सुनत' में श्रवण भक्ति, 'गावत-कहत' में कीर्त्तन भक्ति, 'समुझत' में स्मरण और 'रघुबीर-पद-पाथोज-मधुकर' इसमें पाद सेवन भक्ति कही गई है।

'नर पावई'—यहाँ 'नर' पद नर-नारी एवं मनुष्य मात्र के अर्थ में है। आगे 'सुनहिं जे नर अरु नारि' यहाँ कहा गया है, पद्म पुराण एवं भागवत आदि पुराण भी नर-नारी सभी सुनते हैं। "रघुबंस भूषन चरित यह नर···जो नर उर धरे।" (उ० दो० १२९)—इनमें तो मानस का ही माहात्म्य कथन है, नर में मनुष्यमात्र का अर्थ है। ऐसे बहुत उदाहरण हैं।

'कौतुक लागि···'—निशाचरों ने देवताओं को दुःख दिया था, जब दीन होकर देवता-गण श्रीरामजी की शरण हुए, तब उन्हें वानर-रूप करके जितावेंगे और अपने भक्ष्य-रूप वानरों के द्वारा पराजित होने से राक्षसगण अभिमान-रहित होकर मुक्त होंगे, यथा—"सतरंज को-सो साज काठ को सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हति। तुलसी प्रभु के हाथ हारिबो जीतिबो नाथ बहु बेष बहु मुख सारदा कहति॥" (वि० २४६)। आप वानरों और निशाचरों के संग्राम का कौतुक करेंगे।

दोहा—भव-भेषज रघुनाथ-जस, सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का यश भव-रोग की ओषधि है, इसे जो स्त्री-पुरुष सुनते हैं, उनके सारे मनोरथ त्रिशिरा के शत्रु श्रीरामजी सिद्ध करते हैं॥

विशेष—(१) 'सकल मनोरथ सिद्धि' में इह लोक सुख और 'भव-भेषज' से परलोक-सुख की प्राप्ति सूचित की, यथा—"जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अन्त काल रघुपति पुर जाहीं॥" (उ० दो० १४), 'सिद्धि करहि त्रिसिरारि'—नारदादि की वाणी में स्वतः प्रभाव है, फिर भी फल सिद्धि श्रीरामजी से ही होती है, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहि दीन्हि असीस।" (बा० दो० ७०)—इसका विशेष देखिये, परन्तु, मेरी वाणी में हरि और शिवजी की कृपा से प्रभाव है, यथा—"तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे।' (बा० दो० ३०) "भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती।" (बा० दो० १४), इसकी भी फल-सिद्धि त्रिशिरारि से होगी।

(२) 'त्रिसिरारि'—पाठ की जगह 'त्रिपुरारि' पाठान्तर भी है। त्रिपुरारि पाठ माननेवालों का कहना है कि काण्ड के आदि में काशी-पुरी और शिवजी की वन्दना की गई थी, तदनुसार यहाँ उपसंहार में भी शिवजी का ही फल-दातृत्व संगत है, क्योंकि यह चौथा काण्ड चौथी पुरी (काशी) के समान है। शिवजी का फल-दातृत्व भी युक्त है, यथा—"सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब, भाषा भनिति प्रभाउ॥" (बा० दो० १५)।

पर, और काण्डों की फल-श्रुति देखने से 'त्रिसिरारि' पाठ के अनुसार श्रीरामजी का ही फल-दातृत्व युक्त है, यथा—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि राम प्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ॥"—बालकाण्ड, "समर-बिजय रघुबीर के, चरित जे सुनहि सुजान। बिजय बिवेक बिभूति नित, तिन्हहि देहि भगवान ॥"—लंकाकाण्ड, "सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरे ॥"— उत्तरकाण्ड, वैसे ही यहाँ भी—"तिन्ह कर सकल मनोरथ, सिद्धि करहिं त्रिसिरारि।" कहा जाना ठीक है।

सोरठा—नीलोत्पल तनु स्याम, काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिय तासु गुन-ग्राम, जासु नाम अघ-खग-बधिक ॥३०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकल-कलिकलुष-विध्वंसने विशुद्ध-सन्तोष-सम्पादनो नाम
❀ चतुर्थः सोपानः समाप्तः ❀

अर्थ—जिनका नील-कमल के समान श्याम शरीर है, जिसमें करोड़ों कामदेवों से भी अधिक शोभा है। जिनका नाम पाप रूपी पक्षियों के लिये (बध करनेवाला) बहेलिया-रूप है, उनके गुण- (चरित) समूह सुनिये ॥३०॥

कलियुग के समस्त पापों का नाश करनेवाला और विशुद्ध-सन्तोष का प्राप्त करानेवाला श्रीरामचरित-मानस का यह चौथा सोपान समाप्त हुआ।

विशेष—(१) 'यहाँ 'तनु स्याम' से रूप, 'गुन-ग्राम' से कथा और 'जासु नाम' से नाम कहा गया। इनके सेवन की विधि—"श्रुति राम कथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थलु है।" (क० उ० ३७), अर्थात् कानों से गुण-ग्राम सुनना, मुख से नाम-कीर्तन एवं जप करना और हृदय में रूप का ध्यान करना चाहिये।

(२) 'नीलोत्पल तनु स्याम, काम कोटि सोभा अधिक।' से रूप का नियम किया कि जिस रूप से मनु-महाराज के सामने प्रकट हुए, उसीका ध्यान करो, यथा—"नील सरोरुह नील मनि, नील नीर-धर स्याम। लाजहिं तनु-सोभा निरखि, कोटि-कोटि सतकाम ॥" (बा० दो० १४६)। यह मनु के सामने प्रकट होने पर कहा गया है। 'सुनिय तासु गुन ग्राम' से लीला का नियम किया कि उसी (मनु-प्रार्थित मूर्त्ति) का चरित्र मानसरामायण सुनो, यथा—लीला कीन्ह जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहउँ मति अनुसारा ॥" (बा० दो० १४०), और 'जासु नाम अघ खग बधिक' से नाम का नियम किया कि रामनाम ही जपो, यथा—"राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ-खग-गन-बधिका।" (अर० दो० ४१)—देखिये।

अलंकार—'परंपरित रूपक', क्योंकि नाम के बधिक सिद्धि के लिये प्रथम ही (अन्तर्गत) रूपक 'अघ-खग' कहा गया है।

इस काण्ड के उपक्रम में नाम, रूप और लीला तीनों कहे गये थे, वैसे ही यहाँ उपसंहार में भी तीनों का माहात्म्य कहा गया।

फलश्रुति के अनुसार ही सोपान का नाम होता है, जैसे कि बालकाण्ड में 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल' का वर्णन है, वे सब कर्म हैं, कर्म का फल सुख है। अतः, वहाँ सुख प्राप्ति कही गई है—"सर्बदा सुख पावहीं।", इसीसे प्रथम सोपान सुखसम्पादन कहा गया है। अयोध्याकाण्ड की फलश्रुति में 'प्रेम' और 'वैराग्य' की प्राप्ति कही गई है, यथा—"सीयराम पद प्रेम, अवसि होइ भव रस बिरति।", इसीसे

द्वितीय सोपान का नाम 'प्रेम-वैराग्य-सम्पादन' है। अरण्यकाण्ड को फलश्रुति में 'विमल वैराग्य' कहा गया है, यथा—"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।", इसीसे उसे विमल-वैराग्य-सम्पादन' कहा है। इस काण्ड में मनोरथ-सिद्धि कही गई है, यथा—"तिन्हकर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।" मनोरथ-सिद्धि से सन्तोष होता है, इसलिये इसे 'विशुद्ध सन्तोष सम्पादन' कहा है। सुन्दरकाण्ड में भव-सिन्धु तरना कहा है, यथा—"सादर सुनहिं ते तरहिं भव, सिंधु बिना जलजान।"—यह ज्ञान का कार्य है, इसीसे उसे 'ज्ञान-सम्पादन' कहा है। लंकाकाण्ड में 'कामादि-हर बिज्ञान-कर' कहा है, इसीसे 'विज्ञान-सम्पादन' कहा है। उत्तरकाण्ड की फलश्रुति में 'अविरल हरि-भक्ति' कही गई है, यथा—"तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।", इसीसे उस सातवें सोपान का नाम 'अविरल-हरि-भक्ति-सम्पादन' है।

कर्म, प्रेम-वैराग्य, विभव-वैराग्य, सन्तोष, ज्ञान, विज्ञान और अविरल हरि-भक्ति की प्राप्ति भी इसी क्रम से होती है, कहा भी है—"येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना।" (उ० दो० १२८), अर्थात् साधक को पहले निष्काम कर्म से प्रेम वैराग्य, फिर विमल वैराग्य, तब सन्तोष, फिर ज्ञान, तब विज्ञान और पीछे अविरल हरि-भक्ति मिलती है।

प्रश्न—यह काण्ड ३० ही दोहों का छोटा क्यों बनाया गया ?

उत्तर—यह काण्ड श्रीरामजी का हृदय है, यथा—"बालकाण्ड प्रभु पाय अयोध्या कटि मन मोहै। उदर बन्यो आरण्य हृदय किष्किन्धा सोहै॥ सुंदर ग्रीव मुखारविंद लंका कहि गायो। जेहि महँ रावन आदि निसाचर सर्व समायो॥ मस्तक उत्तर-कांड गनु, यहि विधि तुलसीदास भनु। आदि अन्त लौं देखिये, श्रीमन्मानस राम-तनु॥" यह छन्द प्रसिद्ध है। शरीर के मध्य में हृदय-स्थल छोटा होता है, वैसे ही यह काण्ड भी छोटा है। हृदय में बहुत कुछ अभिप्राय रहते हैं, वैसे ही इस काण्ड में बहुत आशय भरे हुए हैं, तथा मध्य का यह काण्ड अमूल्य रत्न रूप है। जैसे रत्न डब्बे मे रहता है, वैसे ये तीनों काण्ड प्रथम नीचे के डब्बे और आगे के तीनो काण्ड ऊपर के डब्बे रूप हैं।

इस काण्ड में "मारुति-मिलन-प्रसंग" से लेकर "सुनि सब कथा समीर कुमारा।" (उ० दो० ६६) तक के १४ प्रसंग आये है।

श्रीरामचरितमानस

(सिद्धान्त-भाष्य)

पंचम सोपान (सुन्दरकाण्ड)

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं गीर्वाणशान्तिप्रदं
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं
वन्देऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिम् ॥१॥

अन्वय—शान्तम्, शाश्वतम्, अप्रमेयम्, अनघम्, गीर्वाणशान्तिप्रदम्, अनिशं ब्रह्माशम्भुफणीन्द्र-सेव्यम्, वेदान्तवेद्यम्, विभुम्, जगदीश्वरम्, सुरगुरुम्, मायामनुष्यं हरिम्, करुणाकरम्, भूपालचूडा-मणिम्, रामाख्यं रघुवरम् अहम् वन्दे।

अर्थ—शान्त, नित्य, परिमाण-रहित, निष्पाप, देवताओं को शान्ति देनेवाले, ब्रह्माजी, महादेवजी और शेषजी से निरन्तर सेवित, वेदान्त से जानने योग्य, व्यापक एवं शक्तिमान्, जगत् के ईश्वर, देवताओं में श्रेष्ठ, माया अर्थात् अपने ज्ञान एवं इच्छा से मनुष्य-रूप-धारी, हरि, करुणा की खान, राजाओं में शिरोमणि, रघुकुल में श्रेष्ठ, जिनका नाम राम है, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

विशेष—(१) 'शान्तं', यथा—"राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू ॥" (अ० दो० १४८), तथा—"स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते। उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रति-पद्यते ॥" (वाल्मी० २।१।१०), अर्थात् वे (श्रीरामजी) सदा प्रशान्तचित्त रहते हैं, कोमल वचन बोलते हैं, कठोर बोलने पर भी वे कठोर वचन नहीं बोलते।

'नित्य प्रशान्तात्मा' यह विशेषण ईश्वर ही में घटित होता है। अतः, यह विशेषण ईश्वरता-सूचक है, यथा—"बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरे सरीर सांत रस जैसे ॥" (बा० दो० १०६)। 'अनिशं' यथा—"जो तिहुँ काल एक-रस अहई।" (बा० दो० ३४०)—इसका विशेष देखिये। 'अप्रमेयं', यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा।" (बा० दो० ११७), 'अनघं', यथा—"अनघ अनेक एक करुनामय।" (उ० दो० ३३), "करम सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा।" (बा० दो० १३६)।

शंका—असुरों को मारने में पाप होता है, फिर अनघ क्यों कहा ?

समाधान—असुरों को मारने में पाप नहीं लगता, क्योंकि वे अपने पाप के द्वारा मारे जाते हैं, यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी ॥" (लं० दो० १०८), 'गीर्वाण-शान्तिप्रदम्', यथा—"असुर मारि थापहिं सुरन्ह" (बा० दो० १२१), "जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो।

नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो ॥" (लं० दो० १०८) । ब्रह्मा-शम्भु और शेषजी से निरन्तर सेवित, यथा—"सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान । नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान ॥" (बा० दो० १२), ब्रह्मा से ब्रह्मलोक (ऊपर), शम्भु से मर्त्यलोक (मध्य) और शेष से पाताललोक (नीचे), इस तरह तीनो लोकों से सेव्य जनाया । माधुर्य-रूप की भी सेवा ये लोग रूपान्तर से करते हैं—ब्रह्माजी जाम्बवान्-रूप से, शिवजी हनुमान-रूप से और शेषजी लक्ष्मण-रूप से सेवा में हैं । ये निरन्तर सेवा करते हैं, यथा—"हम सब सेवक अति बड़भागी । संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी ॥" (कि० दो० २५), "मारुत सुत तव मारुत करई ।'' " (उ० दो० ४९), एवं "चाँपत चरन लखन उर लाये । सभय सप्रेम परम सचु-पाये ॥" (बा० दो० २२५)—इनमें क्रमशः जाम्बवान्, हनुमानजी एवं लक्ष्मणजी की वचन, कर्म एवं मन की सेवाएँ हैं । 'वेदान्त-वेद्यं', यथा—"ज्ञानगम्य जय रघुराई ।" (बा० दो० २१०), 'विभुं', यथा—"प्रभु समरथ कोसलपुर राजा ।" (अर० दो० १६), 'रामाख्यम्', यथा—"वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥" (बा० मं०), 'जगदीश्वरं', यथा—"ते नर रूप चराचर ईसा ।" (अर० दो० २४), 'सुर-गुरुं', यथा—"जगद्गुरुं च शाश्वतम्" (अर० दो० ३), गुरु का अर्थ श्रेष्ठ भी होता है, यथा—"जय जय सुर नायक" (बा० दो० १८५), 'माया-मनुष्यं', यथा—"सम्भवाम्यात्ममायया ।" (गीता ४।६), तथा—"माया वयुनं ज्ञानम्" (वे० नि० ध० व० २२), तथा च अभियुक्त प्रयोगः—"मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम् ।" (रामानुजभाष्य-गीता ४।६) । अतः, वे अपने ज्ञान से स्वेच्छापूर्वक अवतार लेते हैं, यथा—"निज इच्छा प्रभु अवतरई" (कि० दो० २६), "मम इच्छा कह दीन दयाला ।" (बा० दो० १३७) बा० दो० १५१ चौ० १ भी देखिये । "माया-मानुष रूपिणौ रघुवरौ" (कि० मं०), 'माया दम्भे कृपायाञ्च' तदनुसार—"भये प्रगट कृपाला ।" (बा० दो० १६१), माया के अर्थ ज्ञान, कृपा, इच्छा आदि हैं, तदनु-सार उदाहरण दिये गये हैं । 'करुणाकरं', यथा—"करुनाकर राम नमामि मुदा ।" (लं० दो० १०९), 'भूपाल-चूड़ामणिं', यथा—"भूप मौलि मनि मंडन धरनी ।" (उ० दो० ३४), 'हरि', यथा—"हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः···" इत्यादि से 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, पर यहाँ 'रघुवर' शब्द के साहचर्य से 'हरि' श्रीरामजी का ही भक्त-क्लेश-हरण करने का विशेषण है ।

(२) 'भूपाल-चूडामणिं' कहकर निम्न श्लोक में माँगने का यहीं से प्रबन्ध बाँधा, क्योंकि राजा से ही याचना की जाती है, यथा—"नृपनायक दे वरदानमिदं" (लं० दो० १०६) ।

यह श्लोक 'शार्दूलविक्रीड़ित' वृत्त का है, बा० मं० ६ देखिये ।

श्रीरामचरितमानस का यह पंचम सोपान सुन्दरकाण्ड भी कहा जाता है । इसका कारण यह है कि त्रिकूटपर्वत के तीन शिखर हैं—एक 'नील' है, इसीपर लंका बसी है, दूसरा 'सुवेल' है, वह युद्ध मैदान है और तीसरे शिखर का नाम 'सुंदर' है, इसपर अशोक-वाटिका है, वहाँ पर इस काण्ड का चरित हुआ, इसीसे इसका नाम 'सुन्दर' पड़ा । ऐसे ही अरण्य, किष्किन्धा और लंका भी स्थान-सम्बन्धी नाम हैं और बाल, अयोध्या और उत्तर ये चरित-सम्बन्धी नाम हैं ।

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च ॥२॥

अन्वय—हे रघुपते ! अस्मदीये हृदये अन्या स्पृहा न, सत्यं वदामि, भवान् च अखिलान्तरात्मा

(अस्ति)। हे रघुपुङ्गव ! मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ, (मम) मानसं च कामादिदोषरहितं कुरु ॥

अर्थ—हे श्रीरघुनाथजी ! मेरे हृदय में और कोई दूसरी इच्छा नहीं है। यह मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा है। (अतः, अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय की जानते ही हैं)। इसलिये हे रघुकुलश्रेष्ठ मुझे आप अपनी पूर्ण भक्ति दे और मेरे हृदय को काम आदि (छवों) विकारों से रहित करें ॥२॥

विशेष—(१) 'नान्या स्पृहा', यथा—"अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहउँ निर्वान। जन्म जन्म रति राम-पद,....." (अ० दो० २०४), "चहउँ न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई ॥" (वि० १०३), 'सत्यं वदामि', यथा—"सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।" (बा० दो० ८), 'अखिलान्तरात्मा', यथा—"अंतरजामी प्रभु सब जाना।" (उ० दो० ३५), "जगदात्मा प्रानपति रामा।" (लं० दो० ३३)। 'रघुपुङ्गव', यथा—"रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा।" (अ० दो० ५१), 'निर्भरां भक्तिं', यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।" (अर० दो० ९), "अबिरल भगति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥" (उ० दो० ८४), 'कामादिदोषरहितम्', यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके।" (अर० दो० १५)। कामादि = षड्विकार।

(२) पहले 'नान्या स्पृहा' कहकर 'सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा' से उसीकी पुष्टि की। इस तरह से अपनेको भक्ति का अधिकारी सिद्ध किया, क्योंकि जो भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, वही भक्ति का पूर्ण अधिकारी है, यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहि कछु केवट लेइ ॥ बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥" (अ० दो० १०२), अधिकारी होने पर कहा—'मे निर्भरां भक्तिं प्रयच्छ'—भक्ति ही माँगी, क्योंकि यही परम लाभ है, यथा—"लाभ कि कछु हरि भगति समाना। जेहि गावहि श्रुति संत पुराना ॥" (उ० दो० १११), "लाभ कि रघुपति भगति अकुठा।" (लं० दो० २५)। 'रघुपुङ्गव' कहकर भक्ति माँगने का भाव यह कि रघु महाराज महान् दानी थे। आप तो उस कुल में श्रेष्ठ हैं। अतः, ऐसी दुर्लभ वस्तु अपनी पूर्ण भक्ति दीजिये।

(३) 'कामादिदोषरहितं..'—क्योंकि काम आदि रहते हृदय में श्रीरामजी नहीं बसते, यथा—"काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मै ताके ॥" (अर० दो० १५), यहाँ 'भक्तिं प्रयच्छ...'—इससे योग और 'कामादिदोषरहितं..' इससे क्षेम की याचना की गई है, क्योंकि 'नान्या स्पृहा...' ऐसे अधिकारी के योगक्षेम-वहन की भगवान् की प्रतिज्ञा है—गीता ९-२२ देखिये।

यह श्लोक 'वसन्ततिलका' वृत्त का है—बा० मं० ७ देखिये।

अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि ॥३॥

अर्थ—अतुल बल के स्थान, सुवर्ण के पर्वत सुमेरुगिरि के समान कान्ति युक्त शरीरवाले, दानव-रूपी वन (को जलाने) के लिये अग्नि-रूप, ज्ञानियों में शिरोमणि, समस्त गुणों की खान, वानरों के अधीश्वर और श्रीरघुनाथजी के श्रेष्ठ दूत, वायु के पुत्र श्रीहनुमानजी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥

विशेष—(१) 'अतुलितबलधामं', यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९),

"तुम बल-बुद्धि-निधान ।" (दो० २), 'स्वर्णशैलाभदेहं', यथा—"कनक भूधराकार सरीरा ।" (दो० १५), 'दनुजवनकृशानुं', यथा—"प्रनवउँ पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञान-घन ।" (बा० दो० १७), "उलटि पलटि लंका कपि जारी" (दो० २५), अग्नि सबको जला सकता है, पर उसका कोई कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही श्रीहनुमानजी लंका जलाकर चले गये, पर इनका कोई कुछ नहीं कर सका, यथा—"जवते जारि गयउ कपि लंका ।" (सुं० दो० ३५), "गहन उज्जारि पुर जारि सुत मारि तव कुसल गो कीस बरबेर जाको ॥" (क० लं० २१) । 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्', यथा—"वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ ।" (बा० मं० ४), 'सकलगुणनिधानं', यथा—"अजर अमर गुन निधि सुत होहू ।' (दो० १६), "सुनु सुत सदगुन सकल तव, हृदय बसहु हनुमंत ।" (लं० दो० १०६), 'वानराणामधीशं', यथा—"नव तुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ ।" (दो० ५), यद्यपि वानरों के राजा श्रीसुग्रीवजी हैं, तथापि राजा का धर्म प्रजा की रक्षा करना है, वह कार्य इन्होंने भी किया है, यथा—"राखे सकल कपिन्ह के प्राना ।" (दो० २८), तथा—"त्वदगतानि च सर्वेषां जीवनानि वनौकसाम् ।" (वाल्मी० ४।६७।३५), अर्थात् जाम्बवान् ने हनुमानजी से कहा है कि सब वानरों का जीवन तुम्हारे अधीन है । इससे ये भी राजा कहे गये । 'रघुपतिवरदूतं', यथा"—राम दूत मैं मातु जानकी ।" (दो० १२), वर दूत कहने का भाव यह कि इन्होंने स्वामी की आज्ञा से अधिक कार्य किया, यथा—"राम कृपा भा काज बिसेषी ।" (दो० २८), 'वातजातं'—यह शीघ्र चलने और अजेय होने से कहा गया, यथा—"कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु ।" (कि० दो० २२), "चलै बहुत सो···पठवा खबरि लेन हम सोई ॥" (लं० दो०२२), "जोति न जाइ प्रभंजन जाया ।" (दो० १८) ।

(२) 'अतुलितबलधामं' कहकर 'स्वर्णशैलाभदेहं' कहने का भाव यह कि जैसा अतुल बल है, वैसा ही पर्वताकार अतुल शरीर भी है । पुनः आगे 'दनुजवनकृशानुं' कहा, क्योंकि सोने के समान ही अग्नि का भी रंग होता है । अग्नि वन को जलाता है, वैसे ही ये राक्षस-समूह रूपी वन को जलानेवाले हैं । 'दनुजवनकृशानुं', कहने से वैर-भाव पाया गया । वैर-बुद्धि अज्ञान से होती है । इसलिये 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' कहा है, इसपर बा० दो० १७ भी देखिये । पुनः 'सकलगुणनिधानं' कहकर सूचित किया कि ये केवल ज्ञानी ही नहीं, किन्तु सब गुणों की खान हैं । वानरों में प्रायः श्रेष्ठ-गुण नहीं होते, पर आपमें सब गुण हैं । इससे भी 'वानराणामधीशं' कहा गया है । 'नामामि' से अपने मनोरथ की सिद्धि चाहते हैं, क्योंकि इस काण्ड के प्रधान देवता ये ही हैं ।

यह श्लोक 'मञ्जुमालिनी' छन्द में है । इसके चारो चरण १५-१५ वर्णों के होते हैं, ८ और ७ अक्षरों पर यति होती है । इसका स्वरूप—दो नगण, एक मगण और दो यगण का प्रत्येक चरण होता है । यह छन्द मानस-भर में एक ही है । मंजु का अर्थ सुन्दर है । अतः, सुन्दरकाण्ड में इसका दिया जाना युक्त है ।

इस काण्ड के आदि में शिवजी का मंगलाचरण नहीं किया गया, उनकी जगह पर श्रीहनुमानजी की वन्दना की है, क्योंकि दोनों एक ही हैं, यथा—"रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान ।", "हर ते भे हनुमान ॥" (दोहावली १४१-१४२) ।

अलंकार—'मुद्रा', क्योंकि इस श्लोक में सुन्दरकाण्ड-भर के चरित गर्भित हैं । 'अतुलितबलधामं' से सागर लाँघा गया । 'स्वर्णशैलाभदेहं' से श्रीसीताजी को भरोसा दिया गया । 'दनुजवनकृशानुं' से अशोक-वाटिका का युद्ध एवं नगर-दहन आदि असुरों का संहार आ गया । 'ज्ञानिनामग्रगण्यं' से रावण को समझाना आ गया । 'सकलगुणनिधानं' से श्रीसीताजी के आशीर्वाद द्वारा 'अजर अमर गुननिधि' होने का प्रसंग आ गया । 'वानराणामधीशं' से 'राखे सकल कपिन्ह के प्राना' आदि के भाव आ गये ।

'रघुपतिवरदूतं' से वर दूत का कार्य कर श्रीरामजी को सन्तुष्ट करने के भाव आ गये। अन्त में 'वात-जातं' पद से 'बुधि बिवेक बिज्ञान-निधाना' के भाव एवं अति शीघ्र चल कर कार्य सम्पन्न करना भी आ गया है।

'लाँघत भयउ पयोधि अपारा'-प्रकरण

जामवंत के वचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय अति भाये ॥१॥
तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद-मूल-फल खाई ॥२॥
जब लगि आवउँ सीतहिं देखी। होइहि काज मोहि हरष बिसेखी ॥३॥

अर्थ—जाम्बवान्‌जी के सुहावने वचन सुनने पर श्रीहनुमानजी के हृदय को (वे वचन) बहुत अच्छे लगे ॥१॥ (श्रीहनुमानजी ने सबसे कहा—) हे भाई! तुमलोग दुःख सहकर और कन्द-मूल-फल खाकर तब तक मुझे परखना (मेरी प्रतीक्षा करना) ॥२॥ जबतक मैं श्रीसीताजी को देखकर आ जाऊँ, कार्य होगा (क्योंकि) मुझे विशेष हर्ष हो रहा है ॥३॥

विशेष—(१) और काण्डों के आदि में सोरठा या दोहा देकर प्रारम्भ किया गया है, पर यहाँ चौपाई से ही प्रारम्भ होता है। इसका कारण यह है कि दोहा या सोरठा बीच में विश्राम के लिये दिया जाता है। इस काण्ड के प्रधान चरित-नायक श्रीहनुमानजी ने श्रीराम-कार्य किये बिना विश्राम करना स्वीकार नहीं किया, यथा—"राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ बिश्राम।" (दो० १), इससे श्रीगोस्वामीजी ने भी अपने लेख में विश्राम नहीं दिया। वा, इसका कोई नियम नहीं है, कहीं सोरठे से और कहीं दोहे से भाषा-काव्य का प्रारम्भ किया है, वैसे ही यहाँ चौपाई से ही प्रारम्भ किया।

(२) 'जामवंत के वचन सुहाये। ···'—पूर्व का किष्किन्धा-काण्ड जाम्बवान्‌जी के वचन पर समाप्त हुआ था, यहाँ—'जामवंत के वचन सुहाये।' कहकर उस काण्ड से इस काण्ड का सम्बन्ध मिलाया। वचनों को 'सुहाये' कहा है, क्योंकि उनमें श्रीरामचरित है। प्रपंच की बातें असुहाई होती हैं।

जाम्बवान्‌जी के वचन दो प्रकार के हैं—एक में श्रीहनुमान्‌जी के गुण हैं और दूसरे में सिखावन, उनमें पहले 'भाये' और दूसरे 'अति भाये'। पहले—"कहइ रीछपति सुनु हनुमाना।···" से "सुननहि भयो पर्वताकारा॥" तक के, वचन 'भाये' और दूसरे—"एतना करहु तात तुम्ह जाई।···" से "परम पद नर पावई॥" तक के 'अति भाये'। पुनः सब वानरों को 'भाये' और श्रीहनुमान्‌जी को 'अति भाये', क्योंकि ये श्रीरामचरित-श्रवण के रसिक हैं, यथा—"जयति रामायण श्रवण संजात-रोमांच-लोचन-सजल-सिथिल बानी।" (वि० २९)।

(३) 'तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।···'—वानर सब घबराये हुए हैं, इससे श्रीहनुमान्‌जी ने विचारा कि कहीं ऐसा न हो कि हम उधर खबर लेने जायँ और ये लोग जहाँ-तहाँ चल दें, तो बुलाने से भी नहीं आवेंगे, सब यही समझेंगे कि अवधि बिताने के अभियोग में मरवाने के लिये ही बुलाते हैं। तब फिर हम कहाँ-कहाँ ढूँढ़ेंगे, इसलिये आश्वासन करते हुए 'भाई' सम्बोधन के साथ कहते हैं, यथा—"जौ अनीति कछु भाषउँ भाई।" (उ० दो० ४२), "येहि तन कर फल बिषय न भाई।" (उ० दो० ४३), इत्यादि। वानर सब एक-जाति हैं, इससे भी भाई कहना अधिक संगत है।

'सहि दुख कंद मूल फल खाई।'—'सहि दुख' का भाव यह कि कार्य की आशा में प्रतीक्षा करते हुए हमारे लौटने तक यहाँ रहने में दुःख ही रहेगा! क्योंकि लौट आने पर सबका सुखी होना कहा गया है, यथा—"मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी।" (दो० २७)। आगे 'जब

लगि आवउँ ···' से स्पष्ट किया है कि वह दुःख तभी तक है जबतक मैं लौटकर नहीं आता। 'कंद-मूल-फल खाई' का भाव यह कि अभी तक अनशन-व्रत किया था, यथा—"अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥" (कि० दो० २५), वह व्रत छुड़ाते हैं कि कन्द-मूल-फल खाते हुए रहो। फिर आगे धैर्य के लिये यह भी कहते हैं—"होइहि काज मोहि हरष बिसेखी।"

(४) 'जब लगि आवउँ'···'—बालि ने सुग्रीव को निश्चित अवधि दी थी—"परखेसु मोहि एक पखवारा।" (कि० दो० ५), वैसी अवधि यहाँ नहीं देते, क्योंकि निश्चित अवधि कदाचित् बीत जाती, तो ये लोग निराश हो जाते। 'सीतहिं देखी'—अभी तक सुधि नहीं मिली थी, तब तक 'सुधि' पद देते आये, यथा—"इहाँ न सुधि सीता कै पाई।" (कि० दो० २५), "हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना।" (कि० दो० २५), इत्यादि। अब सम्पाती से सुधि मिल गई, इससे अब जाम्बवान् ने कहा है—"सीतहि देखि कहहु सुधि आई।" तबसे अब देखने को कहते हैं, यथा—"जब लगि आवउँ सीतहिं देखी।", तथा—"देखा चहउँ जानकी माता।" (दो० ७), इत्यादि। सन्देह-निवारण के लिये कहते हैं—

'होइहि काज मोहि हरष बिसेखी।' यथा—"बुद्ध्या चाहं प्रपश्यामि मनश्चेष्टा च मे तथा। अहं द्रक्ष्यामि वैदेहीं प्रमोदध्वं प्लवङ्गमाः ॥" (वाल्मी० ४।६७।२६), अर्थात् हनुमान्‌जी ने कहा है कि मैं बुद्धि से देख रहा हूँ और वैसा ही मेरे मन में उत्साह है कि मैं श्रीजानकीजी को देखूँगा। वानरो! प्रसन्न होओ। हर्ष होना कार्य-सिद्धि का सूचक है, यथा—"ऊषा प्रशस्यते गर्गः शकुनं च बृहस्पतिः। अङ्गिरा मन उत्साहो विप्रवाक्यं जनार्दनः ॥" अर्थात् ज्योतिष में अंगिराजी का मत है कि जिस समय मन में उत्साह (हर्ष) हो, उसी समय चल दे, कार्य सिद्ध होगा। यहाँ विशेष हर्ष कहा गया है, इससे विशेष कार्य होगा, यथा—"राम कृपा भा काज बिसेषी।" (दो० २८)। पुनः वाल्मी० ४।६७।३४ में जाम्बवान्‌जी ने कहा है, यथा—"स्थास्यामश्चैकपादेन यावदागमनं तव।", अर्थात् तुम्हारे आने तक हम सब एक पैर से खड़े रहेंगे। उसपर उनके धैर्य के लिये भी कार्य होना कहा है।

अस कहि नाइ सबन्हि कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा ॥४॥
सिंधु-तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर ॥५॥
बार-बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन-तनय बल भारी ॥६॥

शब्दार्थ—सँभारी = सँभालकर, स्मरण कर। तरकना = उछलना, कूदना।

अर्थ—श्रीहनुमानजी ऐसा कह सबको सिर नवा हर्षित होकर और श्रीरघुनाथजी को हृदय में धारण करके चले ॥४॥ समुद्र के किनारे पर एक सुन्दर पहाड़ था, श्रीहनुमानजी उसके ऊपर क्रीड़ा में ही कूदकर चढ़ गये ॥५॥ रघुवीर श्रीरामजी का बार-बार स्मरण करके अत्यन्त बल-पूर्वक पवन के पुत्र श्रीहनुमानजी कूदे ॥६॥

विशेष—(१) 'अस कहि नाइ ···'—इनकी मन, कर्म, वचन से श्रीराम-कार्य में तत्परता दिखाई गई। 'अस कहि'—वचन, 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—कर्म और 'चले हरषि हिय ···' यह मन है। ऐसा ही करने को श्रीसुग्रीवजी ने कहा है, यथा—"मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सँवारेहु ॥" (कि० दो० २२), 'नाइ सबन्हि कहँ माथा'—भारी कार्य के लिये चलने के समय ऐसी ही रीति है, यथा—"अस कहि चलेउ सबहि सिर नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई ॥" (बा० दो० ८३), तथा—"बंदि चरन उर धरि प्रभुताई। अंगद चले सबहिं सिर नाई ॥" (ल० दो० १७), सबको प्रणाम करना धर्म है, यथा—"सकल द्विजन्ह मिलि नायउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुल नाथा ॥" (उ० दो० ४)। 'सबन्हि' पद में वाल्मी० ५।१।८-९ में कहा हुआ सूर्य, इन्द्र, पवन और ब्रह्मा आदि का सिर नवाना भी आ गया।

इस यात्रा में श्रीहनुमानजी का हर्ष तीन बार कहा गया—(क) 'होइहि काज मोहि हरष बिसेषी ।' (ख) 'चलेउ हरषि हिय धरि···' (ग) "हरषि चलेउ हनुमान ।" (दो० २), इससे विशेषरूप से कार्य होगा, यथा—"हरषि राम तब कीन्ह पयाना । सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥" (दो० ३४), 'चलेउ'—क्योंकि अभी महेन्द्र गिरि कुछ दूर है, जिसपर से चढ़कर कूदना है ।

'हिय धरि रघुनाथा'—पहले भी कहा गया है—"चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना ।" (कि० दो० २२), किन्तु अब शत्रु की पुरी को जाना है, इसलिये विशेष सहायता के लिये फिर से हृदय में धारण किया । हृदय में धरना स्मरण करना है । वा, पहले धारण किया था, वह शोकाकुल होने पर भूल गये, इसलिये फिर से हृदय में धारण करना कहा है । सम्पाती ने ऐसा ही कहा भी है, यथा—"राम हृदय धरि करहु उपाई ।" (कि० दो० २८) ।

(२) 'सिंधु-तीर एक सुंदर भूधर'—वाल्मीकिजी ने इस पर्वत की बहुत सुन्दरता कही है और इसका महेन्द्र नाम भी कहा है । उसीको 'सुन्दर' शब्द से कहा है । (इस सुन्दर पर्वत से इस काण्ड का कार्यारम्भ हुआ, इससे भी इसका 'सुन्दरकाण्ड' नाम पड़ा ।) 'सिंधु-तीर' के पर्वत पर चढ़े, क्योंकि उसीपर से कूदना है । 'कौतुक'—अभी बल से नहीं कूदे, बल-पूर्वक कूदना आगे कहा जायगा, यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥" यहाँ से कूदकर चढ़ना कहा है, क्योंकि अब पहाड़ के पास आ गये । 'चढ़े' क्योंकि कूदना ऊँचे से बनता है । 'एक' अर्थात् प्रधान, कूदने के योग्य तीर पर यह एक ही था ।

(३) 'बार-बार रघुबीर सँभारी ।'—पहले कहा गया—"चले हरषि हिय धरि रघुनाथा ।" अब अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार स्मरण करते हैं । इससे प्रभु भी बार-बार सँभाल रक्खेंगे, यथा—"तुलसी की बलि, बार-बारही सँभार कीबी···" (क० उ० ८०), यह आपकी रीति है, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४।११), 'रघुबीर'—वीर-रूप का स्मरण किया, क्योंकि यहाँ समुद्र लंघन में एवं आगे बाधाओं से रक्षार्थ वीरता का प्रयोजन है, यथा—"संभारि श्रीरघुबीर धीर प्रचारि कपि रावन हन्यो ।" (लं० दो० ९४), अर्थात् इस ध्यान से विजय प्राप्त होती है । यद्यपि इनके हृदय में श्रीरामजी सदा ही बसते हैं, यथा—"जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचाप-धर ।" (बा० दो० १७), तथापि किसी कारण-विशेष पर फिर-फिर स्मरण करना कहा जाता है । 'पवन-तनय बल भारी'—क्योंकि पवन के समान भारी बल है, यथा—"पवन तनय बल पवन समाना ।" (कि० दो० २९), भारी बल से कूदने का प्रभाव आगे दिखाते हैं—

जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥७॥
जिमि अमोघ रघुपति कर बाना । एही भाँति चलेउ हनुमाना ॥८॥

शब्दार्थ—अमोघ = निष्फल न होनेवाले ।

अर्थ—श्रीहनुमानजी जिस पहाड़ पर चरण दे (रख) कर चले, तुरत वह (पहाड़) पाताल को चला गया ॥७॥ जैसे श्रीरघुनाथजी के बाण अमोघ (चलते) हैं, श्रीहनुमानजी इसी प्रकार चले ॥८॥

विशेष—(१) 'जेहि गिरि चरन···'—यह भारी बल का प्रभाव है, यथा—"तुलसी रसातल को निकसि सलिल आयो, कोल कलमल्यो, अहि कमठ को बल गो । चारिहू चरन के चपेट चाँपे चिपिटि गो, उचके उचकि चारि अंगुल अचलु गो ॥" (क० कि० १), 'चरन देइ' से कूदने की रीति दिखाई कि चारो चरणों से गिरि को दबाकर कूदे तो उसका नीचे का भाग तुरत पाताल पहुँच गया और ऊपर का भाग भूमि के बराबर चिपट गया, फिर इनके ऊपर उचकने के साथ वह चार अंगुल ऊपर को उठ आया । यहाँ कूदने के समय जोर से चरण का दबाव पड़ा तो धस गया । अन्यत्र पहाड़ों पर स्वाभाविक रूप में

ही चढ़ते-उतरते थे, तब वे नहीं दबते थे। 'तुरंता'—इनके लंका प्रस्थान के प्रथम ही वह पाताल पहुँच गया।

(२) 'जिमि अमोघ···'—और वीरों के बाण व्यर्थ भी हो जाते हैं, पर श्रीरघुनाथजी के बाण सदा सफल ही होते हैं। छूटते ही लक्ष्य पर पहुँचकर कृतकार्य होकर ही लौटते हैं, मार्ग में उन्हें कोई रोक नहीं सकता। वैसे ही श्रीहनुमानजी सुरसा, सिंहिका और लंकिनी के रोकने पर भी न रुकेंगे और सकुशल शीघ्र कार्य करके ही लौटेंगे, यथा—"यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः। ··सर्वथा कृतकार्योऽहमेष्यामि सह सीतया।।" (वाल्मी० ५।१।३९-४२)। 'येही भाँति'—कवि लोग और भी उपमा देते हैं, पर वे यथार्थ नहीं हैं, यही उपमा ठीक है। 'हनुमाना'—बहुतों के मान-मर्दन करेंगे। 'अमोघ', यथा—"छत्र मुकुट ताटंक सब, हते एक ही बान।···अस कौतुक करि राम सर, प्रविसे आइ निषंग।" (ल० दो० १३), ऐसे ही श्रीहनुमानजी भी कार्य करके श्रीरामजी को प्राप्त होंगे।

जलनिधि रघुपति - दूत बिचारी। तैं मैनाक होइ श्रम हारी ॥६॥

दोहा—हनूमान तेहि परसा, कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काज कीन्हे बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम ॥१॥

अर्थ—सागर ने श्रीहनुमानजी को श्रीरघुनाथजी का दूत समझ कर (मैनाक पहाड़ से) कहा—हे मैनाक! तू इनका श्रम हरण करनेवाला (सहायक) हो, अर्थात् इन्हें अपने ऊपर विश्राम देकर इनकी थकावट दूर कर ॥६॥ श्रीहनुमानजी ने अपने हाथ से उसका स्पर्श किया, फिर उसको प्रणाम किया (और कहा कि) श्रीरामजी का कार्य पूर्ण किये बिना मुझे विश्राम कहाँ ॥१॥

विशेष—(१) 'जलनिधि'—यह समुद्र जल का खजाना है। ४०० कोसों तक जल से भरा है। कहीं श्रीहनुमानजी थककर डूब न जायँ, इस भय से इसने श्रम हरने को कहा। 'रघुपति-दूत बिचारी'—समुद्र ने विचारा कि मैं श्रीरघुनाथजी के ही वंशजों (पूर्वज सगर-पुत्रों) के द्वारा बढ़ाया गया हूँ। यदि मैं इनकी सहायता न करूँ तो निन्दित होऊँगा। मुझे कृतघ्न समझकर कोई मेरा नाम तक न लेगा, यथा—"अहमिक्ष्वाकुनाथेन सगरेण विवर्धितः। इक्ष्वाकुसचिवश्चायं तन्नार्हत्यवसादितुम्॥ तथा मया विधातव्यं विश्रमेत यथा कपिः।" (वाल्मी० ५।१।८७-८८)।

(२) 'तैं मैनाक होइ ··'—मैनाक हिमालय का पुत्र माना जाता है और यह सुवर्णमय है, इसने स्वयं श्रीहनुमानजी से अपना वृत्तान्त यों कहा है—"सत्ययुग में पर्वत पंखधारी होते थे और चारो तरफ गरुड़ की तरह उड़ा करते थे। इनके गिरने के समय देवताओं और मनुष्यों को दब जाने का भय होता था। अतएव क्रोधित हो देवराज इन्द्र ने हजारों पर्वतों के पंख काट डाले। वे इसी इच्छा से मेरे पास भी आये, किन्तु तुम्हारे पिता वायु ने शीघ्र ही मेरी सहायता की और समुद्र में मुझे लाकर छिपा दिया, जिससे मैं इस विपत्ति से बच गया।" "इसे समुद्र ने पाताल का विशाल द्वार रोकने के लिये रक्खा है, जिससे उसमें से असुर निकलने न पावें।" (वाल्मी० १।११५-११९, ८९-९२)।

मैनाक से इसीलिये कहा कि यह आकाशगामी है और श्रीहनुमानजी तक पहुँच सकता है और उन्हें धारण करने में समर्थ भी है। पुनः यह पवनदेव का ऋणी भी है और उस ऋण से इसे उऋण भी बनाना है। अतः, श्रीहनुमानजी की पूजा से वायु देवता सन्तुष्ट होंगे, यथा—"पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः। तस्मात्त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्॥" (वाल्मी० ५।१।११४), यह मैनाक ने ही कहा है।

शंका—समुद्र ने स्वयं तो श्रीराम-भक्त की सेवा की, पर श्रीरामजी को जब उससे काम पड़ा तब उनके धमकाने पर आया, ऐसा क्यों?

समाधान—(क) श्रीरामजी सबके प्रेरक हैं, अपनी अपेक्षा भक्त का मार्ग अधिक सुखदायी कर देते हैं, यथा—"किये जाहि छाया जलद, सुखद बहइ बर बात । तस मग भयउ राम कहँ, जस भा भरतहिं जात ॥" (अ० दो० २१६), (ख) श्रीहनुमानजी का पराक्रम प्रत्यक्ष है कि उनके उछलते ही पहाड़ दब गया, यथा—"जेहि गिरि चरन देइ···" इससे समुद्र जानता है कि ये लंका जाकर सकुशल आ सकेंगे । इसीसे उन्हें विश्राम देता है । पर आगे श्रीरामजी के माधुर्य में मोहित हो गया, इससे ईश्वरता नहीं समझ सका । अतः, उनका पराक्रम जानने के लिये नहीं आया । जब बल देख लिया, तब आया और हर्षित हुआ, यथा—"देखि राम बल पौरुष भारी । हरषि पयोनिधि भयो सुखारी ॥" (दो० ५६), फिर उसने उनकी सेवा भी की, यथा—"मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई । करिहउँ बल अनुमान सहाई ॥" (दो० ५९) । (ग) समुद्र के दक्षिण-तट पर राक्षस और उत्तर तट पर चोर आभीर बसते हैं, राक्षसों को मारने के लिये तो प्रभु जाते ही हैं । उत्तर तट के चोरों को भी मरवाना था, इसीसे वह पहले नहीं आया । बाण सन्धान हो जाने पर आया और इसी युक्ति से उसने चोरों को मरवाया ।

(३) 'हनूमान तेहि परसा···'—"मैनाक ने मनुष्य-रूप धारण कर श्रीहनुमानजी से विश्राम करने के लिये प्रार्थना की थी ।" (वाल्मी० ५।१।१०४-१०५), इसीसे श्रीहनुमानजी ने अपने हाथों से स्पर्श करके उसका सम्मान किया । श्रीहनुमानजी से सत्कृत जानकर इन्द्र ने भी इसे अभय दान दिया, यथा—"उवाच वचनं धीमान्परितोषात्सगद्गदम् । सुनाभ पर्वतश्रेष्ठं स्वयमेव शचीपतिः ॥ हिरण्यनाभ शैलेन्द्र परितुष्टोऽस्मि ते भृशम् । अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथासुखम् ॥" (वाल्मी० ५।१।१३९-१४०), 'पुनि कीन्ह प्रनाम'—श्रीहनुमानजी ने पिता का मित्र जानकर पूज्य दृष्टि से उसे प्रणाम किया । 'मोहि कहाँ बिश्राम'—जब तक समुद्र ने मैनाक से कहा और वह अत्यन्त वेग से उठा, इतनी ही देरी में श्रीहनुमानजी ५० योजन आगे चले गये, क्योंकि उस समुद्र के बीच में ही मैनाक रहता था और वहीं से उठा । शीघ्रता दिखाने को ही ग्रन्थकार ने मैनाक का चलना और पहुँचना नहीं लिखा । श्रीहनुमानजी के कर-स्पर्श से ही जना दिया ।

यहाँ यह भी दिखलाया गया है कि राम-भक्त को जल में भी ठहरने के स्थान मिल जाते हैं और हरि-विमुख स्थल में भी डूब मरते हैं । जैसे कि कर्ण का रथ स्थल में ही डूब गया (रथ का चक्का भूमि में नीचे धस गया)—महा० कर्ण० ४२।३८-४१ में कर्ण के प्रति एक मुनि का शाप कहा गया है कि घोर युद्ध के समय पृथ्वी में तेरे रथ का चक्का अटक जायगा । पुनः यही शाप महा० कर्ण० ९०।१०४-१०६ में चरितार्थ हुआ है—"रौद्रमस्त्रं समाधाय क्षेप्तुकामः किरीटवान् । ततोऽग्रसन्मही चक्रं राधेयस्य तदा नृप ॥ ततोऽवतीर्य राधेयो रथादाशु समुद्यतः । चक्रं भुजाभ्यामालम्ब्य समुत्क्षेप्तुमियेष सः ॥ सप्तद्वीपा वसुमती सशैलवनकानना । गीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता कर्णेन चतुरंगुलम् ॥" अर्थात् जब कर्ण पर अर्जुन ने रौद्र अस्त्र चढ़ाया, तब पृथ्वी ने कर्ण के रथ के पहिये को पकड़ लिया । फिर कर्ण रथ से उतर कर हाथ से चक्का पकड़, सप्तद्वीपवाली पृथ्वी समेत रथ को चार अंगुल ऊपर उठा लिया (परन्तु रथ न निकला) । अर्जुन ने उसी समय उसका वध किया । 'राम काज कीन्हे बिनु'—इस समय नहीं ठहर सके कि राम-कार्य हो जाने पर इसकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे, यथा—"पूछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि ।" (दो० २६), 'कर' दीपदेहली है । कर से उसे स्पर्श किया और फिर कर से ही प्रणाम भी किया ।

जात पवनसुत देवन्ह देखा । जानइ कहँ बल-बुद्धि बिसेखा ॥१॥
सुरसा नाम अहिन कै माता । पठइन्हि आइ कही तेहि बाता ॥२॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा । सुनत बचन कह पवन-कुमारा ॥३॥

अर्थ—देवताओं ने पवन के पुत्र श्रीहनुमानजी को जाते हुए देखा । उनके बल और बुद्धि को विशेष

करके जानने के लिये ॥१॥ उन्होंने सुरसा नाम की साँपों की माता को (परीक्षा करने के लिये) भेजा। (समीप) आकर उसने श्रीहनुमानजी से यह बात कही ॥२॥ कि आज देवताओं ने मुझे आहार दिया, यह वचन सुनते ही पवनपुत्र श्रीहनुमानजी ने कहा ॥३॥

विशेष—(१) 'जात पवनसुत ···'—जिस समय समुद्र ने मैनाक से कहा था, उसी समय देवताओं ने भी सुरसा से परीक्षा के लिये कहा, यदि ऐसा न होता तो श्रीहनुमानजी शीघ्र ही उस पार निकल जाते। वही 'जात' शब्द से सूचित किया गया है। पुनः यह भी कि देवता इसी पार हैं। 'पवनसुत'—क्योंकि ये वायु के समान बल और वेग से जा रहे हैं, यथा—"चला प्रभंजन-सुत बल भाषी।" (लं० दो० ५४), 'देवन्ह'—इसमें सब देवता सहमत हैं।

'जानइ कहँ बल-बुद्धि बिसेखा'—सामान्य बल और बुद्धि तो ये लोग जानते ही हैं। बालपन में ही इन्होंने सूर्य का ग्रास किया है और इन्द्र के वज्र को भी निष्फल कर दिया है, यथा—"जयति जय बाल कपि केलि कौतुक उदित चंड-कर-मंडलग्रास-कर्त्ता। राहु-रवि-सक्र पवि-गर्व-खर्वी करन, सरन भय-हरन, जय भुवन भर्त्ता॥" (वि० २५), पर इस समय ये उस रावण की पुरी को जा रहे हैं। जिसने इन्द्र, सूर्य आदि सभी देवताओं को जीत लिया है। अतः, उससे भी विशेष बल और बुद्धि की आवश्यकता है, वही देखना चाहते हैं। कूदना आदि तो वानरों का सहज कर्म है ही, इससे विजय का अन्दाजा नहीं हो सकता। बल और बुद्धि दोनों हों, तभी विजय हो सकती है, यथा—"नाथ बैर कीजै ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों॥" (लं० दो० ५), "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कह्यो जानकी जाहु।" (दो० १७), इसीसे देवगण बुद्धि-बल की विशेषता देखना चाहते हैं।

(२) 'सुरसा नाम···'—सुरसा ही क्यों भेजी गई ? उत्तर—(क) स्वयं देवतागण इनके बल और बुद्धि की परीक्षा करने मे असमर्थ हैं, इसलिये उन्होंने स्त्री को भेजा, कारण कि स्त्री अवध्य है। पुनः राक्षस बली और मायावी भी होते हैं। सुरसा माया और बल, दोनों से परीक्षा लेने में समर्थ होगी। (ख) यह सर्पों की माता है और सर्पों का आहार पवन है। अतः, यह पवन के पुत्र का भक्षण कर सकेगी।

'सुरसा' नाम कहकर 'अहिन कै माता' भी कहा। इस तरह अतिव्याप्ति दोष भी मिटाया, क्योंकि सुरसा और किसीका भी नाम हो सकता है और सर्पों की माता एक कद्रू नाम भी है। पुनः 'अहिन कै माता' से क्रूर स्वभाव, भयानक और तमोगुण-युक्त भी जनाया। जैसे सर्पिणी अपने ही अण्डे-बच्चे खा लेती है, वैसे यह भी माता कहते हुए भी हनुमानजी को खा जायगी। 'पठइन्हि आइ' सुरसा का भी आना-पहुँचना न कहा, क्योंकि यह बहुत ही शीघ्र आई, जिसी समय मैनाक से वार्तालाप हो रहा था उसी समय यह भी आ पहुँची, क्योंकि श्रीहनुमानजी राम-बाण की तरह वेग से जा रहे हैं।

(३) 'आजु सुरन्ह मोहि ·····'—'आजु'—का भाव यह कि मैं बहुत दिनों की भूखी हूँ, यथा—"आजु सबन्हि कहुँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ॥ कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा॥" (कि० दो० २६), 'दीन्ह अहारा'—का भाव यह है कि यह राक्षसी बनकर आई है और राक्षस ही नर-वानर को खाते हैं, यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७), यथा—"समुद्रमध्ये सुरसा बिभ्रती राक्षसं वपुः।" (वाल्मी ५।१।१४१)। देवताओं की भेजी हुई आई है, इसीसे देवताओं का आहार देना कहती है। पीछे परीक्षा हो जाने पर साफ कह देगी, यथा—'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा।···" अभी से यदि कह देती कि मैं परीक्षा के लिये ही मुँह फैलाती हूँ, तो श्रीहनुमानजी जान जाते और वह परीक्षा लेने में सफल न होती।

'सुनत बचन कह पवन-कुमारा।'—सुरसा कहती है कि देवताओं ने मुझे आहार दिया है और

उस आहार को वह खाना चाहती है। देवताओं के दिये हुए भक्ष्य के प्रति श्रीहनुमानजी नाहीं कैसे करें? कहा भी है—"परहित लागि तजइ जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥" (बा० दो० ८३), श्रीहनुमानजी धर्मात्मा हैं। यदि अपना शरीर उसे खाने को दे दें, तो राम-कार्य नहीं बनता और न दें तो भी धर्म-संकट है। दोनों तरह से उत्तर देना कठिन था, पर आपको उत्तर देने में कठिनाई न पड़ी, तुरत बोले। इससे 'पवन-कुमारा' कहा है, क्योंकि पवन की ही प्रेरणा से वचन निकलते हैं। यहाँ बुद्धि की चातुरी है।

रामकाज करि फिरि मैं आवउँ। सीता कइ सुधि प्रभुहिं सुनावउँ॥४॥
तब तुअ बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥५॥
कवनेहुँ जतन देइ नहिं जाना। ग्रससि न मोहि कहेउ हनुमाना॥६॥

अर्थ--श्रीरामजी का कार्य सिद्ध करके मै लौट कर आऊँ और प्रभु श्रीरामजी को श्रीसीताजी का समाचार सुना दूँ॥४॥ तब मै आकर तेरे मुख में प्रवेश करूँगा, मैं सत्य कहता हूँ, हे माई! मुझे जाने दे॥५॥ किसी भी उपाय से (वह इन्हें) जाने नहीं देती थी, तब श्रीहनुमानजी ने कहा कि मुझे खा न ले! अर्थात् खा, देखूँ तो, तू कैसे मुझे खाती है?॥६॥

विशेष—(१) 'रामकाज करि ·····'—राम-कार्य होने का निश्चय है, यथा—"होइहि काज मोहि हरष बिसेषी॥" (दो० १), इसीसे कहते हैं—'फिरि मैं आवउँ' कार्य को उत्तरार्द्ध में कहते हैं—"सीता कै सुधि प्रभुहिं सुनावउ॥" यही श्रीजाम्बवान्‌जी ने भी कहा है, यथा—"सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥" अतः, यही राम-कार्य है। क्षुधातुर को भोजन देना धर्म है और राम-कार्य परम धर्म है। इसीसे राम-कार्य करना पहले कहा गया है। 'प्रभुहि सुनावउँ' का भाव यह है कि प्रभु समर्थ है, समाचार पाकर अपने शत्रु को स्वयं ही मारेंगे। मेरी वैसी आवश्यकता नहीं, यथा—"कपि सेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहि आनि हैं।" (कि० दो० ३०)। अतः, मैं अवश्य तुम्हारे भोजन के लिये आ जाऊँगा।

(२) 'तब तुअ बदन पैठिहउँ आई।'—सुरसा ने कहा था कि जो तुम जाना चाहते हो, तो मेरे मुख में पैठकर ही जा सकोगे, यथा—"निविश्य वदनं मेऽद्य गन्तव्यं वानरोत्तम। वर एष पुरा दत्तो मम धात्रेति सत्वरा॥" (वाल्मी० ५।१।१५६), इसीलिये कहते हैं कि तब मैं आकर तेरे मुख में प्रवेश करूँगा। यह नहीं कहते कि तब तू मुझे खा लेना, क्योंकि इन्हें कोई खा नहीं सकता, कहते तो झूठ ही होता, तो क्षमा क्यों कहें? यदि वह समझे कि श्रीहनुमानजी अपने प्राण बचाने के लिये हो हमें धोखा दे रहे है, इसलिये शपथ करते हैं—"सत्य कहउँ ··" 'माई'—सन्त जन पर-स्त्री को माता-तुल्य ही मानते है, यथा—"जननी सम जानहिं परनारी·" (अर० दो० १२६), अभी श्रीहनुमानजी साम नीति बरत रहे है कि 'माई' सम्बोधन सुनकर वह अवश्य दयार्द्र होकर मुझे जाने देगी।

(३) 'कवनेहुँ जतन देइ ··'—साम, दाम, दंड, भेद ये चार यत्न हैं। इनमें पहले दाम का बर्ताव किया, यथा—"तब तुअ बदन पैठिहउँ आई।" शरीर देना यह दाम नीति है और यही उसका मुख्य प्रयोजन भी है। फिर साम नीति का बर्ताव किया, यथा—"जान दे माई।" शेष दो दंड और भेद न किये, क्योंकि इसे माता कह चुके हैं। पुनः राम-कार्य होना, श्रीसीताजी का क्लेश छूटना आदि का कहना भी यत्न ही है, पर वह नहीं जाने देती है। अन्य रामायणों में कहे हुए यत्न भी 'कवनेहुँ जतन' में आ गये। ये बुद्धि के उपाय हैं।

'ग्रससि न मोहि·····'—यह बल है। नीति है कि बुद्धि से कार्य न चले, तब बल का प्रयोग करना चाहिये, यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ।" (दोहावली ४३३), 'माई' कहने पर

भी इसे दया न आई, क्योंकि यह 'अहिन कै माता' है। सर्पिणी जब अपने ही अंडे बच्चों को भी खा जाती है तब दूसरे की बात ही क्या ?

जोजन भरि तेहि बदन पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा ॥७॥
सोरह जोजन मुख तेहि ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ ॥८॥
जस जस सुरसा बदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा ॥९॥

अर्थ—उस सुरसा ने योजन (चार कोस) भर का अपना मुख फैलाया, तब कपि श्रीहनुमानजी ने अपनी देह को उससे दुगुना विस्तृत कर दिया, (जिससे उसके मुख में न समा सकें) ॥७॥ जब सुरसा ने सोलह योजन का अपना मुख किया, तब शीघ्र ही पवन के पुत्र श्रीहनुमानजी बत्तीस योजन के हो गये ॥८॥ जैसे-जैसे सुरसा ने अपना मुख बढ़ाया, वैसे-वैसे कपि श्रीहनुमानजी ने उससे दुगुना रूप दिखाया ॥९॥

विशेष—(१) 'जोजन भरि तेहि···'—मुख तो उसने फैलाया, किन्तु खाने को नहीं दौड़ी, क्योंकि वह परीक्षा के लिये ही आई है। इन्होंने उसके शरीर से दूना शरीर करके सूचित किया कि ले, हम दूना भक्ष्य देते हैं, खा। सुरसा ने मुख ही फैलाया, क्योंकि वह इन्हें निगलना चाहती है और इन्होंने शरीर-भर बढ़ाया कि जिससे उसके मुख में समा न सकें और वह हार जाय।

(२) 'सोरह जोजन मुख···'—श्रीहनुमानजी को दूना होते देखकर सुरसा ने एक बार ही सोलह योजन का मुख किया, तब शीघ्र ही श्रीहनुमानजी ३२ योजन के हो गये। इससे उसने जाना इनकी अत्यन्त बढ़ने की शक्ति भी देख ली। शीघ्रता की अपेक्षा से 'पवन सुत' कहा गया।

(३) 'जस जस सुरसा···'—अब सुरसा ने बदन बढ़ाने में कोई नियम नहीं रक्खा। पहले एक से सोलह पर पहुँची। अब २०, २२, ३०, ५० आदि योजन का मुख करती गई और प्रत्येक बार श्रीहनुमानजी दूना होते गये। 'रूप देखावा'—उसे दिखाने-मात्र के लिये रूप करते गये, उसे मारना नहीं चाहते—यहाँ बल है।

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ॥१०॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। माँगा बिदा ताहि सिर नावा ॥११॥
मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरम तोर मैं पावा ॥१२॥

दोह—राम-काज सब करिहहु, तुम्ह बल-बुद्धि-निधान।
आसिष देइ गई सो, हरषि चलेउ हनुमान ॥२॥

अर्थ—अन्त में सुरसा ने जब सौ योजन का अपना मुख किया, तब पवन-पुत्र श्रीहनुमानजी ने अत्यन्त छोटा रूप धारण कर लिया ॥१०॥ उसके मुख में पैठकर फिर (शीघ्र ही) बाहर निकल आये और फिर सिर नवाकर उससे बिदा माँगी ॥११॥ (सुरसा बोली) मुझे देवताओं ने जिस (कार्य) के लिये भेजा था, तुम्हारे (उस) बुद्धि और बल के भेद को मैं पा गई ॥१२॥ तुम बल और बुद्धि के खजाना हो, (इससे) श्रीरामजी के सभी कार्य करोगे, वह आशिष देकर चली गई, तब हर्षपूर्वक श्रीहनुमानजी चले ॥२॥

विशेष—(१) 'सत जोजन तेहिं···'—१०० योजन का ही समुद्र है। अतः, समुद्र-भर में उसका मुख-ही-मुख दिखलाई पड़ा। एक दाढ़ नीचे और एक ऊपर। सुरसा ने पहले मुख फैलाया, फिर बढ़ती ही गई और श्रीहनुमानजी भी दूने-दूने बढ़ते ही गये। जैसे सौ योजन उसके बढ़ाव की अवधि है, वैसे ही

श्रीहनुमानजी का 'अति लघु रूप' भी सूक्ष्मता की अवधि है, यथा—"मसक समान रूप कपि धरी।" (दो० ३)। अति शीघ्र लघु होने से 'पवनसुत' कहा गया। सुरसा को श्रीहनुमानजी ने दूने रूप से न जीतकर छोटे रूप से जीता, अत्यन्त बड़े को छोटा होकर जीतना चाहिये, इसमें यह उपदेश है—यहाँ बुद्धि है।

(२) 'बदन पइठि पुनि···'—उसने अपने मुख में पैठकर ही जाने के लिये कहा, उसपर श्रीहनुमानजी ने जो "पैठिहउँ आई' कहा था, यहाँ मुख में पैठकर इन्होंने उसीकी पूर्त्ति की है। 'पुनि' का भाव यह कि जिधर से पैठे, उधर ही से निकल भी आये। 'माँगा बिदा ताहि सिर नावा।'—श्रीहनुमानजी ने पहले ही इससे साम-नीति के अनुसार 'माई' कहकर मार्ग माँगा था, जब इसने शर्त्त रक्खी, तब आपने उसकी पूर्त्ति कर दी और फिर उसी भाव से सिर भी नवाया और बिदा माँगी। इसपर सुरसा ने प्रसन्न होकर आगे वर दिया।

सुरसा ने ऐसी परीक्षा इसलिये की कि लंका में इन्हें अति लघु रूप से प्रवेश करके श्रीजानकीजी को खोजना होगा और विशाल रूप से उनको भरोसा देना और राक्षसों से युद्ध भी करना होगा।

(३) 'मोहि सुरन्ह जेहि···'—यहाँ सुरसा अपनी सफाई दे रही है कि मै देवताओं के भेजने से आपकी बल-बुद्धि की परीक्षा के लिये ही आई थी, राम-कार्य में विघ्न डालने को नहीं। परीक्षा के लिये ही मैंने—'दीन्ह अहारा' आदि भयकारी वचन भी कहे थे।

(४) 'राम-काज सब करिहहु··'—श्रीहनुमानजी ने यही अपना अभीष्ट भी कहा था, यथा—"राम काज करि फिरि मै आवउँ···" और उसीकी आशिष भी इसने दी। 'तुम्ह बल-बुद्धि-निधान'—भाव यह कि बल और बुद्धि के बिना राम-कार्य नहीं हो सकता, यथा—"जो नाँघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥" (कि० दो० २८), पहले इसने 'तोर' कहा था। अब 'बल-बुद्धि-निधान' जानकर बहुवचन 'तुम्ह' से आदर दिया। इनके प्रणाम करने पर उसने आशिष दी और इसीसे श्रीहनुमानजी को हर्ष भी हुआ, क्योंकि वह देवी है। अतः, उसके वचन सत्य ही होंगे। श्रीहनुमानजी जब से समुद्र-किनारे से चले थे, बीच में केवल यहीं पर रुके थे, इसीसे यहाँ से फिर चलना कहा गया है—'हरषि चले' हर्ष इससे और भी हुआ कि विघ्नकारिणी भी आशिष देनेवाली हो गई।

निसिचरि एक सिंधु महँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥१॥
जीव-जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हकै परिछाहीं॥२॥
गहइ छाँह सक सो न उड़ाई। येहि बिधि सदा गगनचर खाई॥३॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा॥४॥

अर्थ—एक निशाचरी सागर में रहती थी, माया करके वह आकाश के 'खगों' को पकड़ा करती थी, ॥१॥ आकाश में जो जीव-जन्तु उड़ा करते थे, जल मे उनकी परछाँईं देखकर (यह परछाँईं के द्वारा उन्हें) पकड़ लिया करती थी, इससे वे उड़ नहीं सकते थे, इसी तरह सदा आकाश में चलनेवालों को यह खाया करती थी॥२-३॥ वही छल इसने श्रीहनुमानजी से किया, इसका कपट तुरत ही श्रीहनुमानजी ने जान लिया, अर्थात् छाया पकड़ जाने पर उसका भेद जान गये॥४॥

विशेष—(१) 'निसिचरि एक···'—निशाचरी कहने का भाव यह है कि सुरसा देवी थी और यह राक्षसी है। इसीसे आकाशचारी निशाचरों को ही केवल नहीं पकड़ती थी, वरन् सभी जीव-जन्तुओं को पकड़ लेती थी। 'सिंधु महँ रहई'—तीन स्थलों के जीव रहते हैं—नभ, जल और स्थल। इनमें सुरसा नभ से आई, यह (सिंहिका) जल में रहती थी और आगे लंकिनी स्थल में मिलेगी। यह सिंहिका राहु की माता थी।

श्रीगोस्वामीजी ने सुरसा, लंकिनी और त्रिजटा के नाम लिखे, पर इसका नाम न दिया, क्योंकि—(क) वे तीनो रामकार्य-साधन करनेवाली हुईं, यथा—"रामकाज सब करिहहु"—सुरसा, "प्रबिसि नगर कीजै सब काजा।···"—लंकिनी, "सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना।···"—त्रिजटा। यह राक्षसी आदि से अन्त तक कपट से ही भरी रही अर्थात् रामकार्य से विमुख ही रही, इसीसे श्रीगोस्वामीजी ने इसका नाम नहीं लिखा, यथा—"काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥" (अर० दो० १)। (ख) यह जल के भीतर गुप्त भाव में रहती थी, इसीसे ग्रन्थकार ने भी इसे गुप्त ही रक्खा।

श्रीगोस्वामीजी ने निशाचरी (सिंहिका), लंकिनी और त्रिजटा के साथ 'एक' विशेषण दिया है, पर सुरसा के साथ नहीं, क्योंकि तीनो अपने-अपने कार्य में अद्वितीय हैं। जैसे कि सिंहिका छाया पकड़ने मे, लंकिनी लंका का चोर पकड़ने में और त्रिजटा विवेक-निपुणता में एक ही थीं। इनके समान दूसरी राक्षसी नहीं थीं। सुरसा को एक इससे नहीं कहा गया कि इसके समान कद्रू नाम की दूसरी भी वैसी ही प्रसिद्ध थी। 'खग' में यौगिक प्रयोग है, अर्थात् आकाश में गमन करनेवाले। 'गहई'—इसकी क्रिया आगे कहते हैं—

(२) 'जीव-जंतु जे···'—जीव बड़े को और जन्तु छोटे को कहते है। 'जीव', यथा—"आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥" (बा० दो० २०६)। छोटे जन्तुओं के आहार से पेट तो नहीं भरता था, पर वह इन्हें अपनी माया की प्रबलता दिखाने के लिये पकड़ती थी कि मैं सूक्ष्म जीवों को भी पकड़ लेती हूँ। 'जल बिलोकि'—उसकी माया जल में ही चलती थी, स्थल की परछाँई से वह नहीं पकड़ सकती थी। 'सदा गगन चर खाई'—अर्थात् वह सदा जल में रहती थी और आकाशगामियों को ही खाती थी, जलचरों और थलचरों को नहीं।

(३) 'सोइ छल हनूमान कहँ···'—श्रीहनुमानजी कपट के पहचानने में एक ही हैं, यथा—"काल-नेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥" (बा० दो० २६), इसीसे उन्होंने उसके कपट को तुरत ही पहचान लिया। अभी तक न जाने कितने को इसने खा लिया होगा, पर किसीने इसे नहीं पहचाना था। माया, छल और कपट यहाँ पर्याय हैं, यथा—'करि माया', 'सोइ छल', 'तासु कपट'।

ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥५॥
तहाँ जाइ देखी बन-सोभा। गुंजत चंचरीक मधु लोभा॥६॥
नाना तरु फल-फूल सुहाये। खग-मृग-बृंद देखि मन भाये॥७॥

अर्थ—उस राक्षसी को मारकर वीर और धीर-बुद्धि पवन-कुमार श्रीहनुमानजी समुद्र के उस पार गये॥५॥ वहाँ जाकर इन्होंने वन की शोभा देखी, वहाँ मधु के लोभ से भ्रमर गूँज रहे हैं॥६॥ अनेक प्रकार के वृक्ष फल-फूलों से सुशोभित है, पक्षी और पशुओं के समूह देख मन प्रसन्न हुआ॥७॥

विशेष—(१) 'ताहि मारि मारुतसुत बीरा।'—वाल्मीकीय रामायण ५।१।१७६-१६१ में लिखा है कि छाया पकड़ जाने पर श्रीहनुमानजी ने सोचा कि मुझे किसीने पकड़ लिया है, फिर नीचे जल की ओर देखकर इसे सुग्रीवजी के कहे हुए मर्म के अनुसार जाना। तब उसके मर्म स्थानों को देखकर वज्राँग श्रीहनुमानजी उसपर छोटा बनकर गिरे। श्रीहनुमानजी ने तीक्ष्ण नखों से उसके मर्म-स्थान को फाड़ डाला। इस तरह उसे मारकर वे मन के समान वेग से ऊपर उठे और फिर पूर्ववत् वेग से चलने लगे।

मायाविनी की माया में न फँसे, इसीसे 'मारुत-सुत' कहा गया, क्योंकि वायु किसीके ग्रहण में नहीं आता है। वायु से सब माया नाश होती है, इसीसे लोग माया-टोना झाड़ते हुए फूँक देते है। कहा भी है—"उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥" (दो० १८), 'बीरा···मति धीरा'—श्रीहनुमानजी ने प्रबल मायाविनी राक्षसी को बल और बुद्धि से जीता, इससे उन्हें वीर कहा

गया और सौ योजन समुद्र लाँघ गये, श्रम न हुआ और न कड़ी साँस ही ली, पुनः विघ्नों से घबराये भी नहीं, प्रत्युत उपाय-द्वारा उन्हें नाश किया, इससे मति-धीर कहा है, यथा—"अनिश्श्वसन् कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ॥" (वाल्मी० ५।२।३)।

(३) 'तहाँ जाइ देखी ·····'—'तहाँ जाइ' से सूचित किया गया है कि समुद्र-तट से लंकापुरी कुछ दूर है। 'बन सोभा', यथा—"सुंदरबन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप निकर मधु लोभा ॥" (कि० दो० १२), वाल्मी० ५।२।६-१३ में इस वन की शोभा देखने योग्य है। यही शोभा आगे कहते हैं—'गुंजत···नाना तरु फल···'—सब वृक्षों में फल-फूल दोनों हैं, वा, किसीमें फूल और किसीमें फल शोभायमान हैं। वन के आश्रित मृगवृन्द, फलों के आश्रित खग और फूलों के आश्रित भ्रमर रहते हैं। श्रीहनुमानजी के मन को वन की शोभा 'भाई' (प्रिय लगी), क्योंकि ये भी वनचर हैं, यथा—"बन चर देह धरी छिति माहीं।" (बा० दो० १८७)।

सैल बिसाल देखि यक आगे। ता पर धाइ चढ़ेउ भय त्यागे ॥ ८ ॥
उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु-प्रताप जो कालहि खाई ॥ ९ ॥
गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी ॥१०॥
अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा। कनक कोट कर परम प्रकासा ॥११॥

अर्थ—आगे एक बड़ा भारी पहाड़ देख उसपर भय छोड़ श्रीहनुमानजी दौड़कर चढ़ गये ॥८॥ हे उमा! कपि श्रीहनुमानजी की इसमें कुछ बड़ाई नहीं है, यह तो प्रभु श्रीरामजी का प्रताप है, जो काल को भी खा जाता है ॥९॥ पर्वत पर चढ़कर उन्होंने लंकापुरी देखी, वह अत्यन्त विशेष दुर्ग है, इससे कहा नहीं जा सकता ॥१०॥ वह अत्यन्त ऊँचा है, उसके चारों ओर समुद्र (भरा हुआ) है, सोने का किला बहुत ही चमक रहा है ॥११॥

विशेष—(१) 'सैल बिसाल देखि····· '—पहले वन का वर्णन हुआ, वह समुद्र के तट का था और उससे आगे पर्वत है, वह सभी पर्वतों से भारी है, इसीसे 'बिसाल' और 'एक' कहा गया है। पहाड़ के आस-पास सघन वन था, इससे लंका न दीख पड़ी। तब दौड़कर पहाड़ पर चढ़ गये। खड़े पर्वतों पर वानर-गण कूदकर चढ़ते हैं और जो पर्वत कुछ ढालू होते है, उनपर दौड़कर चढ़ते हैं। अतः, इसपर दौड़कर चढ़े। 'भय त्यागे'—इस पर्वत पर रावण की ओर से काल का पहरा रहता था, यह अगली अर्द्धाली से स्पष्ट होगा, तथा —"बेग जीत्यो मारुत प्रताप कोटि मार्त्तंड कालऊ करालता बड़ाई जीत्यो बावनो।" (क० सु० ९)।

यहाँ यह भी भय था कि जब समुद्र में ही दो-दो विघ्न आये, तब यह पर्वत तो लंका के द्वार पर है। अतः, रावण की ओर से न जाने यहाँ कैसा प्रबन्ध हो, इसको परवाह न की।

(२) 'उमा न कछु कपि·····'—श्रीहनुमानजी पर काल का भी प्रभाव क्यों न पड़ा? इसपर श्रीशिवजी कहते हैं कि यह प्रभु का प्रताप है, यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल।" (दो० १६), स्वयं श्रीहनुमानजी ने कहा है—"पटकौं मीच नीच मूषक ज्यों सबहि को पाप बहावों ॥ तुम्हरिहि कृपा प्रताप तिहारेहि नेकु बिलंब न लावों।" (गी० ल० ८)। अतः, डरकर भाग गया।

(३) 'गिरि पर चढ़ि · ···'—'लंका तेहिं देखी'—जो कपि काल को भी खा सकता है, उसीने लंका को भी देखा, भाव यह कि लंका को भी नाश करेगा। 'कहि न जाइ'—'देखी' कहकर फिर कहते हैं कि 'कहि न जाइ' अर्थात् देखते ही बनता है, कहते नहीं बनता, यथा—"देखत बनइ न जाइ बखाना ॥" (उ० दो० ८१), 'अति दुर्गबिसेषी'—दुर्ग का अर्थ किला होता है, यथा—"चढ़े दुर्ग पुनि जहँ-तहँ बानर।"

(लं० दो० ४०), "उतरयो वीर दुर्ग ते···" (लं० दो० ४८), यह लंका-रूप किला अत्यन्त भारी और दुर्गम था, वही दुर्गमता आगे कहते हैं—

(४) 'अति उतंग जल निधि·····'—लंकापुरी स्वयं ऊँची है और पहाड़ पर बसी है, यथा—"गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।" (कि० दो० २७), किले की चारो ओर खाइयाँ होती हैं और यहाँ 'जल-निधि चहुँ पासा।' कहा गया है, यथा—"खाईं सिंधु गँभीर अति, चारिहुँ दिसि फिरि आव। कनक कोट मनि खचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव।" (बा० दो० १७८), 'परम प्रकासा'—एक तो सोने का प्रकाश है, और दूसरा उसमें मणि भी लगे हैं। अतः, उनका परम प्रकाश है (चमक रहा है)।

छन्द—कनक कोटि बिचित्र मनि-कृत सुंदरायतना घना।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना॥
गज-बाजि-खच्चर-निकर पदचर-रथ-बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर-जूथ अति बल सेन बरनत नहिं बनै॥

अर्थ—सोने की चहारदीवारियाँ मणियों से जटित विचित्र बनाई गई हैं, उनमें बहुत सुन्दर आयतन (घर) हैं। चौक, बाजार, सुन्दर मार्ग (राज-मार्ग) और गलियाँ हैं। सुन्दर नगर (और भी) बहुत प्रकार से बनाया एवं सजाया हुआ है॥ हाथियों, घोड़ों और खच्चरों के समूहों को, पैदलों और रथों के समूहों को कौन गिन सकता है? बहुत रूपों के निशाचरों के समूह हैं, वे अत्यन्त बलवान् हैं, उस अत्यन्त बलवती सेना का वर्णन करते नहीं बनता (अनन्त एवं अद्भुत हैं, इससे अवर्ण्य हैं)।

विशेष—(१) 'कनक कोटि बिचित्र·····'—कोट की दीवारें सोने की हैं, उनमें रंग-विरंग की मणियों के काम बनाये हुए है, इससे विचित्र हैं। 'घना'—दो अर्थों से श्लिष्ट है, एक अर्थ यह कि घर बहुत है, दूसरे, बस्ती घनी है। यहाँ तक कोट का वर्णन हुआ, आगे पुर का वर्णन है, इससे यह जान कि कोट के भीतर यह नगर है।

(२) 'चउहट्ट हट्ट·····', यथा—"राज दुआर सकल बिधि चारू। बीथी चौहट रुचिर बजारू॥" (उ० दो० २७), कोट का बनाव कनक-मणि का कहा गया था, वैसा ही भीतर का भी जानना चाहिये, यथा—"सोइ मय दानव बहुरि सँवारा। कनक-भवन मनि रचित अपारा॥" (बा० दो० १७१), 'बहु बिधि बना' का अन्वय चौहट्ट आदि सभीके साथ है। वाल्मी० ५।२।१६-१८, ४८-५१ में ऐसा ही वर्णन है।

(३) 'गज-बाजि-खच्चर···'—इसी क्रम से नगर की रक्षा के लिये सेना खड़ी है—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल क्रम-क्रम से सजाये हुए हैं, ये ही चतुरंगिणी सेना के अंग हैं। खच्चर मध्य में हैं, ये तोपखाने के हैं।

लंकापुरी छः प्रकार के दुर्गों से सुरक्षित है, यथा—"सैल बिसाल देखि एक आगे।" एवं "गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका।" (कि० दो० २७)—यह गिरि-दुर्ग है। "अति उतंग जलनिधि चहुँपासा।"—यह जल-दुर्ग है। "तहाँ जाइ देखी बन सोभा।"—यह वृक्ष-दुर्ग है। "गज बाजि खच्चर ··"—यह नर-दुर्ग है। किले के भीतर जल का होना कहा गया है, यथा—"बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं।", पर किले से बाहर जलाशय का होना नहीं कहा गया—यही धन्व-दुर्ग है। धन्वा, (सं० धन्वन्) निर्जल देश (रेगिस्तान आदि) को कहते हैं। "कनक कोट बिचित्र ··"—यह मही-दुर्ग है। ये छः दुर्ग कहे गये हैं, ये छहो दुर्ग मनुस्मृति में कहे गये हैं, यथा—"धन्व-दुर्गं मही-दुर्गमब्दुर्गं वार्क्ष-मेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥" (७।७०), ये ही छः भेद महाभारत (शान्ति० ८६।५, युधिष्ठिर-भीष्म संवाद) में भी कहे गये हैं। महाभारत में जलदुर्ग की जगह मृत्तिका दुर्ग है।

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं ।
नर-नाग-सुर-गंधर्व-कन्या-रूप मुनि-मन मोहहीं ॥
कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु बिधि एक एकन्ह तर्जहीं ॥

अर्थ—वन, बाग, उपवन (कृत्रिम वन, क्रीड़ा-वन), फुलवारी, सरोवर, कुएँ और बावलियाँ (ये सभी) शोभा दे रहे हैं। मनुष्यों, नागों, देवताओं और गन्धर्वों की कन्याएँ अपने रूप के सौन्दर्य से मुनियों के मन को भी मोहित करती हैं॥ कहीं-कहीं पहाड़ के समान विशाल शरीरवाले पहलवान अत्यन्त बलपूर्वक गरज रहे है। वे अनेक अखाड़ों में एक-दूसरे से बहुत प्रकार भिड़ते (लड़ते) और एक दूसरे को ललकारते हैं॥

विशेष—(१) 'बन बाग उपबन बाटिका···'—बन, यथा—"फूलहि फरहि सदा तरु कानन। रहहि एक सँग गज पंचानन॥" (उ० दो० २२), 'बाग', यथा—"भूप बाग बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लुभाई॥" (बा० दो० २२६), 'उपवन', यथा—"सुंदर उपवन देखन गये। सब तरु कुसुमित पल्लव नये॥" (उ० दो० ३१), 'बाटिका', यथा—"सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिधि भाँति करि जतन बनाई॥" (उ० दो० २७)।

इनमें वाटिका फूलती है, बाग फलता है और वन पल्लवित होता है, यथा—"सुमन बाटिका बाग बन, बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँ पास॥" (बा० दो० २१२), पहले वन तब बाग फिर वाटिका है। इन सबके मध्य में जलाशय होते है, तभी ये शोभा पाते है और जलाशय भी इन्हींसे शोभा पाते हैं, यथा—"मध्य बाग सर सोह सुहावा।" (बा० दो० २२६), इसीसे इनके साथ-ही-साथ 'सर कूप बापी सोहहीं' यह भी कहा गया है।

यह सब नगर के बाहर की शोभा है, यथा—"पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर···बन उपबन बाटिका तड़ागा॥" (उ० दो० २८), श्रीहनुमानजी सायंकाल मे, कुछ दिन रहते यहाँ पहुँचे है, इसीसे नर, नाग आदि की कन्याओं का वाटिका आदि में क्रीड़ा के लिये आना कहा गया है।

(२) 'नर-नाग-सुर-गंधर्व-कन्या···'—ये सब तीनो लोकों की सुन्दरियाँ है, जिन्हें रावण हर कर लाया था, यथा—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदर बर नारि॥" (बा० दो० १८२), 'रूप मुनि-मन मोहहीं'—अर्थात् इनके रूप देखकर मुनियों के ज्ञान-वैराग्य छूट जाते हैं, उससे मोह होता है, यथा—"सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके॥" (बा० दो० १२८)। मुनियों के मन का मुग्ध होना कहने से उनके रूप की बड़ाई की। वहाँ मुनि हैं नहीं, तात्पर्य यह कि वे ऐसी रूपवती हैं कि यदि मुनि देखें तो मोह जायँ।

अभी सब शोभा-युक्त वस्तुओं का ही वर्णन किया गया है, इसीसे शोभा सूचक 'परम प्रकासा', 'सुंदर', 'चारु', 'सोहहीं', 'मोहहीं' आदि शब्द दिये गये हैं। राक्षस-राक्षसी और उनकी सेनाएँ सभी तो भयानक कहे ही जायँगे, यथा—"गज-बाजि-खच्चर···बहु रूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहि बनै।" तथा—"कहुँ माल···" से "निसाचर भच्छहीं।" तक।

(३) 'कहुँ माल'—हजारों में कोई एक पहलवान होता है, इसीसे इनके लिये 'कहुँ' कहा गया है। 'देह बिसाल सैल समान'—पहले कहा गया कि 'सैल बिसाल' पर श्रीहनुमानजी निर्भय चढ़े, वैसे इनपर भी चढ़ेंगे, यहाँ यह भी ध्वनित है कि जैसे ये विशाल देहवाले हैं, वैसे ही इन्हें 'अति बल' भी

है, इसीसे अत्यन्त बल-पूर्वक गरजते हैं। 'नाना अखारन्ह'—नगर की चारो दिशाओं में रक्षक हैं और प्रत्येक दिशा में अखाड़े हैं। 'बहु बिधि'—अनेक दाँव-पेच से। एक-एक को डाँटते है। यह मल्लों की रीति है, यथा—"गर्जहि तर्जहि गगन उड़ाहीं। देखि काक भट अति हरषाहीं॥" (अ० दो० १७)।

करि जतन भट कोटिन्ह बिकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं।
कहुँ महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।
येहि लागि तुलसीदास इन्हकी कथा कछु एक है कही।
रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही॥

अर्थ—भयंकर शरीरवाले करोड़ों योद्धा उपाय करके चारो दिशाओं में नगर की रक्षा करते हैं। कहीं भैंसा, कहीं मनुष्य, कहीं गाय, कहीं गधा और कहीं बकरा, दुष्ट राक्षस लोग खा रहे है॥ श्रीतुलसीदासजी कहते है कि इसलिये इनकी कथा कुछ थोड़ी-सी कही कि ये रघुवीर श्रीरामजी के बाण-रूपी तीर्थ में देह छोड़कर सद्गति पावेंगे—यह निश्चय है॥

विशेष—(१) 'करि जतन भट कोटिन्ह···'—पहले चतुरंगिणी सेना, मल्ल और यहाँ भट भी कहकर तब 'रच्छहीं' कहते है। अर्थात् पहले चतुरंगिणी सेना रक्षा करती है, फिर मल्ल है और फिर भट हैं, ये उत्तरोत्तर अधिक बली भी है। 'करि जतन'—यत्न यह कि कोई आकाश में रहकर गुप्त-रूप से देखा करते है, तो कोई भूमि में ही गुप्त-रूप से देखा करते हैं। चतुरंगिणी सेना व्यूह रचना करके रक्षा में उद्यत है। पूर्व द्वार पर दस हजार, दक्षिण द्वार पर एक लाख, पश्चिम द्वार पर दस लाख और उत्तर द्वार पर सौ करोड़ भट रक्षा के लिये नियत हैं—ऐसा वाल्मी० ६।३।२४–२७ में लिखा है, और उसीको श्रीगोस्वामीजी ने एक 'कोटिन्ह' शब्द से ही लक्ष्य करा दिया। 'चहुँ दिसि—यह एक दिशा का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा ही सब दिशाओं में जानना चाहिये। जैसे पहले 'गर्जहीं' के साथ 'तर्जहीं' कहा गया है, अर्थात् गरज कर डाँटने से अधिक भय दिखाते हैं। वैसे यहाँ 'रच्छहीं' के साथ 'भच्छहीं' कहकर जनाते है कि स्वामी का कार्य करके भक्षण करते हैं। भक्षण का भाव यह कि वैसे ही जीते महिष-मानुष आदि को खा जाते है। इसीसे ये 'खल' कहे गये हैं। यदि मारकर मांस खाते तो मांस खाना लिखा जाता। यहाँ राक्षसों के आहार सामान्य रूप से कहे गये हैं, यथा—"दशकोटिसहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम्। मांसशोणितभक्ष्याणां लङ्कापुरनिवासिनाम्॥" (वाल्मी० ६।१९।१५), अर्थात् इच्छारूपधारी और मांस-रक्त खानेवाले दस करोड़ राक्षस लंका में रहते हैं। कोई-कोई ऐसा भी कहते है कि 'कहुँ' शब्द जैसे मल्लों के साथ है, वैसे यहाँ भी है। इसीसे जनाया कि वे उसी तरह अखाड़ों में कसरत करके महिष आदि का भक्षण करते है, जैसे प्रायः पहलवान लोग कसरत के पीछे दूध, जलेबी आदि खाते हैं।

(२) 'येहि लागि तुलसीदास ''—'येहि लागि'—पापियों के चरित को नहीं कहना ही भला है। पर मैंने (श्रीगोस्वामीजी ने) जो कुछ कहा है, उसका कारण यही है कि इन्हें श्रीरामजी संग्राम में मारकर मुक्त करेंगे। इनसे और श्रीरामजी से इतना नाता है। सभी का वध करेंगे, इसीसे श्रीरामजी 'रघुबीर' कहे गये है। 'कछु एक'—कोट, पुर, चतुरंगिणी सेना, निशाचर-यूथ सेना, वनादि की शोभा, तीनो लोकों की सुन्दरियाँ, मल्ल, मल्लों की कसरत, नगर की रक्षा और राक्षसों के भक्ष्य, ये दसो बातें एक-ही-एक पंक्ति में कही गई है। और, अन्तिम चरण में राक्षसों की मुक्ति का निश्चय भी लिखा गया है। 'सही'—जैसे तीर्थ में मरने से मुक्ति अवश्य प्राप्त होती है, वैसे ही श्रीरामजी के बाणों से मरने पर अवश्य मुक्ति होती है, यथा—"तो मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥" (अर०

दो० २२), यह रावण की प्रतिज्ञा है और श्रीरामजी ने भी राक्षसों के वध की प्रतिज्ञा की है—"निसिचर हीन करउँ महि···" (अर० दो० ९), अतएव राक्षसों की अवश्य मुक्ति होगी।

अन्यत्र नगर-वर्णन में 'देव-मंदिर' कहे गये हैं, पर यहाँ नहीं, क्योंकि देवता गण तो यहाँ बन्दीखाने में पड़े हैं, तो उन्हें पूजेगा कौन ?

लंका में प्रायः सभी बातें अद्भुत हैं, इसीसे उन्हें कई जगह 'बिचित्र', 'बरनि न जाइ' और 'अति' आदि शब्दों से व्यक्त किया गया है।

'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा'-प्रकरण

दोहा—पुर रखवारे देखि बहु, कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरउँ निसि, नगर करउँ पइसार ॥३॥

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥१॥

शब्दार्थ—पइसार (पद-सरण) = प्रवेश। मसक = मच्छड।

अर्थ—कपि श्रीहनुमानजी ने नगर में बहुत-से रक्षकों को देखकर मन में विचार किया कि मैं बहुत ही छोटा रूप धारण करूँ और रात मे ही नगर में प्रवेश करूँ ॥३॥ कपि श्रीहनुमानजी मशक (मच्छड़) के समान रूप धारण करके और नृसिंह भगवान् का स्मरण कर लंका नगरी को चले ॥१॥

विशेष—(१) 'पुर रखवारे देखि बहु···'—बहुत-से रखवाले ऊपर कहे गये हैं, यथा—"करि जतन भट कोटिन्ह···" रखवालों से इन्हें डर नहीं है, यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" (दो० १६), आगे इन्होंने स्वयं हठ करके उनसे युद्ध किया है। विचार इसलिये कर रहे हैं कि जब तक श्रीरामकार्य न हो जाय, राक्षसों से लड़ना ठीक नहीं। पहले श्रीसीताजी का हाल जानना है कि उनकी जीवनवृत्ति कैसी है ? स्वामी की आज्ञा है, यथा—'देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ।" (गी० सुं० ४), यह बात गुप्त-रूप से ही ठीक होगी। आने पर श्रीरामजी ने पूछा भी है, यथा—"कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥" (दो० २९)।

'अति लघु रूप धरउँ'—विशाल रूप से नगर में घुसने से निर्वाह कठिन होगा, लघु रूप से भी न छिप सकेंगे, अतएव श्रीहनुमानजी ने 'अति लघु रूप' का निश्चय किया। 'निसि, नगर करउँ पइसार'—अति लघु रूप से भी दिन मे प्रवेश करना कठिन है, अतएव रात में ही पैठने का निश्चय किया कि कोई देख न पावे।

'पइसार' शब्द का ठीक रूप 'पैठार' , पर श्रीगोस्वामीजी ने बदल दिया है, क्योंकि चरितनायक (श्रीहनुमानजी) ने भी अपनी स्मरण रीति बदल दी है। जो 'नरहरी' का स्मरण करने में स्पष्ट है। काल बदला—दिन में पहुँचे और स्वयं दिनचारी हैं, फिर भी रात में पैठने का निश्चय किया। रूप बदला—मशक (मच्छड़) समान हुए। अतएव ग्रन्थकार ने भी अपना शब्द बदल दिया। 'ठ' की जगह 'स' कर दिया। यहाँ श्रीहनुमानजी के अति लघु रूप धरने और रात में प्रवेश करने से रक्षकों की परम सावधानी दिखाई गई है।

(२) 'मसक समान रूप कपि···'—'मसक'-रूप छोटे रूप की अन्तिम सीमा है, यथा—"तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता।" (उ० दो० ९०), यह रात मे दिखलाई भी नहीं पड़ता, इसीसे श्रीहनुमानजी ने इतना छोटा रूप धारण किया। रूप तो कपि का ही रहा, पर मच्छड़ के समान छोटे हो गये, यथा—

"सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।" (वाल्मी० ५।२।४९), 'समान' शब्द से जनाया गया है कि मच्छड़ ही नहीं बन गये, किन्तु मच्छड़ के बराबर छोटे हो गये।

शंका—तब उन्होंने अँगूठी कहाँ रक्खी थी ?

समाधान—कपि के रूप के अनुसार अँगूठी भी छोटी हो गई, यथा—"बड़ो गहे ते होत बड़, ज्यों वामन कर दंड। श्रीप्रभु के सँग सों बढ़्यो, गयो अखिल ब्रह्मांड॥" (दोहावली ५३२), यह अँगूठी प्रभु का भूषण है, इससे चिद्रूपा है, प्रभु के अंग-संगवाले अस्त्र-शस्त्र, भूषण-वस्त्र सभी दिव्य एवं चिद्रूप होते हैं। इस अँगूठी ने श्रीजानकीजी से बातें की हैं, यथा—"बोलि, बलि मूँदरी ! सानुज कुसल कोसल पाल।··· कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ···" (गीता सुं० ४)। तब उसका सूक्ष्म हो जाना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। पहले—"गिरि पर चढ़ि लंका तेहि देखी।" पर से प्रसंग छोड़ा था, उसे ही यहाँ—"लंकहिं चलेउ···" से मिलाया। 'सुमिरि नरहरी'—नृसिंहजी को स्मरण करने के भाव—(क) प्रह्लादजी राम-नाम के जापक थे, उसी जप से श्रीरामजी नृसिंह-रूप से प्रकट हुए थे। अतएव इनमें-उनमें कोई भेद नहीं है, यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहिं नसायो॥" (लं० दो० १०८), आकृति-मात्र का भेद है। उस रूप का स्मरण भी साभिप्राय है, नृसिंह-रूप से श्रीरामजी भय-हरण करते हैं, यथा—"सुनत आइ ऋषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के।" (गी० बा० १२)। यहाँ भयंकर राक्षसों के बीच प्रवेश करना है। अन्यत्र भी भयहरण प्रसंग में यही विशेषण कहा गया है, यथा—"पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि भय हरन।" (बा० दो० २०८), "पुरुष-सिंह बन खेलन आये॥···जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन।" (अर० दो०२१)। यहाँ मार्ग-भय-हरण के लिये स्मरण किया गया है। (ख) लंका में निशाचरों को मारना, उनके गाल फाड़ना, तोड़ना, मुण्ड तोड़ना और आँतें निकालना है। अतः, उसके योग्य नृसिंह-रूप का स्मरण किया, क्योंकि इन्हें रुधिर आदि से घृणा नहीं है, यथा—"धरि गाल फारहि उर बिदारहि गल अँतावरि मेलहीं। प्रहलाद-पति जनु बिविध तनु धरि समर अंगन खेलही॥" (लं० दो० ८०)। (ग) यह भी सुना जाता है कि जब रावण सब वरदान पा चुका, तब सहसा उसके मन में एक शंका उठी कि कहीं हिरण्यकशिपु की भाँति मैं नृसिंह भगवान् ही से न मारा जाऊँ, क्योंकि वे मेरे पाये हुए वरदान से बाहर हैं। तब, उसने वेद-मन्त्रों से नृसिंह भगवान् को आराधन कर वश करना चाहा। वे अपने सहज भयंकर रूप से प्रकट हुए, जिन्हें भय से रावण देख भी न सका। तब वह घबराकर श्रीविभीषणजी से उनकी पूजा करने को कहा, क्योंकि देवता पूजा न पाने से तत्क्षण लंका का नाश कर डालते। श्रीविभीषणजी ने वैष्णव रीति की सामग्री स्वीकार कराकर भगवान् की पूजा की और वे ही भगवान् नरहरि-रूप से वहाँ विराजमान हुए। हरि-मन्दिर, तुलसीवाटिका आदि इसी सम्बन्ध से लंका में रह पाये और श्रीविभीषणजी को स्वधर्माचरण का सुन्दर योग लग गया।

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी॥२॥
जानेहि नहीं मरम सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥३॥
मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥४॥

अर्थ—लंकिनी नाम की एक राक्षसी (लंका की रक्षा करनेवाली) थी। उसने कहा कि मेरा निरादर करके तू चला जा रहा है ?॥२॥ अरे शठ ! तू मेरा मर्म (भेद रहस्य एवं स्वभाव) नहीं जानता कि जहाँ तक (लंका में आनेवाले) चोर हैं, वे सब मेरे आहार हैं॥३॥ महाकपि श्रीहनुमानजी ने उसे एक मुष्टिका (घूँसा) मारी, जिससे वह रक्त उगलती हुई पृथ्वी पर लुढ़क पड़ी॥४॥

विशेष—(१) 'नाम लंकिनी'—यह स्वयं लंकापुरी है। 'निसिचरी'—राक्षसी-रूप में है, यथा—"पुनि सँभारि उठी सो लंका।" आगे कहा गया है। "अहं हि नागरी लङ्का स्वयमेव प्लवङ्गम। सर्वतः परिरक्षामि अतस्ते कथितं मया॥" (वाल्मी० ५।३।२८), इसने पुर में घुसते ही श्रीहनुमानजी को रोका, इससे जाना गया कि यह लंका-द्वार पर ही बैठी हुई उसकी रक्षा करती थी। रक्षक के बिना पूछे प्रवेश करना उसका निरादर करना है। श्रीहनुमानजी ने, न पुरी की पूजा की और न उसे प्रणाम ही किया, यों ही घुस पड़े, इसीसे वह कहती है कि क्या तुझे मेरा डर नहीं है ?

समुद्र-लंघन-रहस्य

श्रीहनुमानजी को समुद्र-लंघन में नभ की, जल की और स्थल की निवासिनी तीन स्त्रियाँ ही बाधक हुईं, और इन्होंने उन तीनों को जीता, तब लंका में प्रवेश कर श्रीसीताजी की खोज में प्रवृत्त हुए। ऐसे ही परमार्थ पक्ष में प्रबल वैराग्यवान् होकर पहले रसना को जीतना चाहिये। रसना के देवता जलाधिपति वरुण हैं, इससे इसका जीतना समुद्र-लंघन के समान है। रसना ही आहार देकर सब इन्द्रियों के सहित देह से प्रमाद कराती है, इसीसे इसके जीतने के साथ-ही-साथ देहाभिमान भी जीता जाता है। देहाभिमान को सागर कहा भी गया है, यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर···प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय···" (वि० ५८), रसना के जीतने में तीनो गुणों के सम्बन्धी तीन प्रकार के आहार कहे गये हैं। गीता १७।८–१० देखिये। देहाभिमान जीतनेवाले विरक्त को प्रथम रामनामांकित-मुद्रिका-रूप राम मन्त्रोपदेश राम-रूप-गुण से प्राप्त करना चाहिये। जैसे श्रीहनुमानजी को मुद्रिकांकित राम-नाम के अर्थ-रूप सातो काण्ड के चरित चन्द्रमा मुनि और जाम्बवान्-द्वारा प्राप्त हुए, वैसे ही मुमुक्षु भी गुरु-मुख से मन्त्रार्थ श्रवण करे। जैसे उसके बाद वे समुद्र-लंघन में तत्पर हुए, वैसे ही यह भी देहाभिमान जीतने में लगे। जैसे वहाँ पहले उन्हें सुरसा मिली, वैसे ही इसे भी विद्या-रूपा सात्त्विकी माया का सामना करना पड़ता है। सात्त्विक आहार-सहित इसे विद्या पढ़ना एवं सत्संग करना चाहिये। जिस प्रकार सुरसा का मुँह बढ़ने लगा, उसी प्रकार इसे भी विद्या की अपेक्षा बढ़ती ही जाती है। जैसे सुरसा का मुख सौ योजन का हो गया, वैसे विद्या का भी विस्तार अनन्त है। अतः, यह दीनता-रूपी लघु-रूप से विद्या के हृदय का तत्त्व ब्रह्म-विद्या को जान उससे पृथक् हो जाय और साधन के लिये उद्यत हो, तब वह विद्या सुरसा की तरह आशिष देती है। फिर तमोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। जल में सिंहिका रहती थी, उसने श्रीहनुमानजी की छाया को खींचकर इनका गति-रोध किया। वैसे तामसाहंकार से शब्दादि विषय होते है, वे खार जल-रूप हैं, यथा—"बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।" (वि० १०२)। विषय-सम्बन्ध से राग-द्वेष आदि मुमुक्षु का गति-रोध करते हैं। अतः, यह इन्हें नाश ही करने का प्रयत्न करे। पुनः श्रीहनुमानजी को आगे स्थल पर लंकिनी मिली। वैसे ही इसे भी रजोगुणी माया का सामना करना पड़ता है। इसका विकार देह-पोषण करना है। इस माया को प्रथम तो व्रतोपवास आदि से वश में करे, जिस प्रकार एक मुष्टिका मारकर श्रीहनुमानजी ने लंकिनी को अधीन किया और वह श्रीराम-कार्य में सहायक हुई, उसी प्रकार स्वाधीन इन्द्रियों के साथ देह भी परमार्थ-साधन में सहायक होती है।

तात्पर्य यह कि सुरसा-रूपी सत्त्वगुणी माया से मिलकर चलना अर्थात् सत्त्ववृत्ति रखनी चाहिये। सिंहिका-रूपी तमोगुणी माया, अर्थात् राग-द्वेषादि को नाश करना चाहिये और रजोगुणी माया-रूपी देह-पोषकता को निर्वाह-मात्र के लिये रखना चाहिये। तब भक्ति महारानी एवं ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति होती है।

(२) 'जानेहि नहीं मरम···'—श्रीहनुमानजी की निर्भीकता देखकर कहती है कि क्या तू मेरा मर्म नहीं जानता, यथा—"निर्भय चलेसि न जानेहि मोहीं।" (अर० दो० २८), मर्म का न जानना निरादर

का कारण है। अतः, न जानने पर शठ कहा। अपना मर्म वह स्वयं कहती है, यथा—"मोर अहार जहाँ लगि चोरा।" 'जहाँ लगि' अर्थात् जितने में मेरा (लंका का) विस्तार है, वहाँ तक के चोरों को ही मैं खाती हूँ, अर्थात् वे मुझसे छूटकर नहीं जा पाते।

(३) 'मुठिका एक महा कपि हनी।···'—इसे श्रीहनुमानजी ने मुष्टिका मारी, क्योंकि—(क) इसने चोर को पहचाना और उससे बातें कीं। जो चोर को पहचानता है और उससे बातें करता है, चोर उसे मारता ही है, यथा—"चीन्हों चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि···" (वि० २६६)। (ख) यह श्रीराम-कार्य में बाधक हुई। अतः, राक्षसी है। कदाचित् यह सचेत रही, और औरों को मेरा आना जना देगी, तो अभीष्ट कार्य में विघ्न होगा। 'महाकपि'—लंकिनी के समत्त पूर्ववत् पर्वताकार हो गये, इसीसे आगे फिर लघु रूप का होना कहा गया है, यथा—"अति लघु रूप धरेउ हनुमाना।"—इससे यह भी जाना गया कि लंकिनी का रूप भारी था। अतः, इन्हें भी भारी ही होना पड़ा कि वह डरकर भी मार्ग छोड़ दे।

श्रीहनुमानजी के घूँसे से मेघनाद, कुम्भकर्ण और रावण भी मूर्च्छित हो गये हैं, क्रमशः प्रमाण—"मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई।" (दो० १८), "तब मारुतसुत मुठिका हन्यौ। परयो धरनि ब्याकुल सिर धुन्यौ॥" (लं० दो० ६३), "मुठिका एक ताहि कपि मारा। परेउ सैल जनु बज्र प्रहारा॥" (लं० दो० ८२), पर यह मूर्च्छित नहीं हुई। इससे जाना गया कि वैसा घूँसा इसे नहीं लगा—"स्त्री जानकर बायें हाथ के मूके से मारा और अत्यन्त क्रोध से भी नहीं मारा।" (वाल्मी० ५।३।४०-४१), हलके घूँसे से भी विह्वल होकर इस राक्षसी ने कई द्रुनमुनियाँ खाईं, पर तुरत सचेत हो गई और उसे ब्रह्मा का वरदान याद आ गया।

पुनि संभारि उठी सो लंका। जोरि पानि कर बिनय ससंका॥५॥
जब रावनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा॥६॥
बिकल होसि तैं कपि के मारे। तब जानेसु निसिचर संहारे॥७॥
तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥८॥

अर्थ—फिर वह लंकिनी (लंका पुरी की अधिष्ठातृ-देवी जो रावण के साहचर्य से राक्षसी रूप में परिणत थी) अपनेको सँभालकर उठी और हाथ जोड़कर डरती हुई विनय करने लगी॥५॥ कि जब ब्रह्माजी ने रावण को वर दिया था, तब चलते समय ब्रह्माजी ने मुझसे (निशाचर-नाश का) यह चिह्न बतलाया था॥६॥ कि जब तू वानर के मारने पर व्याकुल हो जायगी, तब जान लेना कि निशाचरों का नाश होना है (और धर्मात्मा राजा होगा)॥७॥ हे तात! मेरा बड़ा भारी पुण्य (उदित हुआ) है कि मैंने श्रीरामजी के दूत को आँखों से देखा॥८॥

विशेष—(१) 'पुनि संभारि उठी···'—'सँभारि' से व्याकुल होना दिखलाया, जो आगे स्पष्ट है, यथा—"बिकल होसि तैं कपि के मारे। 'सो लंका'—श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम इसे 'एक निसिचरी' कहा था, क्योंकि यह स्वयं अपनेको छिपाये हुई थी। अब यह अपनेको प्रकट करने लगी, तब आपने स्पष्ट कह दिया कि 'सो लंका' अर्थात् वही लंका नगरी है। यह मन, वचन और कर्म से नम्र हुई—'ससंका'—मन, 'जोरि पानि'—कर्म और 'कर बिनय'—यह वचन है। सशंक है कि कहीं फिर न मारें, क्योंकि इसने उन्हें चोर कहा था, और उसके बदले में मारी गई। शठ भी कहा था, उसका बदला अभी शेष है।

(२) 'चलत बिरंचि कहा···'—वाल्मी० ५।३।४६-५१ में लंकिनी ने कहा है कि स्वयं ब्रह्माजी ने मुझे वर दिया था कि कोई वानर जब पराक्रम से तुम्हें जीत ले, तब समझ लेना कि निशाचरों पर विपत्ति

आ गई। वह समय आ गया, श्रीसीताजी के कारण रावण का नाश होगा। तुम नगरी में प्रवेश करो और जो काम चाहते हो, करो। इस शापहत पुरी में पैठकर श्रीसीताजी को खोजो।

अग्निपुराण में यह भी कहा है कि जब ब्रह्मा ने रावण को ५ करोड़ वर्ष राज्य करने को कहा तब इसने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि मुझे दुष्टों का संग कब तक भोगना होगा, कभी धर्मात्मा का भी राज्य होगा वा नहीं? इसपर ब्रह्माजी ने उससे उपर्युक्त बातें कहीं और यह भी कहा कि पीछे धर्मात्मा का राज्य होगा।

ब्रह्मा का विधान कहकर अपनी सफाई भी दी कि मेरा दोष नहीं, होनी ही ऐसी थी, यथा—"स्वयम्भूविहितः सत्यो न तस्यास्ति व्यतिक्रमः॥" (वाल्मी० ५।३।४९), इसपर प्रसन्न हो फिर श्रीहनुमानजी ने अवशिष्ट दूसरा मुक्का नहीं मारा।

(३) 'मोर अति पुन्य बहूता'—राम-भक्त के दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं, यथा—"पुन्य पुंज बिन मिलहि न संता।" (उ० दो० ४४)। 'देखेउँ नयन'—आपको सन्त लोग ध्यान से देखते है, वही आप मेरी आँखों के सामने है, यथा—"देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद कंज।" (दो० ४७), 'राम कर दूता' से सिद्ध होता है कि इससे ब्रह्माजी ने संक्षेप में रामायण भी कही थी, जैसे चन्द्रमा मुनि ने सम्पाती से कही थी। नहीं तो "बिकल होसि तैं कपि के मारे।···" मात्र में इनका रामदूतत्व आदि वह कैसे जानती? 'तात' शब्द यहाँ श्रेष्ठता-परक है।

दोहा—तात स्वर्ग अपबर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥४॥

प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर-राजा॥१॥

अर्थ—हे तात! स्वर्ग और मोक्ष के सुखों को तराजू के एक पलरे में रक्खा जाय और लव-मात्र के सत्संग-सुख को दूसरे पलरे में रक्खा जाय, तो उस सुख के बराबर (वे) सब (स्वर्ग और अपवर्ग) सुख मिलकर भी नहीं हो सकते, जो सुख लव-मात्र के सत्संग से प्राप्त होता है॥४॥ कोशलपुर के राजा श्रीरामजी को अपने हृदय में रखकर नगर में प्रवेश करके सारे कार्य कीजिये॥१॥

विशेष—(१) 'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख···'—संसार के सभी सुखों से स्वर्ग का सुख अधिक है और स्वर्ग-सुख से भी मोक्ष का सुख अधिक है, परन्तु उनसबों से सत्संग का सुख अधिक है। सकाम कर्म का फल स्वर्ग-सुख है, यथा—"कामात्मानः स्वर्गपरा···" (गीता २।४३), ज्ञान का फल मोक्ष है, यथा—"ज्ञान मोच्छ प्रद बेद बखाना।" (अर० दो० १५), और उपासना का फल सत्संग है, यथा—"मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥" (बा० दो० १९९), "जब द्रवै दीन दयालु राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसाइये॥" (वि० दो० १३६), कहीं-कहीं भक्ति का प्रथम अंग ही सत्संग कहा गया है, यथा—"प्रथम भगति संतन्ह कर संगा॥" (अर० दो० ३४), तात्पर्य यह है कि सामान्य सन्तों का संग साधन है और विशेष सन्तों का संग होना भक्ति का फल है।

शंका—सत्संग का फल अपवर्ग कहा गया है, यथा—"संत संग अपवर्ग कर" (उ० दो० ३३), तब यहाँ इसे अपवर्ग से भी अधिक क्यों कहा गया?

समाधान—यहाँ तात्कालिक फल की अपेक्षा से विशेष कहा गया है, यथा—"भजन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला॥" (बा० दो० २), अर्थात् सत्संग से तुरत ही जीवन्मुक्ति-दशा

आ जाती है और साधनों से मरने पर वह फल मिलता है। यहाँ अन्य साधनों से प्राप्य अपवर्ग का प्रसंग जानना चाहिये।

शंका—यहाँ तो लंकिनी ने श्रीहनुमानजी को शठ और चोर कहा, और उन्होंने इसे घूँसा मारा।—इसमें सत्संग का कौन रहस्य ?

समाधान—यहाँ दर्शन और स्पर्श का प्रभाव है, यथा—"सत्संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥" (उ० दो० १२२), यहाँ निमिष भर का सत्संग तो दर्शन ही हो सकेंगे, यह लंकिनी वाक्य से स्पष्ट है—"तात मोर अति पुन्य बहूता। देखेउँ नयन राम कर दूता॥" 'जो सुख लव सतसंग', यथा—"संत मिलन सम सुख कछु नाहीं।" (उ० दो० १२२)। मुष्टिका से स्पर्श भी हुआ।

यहाँ भी क्षण-मात्र के सत्संग से लंकिनी तामसी वृत्ति को छोड़कर सात्त्विक वृत्तिवाली हो गई। कहा भी है—"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥" (भाग १।१८।१३)।

तुला तौलने में नीचे का पलरा भारी कहाता है। यहाँ स्वर्ग आदि ऊपर हैं और सत्संग पृथ्वी पर है। अतः, नीचे है, यों भी यह पक्ष भारी है।

(२) 'प्रबिसि नगर कीजै···'—भाव यह है कि तुम्हारे इस अति लघु रूप से मैं ही परिचित हो सकी हूँ, दूसरा नहीं जान सकता। अतः, निर्भय होकर प्रवेश करके सब कार्य करो। 'सब काजा'—ब्रह्माजी ने सूक्ष्म रीति से चरित कहा था, उसीसे यह जानती है कि ये श्रीसीताजी का शोध, अशोक वाटिका का उजाड़ना और बहुत-से राक्षसों का वध आदि कई कार्य करेंगे, यथा—"तत्प्रविश्य हरिश्रेष्ठ पुरीं रावणपालिताम्। विधत्स्व सर्वकार्याणि यानि यानीह वाञ्छसि॥" (वाल्मी० ५।३।५०), अर्थात् हे वानर-श्रेष्ठ ! रावणपालित इस नगरी में तुम प्रवेश करो और जो-जो कार्य करना चाहो करो।

(३) 'हृदय राखि कोसलपुर राजा।'—यह कार्य-सिद्ध होने के उपाय बतला रही है, क्योंकि लंका में प्रवेश करना कठिन है, यथा—"नहि युद्धेन वै लङ्का शक्या जेतुं सुरैरपि॥" (वाल्मी० ५।२।२५), इसी-से बार-बार हरि-स्मरण करना कहा जाता है, यथा—"लंकहिं चलेउ सुमिरि नरहरी।" (दो० ३), आगे भी—"पैठा नगर सुमिरि भगवाना।" कहा गया है, तथा—"रघुपति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु॥" (दो० १७), इत्यादि। 'कोसलपुर राजा'—स्मरण से श्रीरामजी वैसे ही रक्षा करेंगे, जैसे कोशल-पुर की रक्षा करते हैं। पुनः इनके आश्रित होकर जो राक्षस-वध, लंकादहन आदि करोगे, उसमें तुम्हें कोई दोष न देगा, यथा—"प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जौ कछु करहि उन्हें सब छाजा॥" (अर० दो० १६), पुनः इस स्मरण से लंका का ऐश्वर्य देखकर श्रीहनुमानजी को मोह न होगा, क्योंकि कोशलपुर का ऐश्वर्य लंका की अपेक्षा बहुत अधिक है।

गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥२॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥३॥

अर्थ—हे गरुड़ ! जिसको रामजी ने कृपा-दृष्टि से देखा, उसके लिये विष अमृत हो जाता है, उससे शत्रु मित्रता करता है, उसके लिये समुद्र गोपद के समान हो जाता है, आग ठण्ढी हो जाती है और सुमेरुपर्वत धूल के समान हो जाता है॥२-३॥

विशेष—'राम कृपा करि···', यथा—"सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥" (बा० दो० ३८), यहाँ विरोधी पदार्थों का अनुकूल होना कहकर राम-कृपा की महिमा कही गई। 'जाही' अर्थात् कोई भी हो, वही ऐसा हो जाय, तथा—"वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात्, मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते। व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते,

यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥" (भर्तृहरि-नीति शतक ११०) । इसका ठीक विपर्यय भी कहा गया है, यथा—"मातु मृत्यु पितु समन समाना । सुधा होइ बिष सुनु हरि जाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी । ता कह बिबुध नदी बैतरनी ॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥" (अर० दो० १), इन दोनों स्थानों में तथा अन्यत्र भी नीति के प्रसंग में प्रायः भुशुण्डीजी की ही उक्ति रहती है, क्योंकि इन्होंने गुरुजी से नीति सीखी है, यथा—"एक बार गुरु लीन्ह बोलाई । मोहि नीति बहु भाँति सिखाई ॥" (उ० दो० १०५) । प्रायः नीति-उपदेश इन्हींके संवाद में रहता है । प्रेम-प्रकरण, संशय-भ्रम-निवारण और उपदेश-प्रकरण में प्रायः शिव-उमा-संवाद और मन के प्रति उपदेश देना श्रीगोस्वामीजी के संवाद में रहता है ।

यहाँ पाँच बातों का विपर्यय होना कहा गया है, ये सब हनुमानजी में ही चरितार्थ हैं—(१) 'गरल सुधा'—सुरसा सर्पों की माता होने से गरलमय है, वह इन्हें ग्रास करने को आई थी, यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा ।" और वही राम-कृपा से फिर आशिष देनेवाली हो गई, यथा—"राम काज सब करिहहु···" (२) 'रिपु करइ मिताई'—लंकिनी शत्रु-पुर की अधिष्ठातृ-देवी थी, पहले उसने शत्रुता की बातें कीं, यथा—"जानेहि नहीं मरम सठ मोरा ·" फिर मित्रता की बात करने लगी, यथा—"प्रबिसि नगर कीजै सब काजा ।" (३) 'गोपद सिंधु', यथा—"बारिधि पार गयउ मति धीरा ॥" (४) 'अनल सितलाई' यथा—"जरा न सो तेहि कारन गिरजा ॥" (दो० २५), (५) 'सुमेरु रेनु सम', यथा—"जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता । चलेउ सो गा पाताल तुरंता ॥" (दो० १), "सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा ॥ गहि गिरि निसि नभ धावत भयऊ ।" (लं० दो० ५६) ।

अलंकार—'विरोधाभास', क्योंकि यहाँ विरोधी घटनाएँ साथ कही गई हैं ।

उपर्युक्त (४)-(५) भविष्य के हैं, (२) वर्त्तमान और (१)-(३) भूतकाल के हैं । अतः, तीनों कालों की कृपा दृष्टि कही गई । इनमें सुरसा और लंकिनी को एक साथ कहा गया है, समुद्र लाँघने पर लंकिनी मिली थी । अतः, 'गोपद सिंधु' की व्यवस्था पहले की है, पर क्रम-भंग किया गया है । इसका कारण यह है कि सुरसा और लंकिनी में समानता है—दोनों के नाम कहे गये, यथा—'सुरसा नाम···' और 'नाम लंकिनी', दोनों के आहार भी समान ही हैं, यथा—"आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा ।" और "मोर अहार जहाँ लगि चोरा ।", दोनों में देव-आज्ञा की भी समता है, यथा—"मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा ।" और "चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ।", दोनों ने राम-कार्य की अनुमति दी, यथा—"राम काज सब करिहहु ·" और "प्रबिसि नगर कीजै सब काजा ।", दोनों प्रसन्न हुईं, यथा—"आसिष देइ गई सो···" और "तात मोर अति पुन्य बहूता, देखेउँ ···" इत्यादि । पुनः आगे 'गोपद सिंधु', 'अनल सितलाई', 'सुमेरु रेनु ···' में क्रमशः जल, अग्नि और पृथ्वी—यह तत्त्व-वर्णन एक साथ हो गया है । उपर्युक्त क्रम भंग इस हेतु से भी हो सकता है ।

अति लघु रूप धरेउ हनुमाना । पैठा नगर सुमिरि भगवाना ॥४॥
मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा । देखे जहँ तहँ अगनित जोधा ॥५॥

अर्थ—अत्यन्त छोटा रूप धारणकर और भगवान् श्रीरामजी का स्मरण करके श्रीहनुमानजी ने लंका नगर में प्रवेश किया ॥४॥ वहाँ एक-एक करके सब मन्दिरों को भली-भाति खोजा । जहाँ-तहाँ (जहाँ देखे तहाँ ही) असंख्य योद्धा देखे ॥५॥

विशेष—(१) 'अति लघु रूप धरेउ हनुमाना'—पहले श्रीहनुमानजी ने मशक के समान अति-लघु रूप धारण किया था, फिर लंकिनी को मारने के समय उनका रूप विशाल हो गया और उस रूप को 'महाकपि' शब्द से व्यक्त किया गया । अब फिर पूर्ववत् मशक के समान हो गये । पहले जब वे लंका को

चले थे, तब नृसिंहजी का स्मरण किया था, नगर के बाहर बहुत-से रक्षक थे और उनसे रक्षा पाने के लिये उस रूप का स्मरण उपयुक्त था, क्योंकि वह अवतार भक्त की रक्षा के लिये ही हुआ। यहाँ भगवान् का स्मरण कहकर उनकी षडैश्वर्य पूर्णता का ध्यान करते हैं कि जिस समय जिस ऐश्वर्य की अपेक्षा हो, उसीसे मुझे सहायता मिले। वि० पु० ६।५।७४, ७८-७६ में छहो ऐश्वर्य तीन-तीन प्रकार के कहे गये हैं, वे सभी यहाँ ध्यान में आ गये हैं। वा, लंका अति बंका दुर्ग है। अतः, उसमें प्रवेश पाने के लिये बार-बार प्रभु का स्मरण करते हैं।

(२) 'मंदिर-मंदिर प्रतिकरि सोधा।'—यद्यपि सम्पाती ने अशोकवाटिका में ही श्रीसीताजी का रक्खा जाना कहा था, तो भी मन्दिर-मन्दिर में खोजते हैं, इसके कारण ये हैं—(क) सम्पाती ने दिन की बात कही है, रात में सम्भवतः अशोकवाटिका में न रक्खी गई हों, महलों में हों, यथा—"मंदिर महँ न दीख बैदेही।" आगे कहा ही है। (ख) चोर की नीति है कि वह चोरी की वस्तु एक ही स्थान पर नहीं रखता। अन्तः, श्रीहनुमानजी नगर भर ढूँढ़ते हैं। (ग) अशोकवाटिका भी तो इन्हें अभी नहीं मालूम है, इसलिये सर्वत्र एक तरफ से ढूँढ़ते हैं। श्रीरामजी ने यह कहा भी है, यथा—"देखि दुर्ग बिशेष जानकि जानि रिपु गति आउ।" (गी० सुं० ४)।

'देखे जहँ तहँ अगनित योधा।'—जहाँ-तहाँ बहुत-से योद्धा ही दिखलाई पड़े, पर श्रीसीताजी न दिखाई पड़ीं। इन्होंने सभी योद्धाओं को देखा, पर इन्हें कोई भी न देख पाया। पहले जो योद्धा कहे गये हैं वे कोट के बाहर के थे, यथा—"करिजतन भट कोटिन्ह ···" और ये योद्धा भीतर के हैं। अर्थात् ये भीतर के रक्षक हैं। मन्दिरों में श्रीहनुमानजी को और भी बहुत-सी वस्तुएँ दिखलाई पड़ीं, पर ये योद्धा हैं, इसीसे योद्धाओं पर इनकी विशेष दृष्टि पड़ी, इसीलिये कहा गया।

गयउ दसानन - मंदिर माहीं। अति बिचित्र कहि जात सो नाहीं ॥६॥
सयन किये देखा कपि तेही। मंदिर महँ न दीखि बैदेही ॥७॥
भवन एक पुनि दीख सुहावा। हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा ॥८॥

दोहा—रामायुध अंकित गृह, सोभा बरनि न जाइ।
नवतुलसिका बृंद तहँ, देखि हरष कपिराइ ॥५॥

अर्थ—फिर वे रावण के महल में गये, वह (जैसा) अत्यन्त विचित्र रचना युक्त था, वैसा कहा नहीं जा सकता ॥६॥ श्रीहनुमानजी ने रावण को सोते हुए देखा, पर उस महल में विदेह कुमारी श्रीसीताजी को नहीं देखा ॥७॥ फिर एक और शोभायमान घर देखा, उसमें एक भगवान् का मन्दिर पृथक् बना हुआ था ॥८॥ वह घर श्रीरामजी के आयुध (धनुष-बाण) से अंकित था, (इससे एवं और भी सर्वांग-पूर्णता से) उसकी शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता था। वहाँ नवीन तुलसी के वृक्ष-समूह देखकर कपिराज श्रीहनुमानजी हर्षित हुए ॥५॥

विशेष—(१) 'दसानन-मंदिर'—जितने घर श्रीहनुमानजी ने देखे, उनके नाम नहीं जाने, पर इसके दस सिर देखकर समझ गये कि यही रावण है। इसीसे गोस्वामीजी ने भी वैसा ही लिखा है। 'अति बिचित्र'—पुर के और घर तो विचित्र हैं ही, यथा—"कनक कोट बिचित्रमनिकृत···" (दो० ३), पर यह तो राज-महल है, इसीसे 'अति बिचित्र' है, यथा—"सुनासीर सत सरिस सो, संतत करइ बिलास।" (लं० दो० १०)। वाल्मीकीय रामायण ५।४।२४-३० में विस्तार से कहा है, उसीको यहाँ 'अति बिचित्र' से व्यक्त किया गया है।

(२) 'सयन किये देखा ···'—अन्यत्र रक्षक का भी रहना कहा गया है, पर यह राजा का शयनागार है, इसीसे यहाँ रक्षक नहीं हैं। यहाँ सीताजी का रहना सम्भव हो सकता था, पर वे यहाँ नहीं हैं। 'बैदेही' शब्द से ग्रन्थकार श्रीहनुमानजी का अनुमान करना प्रकट करते हैं कि श्रीजानकीजी रावण के भय से और रामवियोग में देह-रहित हो गई होंगी। यहाँ वाल्मी० ५।१२।३ एवं ५।१३।६-१० की अनिष्ट कल्पनाओं के भाव इस 'बैदेही' पद में ही ले लिये हैं। इसमें यह भी भाव है कि उन्होंने और-और प्राकृत देहवाली देव-कन्याओं एवं मन्दोदरी आदि को देखा, पर श्रीवैदेहीजी न दीख पड़ीं। 'न दीखि बैदेही'—यहाँ यह शंका की जाती है कि हनुमानजी ने श्रीसीताजी को कैसे पहचाना ? रावण के वश में जाती हुई, इन्होंने हनुमान आदि की ओर देख वस्त्राभूषण डाल दिये थे। आकाशमार्ग में क्षणिक झाँकी से कैसे चीन्ह सकते हैं ? समाधान यह है कि श्रीरामजी ने अँगूठी देते समय जो कान में लगकर सँदेशा कहा है—गी० सुं० ११। उसी समय श्रीवैदेही के लक्षण भी कहे हैं, यथा—"यथा रूपां यथा वर्णां यथा लक्ष्मवतीं च ताम् ॥१४॥ अश्रौषं राघवस्याहं सेयमासादिता मया।" (वाल्मी० ५।३१।१४-१५), यह श्रीहनुमानजी ने ही कहा है कि श्रीरामजी, मैंने जैसे रूप, वर्ण एवं लक्षण युक्त श्रीसीताजी को सुना था, उन्हें ही पा गया।

(३) 'भवन एक पुनि दीख सुहावा।···'—रावण के घर के समीप ही विभीषण का भी घर था, इसीसे दोनों साथ ही कहे गये। स्नेह-वश रावण इन्हें अपने समीप ही रखता था। 'एक'—सात्त्विक साज से सजा घर लंका भर में यह एक ही था। 'हरि-मंदिर तहँ···'—विभीषणजी ने ब्रह्माजी से निर्मल हरि-भक्ति माँगी थी। इसीसे वे बिना हरि-मन्दिर एवं भगवत्पूजा के नहीं रह सकते थे। अतः, रावण भ्रातृस्नेह से अपने विरोधी आचरण को भी सहता था। वह यह जानता ही था कि ब्रह्मा का वचन अन्यथा नहीं हो सकता। इसका एक कारण ऊपर दो० ३ चौ० १ में भी कहा गया है। 'भिन्न बनावा'—भगवान् का मन्दिर घर से कुछ पृथक् होना चाहिये। जिससे सूतक आदि दोषों से बचा रहे। पर, इतना दूर भी न हो कि जहाँ दूर होने के कारण हर समय की सेवा-पूजा में पहुँचना कठिन जान पड़े।

(४) 'रामायुध अंकित गृह···'—श्रीविभीषणजी रामरूप के ही उपासक थे, इसीसे रामायुध का चिह्न भी रखते थे। 'नवतुलसिका'—वैष्णव सन्त हरि-मन्दिर के पास तुलसी अवश्य ही लगाते हैं, यथा—'तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई ॥" (उ० दो० २८)। यहाँ ही सात्त्विक साज देखा, इसीसे 'सुहावा' कहा, नहीं तो 'बिचित्र' आदि शब्दों से ही कहते। यह इन्हें प्रिय लगा, इसीसे यहाँ हर्ष होना कहा है। 'कपिराई—का भाव मं० श्लोक के 'वानराणामधीशं' में देखिये। 'नवतुलसिका'—नवीन कोमल मंजरी सहित तुलसी पूजा में श्रेष्ठ है।

लंका निसिचर - निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ॥१॥
मन महँ तरक करइ कपि लागा। तेही समय बिभीषन जागा ॥२॥
राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा। हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ॥३॥

अर्थ—लंका तो निशाचर-समूह का निवासस्थान है, यहाँ सज्जन का निवास कहाँ ? ॥१॥ श्रीहनुमानजी मन में ऐसा तर्क करने लगे, उसी समय श्रीविभीषणजी जागे ॥२॥ उन्होंने (श्रीविभीषणजी ने) 'राम-राम' उच्चारण करते हुए श्रीरामजी का स्मरण किया, इसीसे कपि श्रीहनुमानजी उन्हें सज्जन जानकर हृदय में हर्षित हुए ॥३॥

विशेष—(१) 'लंका निसिचर-निकर···'—जहाँ एक भी दुष्ट होता है, वहाँ पर सज्जन का वास नहीं होता और यहाँ तो दुष्ट के समूह ही हैं, इनके बीच में एक सज्जन कैसे रह सकता है ? यथा—"सुनहु असंतन केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ ॥" (उ० दो० ३८), "खल परिहरिय स्वान की नाईं ॥" (उ० दो० १०५)।

(२) 'मन महँ तरक···'—तर्क करने के कारण ये हैं कि दुष्टों के बीच में सज्जन रह नहीं सकता। यदि मानें कि यह सज्जन नहीं, दुष्ट ही होगा तो भी यह तर्क होता है कि वह सज्जन के साज—हरि मन्दिर बनाना और उसे रामायुध से अंकित करना एवं तुलसी लगाना आदि—क्यों सजाता ? वा, लंकिनी से जानकर कहीं रावण ने ही मुझे ठगने का यत्न तो नहीं किया। जैसे कालनेमि ने 'सर मंदिर···' बनाया है, यह आगे आवेगा।

(३) 'तेही समय बिभीषन जागा।'—सज्जन प्रहर-भर रात रहे जागते हैं, यथा—"पछिले पहर भूप नित जागा। आज हमहि बड़ अचरज लागा॥" (अ० दो० ३७), और इसी समय ब्राह्म-मुहूर्त्त में श्रीविभीषणजी भी जगे। इससे स्पष्ट है कि श्रीहनुमानजी को खोजते हुए तीन पहर बीत गये। इसका एक यह भी कारण हो सकता है कि भक्त (हनुमानजी) के तर्क-निराकरण के लिये ही श्रीरामजी ने इन्हें अपनी प्रेरणा से जगा दिया। जैसे—"सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये॥" (दो० २३), अर्थात् भक्त की रक्षा के लिये और शत्रु पुर-दहन के लिये भगवान् ने ही यह योग लगा दिया। वैसे यहाँ भी विभीषण का सद्भाव प्रकट करने के लिये—"तेही समय बिभीषन···"।

(४) 'राम राम तेहि ··'—सज्जन जागने पर राम-नाम का स्मरण करते हैं, यथा—"राम-नाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥" (बा० दो० ५९)। 'हृदय हरष'—यह दीपदेहली है। श्रीविभीषणजी ने हृदय से आह्लादपूर्वक (प्रेम से) राम-नाम का स्मरण किया, तब कपि को परम हर्ष हुआ। पहले बाहरी चिह्नों को देखकर जो तर्क उत्पन्न हुआ था, वह अब यहाँ हार्दिक प्रीति देखने से दूर हो गया, यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥" (दो० १३)। ऊपर चिह्नों से अन्त:करण का चिह्न विशेष है। ऊपरी बातें बनावटी भी होती हैं, पर हृदय का भाव कभी नहीं छिप सकता। पहले ऊपरी चिह्न को देखकर सामान्य हर्ष ही हुआ था। अब भीतरी चिह्न पाने से विशेष हर्ष हुआ कि इनसे हमारा कार्य हो सकेगा। 'सज्जन चीन्हा'—उपर्युक्त भीतरी और बाहरी चिह्न ही सज्जनों के परिचायक हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि श्रीहनुमानजी इसी तरह कपटी के पहचानने में भी निपुण हैं, यथा—"तासु कपट कपि तुरतहि चीन्हा।" (दो० २)।

येहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज-हानी॥४॥
बिप्ररूप धरि बचन सुनाये। सुनत बिभीषन उठि तहँ आये॥५॥
करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥६॥

अर्थ—इससे हठ करके जान-पहचान करूँगा, क्योंकि साधु से कार्य की हानि नहीं होती॥४॥ (यह विचार निश्चित कर) ब्राह्मण का रूप धारण करके वचन सुनाया, सुनते ही श्रीविभीषणजी उठकर वहाँ आये॥५॥ और प्रणाम करके कुशल पूछी—हे ब्राह्मण ! अपनी कथा समझाकर कहिये॥६॥

विशेष—(१) '··· हठि करिहउँ पहिचानी।'—ये साधु हैं, और साधु प्राय: किसीसे जान-पहचान नहीं करते, यथा—"सदा रहहि अपनपौ दुराये। सब बिधि कुसल कुबेष बनाये॥" (बा० दो० १६०), पर मैं अपने कार्य के लिये हठ-पूर्वक (अर्थात् अपनी ओर से) जान-पहचान करूँगा, क्योंकि जैसे मैंने इन्हें पहचान लिया, वैसे ही यदि ये भी मुझे पहचान लें तो कार्य बन जाय, किन्तु अभी तो मैं सूक्ष्म (अप्रकट) रूप में हूँ, यदि प्रकट रूप में हो जाऊँ तो हानि होने की सम्भावना है, जैसा कि इसी ग्रन्थ में रुद्रगण और शुकसारन की हानि होना लिखा है। इसीपर कहते हैं—"साधु ते होइ न कारज हानी।" साधु तो पर-कार्य-साधक होते हैं। ऊपर सज्जन कहा, उसे यहाँ साधु कहा। इस तरह दोनों को पर्यायवाचक जनाया।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में श्रीहनुमानजी और श्रीविभीषणजी का संवाद नहीं है, पर आगे

श्रीहनुमानजी को वध-दण्ड से छुड़ाने के लिये श्रीविभीषणजी का रावण से पैरवी करना और लंकादहन के समय श्रीहनुमानजी का श्रीविभीषणजी का घर बचा देना एवं शरण आने पर श्रीविभीषणजी को ग्रहण करने के लिये श्रीहनुमानजी का प्रभु से पैरवी करना आदि देखने से इन दोनों की भेंट होना ही सिद्ध होता है। पुनः पूर्व-परिचय बिना एका-एक परम नीति-निपुण श्रीविभीषणजी का श्रीरामजी की शरण में आना भी नीति की दृष्टि से अस्वाभाविक है। यह संवाद श्रीविभीषण-शरणागति का बीज है।

(२) 'बिप्ररूप धरि···'—श्रीविभीषणजी को साधु जानकर भी विप्र-रूप धरने का प्रयोजन यह हुआ कि सन्त ब्राह्मणों से प्रेम करते हैं, यथा—"द्विज-पद-प्रीति धरम जनयत्री।···ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥" (उ० दो० ३७)। श्रीहनुमानजी अन्य रूपों के प्रसंग में प्रायः विप्र-रूप से ही मिलते हैं। जैसा कि श्रीरामजी से किष्किन्धाकाण्ड में और श्रीभरतजी से उत्तरकाण्ड में मिले हैं। केवल श्रीजानकीजी के यहाँ ही विप्ररूप से नहीं मिले, क्योंकि रावण ने विप्र बनकर ही उनसे छल किया था। सम्भव था कि उन्हें अब उस रूप पर विश्वास न होता। ऐसी सँभाल करना श्रीहनुमानजी की बुद्धिमानी है। 'बचन सुनाये'—श्रीविभीषणजी ने राम-नाम का स्मरण किया था। अतः, यह उन्हें प्रिय लगेगा और इसे सुनकर मेरे पास आवेंगे। इस विचार से रामनामोच्चारण रूपी वचन ही सुनाना जान पड़ता है। इसीसे वे सुनते ही उठकर आये, और उन्होंने कहा भी—"मोरे हृदय प्रीति अति होई।" श्रीहनुमानजी ने श्रीविभीषणजी को सुनाने के लिये राम-नाम कहा, इसीसे सुनाना कहा गया है। श्रीविभीषणजी ने स्वयं प्रेम से स्मरण किया है। अतः, वहाँ 'सुमिरन' कहा गया है।

(३) 'करि प्रनाम '—विप्र को लक्षणों से पहचान कर प्रणाम किया, फिर कुशल पूछी। यह शिष्टाचार है। 'बुझाई', अर्थात् यहाँ 'श्वल मनुजाद द्विजामिष भोगी।' रहते हैं। इनके बीच में और रात्रि के अवसर पर आप यहाँ कुशलपूर्वक आये, यह आश्चर्य का विषय है। अतः, समझाकर अपनी कथा कहिये।

की तुम्ह हरि-दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई॥७॥
की तुम्ह राम दीन-अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥८॥

दोहा—तब हनुमंत कही सब, राम-कथा निज नाम।
सुनत युगल तन पुलक मन, मगन सुमिरि गुनग्राम॥६॥

अर्थ—क्या आप भगवान् के भक्तों में से कोई है? (क्योंकि) मेरे हृदय में (आपके प्रति) अत्यन्त प्रीति (स्वतः) हो रही है॥७॥ या आप दीनों पर अनुराग रखनेवाले श्रीरामजी हैं जो मुझे बड़ा भाग्यशाली बनाने आये हैं॥८॥ तब श्रीहनुमानजी ने सारी राम-कथा और अपना नाम भी कह दिया, सुनते ही दोनों के शरीर पुलकित हो गये और श्रीरामजी के गुण गण का स्मरण कर दोनों के मन निमग्न हो गये॥६॥

विशेष—(१) 'हरि-दासन्ह महँ कोई'—हरिदास नारदादि प्रायः सर्वत्र विचरा करते हैं। पुनः ऐसे ही समर्थ हरिदास यहाँ आ भी सकते हैं। इसीसे 'कोई' यह मुख्य-वाचक कहा है। अपने अनुमान को पुष्ट करते हैं, यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई", एवं—"हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी।" (दो० १३), यहाँ श्रीहनुमानजी ब्राह्मण वेष में अर्थात् साधु हैं। इसीसे इनपर स्वाभाविक प्रीति उमड़ रही है, यथा—"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥ ··ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ।" (बा० दो० २१५)। सन्त एवं विप्र में अति प्रीति होनी चाहिये, यथा—"प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती।···संत चरन पंकज अति प्रेमा।" (अर० दो० १५)।

(२) 'की तुम्ह राम दीन-अनुरागी ।'—पहले सन्त मिलते हैं। जब उनमें अति प्रीति होती है और जब दीनता आती है, तब श्रीरामजी मिलते हैं—यह सूचित किया गया, यथा—भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख हरन ॥" (वि० २०३), "नाथ सकल साधन मै हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥" (अर० दो० ७), 'राम दीन-अनुरागी', यथा—"दास तुलसी दीन पर यक राम ही की प्रीति ।" (वि० २१७)।

अलंकार—'सन्देह', 'की तुम्ह' पद से (दोनों अर्द्धालियों में) स्पष्ट है।

(३) 'तब हनुमंत कही सब···'—'तब' जब उन्होंने कहा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई ।", यथा—"कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन राम चरित सब भाखा ॥" (कि० दो० ४), श्रीविभीषणजी ने तो इनका परिचय पूछा था, पर इन्होंने रामकथा कही और उसी प्रसंग में अपना नाम भी कहा। 'सब रामकथा'—वन-गमन, सीता-हरण, सुग्रीव-मिताई और सीता-खोज की कथा सुनाई और उसीमें अपना भी नाम कहा कि जो वानर लंका आया, वह मैं ही हूँ। मेरा नाम हनुमान है। मैं पवन का पुत्र हूँ, यथा—"मारुत-सुत मै कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना "—(उ० दो० १)। रामकथा उन्होंने इसलिये कही कि मेरा प्रयोजन जानकर ये कुछ सहायता करें। 'सुनत जुगल तनु पुलक···'—श्रीरामचरित के कथन-श्रवण में पुलक होना ही चाहिये, यथा—"सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जो चरित रघुबंस राय ।" (वि० ८३)। यहाँ दोनों की तन, मन, वचन से प्रेम-मग्नता है, यथा—'तनु पुलक', 'मनमगन' और 'हनुमंत कही सब राम-कथा'।

सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥१॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानु - कुल - नाथा ॥२॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी ने कहा), हे पवन-पुत्र ! हमारी रहनि (आचरण) सुनो, दाँतों के बीच में जैसे बिचारी जिह्वा (रहती है, वैसे ही बच-बचकर इन दंशकों में हमें रहना पड़ता है) ॥१॥ हे तात ! कभी मुझे अनाथ जानकर सूर्य-कुल के स्वामी श्रीरामजी क्या कृपा करेंगे ? ॥२॥

विशेष—(१) 'सुनहु पवन-सुत···'—जब श्रीविभीषणजी को सत्संग का सुख मिला, तब कुसंग के दुःख स्मरण कर वे कहने लगे। 'रहनि हमारी'—अभीतक श्रीविभीषणजी ने अपने लिये एक ही वचन का प्रयोग किया है, यथा—"मोरे हृदय प्रीति···", "आयहु मोहि···", "कबहुँ मोहिं जानि···", "अब मोहि भा भरोस···" इत्यादि पर यहाँ 'हमारी' यह बहुवचन कहा है। इसका भाव यह है कि मैं परिवार समेत दुखी हूँ, यही आगे श्रीरामजी भी पूछेंगे, यथा—"कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा ॥" (दो० ४५)।

(२) 'जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ।'—दाँत यम-रूप कहे गये हैं, यथा—"अधर लोभ जम दसन कराला ।" (लं० दो० १४) अतः, सूचित किया कि हमको यहाँ रहने में यम-यातना का-सा दुःख है। यही बात श्रीरामजी भी कहेंगे, यथा—"बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ॥" (दो० ४५)। जैसे जीभ और दाँत का सम्बन्ध विधाता का किया हुआ है। जीभ का वश नहीं कि दाँत से पृथक् हो सके, इससे 'बिचारी' कहा है, वैसे ही मेरा भी कुछ वश नहीं। इसी कुल में जन्म हुआ। अतः, इससे पृथक् जा नहीं सकता। जैसे अनेक दाँतों में जीभ अकेली है, वैसे ही बहुत-से राक्षसों में मैं भी अकेला ही हूँ और वह दाँतों की कुछ हानि नहीं कर सकती, पर दाँत ही इसे जब-तब कूटा करते हैं, वैसे ही मैं इन्हें दुःख नहीं देता, पर ये दुःख दिया करते हैं। दाँतों के समूल उखड़ जाने पर भी जीवन पर्यन्त जीभ रहती है, वैसे ही दुष्ट राक्षसों के नाश हो जाने पर भी ब्रह्माण्ड-स्थिति (कल्प) पर्यन्त ये भी रहेंगे।

अलंकार—'गूढोत्तर', क्योंकि यहाँ विभीषणजी इस कथन से राम दूत की कृपा चाहते हैं।

(३) 'तात कबहुँ मोहि जानि···'—'जानि अनाथा' अनाथ पर श्रीरामजी कृपा करते ही हैं, यथा—"सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ परकर प्रीति जो।" (उ० दो० १२९)। श्रीविभीषणजी पर श्रीरामजी की कृपा है, पर यह इनका कार्पण्य है, यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहि मोहिं दास की नाईं॥" (उ० दो० १)। 'भानु-कुल-नाथा'—सूर्य-कुलवाले सभी अनाथों पर कृपा करते आये हैं, और श्रीरामजी तो उस कुल के नाथ ही हैं, तो क्यों न कृपा करेंगे। जैसे भानु के उदय से तम का नाश होता है, वैसे ही श्रीरामजी के बाण-रूपी किरणों से तम-रूपी राक्षस नष्ट होंगे और हम सुखी होंगे, यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधानकी॥" (दो० १५)। यहाँ यह दिखाते हैं कि जिन बातों से श्रीरामजी मिलते हैं, वे मुझमें नहीं हैं, वे सुसंग से मिलते हैं, मेरा संग अच्छा नहीं है, यह 'रहनि हमारी' में कह आये। आगे कर्म-हीनता कहते हैं—

तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद-सरोज मन माहीं॥३॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहि नहिं संता॥४॥
जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥५॥

अर्थ—(क्योंकि) मेरा तामसी शरीर है, इससे मुझमें कुछ साधन नहीं हैं और मेरे मन में श्रीरामजी के चरण-कमलों में प्रीति भी नहीं है॥३॥ हे हनुमान! अब मुझको (अपने पर प्रभु कृपा होने का) विश्वास हो गया, क्योंकि बिना भगवान् की कृपा के सन्त नहीं मिलते॥४॥ जब रघुवीर श्रीरामजी ने अनुग्रह किया है, तभी आपने मुझे हठ करके दर्शन दिये हैं॥५॥

विशेष—(१) 'तामस तनु कछु···'—'तामस तनु' का भाव यह है कि हम पापी हैं, यथा—"सहज पाप प्रिय तामस देहा। यथा उलूकहिं तम पर नेहा॥" (दो० ४४)। इसीसे मैं ज्ञानहीन भी हूँ। 'कछु साधन नाहीं'—साधनों से ही भगवान् मिलते हैं, यथा—"सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन-राम-सिय दरसन पावा।" (अ० दो० २०९)। मुझसे वह भी नहीं बनता। अतः, मैं कर्महीन हूँ, क्योंकि साधन करना कर्म है। 'प्रीति न पद सरोज मन माहीं' से उपासना-रहित सूचित किया।

श्रीविभीषणजी ने पहले 'तामस तनु' कहकर अपनेको विवेक-रहित जनाया, फिर विवेक के फल-रूप शुभ साधनों से भी रहित कहा। पुनः उसकी भी फल-रूपा हरि-पद-प्रीति है, उससे भी हीनता कही, यथा—"तब पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥" (उ० दो० ४८)। 'पद-सरोज' का भाव यह है कि श्रीरामजी के चरण-रूपी कमल में मन को मधुकर की तरह लुब्ध होना चाहिये, यथा—"राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥" (बा० दो० १६), तथा—"पद राजीव बरनि नहि जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥" (बा० दो० १४७), पर मुझमें तो यह भी नहीं है।

(२) 'अब मोहि भा भरोस···'—पहले श्रीविभीषणजी ने कहा था—"तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा।···" उसका उत्तर यथार्थ यही संग का मिलना है, पर यह श्रीहनुमानजी के मुख से शोभा न देता। अतः, उन्होंने न कहा, तब स्वयं कहते हैं। अन्यत्र भी कहा है—"संत बिसुद्ध मिलहि परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥" (उ० दो ६८), इसीसे भव-तरण एवं राम-प्राप्ति का भी भरोसा हुआ, यथा—"भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहि राम दुखहरन॥" (वि० २०३), "जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये।" से "त्रयलोक पावन सो सदा···" (वि० १३६) तक।

(३) 'जौ रघुबीर अनुग्रह···'—'रघुबीर' शब्द में पाँचो प्रकार की वीरता के भाव रहते हैं, यथा—

"त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पञ्चवीराः समाख्याता राम एव स पञ्चधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥" (श्रीभगवद्गुण दर्पण)।

श्रीरामजी में इन पाँचो के उदाहरण—

(१) त्यागवीर—"पितु-आयसु भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।" (अ० दो० १६५)।

(२) दयावीर—"चरन-कमल-रज चाहती, कृपा करहु रघुबीर।" (बा० दो० २१०)।

(३) विद्यावीर—"श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाखान।" (लं० दो० ३)।

जल में पत्थर तैराना भी एक विद्या है।

(४) पराक्रमवीर—"सभय बिलोके लोग सब, जानि जानकी भीर।
हृदय न हरष बिषाद कछु, बोले श्रीरघुबीर॥" (बा० दो० २७०)।

(५) धर्मवीर—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन-भव-भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥" (दो० ४५)।

ये पाँचो वीरताएँ परिपूर्ण श्रीरामजी में ही हैं। यहाँ पर श्रीविभीषणजी ने अपने लिये प्रभु की दयावीरता का स्मरण किया है, यथा—"जौ रघुबीर···" ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जी ने भी आगे कहा है—"मोहूँ पर रघुबीर। कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन···।"

'दरस हठि दीन्हा', यथा—"येहि सन हठि करिहउँ पहिचानी॥"

सुनहु बिभीषन प्रभु कइ रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥६॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना॥७॥

अर्थ—हे श्रीविभीषणजी! प्रभु श्रीरामजी की रीति सुनिये, वे सेवक पर सदा ही प्रीति किया करते हैं॥६॥ आप ही कहें कि मैं कौन उत्तम कुलोत्पन्न हूँ? कपि हूँ, चंचल हूँ और सभी प्रकार से गया बीता हूँ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु बिभीषन ··'—बिभीषणजी ने प्रणाम करते समय अपना नाम कहा था, जैसे ऊपर पवनसुत का कहना कहा गया है और ऐसी ही रीति भी है, यथा—"पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥" (बा० दो० २६२), इसीसे श्रीहनुमानजी उनका नाम लेते हैं। 'प्रभु कै रीती'—वे प्रभु (समर्थ) हैं। अतः, सेवक से उन्हें कोई अपेक्षा नहीं। पर वे तो बिना कारण ही सेवक पर ममता और प्रीति करते हैं, यथा—"कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥" (अर० दो० ४४), 'सदा'—सदा प्रीति का निर्वाह करना कठिन है, पर वे सदा एकरस निबाहते हैं, यथा—"को रघुबीर सरिस संसारा। सील-सनेह निबाहनिहारा॥" (अर० दो० २३) 'प्रीती'—श्रीविभीषणजी कृपा चाहते हैं और श्रीहनुमानजी कहते हैं कि वे तो प्रीति करते हैं, अर्थात् बराबर का पद देते हैं, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३), "को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥" (अ० दो० २९८)। पुनः उन्होंने कहा था—"तामस तन कछु ···" उसपर कहते हैं—

(२) 'कहहु कवन मैं परम कुलीना···'—भला, आपका तो केवल शरीर ही तामस है, पर कुल तो उत्तम है, यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० १९), भाव यह कि प्रभु कुल आदि की अपेक्षा नहीं रखते, केवल भक्ति पर ही रीझते हैं, यथा—"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥ जाति पाँति···भगति हीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥" (अर० दो० ३४), इसपर ये अपना ही उदाहरण देते हैं कि मैं पशु, चंचल और सभी प्रकार (जाति, कुल,

स्वभाव) से गया-बीता हूँ, यथा—"असुभ होइ जिनके सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ॥" (वि० १६६), "मैं पाँवर पसु कपि अति कामी ॥" (कि० दो० २०), इत्यादि ।

प्रात लेइ जो नाम हमारा । तेहि दिन ताहि न मिलइ अहारा ॥८॥

दोहा—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर ॥७॥

अर्थ—जो प्रातःकाल में हमारा नाम लेता है, उस दिन उसे भोजन नहीं मिलता ।८॥ हे सखे ! सुनो, मैं ऐसा अधम हूँ, फिर भी मुझपर रघुवीर श्रीरामजी ने कृपा की, (उनके) गुण स्मरण करके नेत्रों में जल भर आये ॥७॥

विशेष—(१) 'प्रात लेइ जो नाम हमारा । ···'—भाव यह कि आप तो परम भागवतों में है, आपका नाम तो प्रातःस्मरणीय है, यथा—"प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् । रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीनेतानहम्परमभागवतान्नमामि ॥" (पाण्डवगीता), पर 'नाम हमारा' अर्थात् हम वानरों की जाति-मात्र का नाम प्रातःकाल में लेना निषेध है, ऐसा तो मैं अधम हूँ ।

यहाँ 'हमारा' बहुवचन शब्द देकर वानर जाति के दोषों को लेकर उन्होंने अपना कार्पण्य कहा है । पर वास्तव में इनका नाम तो प्रातःकाल में स्मरणीय ही है, यथा—"ॐहनुमानञ्जनीसुनुर्वायुसूनुर्महाबलः । रामेष्टः फाल्गुनसखः पिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः ॥ उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः । लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा ॥ एतद्द्वादशनामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः । प्रातःकाले प्रदोषे च यात्राकाले च यः पठेत् ॥ तस्य रोगभयन्नास्ति सर्वत्र विजयो भवेत् ॥" यह श्रीहनुमानजी के द्वादश नामों का मन्त्र है ।

यहाँ अपने दोष और स्वामी के गुण कहे गये हैं, यथा—"गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा ।" (अ० शे० १३०) । "निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै ।" (वि० २३८) ।

(२) 'अस मैं अधम सखा···'—यहाँ अपनेको अधम बताकर प्रभु के अधम-उद्धारण गुण का स्मरण किया गया है, इसीसे 'सुमिरि गुन' एकवचन पद दिया गया है । पहले बहुत-से गुणों का स्मरण किया था, इसलिये वहाँ, 'मन मगन सुमिरि गुन ग्राम' कहा गया था । वहाँ कथा कही थी और कथा में गुणसमूह होते ही हैं । श्रीविभीषणजी ने अपने तामस तन आदि दोषों को कहकर प्रभु की कृपा होने में सन्देह प्रकट किया था । यहाँ श्रीहनुमानजी ने अपनी अधमता और फिर भी श्रीरघुवीरजी का कृपा-पात्र होना कहकर श्रीविभीषणजी पर अवश्य प्रभु की कृपा होने की पुष्टि की । 'मोहू पर'—कहकर उनकी परम कुलीनता, शान्त वृत्ति और सब प्रकार की योग्यता एवं उन्हें प्रातःस्मरणीय सूचित किया । 'भरे बिलोचन नीर'—प्रेम की दो दशाएँ—'तनु पुलक' और 'मन मगन' पूर्व के दोहे में कही गई हैं, अब आँखों में आँसू भर आना, यह तीसरी दशा यहाँ है । 'कीन्ही कृपा', यथा—"तब रघुपति उठाइ उर लावा ।···सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना । तै मम प्रिय लछिमन ते दूना ॥" (कि० दो० २), "परसा सीस सरोरुह पानी । ···" (कि० दो० २२), यहाँ उन्हीं बातों का स्मरण किया गया है ।

जानत हूँ अस स्वामि बिसारी । फिरहिं ते काहे न होहि दुखारी ॥१॥
येहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा । पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा ॥२॥
पुनि सब कथा बिभीषन कही । जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही ॥३॥

अर्थ—जानते हुए भी जो ऐसे स्वामी श्रीरामजी को भुलाकर (दुःख-परिणामी विषयों के साधनों में) भटकते-फिरते हैं, वे दुखी क्यों न हों ? ॥१॥ इस तरह श्रीरामजी के गुण-समूह कहते-कहते (दोनों

भक्तों ने) अकथनीय विश्राम (शान्ति) पाया ॥२॥ फिर श्रीविभीषणजी ने वह सारी कथा कही, जिस प्रकार श्रीजानकीजी वहाँ रहती थीं ॥३॥

विशेष—(१) 'जानत हूँ अस···'—क्योंकि जानने से प्रतीति होती है, प्रतीति से प्रीति और फिर दृढ़ भक्ति होती है, यथा—"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहि भगति दृढ़ाई।" (उ० दो० ८८)। स्वामी को परम कृपालु आदि जानते हुए भी उनको भुलाना प्रमाद है, फिर उनका दुखी होना योग्य ही है, यथा—"जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति-जाल नर परहीं॥" (कि० दो० ११), "बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये।" (उ० दो० १३), "महामंद मन सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि॥" (अर० दो० ३६), इत्यादि।

(२) 'येहि बिधि कहत राम-गुन-ग्रामा।'—दोनों ने अपनी-अपनी अधमता और साथ ही राम-गुन-ग्राम कहा और परम सन्तोष का अनुभव किया, इसीसे अनिर्वाच्य विश्राम पाना कहा गया है, यथा—"कोउ बिश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु।" (उ० दो० ८९), "तुलसी अपने रामसों, कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरी दीनता, परम पीन संतोष॥" (दोहावली ९६)। 'अनिर्वाच्य बिश्रामा', यथा—"सो सुख जानै मन अरु काना। नहि रसना पहि जाइ बखाना॥" (उ० दो० ८७), गुण-ग्राम यथामति कहा जाता है, अतएव 'कहत' कहा गया है, पर तज्जन्य सुख नहीं कहा जा सकता, उसका अनुभव-मात्र ही होता है, यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।" (उ० दो० ४), इसीसे 'अनिर्वाच्य' कहा है। श्रीहनुमानजी को बिना राम-कार्य किये, विश्राम की रुचि न थी, यथा—"राम-काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ बिश्राम।" (दो० १), पर रामकथा ने अपने स्वभाव (प्रभाव) से विश्राम दे ही दिया। उपर्युक्त 'मन मगन सुमिरि गुनग्राम' उपक्रम है, यहाँ 'एहि बिधि कहत···' पर उपसंहार है।

(३) 'पुनि सब कथा···'—श्रीहनुमानजी ने प्रथम ही 'राम-कथा निजनाम' कहा था। उसीमें 'जनकसुता' का हरण और उन्हींके ढूँढ़ने के लिये अपना आना भी कहा था। इसीलिये इन्होंने सब समाचार बतलाया—जबसे रावण श्रीजानकीजी को हरकर लंका में लाया और वे जैसे वहाँ रहती हैं, यथा—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति दिखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ॥ जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (अर० दो० २९), 'जनकसुता'—जैसे राजाओं की लड़कियाँ रहती हैं, वैसी ही मर्यादा से श्रीजानकजी वहाँ रहती है। उनकी रक्षा में राक्षसियाँ नियुक्त की गई हैं, और पुरुष वहाँ नहीं जाने पाते। पुनः जैसे जनकजी प्रपंच मे रहते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं, वैसे ही श्रीजानकीजी लंका मे रहती हुई यहाँ के ऐश्वर्यों से निर्लिप्त हैं।

श्रीहनुमानजी ने श्रीविभीषणजी को राम-कथा सुनाई थी, और उन्होंने भी श्रीहनुमानजी को श्रीजानकीजी की कथा सुनाई। अतः, दोनों ही अपने-अपने मनोभिलषित पा सन्तुष्ट हुए। जैसे यहाँ श्रीविभीषणजी श्रीहनुमानजी को श्रीजानकीजी से मिला रहे हैं वैसे आगे श्रीहनुमानजी भी श्रीविभीषणजी को श्रीरामजी से मिलाने की पैरवी करेंगे। शरणागति प्रसंग में स्पष्ट है।

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता। देखी चहउँ जानकी माता॥४॥
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥५॥
करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥६॥

अथ—तब श्रीहनुमानजी ने कहा कि हे भाई! सुनो, मैं माता जानकी को देखना चाहता हूँ॥४॥ विभीषणजी ने उन्हें (मिलने की) सारी युक्तियाँ कह सुनाईं। (सुनते ही) पवन के पुत्र श्रीहनुमानजी

विदा करा के चल दिये ॥५॥ फिर हनुमानजी वही (पूर्ववत् मशक समान) रूप धारण करके वहाँ अशोक वन में गये, जहाँ श्रीसीताजी रहती थीं।

विशेष—(१) 'तब हनुमंत कहा ···'—'भ्राता' शब्द से निहोरा व्यक्त करते हैं, यथा—"भाइहु लावहु धोख जनि, आजु काज बड़ मोहि।" (अ० दो० १६१), 'जानकी माता'—श्रीविभीषणजी यह न कहें कि जहाँ श्रीजानकीजी रहती हैं वहाँ पुरुष नहीं जाने पाते। इसीसे पहले ही कहते हैं कि उनमें मेरा भाव माता का है। अतः, इस भाव से मैं जा सकता हूँ, यथा—"देखहु कपि जननी की नाईं। बिहँसि कहा रघुनाथ गोसाईं ॥" (लं० दो० १०६)।

(२) 'जुगुति बिभीषन···'—जहाँ श्रीजानकीजी थीं वहाँ बाहर राक्षसगणों का और भीतर भीषण राक्षसियों का पहरा था। अतः, बिना युक्ति के वहाँ किसीका भी जाना कठिन था। युक्ति यहाँ खाली नहीं गई, क्योंकि युक्ति गुप्त ही सफल होती है, यथा—"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहि जब करिअ दुराऊ ॥" (बा० दो० १६७), तथा—"इहाँ राम जसि जुगुति बनाई।" (अर० दो० २२) —इस युक्ति को तो श्रीलक्ष्मणजी ने भी नहीं जान पाया। 'पवनसुत'—से इनकी शीघ्रता सूचित की गई है। 'बिदा कराई'—सन्त के संग छूटने में दुःख होता है, यथा—"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।" (बा० दो० ४), इससे विभीषणजी से श्रीरामकार्य का गौरव कह बिदा माँगा, अन्यथा वे विश्राम के लिये अनुरोध करते। पुनः बड़े एवं स्नेही से आज्ञा लेकर जाना शिष्टाचार का द्योतक है, यथा—"मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन " (बा० दो० ४७), "गयउ राउ गृह बिदा कराई ॥" (बा० दो० २१६)। श्रीहनुमानजी ने बहुत खोजा, पर श्रीजानकीजी न मिलीं, परन्तु जब श्रीविभीषणजी ने युक्ति बतलाई, तब तो मिलेंगी ही, इससे यहाँ यह उपदेश भी है कि मर्मज्ञ महात्माओं की बतलाई हुई युक्ति से परमात्मा अवश्य मिलते है, यथा—"भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहि अनुकूला ॥" (अर० दो० १५)।

(४) 'कहि सोइ रूप गयउ···'—श्रीविभीषणजी से मिलने के समय एवं उनसे वार्त्तालाप के लिये श्रीहनुमानजी विप्र रूप हो गये थे। अब फिर उन्होंने पूर्ववत् मशक समान रूप धारण कर लिया। 'तहवाँ'—अशोकवन भी बहुत विस्तृत है। उसमें जहाँ पर और जिस वृक्ष के नीचे श्रीसीताजी थीं, श्रीहनुमानजी वहाँ गये। वहाँ इतने अन्तर पर हैं, जहाँ से श्रीजानकीजी का कृश-शरीर, जटा आदि से दिखलाई पड़ता है। 'बन असोक'—पहले लंका में श्रीहनुमानजी ने 'बन, बाग, उपबन, बाटिका' आदि को पृथक्-पृथक् देखा था। यहाँ एक ही अशोकवन मे क्रमशः चार आवृत्तियों में चार वर्त्तमान है। अतः, इसीके चारो नाम कहे गये हैं, यथा—"बन असोक सीता रह जहवाँ।", "चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा।", "तहँ असोक उपबन जहँ रहई।" (कि० दो० २७), "तेहि अशोक बाटिका उजारी।"

देखि मनहि महँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहि बीति जात निसि-जामा ॥७॥
कृस तनु सीस जटा एक बेनी। जपति हृदय रघुपति-गुन-श्रेनी ॥८॥

दोहा—निज पद-नयन दिये मन, राम चरन महँ लीन।
परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन ॥८॥

अर्थ—श्रीसीताजी को देखकर (श्रीहनुमानजी ने) मन ही मन प्रणाम किया, (देखा कि) उनको रात के पहर (सारी रात) बैठे ही बीत जाते हैं ॥७॥ उनका शरीर दुबला हो गया है और सिर पर जटाओं की एक वेणी (चोटी) हो गई है। वे हृदय में रघुपति के गुण-गणों के (स्मरण) सहित राम

नाम जपती हैं ॥८॥ (श्रीजानकीजी) अपने नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई हैं और श्रीरामजी के चरणों में उनका मन लीन (निमग्न) है। श्रीजानकीजी को इस प्रकार दीन (दशा में) देखकर पवन के पुत्र श्रीहनुमानजी परम दुखी हुए ॥८॥

विशेष—(१) 'मनहि महँ···'—उन्होंने मानसिक प्रणाम ही किया, यदि शरीर और वचन से करते, तो राक्षसियाँ जान जातीं। 'निसि-जामा'—रात को कोई ३ पहर और कोई ३½ पहर की मानते है, इसीसे निशि के सब याम कहकर सबके मतों की रक्षा की गई। बैठे-ही-बैठे रात बिता देना विरह की दशा है। वाल्मी० ५।१८।१ के अनुसार इस समय थोड़ी रात रह गई थी।

(२) 'कृस तनु सीस जटा···', यथा—"देखी जानकी जब जाइ। परम धीर समीर सुत के प्रेम उर न समाइ॥ कृस सरीर सुभाय सोभित लगी उड़ि उड़ि धूरि। मनहुँ मनसिज मोहनी मनि गयउ भोरे भूलि॥ रटति निसि बासर निरंतर राम राजिव नैन। जात निकट न बिरहिनी-अरि अकनि ताते बयन॥" (गी० सु० २), 'कृस सरीर', यथा—"अब जीवन कै है कपि आस न कोइ। कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ॥"(बरवा ३८)। 'जटा एक बेनी'—सिर की तीनो चोटियाँ मिलकर एक हो गई हैं, यथा—"एकया दीर्घया वेण्या शोभमानामयत्नतः। ···उपवासेन शोकेन ध्यानेन च भयेन च। परिक्षीणां कृशां दीनामल्पाहारां तपोधनाम्॥" (वाल्मी ५।१९।१९-२०)। शरीर का कृश होना और चोटी का एकलट हो जाना, बाहर की दशा है। अन्तरंग वृत्ति को उत्तरार्द्ध में कहते है—'जपति हृदय···'—वाणी से राम नाम जपती हैं, और हृदय मे तदर्थ भूत गुणों का चिन्तन करती हैं। यही जप की विधि भी है, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्।" (यो० सू० १।२८), रामनाम के अर्थ श्रीरामजी एवं शाब्दिक अर्थ उनके गुण है। अतः, श्रीसीताजी उन्हीं गुणसमूहों को हृदय में विचारती रहती हैं। ऐसे ही श्रीभरतजी के जप-प्रसंग में भी कहा गया है, यथा—"राम राम रघुपति जपत···" इसीको श्रीहनुमानजी वहीं पर कहते हैं, यथा—"जपहु निरंतर गुन गन पाँती।" (उ० दो० १), ऐसे ही श्रीजानकीजी के विषय मे भी पहले—"रटति रहति हरि नाम" अर० दो० २९) कहा गया था और फिर यहाँ कहते है—"जपति हृदय रघुपति-गुन-श्रेनी।" आगे साथ-ही-साथ रूप का ध्यान भी कहते है—'मन राम चरन महँ लीन'। अन्यत्र भी कहा गया है, यथा—'जपहि राम धरि ध्यान उर, सुंदर स्याम सरीर।" (बा० दो० ३४)।

तात्पर्य यह है कि मन्त्र एवं नाम जपते हुए उसके देवता का ध्यान रखना चाहिये और साथ-ही-साथ मन्त्रार्थ एवं नामार्थ से सिद्ध होनेवाले उस देवता के गुणों का स्मरण भी करना चाहिये, जिससे उसमें प्रेम हो और गुणों के अनुसार देवता की प्रवृत्ति हो। यही श्रुति भी कहती है, यथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः॥" (रामतापनीय)।

(३) 'निज पद नयन दिये मन ''—यह जप-विधि है, यथा—"मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्र-मध्ये स्थितं मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥" अर्थात् मन और मन्त्र एक रहें। मन की बाह्य वृत्ति होने मे नेत्र भी कारण होते हैं, यथा—"बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मन लोभा॥" (बा० दो० २।८) एवं—'रूप अनूप नयन मन लोभा।" (अ० दो०११४), इसीसे दोनों साथ-ही-साथ संयत किये गये हैं। 'निज पद नयन दिये'—मन के विषय तो श्रीरामजी हो सकते हैं, पर नेत्रों के सामने तो वे नहीं है, इसलिये उन नेत्रों को अपने चरणों में लगाये हुई है कि इधर-उधर न जायँ। साथ ही श्रीरामजी के चरणों की रेखाओं को भी देखती हैं, क्योंकि जो २४-२४ चिह्न श्रीरामजी के चरणों में हैं, वे ही सब चिह्न इनके भी चरणों में हैं। भेद केवल इतना ही है कि श्रीरामजी के दाहिने के चिह्न इनके बायें में और उनके बायें के चिह्न इनके दाहिने चरण में हैं।

यहाँ श्रीराम-चरण की कमल की उपमा नहीं है, क्योंकि श्रीजानकीजी ने जो श्रीरामजी के चरणों

की कोमलता पर ध्यान न दे उन्हें कनकमृग के पीछे दौड़ाया है, वही ध्यान है, यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग,'''सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम ॥" (अर० दो० २९)।

(४) 'परम दुखी भा पवनसुत'''—पहले बिना देखे ही दुखी थे। अब श्रीजानकीजी की दीन हीन दशा देखकर परम दुखी हुए। "सुखाहां दुःखितां ज्ञात्वा ममापि व्यथितं मनः ॥" (वाल्मी० ५।१६। २८)। 'परम' तो शोभासूचक है, दुखी के साथ 'अति', 'विषम' आदि विशेषण चाहिये। यह शब्द यहाँ इसलिये दिया गया कि राम-विरह में दुखी होना इनकी शोभा है। यहाँ 'पवन-सुत' का भाव यह है कि ये परम बलवान् हैं, यथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९), पर स्वामी की आज्ञा के अनुसार इन्हें बल दिखाने का अवसर यहाँ नहीं है, यथा—"सुबन समीर को धीर धुरीन बीर बड़ोइ। देखि गति सिय मुद्रिका की बाल ज्यों दियो रोइ ॥ अकनि कटु बानी कुटिल की क्रोध बिध्य बढ़ोइ। सकुचि सम भयो ईस-आयसु-कलस-भव जिय जोइ ॥ बुद्धि बल साहस पराक्रम अछत राखे गोइ। सकल साज समाज साधक समय कहै सब कोइ ॥" (गी० सुं० ५)। यहाँ 'जानकी'—नाम का दिया जाना भी साभिप्राय है, क्योंकि राजा श्रीजनकजी योगी भी हैं, यथा—"जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है।" (गी० बा० ८५), और ये उनकी कन्या है, इसीसे योग-मुद्रा से बैठी है—रातोदिन जागरण, एकासन पर निरन्तर जप, नेत्रों का संयम और मन का राम-चरणों में लीन रहना—ये सब योग की रीतियाँ हैं।

'पुनि सीतहिं धीरज जिमि दीन्हा'-प्रकरण

तरु-पल्लव महँ रहा लुकाई। करइ बिचार करउँ का भाई ॥१॥
तेहि अवसर रावन तहँ आवा। संग नारि बहु किये बनावा ॥२॥

अर्थ—वृक्ष के पल्लव में छिप रहे और विचार करने लगे कि अरे भाई! क्या करूँ? (श्रीसीताजी नीचे दृष्टि किये हुई हैं और बहुत-सी राक्षसियाँ चारो ओर से इनको रक्षा में है तो मै इनका शोक कैसे दूर करूँ?) ॥१॥ उसी अवसर पर रावण वहाँ आया। वह बहुत शृंगार की हुई स्त्रियों को साथ लिये हुए है ॥२॥

विशेष—(१) 'तरु-पल्लव महँ'''—श्रीहनुमानजी इतने सूक्ष्म रूप में है कि एक पल्लव से भी छिप गये है, 'पल्लव' एकवचन है। छिप इसलिये रहे कि रावण न देख पावे, यथा—"पत्रे गुह्यान्तरे सक्तो मतिमान्संवृतोऽभवत् ॥" (वाल्मी० ५।१८।३१)। 'करइ बिचार'—विचार कर कार्य करने से सिद्धि होती है, इसीसे ये सदा विचार कर ही कार्य करते है, यथा—"इहाँ पवन सुत हृदय बिचारा।" (कि० दो० १८)। 'कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।" (दो० १२), "ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।" (दो० १६)। वैसे यहाँ भी विचार करते है। 'भाई'—मन के प्रति सम्बोधन है, यथा—"भाई कैसो करौं डरौं कठिन कुफेरै।" (गी० सुं० २७)। मन मे विचारने की यह भी एक रीति है।

(२) 'तेहि अवसर रावन तहँ'''—इसी समय दैवयोग से रावण का आना हुआ, जिससे उसका धमकाना आदि श्रीहनुमानजी देखेंगे और श्रीरामजी से कहेंगे, तब वे यहाँ आने में और भी शीघ्रता करेंगे। 'संग नारि बहु '''—ये नारियाँ सब इसकी रानियाँ है। आगे यह स्वयं कहेगा, यथा—"मंदोदरी आदि सब रानी।" पहले कहा गया था—"देव-जच्छ-गंधर्व-नर, किन्नर-नाग-कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल, बहु सुंदरि बर नारि ॥" (बा० दो० १८२), ये सब वे ही रानियाँ हैं। इन्हें सोलहो शृंगारों से सुसज्जित किये हुए साथ लिये आया है कि जिससे श्रीजानकीजी समझें कि यह अपनी स्त्रियों को बड़ा सुख देता है और बड़ा ऐश्वर्यवान् है। स्वयं भी बहुत शृंगार किये हुए है कि जिससे देखकर मोहित हो जायँ। 'बहु किये बनावा'—दोनों के साथ है—अपने और रानियों के लिये।

बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद देखावा ॥३॥
कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी ॥४॥
तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा ॥५॥

अर्थ—उस दुष्ट ने श्रीसीताजी को बहुत तरह से समझाया। उनको साम, दाम, भय और भेद दिखाये ॥३॥ रावण ने कहा कि हे सुन्दर मुखवाली! हे सयानी! सुनो, मन्दोदरी आदि सब रानियों को मैं तुम्हारी दासी कर दूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है, एक बार भी तुम मेरी ओर देखो ॥४-५॥

विशेष—'बहु बिधि खल···'—पहले भी कहा गया था—"हारि परा खल बहु बिधि, भय अरु प्रीति देखाइ। तब असोक पादप तर, राखेसि जतन कराइ।" (अर० दो० २९), अब यहाँ 'बहु बिधि' और साथ ही 'खल' कहकर सूचित करते हैं कि उसने अपने दुष्ट स्वभाव के अनुसार बहुत प्रकार से श्रीसीताजी को समझाया कि जिस अधर्म-वार्ता को श्रीगोस्वामीजी लिखना भी नहीं चाहते, केवल संकेत से ही सूचित करते है। 'साम दाम भय भेद'—रावण राजा है और राजा के हृदय में राजनीति बसती है, यथा—"साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहि नाथ कह बेदा ॥" (लं० दो० ३६), इसीसे उसने इन चारो को दिखाया। उदाहरण क्रमशः—"कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।"—साम, "मंदोदरी आदि सब रानी ॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा।"—दाम, "कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।"—दंड, "संग नारि बहु किये बनावा।"—भेद, इसमें भेद यों है कि हमारी इतनी रानियाँ हैं, इन्हें हम सब प्रकार सुख देते हैं। तुम तो एक ही थी, पर तो भी रामजी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सके। 'देखावा'—दिखाता-भर है, मारना आदि बातें हृदय की नहीं है, क्योंकि रावण को श्रीसीताजी की ममता एवं आशा हो गई है।

(२) 'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी।'—'सुमुखि'—का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सुन्दर मुख पर मोहित हूँ और इसीसे मन्दोदरी आदि पटरानियों को भी तुम्हारी दासियाँ बनाने को प्रस्तुत हूँ। पुरुष स्त्री के मुख ही पर मोहित होता है, यथा—"जानसि मोर सुभाव बरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू ॥" (अ० दो० २५), "सोउ मुनि ज्ञान निधान, मृग नैनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरि जान,···" (उ० दो० ११५), "सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।" (बा० दो० २२९)। 'सयानी'—कहने का तात्पर्य यह है कि इस लाभ से चूको मत। तुम तो हानि-लाभ के समझने में 'सयानी' हो। लाभ भी समझ लो कि मंदोदरी आदि सब रानियाँ तुम्हारी दासियाँ बनकर रहेंगी, जो कि परम सुन्दरी हैं, यथा—"मय तनुजा मंदोदरि नामा। परम सुंदरी नारि ललामा ॥" (बा० दो० १७०)।

(३) 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा।'—का भाव यह है कि ये सवति-भाव नहीं कर सकेंगी, किन्तु दासियाँ बनकर रहेंगी, यथा—"अन्तःपुरनिवासिन्यः स्त्रियः सर्वगुणान्विताः। यावत्यो मम सर्वासामैश्वर्यं कुरु जानकि ॥ मम ह्यसितकेशान्ते त्रैलोक्य प्रवरस्त्रियः। तास्त्वां परिचरिष्यन्ति श्रियमप्सरसो यथा ॥' (वाल्मी० ५।२०।३१-३२)। यदि कहो कि सवतियाँ कभी दासियाँ बनना नहीं चाहेंगी, यथा—"नैहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई ॥" (अ० दो० २०), तो मै अवश्य इन्हें दासियाँ बना दूँगा, फिर वह अपने इस वचन की पुष्टि के लिये प्रतिज्ञा भी करता है—'पन मोरा' इसका भाव यह कि प्रण को असत्य करने से सुकृत नाश हो जाते है, यथा—"सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ ॥" (बा० दो० २५२)। सुकृत के नाश होने से लोग नरक के भागी होते हैं, इसीलिये श्रेष्ठ लोग सुकृत की रक्षा करते है और प्रण को पूरा करते हैं, यथा—"कह प्रभु हर तुम्हार पन रहेऊ।" (बा० दो० ७६)। यों भी राजा प्रण नहीं छोड़ते, यथा—"नृप न सोह बिनु बात नाक बिनु भूषन।" (जानकीमंगल ७४)। अतः, मैं अवश्य अपना प्रण पूरा करूँगा।

(४) 'एक बार बिलोकु··'—श्रीजानकीजी नीचे दृष्टि किये बैठी हैं और वह उन्हें अपना साज-

शृंगार दिखाना चाहता है, इसीसे कहता है कि एक बार भी तो इधर देखो। अथवा उपर्युक्त सब बातें एक बार देख लेने ही का मोल है।

तृन धरि ओट कहति बैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही ॥६॥
सुनु दसमुख खद्योत-प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥७॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की ॥८॥

अर्थ—तृण (तिनके) की ओट (परदा) रखकर और अपने परम स्नेही अवधपति श्रीरामजी का स्मरण करके वैदेही श्रीजानकीजी कहने लगीं ॥६॥ हे दशानन ! सुन, क्या जुगनू के प्रकाश से कभी भी कमलिनी विकसित होती (खिलती) है ? ॥७॥ श्रीजानकीजी कहती हैं कि अरे दुष्ट ऐसा मन में समझ ! तुझे रघुवीर श्रीरामजी के बाणों की स्मृति नहीं है ? ॥८॥

विशेष—(१) 'तृन धरि ओट···'—श्रीजानकीजी ने तृण का परदा करके रावण से बातें कीं, सम्मुख नहीं, यह मर्यादा की रक्षा है, यथा—"तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता।···" (वाल्मी० ५।२१।३), तथा—"तृणमन्तरतः कृत्वा तमुवाच निशाचरम्।" (महा० वन० २८१।१७)। श्रीसीताजी उसी तरह पर पुरुष की ओर दृष्टि नहीं करतीं, जैसे श्रीरामजी पर-स्त्री की ओर नहीं देखते, यथा—"मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥" (बा० दो० २३०), "न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥" (वाल्मी० (२।७२।४८), 'बैदेही' और 'अवधपति···'—का भाव यह है—(क) अपने मायके और पतिकुल के महत्त्व को आगे करके बोलीं, यथा—"अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥ कुलं संप्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया। एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी ॥" (वाल्मी० ५।२१।४-५), अर्थात् मैं सती हूँ, मेरा जन्म बड़े कुल में और ब्याह पवित्र कुल में हुआ है। अतः अकार्य मुझसे नहीं हो सकता। (ख) रावण ने अ ऐश्वर्य का लोभ दिखाया है, उसके प्रति भी तृण-ओट द्वारा लक्षित किया कि अपने उभय कुल के ए के आगे मैं तुम्हारे इस ऐश्वर्य को तृणवत् मानती हूँ।

'सुमिरि अवधपति परम सनेही'—का भाव—(क) तू लंका-मात्र का ऐश्वर्य दिखाता है, पर मेरे स्वामी अवध के पति है, जो चक्रवर्त्ति-पाद है। स्नेह दिखाता है, मेरे स्वामी भी परम स्नेही हैं। अतः, उनमें और तुममें बड़ा अन्तर है। वही आगे कहती है, यथा—'सुनु दसमुख खद्योत-प्रकासा।···' (ख) वे अवध के आश्रित-मात्र के रक्षक है और मेरे तो परम स्नेही ही हैं। अतः, मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। (ग) भक्त जो कुछ कहते है अपने इष्ट के बल पर ही, यथा—"अस कहि नारद सुमिरि हरि, गिरिजहिं दीन्हि असीस।" (बा० दो० ७०), "करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराज ॥" (अ० दो० २९७), वैसे ही यहाँ भी श्रीजानकीजी इष्ट के बल पर ही कहती हैं। 'कहति बैदेही'—का भाव यह है कि न बोलने से स्वीकृति समझी जायगी। कहा भी है—"मौनं सम्मतिलक्षणम्", यथा—"चलेउ सुमंत्र राय रुख जानी।" (अ० दो० ३८)।

(२) 'सुनु दसमुख खद्योत···'—रावण ने कहा था—'एक बार बिलोकु मम ओरा।' उसका उत्तर श्रीजानकीजी यों देती हैं कि तू जुगनू के समान है, तेरे प्रलोभन-रूप प्रकाश में मेरे नेत्र-कमल नहीं खिल सकते, किन्तु भानु-रूप भानुकुल-भानु को देखकर ही वे प्रफुल्लित होंगे। पुनः जैसे जुगनू का प्रकाश सूर्योदय से पहले ही रहता है, वैसे ही तेरी दुष्टता स्वामी श्रीरामजी के आने तक ही है। जैसे कमलिनी सूर्य की ही अनुवर्त्तिनी है, वैसे ही मै श्रीरामजी की ही अनन्या पत्नी हूँ, यथा—"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा।" (वाल्मी० ५।२१।१५), तथा—"उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥" (अर० दो० ४)।

अलंकार—'अप्रस्तुतप्रशंसा', क्योंकि यहाँ कमलिनी कथन अप्रस्तुत है, इसके द्वारा श्रीसीताजी ने अपनी वृत्ति कही है।

(३) 'अस मन समुझु कहति जानकी।'—तू ऐसा मन में समझ ले कि मैं (रावण) खद्योत के समान हूँ और श्रीरामजी भानु हैं, उनमें और तुझमें इतना अन्तर है। पुनः यह भी भाव है कि सूर्य के प्रति कमलिनी जैसा मेरा श्रीरामजी में भाव है। जुगनू कम प्रकाशवालों की सीमा है और भानु पूर्ण प्रकाशवालों की—'अस मन समुझु'।

(४) 'खल सुधि नहि···'—रघुवीर के बाण दुष्टों के नाशकारक हैं, यथा—"मुनि पालक खल सालक बालक।", "हम छत्री···तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (अर० दो० १८), उनके बाणों की क्या सुधि नहीं है ?

शंका—अभी उसने श्रीरामजी के बाण का प्रभाव कहाँ देखा-सुना, जो सुधि करे।

समाधान—जयन्त ने, जिसने बिना फर के बाण से भी तीनों लोकों में शरण नहीं पाई थी, उसे इसने सुना ही होगा। पुनः शूर्पणखा से सुना है, यथा—"परम धीर धन्वी गुन नाना। ··खर-दूषन सुनि लगे पुकारा। छन महँ सकल कटक उन्ह मारा॥" (अर० दो० २१), मारीच से भी उसने सुना है, यथा—"बिनु फर सर रघुपति मोहिं मारा॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं।" (अर० दो० २४), इसीसे डरकर यती का वेष बना सीता-हरण के लिये आया था। श्रीसीताजी उन्हीं बातों का स्मरण कराती हैं।

सठ सूने हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही॥९॥

दोहा—आपुहि सुनि खद्योत सम, रामहिं भानु - समान।
परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥९॥

अर्थ—अरे शठ, तू मुझे सूने (श्रीरामजी की अनुपस्थिति) में हरकर लाया। अतः, तू अधम है, निर्लज्ज है, अरे ! तुझे लज्जा (भी) नहीं आती ?॥९॥ रावण अपने को जुगनू के समान और श्रीरामजी को सूर्य के समान, ये कठोर बचन सुनकर अत्यन्त क्रोधित हो तलवार निकालकर बोला॥९॥

विशेष—(१) 'सठ सूने हरि···'—इसका सम्बन्ध पूर्व वाक्यों से भी है कि जिस तरह सूर्य के अभाव में ही खद्योत का प्रकाश होता है, ऐसे ही श्रीरामजी के अभाव में ही तू मुझे हरकर ले आया। उन रघुवीर के बाणों की तुझे सुधि नहीं है कि जिनकी अनुपस्थिति में ही तू मेरा हरण करने गया। युद्ध में उनका सामना न कर सका और न उनकी खींची हुई रेखा ही को लाँघ सका, इसीसे तूने मुझे सूने में हर लिया। अतएव तू अधम और निर्लज्ज है, यथा—"जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनेहि परनारी॥" (लं० दो० २९), तथा—"आश्रमं तत्तयोः शून्यं प्रविश्य नरसिंहयोः। गोचरं गतयोर्भ्रात्रोरपनीता त्वयाधम॥" (वाल्मी० ५।२१।३०), अर्थात् नरसिंह राम-लक्ष्मण के शून्य आश्रम में प्रवेशकर जो तुमने किया, वह निन्दित है। अधम, उस समय वे वन में गये हुए थे। इसी कर्म के कारण उसे शठ, दुष्ट आदि भी कहा है, यथा—"रे त्रिय चोर कुमारगगामी। खल मल-रासि मंद मति कामी॥" (लं० दो० ३१), "नारीचौर्यमिदं क्षुद्रं कृतं शौटीर्यमानिना।" (वाल्मी० ६।१११।६८)।

'निलज्ज' और 'लाज नहिं तोही' में पुनरुक्ति नहीं है, किन्तु कोप की बीप्सा है। कोप, विषाद और विस्मय में प्रायः एक ही शब्द का कई बार प्रयोग किया जाता है। ऐसा मुहावरा भी है, यथा—तू निर्लज्ज है, लज्जा भी नहीं आती ?

(२) 'आपुहि सुनि खद्योत सम ··'—इसमें 'सुनि' का दो बार प्रयोग किया गया है, यथा—'आपुहि सुनि खद्योत सम' और 'परुष बचन सुनि'। कारण यह कि श्रीजानकीजी ने दो बचन कहे हैं—

(१) 'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।···', (२) 'सठ सूने हरि आनेहि····', इनमें पहले का सुनना पूर्वार्द्ध में और दूसरे का उत्तरार्द्ध में कहा गया है। पहले पर 'खिसियान' और दूसरे पर 'अति खिसियान'। इसका कारण यह कि उससे उत्तर नहीं बन पड़ा। अपनी खीस मिटाने के लिये तलवार से मारने की धमकी देता है। रावण का स्वभाव है कि वह अपने शत्रु की प्रशंसा और अपनी न्यूनता पर अत्यन्त कोप करता है, यथा—"तेहि रावन कहँ लघु करसि, नर कर कहसि बखान। रे कपि बर्बर खर्ब खल···" (लं० दो० २५), "आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे॥" (लं० दो० २८) "हर गिरि मथन निरखि मम बाहू। पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू॥" (लं० दो० २७)।

सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना॥१॥
नाहिंत सपदि मानु मम बानी। सुमुखि होति न त जीवन-हानी॥२॥
स्याम-सरोज - दाम-सम सुंदर। प्रभु-भुज करि-कर सम दसकंधर॥३॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा॥४॥

अर्थ—हे सीते! तुमने मेरा अपमान किया है, (अतएव) मैं तुम्हारा सिर कठिन कृपाण (चन्द्रहास) से काट डालूँगा॥१॥ नहीं तो शीघ्र मेरा वचन मान लो, हे सुमुखि! अन्यथा तुम्हारे जीवन की हानि होगी, अर्थात् तुम्हारे प्राण जायँगे॥२॥ (जानकीजी ने कहा) हे दशकन्धर! प्रभु श्रीरामजी की भुजा श्याम कमल की माला के समान सुन्दर और हाथी के सूँढ़ के समान (चढ़ाव-उतारयुक्त एवं बलिष्ठ) हैं॥३॥ वही भुजा मेरे कण्ठ में लगेगी, अथवा तेरी घोर तलवार हो। रे शठ! सुन, ऐसा मेरा प्रामाणिक प्रण (सत्य प्रतिज्ञा) है॥४॥

विशेष—(१) 'सीता तैं मम कृत···'—अपमान मृत्यु के तुल्य माना जाता है, यथा—"संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥" (अ० दो० ९४)। तुमने कठोर वचनों से मेरा अपमान किया है। अतः, मै अपनी कठोर तलवार से तुम्हारा वध करूँगा। प्राण-दंड राजा स्वयं देता है। अतः, उसने 'कटिहउँ' कहा है। पहले अपराध सुनाकर तब दंड देना चाहिये, इसलिये पूर्वार्द्ध में उसने अपराध ठहराकर और तब उत्तरार्द्ध में उसका दंड कहा।

(२) 'नाहित सपदि मानु···'—राज-अपमान का दंड वध है और वह शीघ्र ही दिया जाता है, यथा—"सुनि कपि बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना॥" (दो० २३), इससे शीघ्र वचन मानने को कहता है कि आज्ञा मान लेने से अपमान का अपराध क्षमा हो जायगा।

'सुमुखि होत नत···'—मेरा वचन न मानने से पहले तुम्हें ऐश्वर्य की हानि थी। यदि अब भी नहीं मानोगी, तो तुम्हारे प्राण जायँगे। यहाँ उसने 'सुमुखि'-मात्र ही कहा, इससे पहले सयानी भी कहा था। उनके द्वारा अपना अपमान किये जाने से उन्हें अयानी माना, इसीसे यहाँ सयानी नहीं कहा।

(३) 'स्याम-सरोज-दाम-सम सुंदर।···'—भुजा की उपमा सर्प, कमल-नाल और करिकर से दी जाती है, यथा—"भुजग भोग भुज-दंड कंज दर चक्र गदा बनि आई।" (वि० ६२), "अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥" (बा० दो० ३३४), "करिकर सरिस सुभग भुज-दंडा।" (बा० दो० १४६), यहाँ प्रभु की भुजाओं की उपमा नील कमल की माला से देती हैं और साथ ही उन्हें 'करिकर सरिस' भी कहती हैं। भाव यह है कि हाथी के सूँढ़ के समान बलिष्ठ होने से वे तुम्हारे दसो कन्धों को काटेंगी और कमल की माला के समान मेरे कण्ठ को भी सुशोभित करेंगी। 'प्रभु-भुज'—अर्थात् समर्थ की भुजाएँ, बलवान् की भुजाएँ।

(४) 'सो भुज कंठ कि···'—या तो वे भुजाएँ मेरे कंठ को भूषित करेंगी, अथवा तेरी घोर तलवार ही। कमल के समान कोमल भुजाओं के जोड़ में घोर कठोर तलवार कही गई है। भाव यह कि

दोनों ही दशाओं में पतिव्रता की शोभा ही है, पातिव्रत्य की रक्षा में प्राण देने से उसकी शोभा है। पुनः दोनों प्रकार में दुःख दूर होगा। विरह-दुःख का तो संयोग में अन्त होगा ही, साथ ही प्राण जाने से भी निवृत्त ही होगा। 'प्रमान पन मोरा'—भाव यह है कि तेरा प्रण प्रमाण नहीं होगा, क्योंकि मैं तेरी ओर एक बार भी दृष्टि नहीं करूँगी। पर मेरे उपर्युक्त उभय प्रकार के शोभा-परक प्रण सत्य होंगे ही।

चंद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति - बिरह - अनल - संतापं ॥५॥
सीतल निसित बहसि बरधारा। कह सीता हरु म दुख-भारा ॥६॥
सुनत बचन पुनि मारन धावा। मयतनया कहि नीति बुझावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसीताजी कहती हैं कि हे चन्द्रहास (रावण की तलवार)! श्रीरघुनाथजी की विरह-अग्नि से उत्पन्न मेरे सन्ताप का हरण कर (अर्थात् रावण से कहती हैं कि मुझे तेरी तलवार से मरना स्वीकार है, पर तेरे वचन नहीं) हे खड्ग! तू शीतल, चोखा (तीक्ष्ण) और श्रेष्ठ धार धारण करता है, (उससे) मेरे दुःख के भार का हरण कर ॥५-६॥ ये वचन सुनते ही वह फिर सीताजी को मारने दौड़ा (अर्थात् मारने पर उद्यत हुआ), तब मय-पुत्री मन्दोदरी ने नीति कहकर उसे समझाया ॥७॥

विशेष—(१) 'चंद्रहास हरु मम ···'—रावण ने कहा ही है—'कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना।' और मुझे उसकी शर्त मंजूर नहीं है, तो फिर हे चन्द्रहास! तू देरी क्यों कर रहा है? मेरे कण्ठ से लगकर शीघ्र ही मेरा ताप (विरह-ताप) हर ले, क्योंकि राम-विरह तलवार-जन्य दुःख से भी अधिक है, यथा—"माँगु माथ अबही देउँ तोही। राम-बिरह जनि मारसि मोही॥" (अ० दो० ३३), 'चंद्रहास' का दूसरा अर्थ चन्द्र-किरण भी हैं, जो ताप हरण करती है, वैसे ही तू भी मेरे विरह-ताप को हर ले, ऐसे ही अशोक से भी उन्होंने आगे कहा है, यथा—"सत्य नाम करु हरु मम सोका।" पुनः 'बरधारा'—से तलवार की श्रेष्ठ धार और दूसरा अर्थ नदी की धारा के बहने (प्रवाहित होने) का भी होता है, जिस तरह जल शीतल होता है और ताप हरता है, वैसे ही तेरी धार मेरे विरह-ताप को हरेगी। अतः, वह मुझे शीतल ही लगेगी, यथा—"चन्द्रहास हर मे परितापं। रामचन्द्र-विरहानल-जातम्॥ त्वं हि कान्तिजित मौक्तिक-चूर्ण धारया वहसि शीतलमम्भः॥" (प्रसन्न-राघव नाटक)। इस श्लोक का पूर्वार्द्ध तो चौपाई से मिलता-जुलता है, और उत्तरार्द्ध का अर्थ यह है—अपनी धारा से तू मोती के चूर्ण को कान्ति को भी जीतनेवाली शीतल जल की धारा को धारण करता है।

ऊपर की अर्द्धाली में चन्द्रमा का और इसमें नदी का रूपक भी आ जाता है। वाल्मी० ७।१६।४३-४४ में कहा गया है कि चन्द्रहास नामक महा खड्ग शिवजी ने रावण को दिया था और यह भी कहा था कि यदि इसका अपमान करोगे, तो यह मेरे पास लौटकर चला आवेगा। यह दिव्यास्त्र है और इसे स्त्री पर चलाना इसका अपमान करना है। अतः, रावण डराता ही है, इस तलवार को चलावेगा नहीं।

(२) 'मयतनया कहि नीति बुझावा।'—रावण अनीति कर रहा है और मन्दोदरी नीति कहती है, इसीसे उसे भिन्न स्वभाव की कहते हुए उसका पित्ता-सम्बन्धी नाम कहा गया है। नीति उसने यह कही कि वीर को स्त्री पर हाथ नहीं चलाना चाहिये, यथा—"अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति।" (वाल्मी० २।३८।२१)। पतिव्रता स्त्री अपने व्रत के विरुद्ध वचन पर क्रोध करती ही हैं। अतः, श्रीजानकीजी का अपराध नहीं है। किसीको भी उसके रुचि-विरुद्ध मार्ग पर एकाएक नहीं लाना चाहिये। क्रमशः उसे समझाने की चेष्टा करनी चाहिये, तथा—"अकामां कामयमानस्य शरीरमुपतप्यते।" (वाल्मी० ५।२२।४२), अर्थात् अनुराग न रखनेवाली स्त्री की चाह से शरीर जलता है। अतः, आपसे इससे दूर रहना चाहिये? इत्यादि। 'बुझावा'—समझाया एवं उसकी क्रोधाग्नि को शान्त किया, ठंढा किया इसके ये दोनों अर्थ हैं।

कहेसि सकल निसिचरिन्ह बोलाई। सीतहिं बहु बिधि त्रासहु जाई ॥८॥
मास दिवस महँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना ॥९॥

दोहा—भवन गयउ दसकंधर, इहाँ पिसाचिनि-बृंद।
सीतहिं त्रास देखावहिं, धरहिं रूप बहु मंद ॥१०॥

अर्थ—(रावण ने) सब राक्षसियों को बुलाकर उनसे कहा कि तुमलोग जाकर श्रीसीताजी को बहुत तरह से डराओ ॥८॥ यदि एक महीने में उसने मेरा कहना नहीं माना, तो मैं (उसे) अपनी तलवार निकाल कर मारूँगा ॥९॥ (इतना कहकर) रावण घर को लौट गया, यहाँ समूह राक्षसियाँ श्रीसीताजी को भय दिखाती हैं और बहुत-से बुरे रूप धारण करती हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'कहेसि सकल···'—'जाई' शब्द से सूचित किया कि मन्दोदरी के समझाने पर रावण तुरन्त वहाँ से चल दिया और अलग जाकर राक्षसियों को बुलाया और कहा। शृंगार करके आया था कि श्रीजानकीजी देखेंगी, पर उन्होंने देखा नहीं और यहाँ तक कि गाली दी, तब कैसे वहाँ ठहरता ? अतः, चल दिया।

(२) 'मास दिवस महँ ···'—यह राक्षसियों से श्रीसीताजी के प्रति कहने की कहा है कि जिससे वे यह समझें कि मन्दोदरी के समझाने पर मान गया, अब न मारेगा। यहाँ भय दिखाया है।

(३) 'इहाँ पिसाचिनि-बृंद'—ऊपर 'सकल निसिचरन्हि बोलाई' कहा था, ये वे ही हैं। उनसे कहा था—'सीतहिं बहुबिधि त्रासहु' अतएव यहाँ 'धरहि रूप बहु मंद' कहा है। 'बहु' शब्द दीपदेहली है। इनके मन्द रूपों का वर्णन वाल्मी० ५।२२।३३–३६ में हैं।

त्रिजटा नाम राछसी एका। राम-चरन रति निपुन बिबेका ॥१॥
सबन्हौं बोलि सुनायेसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना ॥२॥

अर्थ—त्रिजटा नाम की एक राक्षसी थी, उसकी श्रीरामजी के चरणों में प्रीति थी और वह विवेक में निपुण थी ॥१॥ उसने सबको बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया और कहा कि श्रीसीताजी की सेवा करके अपना-अपना हित करो ॥२॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा नाम···'—यह राक्षसी-मात्र में अपने समान एक ही थी, इसीसे 'एका' कहा गया है। त्रिजटा नाम था, क्योंकि यह तीन गुणों से जटित (विशिष्ट) थी—राम-चरन-रति, व्यवहार-निपुण और विवेक—इससे ये तीनों गुण कहे गये हैं। विवेक अर्थात् सत्-असत् का ज्ञान। इसे विवेक था, इसीसे राम-चरन-रति करती थी, यथा—"उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥" (अर० दो० ३८), इसने जगत्-व्यवहार को असत् जानकर त्याग दिया था और हरि-भजन को सत् मानकर ग्रहण किया था।

(२) 'सबन्हौं बोलि···'—रावण ने सभी को बुलाकर उन्हें श्रीसीताजी को दुःख देने की आज्ञा दी थी। इसलिये इसने भी सभी को बुलाकर अपना स्वप्न सुनाया कि जिससे अब कोई उन्हें दुःख न दे। 'बोलि'—से जाना गया कि वह कुछ दूर पर थी, पर इतनी दूरी पर अवश्य थी कि जहाँ से उसके वचन श्रीसीताजी भी सुन लें, क्योंकि आगे कहा है, यथा—"मातु बिपति-संगिनि तैं मोरी।" यह श्रीसीताजी का वचन है, उन्होंने उसका वचन सुना है, तभी ऐसा कहा है। स्वप्न दैवयोग से हुआ और प्रातःकाल का स्वप्न शीघ्र ही फलीभूत होता भी है। इसलिये तुरत ही सबों से कहा। 'करहु हित अपना'—वे सब रावण के हित में लगी हैं। उसी पर कहती है कि उसे छोड़ो और अब अपना-अपना हित देखो। स्वप्न का सार-

तत्त्व उसने पहले ही बतला दिया कि कुटुम्ब-सहित रावण का नाश होगा। तब उसके सम्बन्ध से तुमसब भी मारी जाओगी। हाँ, बचने का एक यही उपाय है कि श्रीसीताजी की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करो, तो ये ही तुम्हारी रक्षा कर सकेंगी, यथा—"प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा। अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥" (वाल्मी० ५।२७।३९), इस तरह ये सबों को निवारण कर इसने सबका हित किया। यह विवेक का कार्य है। आगे स्वप्न कहती है—

सपने बानर लंका जारी। जातुधान-सेना सब मारी॥३॥
खर आरूढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥४॥
येहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहु बिभीषन पाई॥५॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥६॥

अर्थ—(मैंने स्वप्न में देखा है कि) एक वानर ने लंका नगरी जला डाली और राक्षसों की सारी सेना मार डाली गई॥३॥ रावण नंगा है और गधे पर सवार है, उसका सिर मुँड़ाया हुआ है और उसकी बीसो भुजाएँ कटी हुई हैं॥४॥ वह इस प्रकार दक्षिण दिशा को जा रहा है, और लंका नगरी मानों विभीषण ने पाई है॥५॥ नगरभर में रघुवीर श्रीरामजी की दोहाई फिर गई, तब प्रभु श्रीरामजी ने श्रीसीताजी को बुलवा भेजा॥६॥

विशेष—(१) 'सपने बानर लंका जारी···'—यह आश्चर्य की बात है कि एक वानर ने रावण के देखते हुए लंका को जला डाला, यथा—"रावन नगर अलप कपि दहई। सुनि अस बचन सत्य को कहई॥" (लं० दो० २२), "कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥" (दो० ३२), "देखत तोहि नगर जेहि जारा।" (लं० दो० ५४), इसीसे इसे प्रथम कहा।

(२) 'खर आरूढ़ नगन···'—ये सब लक्षण स्वप्न-विचार से रावण की मृत्यु के सूचक हैं। पहले 'सेना सब मारी' कहकर तब रावण का मरण कहा गया, क्योंकि आगे ऐसा होना ही है। "मुंडित सिर' ही मृत्यु-सूचक है। 'खंडित सिर' कहा जाता तो दूसरे की मृत्यु का सूचक होता। 'दच्छिन दिसि जाई'—दक्षिण दिशा में यमपुरी है। मरने पर शव के पैर दक्षिण दिशा की ओर कर दिये जाते हैं। अतः, दक्षिण दिशा को जाना 'मरने' का मुहावरा है। 'पाई'—लंका श्रीविभीषणजी के हाथ से चली गई थी, यथा—"करत राज लंका सठ त्यागी।" (दो० ५२), अब उसने उसे फिर पाया, यथा—"गइ मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई।" (अ० दो० ४३), यथा—"रावणश्च मया दृष्टो मुण्डस्तैलसमुक्षितः॥१६॥···गर्दभेन ययौ शीघ्रं दक्षिणां दिशिमाश्रितः॥२२॥···प्रस्थितो दक्षिणामाशां···॥२६॥···एकस्तत्र मया दृष्टः श्वेतच्छत्रो विभीषणः। चतुर्भिः सचिवैः सार्धं वैहायसमुपस्थितः॥२९॥ (वाल्मी० ५।२७)। 'मनहुँ'—स्वप्न की बात कहने की रीति ही ऐसी है।

(३) 'नगर फिरी रघुबीर दोहाई।'—जिसका राज्य होता है, उसीकी दोहाई फिरती है, यथा—"जब प्रताप रवि भयउ नृप, फिरी दोहाई देस।" (बा० दो० १५३), दोहाई (द्वि-आह्वान)=दुहरी पुकार। डंके की चोट के साथ पुकारना, विजय-घोषणा कि अमुक का राज्य हुआ, आदि। 'रघुबीर'—वीरता से विजय पाई। 'तब'—जब वे श्रीविभीषणजी को राज्य दे चुके, तब पीछे उन्होंने अपना स्वार्थ चाहा, यह श्रीरामजी का स्वभाव है, जैसे पहले श्रीसुग्रीवजी को राज्य देकर पीछे श्रीसीताजी की खोज कराई। ऐसे ही अयोध्या पहुँचकर पहले सखाओं को स्नान करा तब स्वयं स्नान करेंगे। 'तब प्रभु सीता बोलि पठाई'—ऐसा कहने का भाव यह है कि ये जाकर स्वामी से यहाँ का हाल कहेंगी, जो इन्हें दुःख देती हो। अतः, तुमलोगों की दुर्दशा होगी। हरि-इच्छा से उसने जितना देखा उतना ही कहा। श्रीहनुमानजी का आना

उनका वृक्ष पर रहना आदि उसने न देखा। नहीं तो राक्षस लोग खोजने लगते, जिससे श्रीजानकीजी और श्रीहनुमानजी की भेंट एवं बातचीत में बाधा होती।

यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गये दिन चारी ॥७॥
तासु बचन सुनि ते सब डरीं। जनकसुता के चरनन्हि परीं ॥८॥

दोहा—जहँ तहँ गईं सकल तब, सीता कर मन सोच।
मास दिवस बीते मोहि, मारिहि निसिचर पोच ॥११॥

अर्थ—मैं पुकारकर कहती हूँ कि यह स्वप्न चार दिन बीतने पर सत्य होगा ॥७॥ उसके वचन सुनकर सब राक्षसियाँ डर गईं और श्रीजानकीजी के पाँवों पर पड़ गईं ॥८॥ तब वे सब मिलकर जहाँ-तहाँ चली गईं और श्रीसीताजी अपने मन में सोच करने लगीं कि एक महीना बीतते ही नीच निशाचर रावण मुझे मारेगा ॥११॥

विशेष—(१) 'यह सपना मैं···'—और स्वप्न चाहे कुछ झूठे भी हों, पर प्रातःकाल में अचानक होनेवाला यह स्वप्न सत्य ही होगा। जैसे श्रीभरतजी ने स्वप्न देखा और वह सत्य हुआ। राम-भक्तों का स्वप्न प्रायः सत्य ही होता है। 'कहउँ पुकारी'—जिससे सबको भली-भाँति विदित हो जाय, जिसमें फिर हमारा दोष न रह जाय, यथा—"कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं।" (बा० दो० २७३), 'गये दिन चारी'—चार दिन अल्पकाल का बोधक है, यथा—"बाँधि बारिधि साधि रितु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि भालु दल सँग जननि उर धरु धीर ॥" (गीता सु० ६), 'जनकसुता के चरनन्हि परीं'—चरणों में पड़कर अपराधों को क्षमा कराया। इन्होंने क्षमा भी कर दी, क्योंकि ये महात्मा श्रीजनकजी की कन्या हैं, यथा—"ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता। अवोचद्यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः ॥" (वाल्मी० ५।२७।४८), अर्थात् पति के विजय-संवाद से प्रसन्न और लज्जित हो श्रीसीताजी बोलीं—यदि ऐसी बात हुई तो हम तुम सबकी रक्षा अवश्य करेंगी।

(२) 'जहँ-तहँ गईं सकल···'—त्रिजटा ने कहा था, यथा—"सीतहिं सेइ करउ हित अपना।" इसपर सबने सम्मत किया कि हमें देखकर श्रीसीताजी दुःख पाती हैं। अतएव हमारा यहाँ से हट जाना ही उनकी सेवा है, इधर-उधर रहें, पर पास न रहें। एकदम छोड़कर घर भी न जा सकीं, क्योंकि रावण की आज्ञा यहाँ रहने की और सदा ही बहुत क्रूर रूपों से भय दिखाने की है। भय दिखाना छोड़कर अलग हट गईं। पास में चुप-चाप भी बैठी रहतीं, तो भी उनका भय रहता। उपद्रवों का उपद्रव छोड़ देना ही उसकी सेवा है, यथा—"यह हमारि अति बड़ि सेवकाई। लेहि न बासन बसन चोराई ॥" (अ० दो० २५०)। यह संयोग भी हरि-इच्छा से हो रहा है, क्योंकि श्रीहनुमानजी से भेंट होनी है।

'सीता कर मन सोच'—श्रीसीताजी को मरने का शोच नहीं है। मरना तो वे चाहती ही हैं, यथा—"चंद्रहास हर मम परितापं।" कह आईं और आगे भी कहेंगी—"तजउँ देह करु बेगि उपाई।" इन्हें शोच इस बात का है कि महीने-भर असह्य विरह-दुःख झेलना पड़ेगा और फिर मारेगा। पुनः 'निसिचर पोच' के हाथों मृत्यु होगी, क्योंकि नीच के हाथों मरने से सद्गति नहीं होती, तथा—"हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम् ॥११॥ ··संजीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वापि। विषस्य दाता न तु मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य ॥१६॥" (वाल्मी० ५।२८)। इसमें श्लोक ११ में राक्षस के हाथ से मरने की चिन्ता और श्लोक १६ में विष एवं शस्त्र से प्राण त्यागने की चेष्टा कही गई है।

शंका—जो मरना चाहती हैं, तो आगे क्यों कहा गया है, यथा—"मास दिवस महँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा॥" (दो०२६)।

समाधान—वहाँ इसलिये कहा है कि स्वामी मेरे लिये इतना कष्ट उठाकर आवेंगे और फिर उनका आना व्यर्थ ही होगा। अतएव शीघ्र ही आवें कि मुझे जीवित पा जायँ। रावण ने जैसी शर्त्त कही थी, उसके अनुसार ही उन्होंने कहा है।

(३) 'निसिचर पोच'—क्योंकि स्त्री अवध्य है, फिर भी मारने पर उद्यत है, मारता भी शीघ्र नहीं, किन्तु महीने-भर की अवधि दे दी है, जिससे मुझे असह्य विरह-दुःख झेलना पड़ रहा है, यह इस राक्षस की नीचता है।

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥१॥
तजउँ देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई॥२॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥३॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनह को श्रवन सूल-सम बानी॥४॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी) हाथ जोड़कर त्रिजटा से बोलीं कि हे माता! मेरे दुःख की तू साथिन है॥१॥ मैं शरीर छोड़ दूँ, इसका शीघ्र उपाय कर दे, अत्यन्त कष्टदायक विरह है, वह अब नहीं सहा जाता॥२॥ लकड़ी लाकर और बनाकर चिता रचो और फिर, हे माता! (उसमें) तुम आग लगा देना॥३॥ (हे) सयानी! मेरी प्रीति (जो श्रीरामजी में है उसको) सत्य कर दो, कानों से शूल के समान वचनों को कौन सुने?॥४॥

विशेष—(१) 'त्रिजटा सन बोलीं ···'—जो काम त्रिजटा से कराना चाहती हैं, वह अगम है, त्रिजटा उसे स्वीकार नहीं करेगी कि वह चिता बनाकर उसमें आग लगा दे। इसीसे हाथ जोड़कर निहोरा करती हैं। अगम बात माँगने की यही रीति भी है, यथा—"मागहुँ दूसर बर कर जोरी। पुरबहु नाथ मनोरथ मोरी॥" (अ० दो० २८), श्रीसीताजी मन, वचन, कर्म से आर्त्त हैं, यथा—"सीता कर मन सोच"—मन, "त्रिजटा सन बोलीं"—वचन और "कर जोरी"—यह कर्म है। अन्य राक्षसियों से नहीं कहा कि वे खा लें, क्योंकि वे तो केवल डरवाना चाहती थीं, खाने को तो ये नहीं ही रोकतीं, क्योंकि मरना तो चाहती ही हैं।

'मातु बिपति संगिनि···'—जैसे तूने मेरी एक विपत्ति में सहायता की कि स्वप्न सुनाकर सबोंको भय दिखाने से रोका। वैसे ही इस विरहजन्य विपत्ति के निवारण में भी सहायता कर। इस दूसरी विपत्ति को आगे कहती हैं, यथा—'तजउँ देह करु···'—देह छोड़ना पहले कहा और उपाय पीछे, इसका भाव यह है कि उपाय की ही देर है, तन-त्याग की नहीं। 'दुसह बिरह'—प्राकृतिक अग्नि का ताप सहना सुलभ है, पर विरह-अग्नि का नहीं। 'अब'—का भाव यह है कि विरही के प्रतिकूल बात कही जाने से उसका विरह बढ़ जाता है, यथा—"सानी सरल रस मातु बानी, सुनि भरत ब्याकुल भये। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये।" (अ० दो० १७६), इसमें श्रीभरतजी को राज्य करना कहा गया था और वह उनकी भक्ति के विरुद्ध था, वैसे ही यहाँ रावण के वचन—'एक बार बिलोकु मम ओरा।' यह इनके पातिव्रत्य के विरुद्ध है। इससे विरह बढ़कर दुःसह हो गया।

(२) 'आनि काठ रचु चिता ··'—'रचु' और 'बनाई'—मंगलकवाचक हैं, भाव यह कि स्वामी के वियोग में सती स्त्री का मरण होना मंगल है, अतएव उत्साहपूर्वक रचना होनी चाहिये, यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर पुर सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६६), इसमें राम-विरह में ही दशरथ-

मरण समझकर मंगलवाचक 'सुहाई' शब्द आया। ऐसे बड़भागी की चिता-रचना में श्रीभरतजी को उत्साह था। चिता बनने पर उसमें मैं प्रवेश करूँगी, यथा—"श्रीखंड सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली। (लं० दो० १०८)।

'मातु अनल पुनि···'—चिता में अग्नि कोई सम्बन्धी ही लगाता है, इससे कहती हैं कि तुम माता हो, माता से शरीर मिलता है, वैसे तुमने मुझे राक्षसियों से बचाया है, यही नया जन्म दिया है। अतएव तुम्हें ही दग्ध करना उचित है।

(३) 'सत्य करहि मम प्रीति···'—यदि प्रिय के विरह में शरीर-त्याग न हो, तो प्रीति सत्य नहीं है, यथा—"बंदउँ अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम-पद। बिछुरत दीन दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ॥" (बा० दो० १६), "तुलसी एकै मीन को, है साँचिलो सनेह।" (दोहावली ३१८)। "राम गये अजहूँ हौं जीवत समुझत ही अकुलान। तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥" (गी० अ० ५६)। 'सयानी'—कहने का भाव यह कि तुम यह जानती हो कि पति बिना स्त्री का जीवन ही व्यर्थ है।

'सुनै को श्रवन···'—दुष्ट के प्रतिकूल वचनों के सुनने से मरना ही अच्छा है, यथा—"अरिबस दैव जियावत जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥" (अ० दो० २०)।

सुनत बचन पद गहि समुझायेसि। प्रभु-प्रताप बल सुजस सुनायेसि॥५॥
निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी। अस कहि सो निज भवन सिधारी॥६॥
कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। मिलिहि न पावक मिटिहि न सूला॥७॥
देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥८॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥९॥

अर्थ—(श्रीजानकीजी के) वचन सुनते ही चरण पकड़कर उसने समझाया और प्रभु श्रीरामजी के प्रताप, बल और सुयश सुनाये॥५॥ हे सुकुमारी! सुनो, रात में आग नहीं मिलती—वह ऐसा कहकर अपने घर चली गई॥६॥ श्रीसीताजी (अपने मन में) कहती हैं कि विधाता मेरे विपरीत हो गया है, (इससे) न आग मिलेगी और न शूल (दुःख) मिटेगा॥७॥ आकाश में अंगारे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, पर एक भी तारा पृथ्वी पर नहीं आता॥८॥ चन्द्रमा अग्निमय है, पर मानों मुझे हतभागिनी जानकर (वह भी) अग्नि नहीं गिराता॥९॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन पद गहि ··'—'पद गहि'—श्रीसीताजी ने उसे मातृ-पद का महत्त्व दिया। अतः, चरण पकड़कर उसने अपनेको दासी जनाया। पुनः उनकी दी हुई आज्ञा को न पाल सकने के अपराध को क्षमा कराने के लिये भी चरण पकड़े। पुनः शपथ की दृष्टि से भी चरण पकड़कर प्रभु के प्रताप आदि की सत्यता दृढ़ की। 'समुझायेसि'—श्रीरामजी अवश्य आयेंगे और शत्रु का मान मर्दन कर तुम्हें ले जायँगे, तब तक धैर्य रक्खो। धैर्य को दृढ़ करने के लिये प्रभु के प्रताप आदि सुनाये। 'प्रभु'—कहने का तात्पर्य यह कि वे समर्थ हैं। 'प्रताप'—जैसे कि तुम्हारे लिये थोड़ा अपराध करने पर सींक के बाण से जयन्त की क्या दशा हुई, उसे तुमने आँखों से देखा है। 'बल'—धनुर्भंग की व्यवस्था प्रभु के अपरिमित बल की परिचायिका है, यथा—"तव भुज-बल-महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥" (बा० दो० २३८), यह भी आपने देखा है। आश्रितों की रक्षा करने के श्रीरामजी के सुयश को भी आप जानती ही हैं, यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयों सरन। उपल केवट गीध सबरी संमत-समन, सोक श्रम सींव सुग्रीव आरति हरन॥" (गी० सुं० ४३), तथा—"निषासखः साधूनामाप-

ज्ञानां परा गतिः ॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम् ॥" (वाल्मी० ४।१५।१९-२०), अर्थात् श्रीरामजी साधुओं के आश्रयदाता तथा पीड़ितों के रक्षक हैं। वे दुःखियों के आश्रय-स्थान हैं और यश के अद्वितीय पात्र हैं। तब वे तुझ परम अनुव्रता को कैसे भुला सकते हैं ?

(२) 'निसि न अनल मिल सुनु···'—जब भारी विरह के कारण समझाने से भी धैर्य न हुआ, तब उसने अग्नि न मिलने का बहाना किया। 'सुकुमारी'—का भाव यह कि तुम्हारा शरीर अत्यन्त सुकुमार है। अतः, अग्नि का ताप सहन होना असम्भव है, यथा—"अति सुकुमार न तनु तप जोगू।" (बा० दो० ७३)। 'निज भवन सिधारी'—वह समझती है कि ये तो सयानी हैं। यदि अग्नि मिलने का कोई उपाय बतलाकर उसे लाने को कहेंगी, तब आज्ञा-भंग करना अनुचित होगा, इससे घर को चल दिया। यह भी प्रभु की ही प्रेरणा है, क्योंकि उन्हें श्रीहनुमानजी को श्रीसीताजी से भेंट का अवकाश देना है। इसके वहाँ रहते हुए वह ठीक न होता।

(३) 'कह सीता बिधि···'—'कह' शब्द वाणी से भी कहा जाना प्रकट करता है कि आगे की बातें मुख से भी कही गई हैं। तभी सुनकर ऊपर से श्रीहनुमानजी ने अग्नि की जगह मुद्रिका गिराई है। 'बिधि भा प्रतिकूला'—क्योंकि हितैषिणी त्रिजटा भी यहाँ से चली गई, यथा—"भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ ॥" (अ० दो० १८१)। 'मिलिहि न पावक···'—भाव यह कि अग्नि के द्वारा शरीर-त्याग से ही दुःख दूर होगा। ऊपर कहा ही गया, यथा—"दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई।" शूल, यथा—"सुनै को श्रवन सूल सम बानी।"

(४) 'देखियत प्रगट गगन···'—श्रीसीताजी विधाता की प्रतिकूलता को प्रकट कर रही हैं कि वह अंगारे दिखाता तो है, पर देता नहीं, भाव यह कि अंगारे नहीं दिखलाई पड़ते तो सन्तोष हो भी जाता कि अग्नि है ही नहीं, क्या करें ? 'प्रगट'—भाव यह कि त्रिजटा ने झूठ ही कहा था कि आग नहीं मिलती, पर हमें तो वह प्रत्यक्ष दिख रही है। अंगारे क्या है, उन्हें उत्तरार्द्ध में ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि वे तारे हैं। 'एकउ'—भाव यह कि अगणित हैं, पर मिलता एक भी नहीं, एक भी मिलने से काम चल जाता।

इससे जान पड़ता है कि अब ये स्वयं अपने लिये चिता बनाना चाहती हैं, केवल आग की ही खोज में हैं, लकड़ी तो यहाँ मिल ही जायगी, क्योंकि यह बाग है। इसीसे त्रिजटा ने लकड़ी न मिलने का बहाना नहीं किया।

(५) 'पावकमय ससि···'—विरह में चन्द्रमा एवं तारे सभी अग्निमय जान पड़ते हैं, यथा—"डहकु न है उँजियरिया निसि नहिं घाम। जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम ॥" "सीतलता ससि की रहि सब जग छाइ। अगिनि ताप ह्वै तम कहँ सँचरत आइ ॥" (बरवा ३७-३३)। भाव यह है कि चन्द्रमा अग्नि से भरा हुआ है, पर थोड़ी-सी भी नहीं टपकता। या एक भी तारा यदि भूमि पर आ जाता अथवा चन्द्रमा ही थोड़ी-सी अग्नि गिरा देता, तो इनमें किसी एक से ही काम चल जाता। 'हतभागी'—पति-वियोग होते ही मेरा भाग्य फूट गया, अतएव सभी विमुख हैं।

पहले विधाता को दोष दिया और उसके कार्य दिखाये, फिर यहाँ के 'हतभागी' शब्द से उसे भी निर्दोष किया कि मेरे कर्म के अनुसार ही तो ब्रह्मा ने भाग्य बनाया, जब कर्म में लिखा है ही नहीं, तब वह दे कहाँ से ? ब्रह्माजी सबकी बुद्धि के देवता तो हैं ही, साथ ही तारे और चन्द्रमा आदि के भी नियामक हैं।

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥१०॥
नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि तनु करहि निदाना ॥११॥

अर्थ—हे अशोक वृक्ष ! तू मेरी प्रार्थना सुन, अपना नाम सच्चा कर और मेरा शोक दूर कर ॥१०॥

(वह इस प्रकार कि) तेरी नवीन कोंपलें (पल्लव) अग्नि के समान हैं। अतः, अग्नि देकर मेरी इस देह का अन्त कर दे ॥११॥

विशेष—(१) 'सुनहि बिनय मम···'—श्रीसीताजी इस समय अत्यन्त व्याकुल हैं, इसीसे जड़-वृक्ष से भी सुनने को कहती है, यथा—',भये बिकल जस प्राकृत दीना।···पूछत चले लता तरु पाती ॥" (अर० दो० २९), यह भी तथ्य से रहित नहीं है। वृक्ष सुनते भी हैं, यथा—"वाय्वग्न्यशनि निर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते। श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छ्रुण्वन्ति पादपाः ॥" (महा० शान्ति १८४।१२), अग्नि, वायु और वज्र के शब्दों से वृक्षों के फूल-फल गिरते हैं और श्रोत्र से ही शब्द का ज्ञान होता है, तब अवश्य वे सब वृक्ष सुनते हैं। 'बिटप असोका'—विटप परोपकारी होते हैं, यथा—"संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि की करनी ॥" (उ० दो० १२४), इसीलिये अशोक के साथ विटप भी कहा गया है। अपने नाम की लज्जा सभीको होती है। अतः, मेरा शोक नाश करके अपना अशोक नाम सत्य करो। चन्द्रमा की तरह मेरे दुर्भाग्य पर दृष्टिपात न करो। आगे शोक-हरण का उपाय यों कहती है—

'नूतन किसलय अनल समाना।'···'—भाव यह कि तेरे पास अग्नि बहुत है, उसकी वृष्टि कर दे, जिससे मेरा शरीर भस्म हो जाय। मुझे लकड़ी जुटाकर चिता बनाना भी न पड़े।

शंका—मरने के और भी उपाय हैं, यथा—"तुम्ह सहित गिरिते गिरउँ पावक जरउँ जलनिधि महँ परउँ।" (बा० दो० ९६), ये सबसे अग्नि ही क्यों माँगती है ?

समाधान—(क) सती स्त्री अग्नि में ही जल मरती है। (ख) अग्नि में इनके बिम्ब की स्थिति है, प्रतिबिम्ब वहीं जाकर मिलना चाहता है। (ग) हरि-इच्छा से ऐसी प्रवृत्ति हुई, श्रीहनुमानजी अशोक पर अँगूठी लिये हुए बैठे हैं। विरहाग्नि से तप्त होकर प्राकृत अग्नि में जलना सुगम मानकर तारे, चन्द्रमा आदि को अग्निमय मानती हुई, अशोक के लाल पल्लवों को भी अग्निमय देखती हुई, उससे भी अग्नि माँगेगी। तब श्रीहनुमानजी को अँगूठी गिराने का अवसर मिलेगा और वे उसे अग्नि समझकर लेंगी।

अलंकार—'परिकरांकुर', क्योंकि यहाँ विशेष्य अशोक में शोक-हरण क्रिया का भाव है।

देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥१२॥

दोहा—कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार, दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥१२॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर कपि श्रीहनुमानजी को वह क्षण कल्प के समान बीत गया ॥१२॥ तब कपि श्रीहनुमानजी ने अपने हृदय में विचारकर अँगूठी गिरा दी, मानों अशोक वृक्ष ने अंगारा दिया, (यह समझकर) श्रीसीताजी ने प्रसन्न हो उठकर उसे हाथ से उठा लिया ॥१२॥

विशेष—(१) 'देखि परम बिरहाकुल सीता।···'—पहले श्रीजानकीजी को दीन दशा में देख कर श्रीहनुमानजी परम दुखी हुए थे, यथा—"परम दुखी भा पवन सुत, देखि जानकी दीन ॥" (दो० ८), अब विरह से परम व्याकुल देखकर उन्हें उस क्षण का बीतना कल्प के समान प्रतीत हुआ। जब देखने-वाले का ही क्षण कल्प के समान बीता, तब श्रीसीताजी की दशा कैसे कही जाय ? क्षण = पल का चतुर्थांश, समय का सबसे छोटा भाग। कल्प = ब्रह्मा का एक दिन जिसमें १४ मन्वन्तर होते हैं। श्रीसीताजी की वह दशा क्षण-भर ही रही कि श्रीहनुमानजी ने देखा कि अब ये प्राण ही छोड़ना चाहती हैं। अतः, उन्होंने शीघ्र ही मुद्रिका डाल दी।

(२) 'कपि करि हृदय बिचार···'—विचार पर प्रसंग छूटा था, यथा—"करइ बिचार करउँ का भाई।" अब वहीं से फिर प्रसंग लेते हैं कि श्रीसीताजी अशोक से आग माँग रही हैं, उसकी जगह मुद्रिका दे दूँ, मुद्रिका में माणिक्य का नगीना था। सोने के साथ जड़ा होने से उसमें अधिक ललाई आ गई थी, जिससे वह मुद्रिका अंगार की तरह दिखलाई पड़ती थी। अशोक वृक्ष पर से मुद्रिका गिरी और उससे इनका शोक दूर होगा, इसीसे मानों उसने अपना अशोक नाम सत्य किया। 'हरषि उठि कर···'—अग्नि पाकर श्रीसीताजी को हर्ष हुआ। अतः, इससे विरह की सत्यता जानी गई। उन्होंने उसे उठकर ले लिया। इससे अँगूठी का गिरना कुछ दूरी पर सूचित किया गया, किन्तु अधिक दूर पर भी नहीं गिरी, नहीं तो धाइ कर गहना कहा जाता। अभी तक जिस-जिस से अग्नि माँगी गई, किसीने नहीं दी। यहाँ वायुपुत्र के द्वारा प्राप्त हुई, क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति वायु से ही होती है, यथा—"वायोरग्निः॥" (तैत्त० २।१)।

अलंकार—'भ्रान्ति', क्योंकि अँगूठी को अंगार समझा और लिया है।

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम-नाम अंकित अति सुंदर॥१॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी॥२॥
जीति को सकइ अजय रघुराई। माया ते असि रचि नहिं जाई॥३॥

अर्थ—तब श्रीराम-नाम से अंकित अत्यन्त सुन्दर मनोहर अँगूठी श्रीसीताजी ने देखी॥१॥ पहचानकर उसे चकित (विस्मित) होकर देखती हैं। वे हर्ष और विषाद से हृदय में व्याकुल हो गईं॥२॥ (सोचती हैं कि) श्रीरघुनाथजी अजेय हैं, उन्हें भला कौन जीत सकता है? और माया से ऐसी मुद्रिका रची नहीं जा सकती॥३॥

विशेष—(१) 'तब देखी मुद्रिका मनोहर···'—श्रीसीताजी ने पहले अग्नि के धोखे से अँगूठी को मुट्ठी में ले लिया, जब वह गर्म नहीं मालूम हुई, तब उन्होंने उसे खोलकर देखा, तो वह मुद्रिका थी, फिर अच्छी तरह देखा, तब उसमें रामनाम अंकित (लिखा) पाया। 'मनोहर'—रामनाम मनोहर है, यथा—"आखर मधुर मनोहर दोऊ।" (बा० दो० १६), उससे अंकित होने से यह मुद्रिका भी मनोहर है। एक तो इसकी बनावट ही सुन्दर है, उसपर रामनाम अंकित होने से 'अति सुन्दर' है।

'मुद्रिका' पद स्त्रीलिंग है, इससे यहाँ 'मनोहर' और 'सुन्दर' के स्थान पर 'मनोहरि' और 'सुन्दरि' नहीं रक्खा गया, क्योंकि ग्रन्थकार ने ऐसे बहुत प्रयोग किये हैं—'मनोरथ मोरि', प्रस्न सुहाई' एवं 'गिरा न सोहा', आदि। कोई-कोई मनोहर और सुन्दर को रामनाम का विशेषण मान कर सन्तोष करते हैं और कोई रामचन्द्रिका और हनुमन्नाटक के प्रमाण रखकर यों भी कहते हैं कि अब श्रीरामजी ने इस मुद्रिका को कंकण की पदवी में रक्खा है। पुंल्लिंग विशेषणों में वह भाव भी गर्भित है।

(२) 'चकित चितव···'—जहाँ चकित होकर चारो दिशाओं में देखना होता है वहाँ 'चहु दिसि' एवं 'सकल दिसि' भी साथ लिखते हैं। यहाँ विस्मित होकर मुँदरी के ही देखने का अर्थ है, यथा—"जहँ-जहँ जाहि कुँवर बर दोऊ। तहँ-तहँ चकित चितव सब कोऊ॥" (बा० दो० २४३), 'हरष-बिषाद···'—हर्ष मुद्रिका मिलने का हुआ और विषाद इसलिये हुआ कि यहाँ पर आ गई कैसे? वही आगे कहती हैं—'जीति को सकै···', 'हृदय अकुलानी', यथा—"हृदय हरष बिषाद अति पति मुद्रिका पहिचानि। दास तुलसी दसा को केहि भाँति कहै बखानि॥" (गी० सुं० २), पहले विरह की व्याकुलता में कुछ कहती भी थीं, अब तो दंग रह गईं।

अलंकार—'समुच्चय प्रथम', क्योंकि यहाँ आश्चर्य, हर्ष और विषाद आदि साथ ही हुए हैं।

(३) 'जीति को सकै···'—वाल्मी० ५।३७।१४-१७ में श्रीसीताजी ने स्वयं कहा है कि मैं अपने

स्वामी के प्रभाव को जानती हूँ, उन्हें कोई जीत नहीं सकता, तथा—"सकल सुरासुर जुरहि जुझारा। रामहिं समर न जीतनहारा॥" (अ० दो० १८८), वे प्रमाण माधुर्य के हैं, ऐश्वर्य-दृष्टि में तो—"भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।" (अर० दो० २७), कहा गया है। 'रघुराई' का भाव यह कि सभी रघुवंशी अजेय होते आये हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं, यथा—"रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥ कही जनक जस अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥" (बा० दो० २५२), 'माया ते असि रचि नहि जाई'—'असि' का भाव यह है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी के भूषण सब दिव्य हैं, सायुज्य-मुक्त जीव हैं, चेतन हैं। गी० सुं० ३ में लिखा है कि श्रीजानकीजी ने मुद्रिका से बातें की हैं और उसने उत्तर में श्रीरामजी का समाचार कहा है। श्रीहनुमानजी का भी परिचय दिया है, तो वह माया से नहीं ही रची जा सकती। वाल्मी० ५।३६।२-४ में भी कहा है—"रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यंगुलीयकम्॥ प्रत्ययार्थं तवानीतं तेन दत्तं महात्मना॥ ··गृहीत्वा प्रेक्षमाणा सा भर्तुः करविभूषितम्। भर्तारमिव संप्राप्तं जानकी मुदिताभवत्॥" इत्यादि।

सीता मन बिचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥४॥
रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥५॥
लागीं सुनै श्रवन मन लाई। आदिहु ते सब कथा सुनाई॥६॥

अर्थ—श्रीसीताजी अपने मन में अनेक (प्रकार के) विचार करने लगी, तब श्रीहनुमानजी मधुर वाणी बोले॥४॥ वे श्रीरामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन करने लगे, (उन गुणों के) सुनते ही श्रीसीताजी का दुःख भाग गया॥५॥ वे श्रवण और मन लगाकर सुनने लगीं, (तब) श्रीहनुमानजी ने आदि ही से (जन्म से लेकर वर्त्तमान काल तक की) सारी कथा कह सुनाई॥६॥

विशेष—(१) 'सीता मन बिचार···'—कि यह मुद्रिका यहाँ कैसे आई? इसपर कोई विचार नहीं ठहर पाता। क्या ऐसा हो सकता है कि श्रीलक्ष्मणजी कन्द-मूल लेने गये हों और श्रीरामजी सो गये हों, तो उसी समय कोई पक्षी ले आया हो, अथवा मेरे वियोग मे उन्होंने प्राण ही छोड़ दिये हों और फिर इसी कारण श्रीलक्ष्मणजी ने भी प्राण छोड़ दिये हों, जिससे इसे कोई उठा लाया हो, इत्यादि विचार-पर-विचार उठते जाते हैं। 'मधुर बचन···'—मीठे अमृत-समान प्रिय एवं धीमे स्वर से कि जिसे श्रीजानकीजी ही सुन सकें और विश्वास करें, यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई।" आगे कहा है, तथा—"श्रावयिष्यामि सर्वाणि मधुरां अब्रुवन्गिरम्। श्रद्धास्यति यथा सीता···मधुरमवितथं जगाद वाक्यम्···" (वाल्मी० ५।३०।४३-४४)। कानों को प्रिय लगी, इसीसे—"लागी सुनै श्रवन मन लाई।" आगे कहा है।

(२) 'रामचंद्र गुन···'—चन्द्रमा ताप को दूर करता है, यथा—"सरदातप निसि ससि अपहरई।" (कि० दो० १६), और यहाँ राम-गुण से श्रीसीताजी शीतल हुईं, अतएव 'रामचंद्र' कहा गया। शीतल होने के सम्बन्ध से 'सीता' कहा गया है, यथा—"सीता सीत निसा सम आई।" (दो० ३५)। गुण, यथा—"दीनबंधु सुख सिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।" (वि० ८१)।

(३) 'लागीं सुनै श्रवन मन लाई···'—जब तक किसी प्रकार का दुःख रहता है, तब तक कथा में मन नहीं लगता और यदि श्रोता का मन न लगे, तो उससे कथा न कहनी चाहिये, यथा—"यह न कहिय सठही हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुनु हरि लीलहिं॥" (उ० दो० १२७), इसलिये श्रीहनुमानजी ने प्रथम राम-गुण सुनाकर श्रीसीताजी का दुःख दूर किया और जब नाना विचारों को छोड़ उनका मन एकाग्र हुआ तब आदि (बाल-काण्ड) से यहाँ (अरण्य-काण्ड) तक की भी कथा कही, जिसे वे जानती थीं। तब सीता-हरण की बातें, श्रीरामजी का विरह, जटायु की कथा, श्रीशबरीजी की प्रीति और श्रीसुग्रीवजी

की मैत्री और फिर जैसे-जैसे चारों दिशाओं में वानर भेजे गये—वे सब कथाएँ कहीं। उसी सिलसिले में दक्षिण दिशा की सेना में अपना आना और समुद्र लाँघकर लंका में श्रीसीताजी का खोजना और उनको पहचानना, पुनः मुद्रिका गिराना पर्यन्त सभी बातें कही गईं।

शंका—श्रीहनुमानजी आदि ही से सारी कथा कैसे जानते थे?

समाधान—उन्होंने श्रीरामजी से सुनी थी, यथा—"आपन चरित कहा हम गाई।" (कि० दो० १), पुनः श्रीलक्ष्मणजी ने भी विस्तार से सुनाई थी, यथा—"लछिमन राम चरित सब भाखा॥" (कि० दो० ४), और ऋषियों से भी सुनी है, यथा—"राम जनम सुभ काज सब, कहत देव रिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमान के, प्रेम उमँग न अमाइ॥" (रामाज्ञा ४।४।१)।

श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥ ७॥
तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिरि बैठीं मन बिसमय भयऊ॥ ८॥
राम-दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥ ९॥
यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्हि राम तुम कहँ सहिदानी॥१०॥

अर्थ—(श्रीसीताजी ने कहा—) जिसने कानों को अमृत के समान प्रिय सुन्दर कथा कहीं। हे भाई! वह प्रकट क्यों नहीं होता?॥७॥ तब श्रीहनुमानजी समीप चले गये, (इसपर) श्रीसीताजी फिरकर (मुँह फेरकर) बैठ गईं, उनके मन में विस्मय हुआ॥८॥ (श्रीहनुमानजी ने कहा—) हे माता श्रीजानकीजी! मैं श्रीरामजी का दूत हूँ, करुणानिधान श्रीरामजी की सौगन्द करके यह सत्य कहता हूँ॥९॥ यह अँगूठी हे माता! मैं ही लाया हूँ, श्रीरामजी ने यह आपको निशानी (चिह्न) दी है (कि जिससे आप मुझे उनके पास से आया हुआ मानें)॥१०॥

विशेष—(१) 'सो प्रगट होत किन भाई'—श्रीहनुमानजी ने जो श्रीसीताजी को रामकथा सुनाई, उसी सम्बन्ध से उन्हें प्रिय मानकर श्रीसीताजी ने 'भाई' कहा है, यथा—"भैया कहहु कुसल दोउ बारे।" (बा० दो० २६०), जिसने कानों को तृप्त किया, वह नेत्रों को भी क्यों नहीं तृप्त करता। उसके दर्शनों से नेत्र शीतल होंगे, यथा—"तोहि देखि सीतल भइ छाती।" (दो० २६), तात्पर्य यह है कि श्रीरामकथा के वक्ता से श्रीमहारानीजी परदा नहीं रखती थीं।

(२) 'तब हनुमंत निकट···'—'तब' जब आज्ञा मिली, पहले तो दूर ही रहे, यथा—"दूरि ते ताहि सबन्हि सिर नावा। पूछे निज बृत्तांत सुनावा॥" (कि० दो० २४), "दूरिहि ते प्रनाम कपि कीन्हा।" (लं० दो० १०५), 'चलि गयऊ'—दौड़कर या कूदकर नहीं, क्योंकि उससे ढिठाई होती, यथा—"तासु निकट पुनि सब चलि आये।(कि० दो० २४), 'फिरि बैठीं'—उठकर मुद्रिका लेना कहा गया था, यथा—'हरषि उठिकर गहेउ' और अभी तक खड़ी-खड़ी उसे देखती और अनेकों विचार करती रहीं, खड़ी-ही-खड़ी कथा भी सुनी और वक्ता को भी निकट बुलाया। पर जब श्रीहनुमानजी समीप गये, तब वे फिरकर बैठ गईं, क्योंकि कथा सुनाई पड़ी—मनुष्य की बोली में और प्रकट हुआ वानर। कहीं यह रावण ही न हो, इसी शंका से मुख फेर लिया और इसीसे मन में विस्मय भी हुआ, यथा—"यथायथा समीपं स हनूमानुपसर्पति। तथा तथा रावणं सा तं सीता परिशङ्कते॥" (वाल्मी० ५।३४।९), पहले भी एक बार रावण यती बनकर संस्कृत में बातें की थीं, इसीलिये सन्देह हुआ कि कहीं हमें धोखा देने के लिये वही वानर बनकर न आया हो, क्योंकि राक्षस मायावी होते हैं। अतः, उन्हें रूप बदलने में कुछ कठिनाई नहीं होती है।

(३) 'सत्य सपथ करुनानिधान की।'—शपथ का तात्पर्य यह कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो

मुझपर श्रीरामजी की करुणा न रहे, यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई ॥" (अ० दो० २७), इसमें भी वैसा ही भाव है कि मैं यदि झूठ कहता होऊँ, तो मेरे सुकृत और स्नेह नाश हो जायँ। एक यह भी भाव है कि मैं उनका दूत होने के योग्य न था, पर स्वामी ने करुणा करके यह पद मुझे प्रदान किया है, यथा—"जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास ॥" आगे कहा है। शपथ से अपने वचन को पुष्ट किया, यथा—"तेहि पर राम सपथ करि आई। · बात दृढ़ाइ कुमति हँसि बोली।···" (अ० दो० २७)। इस शपथ से राम-दूत होने की प्रतीति हुई, उसमें नर-वानर की संगति में कुछ जानना है, वही जानने पर पूर्ण विश्वास करेंगी। 'सहिदानी', यथा—"मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥" (दो० २६), 'मै आनी'—अशोक वृक्ष ने नहीं दी, मैंने दी है।

नर बानरहिं संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे ॥११॥

दोहा—कवि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास ॥१३॥

अर्थ—नर और वानर का संग किस प्रकार हुआ? यह कहो, (श्रीहनुमानजी ने) सारी कथा कही, जिस प्रकार मैत्री हुई थी ॥११॥ कपि श्रीहनुमानजी के प्रेम-युक्त वचन एवं प्रेम-सहित सुनकर श्रीसीताजी के मन में विश्वास उत्पन्न हुआ और जान लिया (निश्चित हुआ) कि यह मन, कर्म और वचन से कृपा के समुद्र श्रीरामजी का दास है ॥१३॥

विशेष—(१) 'नर बानरहि संग···', यथा—"वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः ॥" (वाल्मी० ५।३५।२), पहले की कथा में मैत्रीमात्र का होना संक्षेप में सुना था। अतः, उसीको विस्तार से सुनना चाहती है। वाल्मीकीय में भी ऐसा ही है।

(२) 'कपि के बचन सप्रेम सुनि ···'—कथा कहते हुए श्रीहनुमानजी को बात-बात में प्रेम उमड़ आता था। श्रीराम-लक्ष्मण के स्वरूप-वर्णन मे बहुत प्रेम दीखता था। श्रीसीताजी ने जो वस्त्राभूषण डाल दिये थे, इन्होंने उनका ठीक-ठीक वर्णन किया। तब श्रीसीताजी के मन में पूर्ण विश्वास हुआ और उपर्युक्त विस्मय दूर हुआ। श्रीरामजी के प्रति उनका प्रेम देखकर मन, कर्म और वचन से उन्हें प्रभु का दास जाना, "राम दूत मै मातु जानकी। सत्य सपथ ··" से वचन-द्वारा, 'कपि के बचन सप्रेम ··' से मन-द्वारा और "यह मुद्रिका मातु मै आनी।" से कर्म-द्वारा श्रीरामजी का दास होना जाना। 'कृपासिंधु कर · '—भाव यह कि श्रीरामजी ने मुझपर कृपा करके इसे अपना दास बनाकर भेजा, यथा—"बिनु हरि कृपा मिलहि नहि संता।" (दो० ६)।

इस दोहे में श्रीसीताजी के मन का व्यापार अधिक व्यक्त किया गया है, 'मन' शब्द चार बार आया है। ऊपर के दोहे मे—"तजउँ देह ·आनि काठ···" आदि कर्म और "कह सीता बिधि भा प्रतिकूला। · " से "नूतन किसलय···" तक वचन की प्रीति श्रीरामजी में कही गई है।

हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी ॥१॥
बूड़त बिरह - जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जलजाना ॥२॥
अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज-सहित सुख भवन खरारी ॥३॥

अर्थ—(हनुमानजी को) भगवान् श्रीरामजी का सेवक जानकर अत्यन्त प्रीति बढ़ी, उनकी आँखों में जल भर आया, शरीर पुलकायमान हो गया और रोम खड़े हो गये ॥१॥ (श्रीसीताजी श्रीहनुमानजी

से बोलीं—) हे तात हनुमान! मुझ विरह-सागर में डूबती हुई को तुम जहाज हुए ॥२॥ मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, अब छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ सुख के स्थान, खर के शत्रु श्रीरामजी का कुशल-क्षेम कहो ॥३॥

विशेष—(१) 'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी ।·· '—जैसे श्रीहनुमानजी ने सज्जन (श्रीविभीषणजी) को पहचान लिया, यथा—"हृदय हरष कपि सज्जन चीन्हा ।" और विभीषणजी ने भी इन्हें हरि-दास जाना, यथा—" की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई ।" वैसे ही यहाँ श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमानजी को हरिजन जाना। 'प्रीति अति बाढ़ी', यथा—"मोरे हृदय प्रीति अति होई ।" यह विभीषणजी ने भी कहा है और यह सन्तों का लक्षण भी है, यथा—"संत चरन पंकज अति प्रेमा ।" (अर० दो० १५)। पहले 'प्रीति अति बाढ़ी'—यह मन की दशा हुई और फिर वही दशा तन की—'सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी ।' से प्रकट हो गई, यथा—"बहु लालसा कथा पर बाढ़ी। नयनन्हि नीर रोमावलि ठाढ़ी ॥" (बा० दो० १०३), आगे वचन की दशा भी प्रकट है, यथा—"बूड़त बिरह जलधि···"—अभी श्रीहनुमानजी ने ही नाव-रूप आधार होकर उनके प्राण बचाये, यथा—"राम बिरह सागर महँ, भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवन सुत, आइ गयउ जनु पोत ॥" (उ० दो० १), किन्तु विरह-सागर अभी है ही, जब श्रीरामजी मिलेंगे, तब श्रीसीताजी उसके किनारे पहुँचेंगी, यथा—"बूड़त बिरह बारीस कृपा-निधान मोहिं कर गहि लियो ॥" (उ० दो० ५), यह प्रभु से मिलाप होने पर श्रीभरतजी ने कहा है।

इसी तरह श्रीभरतजी एवं श्रीजाम्बवान् आदि के लिये और श्रीरामजी के लिये भी श्रीहनुमानजी नाव रूप हुए हैं। श्रीभरतजी के प्रति ऊपर कहा गया है। जाम्बवान् आदि के लिये, यथा—"बूड़त जहाज बच्यो पथिक समाज मानों आज जाये जानि सब अंकमाल देत है। गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनूमान पहिचानि भये सानँद सचेत है ॥" (क० सुं० २६), श्रीरामजी के लिये, यथा—'सिय सनेह सागर नागर मन बूड़न लग्यो सहित चित चैन। लही नाव पवनज प्रसन्नता, बरबस तहाँ गह्यो गुन मैन ॥" (गी० सुं० २१)। 'प्रीति अति बाढ़ी। सजल···', यथा—"एवं विश्वसिता सीता·····अतुलं च गता हर्षं प्रहर्षेण तु जानकी। नेत्राभ्यां वक्त्रपद्माभ्यां मुमोचानन्दजं जलम् ॥" (वाल्मी० ५।३५।८३-८४)।

अलंकार—'प्रत्यनीक (मित्रपक्ष)', क्योंकि यहाँ मित्रपक्ष के प्रति प्रेम करना कहा गया है।

(२) 'अब कहु कुसल···'—'अब' अर्थात् मेरी कुशल तो की, अब दोनो भाइयों की, कुशल कहो। जब मारीच ने श्रीरामजी के समान स्वर में ही आर्त्त वचन कहा, श्रीसीताजी उसे सुनकर व्याकुल हो गईं और श्रीसीताजी ने श्रीलक्ष्मणजी को उनकी रक्षा के लिये भेजा। तभी इनका हरण हो गया। अतः, उनका कुशल-क्षेम सुनना चाहती हैं और इसके लिये बलिहारी जाती हैं। अपनी कुशल पर बलिहारी नहीं, पर स्वामी की कुशल सुनाने के लिये बलिहारी जाती हैं। इस बड़े उपकार पर यह कृतज्ञता है।

इसी तरह के उपकार पर श्रीरामजी और श्रीभरतजी ने भी इन्हें हृदय से लगाया है, यथा—"पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।" (दो० २९), "सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर।" (उ० दो० १), पर श्रीसीताजी ने वैसा नहीं किया, किन्तु आगे अमोघ आशिष ही दी है, क्योंकि इनके लिये यही युक्तिसंगत भी है।

'सुख भवन खरारी'—प्रभु आश्रितों के लिये सुख-स्थान हैं और खर की तरह दुष्टों के शत्रु है। अतः, दुष्टों को मारकर मुझे सुखी करेंगे—इससे श्रीसीताजी ने अपनी यह अभिलाषा सूचित की। इसमें यह भी ध्वनि है कि खर ने तो इतना ही कहा था—'देहु तुरत निज नारि दुराई।' इसीपर प्रभु ने सेना-सहित उसे मार डाला था और अब रावण के प्रति वैसा रोष क्यों नहीं करते?

'अनुज सहित' का भाव यह है कि श्रीरामजी अपनी अपेक्षा अपने सेवक की कुशल चाहनेवाले पर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसीसे 'अनुज' शब्द पहले है।

कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥४॥
सहज बानि सेवक सुख दायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥५॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदुगाता ॥६॥
बचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी ॥७॥

अर्थ—हे कपि! श्रीरघुनाथजी तो कोमल-चित्त और कृपालु हैं, पुनः रघुकुल में श्रेष्ठ हैं। उन्होंने कठोरता किस कारण से धारण कर रक्खी है? ॥४॥ सेवकों को सुख देने का उनका सहज स्वभाव है, वे श्रीरघुनायक क्या कभी मेरी सुधि लेते हैं? ॥५॥ हे तात! कभी श्यामल और कोमल-शरीर (स्वामी) को देखकर मेरी आँखे शीतल होंगी? (अत्यन्त व्याकुलता से उनके मुख से) वचन नहीं निकलता, नेत्रों में जल भरकर (और दुःख से) कहा—हा नाथ! मैं एकदम ही भुला दी गई! ॥७॥

विशेष—(१) 'कोमल चित कृपाल……'—स्वामी सर्वदा कोमल-चित्त और कृपालु हैं, और उनसे तो निष्ठुरता का होना सम्भव नहीं। फिर रघुवंशी तो निष्ठुर होते ही नहीं, और श्रीरामजी तो उस कुल में भी श्रेष्ठ हैं। वे कैसे निर्दय होंगे? अतः, इसका कारण कहो, यथा—"श्रीरघुबीर की यह बानि··· राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि।" (वि० २१५)।

(२) 'सहज बानि सेवक सुखदायक।··'—सुख-दायक तो सभी के लिये है, पर सेवक को सुख देने की उनकी स्वाभाविक टेव है। उस टेव के वश क्या कभी मेरी भी सुधि करते है? भाव यह कि मैं सेविका हूँ। अतः, किसी सेवा की आवश्यकता पर क्या मुझे स्मरण करते हैं? ऐसा ही श्रीभरतजी और श्रीविभीषणजी ने कहा है, यथा—"कहु कपि कबहुँ कृपालु गोसाईं। सुमिरहि मोहिं दास की नाईं॥" (उ० दो० २), "तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥" (दो० ६)। ये वचन दीनता एवं विरह-परक हैं।

'कबहुँ नयन मम…… '—स्वामी की वाणी को स्मरण कर विरह में अपनी मुख्य अभिलाषा कहती हैं, यथा—"कबहुँ कपि! राघव आवहिं गे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिं गे॥ मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिं गे। अंग-अंग छवि भिन्न-भिन्न सुख निरखि-निरखि तहँ-तहँ छावहिं गे॥·· " (गी० सु० १०)—यह पूरा पद देखिये। 'स्याम मृदुगाता' से शृङ्गार-दृष्टि सूचित की। शृङ्गार रस का वर्ण श्याम है। स्त्रियों में यह अभिलाषा सहज है, यथा—"नारि बिलोकहिं···जनु सोहत शृंगार धरि, मूरति परम अनूप॥" (बा० दो० १४१), "सीता चितव स्याम मृदु गाता।" (अर० दो० २०)।

(३) 'बचन न आव नयन भरि……'—प्रभु के श्याम मृदु गात का स्मरण कर विरह-विह्वल हो गई, यथा—"राम लखन उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी।" (बा० दो० २८९), फिर धैर्य धारण कर कहने लगीं—'अहह नाथ·· ', यथा—"पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।" (बा० दो० २८६), 'अहह' शब्द अत्यन्त दुःख का सूचक है। कहा भी है—'अहहेत्यदूभुते खेदे (अमरकोष)। हा नाथ! मुझे नितान्त ही भुला दिया! यह अत्यन्त आर्त्त वचन है।

देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता॥ ८॥
मातु कुसल प्रभु अनुज-समेता। तव दुख दुखी सुकृपा-निकेता॥ ९॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह ते प्रेम राम के दूना॥१०॥

अर्थ—श्रीसीताजी को विरह से परम व्याकुल देखकर कपि श्रीहनुमानजी कोमल और विनम्र वचन बोले ॥ ८ ॥ हे माता ! प्रभु श्रीरामजी भाई के साथ कुशल-पूर्वक हैं, अत्यन्त कृपा के स्थान प्रभु आपके दुःख से दुखी हैं ॥ ९ ॥ हे माता ! अपने मन में लघुता न लाइये, आपसे श्रीरामजी के (हृदय में) दूना प्रेम है ॥ १० ॥

विशेष—(१) 'देखि परम बिरहाकुल ···'—इस अर्द्धाली का पूर्वार्द्ध पहले आ चुका है, यथा—"देखि परम बिरहाकुल सीता । सो छन कपिहि कलप सम बीता ॥" (दो० ११), इससे सूचित किया कि वही दशा फिर यहाँ भी हो गई । बोलने का अवसर यहाँ नहीं था, और यहाँ है । अतः,—'बोला कपि···' विरह की दसवीं दशा होनेवाली है । अतः, समझाने के लिये 'मृदु बिनीत बचन' बोले । विरह (वियोग शृङ्गार) की ग्यारह दशाएँ होती हैं—(१) अभिलाषा, (२) चिन्ता, (३) स्मरण (स्मृति), (४) गुणकथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता, (१०) मूर्च्छा और (११) मरण । (काव्यप्रभाकर)

इस प्रसंग में श्रीहनुमानजी का तीन बार तीन कारणों पर और तीन प्रकार से बोलना है—(१) जब श्रीसीताजी शरीर-त्याग करने को थीं, तब उन्हें जीवित रखने के लिये वे अमृत-सम मधुर वचन बोले, यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई । कहि···" (२) वहाँ उनका विश्वास दृढ़ करने के लिये प्रेम-सहित वचन बोले थे, यथा—कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास ।" (३) और यहाँ उन्हें समझाने के लिये 'मृदु बचन बिनीता' बोलते है, यथा—"कहि सप्रेम मृदु बचन सोहाये । बहु बिधि राम लोग समुझाये ॥" (अ० दो० ८४), "कृपा सिंधु फेरहिं तिन्हहिं, कहि बिनीत मृदु बयन ॥" (अ० दो० ११२) ।

तीन जगहों के तीन प्रकार के विशेषणों का यह भी भाव है कि इनके वचन सभी विशेषणों से युक्त हैं । श्रीगोस्वामीजी ने प्रत्येक स्थान मे विशेषण नहीं देकर जहाँ जिसकी प्रधानता देखी, वहाँ उसे लिख दिया । अतः, तीनों जगह सब विशेषणों को लेना चाहिये ।

(२) 'मातु कुसल प्रभु···'—'कुसल' के साथ 'प्रभु' और 'तव दुख दुखी' के साथ 'कृपानिकेता' कहा है । इसका भाव यह है कि श्रीरामजी समर्थ है । अतः, उनपर कोई विघ्न आ नहीं सकता और आप-पर उनकी अत्यन्त कृपा है, इसीसे आपके दुःख से वे दुखी है । अनुज-समेत की कुशल कहने के लिये श्रीसीताजी का अनुरोध था, अतएव उन्होंने उनकी कुशल कही ।

(३) 'जनि जननी मानहु ···'—श्रीसीताजी ने जो कहा था—"अहह नाथ हौं निपट बिसारी ।" उसीका यह उत्तर है । इसी तरह प्रश्नोत्तर श्रीहनुमानजी और श्रीरामजी में भी हुआ था, यथा—"पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ,···" इसपर प्रभु ने कहा था—"सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ॥" (कि० दो० २), दोनों जगह बिसारने के प्रति 'ऊना' शब्द आया है । 'ऊना' का अर्थ न्यूनता, हानि है, यथा—"काहे को मानत हानि हिये हो ?" (गी० अ० ७५), तथा—"अस कस कहहु मानि मन ऊना । सुख सोहाग तुम्हँ कहँ दिन दूना ॥" (अ० दो० २०) ।

हानि-ग्लानि करना तो तब होता, जब श्रीरामजी का आपमें स्नेह न होता, सो बात नहीं है । श्रीरामजी का तो आपके प्रति आपसे भी दूना प्रेम है, यथा—"मातु काहे को कहति ऐसो बचन दीन ।··· ऐसे तो सोचहिं न्याय निठुर नायक रत सलभ खग कुरँग कमल मीन । करुनानिधान को तो ज्यों-ज्यों तन छीन भयो त्यों-त्यों मन भयो तेरे प्रेम पीन ॥" (गी० सु० ८) ।

अरण्य-काण्ड में श्रीसीताजी के विलाप के प्रसंग की चौपाइयों से श्रीरामजी के विलाप-प्रसंग में दूनी चौपाइयाँ हैं । पुनः आगे के दोहे में श्रीरामजी के प्रेम एवं सन्देश का स्मरण करके श्रीहनुमानजी स्वयं गद्गद हो गये । इससे उन्होंने श्रीरामजी से दूना अनुमान किया ।

समझाने की रीति से एवं सन्देश के अनुसार और अपनी बुद्धि-भर श्रीहनुमानजी ने कहा है, वस्तुतः

इन दोनों के अन्योन्य प्रेम समान ही हैं और उनको ये ही दोनों जानते हैं, यथा—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥" यह आगे कहा है, तथा—"राम जोगवत सीय-मन, प्रिय-मनहिं प्रानप्रियाउ। परम पावन प्रेम-परिमिति समुझि तुलसी गाउ॥" (गी० उ० २५)।

दोहा—रघुपति कर संदेस अब, सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ, भरे बिलोचन नीर॥१४॥

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भये बिपरीता॥१॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा-सम निसि ससि भानू॥२॥

अर्थ—हे माता! अब धैर्य धारण कर रघुपति श्रीरामजी का सन्देश सुनिये, ऐसा कहकर श्रीहनुमान जी गद्गदकण्ठ हो गये, उनकी दोनों आँखों में आँसू भर आये॥ १४॥ श्रीरामजी ने कहा है—हे सीता! मुझे तुम्हारे वियोग में (सुखद पदार्थ) सभी उल्टे हो गये॥ १॥ वृक्षों की नई कोंपलें मानों अग्नि है, रात्रि कालरात्रि के समान और चन्द्रमा सूर्य के समान हो गये हैं॥ २॥

विशेष—(१) 'रघुपति कर संदेस अब'''—पहले श्रीरामजी के गुण कहे, फिर कथा कही, यथा—"रामचंद्र गुन बरनै लागा।'''आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" अब सन्देश कहते हैं। 'धरि-धीर'—क्योंकि अभी-अभी अधीर हो गई थीं, यथा—"बचन न आव नयन भरि बारी। अहह'''" सन्देश सुनने की अभिलाषा से धैर्य धारण करेंगी, इसीसे ऐसा कहा गया है, किन्तु श्रीरामजी के सन्देशे को स्मरण कर श्रीहनुमानजी स्वयं भी गद्गद हो गये, यथा—"हर हिय रामचरित सब आये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।" (बा० दो० ११०), इस सन्देशे को सुनकर श्रीसीताजी भी प्रेम-मग्न हो जायँगी, यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही॥" इससे जनाया कि चरित के श्रोता और वक्ता दोनों का हृदय प्रेमपूर्ण होना चाहिये, यथा—"कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥" (बा० दो० ४०)।

(२) 'कहेउ राम'''मो कहँ सकल'''—श्रीजानकीजी का वचन है, यथा—"प्रान नाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं॥" (अ० दो० ६४), वैसे ही श्रीरामजी भी अपनी दशा कहकर उनका दुःख दूर करते हैं। 'सीता'—का भाव यह कि तुम्हारे संयोग से जो शीतल थे, वे ही सब तुम्हारे वियोग में तप्त हो रहे हैं। 'मो कहँ'—एकवचन है, इससे अपनी दीनता जनाई है। 'सकल'—सभी सुखद पदार्थ, इनमें कुछ को आगे गिनाते हैं। यह सन्देश किष्किन्धाकाण्ड में नहीं लिखा गया, क्योंकि यह रहस्य की बात है। श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी के कानों में लगकर इसे कहा था, यथा—'कहँ हम पसु साखा मृग चंचल बात कहौं मै विद्यमान की। कहँ प्रभु सिव अज पूज्य ज्ञान घन नहि बिसरति वह लगनि कान की॥" (गी० सुं० ११), वह बात प्रभु ने गुप्त-रूप से कही थी, इससे श्रीगोस्वामीजी ने भी उसे गुप्त ही रक्खा था, केवल 'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु' इतना ही संकेत किया था। जब वह यहाँ प्रकट हुई, तब इन्होंने भी खोल दी।

(३) 'नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।'''—नई कोंपलों के विषय में ही पहले कहा, क्योंकि ये वन में ही रहते हैं, और श्रीरामजी की दृष्टि इनपर बराबर पड़ा करती है। इसीपर सोते भी हैं, यथा—"तहँ तरु किसलय सुमन सुहाये। लछिमन रचि निज हाथ डसाये॥" (लं० दो० १२)। अर्थात् नीचे की कोमल साथरी जलाये डालती है और ऊपर से चन्द्रमा भी सूर्य की तरह तापदायक हो रहा है। रात भी नहीं बितती, कालरात्रि के समान दुःखद हो रही है। 'कालराति', यथा—"मानहुँ कालराति अँधियारी।"

(अ० दो० ८२), जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, वहाँ तक चारो ओर की नवीन कोंपलें जलाये डालती हैं। यह रात का दुःख कहा। आगे दिन के दुःख कहते हैं—

कुबलय बिपिन कुंत-बन-सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥३॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग-स्वास-सम त्रिबिध समीरा ॥४॥
कहेहूँ ते कछु दुख घटि होई। काहि कहउँ यह जान न कोई ॥५॥

अर्थ—कमल का वन बरछी के वन के समान हो रहा है, (वर्षा में) मेघों ने मानों जलता हुआ तेल ही बरसाया है ॥३॥ (ऐसे ही) जो भी हित करनेवाले थे, वे ही अब पीड़ा देनेवाले हो रहे हैं, तीनो प्रकार के वायु साँप के श्वास के समान (विष-भरे हुए) हैं ॥४॥ कह डालने से भी दुःख कुछ घट जाता है, पर कहूँ किससे ? इस दुःख को कोई जानता ही नहीं, (अनभिज्ञ से कहना व्यर्थ है) ॥५॥

विशेष—(१) 'कुबलय-बिपिन कुंत-बन···'—कमल की नाल भाले की छड़ है, फूल ग्रन्थि और फूल की नोक मानों भाले की नोक हैं, और उसका चलानेवाला काम है, क्योंकि कमल काम का बाण कहा गया है, पंचबाणों में कमल भी एक है। 'बारिद तपत तेल···'—विरही को वर्षा अत्यन्त दुःखद होती है। यहाँ दिन का दुःख वर्णन किया गया।

सीता-हरण चैत्र के महीने में हुआ और यह सन्देशा शरद्-ऋतु में कहा गया। इसीसे इतनी ऋतुओं के भी दुःख लक्षित किये गये हैं, यथा—"नवतरु किसलय मनहु कृसानू।"—यह वसन्त का दुःख है, इसमें वृक्षों के पुराने पत्ते झड़कर नये होते हैं जो विरही के लिये दुःखद हैं, यथा—काल-निसा-सम निसि ससि भानू।" यह ग्रीष्म का दुःख है, क्योंकि ग्रीष्म के सूर्य दुःखदायक होते हैं, दिन में प्रचण्ड सूर्य तो तपते ही हैं, रात में चन्द्रमा भी वैसा ही तापकर होता है। 'कुबलय-बिपिन···' यह शरद्-ऋतु का दुःख है, कमल की शोभा शरद्-ऋतु में ही अधिक होती है और 'बारिद तपत तेल···'—यह वर्षा का दुःख है।

शरद्-ऋतु वर्षा के पीछे होती है, पर पहले ही कही गई है, इससे जनाया गया कि श्रीरामजी विरह-विह्वल हैं, इसीसे ऋतु-कथन में भी व्यतिक्रम कर गये। 'मोकहँ सकल भये बिपरीता' के अनुसार वर्णन में भी व्यतिक्रम हुआ। अथवा, श्रीहनुमानजी ही वर्णन के उपक्रम में गद्गद हो गये है, यथा—"अस कहि कपि गद्गद भयो···", इसीसे इनके कहने में भी व्यतिक्रम हो सकता है।

(२) 'जे हित रहे करत ···'—भाव यह कि अहित करनेवाले का पीड़ा देना स्वाभाविक ही है। पर जो हितकर हैं, उनका पीड़ा देना स्मरण कर अधिक दुःख होता है। त्रिविध समीर जो शीतल, मन्द, सुगन्धित होता था, वही गरम, तीव्रगति और दुर्गन्धयुक्त हो रहा है (त्रिविध वायु ठंढे, रोगहारक और सुखद होते हैं और सर्पश्वास गर्म, रोग वर्द्धक और दुःखद।) यहाँ तक नवतरु किसलय, निशि, शशि, कमल, वर्षा और त्रिविध समीर—इन छः सुखद पदार्थों का दुःखद होना कहा गया है। पुनः—'जे हित रहे···' से और भी अनुकूलों का प्रतिकूल होना कहा गया है, यथा—"सब बिपरीत भये माधव बिनु, हित जो करत अनहित की करनि ॥" (कृष्ण गीता० ३०)।

(३) 'कहेहूँ ते कछु···'—'कछु'—पूरा दुःख तो प्रिय के मिलने पर ही नाश हो सकता है, पर समझदार सहानुभूति रखनेवाले से कहने पर भी उसका कुछ अंश निकल जाता है। भाव यह कि श्रीलक्ष्मणजी यद्यपि साथ में हैं, तथापि ये बातें उनसे कहनी उचित नहीं है।

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥६॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥७॥

अर्थ—हे प्रिये ! मेरे और तुम्हारे प्रेम के तत्त्व को एक मेरा ही मन जानता है, वह मन भी सदा

तुम्हारे ही पास रहता है—इतने में ही प्रीति का स्वाद एवं उसका रहस्य जान लो ॥६-७॥

विशेष—(१) 'तत्त्व प्रेम कर मम ···'—प्रेम का तत्त्व अर्थात् प्रेम की वास्तविक स्थिति। प्रेम की स्थिति अन्योन्य सापेक्ष होती है। मेरा मन तुम्हारे पास ही रहता है, ऐसा ही तुम्हारा मन भी मेरे पास है, यह निश्चय है, नहीं तो मेरे मन में विक्षेप आदि विघ्न होते। इस बात को मेरा मन ही जानता है, ·रा कोई कैसे समझ सकता है ?

तात्पर्य यह कि तुम्हारे बिना तन से दुःख सहता हूँ, यथा—"जे हित रहे करत तेइ पीरा।" वचन का भी दुःख है, यथा—"काहि कहउँ···" और मन का दुःख यह है कि उसने अपने तन-वदन की सुधि ही छोड़ दी, क्योंकि वह तो सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यथा—"सो मन सदा रहत तोहि पाहीं···"।

(२) 'सो मन सदा रहत तोहिं पाहीं।—श्रीजानकीजी ने कहा था—"कबहुँक सुरति करत रघुनायक।" उसका यहाँ उत्तर है कि मेरा मन सदा तुम्हारे ही पास रहता है, यही तो प्रीति का रस (स्वाद) है। जिसपर अत्यन्त प्रीति होती है, उसपर दिन-रात मन लगा रहता है, निरन्तर यह दशा रहना ही प्रीति की पूर्णस्थिति है। इसीसे कहा गया है—"जानु प्रीति रस···", यथा—"नित्यं ध्यान परो रामो नित्यं शोकपरायणः। नान्यच्चिन्तयते किञ्चित्स तु कामवशं गतः॥ अनिद्रः सततं रामः सुप्तोऽपि च नरोत्तमः। सीतेति मधुरां वाणीं व्याहरन्प्रतिबुध्यते॥" (वाल्मी० ५।३६।४३-४४), अर्थात् श्रीरामजी सदा तुम्हारा ही ध्यान किया करते हैं, शोकपरायण रहते हैं, और कुछ भी चिन्तन नहीं करते। उन्हें नींद नहीं आती, कभी सो भी जाते हैं, तो मधुर वाणी से सीता-सीता कहकर जाग उठते हैं।

प्रभु - संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तनु सुधि नहिं तेही ॥८॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक-सुख-दाता ॥९॥
उर आनहु रघुपति - प्रभुताई। सुनि मम बचन तजहु कदराई ॥१०॥

दोहा—निसिचर निकर पतंग-सम, रघुपति-बान कृसानु।
जननी हृदय धीर धरु, जरे निसाचर जानु ॥१५॥

अर्थ—वैदेही श्रीसीताजी स्वामी का सन्देश सुनते ही प्रेम में मग्न हो गइ, उनको शरीर की सुधि नहीं रही ॥८॥ श्रीहनुमानजी ने कहा—हे माता ! धैर्य धरो, सेवकों को सुख देनेवाले श्रीरामजी का हृदय में स्मरण करो ॥९॥ श्रीरघुनाथजी की प्रभुता का हृदय में स्मरण करो और मेरा वचन सुनकर कायरता छोड़ो ॥१०॥ निशाचर-समूह पतंग के समान हैं और रघुपति के बाण अग्नि के समान हैं। हे माता ! अपने हृदय में धैर्य धारण करो, अब राक्षसों को जला हुआ ही समझो ॥१५॥

विशेष—(१) 'प्रभु-संदेस सुनत बैदेही।···'—"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा।···जनु प्रीति रस ···" यह प्रेम का सन्देश है, इसे सुनकर प्रेम में मग्न हो गईं। तन की सुधि न रहने से 'बैदेही' कहा है। मन श्रीरामजी में तन्मय हो गया, इससे उन्हें अपनी देह की भी सुधि न रही, यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन-दुख-सुख-सुधि केही॥" (अ० दो० २७४), 'धीर धरु माता'—विपत्ति में धैर्य धारण करना मुख्य है, इसलिये बार-बार कहते हैं, यथा—"रघुपति के संदेस अब सुनु जननी धरि धीर।", "कह कपि हृदय धीर धरु माता।", "जननी हृदय धीर धरु।", "कछुक दिवस जननी धरु धीरा।" इस प्रकार चारो हेतुओं के लिये, चारो बार धैर्य धरने के लिये कहा है। श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी को सेवक-सुखदायक कहा है, यथा—"सहज बानि सेवक-सुखदायक।" श्रीहनुमानजी भी वही कहते हैं, यथा—"सुमिरु राम···" इसीसे दुःख दूर होगा, यथा—"जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहि सुखारी॥" (बा० दो० २१), 'उर आनहु रघुपति प्रभुताई।···', यथा—"तासु दूत तुम्ह तजि कदराई।

राम हृदय धरि करहु उपाई ॥" (कि० दो० २८), 'प्रभुताई', यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई ।" (लं० दो० ६४), तब उनके आगे रावण क्या है ? 'मम बचन'—जो आगे कहते हैं—

(२) निसिचर-निकर पतंग···'—एक दो पतंग दीपक में ही जल मरते हैं, पर समूह-के-समूह पतंगों के एक साथ टूट पड़ने से दीपक ही बुझ जाता है, यहाँ निशाचर के समूह हैं, इसलिये रघुपति के बाण को कृशानु कहा गया है, क्योंकि पतगों के समूह-के-समूह पड़ने पर भी आग नहीं बुझती। 'निसिचर'—नाम भी सहेतुक है, पतंग मोहवश रात में ही जल मरते हैं, यथा—"जरहिं पतंग बिमोह बस···" वैसे ही निशाचर भी मोह-रूप ही हैं और स्वयं मोहवश नाश में प्रवृत्त हैं, यथा—"मोह दसमौलि···" (वि० २८), "प्रभु समीप धाये खल कैसे । सलभ समूह अनल कहँ जैसे ॥" (लं० दो० ८४), जैसे कि शूर्पणखा स्वयं आई, खर-दूषण आदि भी स्वयं आकर लड़े और रावण ने भी स्वयं नाश का उपाय रच डाला। लंक-दहन से भी निशाचर जलेंगे, श्रीहनुमानजी भी राम-बाण के समान एवं 'दनुज बन कृशानु' कहे ही गये हैं। 'जरे निसाचर जानु'—क्योंकि, प्रभु सत्यसन्ध हैं और इनके वध की प्रतिज्ञा कर चुके हैं—"निसिचर हीन करउँ महि···" (अर० दो० ६)। 'निसिचर निकर' के अनुरूप ही—'जबहि समर कोपिहि रघुनायक । छुटिहहिं अति कराल बहु सायक ॥" (लं० दो० २६) कहा गया है।

जौ रघुबीर होति सुधि पाई । करते नहिं बिलंब रघुराई ॥१॥
राम - बान - रबि उये जानकी । तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥२॥
अबहि मातु मैं जाउँ लेवाई । प्रभु-आयसु नहिं राम-दोहाई ॥३॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन्ह-सहित अइहहिं रघुबीरा ॥४॥

अर्थ—जो रघुवीर श्रीरामजी ने समाचार पाया होता तो वे देरी न करते, (क्योंकि) वे रघुकुल के राजा हैं ॥१॥ हे श्रीजानकीजी ! राम-बाण-रूपी सूर्य के उदय होने पर राक्षस-समूह-रूपी अन्धकार कहाँ रह सकता है ? ॥२॥ हे माता ! मैं तुमको अभी लिवा ले जाऊँ, पर 'राम दोहाई' (मुझे वैसी) स्वामी की आज्ञा नहीं है ॥३॥ हे माता कुछ ही दिन धैर्य धरो, वानरों के साथ रघुवीर श्रीरामजी आयेंगे ॥४॥

विशेष—(१) 'जौ रघुबीर होति सुधि···'—'रघुबीर' का भाव यह है कि यदि वे सुधि पाये होते, तो भारी पराक्रम करते, यथा—"एक बार कैसेहुँ सुधि जानउँ । कालहु जीति निमिष महँ आनउँ ॥" (कि० दो० १७), तथा—"त्वच्छोकविमुखो रामो देवि सत्येन ते शपे । रामे शोकाभिभूते तु लक्ष्मणः परितप्यते ॥ दृष्ट्वा कथञ्चिद्भवती···राघवौ त्वां विशालाक्षि स्वां पुरीं प्रति नेष्यते ॥" (वाल्मी० ५।४०।१३-१६)। 'रघुराई' अर्थात् रघुकुल के सभी राजा आश्रितों की रक्षा में तत्पर रहनेवाले हुए हैं और ये उनमें श्रेष्ठ हैं, तो विलम्ब कैसे करेंगे ? समाचार पाते ही इसका उद्योग करेंगे, यथा—"अब बिलंब केहि कारन कीजै । तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै ॥" (दो० ३३), "अब बिलंब केहि काम, करहु सेतु उतरइ कटक ।" (लं० दो० १)—यह श्रीहनुमानजी के वचन का आगे चरितार्थ है। 'रघुबीर' और 'रघुराई' में पुनरुक्ति नहीं है, दोनों दो भावों मे और दो क्रियाओं के साथ कहे गये हैं।

(२) 'राम-बान रबि उये···', यथा—"तव बियोग-संभव दारुन दुख बिसारि गई महिमा सुबान की । न तु कहुँ कहँ रघुपति सायक रवि तम अनीक कहँ जातुधान की ॥" (गी० सुं० ११), जैसे सूर्योदय से बिना श्रम ही तम का नाश हो जाता है, यथा—"उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा ।" (बा० दो० २२८), वैसे ही श्रीरामजी के बाण से बिना श्रम ही राक्षस-समूह का नाश होगा।

इस प्रसंग में राक्षसों का नाश दो बार कहा गया—(क) रघुपति-बाण-कृशानु से पतंग के समान जलना, (ख) राम-बाण-रवि से तम-रूपी निशाचर-समूह का नाश। पहला रात में मरने का और दूसरा

दिन में मरने का दृष्टान्त है, यथा—"छीजहिं निसिचर दिन अरु राती।" (लं० दो० ७०), यह भी भाव है कि पहली उपमा से राक्षसों का निःशेष न हुआ, इसलिये दूसरी कही गई। उसमें निःशेष का भाव है, क्योंकि सूर्योदय से सर्वत्र अन्धकार का नाश हो जाता है।

(३) 'अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। ·· '—श्रीहनुमानजी छोटे रूप में हैं, इससे श्रीमहारानीजी विश्वास कैसे करें कि ये मुझे ले जा सकते हैं, इसीकी पुष्टि के लिये उन्होंने शपथ की। पुनः मनोरथ की सत्यता पर भी शपथ की कि यदि आज्ञा-भंग का डर मुझे न होता, तो अवश्य अभी ही लिवा ले चलता। स्वामी ने इतनी ही आज्ञा दी है, यथा—"बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयेहु॥" (कि० दो० २२), 'प्रभु-आयसु'—का भाव यह है कि अपने अपराधी को दंड देने में वे स्वयं समर्थ हैं। लीला के लिये वानर-भालुओं को साथ रक्खेंगे, यथा—"तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि-सेना॥ कपि सेन संग संहारि निसिचर राम सीतहि आनिहैं॥" (कि० दो० ३०)। फिर भी श्रीहनुमानजी ने सन्देह किया, यथा—"हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।···" तब इन्हें अपना विशाल रूप दिखाकर उन्हें विश्वास दिलाना पड़ा। प्रभु ने भी इसलिये आज्ञा नहीं दी कि वे स्वयं निशाचर-वध की प्रतिज्ञा कर चुके है, क्योंकि ब्रह्माजी का वचन भी रखना है, तथा—"निदरि अरि रघुबीर बल लै जाउँ जौ हठि आज। डरौं आयसु-भंग ते, अरु बिगरिहै सुर काज॥" (गी० सुं० ६)।

(४) 'कछुक दिवस जननी···', यथा—"बाँधि बारिधि साधि रिपु दिन चारि महँ दोउ बीर। मिलहिं गे कपि-भालु-दल संग जननि उर धरु धीर॥" (गी० सुं० ६), यही जाम्बवान्‌जी ने शिक्षा में कहा था—"तव निज ··कपि सेन संग संहारि निसिचर···" (कि० दो० ३०)। 'कपिन्ह सहित अइहहिं रघुबीरा।'—पूर्व राम-बाण को कृशानु और भानु कहकर उससे निशाचरों का नाश होना कहा गया है। वहाँ यह नहीं जनाया गया था कि किस तरह श्रीरामजी निशाचरों को मारेंगे। वहीं से बाण छोड़ देंगे या कि लंका आवेंगे और यदि लंका आवेंगे भी, तो अकेले या दल-बल समेत? इसी सन्देह को यहाँ स्पष्ट करते हैं कि दल-समेत आवेंगे और वीरता से राक्षसों को मारकर तुम्हें ले जायँगे—यहाँ वाल्मी० ५।२६।२६-३० में कही हुई जानकीजी की रुचि एवं ५।३६।४२-४३ मे कही हुई श्रीराम-वीरता यहाँ आ गई है।

निसिचर मारि तोहिं लै जइहहिं। तिहुँपुर नारदादि जसु गइहहिं॥५॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना। जातुधान अति भट बलवाना॥६॥
मोरे हृदय परम संदेहा। सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा॥७॥

अर्थ—वे निशाचरों को मारकर तुमको ले जायँगे, तीनो लोकों में नारदादि मुनि उनके यश गावेंगे॥५॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र! वानर तो सब तुम्हारे ही बराबर (छोटे-छोटे) हैं और राक्षस तो अत्यन्त योद्धा और बलवान् हैं॥६॥ मेरे मन में इसका बड़ा सन्देह है, यह सुनकर कपि श्रीहनुमानजी ने अपना शरीर प्रकट किया॥७॥

विशेष—(१) 'निसिचर मारि तोहि·····'—श्रीहनुमानजी ने प्रथम—"आदिहुँ ते सब कथा सुनाई।" किष्किन्धाकाण्ड तक और वर्त्तमान सुन्दरकाण्ड तक की कथा कही थी, अब वहाँ से आगे की कथा कहते है, यथा—"निसिचर मारि तोहि लै जइहहिं"—लंकाकाण्ड और—"तिहुँपुर नारदादि···"—यह उत्तरकाण्ड है, यथा—"राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुरमुनि बर बानी॥" (बा० दो० २४), "बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥" (उ० दो० ४१)।

(२) 'मोरे हृदय परम संदेहा।·····'—श्रीरामजी को जानती हैं कि अजेय हैं, यथा—"जोपि

को सकै अजय रघुराई।" यह ऊपर कहा ही है। पर वानरों के छोटे रूप पर परम सन्देह करती हैं कि बड़े डील-डौलवाले वानर भी राक्षसों का आहार ही हैं। अतः, मुझे सन्देह है। फिर तुम्हारी तरह के छोटे शरीरवालों को देखकर तो परम सन्देह है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यर्थ ही वानरों की ऐसी सेना प्रस्तुत कर राक्षसों के द्वारा इसका नाश कराके अयश क्यों लेंगे?

तब हनुमानजी ने सोचा कि अपना बल वचन-मात्र के द्वारा कहने से इन्हें विश्वास नहीं होगा, इसलिये अपना वास्तविक शरीर प्रकट करके दिखाया।

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अति बल बीरा ॥८॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवनसुत लयऊ ॥९॥

दोहा—सुनु माता साखामृग, नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु-प्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥१६॥

अर्थ—सोने के पर्वत के आकार का वह शरीर था, वह युद्ध में (शत्रु को) अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाला, अत्यन्त बली और बीर था ॥८॥ (इसे देखा) तब श्रीसीताजी के मन में भरोसा हुआ, श्रीहनुमानजी ने पुनः लघु रूप धारण कर लिया ॥९॥ (और बोले) हे माता! सुनो, वानरों में बहुत अधिक बल और बुद्धि नहीं होती, (परन्तु) प्रभु के प्रताप से परम लघु साँप भी गरुड़ को खा सकता है ॥१६॥

विशेष—(१) 'समर भयंकर अति बल बीरा।'—श्रीसीताजी ने कहा था—"जातुधान अति भट बलवाना॥" इसीलिये यह रूप दिखाया। भाव यह है कि उन 'अति भट' के लिये हम 'अति बीर' हैं और बलवानों के लिये हम 'अति बली' हैं। 'समर भयंकर' अधिक है, यथा—"हनूमान अंगद रन गाजे। हाँक सुनत रजनीचर भाजे॥" (लं० दो० ४५)। "जयति भीमार्जुन-ब्याल सूदन गर्वहर धनंजय रथ त्रान केतू।" (वि० २८), "कौन के तेज बल सीम भट भीम से भीमता निरखि कर नयन ढाँके।" (क० मु० ४५), तथा—"मेरुमन्दरसंकाशो बभौ दीप्तानलप्रभः। अग्रतो व्यवतस्थे च सीताया वानरर्षभः॥ हरिः पर्वतसङ्काशस्ताम्रवक्त्रो महाबलः। वज्रदंष्ट्रनखो भीमो वैदेहीमिदमब्रवीत्॥ सपर्वतवनोद्देशां साट्टप्राकारतोरणाम्। लङ्कामिमां सनाथां वा नयितुं शक्तिरस्ति मे॥" (वाल्मी० ५।३७।३७-३९)। 'भरोस तब भयऊ'—श्रीसीताजी ने श्रीहनुमानजी के इस रूप को देखा तो उन्हें विश्वास हुआ कि अकेले ही ये सब राक्षसों को मार सकते हैं, फिर ऐसे-ऐसे और भी वानर हैं, तब तो कहना ही क्या? तथा—"कामं त्वमपि पर्याप्तो निहन्तुं सर्वराक्षसान्।" (वाल्मी० ५।३७।५५), अर्थात् तुम ही सब राक्षसों को मार सकते हो। पहले 'परम संदेह' था, अब भरोस हो गया।

(१) 'सुनु माता साखा मृग···'—इसका भाव यह है कि मैंने जो अपना विशाल शरीर एवं बल दिखलाया और बुद्धि से आपको समझाया-बुझाया, यह बल और बुद्धि वानरों में नहीं होती, एक शाखा से दूसरी पर कूदना भर जानते हैं। यह तो प्रभु का प्रताप है, उसीसे गरुड़ परम लघु ब्याल के समान और लघु ब्याल गरुड़ के समान हो जाता है। कहा ही है—"तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।" (लं० दो० ३३), यहाँ यह वचन चरितार्थ भी है कि वानर राक्षसों के आहार हैं, यथा—"नर कपि भालु अहार हमारा।" (लं० दो० ७), और वे ही राक्षसों के नाशक हो गये, यथा—"देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहि गन महँ गरुड़ असंका॥" (दो० १९) श्रीसीताजी ने कहा था कि वानर राक्षसों से कैसे लड़ेंगे? उसीका उत्तर है कि श्रीरामजी के प्रताप से वानर तो राक्षसों को खा जायँगे।

आगे श्रीरामजी ने भी इनसे इसी तरह पूछा है, यथा—"कहु कपि रावन पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका ॥" (दो० ३२), वहाँ भी इसी तरह का प्रभु-प्रताप परक उत्तर है, यथा—"ता कह प्रभु कछु अगम नहिं, जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहि, जारि सकै खलु तूल ॥" (दो० ३३), खाने के प्रसंग में खाने का और जलाने में जलाने का दृष्टान्त कहा गया है।

मन संतोष सुनत कपि-बानी। भगति - प्रताप - तेज-बल-सानी ॥१॥
आसिष दीन्हि राम-प्रिय जाना। होहु तात बल-सील-निधाना ॥२॥
अजर-अमर - गुन - निधि सुत होहू। करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥३॥

अर्थ—भक्ति, प्रताप, तेज और बल से भरी हुई, कपि श्रीहनुमानजी की वाणी सुनतेही (श्रीसीता जी के) मन को सन्तोष प्राप्त हुआ ॥१॥ (उन्होंने) श्रीरामजी का प्रिय जानकर इन्हें आशिष दी—हे तात ! तुम बल और शील के भाण्डार होओ ॥२॥ हे पुत्र ! तुम अजर (बुढ़ापा रहित, नित्य एकरस युवावस्था-वाले), अमर (मृत्यु रहित) और गुणों के भाण्डार होओ एवं तुमपर श्रीरघुनाथजी बहुत कृपा करें ॥३॥

विशेष—(१) 'मन सतोष सुनत कपि बानी।'—वाणी की श्रेष्ठता उसीमें है कि श्रोता, प्रसन्न हो जाय। इस प्रसंग में श्रीहनुमानजी ने चार बार भाषण किये, चारो बार की उत्तमता स्पष्ट है—(१) ऐसी कथा सुनाई कि "लागी सुनै श्रवन मन लाई।" और उन्होंने वक्ता को प्रकट होने का अनुरोध किया, यथा—"श्रवनामृत जेहि कथा सुहाई। कहि सो प्रगट होत किन भाई।" (२) ऐसी बातें की कि उन्हें प्रतीति हो गई, यथा—"कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास ॥" (३) ऐसा सन्देश सुनाया कि वे प्रेम में मग्न हो गईं, यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही ॥" (४) इस तरह समझाया कि उनके मन को सन्तोष हो गया, यथा—"मन संतोष सुनत कपि बानी ॥" अर्थात् श्रीहनुमानजी ने श्रीसीताजी के प्रश्नों के समुचित और पूर्ण उत्तर दिये, इससे उन्हें सन्तोष हुआ।

प्रश्न	उत्तर
(१) 'अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी।···'	'मातु कुसल प्रभु अनुज समेता।···'
(२) 'कोमल चित कृपाल रघुराई। कपि···'	'जनि जननी मानहु जिय ऊना।···'
(३) 'सहज बानि सेवक सुखदायक।···'	'रघुपति कर संदेस···' से 'सो मन सदा रहत···'
(४) 'कबहुँ नयन मम सीतल ताता।···'	'कछुक दिवस जननी धरु धीरा।···'
(५) 'बचन न आव नयन भरि बारी।···'	'जो रघुबीर होत सुधि पाई। करते···'
(६) 'है सुत कपि सब तुम्हहिं समाना।'	'कनक भूधराकार सरीरा।'
(७) 'जातुधान अति भट बलवाना ॥	'समर भयंकर अति बलबीरा ॥

—'समर भयंकर' यह अधिक है।

'भगति-प्रताप-तेज-बलसानी'—भक्ति, यथा—कह कपि···सुमिरु राम सेवक सुखदाता ॥ उर आनहु रघुपति प्रभुताई।" प्रताप, यथा—"राम बान रबि उये जानकी। तम बरूथ कहँ जातुधान की ॥" "प्रभु प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥" तेज, यथा—"निसिचर निकर पतंग सम, रघुपति बान कृसानु।" तेज अग्नि के समान कहा जाता है, यथा—"तेज कृसानु···" (बा० दो० ३)। बल, यथा—"अबहि मातु मैं जाउँ लेवाई।" से "तिहुँपुर नारदादि जस गैहै ॥" तक।

श्रीरामजी ने आज्ञा दी थी, यथा—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु। कहि बल बिरह···" उस प्रसंग में "सुनि मम बचन तजहु कदराई।" से "मन संतोष सुनत कपिबानी ॥" तक श्रीहनुमानजी के यहाँ के वचन है। समझाना तो सभी है। इसमें बल कथन का उदाहरण ऊपर लिखा गया और "कहेउ राम बियोग तव सीता।" से "जानु प्रीतिरस एतनेहि माहीं ॥" तक विरह है।

(२) 'आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना ।'—उपर्युक्त गुणों से श्रीसीताजी ने इन्हें श्रीरामजी का प्रिय जाना । श्रीरामजी के प्रिय पर सभी प्रसन्न होते हैं, यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहिं सुहातो । काल करम कुल कारनी कोऊ न कुहातो ॥" (वि० १५१), इसीसे श्रीसीताजी भी प्रसन्न हुईं और आशिष दीं । 'होहु तात बल-सील-निधाना ।'—बल प्रथम ही दिया, क्योंकि आदि शक्ति हैं । बल की शोभा शील से होती है, यथा—"रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी ॥" (बा० दो० १६), इसलिये बल के साथ शील भी दिया गया है । बुढ़ापे में बल घट जाता है, इसलिये 'अजर' होने की आशिष दी । फिर अजर को भी मरने का भय रहता ही है, इसलिये अमर होना भी कहा । अजर-अमर होकर भी बैल सरीखे नहीं रहें, इसलिये 'गुननिधि' होना भी कहा । पुनः सब कुछ हो, पर बिना श्रीरामजी की कृपा के सभी व्यर्थ हैं, यथा—"सूर सुजान सपूत सुलच्छन गनिय न गुन गरुआई । बिनु हरि भजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई ॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने । तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ॥ (१७५), इसलिये श्रीरामजी का कृपा-पात्र होना भी कहा ।

(३) "बहुत रघुनायक छोहू ।' का भाव यह है कि श्रीरामजी को तुम्हारे ऊपर छोह तो है ही, यथा—"राम प्रिय जाना ।" अब मेरी आशिष से विशेष कृपा करें ।

श्रीहनुमानजी ने श्रीसीताजी के छः उपकार किये है—(१) मुद्रिका दी, (२) श्रीरामजी के गुण वर्णन किये, (३) कथा कही, (४) वचनों से विश्वास उत्पन्न किया, (५) श्रीरामजी का सन्देश कहा और (६) धैर्य दिया । इसपर श्रीसीताजी ने भी छः आशीर्वाद दिये—बलवान्, शीलवान्, अजर, अमर और गुणानिधि होना, रघुनायक (तुम्हारे ऊपर) छोह करें । जबतक श्रीहनुमानजी प्रसन्न नहीं हुए, तबतक उत्तरोत्तर आशिष देती ही गईं । 'रघुनायक छोहू' कहा, इसपर वे कृतार्थ हो गये । यह भी जनाया कि जीव जब कुछ नहीं चाहता तब श्रीरामजी की कृपा होती है और उससे उनका भक्ति मिलती है । यथा—"बहुत कीन्ह प्रभु लखन सिय, नहि कछु केवट लेइ । बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बर देइ ॥" (अ० दो० १०२) ।

करहु कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेम मगन हनुमाना ॥४॥
बार बार नायेसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर कीसा ॥५॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥६॥

अर्थ—'प्रभु कृपा करें' ऐसा अपने कानों से सुनकर श्रीहनुमानजी पूर्ण प्रेम में निमग्न हो गये ॥४॥ श्रीहनुमानजी ने बार-बार श्रीजानकीजी के चरणों में सिर नवाया और वे हाथ जोड़कर वचन बोले ॥५॥ हे माता ! अब मैं कृतार्थ हो गया, आपकी आशिष अव्यर्थ (निष्फल न होनेवाली) प्रसिद्ध है ॥६॥

विशेष—(१) 'करहु कृपा प्रभु'—पहले कहा था—"करहु बहुत रघुनायक छोहू" उसीको यहाँ 'कृपा' कहा, क्योंकि छोह का अर्थ ही कृपा है । 'अस सुनि काना'—अर्थात् अलौकिक आशिष सुनकर श्रीहनुमानजी प्रेम में मग्न हो गये । श्रीहनुमानजी ने श्रीसीताजी को प्रभु का सन्देश सुनाकर प्रेम मग्न कर दिया था, यथा—"प्रभु संदेस सुनत बैदेही । मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही ॥" वैसे ही श्रीसीताजी ने भी श्रीहनुमानजी को आशिष देकर प्रेम-मग्न कर दिया । 'निर्भर प्रेम', यथा—"निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥" (अर० दो० ६) ।

(२) 'बार बार नायेसि पद सीसा ।...'—अत्यन्त प्रेम के कारण बार-बार चरणों में सिर नवाया, यथा—"देखि राम छवि अति अनुरागी । प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागी ॥" (बा० दो० ३३५), "प्रेम मगन मुख बचन न आवा । पुनि पुनि पद सरोज सिरनावा ॥" (अर० दो० ३३) ।

'बोला बचन जोरि कर कीसा ।'—यह वचन है, पूर्वार्द्ध का 'नायेसि पद सीसा ।'—कर्म और

'निर्भर प्रेम मगन हनुमाना।' यह मन है, अर्थात् श्रीहनुमानजी मन, वचन, कर्म तीनों से कृतार्थ हुए।

(३) 'अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता।'''—'अब' अर्थात् बलवान्, शीलवान्, अजर, अमर और गुणनिधि होने पर भी कृतार्थ न हुआ। जब राम-कृपा की आशिष पाई, तब मैं कृतार्थ हुआ। 'आसिष तव अमोघ'''—श्रीसीताजी आदि-शक्ति हैं, इनकी आशिष श्रुतियों में अन्यर्थ प्रसिद्ध है। श्रीभरतजी के विषय में भी ऐसा ही कहा है, यथा—"सब विधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच'''" (अ० दो० २४१), इस आशिष के अनुसार आगे श्रीरामजी ने छोह करके भक्ति दी है—"नाथ भगति अति सुख-दायिनी। देहु कृपा करि'''एवमस्तु तब कहेउ'''" (दो० ३३)।

'बन उजारि रावनहिं प्रबोधी।'-प्रकरण

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा ॥७॥
सुनु सुत करहिं बिपिन-रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी ॥८॥
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौ तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥९॥

दोहा—देखि बुद्धिबल निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु।
रघुपति-चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥१७॥

अर्थ—हे माता! सुनिये, मुझे वृक्षों में सुन्दर फल लगे हुए देखकर बहुत ही भूख लग आई है। (अन्यथा भूख की सुधि न थी) ॥७॥ (श्रीसीताजी ने कहा—) हे पुत्र! परम सुभट भारी-भारी राक्षस इस वन की रखवाली करते हैं ॥८॥ (श्रीहनुमानजी ने कहा—) हे माता! उनका डर मुझे नहीं है, यदि आप अपने मन में सुख मानें ॥९॥ कपि को बुद्धि और बल में निपुण देखकर श्रीजानकीजी ने कहा—जाओ, श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण करके हे तात! मीठे-मीठे फल खाओ ॥१७॥

विशेष—(१) 'अतिसय भूखा। लागि'—पूर्व स्वयं-प्रभा के स्थान पर ही फल खाये थे, समुद्र तट पर अनशन-व्रत ही किया था। फिर वहाँ राम-कार्य करने की प्रतिज्ञा करके चले, यथा—"राम काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ बिश्राम॥' (दो० १), तथा—"त्वरते कार्यकालो मे अहश्चाप्यतिवर्त्तते। प्रतिज्ञा च मया दत्ता न स्थातव्यमिहान्तरा॥" (वाल्मी० ५।१।१२४)। इसीसे लंका में समुद्र तट पर पहुँचने के पश्चात् ही फल देखे थे, यथा—"नाना तरु फल फूल सुहाये।" (दो० २), किन्तु भोजन नहीं किया था। अब श्रीरामजी का कार्य हो गया। श्रीसीताजी को देखा, समझाया और प्रभु का बल-विरह कह दिया। तब फलों को देखकर भूख लगी। कई दिन से न खाने का स्मरण करके अतिशय भूख से पीड़ित हुए। 'देखि सुंदर फल' से सूचित किया कि सवेरा भी हो गया।

भूख लगने का यह भी कारण है कि श्रीहनुमानजी स्वामी की आज्ञा से विशेष भी कार्य करना चाहते हैं। शत्रु को अपना बल दिखा और उसके बल का अन्दाजा करके तब वापस जायँ। वाल्मी० ५।४१।१-५ में यह भाव है। तदनुसार भूख की ओट लेकर माता से आज्ञा भी ले रहे हैं कि क्षुधित बालक को खाने के लिये माता मना न करेंगी। फल खाने में मैं हठात् युद्ध का योग करके लड़ूँगा। बहुत आशिष पाने से यह भी निश्चय हो ही गया है कि माता ने मुझे पुत्र मान लिया है।

(२) 'सुनु सुत करहिं बिपिन'''''—यद्यपि श्रीहनुमानजी के विशाल रूप और पराक्रम को जान चुकी हैं, तथापि वात्सल्य दृष्टि से इनका बल भूल गया है, इसीसे राक्षसों को 'परम सुभट' कहकर युद्ध निपुण और 'भारी' कहकर भयंकर सूचित करती हैं। पुनः इनके वचन मात्र के समझाने से समझ भी जायँगी। पूर्व देखा हुआ रूप स्मरण करेंगी।

(३) 'तिन्ह कर भय माता ·····'—मोहि नाहीं' का भाव यह कि मुझे उनसे भय नहीं है, अपितु मुझसे ही उन्हें भय होगा। पहले ही—"समर भयंकर अति बल बीरा।" यह रूप श्रीसीताजी को दिखाकर और यह भी कह चुके हैं, यथा—"प्रभु प्रताप ते गरुड़हि, खाइ परम लघु ब्याल ॥" दो० १६)। 'जौ तुम्ह सुख मानहु···'—मन में सुख मानो। ये उत्तम दूत हैं, स्वामी को संकोच में डालकर स्वार्थ साधना नहीं चाहते, यथा—"जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति मोची ॥" (अ० दो० २६८)। सुख मानने में सन्देह है कि कहीं माता यह न मानें कि यहाँ आकर उपद्रव करने लगा, हमारी आज्ञा नहीं मानी, इत्यादि। 'मन माहीं'—हमारी खातिर के लिये ऊपर से ही न कह दीजिये, किन्तु हृदय से कहिये, तब खाऊँ।

(४) 'देखि बुद्धि बल निपुन·····'—जब तक बुद्धि और बल में पूर्णता न हो, शत्रु के पास नहीं जाना चाहिये, यथा—"नाथ बैर कीजै ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाही सों ॥" (लं० दो० ५)। यहाँ इनके बुद्धि-बल की पूर्णता प्रकट है, यथा—"तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं।" यह बल है और "जौ तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥"—तथा पूर्व के संवाद से बुद्धि की निपुणता भी सिद्ध है, इसीसे माता ने आज्ञा दी। 'रघुपति-चरन···'—'रघुपति' शब्द का दूसरा अर्थ 'जीव मात्र के रक्षक' का भी है—'रघु'=जीव, 'पति'=रक्षक। अतः, तुम्हारी भी रक्षा करेंगे। यह भी शिक्षा है कि इष्ट के भरोसे कोई भी कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। 'मधुर फल खाहु'—माता पुत्र को मधुर वस्तु ही खिलाने की इच्छा रखती है, यथा—"तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू ॥" (अ० दो० ५२), अथवा, वानर मधुर फल ही खाते हैं, यथा—"मज्जन कीन्ह मधुर फल खाये।" (कि० दो० २४)। "खाहि मधुर फल बिटप हलावहिं।" (लं० दो० ४)—यह भी जनाया।

चलेउ नाइ सिर पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा ॥१॥
रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे कछु जाय पुकारे ॥२॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी ॥३॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि-मर्दि महि डारे ॥४॥

अर्थ—(श्रीहनुमानजी ने) श्रीसीताजी को मस्तक नवाकर बाग में प्रवेश किया, उन्होंने फल खाये और उन वृक्षों को भी तोड़ने लगे ॥ १ ॥ वहाँ बहुत से योद्धा रखवाले थे, कुछ को तो (इन्होंने) मार डाला और कुछ ने जाकर (रावण से) पुकार की ॥ २ ॥ कि हे नाथ ! एक बड़ा भारी वानर आया है, उसने अशोक वाटिका को उजाड़ डाला ॥ ३ ॥ फल खाये और वृक्ष उखाड़ डाले, रक्षकों को तो मर्द-मर्द कर उसने पृथ्वी पर डाल दिया ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'चलेउ नाइ सिर··· ···'—'चलेउ' अर्थात् धीरे-धीरे चले कि जिससे फल खा लें, तब कोई जाने, नहीं तो खाते समय ही युद्ध होने लगेगा। इसीसे कूद-फाँद अभी तक नहीं की थी। 'नाइ सिर'—भीतर से श्रीरघुनाथजी के चरणों को हृदय में धारण किया और ऊपर से श्रीजानकीजी को प्रणाम किया। दोनों प्रकार से सुरक्षित होकर चले। श्रीहनुमानजी को जाते और फल खाते समय किसीने नहीं देखा। जब वानर-स्वभाव से वृक्ष तोड़ने लगे, तब रक्षकों ने देखा।

शंका—बाग में श्रीसीताजी के पास थे ही, फिर 'पैठेउ बागा' क्यों कहा गया ?

समाधान—उस एक ही में चार भाग हैं—वन, बाग, उपवन और वाटिका। ऊपर बतालाये गये हैं। अभी तक उपवन में थे, यथा—"तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई ॥" (कि० दो० २७), अब बाग में पैठे, जिसमें फल विशेष थे, क्योंकि इन्हें फल ही तो खाना है।

'तरु तोरइ लागा'—अपने (वानरी) चंचल स्वभाव के कारण वृक्ष तोड़ने लगे, यथा—"कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा।" (दो० २१)। नाम है अशोक, पर श्रीजानकीजी को शोककर है, यह देखकर भी इसे उजाड़ना प्रारम्भ किया है, यथा—"सीय की दसा बिलोकि बिटप असोकतर, तुलसी बिलोक्यो सो तिलोक सोकसार सो॥" (क० सुं० १), पुनः रावण से युद्ध करके उसकी बुद्धि और बल का अन्दाजा भी लेना है, क्योंकि स्वामी की यह भी आज्ञा है, यथा—"दई हौं संकेत कहि कुसलात सियहि सुनाउ। देखि दुर्ग बिसेषि जानकि जानि रिपु गति आउ॥" (गी० सुं० ४), यह सन्देश मुद्रिका ने कहा है। यह बाग रावण को प्राणों से भी प्यारा है, यथा—"मेघनाद ते दुलारो प्रान ते पियारो बाग अति अनुराग जिय जातुधान धीर को।" (क० सु० २)। जब इसे उजाड़ेंगे, तब वह अपने उपाय और पुरुषार्थ में त्रुटि न रक्खेगा। इससे सामना करने में दण्ड ही एक मात्र उपाय है, क्योंकि राक्षस साम (प्रीति) जानते ही नहीं। दाम से भी काम चलने का नहीं, क्योंकि इनके द्रव्य की कमी नहीं है। ये बलवान् हैं। अतः, इनके आगे भेद भी नहीं चल सकता, यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा। जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहि निमिषि महँ तेते॥" (दो० ४३)।

(२) 'रहे तहाँ बहु भट रखवारे।.....'—पहले ही कहा जा चुका है कि यह वाटिका रावण को प्राण से भी प्रिय थी और इसीमें श्रीजानकीजी भी रक्खी गई थीं। इसलिये यहाँ बहुत-से रक्षक थे। वे रक्षक थे, इसलिये रक्षा के लिये लड़े। तब कुछ तो मारे गये और उनमें से कुछ बचे हुओं ने जाकर रावण के दरबार में पुकार की। शेष श्रीहनुमानजी के सामने हैं। 'कपि भारी'—जब फल खाने चले, तब विशाल शरीर (अपने वास्तविक रूप) में हो गये, क्योंकि उसीके योग्य इन्हें काम करना है। जैसे, बहुत फल खाना, बाग उजाड़ना और युद्ध करना। 'असोक बाटिका'—यह इसका नाम कहा गया, क्योंकि रावण के और भी बहुत-से बाग हैं, नाम न देने से सन्देह रह जाता।

(३) खायेसि फल अरु बिटप उपारे।.....'—अब श्रीहनुमानजी का उपर्युक्त भारी कार्य करना दिखाते हैं। फल खा डाले, सब वृक्ष उखाड़ फेंके और रक्षकों को पीस डाला, उनको मारने के लिये इन्होंने वृक्ष आदि शस्त्र भी नहीं लिया। 'महि डारे' का भाव यह है कि वे रक्षक-देह के द्वारा मर्दन करने (पीसने) योग्य भी न थे, इसलिये उन्हें हाथ ही से मसलकर पृथ्वी पर फेंक दिया। आगे जब महाभट आवेंगे, तब उन्हें अंग से लगाकर उनका मर्दन किया जायगा, यथा—"रहे महाभट ताके संगा। गहि-गहि कपि मर्देसि निज अंगा॥" (दो० १८), ऊपर 'तरु तोरइ लागा' मात्र कहा गया था, यहाँ उखाड़ना भी कहा गया। भाव यह है कि जब रक्षक लोग लड़ने दौड़े तब श्रीहनुमानजी और क्रुद्ध होकर उखाड़ने भी लगे। अतः, इन्होंने जो देखा, वही कहा है। 'असोक बाटिका उजारी'—से यह भी ध्वनि है कि अब शोक-वाटिका उसने लगा दी। अर्थात् उसका उजड़ जाना रावण के लिये शोक-सागर हो गया।

सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥५॥
सब रजनीचर कपि संहारे। गये पुकारत कछु अधमारे॥६॥

अर्थ—यह समाचार सुनकर रावण ने अनेक प्रकार के बहुत से योद्धा भेजे। उन्हें देखकर श्रीहनुमानजी ने गर्जन किया॥५॥ कपि श्रीहनुमानजी ने सब निशाचरों को मार डाला। कुछ जो अधमरे राक्षस रह गये, वे ही पुकार करते हुए रावण के पास गये॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि रावन पठये भट नाना।...'—रक्षकों ने कहा था—'भारी' कपि है। इसलिये 'नाना भट' भेजे। इनमें वाल्मीकीय रामायण में कहे किंकर, मन्त्रिपुत्र, सेनापति और जम्बुमाली आदि आ गये। 'देखि गर्जेउ'—श्रीहनुमानजी की सर्वत्र दृष्टि है, सावधान हैं, इससे देखा और युद्ध के उत्साही हैं, अतः, गर्जन किया। गर्जन, यथा—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति

सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ दासोऽहं कोशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः । हनूमान्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् । शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम् । समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्व रक्षसाम् ॥" (वाल्मी० ५।४२।३३--३६), यह घोषणा गरज-गरजकर राक्षसों के आने पर वहाँ प्रत्येक बार की गई है, वही गर्जन यहाँ भी जानना चाहिये ।

(२) 'सब रजनीचर कपि''' '—मुख्य-मुख्य तो सब मारे गये, कुछ अध-मरे छोड़ दिये गये कि ये लोग जाकर रावण के यहाँ पुकार करें । अधमरे भी मरे सदृश ही रह गये, इससे 'सब' का मारना कहा गया, वा, प्रायोवाद की रीति से मल्लग्रामवत् यह कथन है । 'संहारे'—यहाँ कोई अस्त्र-शस्त्र नहीं कहा गया और न मर्दन करना ही कहा गया है । इससे यहाँ हाथी-से-हाथी, रथ-से-रथ और भटों-से-भटों को मारना समझना चाहिये, यथा—"हाथिन सों हाथी मारे घोड़े घोड़े सों सघारे, रथनि सों रथ बिदरनि बलवान की ।" (क० लं० ४०), तथा—"अश्वैरश्वान्गजैर्नागान्योधैर्योधान्रथै रथान् । स कपिर्नाशयामास सहस्राक्ष इवासुरान् ॥" (वाल्मी० ५।४६।३९) । 'गये पुकारत'—यहाँ से गुहार मारते, चिल्लाते राज-दरबार को चले जाते हैं । 'कछु अधमारे'—रक्त बह रहा है, किसीका सिर फटा है, किसीके हाथ-पैर टूट गये हैं, कोई पँजरी पकड़े हुए कराहते जाते हैं । पहले जो पुकारने आये हुए थे, उन्होंने ब्योरा सुना दिया है कि एक भारी वानर आया है, इत्यादि । इसीसे अब उन्हीं सब बातों की कहने की आवश्यकता नहीं है ।

पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा । चला संग लै सुभट अपारा ॥७॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा । ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ॥८॥

दोहा—कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि ।
कछु पुनि जाइ पुकारे, प्रभु मर्कट बल भूरि ॥१८॥

अर्थ—फिर उस रावण ने अक्षकुमार को भेजा, वह असंख्य अच्छे योद्धाओं को साथ लेकर चला ॥७॥ उसे आता हुआ देख एक वृक्ष हाथ में लेकर श्रीहनुमानजी ने उसको डाँटा और फिर उसे मारकर बड़े जोर से गर्जन किया ॥८॥ कुछ को मार डाला, कुछ को मसल डाला और पकड़कर कुछ को धूल में मिला दिया, फिर कुछ ने रावण के पास जाकर पुनः पुकार की—हे प्रभो ! वह वानर बड़ा बलवान् है ॥१८॥

विशेष—(१) 'पुनि पठयउ तेहि अच्छ कुमारा ।'—पहले नाना भटों में क्रमशः किंकर, जम्बुमाली, सप्त मन्त्रि-पुत्र और पञ्च सेनापति अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आये हुए थे । अब अपने राजकुमार को भेजा और उसके साथ अपार सुभटों को भी भेजा । जैसा यह भारी शूरवीर सेनापति है, वैसी ही भारी सेना भी लिये हुए है ।

(२) 'आवत देखि बिटप गहि तर्जा । ''—'गहि तर्जा'—पहले वृक्ष उखाड़ फेंके थे, उन्हींमें से एक को लेकर इसका नाश किया । वीर को देखकर गरजना उत्साह का सूचक है, यथा—"सुनि रावन पठये भट नाना । तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना ॥" ऊपर कहा गया है । 'ताहि निपाति महा'''—पहले जो मारे गये, वे साधारण वीर थे, इससे उनको मारने पर सामान्य गर्जना ही की थी—यह भारी वीर था । अतः, इसे मारकर 'महाध्वनि' से गरजन किया, यथा—"जयत्यति बलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ''' ऊपर कहा गया । इससे अपनी विजय-घोषणा करते हुए रावण को ललकारा कि वह इससे भी बली को भेजे ।

(३) 'कछु मारेसि कछु मर्देसि'''—'कछु'—का भाव यह कि यद्यपि अपार सेना थी, तथापि

श्रीहनुमानजी को वह सेना 'कछु' ही जान पड़ी। पहले युद्ध में मर्दन करना कहा, यथा—"रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥" दूसरी बार संहार करना कहा गया, यथा—"सब रजनीचर कपि संहारे।" इस बार तीन क्रियाएँ कही गईं– मारना, मर्दन करना और धूल में मिलाना। इसका भाव यह कि जब राज-कुमार मारा गया और सेना अनाथ हो गई, तब सेना के उत्तम वीर सामने आकर लड़ने आये, तब उन्हें भी मारा। सामान्य सैनिकों को मर्दन किया और निकृष्टों को धूल में मिला दिया। 'कछु मिलयेसि धरि धूरि'—पहले हाथ से पकड़कर मीजा, जब हाथ रुधिर से भर गये, तब अंजलि में धूलि लेकर हाथ साफ किये, वा, मर्दन कर भूमि में गिराकर पैर से कुचल कर उन्हें धूल में मिला दिया।

अथवा, जो सैनिक दूर ही से बाण आदि प्रहार करते थे, उन्हें कूदकर मारा, जो शरीर में लिपटकर लड़ने लगे, उन्हें अपने शरीर ही में मर्दन कर दिया और जो दौड़ने में पैरों के नीचे पड़े, वे धूल में ही मिल गये।

(४) 'कछु पुनि जाइ··'—इस बार भारी योद्धा अक्षकुमार मारा गया, इससे कहा कि वह वानर भूरि (बहुत) बलवाला है, अतएव वैसा समर्थ योद्धा आप भेजें, क्योंकि आप भी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ है। अतः, योग्य भट ही भेजें। 'मर्कट'—इसमें ध्वनित है कि वह मारता है और काटता भी है।

सुनि सुत-बध लंकेस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना॥१॥
मारसि जनि सुत बाँधेसु ताही। देखिय कपिहि कहाँ कर आही॥२॥
चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु-निधन सुनि उपजा क्रोधा॥३॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥४॥

अर्थ—अपने पुत्र का वध सुनकर रावण क्रोधित हुआ और उसने बलवान मेघनाद को भेजा, (उसे समझाया—) हे पुत्र! उसे मारना नहीं (प्रत्युत) बाँध लाना, देखें तो सही वह बन्दर कहाँ का है?॥१-२॥ इन्द्र को भी जीतनेवाला अतुलित योद्धा मेघनाद चला। भाई का नाश सुनकर उसे क्रोध उत्पन्न हो गया॥३॥ कपि श्रीहनुमानजी ने देखा कि यह बड़ा कठिन योद्धा आया है, तब दाँत कटकटाकर क्रोध करके गर्जन किया और उसपर आक्रमण किया॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सुत-बध लंकेस···'—और-और भटों के वध होने पर राजा ने ऐसा क्रोध नहीं किया, पर जब अपने पुत्र के वध का समाचार मालूम हुआ तब उसपर क्रोध किया कि मैं 'लंकेस' हूँ और लंका की रक्षा करनेवाला हूँ, फिर अपने पुत्र के मारनेवाले से बदला क्यों न लूँ? अभी शत्रु सिर पर है, इसलिये उसने पुत्र के वध पर शोक नहीं किया, जब शत्रु को बाँधकर सामने लाया गया, तब सुत का वध स्मरण करके दुखी हुआ है, यथा—"सुत बध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय विषाद॥" (दो० २०)।

'पठयेसि मेघनाद बलवाना'—सुत के वध पर उसे अत्यन्त क्रोध हुआ, और उसने यह भी समझा कि अनिप अकम्पन आदि वीरों से काम नहीं चलेगा। वाल्मी० ५।४६।६–१४ में रावण ने स्वयं श्रीहनुमानजी के अतुलनीय पराक्रम का वर्णन किया है। अतः, यहाँ के सर्वश्रेष्ठ बलवान् मेघनाद को ही भेजा जाय, अन्यथा प्रियपुत्र को वह न भेजता, यथा—"न खल्वियं मतिः श्रेष्ठा यत्त्वां सम्प्रेषयाम्यहम्। इयं च राजधर्माणां क्षत्रस्य च मतिर्मता॥" (वाल्मी० ५।४८।१३), अर्थात् हे अपने प्रिय पुत्र! तुमको जो मैं इस संकट के काम में भेज रहा हूँ, यह बुद्धि ठीक नहीं है, पर मेरा यह विचार राज-धर्म एवं क्षत्रियत्व के अनुकूल है।

(२) 'मारसि जनि सुत ··'—रावण को मेघनाद के बल का बड़ा भरोसा है और उसे यह ज्ञात है कि यह सभी को जीत सकता है, यथा—"जे सुर समर धीर बलवाना। जिनके लरिबे कर अभिमाना॥

तिनहिं जीति रन आनेसु बाँधी।" (बा० दो० १८१), इसीसे ऐसा कहा गया है। यह दिव्यास्त्र वेत्ता एवं ब्रह्मास्त्र चलाने में बड़ा निपुण है। वाल्मी० ५।४८।२-६ में कहा गया है।

'देखिय कपिहि कहाँ कर आही।'—तात्पर्य यह है कि तीनो लोकों में हमारा वैरी तो कोई नहीं था, यथा—"सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥" (अर० दो० २२)। अतः, देखना है कि ऐसा प्रबल शत्रु कहाँ पैदा हो गया, जिसने इसे भेजा है। उसे नष्ट करने का प्रयत्न तो करना ही होगा। यही आगे स्पष्ट है, यथा—"केहि के बल घालेसि बन खीसा॥" (दो० २०)।

(३) 'चला इंद्रजित अतुलित जोधा।···'—'इंद्रजित' का भाव यह है कि जिस तरह यह इन्द्र को बाँधकर रावण के आगे लाया था, उसी तरह श्रीहनुमानजी को भी बाँधकर लायेगा। 'अतुलित जोधा', यथा—"बारिद नाद जेठ सुत तासू। भट महँ प्रथम लीक जग जासू॥ जेहि न होइ रन सन्मुख कोई।" (बा० दो० १७६), 'बंधु-निधन···'—उसे यह समझकर क्रोध हुआ कि मैं इन्द्र को जीतनेवाला हूँ और मेरे रहते हुए ही मेरे भाई को एक साधारण वानर मार दे और वह बचकर चला जाय, यह मेरे लिये बड़ी लज्जा की बात है। 'चला इंद्रजित' कहकर 'बंधु-निधन' सुनना कहा गया, इससे जान पड़ता है कि इसने भाई के वध का समाचार अभी-अभी (मार्ग में) सुना है। 'चला इंद्रजित' का भाव यह है कि इसने और किसीको साथ नहीं लिया, क्योंकि यह अतुलित योद्धा है। अतः, दूसरों की सहायता नहीं चाहता, यथा—"मेघनाद सुनि श्रवन अस, गढ़ पुनि छेंका आइ। उतखो बीर दुर्ग ते, सन्मुख चला बजाइ॥" (लं० दो० ४८), और जो-जो महाभट इसके साथ आये हुए हैं, वे रावण की आज्ञा से ही। उसने स्वयं पुत्र की रक्षा के लिये इन्हें भेजा है, यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५१)।

(४) 'कपि देखा दारुन भट आवा।'—वीर लोग देखकर ही वीरों का बल जान लेते हैं, यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मो ते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३), यह श्रीहनुमानजी का ही वचन है, तथा सुग्रीवजी ने देखकर ही—"पुरुष जुगल बल रूप निधाना।" (कि० दो० १)—यह कहा है। अतः, यहाँ श्रीहनुमानजी ने भी देख कर ही मेघनाद का बल जान लिया। 'कटकटाइ'—यह वानरों की क्रोध-मुद्रा है, यथा—"कटकटान कपि-कुंजर भारी। दोउ भुजदंड तमकि महि मारी॥" (लं० दो० ३०), "कटकटाहि कोटिन्ह भट गर्जहिं। दसन ओठ काटहि अति तर्जहिं॥" (लं० दो० ३६), तथा—"आयान्तं सरथं दृष्ट्वा पूर्णमिन्द्रध्वजं कपिः। ननाद च महानादं व्यवर्धत च वेगवान्॥" (वाल्मी० ५।४८।२४), अर्थात् इन्द्राकार से चिह्नित ध्वजावाले रथ के साथ उसको आते देख कर हनुमानजी ने घोर गर्जन किया और वे बढ़ने लगे। 'अरु धावा'—'दारुन भट' समझ कर श्रीहनुमानजी ने उसे अपने पास तक आने भी न दिया पहले ही दौड़कर उसके आगे पहुँच गये—यह युद्धोत्साह है।

अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेस - कुमारा॥५॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा॥६॥
तिन्हहिं निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा॥७॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरुछा आई॥८॥

अर्थ—एक बड़ा भारी वृक्ष उखाड़ लिया और उससे रावण के पुत्र को बिना रथ का कर दिया, अर्थात् उसका रथ नष्ट कर दिया॥५॥ जो बड़े-बड़े योद्धा उसके साथ में थे, उन्हें पकड़-पकड़कर कपि श्रीहनुमानजी अपने अंगों से मल देते हैं॥६॥ उन योद्धाओं को मारकर फिर मेघनाद से मल्लयुद्ध किया, (ऐसा जान पड़ता है कि) मानों दो श्रेष्ठ हाथी (आपस में) भिड़े हों॥७॥ श्रीहनुमानजी मेघनाद को एक घूँसा मारकर वृक्ष पर जा चढ़े, उससे उसको मूर्छा भर के लिये मूर्छा आ गई॥८॥

विशेष—(१) 'अति बिसाल तरु एक ···'—श्रीहनुमानजी ने अक्ष की तरह इसे भी मारने के लिये इसपर वृक्ष फेंका, पर राक्षसी माया से आकाश में चले जाने पर यह बच गया, किन्तु इसके रथ, सारथी आदि नष्ट हो गये, यथा—"देखि पवन सुत कटक बेहाला। क्रोधवंत धायउ जनु काला। महा सैल एक तुरत उपारा। अति रिसि मेघनाद पर डारा॥ आवत देखि गयउ नभ सोई। रथ सारथी तुरँग सब खोई॥" (लं० दो० ४९), मेघनाद दारुण भट था, इसलिये श्रीहनुमानजी ने इसके मारने के लिये 'अति बिसाल' वृक्ष उखाड़ कर ले लिया। अक्ष प्रसंग में उखड़े हुए पड़े वृक्ष को उठा लिया था, वहाँ 'बिटप गहि' मात्र कहा गया है। वहाँ उखाड़ना नहीं कहा गया। राजकुमार को विरथ करके उसकी शोभा नष्ट कर अपने तुल्य पैदल कर दिया। 'लंकेस कुमार' कहकर इसे रावण तुल्य पराक्रमी सूचित किया, यथा—"यह तनय मम सम बिनय बल···" (कि० दो० ९), तथा—"पवन तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९)।

(२) 'रहे महाभट ताके संगा···'—पहले मेघनाद से युद्ध होता था, अब दूसरे-दूसरे योद्धाओं से होने लगा, इससे यह जान पड़ता है कि वह माया के बल से अन्तर्धान हो गया, जैसा कि उसका स्वभाव है, जब तक वह प्रकट नहीं हुआ था तब तक उतने ही क्षणों में श्रीहनुमानजी ने उसकी सेना का नाश कर दिया। यदि मेघनाद मारा गया होता तो राक्षस लोग भाग खड़े होते, जैसे कि इससे पहले भाग-भाग कर रावण से कहते थे, यथा—"कछु मारे कछु जाइ पुकारे।" ऊपर कहा गया। पर मेघनाद तो अन्तर्धान था, इसीसे ये लोग भाग नहीं सके और श्रीहनुमानजी के हाथों मारे गये। वे अस्त्र-शस्त्र से कुछ कर न सके, प्रत्युत हनुमानजी ने अपने अंग में रगड़ कर मल दिया।

(३) 'तिन्हहि निपाति···'—श्रीहनुमानजी पहले प्रधान को मारकर तब उसकी सेना को मारते थे, किन्तु उन्होंने इस बार पहले सेना ही को मारा, क्योंकि मेघनाद छिप गया था। मेघनाद से उन्होंने मल्ल-युद्ध किया, क्योंकि इसे अपने बल का बहुत गर्व था, यथा—"पठयेसि मेघनाद बलवाना।" यह श्रीहनुमानजी के बल का मर्म नहीं जानता था, इसीसे उनसे भिड़ गया, यदि जानता तो अन्य उपाय अथवा माया से लड़ता, यथा—"बार बार प्रचार हनुमाना। निकट न आव मरम सो जाना॥" (लं० दो० ४९)। मल्लयुद्ध पशु-युद्ध है, इसीलिये दोनों को गजराज कहा गया। फिर मत्त हाथी के समान दोनों बलवान् भी हैं। स्थलचरों में गज भारी होता है, वैसे ये दोनों भारी हैं।

(४) 'मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ' '—मल्लयुद्ध में मुष्टिका मारने की भी रीति है, यथा—"भिरे उभउ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥" (कि० दो० ७), मेघनाद मूर्च्छित हो गया था। अतः, मुष्टिका ब्रह्मास्त्र सदृश है, क्योंकि अपने सदृश बलवान हनुमान को फिर उसने ब्रह्मास्त्र से ही मूर्च्छित किया है। इसलिये श्रीहनुमानजी जाकर वृक्ष पर बैठ गये, क्योंकि मूर्च्छित को मारना अनीति है और उसके साथियों को पहले ही मार चुके थे। अब वे इसके सचेत होने की प्रतीक्षा में हैं और साथ ही वृक्ष पर चढ़ ऊँचे से यह भी देख रहे हैं कि कोई और तो नहीं आ रहा है।

उठि बहोरि कीन्हेसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन-जाया॥६॥

दोहा—ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा, कपि मन कीन्ह बिचार।
जौ न ब्रह्मसर मानउँ, महिमा मिटइ अपार॥१६॥

अर्थ—(सचेत होने पर) फिर उसने उठकर बहुत (प्रकार की) माया की, पर वायुपुत्र हनुमानजी जीते नहीं जाते॥६॥ मेघनाद ने ब्रह्मास्त्र का सन्धान किया, (यह देखकर) श्रीहनुमानजी ने अपने मन में

विचार किया कि यदि मैं ब्रह्मास्त्र का सम्मान न करूँ (अर्थात् सब मायाओं को तरह इसे भी व्यर्थ कर दूँ) तो इस महान् अस्त्र की अपार महिमा मिट जायगी ॥१६॥

विशेष—(१) 'उठि बहोरि कीन्हेसि ·····'—फिर उसने मल्ल-युद्ध नहीं किया, क्योंकि इनके पराक्रम का मर्म वह पा गया कि इनसे लड़कर पार न पाऊँगा। जब शरीर से हार गया, तब माया करने लगा। फिर जब माया करने से भी हार जायगा, तब ब्रह्मास्त्र चलावेगा। 'बहु माया'—जितनी माया जानता था। इसकी माया लं० दो० ५० में कही गई है। यहाँ कहने का मुख्य प्रसंग नहीं है, इससे यहाँ नहीं कहा गया। 'प्रभंजन जाया'—प्रभंजन का अर्थ यह है—जो प्रकर्ष करके भंजन करे—ऐसे वायु के श्रीहनुमान जी पुत्र हैं, इसीसे उसकी सब माया को ये भंजन कर देते थे। जितने भूत-पिशाच आदि हैं, वे वायु से उड़ जाते हैं, इसीसे जादू-टोने आदि को लोग मन्त्र से झाड़कर फूँक देते हैं।

(२) 'ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा ·····'—और उपाय निरर्थक होते देखकर ही इसने ब्रह्मास्त्र चलाया है, इसीलिये जब सब प्रकार से हार गया, तब इसने ब्रह्मास्त्र का अनुसन्धान किया, यथा—"रावन सुत निज मन अनुमाना। संकट भयउ हरिहि मम प्राना॥ बीर घातिनी छाँड़ेसि साँगी॥" (लं० दो० ५२)। 'कपि मन कीन्ह बिचार।'—पहले ही कहा गया है कि श्रीहनुमानजी सभी कार्य विचार-पूर्वक करते हैं। अतः, यहाँ भी इन्होंने विचार किया। इन्होंने विचार कर ब्रह्मा का सम्मान रक्खा, ब्रह्माजी बुद्धि के देवता है, राक्षसों के द्वारा ब्रह्मास्त्र पर दूसरा बन्धन लगा, ब्रह्मास्त्र को व्यर्थ कर दिया—वाल्मी० ५।४८।४८ में लिखा है। 'जौ न ब्रह्म ··'—इससे जाना गया कि ये श्रीहनुमानजी ब्रह्मास्त्र को भी निष्फल कर सकते थे, यथा—"अस्त्रपाशैर्न शक्योऽहं बद्धुं देवासुरैरपि॥ पितामहादेष वरो ममापि हि समागतः।" (वाल्मी० ५।५०।१६-१७)।

(३) 'महिमा मिटइ अपार'—तात्पर्य यह है कि ये उसके बल और माया से नहीं पराजित हुए, किन्तु ब्रह्मास्त्र की मर्यादा-रक्षा के लिये स्वयं बँध गये। तीनो लोकों के सभी जीव ब्रह्मास्त्र के वशवर्ती हैं, इसे मानने से इसकी मर्यादा बनी रहेगी। श्रीब्रह्माजी ने इसपर कृपा करके इसे यह वरदान दिया है, उनकी मर्यादा रखनी ही चाहिये। सर्वशक्तिमान् प्रभु ने भी ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्खी है, तो उनका दास क्यों न रक्खे ?

ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा। परतिहु बार कटक संहारा॥१॥
तेहि देखा कपि मुरुछित भयऊ। नागपास बाँधेसि लै गयऊ॥२॥

अर्थ—मेघनाद ने श्रीहनुमानजी को ब्रह्म-बाण से मारा, उससे गिरते समय भी इन्होंने (उसकी ओर से आई हुई) सेना का नाश किया, अर्थात् शरीर बढ़ाकर सेना-भर के ऊपर गिरे॥१॥ जब उसने देखा कि वानर मूर्च्छित हो गया, तब नागपाश से बाँधकर ले गया॥२॥

विशेष—(१) 'परतिहु बार कटक संहारा'—युद्ध में गिरने से पहले श्रीहनुमानजी ने कटकटा कर संहार किया ही था, गिरते हुए भी किया। मेघनाद की सेना का नाश एक बार कर चुके थे, यथा—"तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा॥" यह कहा जा चुका है। फिर भी यहाँ दुबारा कहने का अभिप्राय यह है कि रावण ने यह सेना सहायता के लिये फिर से भेजी थी, यथा—"इहाँ दसानन सुभट पठाये। नाना-अस्त्र-सस्त्र गहि धाये॥" (लं० दो० ५२)। यहाँ श्रीहनुमानजी के द्वारा दबने से सेना का नाश कहा गया है। पर आगे कुम्भकर्ण और रावण के द्वारा वानरों की सेना दबना मात्र कहा गया है, यथा—"परे भूमि जिमि नभ ते भूधर। हेठ दाबि कपि भालु निसाचर॥" (लं० दो० ६९), "धरनि परेउ दोउ खंड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥" (लं० दो० १०१)। ये सब वानर और भालू पीछे निकल आये हैं।

(२) 'तेहि देखा कपि·····'—उसे दिखाने मात्र के लिये मूर्च्छित हैं, पर वास्तव में ये ब्रह्मास्त्र का मान रक्खे हुए हैं, वह मूर्च्छा भी ढाई दण्ड-मात्र में स्वयं छूट जाती। ब्रह्माजी का वचन ऐसा भी है कि एक तो ब्रह्मास्त्र श्रीहनुमानजी को लगे नहीं, यदि लगे भी तो ढाई दण्ड-मात्र में छूट जाय। जब उसने अच्छी तरह देख लिया कि वे मूर्च्छित हो गये, तब उनके समीप गया, क्योंकि पहले की मुष्टिका से डरा हुआ है। 'नाग पास बाँधेसि···'—मूर्च्छित दशा में इसलिये बाँध लिया कि कहीं चैतन्य होने पर उपद्रव न करे, नहीं तो फिर दुबारा ब्रह्मास्त्र भी नहीं लग सकता। 'नागपास'—तन्त्र शास्त्र में लिखा है कि ढाई फेरे के बन्धन को नागपाश कहते हैं—हिं० श० सा०। यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है—वाल्मी० ५।४८।४८ में सन की रस्सी से ही राक्षसों का बाँधना कहा गया है। ब्रह्मास्त्र के ऊपर दूसरा बन्धन लगाने से उसका अपमान हुआ, इससे वह तुरत छूट गया, हनुमानजी ने भी जान लिया, पर वे स्वेच्छा से रावण के यहाँ बँधे हुए की भाँति गये हैं—वाल्मी० ५।४८।४६-५१, ४६।१८।

यहा वरुण का अस्त्र नागपाश नहीं है, क्योंकि ब्रह्मास्त्र पर वह नहीं लगता तथा उससे वरुण ने हनुमानजी को न बँधने का वर दे रक्खा है। ब्रह्मास्त्र मान लेने पर भी वह ब्रह्माजी के वचनानुसार ढाई दण्ड में छूट जाता, पर राक्षसों की मूर्खता से हनुमानजी अभी ही छूट गये। 'लै गयऊ' अर्थात् श्रीहनुमान जी स्वयं पाँव-पैदल गये, यथा—"दसमुख सभा दीख कपि जाई।" यह आगे 'जाई' शब्द से स्पष्ट है।

पं० रामकुमारजी ने इस युद्ध प्रसंग पर चार आवृत्तियाँ लिखी है—(१) बाग के रखवारे सामान्य 'भट' थे, पहली लड़ाई में उन्हें देखकर हनुमानजी नहीं गर्जे, यथा—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे कछु जाय पुकारे॥" दूसरी लड़ाई में 'नाना भट आये' इन्हें देखकर गर्जे हैं, यथा—"भट नाना। तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना॥" तीसरी लड़ाई में इनसे विशेष 'सुभट' आये, तब इन्हें देखकर महाध्वनि से गर्जे हैं, यथा—"चला संग लै सुभट···ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥" चौथी लड़ाई में और विशेष दारुण भट आया, तब कटकटा कर गर्जे, यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥"—नहीं गर्जे, गर्जे, महाध्वनि गर्जे और कटकटाकर गर्जे—यह उत्तरोत्तर अधिक वेग से गर्जने की प्रथमावृत्ति है।

(२) 'भट', यथा—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे।" 'सुभट', यथा—"चला संग लै सुभट अपारा॥" 'महाभट', यथा—"रहे महाभट ताके संगा।" 'दारुणभट', यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा।"—यह भट, सुभट, महाभट और दारुणभट उत्तरोत्तर विशेषता की द्वितीयावृत्ति है।

(३) भटों के मारने में कुछ (वृत्त) नहीं लिया, यथा—"रहे तहाँ बहु भट रखवारे। कछु मारे ···" सुभट अक्ष को मारने में वृत्त लिया, यथा ···"चला संग लै सुभट ··बिटप गहि तर्जा।" और दारुण भट मेघनाद के प्रति अति विशाल तरु से मारा है, यथा—"अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह···"—यह उत्तरोत्तर विशेष शस्त्र ग्रहण की तृतीयावृत्ति है।

(४) प्रथम युद्ध में पाँच अक्षरों में मारना कहा गया—"कछु मारेसि' दूसरी में बारह अक्षरों में —"सब रजनीचर कपि संहारे।" तीसरी में इकतीस अक्षरों में—"ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥ कछु मारेसि कछु मर्देसि, कछु मिलयेसि धरि धूरि।" और चौथी लड़ाई में दोनों ओर से बराबर युद्ध हुआ—

मेघनाद		श्रीहनुमानजी
बंधु निधन सुनि उपजा क्रोधा।	१	कटकटाइ गर्जा अरु धावा।
भिरे जुगल मानहुँ गजराजा।	२	भिरे जुगल मानहुँ गजराजा।
ब्रह्मबान कपि कहँ तेहि मारा।	३	मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई।
ताहि एक छन मुरछा आई।	४	तेहि देखा कपि मुरछित भयऊ।

—बराबर युद्ध की यह चतुर्थावृत्ति है।

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव-बंधन काटहिं नर ज्ञानी ॥३॥
तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा ॥४॥
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये। कौतुक लागि सभा सब आये ॥५॥
दसमुख-सभा दीखि कपि जाई। कहि न जाइ कछु अति प्रभुताई ॥६॥

अर्थ—हे पार्वतीजी ! सुनो, ज्ञानवान् लोग जिसका नाम जपकर संसार-बन्धन काट डालते हैं ॥३॥ उसका दूत क्या किसी बन्धन में आ सकता है ? प्रभु के कार्य के लिये कपि ने ही अपने को बँधाया था ॥४॥ वानर का बँध जाना सुनकर राक्षस लोग दौड़े, (अभी तक भय से निकलते न थे,) कौतुक के लिये सब सभा में आये ॥५॥ श्रीहनुमानजी ने जाकर दशानन की सभा देखी, उसकी अत्यन्त प्रभुता है, वह कुछ कही नहीं जा सकती, अर्थात् आश्चर्य साहिबी है ॥६॥

विशेष—(१) 'जासु नाम जपि···'—ज्ञानी भी नामावलम्बन के बिना भव-बन्धन काटने में असमर्थ होते हैं, यथा—"नाम जीह जपि जागहिं जोगी।···ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा ···" (बा० दो० २१) ऐसा कठिन यह भव-बन्धन है, यथा—"द्वैत मूल, भय-सूल-सोक फल, भव तरु टरै न टाखो।" (वि० २०२), यहाँ नाम के द्वारा ज्ञानी अर्थात् जीवन्मुक्तों का भव तरना कहा है, "गिरिजा जासु नाम जपि, मुनि काटहि भव पास" (लं० दो० ७२), इसमें मुनि अर्थात् मुमुक्षु का भव-तरना वर्णित है और "भव बंधन ते छूटहिं, नर जपि जाकर नाम।" (उ० दो० ५८), इसमें नर अर्थात् विषयी का भव तरना है। इस तरह मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीनो की सद्गति नाम द्वारा कही गई है। ये तीनों प्रकार के जीव एक साथ भी कहे गये है, यथा—"सुनहि बिमुक्त बिरत अरु बिपई।" (उ० दो० १४)।

(२) 'प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा', यथा—"मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा ॥" (दो० २१) स्वयं इनका बँध जाना, इसलिये स्पष्ट है कि पहले तो ब्रह्मास्त्र की मर्यादा रक्षा के लिये बँधे, फिर थोड़ी ही देर के बाद छूट भी गये थे, किन्तु ये रावण की बुद्धि की थाह पाने के लिये उसके पास में बँधे हुए गये हैं। वाल्मी० ५।४०।१७-१८ में रावण के समक्ष इनके वचन हैं कि ब्रह्मा के वरदान से मै किसी भी अस्त्र से बाँधा नहीं जा सकता, किन्तु राजा (रावण) को देखने के लिये ही मैंने को मान इस अस्त्र है। मै तो मुक्त हूँ, पर मुझे बँधा समझ कर ही ये राक्षस तुम्हारे पास ले आये हैं। मै श्रीरामजी के किसी कार्य के लिये तुम्हारे पास आया हूँ। यहाँ भी आगे स्पष्ट ही है, यथा—"निबुकि चढ़ेउ कपि···" तो क्या इससे पहले अस्त्र से नहीं मुक्त हो सकते थे ? 'तासु दूत'—का भाव यह है कि इनका तो श्रीरामजी से साक्षात्सम्बन्ध है ही, जिन्हें उनसे कोई नाता नहीं है, वे भी केवल उनके नाम का जप करके भारी भव-बन्धन से छूट जाते है, तो इनके लिये क्या कहना है ?

"सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।" से "प्रभु कारज लगि···" तक 'बन उजारि' प्रसंग है। आगे—'रावनहि प्रबोधी' प्रसंग चला।

(३) 'कपि बंधन सुनि···।—'सुनि' का भाव यह है कि राक्षस पहले मारे डरके घर से निकलते नहीं थे। 'धाये'—क्योंकि सभीको यह कौतुक देखने की प्रबल इच्छा है कि ऐसा बलिष्ठ वानर तो कभी सुना भी नहीं था, इसे चलकर देखना चाहिये। अतः, दौड़े, यथा—"धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥" (बा० दो० २१९), तथा—"जै जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहि। बाल-वृद्ध कहँ संग न लावहि ॥" (उ० दो० २)। यहाँ 'कौतुक' शब्द पर ही प्रसंग छोड़ रहे हैं। हनुमान-रावण संवाद समाप्त हो जाने पर फिर इसी 'कौतुक' शब्द से प्रसंग प्रारम्भ करेंगे, यथा—"कौतुक कहँ आये पुरबासी।"

(३) 'दसमुख सभा दीख कपि···'—दशमुख शब्द से ध्वनित होता है कि उसकी सभा को दसो दिशाओं में बहुत-से खम्भे लगे हुए थे और सभी खम्भों में सिंहासन समेत रावण का प्रतिबिम्ब पड़ता था, जिससे वास्तविक रावण का पहचानना ही कठिन था, पर श्रीहनुमानजी ने अपनी बुद्धि से सब समझ लिया कि इसीके सिर, हाथ आदि हिलाने से सभी खम्भों में वैसी चेष्टाएँ होती हैं। अतः, यही वास्तविक रावण है, यों देखकर जाना। 'अति प्रभुताई' आगे कही जाती है—

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता ॥७॥
देखि प्रताप न कपि मन संका। जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका ॥८॥

दोह—कपिहिं बिलोकि दसानन, बिहँसा कहि दुर्बाद।
सुतबध सुरति कीन्ह पुनि, उपजा हृदय बिषाद ॥२०॥

अर्थ—सब देवता और दिक्पाल हाथ जोड़े हुए नम्रता पूर्वक खड़े हैं और भय-सहित सब रावण की भौंह ताकते रहते हैं ॥७॥ यह प्रताप देखकर श्रीहनुमानजी के मन में कुछ डर नहीं हुआ (वे निश्शंक देख पड़ते हैं) जैसे साँपों के बीच में गरुड़जी निश्शंक रहते हैं ॥८॥ श्रीहनुमानजी को देख रावण दुर्वचन कहकर बहुत हँसा। फिर पुत्र-वध का स्मरण किया, तो उसके हृदय में दुःख उत्पन्न हुआ ॥२०॥

विशेष—(१) 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता'—'सुर' का अर्थ सामान्य देवता और 'दिसिप' का दसो दिक्पाल हैं। इस तरह छोटे-बड़े सभी देवता सेवा में उपस्थित रहते हैं। सभा में कौतुक के लिये केवल पुरवासियों का दौड़कर आना कहा गया है, पर देवताओं का नहीं, क्योंकि वे तो आठो पहर रावण के दरबार में उपस्थित ही रहा करते हैं, उसके बन्दीखाने में हैं, यथा—"रावन नाम जगत जस जाना। लोकप जाके बंदीखाना ॥" (लं० दो० ८९), यथा—"रबि ससि पवन बरुन धनधारी।" से "आयसु करहि सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता ॥" (बा० दो० १८१) तक।" "बेद पढ़ै बिधि संभु सभीत पुजावन रावन ते नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि ते सिर नावै ॥" (क० उ० २)। सभा के आरम्भ होने के पहले ही ये आकर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। उपर्युक्त 'अति प्रभुताई' यही है। 'भृकुटि बिलोकत···'—देवता गण डरे हुए रावण की भ्रू-चेष्टा को देखा करते हैं, तब भी रावण की भौंहें चढ़ी ही रहती हैं। 'देखि प्रताप न···'—पहले 'दसमुख सभा दीख कपि जाई' से देखना कहकर अब रावण की प्रभुता का वर्णन करने लगे। पुनः 'बिलोकि' कहकर वहीं से प्रसंग लेते हैं। ऊपर 'अति प्रभुताई' कहा गया, उसीको यहाँ प्रताप कहकर दोनों को पर्याय भी सूचित किया।

देवता गण भय-भीत होकर हाथ जोड़े रहते हैं, रावण का प्रताप सुनकर ही और लोग शंकित हो जाते हैं, पर श्रीहनुमानजी को शंका क्यों न हुई ? इसका उत्तर यह है कि इनके हृदय में प्रभु का प्रताप है, यथा—"प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालि सुत बंका ॥" (लं० दो० १७), "प्रभुप्रताप ते गरुड़हिं, खाइ परम लघु ब्याल ॥" (दो० १६)। यही उत्तरार्द्ध के "जिमि अहिगन महँ गरुड़ असंका।" का भाव है।

अशंकता का दूसरा यह भी कारण है कि श्रीहनुमान्‌जी स्वयं सब सुर-असुर से अधिक प्रभावशाली हैं, यथा—"न कालस्य न शक्रस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। कर्माणि तानि शूयन्ते यानि युद्धे हनूमता ॥" (वाल्मी० ७।३५।८), इन्होंने राक्षस से कहा भी है, यथा—"देखी मैं दसकंठ सभा सब मोते कोउ न सबल तो।" (गी० सुं० १३), यथा—"कामं खल्वहमप्येकः स वाजिरथकुञ्जराम्। लङ्कां नाशयितुं शक्तस्तस्यैष तु न निश्चयः ॥" (वाल्मी० ५।५१।३१), अर्थात् मैं अकेला ही समृद्ध लंका का नाश कर सकता हूँ, पर

श्रीरामजी की वैसी आज्ञा नहीं है। महा० वन० अ० १५०।१४-१६ में भीमसेन और हनुमान-संवाद में यही कहा गया है कि अकेले हनुमानजी रावण को जीत सकते थे।

(२) 'कपिहि बिलोकि '—'कहि दुर्बाद'—दुर्बाद का स्वरूप श्रीगोस्वामीजी प्रायः नहीं लिखते, यथा—"लखन कहेउ कछु बचन कठोरा।" (अ० दो० १५१), " कहि दुर्बचन क्रुद्ध दसकंधर।" (लं० दो० ८६), "तेहि कारन करुना निधि, कहे कछुक दुर्बाद।" (लं० दो० १०७), इत्यादि।

'कपिहिं बिलोकि' यह रावण के तन की दशा, 'कहि दुर्बाद' बचन की दशा और 'उपजा हृदय बिषाद' मन की दशा है। वह ऊपर से तो हँसता है, पर भीतर हृदय में पुत्र-शोक का विषाद भरा हुआ है। बँधा देख चिन्ता दूर हुई, तब विहँसा, पर साथ ही पुत्र शोक भी आ गया।

कह लंकेस कवन तैं कीसा। केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥१॥
की धौं श्रवन सुनेहि नहिं मोही। देखउँ अति असंक सठ तोही ॥२॥
मारे निसिचर केहि अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा ॥३॥

अर्थ—लंकपति रावण ने कहा कि अरे वानर! तू कौन है? तूने किसके बल से वन को नष्ट किया ॥१॥ क्या तू ने मुझे (मेरे नाम को) कानों से नहीं सुना? अरे शठ! मैं तुझे बहुत ही निश्शंक देख रहा हूँ ॥२॥ तूने किस अपराध से निशाचरों को मारा है? अरे शठ! कह, क्या तुझे अपने प्राणों की चिन्ता नहीं है? ॥३॥

विशेष—(१) 'की धौं श्रवण सुनेहि नहिं मोही।···'—भाव यह कि सुना होता, तो मेरे भय से ऐसा अन्याय न करता, यह रावण की चातुरी है। वह अपनी मर्यादा की रक्षा करता है। इसका यह भी भाव है कि इसके रूप की अपेक्षा इसका नाम अधिक भयंकर है, यथा—"तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा॥" (अर० दो० २७), 'देखउँ अति असंक सठ'—भाव यह है कि तेरे सामने ही सब लोकपाल मुझे हाथ जोड़े खड़े हैं। और, तू वानर साथ ही अपराधी होता हुआ भी निश्शंक है—"जिमि अहि गन महँ गरुड़ असंका।" इससे तू शठ है, यदि तू कुछ भी नीति जानता, तो इस तरह के पराक्रमी राजा के सामने यों निर्भय नहीं रहता। मन्दोदरी ने भी कहा है—"निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि दीन्हों न छुड़ाइ कहि कुलके कुठार सों।" (क० सुं० ११)। रावण को भीतर हृदय से तो पुत्र के लिये शोक है, पर और-और निशाचरों के ही मारने का कारण पूछता है। यह भी उसकी चातुरी ही है, अपने पुत्र के मारने का कारण पूछने से उसकी लघुता ज्ञात होती कि वह पुत्र-वध का बदला भी नहीं ले सका। 'केहि के बल ···'—ऐसा पूछने में भी अपनी उत्कृष्टता प्रकट करता है। वानर मात्र के द्वारा वन उजाड़ने आदि में उसकी बड़ी ही लघुता है। 'कवन तैं कीसा'—वानर मात्र तू नहीं है, कोई और है, यथा—"न हि ते वानरं तेजो रूपमात्रं तु वानरम्॥ तत्त्वतः कथयस्व ···" (वाल्मी० ५।५०।१०-११), 'कहु सठ तोहि न प्रान कै बाधा'—यह भी भाव है कि सत्य-सत्य कह देने पर तेरे प्राणों की बाधा न होगी, तू छोड़ दिया जायगा, यथा—"तत्त्वतः कथयस्वाद्य ततो वानर मोक्ष्यसे।" (वाल्मी० ५।५०।११)।

सुनु रावन ब्रह्मांड - निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया ॥४॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत - सृजत - हरत दससीसा ॥५॥

अर्थ—हे रावण! सुन, जिसका बल पाकर माया ब्रह्माण्ड समूह को, रचती है ॥४॥ हे दशानन! जिसके बल से विधि, हरि, हर (जगत् की) उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं ॥५॥

विशेष—(१) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।···', यथा—"एक रचइ जग गुनबस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४), तथा—"लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु

अनुसासन माया।" (बा० दो० २२४), "मायाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥" (गीता० ९।१०) 'बिरचति' —का भाव यह है कि पल-भर में ही रचती है, तो भी विशेष-रचना से, यथा—"बिरचेउ मग महँ नगर तेहि, सत जोजन बिस्तार। श्रीनिवास पुर ते अधिक, रचना बिबिध प्रकार ॥" (बा० दो० १२९)। 'सुनु'—इस पद से यहाँ से प्रश्नोत्तर प्रारम्भ करते है।

रावण ने श्रीहनुमानजी से पूछा था—तू कान है और किसके बल पर तू मेरी वाटिका को उजाड़ डाला है। उसीके उत्तर में श्रीहनुमानजी पहले अपने स्वामी श्रीरामजी का बल कहते है, इसीसे बराबर 'बल' शब्द का प्रयोग किया गया है। पीछे वे अपना नाम उसी सम्बन्ध मे कहेंगे।

(२) 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा।···'—इसमें 'बिरंचि हरि ईसा' के ही क्रम से 'सृजत, पालत, हरत' चाहिये, पर यहाँ क्रम-भंग है। छन्द की गति बैठाने के लिये प्रायः ऐसा हो जाता है। अतः, अर्थ मे क्रम ठीक कर लेना चाहिये। अथवा, यों भी कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड अनेक है, उन सबके नियम एक ही नहीं रहते। ब्रह्मा-विष्णु आदि के रूप में और अधिकार मे भी हेर-फेर सुना जाता है, कहा भी है, यथा—"उद्भव पालन प्रलय कहानी। कहेसि अमित आचरज बखानी ॥" (बा० दो० १६२)। अतः, सम्भव है कि कहीं विष्णु ही उत्पत्ति करते है, ब्रह्मा पालन अथवा, कहीं तीनों कार्य एक ही के द्वारा होते हों, यथा—"जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बाल केलि सम बिधि मति भोरी ॥" (अ० दो० २८१), इसमें तीनों कार्यों का ब्रह्मा के ही द्वारा सम्पादित होना कहा गया है, तथा—"उत्पति पालन प्रलय समीहा।" (ल० दो० १८), इसमें तीनों कार्य विष्णु के ही द्वारा सम्पादित है (विष्णु श्रीरामजी के अभिन्नांश है, अतएव अभिन्न हैं)।

बिरंचि आदि का श्रीरामजी के बल से कार्य करने के प्रमाण, यथा—"हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता, श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति···" (वि० १३५), "सोऽहं सन्यस्त भारो हि त्वामुपास्य जगत्पतिम्। रक्षा विधत्स्व भूतेषु मम तेजस्करो भवान् ॥" (वाल्मी० ७।१०।१८), यह काल के द्वारा श्रीब्रह्माजी का वचन श्रीरामजी के प्रति है कि आपसे सृष्टि रचने का भार पाकर मैंने आपकी उपासना की, आपसे प्राणियों के रक्षा-विधान की प्रार्थना की, क्योंकि मेरे तेज के कारण आप ही है। यहाँ उत्पत्ति, पालन और संहार की व्यवस्था श्रीरामजी से ही कहकर आपमें ब्रह्म का असाधारण धर्म कहा गया है, यथा—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति ॥ तद्विजिज्ञासस्व ॥ तद्ब्रह्मेति ॥" (तैत्ति० ३।१), तथा—"संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहि जासु अंस ते नाना ॥" (बा० दो० १४३)। जहाँ त्रिदेवों के तप करके जगत्-रचना आदि कार्य कहे गये है, वहाँ वे तप रूप में श्रीरामजी की ही उपासना करते है। ऊपर 'त्वामुपास्य ···' प्रमाण देखिये।

जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि-कानन ॥६॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह-से सठन्ह सिखावन-दाता ॥७॥

अर्थ—जिसके बल से सहस्र मुखवाले श्रीशेषजी पहाड़ और वन के साथ ब्रह्माण्ड को अपने मस्तक पर धारण करते हैं, (रावण पर कटाक्ष भी है कि तुझे छोटा-सा कैलास ही उठा लेने का घमण्ड है) ॥६॥ जो देवताओं की रक्षा करने के लिये तरह-तरह के शरीर धारण करता है और जो तुम्हारे ऐसे शठों को शिक्षा (दंड) देनेवाला है ॥७॥

विशेष—(१) 'जो बल सीस धरत ···'—ब्रह्मादि प्रभु के प्रभाव से केवल संकल्प द्वारा सृष्टि के कार्य करते हैं। पर श्रीशेषजी तो शरीर से कार्य करते हैं। श्रीरामजी के दिये हुए बल से वे ब्रह्माण्ड को बिना प्रयास ही धारण किये हुए हैं, यथा—"ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके, एक सिर जिमि रज-कनो ॥" (लं० दो० ८२), 'सहसानन' का भाव यह है कि एक ही सिर पर चौदहो भुवनों समेत ब्रह्माण्ड धारण

करते हैं, हजारों सिरों पर तो हजारो ब्रह्माण्ड को भी धारण करने की उनमें शक्ति है। ब्रह्माण्ड की गुरुता प्रकट करने के लिये 'समेत गिरि कानन' कहा गया है।

सारांश यह कि माया जिनके बल से ब्रह्माण्डसमूह को रचती है, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं और श्रीशेषजी धारण करते हैं, उन्हींके बल से मैंने भी यहाँ कुछ किया।

यहाँ तक उनसे पाये हुए बलवालों का वर्णन किया गया है। आगे उन्हींके अवतार, उनके शरीर का बल एवं उनका संग्राम-बल कहते हैं—

(२) 'धरइ जो बिबिध देह···', यथा—"मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥" (ल० दो० १०८), इसमें एक अर्द्धाली में 'बिबिध देह' और दूसरी मे 'सुरत्राता' के भाव हैं। 'तुम्ह से सठन्ह'—यह रावण के लिये मुँहतोड़ उत्तर है, उसने 'कहु सठ' कहा था। अतः, वैसे ही शब्द का इन्होंने भी प्रयोग किया। 'सिखावन दाता', यथा—"जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी॥···तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥" (बा० दो० १२०)। गीता ४।७-८ मे भी ऐसा ही कहा गया है।

हर-कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृपदल-मद गंजा॥८॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥९॥

दोहा—जाके बल लवलेस ते, जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि, हरि आनेहु प्रिय नारि॥२१॥

अर्थ—जिसने शिवजी के कठिन धनुष को तोड़ा है और तुझ समेत और भी समस्त नृप-समूह का मद नाश किया है॥८॥ जिन्होंने खर, दूषण, त्रिशिरा और बालि को मारा है, जो सब अतुलित बल से पूर्ण थे,॥९॥ जिसके बल के लवलेश-मात्र से तुमने चराचर-मात्र को जीता और जिसकी प्यारी स्त्री को तुम हर लाये हो, उसीका मै दूत हूँ॥२१॥

विशेष—(१) 'कोदंड कठिन'—जिस धनुष को तीनो लोकों के वीर भी न उठा सके थे, दस हजार राजा एक साथ लगकर भी न उठा सके थे। उसे उन्होंने बिना प्रयास के ही तोड़ डाला। 'तोहि समेत', यथा—"जेहि कौतुक सिव सैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभव पावा॥" (बा० दो० २९२), "जनक-सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउँ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिबाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥" (ल० दो० ३४)

ऊपर की चार अर्द्धालियों में अवतारी का बल कहा गया है। यहाँ से अवतार का बल कहते हैं। शिव-धनुष तोड़ने में शरीर का बल और खर आदि के वध से युद्ध का बल कहा गया। रावण को अवतार के होने में सन्देह है, यथा—"जौ भगवंत लीन्ह अवतारा॥···जौ नर रूप भूप सुत कोऊ।" (अर० दो० २२), इसलिये पहले अवतार के होने की पुष्टि की कि यदि मनुष्य होते तो धनुर्भंग एवं खरादि वध कैसे कर पाते, यथा—"नृप समाज महँ सिव धनु तोरा।···सकल अमानुष करम तुम्हारे।" (बा० दो० ३५६), "खर दूषन मो सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥" (अर० दो० २२), "सो नर क्यो दसकंध, बालि बध्यो जेहि एक सर॥" (ल० दो० ३२), पहले धनुर्भंग का उदाहरण दिया गया, जिसमें रावण स्वयं हार चुका था। फिर खर-दूषणादि का मारना कहा, जो रावण के समान ही बली थे, यथा—"खर दूषन मो सम बलवंता।" (अर० दो० २२), तब बालि-वध का प्रमाण दिया, जो रावण से भी अधिक बलवान् था, यथा—"एक कहत मोहि सकुच अति, रहा बालि की काँख।" (ल० दो० २४), तथा—

"त्वया विज्ञातपूर्वश्च वाली वानरपुङ्गवः। स तेन निहतः संख्ये शरेणैकेन वानरः॥" (वाल्मी० ४।५७।११), "जगत-बिदित अतिबीर बालि-बल जानत हौ किधौं अब बिसरायो। बिनु सोउ हत्यो एक सर ·" (गी० ल० ४)।

(२) 'जाके बल लवलेस···'—ब्रह्मादिक को प्रभु से बल मिला और तूने तपस्या करके ब्रह्मादि से बल पाया। अतएव तुझे उनका लवलेश अर्थात् किंचिन्मात्र ही बल मिला, जिससे तूने सम्पूर्ण चराचर को जीत लिया, यथा—"ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसबर्त्ती नर नारी॥" (बा० दो० १८१), यह प्रभु ही का बल है, यथा—"यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश-सम्भवम्॥ (गीता १०।४१)।

(३) 'तासु दूत मैं···'—जिसके बल का वर्णन ऊपर किया गया, मै उसीका दूत हूँ, अर्थात् मुझे भी उसीका बल है। इस युक्ति से श्रीहनुमानजी ने अपना बल भी उसे जना दिया। 'प्रिय नारि' अर्थात् पतिव्रता स्त्री को। 'हरि आनेहु'—इससे रावण का अपराध सिद्ध किया गया।

श्रीरामजी के ऐश्वर्य को चारो प्रकार के (शब्द, अनुमान, प्रमाण और प्रत्यक्ष) प्रमाणों से सिद्ध किया गया है, यथा—"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।" से "तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥" तक शब्द है। "हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत···"—यह अनुमान—"खर-दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे···"—यह प्रमाण और "जाके बल लवलेस ते ··"—यह प्रत्यक्ष है।

यहाँ तक 'कौन तैं' और 'केहि के बल···' इन दो प्रश्नों के उत्तर हुए।

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई। सहसबाहु सन परी लराई॥१॥
समर बालि सन करि जस पावा। सुनि कपि-बचन बिहँसि बहरावा॥२॥

अर्थ—मै तुम्हारी प्रभुता को जानता हूँ जो सहस्रबाहु से लड़ाई पड़ी हुई थी॥१॥ पुनः बालि से युद्ध करके भी यश पाया था, कपि श्रीहनुमानजी के इन वचनों को सुनकर उसने हँस कर टाल दिया॥२॥

विशेष—(१) 'जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई।···'—रावण ने कहा था—"कीधौं श्रवण सुने नहि मोही " उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं, श्रीहनुमानजी सन्त हैं, इसके दोषों को ढँककर कहते हैं कि वह समझ भी जाय, और लोगों की दृष्टि में उसकी अप्रतिष्ठा भी न हो। इसीसे व्यंग्य से कहते हैं कि तुम्हारी प्रभुता वही है न ? कि सहस्रबाहु से लड़ने गये, पर कुछ लड़ भी न पाया और उसने तुम्हें बाँध लिया, फिर पुलस्त्य मुनि के छुड़ाने से तुम छूटे, यथा—"एक बहोरि सहस भुज देखा। धाइ धरा जिमि जंतु बिसेषा॥ कौतुक लागि भवन लै आवा। सो पुलस्ति मुनि जाइ छोड़ावा॥" (ल० दो० २३), इससे सूचित किया कि तुम सहस्रबाहु से हार गये और वह परशुराम के द्वारा पराजित हुआ। परशुरामजी भी श्रीरामजी से हार गये। अतः, अपने मन में समझ लो कि तुम श्रीरामजी से कितने तुच्छ हो, यथा—"सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥···तासु गरब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥" (ल० दो० २५)। 'जानउँ' अर्थात् मैं भलीभाँति जानता हूँ, यही तो है।

(२) 'समर बालि सन करि जस पावा।···'—भाव यह कि बालि से लड़ाई करने गये, और उसने काँखों तले दबा लिया, तुमसे कुछ भी करते न बना। अतः, तुम्हें महान अपयश हुआ। जिस बालि के द्वारा तुम्हारी यह दशा हुई, उसे श्रीरामजी ने एक ही बाण से मारा, तो मैं उनका दूत होकर क्यों न अशंक रहूँ ? सहस्रबाहु और बालि से हारने की कथा वाल्मी० ७।३२-३४ में निम्न प्रकार से है—

सहस्रबाहु और रावण

सहस्रबाहु (सहस्रार्जुन) के वरदान पाने एवं प्रभुत्व की कथा कुछ बा० दो० ३ चौ० ३ में आ गई है, यहाँ रावण-सम्बन्ध की उसकी कथा लिखता हूँ। रावण एक बार सहस्रबाहु को जीतने के लिये उसकी

राजधानी में गया। मन्त्रियों ने कहा कि राजा अभी यहाँ नहीं हैं। रावण वहाँ से विचरता हुआ नर्मदा तट पर जाकर शिवजी का पूजन करने लगा। उधर सहस्रार्जुन भी उसी नदी में कुछ दूर पर अपनी स्त्रियों के साथ जल विहार कर रहा था। उसने अपनी सहस्र भुजाओं का बल प्रकट करने के लिये नर्मदाजी की धारा रोक दी। बाढ़ आ गई, जल उल्टा बहने लगा, उससे रावण की पूजन-सामग्री बह गई। वह पता लगाकर क्रोध पूर्वक लड़ने गया। मार्ग में उसे अपशकुन हुए।

रावण के वहाँ पहुचने पर पहले सहस्रबाहु के मन्त्रियों ने ही युद्ध किया। सहस्रार्जुन को समाचार मिला। वह भी क्रुद्ध होकर लड़ने आया और राक्षसों का संहार करने लगा। प्रहस्त ने सामना किया। सहस्रबाहु के प्रहार से वह गिर पड़ा, शेष राक्षस भाग गये। तब रावण सहस्रार्जुन की ओर बढ़ा। दोनों में रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ। गदा युद्ध होता रहा। सहस्रार्जुन की गदा से रावण धनुप-भर पीछे हट गया और चोट से रोने लगा। तब सहस्रबाहु ने इसे पकड़ लिया, जैसे गरुड़ साँप को पकड़ते हैं, फिर इसे बाँध लिया, जैसे वामन ने वलि को बाँधा था। पीछे प्रहस्त आदि छुड़ाने के लिये दौड़े, लड़े, पर कुछ कर न सके। वह रावण को बन्दी कर अपनी राजधानी में गया। पीछे पुलस्त्य मुनि ने सुना तो वे सहस्रार्जुन के यहाँ गये। उसने मुनि की पूजा की। मुनि ने कहा, तुमने रावण को पराजित किया। अब मैं यही माँगता हूँ कि इसे छोड़ दो, मुनि की याचना पर उसने रावण को छोड़ दिया। अग्नि को साक्षी करके मैत्री भी कर ली।

बालि और रावण

युद्धार्थी रावण एक बार बालि से लड़ने किष्किन्धा गया। बालि उस समय सन्ध्योपासन करने दक्षिण समुद्र के तट पर गया था। रावण वहाँ पहुँचा और चुपचाप पीछे से जाकर सन्ध्योपासन करते हुए ही, उसे पकड़ना चाहा। बालि ने देख लिया और फिरकर उसने इसे पकड़ कर काँख में दबा लिया। शेष सन्ध्योपासन कर फिर बड़े वेग से, अन्य तीन दिशाओं के समुद्रों को आकाश मार्ग से इसे दाबे हुए गया। रावण के सैनिक कुछ न कर सके। सर्वत्र सन्ध्योपासन कर वह किष्किन्धा आया। तब रावण को काँख से छोड़कर पूछा कि आप कौन है और कहाँ से आये हैं। रावण ने लज्जित हो परिचय दे बालि के पुरुषार्थ की महान् प्रशंसा की। फिर इसने प्रार्थनापूर्वक अग्नि की साक्षी देकर बालि से सन्धि कर ली और उसके छोटे भाई की भाँति एक मास वहाँ रहा, तब लंका आया।

'बिहँसि बहरावा'—रावण खूब हँसा। इस बात को उसने उड़ा दिया, दूसरी ओर देखने लगा कि जिससे और लोग मेरी बड़ाई ही समझें और वानर सब बातें खोलकर न कह दे। दूसरी ओर ताककर उसने अपनी गम्भीरता भी दिखाई कि मानो अपनी बड़ाई नहीं सुनना चाहता।

खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि-सुभाव ते तोरेउँ रूखा ॥३॥
सबके देह परम प्रिय स्वामी। मारहिं मोहिं कुमारग-गामी ॥४॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे। तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारे ॥५॥
मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो! मुझे भूख लगी थी, इसीलिये मैंने फल खाये हैं और अपने वानर-स्वभाव से वृक्षों को तोड़ा ॥३॥ हे स्वामी! देह सबको परम-प्यारी होती है, कुमार्ग पर चलनेवाले निशाचर जब मुझे मारने लगे ॥४॥ तब जिन्होंने मुझे मारा एवं मारना चाहा, उन्हें मैंने भी मारा, इसपर भी तुम्हारे पुत्र ने मुझे बाँधा है ॥५॥ अपने बाँधे जाने की मुझे कुछ लाज नहीं है, क्योंकि मैं अपने स्वामी का कार्य करना चाहता हूँ ॥६॥

विशेष—(१) 'खायउँ फल प्रभु···'—यह 'केहि के बल घालेसि बन खीसा।' का उत्तर है। ऊपर स्वामी का बल तो कहा, पर फल खाना और वन उजाड़ना स्वामी की ओर से नहीं कहते, नहीं तो स्वामी पर दोष सिद्ध होता। यह उत्तर बड़ी युक्ति से दे रहे हैं कि मैंने क्षुधा-निवृत्ति के लिये फल खाये हैं, यहाँ आने पर भूख लगी तो खाने कहाँ जाता? और, कपि-स्वभाव से वृक्ष तोड़े। मुझे शस्त्रास्त्र से मारते थे, तो आत्म-रक्षणार्थ मैंने वृक्ष उखाड़ कर मारा है, उसीमें वे मर गये। आप प्रभु (राजा) हैं। अतः, विचार करें कि इसमें मेरा क्या दोष है? यथा—"वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च। तृणं च गोभ्यो प्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत्॥" (मनु० ८।३३९), अर्थात् वन के फल-मूल, होम के लिये सूखी लकड़ी और गौ को खिलाने के लिये तृण लेना चोरी नहीं है—ऐसा मनु ने कहा है। यदि तुम कहो कि मैंने एक वानरी-देह की रक्षा के लिये करोड़ों राक्षसों को क्यों मार डाला? तो उत्तर यह है—

(२) 'सबके देह परम प्रिय···'—जिसका जो शरीर होता है, वही उसे परम प्यारा होता है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), भूखे को फल खाते हुए मारा, इससे वे रक्षक लोग 'कुमारगगामी' कहे गये। वानर वृक्षों के फल खाते ही हैं। मन्दोदरी ने भी इन्हें निर्दोष कहा है, यथा—"कानन उजारयो तौ उजारयो न बिगारयो कछू, बानर बिचारो बाँधि आन्यो हठि हारसों।" (क० सुं० ११)। ऊपर मनु का प्रमाण भी कहा गया है।

'प्रभु' और 'स्वामी' शब्द यहाँ उचित ही हैं। श्रीहनुमानजी जब स्वामी का बल कहते थे, उस सम्बन्ध से रावण को शठ कहने के प्रत्युत्तर में इन्होंने भी उसे शठ कहा है। अब वे अपने ऊपर बात लेकर दूत की हैसियत से उसे कहते हैं। ये श्रीसुग्रीवजी एवं श्रीरामजी के मन्त्री हैं। श्रीसुग्रीवजी वानरराज हैं और रावण राक्षसराज है। शत्रुता के भाव में दोनों ही समान हैं। प्रभु और स्वामी शब्द राजवाचक हैं। इनका प्रयोग करना नीतिकुशल श्रीहनुमानजी के लिये योग्य ही है, यथा—"श्रूयतामेव वचनं मम पथ्यमिदं प्रभो॥" (वाल्मी० ५।५०।१६)। यह इसी प्रसंग में महर्षिजी ने भी लिखा है।

(३) 'जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे।···'—भाव यह कि मैंने प्रमाद से किसीको नहीं मारा, किन्तु अपने प्राण बचाने के लिये मारा। पहले जो 'कपि सुभाव ते तोरेउँ रूखा' कहा था, उसपर यदि वह कहे कि वृक्षों की डाल, पत्ते तोड़ना ही वानर-स्वभाव है, न कि वृक्षों को समूल उखाड़ फेंकना। इसका भी उत्तर इसीमें है कि मारनेवाले शस्त्र लेकर आये थे, तो मैं किस शस्त्र से अपनी रक्षा करता? इसीलिये मुझे वृक्षों को भी उखाड़ना पड़ा, तथा—"ततस्ते राक्षसाः प्राप्ता बलिनो युद्धकांक्षिणः॥ रक्षणार्थं च देहस्य प्रतियुद्धा मया रणे।" (वाल्मी० ५।५०।१५।१६), अर्थात् बली राक्षस युद्ध करने के लिये मेरे पास आये। अपनी रक्षा के लिये मैंने भी उत्तर में युद्ध किया। वे मुझे मारने ही आये थे, पर युद्ध में वे ही मर गये। फिर इसमें मेरा क्या दोष? 'तेहि पर बाँधेउ ···'—हमको बिना दोष के ही कुमार्गगामी (रक्षक) मारते थे, उसपर तुम्हारे पुत्र ने अकारण मुझे ही बाँधा। राजपुत्र को न्याय-संगत कार्य करना चाहता था। 'तनय तुम्हारा' का भाव यह कि तुम अधर्मी हो, तो तुम्हारा पुत्र वैसा क्यों न हो? मुझे जिन्होंने मारा था, उन्हें मारकर मैंने बदला चुका लिया, पर तुम्हारे पुत्र ने जो मुझे बाँधा है, इसका बदला अभी शेष है, इसका बदला भी मैं चुकाऊँगा। यह भाव—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा' में निहित है। इसीसे नगर जलाया गया, यथा—"भूयः स चिन्तयामास मुहूर्त्तं कपिकुञ्जरः। कथमस्मद्विधस्येह बन्धनं राक्षसाधमैः॥ प्रतिक्रियास्य युक्तास्यात्सति मद्यं पराक्रमे।···" (वाल्मी० ५।५३।३४-३५)।

(४) 'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा।'—बाँधे जाने एवं परास्त होने से वीरों को लज्जा लगती है, यथा—"मेघनाद कै मुरुछा जागी। पितहिं बिलोकि लाज अति लागी॥" (लं० दो० ७४), पर मुझे इसकी लज्जा नहीं है, क्योंकि मैं—'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा।', यथा—"करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥" (अ० दो० १८५), यथा—"केनचिद्रामकार्येण आगतोऽस्मि

तवान्तिकम्।" (वाल्मी० ५।५०।१८)। इसमें श्रीहनुमानजी का इस बहाने से रावण के सामने आना और उसे उपदेश देकर सीता को सादर सौंपने को कहना—प्रभु का कार्य है। वही आगे—"बिनती करउँ जोरि कर···" से स्पष्ट है, था—"काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई॥" (लं० दो० १६)। पुनः आगे का अग्नि लगाना भी प्रभु-कार्य में ही है। प्रमाण—"हरि प्रेरित तेहि अवसर, चले उ मरुत उनचास॥" (दो० २५)। अतः, यह भी हरिइच्छा है। यहाँ तक उसके प्रश्नों के उत्तर दिये, आगे उसे शिक्षा देते हैं—

बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥ ७॥
देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी। भ्रम तजि भजहु भगत-भय-हारी॥ ८॥
जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥ ९॥
तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥१०॥

अर्थ—हे रावण! मैं हाथ जोड़कर तुमसे बिनती करता हूँ, अभिमान छोड़कर तुम मेरी यह शिक्षा सुनो॥७॥ तुम अपने कुल को विचार कर देखो और भ्रम को त्याग कर भक्तों के भय का हरण करनेवाले प्रभु का भजन करो॥८॥ जिसके डर से काल (भी) अत्यन्त डरता है, जो देवों, दैत्यों एवं चराचर मात्र को खा लेनेवाला है॥९॥ उससे कदापि वैर न कीजिये, इसलिये मेरे कहने से उनकी श्रीजानकीजी को उन्हें दे दीजिये॥१०॥

विशेष—(१) 'बिनती करउँ जोरि कर रावन। ·····'—बड़े लोग नम्रता एवं प्रार्थना-पूर्वक उपदेश देते हैं, यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५), सन्त लोग भी, यथा—"कहै बिभीषण पुनि कर जोरी।" (दो० ३९), श्रीहनुमानजी भी रुद्रावतार एवं महान् सन्त हैं, शत्रु रावण का भी ये भला ही चाहते हैं, यथा—"उमा संत कइ यहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥" (दो० ४०), 'सुनहु'—अभी तक प्रश्नोत्तर और भय-दर्शन का प्रसंग था, तब प्रत्युत्तर में 'सुनु' आदि निरादर के शब्द कहे थे। अब उसे शिक्षा देना है, इसलिये हाथ जोड़ते हैं, विनती करते हैं और आदर के शब्द कह रहे हैं, इसी तरह उपदेश देने से श्रोता उसे धारण करता है। यहाँ 'सुनहु' से दूसरा (शिक्षा का) प्रसंग आरम्भ करते हैं। 'मान तजि', क्योंकि मानी किसीकी शिक्षा नहीं सुनते, यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥" (कि० दो० ८), रावण ने अभिमान नहीं छोड़ा, इसीसे उसने उपदेश भी नहीं माना, यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहि कपि गुरु बड़ ज्ञानी॥ (दो० २३), प्रत्युत क्रोधित हुआ, यथा—"लागेसि अधम सिखावन मोही।" (दो० २३)।

(२) 'देखहु तुम्ह निज कुलहि·····'—तुम अच्छे कुल के हो, यथा—"उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।" (लं० दो० १९), अतएव ईश्वर का भजन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। 'भ्रम तजि', क्योंकि रावण प्रभु के अवतार में भ्रम है—"जौं भगवंत लीन्ह अवतारा।" (अर० दो० २२), मृग द्वारा परीक्षा करके भी इसने श्रीरामजी को नर ही निश्चित किया है। उसके विरुद्ध अब वह किसीकी नहीं सुनता। मरने तक इसका भ्रम रहा है, यथा—"जान्यो मनुज करि दनुज-कानन-दहन-पावक हरि स्वयं" (लं० दो० १०३)—यह इसके मरने पर मन्दोदरी ने कहा है। 'भगत-भय-हारी।'—उनका भजन करने से वे भक्तों के भय को हरण करते हैं, यथा—"जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाई॥" (दो० ४३), यदि रावण कहे कि मुझे किसका डर है? यथा—"पावक, पवन, पानी, भानु, हिमवान, यम, काल, लोकपाल मेरे डर डाँवाडोल हैं।" (क० मुं० २१), उसपर कहते हैं—'जाके डर अति काल

डेराई। जो'''—भाव यह है कि तुम यह न समझो कि काल मेरे वश में है, वरन् वह तो तुम्हारे लिये अवसर की ताक में है, वह सभी सुर-असुर आदि को खाता है, यथा—"अंड कटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥"(उ० दो० ६३), अतः, तुम्हीं उसके वश में हो। काल केवल श्रीरामजी से ही डरता है, यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया।'''तव डर डरत सदा सोउ काला॥" (अर० दो० १२), तथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥" (कठो० २।६।४), अर्थात् इस (ब्रह्म) के भय से अग्नि तपता, भय से सूर्य तपता और भय से ही इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु अर्थात् काल दौड़ता है। अतएव—'तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।' फिर वैर मिटने का उपाय भी कहते हैं—'मोरे कहे जानकी दीजै।'—भाव यह है कि इसमें तुम्हारा मान भी रहेगा कि श्रीरामजी के दूत ने आकर हाथ जोड़कर विनती की, तब रावण ने श्रीजानकी को लौटा दिया। 'जानकी दीजै' में ध्वनि यह है कि जैसे जनकजी ने उन्हें श्रीरामजी को समर्पण किया है, श्रीसीताजी के धनुष हटाने से और फिर उसे श्रीरामजी के भंग करने से श्रीजनकजी ने श्रीजानकीजी को श्रीरामजी की ही शक्ति जाना। अतः, उनकी शक्ति उन्हें सौंप दी। वैसे आपके यहाँ अभी तक श्रीजानकीजी रहीं, अब उन्हें श्रीरामजी को सादर सौंप दीजिये, यथा—"हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहिं हरिहिं श्री सागर दई। तिमि जनक रामहिं सिय समरपी बिस्व कल कीरिति नई।" (बा० दो० ३२४), और-और लोगों ने भी इसी भाव से देने को कहा है, यथा—"जनक सुता रघुनाथहिं दीजै।" (दो० ५६) "रामहि सौंपि जानकी, नाइ कमल पद माथ।" (लं० दो० ६), "सादर जनकसुता करि आगे। येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥" (लं० दो० १९), यथा—"तत्त्रिकालहितं वाक्यं धर्म्यमर्थानुयायि च। मन्यस्व नरशार्दूले जानकी प्रतिदीयताम्॥" (वाल्मी० ५।५१।२१), अर्थात् त्रिकाल में हितकारी, धर्म और अर्थ के अनुकूल मेरे वचन मानो, नरसिंह श्रीरामजी को जानकीजी दे दो।

पहले श्रीरामजी से वैर करने को निषेध किया कि यदि इस तरह के कारण भी आ जायँ कि उनसे शत्रुता करनी पड़े तो भी उनसे वैर न करो, यथा—"तिन्ह सन बैर किये भल नाहीं।" (अर० दो० २४), फिर वैर का कारण मिटाने के लिये श्रीजानकीजी को लौटा देने को भी कहा। मान शिक्षा सुनने का बाधक है, भ्रम भजन का बाधक और श्रीजानकी का नहीं लौटना वैर न छोड़ने में बाधक है। इससे इन तीनों को छोड़ने को कहा कि मान छोड़कर शिक्षा सुनो, भ्रम छोड़कर भजन करो और वैर छोड़कर श्रीजानकीजी को लौटा दो।

दोहा—प्रनतपाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि।
गये सरन प्रभु राखिहैं, तव अपराध बिसारि॥२२॥

राम - चरन - पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम्ह करहू॥१॥
रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होउ कलंका॥२॥

अर्थ—वे श्रीरघुनाथजी शरणागत के पालनेवाले हैं, करुणा के सागर हैं और खर के शत्रु हैं, शरण में जाने पर तुम्हारे अपराधों को भुलाकर वे प्रभु (तुम्हें अपनी) शरण में रक्खेंगे॥२२॥ श्रीरामजी के चरण-कमलों को अपने हृदय में रक्खो और तुम लंका का अचल राज्य करो॥१॥ पुलस्त्य ऋषि का यश विशुद्ध चन्द्रमा है, उस चन्द्रमा में तुम कलंक रूप मत हो॥२॥

विशेष—'प्रनतपाल रघुनायक'''—यहाँ 'रघुनायक' विशेष्य है, शेष तीनो विशेषण हैं। भाव यह है कि सभी रघुवंशी आश्रित के रक्षक हुए हैं और ये तो उनमें श्रेष्ठ हैं। इनकी शरण जाने पर

पालेंगे—यह रजोगुण है, करुणा करेंगे—यह सत्त्वगुण है और आश्रितों के लिये खर आदि दुष्टों को मारते है—यह तमोगुण है। तात्पर्य यह कि आश्रितों की रक्षा में प्रभु तीनो गुण धारण करते हैं, यथा—"निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परागतिः॥ आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्" (वाल्मी० ४।१५ १९-२०)। 'राखिहैं', यथा—"नाथ दीन दयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गये न खाई॥" (लं० दो० ६)। 'तव अपराध बिसारि'—यद्यपि तुम्हारा अपराध क्षमा-योग्य नहीं है, तथापि वे 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, क्षमा ही नहीं करेंगे, बल्कि उसे भुला भी देगे—यह श्रीमुख का वचन है, यथा—"कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू॥" (दो० ४३)।

(२) 'राम-चरन-पंकज उर धरहू।···'—प्रभु के चरणकमल के आधार से लंका का तुम्हारा राज्य अचल रहेगा। अभी मान और भ्रम हृदय में भरे हैं, उन्हें मन से निकाल दो और उसके स्थान में राम-चरण-कमल को पधराओ, फिर तो तुम्हारा राज्य अचल रहेगा। वह इस तरह कि इन चरणों के सम्बन्ध से लक्ष्मीजी सदा रहेंगी, यथा—जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कबहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥" (वि० ८६), इससे तुम्हें काल भी न व्यापेगा, यथा—"कबहूँ काल न व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥" (उ० दो० ८७), पुनः—'राम-चरन-पंकज उर धरहू।' से परलोक बनेगा और 'लंका अचल राज तुम्ह करहू।' से यह लोक बनेगा।

(३) 'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका ···', यथा—"मुनि पुलस्ति के जस मयंक महँ कत कलंक हठि होहि।" (गी० लं० १), भाव यह है कि इस कुल के लोग सदा से भगवद्भक्त होते आये हैं। अतः, उस कुल में जन्म लेकर भगवान् का वैरी एवं पर-स्त्री-गामी होना उसके लिये कलंक है। तुम्हारे इस कर्म से इस कुल को लोग कलंकी चन्द्र के समान त्याग देंगे। इसका नाम भी न लेंगे। ऊपर कहा था, यथा—"देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी।" उसका भाव यहाँ स्पष्ट किया।

राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥३॥
बसन-हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी। ४॥
राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥५॥
सजलमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं॥६॥

अर्थ—वाणी राम-नाम के बिना शोभित नहीं होती, मद-मोह छोड़कर और विचार करके देखो॥३॥ हे देव शत्रु रावण! सुन्दर श्रेष्ठ स्त्री सब भूषणों से भूषित भी वस्त्र-बिना (नंगी) नहीं शोभित होती॥४॥ राम-विमुख की रही, पाई और बिना पाई, सभी सम्पत्ति और प्रभुता व्यर्थ हैं॥५॥ जिन नदियों के मूल में कोई जलस्रोत (पहाड़ के झरने, सर एवं अगाध झील आदि) नहीं हैं, (वर्षा के जल से ही बहती हैं) वे वर्षा बीत जाने पर तुरत ही फिर सूख जाती हैं॥६॥

विशेष—(१) 'राम नाम बिनु गिरा···'—श्रीरामजी को शत्रु मानकर रावण कभी उनके नाम का उच्चारण नहीं करता था, उन्हें केवल तापस, भूप, नर आदि ही कहा करता था, यथा—"कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।" (दो० ५२), "नर कर करसि बखान।" (लं० दो० २५), "हौं मारिहौं भूप दोउ भाई" (लं० दो० ७७), इत्यादि। इसीलिये यहाँ श्रीहनुमानजी कहते हैं कि राम-नाम के बिना वाणी शोभा नहीं पाती, क्योंकि वाणी (जिह्वा) पर अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा के निवास हैं, यथा—"जिह्वा मूले स्थितो देवः सर्वं तेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥" (गायत्री भाष्य—योगि-याज्ञवल्क्य), और श्रीरामजी का नाम इन तीनों का हेतु है, यथा—"हेतु कृसानु भानु हिमकर के।" (बा० दो० १८)। अतः, राम-नाम के आराधन से अग्नि बीज रकार से वैराग्य, भानु बीज अकार से ज्ञान और चन्द बीज

मकार से उपासना का साक्षात्कार होता है। बा० दो० १८ चौ० १ देखिये। 'देखु बिचारि'—विचार करने पर परलोक का साधन ही जीव-मात्र का परम पुरुषार्थ है, वही श्रीरामनाम द्वारा काण्डत्रय की सिद्धि से होता है, अतएव रामनाम से वाणी को कृतार्थ करो। मद और मोह भजन के बाधक हैं, इससे इन्हें छोड़ना कहा है। वाणी का एक अर्थ कविता भी है, इसके लिये बा० दो० ६ चौ० ४ देखिये।

(२) 'बसन-हीन नहिं···'—जैसे सब भूषणों से भूषित श्रेष्ठ सौभाग्यवती स्त्री भी बिना वस्त्र के शोभा नहीं पाती, वैसे ही अलंकार, व्यञ्जना, ध्वनि आदि से युक्त होती हुई भी वाणी रामनाम के बिना शोभा नहीं पाती। 'बर नारी'—का भाव है श्रेष्ठ सौभाग्यवती और सुन्दरी युवती, क्योंकि सब भूषणों का अधिकार उसीको है। रावण विद्वान भी है, इसीलिये कहते हैं कि राम-नाम से हीन होना अयोग्यता है। 'सुरारी' कहने का भाव यह है कि विद्वान् और उसमें भी ब्राह्मण को देवताओं का वैरी होना उसके लिये योग्य नहीं।

(३) 'राम-बिमुख संपति प्रभुताई'—सम्पत्ति की शोभा उसे सत्कर्म में लगाकर श्रीरामजी के सम्मुख हो जाने में है, अन्यथा वह व्यर्थ है, इसीसे कहते हैं कि 'रही' = भूतकाल की, 'पाई' = जो सम्पत्ति वर्त्तमान में प्राप्त है, 'बिनु पाई' = जो भविष्य में मिलनेवाली है, 'जाइ' = व्यर्थ, यथा—"नतरु जनम जग जाय।" (अ० दो० ७०), "राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत।" (वि० १३३)। अथवा—'जाइ रही' = चली जायगी, 'पाई बिनु पाई' = पाई हुई भी बिना पाई-सी हो जायगी। जैसे कि आगे—'बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं।' कहेंगे कि जैसे ही वर्षा का जल सूख गया कि वे नदियाँ सूख गईं, मानों वर्षा हुई ही नहीं थी।

पहले—"राम-चरन-पंकज उर धरहू।"—यह हृदय (मन) का भजन कहा गया, फिर "राम-नाम बिनु···" से—वचन का और फिर "राम बिमुख संपति ··" से—कर्म का भजन कहा गया, क्योंकि शास्त्र-विहित कर्म हरिभक्ति ही है, यथा—"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥" (गीता १८।४६), रावण मन, वचन, कर्म सबसे हरि-विमुख है, इसलिये उसे इन तीनों से हरि-सम्मुख होने का उपदेश दिया गया।

(४) 'सजलमूल जिन्ह···'—सम्पत्ति और प्रभुता नदी के समान हैं, यथा—"रिधि सिधि संपति नदी सुहाई।" (अ० दो० १), और सुकृत मेघ के समान, यथा—"सुकृत मेघ बरसहि सुख बारी।" (अ० दो० १), सुकृत के द्वारा सम्पत्ति और प्रभुता प्राप्त होती हैं, पर राम-विमुख होने से शीघ्र ही उनका नाश हो जाता है। राम-सम्मुखता सम्पत्ति-रूपी नदी का मूल (उद्गम) है, समूल नदी अचला रहती है, यथा—"जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ कर्म बचन मनहूँ॥" (वि० ८६)—यहाँ तक उपदेश का प्रसंग था। अब आगे भय-प्रदर्शन है।

सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी। बिमुख राम त्राता नहिं कोपी॥७॥
संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥८॥

दोहा—मोह-मूल-बहु-सूल - प्रद, त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक, कृपासिंधु भगवान॥२३॥

अर्थ—हे दशानन! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि श्रीरामजी से विमुख होनेवाले का कोई भी रक्षक नहीं है, (तुम्हारे, कुल, राज्य, सम्पत्ति एवं शरीर सभी नष्ट होंगे)॥७॥ सहस्रों शंकर, सहस्रों विष्णु और सहस्रों ब्रह्मा भी श्रीरामजी के द्रोही की रक्षा नहीं कर सकते॥८॥ मोह का कारण और बहुत शूल देनेवाला वह तमोगुणी अभिमान तुम छोड़ दो, कृपा-सागर, रघुनायक, भगवान् श्रीरामजी का भजन करो॥२३॥

विशेष—(१) 'सुनु दसकंठ···'—भाव यह है कि श्रीरामजी से विमुख होने पर तुम्हारे दसो सिर काट डाले जायँगे, यथा—"सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥" (अर० दो० १), इस 'सुनु' पद से भय-दर्शन-प्रसंग प्रारम्भ करते हैं। इस तरह इस संवाद में तीन भाग 'सुनु' एवं 'सुनहु' इन पदों के द्वारा सूचित किये गये हैं। 'कहउँ पन रोपी'—का सम्बन्ध अगली अर्द्धाली 'संकर सहस···' से भी है। अतः, भाव यह हुआ कि तुम उनसे विमुख ही नहीं, किन्तु उनका द्रोही भी हो, अतएव तुम्हारी रक्षा में सहस्रों त्रिदेव भी समर्थ नहीं हो सकते, यथा—"ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही।" (अर० दो० १) त्रिदेवों में भी श्रीरामजी का ही बल है और वे सभी श्रीरामजी के सेवक हैं, यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस सीसा॥" (दो० २०), "देखे सिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाव एक ते एका। बंदत चरन करत प्रभु सेवा। बिबिध बेष देखे सब देवा॥" (बा० दो० ५३)।

रावण की सारी सम्पत्ति श्रीशिवजी की दी हुई है, यथा—"जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ।" (दो० ४९), और उसकी आयुवृद्धि भी श्रीशिवजी के द्वारा ही हुई है, यथा—"सादर सिव कहँ सीस चढ़ाये। एक एक के कोटिन्ह पाये॥" (लं० दो० ९२), तथा—"वाञ्छितं चायुषः शेषं··· आयुषश्चावशेषं च ददौ भूतपतिस्तदा॥" (वाल्मी० ७।१६।४३-४४)। इसीसे श्रीशिवजी का नाम उसके रक्षकों में सबसे पहले है, तथा—"ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य॥" (वाल्मी० ५।५१।४४), "सकल सुरा-सुर जुरहि जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥" (अ० दो० १८८)।

(२) 'मोह-मूल बहु-सूल-प्रद·····'—मोह सब मानसिक रोगों का मूल कारण है, यथा—"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥" (उ० दो० १२०), "संसृति मूल सूल प्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥" (उ० दो० ७३), यह 'तम अभिमान' का विकार है। अभिमान सात्विक भी होता है, इसलिये वह ग्राह्य है, यथा—"अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥" (अ० दो० १०), 'भजहु राम रघुनायक·····'—राम-मात्र कहने से निर्गुण का भी सन्देह होता, इसलिये 'रघुनायक' कहकर सगुण कहा गया और फिर 'कृपासिंधु' इसलिये कहा गया कि उनका भजन करने से वे समुद्र के समान कृपा करते हैं। पुनः 'भगवान्' शब्द से उनमें ऐश्वर्य की पूर्णता भी कही गई कि वे सब कुछ कर सकते हैं, अन्यत्र ये दोनों बातें नहीं पाई जातीं, यथा—"प्रभु अकृपालु कृपालु अलायक जहँ जहँ चितहि डोलावौं॥" (वि० २३२), और भक्तों पर ममता भी रखते हैं, यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।" (उ० दो० ७२), "अवतरेउ अपने भगतहित···" (बा० दो० ५१)।

रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व में सन्देह है। इसीसे ईश्वरत्व कहते हुए उपक्रम और उपसंहार में भी भ्रम और मोह का त्यागना कहा गया है, यथा—"भ्रम तजि भजहु भगत-भय हारी।" और "मोह मूल···भजहु राम···"। अभिमान भजन का बाधक है, इसीसे आदि और अन्त में इसका त्यागना भी कहा गया, यथा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥" और "त्यागहु तम अभिमान।"

'पुर दहि नाँघेउ बहुरि पयोधी'-प्रकरण

जदपि कही कपि अति हित बानी। भगति बिबेक बिरति नय सानी॥१॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी॥२॥

अर्थ—यद्यपि कपि श्रीहनुमानजी ने अत्यन्त हित करनेवाली भक्ति, विवेक, वैराग्य और नीति से

सनी हुई वाणी कही ॥१॥ तथापि वह महा अभिमानी रावण बहुत हँसकर बोला कि हमें बड़ा ज्ञानी वानर गुरु मिला (उसने निरादर-पूर्वक हँसकर ऐसा कहा) ॥२॥

विशेष—(१) 'अति हित बानी'—वैराग्य और भक्ति में परलोक का हित, इसी प्रकार नीति और विवेक में लोक का हित है। भक्ति आदि के विभाग—'भगति'—देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी' से 'राम-चरन-पंकज उर धरहू। ·····' तक। बिवेक'—'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका।' से 'बसन हीन नहिं सोह सुरारी···' तक। 'बिरति'—'राम बिमुख संपति प्रभुताई।' से 'बरषि गये पुनि तबहिं सुखाहीं।' तक। 'नय'—'सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी।' से 'भजहुँ राम रघुनायक·····' तक। इसमें नीति यह है कि अपने से बड़ों से मेल कर लेना चाहिये।

यहाँ पर पं० रामकुमारजी ने छः आवृत्तियाँ लिखी हैं, उनमें 'छठी' तो ऊपर के विशेष में आ गई है। शेष नीचे लिखी जाती है, यथा—"प्रश्नोत्तर अरुकांड क्रम, करहु प्रसंग बिभाग। अपराधी तुम असुर सब, मोहिं अपराध न लाग ॥१॥ त्याग ग्रहण फल तीनि को, करहु बिभाग बिचारि। भगति बिबेक बिरति नय, पृथक-पृथक निरधारि ॥२॥

(१) प्रश्न		उत्तर
कह लंकेस कवन तैं कीसा।	१	तासु दूत मैं जाकरि, हरि आनेहु प्रिय नारि।
केहि के बल	२	सुनु रावन ब्रह्मांड···' से 'जाके बल लवलेस···' तक।
की धौं श्रवन सुने नहिं मोहीं।	३	'जानउँ मैं तुम्हारि···' से 'समर बालि सन···' तक।
·····घालेसि बन खीसा।	४	'खायेउँ फल ··कपि सुभाउ ते···'
मारे निसिचर केहि अपराधा।	५	'सब के देह परम प्रिय' से 'जिन्ह मोहि मारा ··' तक।

आगे 'बिनती करउँ जोरि कर···'—यह शिक्षा है। —इति प्रथमावृत्तिः।

(२) ऐश्वर्य रूप, अवतार और लीला—

ऐश्वर्य रूप—'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।' से 'अंडकोस समेत ··' तक।

अवतार—'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन···'

लीला—बाल, अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड के चरित कहे गये—"हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत ··'—बालकाण्ड, "खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल···"—अरण्य और किष्किन्धाकाण्ड और "खायेउँ फल प्रभु लागी भूखा।" से "तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।" तक सुन्दरकाण्ड। बीच में अयोध्याकाण्ड का चरित नहीं आया, क्योंकि उसके पूर्वार्द्ध में पुरजन चरित की, और उत्तरार्द्ध में भरत चरित की प्रधानता है एवं यहाँ श्रीरामजी का बल दिखाने का प्रसंग है। ऐसे ही बा० दो० २३-२४ में राम-नामानुसन्धान के लक्ष्यभूत चरित में अयोध्याकाण्ड के चरितों का लक्ष्य नहीं है। —इति द्वितीयावृत्तिः।

(३) सुनु, सुनहु और सुनु—इन पदों से तीन प्रसंगों के विभाग प्रकट किये गये—

प्रश्नोत्तर—"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया।···"

शिक्षा—"सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥···"

भय दर्शन—"सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी।···" —इति तृतीयावृत्तिः।

(४) रावणादि के अपराध और अपनी सफाई दी है—

रावण का अपराध—"जाकरि, हरि आनेहु प्रिय नारि।"

निशाचरों के अपराध—"मारहि मोहि कुमार्गगामी।"

मेघनाद का अपराध—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।"

अपनी सफाई—"खायेउँ फल प्रभु ·कपि सुभाउ ते···" —इति चतुर्थावृत्तिः।

(५) त्याग, ग्रहण और फल के विभाग—

(क) मान, भ्रम, बैर, मद-मोह और तम अभिमान—इन पाँच का त्याग करना कहा है, क्रमशः उदा०—"सुनहु मान तजि ···", "भ्रम तजि भजहु ···", "तासों बैर कबहुँ नहिं कीजै।", "देखु बिचारि त्यागि मदमोहा ॥" और "मोह मूल बहु सूलप्रद, त्यागहु तम अभिमान।"

(ख) भजन कर भय दूर करना, जानकीजी का देना, शरण होना, राम-चरण उर में धरना और भजनकर ईश्वर का कृपा-पात्र होना—इन पाँच बातों का ग्रहण करना कहा गया है। क्रमशः उदाहरण—"भजहु भगत भयहारी", "मोरे कहे जानकी दीजे।", "गये सरन प्रभु राखिहै···", "राम-चरन-पंकज उर धरहू।" और "भजहु राम रघुनायकहि, कृपासिंधु ···"।

(ग) क्रमशः इन पाँचों के फल—अचल-राज, कुल की शोभा, वाणी की शोभा, सम्पत्ति की स्थिरता और शरीर की स्थिरता। क्रमशः उदा०—"लंका अचल राज तुम्ह करहू।", "रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका ॥", "राम नाम बिनु गिरा न सोहा।", "राम बिमुख···जाइ रही पाई बिनु पाई ॥" और "संकर सहस बिष्नु अज तोहीं। सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥" —इति पञ्चमावृत्तिः।

(२) 'बोला बिहँसि महा अभिमानी।'—श्रीहनुमानजी की शिक्षापूर्ण वाणी है। अतः, आदर करने के योग्य है, तो भी उसके निरादर करने के लिये रावण ठठाकर हँसा, क्योंकि वह महा अभिमानी है, अभिमानी लोग शिक्षा नहीं मानते, यथा—"मूढ़ तोहिं अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना ॥" (कि० दो० ८), तथा—अहङ्कारविमूढानां विवेको नैव जायते ॥" (नारदीय पु० पूर्व० ८।१०३), अर्थात् जो अहंकार से विमूढ़ हो रहे हैं, उनको विवेक उत्पन्न नहीं होता। पुनः यहाँ श्रीहनुमानजी ने उपक्रमोपसंहार में उसे अभिमान त्यागने के लिये कहा, पर उसने न छोड़ा, इससे भी वह महा अभिमानी सिद्ध होता है। 'मिला हमहि कपि गुरु बड़ ज्ञानी।'—भाव यह कि किसीको आजतक वानर (पशु) गुरु न मिला होगा। 'गुरु बड़ ज्ञानी।'—यह सरस्वती ने यथार्थ ही कहलाया है। श्रीहनुमानजी त्रिभुवन-गुरु शिवजी के अवतार ही है, यथा—"तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।" (बा० दो० ११०), तथा—"रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान।" (दोहावली १४१)।

मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही ॥३॥
उलटा होइहि कह हनुमाना। मतिभ्रम तोर प्रगट मैं जाना ॥४॥
सुनि कपि-बचन बहुत खिसियाना। बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥५॥
सुनत निसाचर मारन धाये। सचिवन्ह सहित बिभीषन आये ॥६॥

अर्थ—अरे खल! तेरी मृत्यु समीप आ गई है, इसीसे अरे अधम! तू अधम होकर भी मुझको शिक्षा देने लगा है ॥३॥ श्रीहनुमानजी ने कहा—उलटा होगा (अर्थात् तेरी ही मृत्यु निकट है, मेरी नहीं) मैं प्रत्यक्ष जान गया, क्योंकि तेरी मति में भ्रम हो रहा है ॥४॥ कपि श्रीहनुमानजी के वचन सुनकर वह बहुत खिसियाया (लज्जा से कुपित हुआ), और (राक्षसों से) कहा—शीघ्र ही इस मूर्ख के प्राण क्यों नहीं हरण करते? ॥५॥ यह सुनते ही राक्षस मारने को दौड़े (उसी समय) मन्त्रियों के साथ श्रीविभीषणजी आये॥६॥

विशेष—(१) 'मृत्यु निकट आई···'—भाव यह है कि अयोग्य होते हुए भी तूने गुरु बनकर मुझे शिक्षा दी, इसलिये गुरु-दक्षिणा के रूप में मैं तुझे मृत्यु दूँगा, यथा—"कह कपि मुनि गुरु-दछिना लेहू। पीछे हमहिं मंत्र तुम्ह देहू ॥" (लं० दो० ५६), 'अधम', यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु" (दो० ७) 'सिखावन मोहीं'—मैं तो स्वयं पण्डित हूँ, तू मुझे क्या सिखाता है? अभिमानी होने के कारण

शिक्षा देने पर रावण क्रोध करता है, यथा—"गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥" (अर० दो० २५)। ऐसे ही माल्यवान् एवं पुत्र प्रहस्त पर शिक्षा देने पर क्रोध किया है।

रावण के प्रश्नों में कहे हुए दोषों का जब श्रीहनुमानजी ने खंडन कर दिया, तब उसने समझ लिया कि आगे और कुछ कहने से यह मुझे सभा में बेवकूफ बनावेगा। अतः, इतनी बात ही लेकर कि अयोग्य होकर तूने मुझे शिक्षा क्यों दी ?—उसने उनके वध की आज्ञा दे दी, पर वस्तुतः मृत्यु का हेतु शिक्षा देना नहीं है। उत्तर नहीं दे सकने पर उसकी पूर्त्ति कोप से भी की जाती है, कहावत है—"शेषं कोपेन पूरयेत्" यहाँ रावण ने वही किया है।

(२) 'उलटा होइहि कह हनुमाना···'—भाव यह है कि मरेगा तो यह स्वयं और कहता है मुझे। 'मतिभ्रम तोर···'—हित की शिक्षा दी जाती है और उसे अनहित मानता है, यही इसका मतिभ्रम होना है, इसीसे श्रीहनुमानजी ने निश्चय किया कि यह अवश्य मरेगा, यथा—"निकट काल जेहि आवइ साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥" (लं० दो० ३५), लं० दो० ३५ चौ० ७-८ भी देखिये। कहे जाने पर भी उसने अभिमान नहीं छोड़ा, किन्तु महा अभिमान प्रकट किया, यथा—"बोला बिहँसि महा अभिमानी।" और उलटे उपदेष्टा को ही मारने पर तुल गया। इससे भी उसकी मृत्यु का होना जाना गया, यथा—" मंदोदरि मन महँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ॥" (लं० दो० १५), "मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना॥" (लं० दो० ७), 'भ्रम तजि' कहा था, पर इसने भ्रम भी प्रकट कर दिया कि नहीं छूटा।

(३) 'सुनि कपि-बचन···'—वह खिसियाया तो तभी से था, जब उससे उत्तर नहीं बन पड़ा, अब प्रत्युत्तर पाकर और खिसियाया। प्रत्युत्तर भी कठोर वचनों से दिया गया, इससे अति खिसियाया, यथा—"परुष बचन सुनि काढ़ि असि, बोला अति खिसियान॥" (दो० ९), 'बेगि न हरहु मूढ़···'—भाव यह कि यदि यह शीघ्र नहीं मारा जायगा, तो फिर और कुछ कह बैठेगा 'मूढ़' है, क्योंकि यदि यह शास्त्र की मर्यादा जानता, तो राजा के समक्ष ही उसे अपमानजनक वचन न कहता, यथा—"सीता तैं मम कृत अपमाना। कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥" (दो० ९)। शरीर से अधम है, नीति न जानने से मूढ़ और राजा को परुष वचन बोलने से वध के योग्य है, पुनः रावण पहले कह भी चुका है—"मृत्यु निकट आई···" अतएव शीघ्र मारने को कहा।

(४) 'सुनत निसाचर मारन धाये···'—'धाये', राक्षस डर के मारे इनसे दूर ही बैठे थे, क्योंकि जानते थे कि 'पारतिहु' बार कटक संहारा।' यदि यहाँ कहीं करवट भी लेगा, तो कितनों को दबा मारेगा। राक्षस श्रीहनुमानजी के पास पहुँच भी नहीं पाये थे कि संयोग से श्रीविभीषणजी आ गये और इन्होंने उन राक्षसों को पहले निवारण कर दिया, तब रावण के पास पहुँचे। नहीं तो जब तक वे रावण से प्रार्थना करते, तब तक राक्षस इन्हें मारने लगते। 'सचिवन्ह सहित'—ये सदा मन्त्रियों के साथ ही रहते हैं, यथा—"सचिव संग लै नभ पथ गयऊ।" (दो० ४०)।

यहाँ यदि यह शंका हो कि श्रीविभीषणजी ठीक उसी समय पर कैसे आये ? तो इसका उत्तर यह है कि (क) वे इसका पता लगा रहे थे, जब सहायता की आवश्यकता समझी, तब आये और उचित सहायता की। (ख) श्रीरामजी के भक्तों को कुयोग में भी सुयोग हो जाता है, यह इन चौपाइयों में चरितार्थ है—(१) "लागि तृषा···" तब 'स्वयं प्रभा' मिली, और उसने समुद्र तट तक पहुँचा दिया, यथा—"नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥" (२) समुद्र तट पर शोच करते थे कि सम्पाती मिला और उसने राम-कार्य का संयोग लगा दिया, यथा—"जो नाँघै सत जोजन सागर···" (३) श्रीहनुमानजी मन में तर्क ही कर रहे थे कि श्रीविभीषणजी मिले और उनसे श्रीसीताजी के समीप पहुँचने का संयोग लग गया, यथा—"जुगुति बिभीषन सकल···" (४) फिर 'तरु पल्लव' में छिपकर विचार

करते ही थे कि रावण आया और फिर पीछे मुद्रिका देने का संयोग लग गया। (५) वैसे ही यहाँ निशाचर मारने दौड़े, तब श्रीविभीषणजी आये, अब लंका-दाह का भी योग लगेगा।

नाइ सीस करि बिनय बहूता। नीति-बिरोध न मारिय दूता ॥७॥
आन दंड कछु करिय गुसाँई। सबही कहा मंत्र भल भाई ॥८॥

अर्थ—(उन्होंने) रावण को सिर नवाकर बहुत प्रार्थना की कि दूत को नहीं मारना चाहिये, क्योंकि यह (कर्म) नीति-विरुद्ध है ॥७॥ हे गोस्वामी ! कोई दूसरा (सामान्य) दण्ड दीजिये, यह सुनकर सभी राक्षसों ने कहा कि भाई ! यह मन्त्र (विचार) अच्छा है ॥८॥

विशेष—(१) 'नाइ सीस करि बिनय ··'—बड़ों के सामने सिर नवाकर बोलना शिष्टाचार है। 'बिनय बहूता'—बहुत विनय का स्वरूप वाल्मी० ५।५२ भर में विस्तार से बहुत सुन्दर रीति से कहा गया है, इसीसे यहाँ श्रीगोस्वामीजी ने इसका संकेत-मात्र कर दिया है।

सारांश यह है कि श्रीविभीषणजी ने पहले रावण की स्तुति की और उसे प्रसन्न करना चाहा, यह भी कहा कि दूत का वध नीति-शास्त्र से बहुत निषिद्ध है, पर रावण का रुख न पाकर फिर कहा कि यद्यपि यह आपका वैरी है, फिर भी दूत है। अतः, इसका दंड इसे न देकर इसके मालिक को दिया जाय। यह तो पराधीन है, इसके मारने से कोई लाभ नहीं। जब यह लौटकर जाय और अपने मालिक को लावे, तब युद्ध की प्रवृत्ति भी बढ़े जो कि आपके सुभट सब चाहते ही हैं। इसे मार देने पर न उन राजपुत्रों को इसका समाचार मिलेगा और न वे आ ही सकेंगे। अतः, आप इन शूर-वीर राक्षसों के उत्साह-कार्य में बाधा न करें, (इसपर सभी राक्षसों ने प्रसन्नता प्रगट की, अन्यथा वे कादर समझे जाते, रावण ने भी इस मत को मान लिया, अन्यथा वह भी डरपोक समझा जाता।) तब रावण ने भी कहा—हाँ, ठीक है, दूत का वध तो निन्दित है ही, यथा—"न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि। दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैस्सह ॥ यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः। यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ कुलीन कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः। यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥" (महा० शान्ति० ८।२६--२८)।

श्रीविभीषणजी ने खड़े-ही-खड़े विनती की, क्योंकि आने पर इनका बैठना नहीं कहा गया है, यथा—"अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता-चरन सीस तेहि नावा ॥ पुनि सिर नाइ बैठ निज आसन।" (दो० ३७), पर यहाँ ऐसा नहीं कहा गया। नहीं बैठने का कारण यह है कि वे एक महात्मा का दंड दिया जाना नहीं देखना चाहते थे। दूसरे सामान्य दंड की ओट से वध-दंड का निवारण कर वे वहाँ से चल दिये।

(२) 'आन दंड कछु···'—रावण ने दंड की आज्ञा दे दी है, वह सर्वथा भंग नहीं करना चाहिये, इसलिये और कोई दंड देने को कहा। 'कछु'—सामान्य, यथा—"वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्डयं तथा लक्षणसन्निपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान्वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति ॥" (वाल्मी० ५।५२।१५), अर्थात् अंगभंग कर देना, कोड़े लगवाना, भौं आदि मुँड़वा देना, मस्तक पर किसी गरम चीज से कोई चिह्न आदि बनवा देना, ऐसे ही दंड दूतों के लिये कहे गये हैं। दूत का वध तो हमने सुना भी नहीं है। (यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है,) 'गोसाईं'—भाव यह है कि आप पृथ्वी के राजा हैं और ऐसे बहुत प्रकार के दंड-विधान को जानते ही हैं, कोई और ही दंड दीजिये।

शंका—श्रीविभीषणजी ने दूसरे दण्ड का नाम क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—(क) श्रीहनुमानजी की प्राण-रक्षा के लिये अन्य दण्ड देने को कहा, पर दण्ड का

नाम नहीं लिया, नहीं तो उस पाप के संसर्गी होते। (ख) हरि की इच्छा से नहीं कहा, नहीं तो लंका-दहन की अपकीर्त्ति इन्हींके सिर मढ़ी जाती, सभी दोष देते कि इन्हींकी मन्त्रणा से हमारे घर जले।

'सबही कहा मंत्र भल भाई।'—ऊपर कहा गया कि ये सब यदि इस सलाह में 'हाँ' नहीं करते, तो कायर समझे जाते। पुनः नीति-शास्त्र की अनुकूलता तो थी ही।

सुनत बिहँसि बोला दसकंधर। अंग भंग करि पठइय बंदर ॥६॥

दोहा—कपि कै ममता पूँछ पर, सबहि कहउँ समुझाइ।
तेल बोरि पट बाँधि पुनि, पावक देहु लगाइ ॥२४॥

अर्थ—दशशीश रावण यह सुनकर हसकर बोला कि इस बन्दर का अंग-भंग करके इसे भेजो ॥६॥ (फिर स्वयं) सबको समझाकर कहा कि पूँछ पर वानर की ममता होती है। अतः, तेल में कपड़ा डुबाकर उसे इसकी पूँछ में बाँध दो और उसमें आग लगा दो ॥२४॥

विशेष—(१) 'सुनत बिहँसि बोला···'—श्रीविभीषणजी की विनय और नीति पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की, इसलिये हँसा। पुनः अभी पूँछ जलाने की आज्ञा देना चाहता है, इसलिये उस कौतुक को स्मरण कर खूब हँसा। इसने पहले स्वयं भी कहा था कि "मारेसि जनि सुत बाँधेसि ताही। देखिय कपिहि कहाँ कर आही॥" भाव यह है कि इसे जिसने भेजा है, इसका बदला उसीसे चुकाऊँगा। वही संयोग बन गया, जली पूँछ लेकर यह वानर जायगा, तो अवश्य अपने स्वामी को ले आवेगा, और तब युद्ध का आनन्द मिलेगा, यह भाव प्रकट करने के लिये भी खूब हँसकर कहा।

'अंग भंग करि···'—भाव यह कि "देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), इनमें प्राण-भंग नीति-विरुद्ध है, तो देह ही का कोई अंग विकृत कर दें, यह आज्ञा दी। फिर स्वयं अंग और उसके भंग करने की युक्ति भी कहता है।

(२) 'कपि कै ममता पूँछ पर···', यथा—"लेत पग धूरि एक चूमत लंगूल हैं।" (क० सुं० ३०), "कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्।" (वाल्मी० ५।५३।३)। सबसे समझाकर कहा कि पहले सूखा कपड़ा बाँध देने से तेल के द्वारा भिगोने पर तेल ऊपर ही रह जायगा, उससे पूँछ न जलेगी, इसलिये पहले ही वस्त्र तेल में भिगो-भिगोकर लपेटो। तब आग लगा दो, जिससे पूँछ अवश्य जले।

पूँछ-हीन बानर तहँ जाइहि। तब सठ निज नाथहि लइ आइहि ॥१॥
जिन्हकै कीन्हिसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई ॥२॥
बचन सुनत कपि मन मुसुकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना ॥३॥

अर्थ—वानर जब पूँछ हीन होकर वहाँ जायगा, तब यह शठ वहाँ से अपने स्वामी को लेकर आयेगा ॥१॥ जिनकी इसने बड़ी बड़ाई की है, उनकी मैं प्रभुता तो देखूँ ॥२॥ रावण के बचन सुनते ही श्रीहनुमानजी मन-ही-मन मुसकुराये कि शारदा (वाणी द्वारा) सहाय हुई, यह मैं समझ गया ॥३॥

विशेष—(१) 'पूँछ-हीन बानर तहँ जाइहि···'—पूँछ जल जाने से यह जायगा और अवश्य जली पूँछ अपने स्वामी को दिखावेगा कि रावण के यहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। तब उनको ले आवेगा, क्योंकि यह हमसे बदला लेने को कह भी चुका है, यथा—"तेहि पर बाँधेउ तनय तुम्हारा।" इसका एवं पुच्छ-हीनता का बदला यह स्वयं तो ले नहीं सकता। अपने स्वामी को अवश्य लेकर आवेगा। 'निज नाथहि', यथा—"कीन्ह चहेउँ निज प्रभु कर काजा।" (दो० २१), वैसे तो चाहे इसके स्वामी नहीं भी आते, यथा—"की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।" (दो० ५३), पर अब दण्ड मिलने पर यह उन्हें किसी प्रकार अवश्य लायेगा।

(२) 'जिन्हकै कीन्हिसि बहुत बड़ाई···'—पहले कहा था—'निज नाथहि लइ आइहि' इनके निज नाथ सुग्रीवजी भी है, इसलिये स्पष्ट कह दिया कि इसने जिनकी बड़ी बड़ाई की है, यथा—"जाके बल बिरंचि हरि ईसा।···" इत्यादि को रावण सत्य तो नहीं मानता, पर इसे झूठ भी नहीं कह सकता, जैसे शुक-सारन से कहा है, यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।···" इत्यादि, क्योंकि साथ ही में—"हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप-दल मद गंजा॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बल साली॥" आदि बातें प्रत्यक्ष सत्य हैं, इससे झूठा भी नहीं कह सका। अतएव 'बहुत बड़ाई' कहकर उसे टाल दिया। रावण श्रीरामजी का नाम नहीं लेता, क्योंकि उन्हें यह शत्रु मानता है, यथा—"जिन्हके बल कर गर्ब तोहि, ऐसे मनुज···" (लं० दो० ३०)।

(३) 'भइ सहाय सारद मैं जाना।'—जबसे श्रीजानकीजी ने विरहाग्नि से व्याकुल होकर अपने जल जाने के लिये अग्नि माँगी थी, तभीसे श्रीहनुमानजी की इच्छा हो आई थी कि मैं अग्नि से लंका-दाह करूँगा। श्रीशारदाजी ने रावण की वाणी पर बैठकर उसका योग लगा दिया। अतः, ये मन-ही-मन प्रसन्न हुए, उसे प्रकट नहीं होने दिया, नहीं तो राक्षस लोग ताड़ जाते, फिर सम्भव था कि वे ऐसा न करते। अथवा राक्षसों की मूर्खता पर मुस्कुराये, यथा—"जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥" आगे कहते हैं, जब रावण के वचन माननेवाले भी मूढ़ हैं, तब वह स्वयं तो मूढ़ है ही, नहीं तो पूँछ-हीन तलवार से भी कर सकता था, पर वह दुष्ट जलाकर तलफने का कौतुक देखना चाहता था।

रावण ने कहा था—'देखिय कपिहि कहाँ कर आही।' और यह भी—"देखउँ मै तिन्हकै प्रभुताई।" उसपर श्रीहनुमानजी ने सोचा कि हमारी प्रभुता देख ले, तब पीछे स्वामी की भी देखेगा। इसपर भी मुस्कुराये।

जातुधान सुनि रावन-बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना॥४॥
रहा न नगर बसन - घृत - तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला॥५॥

अर्थ—मूर्ख राक्षस गण रावण के वचन सुनकर वही रचना रचने लगे॥४॥ नगर में वस्त्र, घी और तेल—कुछ नहीं रह गया। कपि श्रीहनुमानजी ने खेल किया, जिसमें पूँछ बढ़ गई॥५॥

विशेष—(१) 'रावन-बचना'—रावण नाम का यह भी अर्थ है कि जो सबको रुलावे। वही बात इसके इस वचन से होगी, सबके घर जलेंगे और सभी रोवेंगे। 'मूढ़'—क्योंकि सभी अपने ही हाथों अपनी हानि का उपाय रच रहे हैं। यह नहीं विचारते कि जलते हुए पूँछ को यदि वानर इधर-उधर फिरा कर भी पटकेगा, तो नगर भस्मसात् हो जायगा।

(२) 'रहा न नगर बसन-घृत···'—रावण ने केवल तेल ही कहा था, पर राक्षसों को श्रीहनुमानजी को दण्ड देने में उत्साह बहुत है, क्योंकि इन्होंने सबके भाई-बन्धुओं को मारा है। इसलिये वे लोग तेल चुक जाने पर घी लाने लगे और फिर उसकी भी इतिश्री हो गई। जैसे-जैसे घी-तेल और वस्त्र आते गये, श्रीहनुमानजी अपनी पूँछ बढ़ाते गये। जब नगर-भर में घी, तेल इत्यादि नहीं रह गये, तब लोगों ने हारकर छोड़ दिया।

यह कैसे सम्भव है कि नगर-भर में घी, तेल और वस्त्र नहीं रह गये? श्रीगोस्वामीजी ने ही इसका उत्तर लिखा है, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।" श्रीहनुमानजी का पूँछ बढ़ाना और खेल करना सामान्य बात तो नहीं है—यह श्रीहनुमानजी की पूँछ की महिमा है।

शंका—तब क्या सभी लंका-निवासी नग्न हो गये?

समाधान—इस कार्य के योग्य केवल पुराने वस्त्र ही दिये गये, यथा—"तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसाः कोपकर्कशाः। वेष्टन्ते तस्य लाङ्गूलं जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः॥ सम्वेष्ट्यमाने लाङ्गूले व्यवर्धत महाकपिः।' (वाल्मी० ५।५३।६-७), नगर-भर से 'वसन घृत तेल' आये, इसीसे सबके घर जलाये गये। श्रीविभीषणजी

के यहाँ से नहीं आये, अतएव उनका घर नहीं जलाया गया, यथा—"जारा नगर निमिष यक माहीं। एक बिभीषन कर गृह नाहीं॥" (दो० २५)।

इस तरह भी अर्थ किया जाता है कि इस अर्द्धाली का सम्बन्ध उपर्युक्त 'बचन सुनत कपि मन मुसुकाना।' से है। बीच में यातुधानों की मूर्खता एक अर्द्धाली में कही गई, फिर वहींसे प्रसंग लिया गया कि श्रीहनुमानजी यही सोचकर मन में मुस्कुराये कि यहाँ न तो मेरा (किष्किन्धा, अयोध्या) नगर था और न मेरे पास वस्त्र, घी और तेल ही थे, [कि जिससे मैं नगर (लंका) जलाता, भले ही योग लग गया, इसी आनन्द के मारे] कपि श्रीहनुमानजी पूँछ बढ़ाते हुए खेल करने लगे।

कौतुक कहँ आये पुरबासी। मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी॥६॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी। नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी॥७॥

अर्थ—कौतुक देखने के लिये नगरवासी दौड़े आये। वे श्रीहनुमानजी को लात से मारते और बहुत हँसी करते हैं॥६॥ ढोल बजाते और सब राक्षस तालियाँ देते हैं। सारे लंका नगर में इनको चारो ओर फिराकर तब इनकी पूँछ में आग लगा दी॥७॥

विशेष—'कौतुक कहँ आये···'—लात मारना, हँसी उड़ाना और ताली देना यही कौतुक है। पहले भी—"कौतुक लागि सभा सब आये।" कहा गया था। जब घर-घर से तेल-घी की उगाही होने लगी और जब सबने जाना कि इससे उस वानर की पूँछ जलाई जायगी, यह बड़ा कौतुक होगा, तब छोटे-बड़े सभी आये। रावण की आज्ञा लात मारने और हँसी उड़ाने की नहीं कही गई है। यह पुरजनों का अपराध है, अतएव इसी दोष से इनके घर जलेंगे। 'करहिं बहु हाँसी'—जब लात मारते हैं, तब श्रीहनुमानजी शरीर ढीला करके डर जाते हैं, तब सभी हँसते है, यथा—"तैसो कपि कौतुकी डेरात ढीलो गात कै कै, लात के अघात सहै जीमें कहै कूर हैं॥" (क० सुं० ३)।

(२) 'पूँछ प्रजारी'—'प्रजारी' का अर्थ प्रकर्ष करके जलाना है, अर्थात् बहुत जगह आग लगाई कि जिससे किसी तरह हाथों से अग्नि बुझा न ले, यथा—"बालधी बढ़न लागी ठौर ठौर दीन्ही आगी बिध को दवारि, कैधौं कोटि सत सूर है।" (क० सुं० ३), "लाइ लाइ आगि भागे बाल जाल जहाँ तहाँ ··" (क० सुं० ४), 'बाजहि ढोल···'—श्रीहनुमानजी के इस कौतुक को नगरवासी वानर का तमाशा मानकर हँसी करते हैं और तालियाँ देते हैं। ढोल बजा-बजाकर पुकारते चलते हैं कि यह वही वानर है, जिसने वन को उजाड़ा और राक्षसों को मारा है। अब इसे दण्ड दिया जाता है। बाँधकर नगर में फिराना भी दण्ड ही है, यथा—"सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँपास फिराये॥ बहु प्रकार मारन कपि लागे।" (दो० ५१)।

राक्षसों के प्रतिकार में उसी भाँति ही श्रीहनुमानजी ने भी किया है—

राक्षसगण		श्रीहनुमानजी
कौतुक कहँ आये पुरबासी	१	बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।
मारहि चरन	२	'जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं'—(क० सुं० ७)
करहिं बहु हाँसी	३	अट्टहास करि
बाजहिं ढोल	४	गर्जा
सबकी ममता घरों में	५	कपि कै ममता पूँछ पर।
नगर फेरि (प्रदक्षिणा कराई)	६	नगर जला कर सबको चारो ओर दौड़ाया।
पूँछ प्रजारी	७	घर-घर में आग लगाई।
कपि बंधन सुनि निसिचर धाये	८	मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई।

पावक जरत देखि हनुमंता। भयउ परम लघु रूप तुरंता ॥८॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी। भईं सभीत निसाचर-नारी ॥९॥

दोहा—हरि-प्रेरित तेहि अवसर, चले मरुत उनचास।
अट्टहास करि गर्जा, कपि चढ़ि लाग अकास ॥२५॥

अर्थ—आग जलती हुई देखकर श्रीहनुमानजी शीघ्र परम छोटे रूप हो गये, (पूँछ के अतिरिक्त और अंगों को छोटा कर लिया, पूँछ छोटा करते तो कपड़ा निकल जाता, जो लपेटा हुआ था) ॥८॥ (बँधे हुए अंगों को छोटा करके) कपि श्रीहनुमानजी बन्धन से निकलकर उसकी सोने की अटारी पर चढ़ गये, यह देखकर निशाचरों की स्त्रियाँ बहुत डर गईं ॥९॥ भगवान् की प्रेरणा से उसी समय उनचासो पवन चलने लगे। श्रीहनुमानजी अट्टहास करके गरजे (खिलखिलाकर हँसे और उच्च स्वर से गरजे) और फिर बढ़कर आकाश से जा लगे ॥२५॥

विशेष—(१) 'पावक जरत देखि'' '—श्रीहनुमानजी ने देख लिया कि अब अच्छी तरह आग जलने लगी। कूद-फाँद से भी नहीं बुझेगी। तब शीघ्र ही अत्यन्त छोटे रूप हो गये, इससे बन्धन स्वयं ढीला पड़ गया और ये बन्धन से निकल गये, बन्धन को तोड़ा नहीं, यथा—"ह्रस्वतां परमां प्राप्तो बन्धनान्यवशातयत्। विमुक्तश्चाभवच्छ्रीमान्पुनः पर्वतसन्निभः ॥" (वाल्मी० ५।५३।३८), अर्थात् हनुमान बहुत शीघ्र ही अत्यन्त छोटे हो गये और उन्होंने बन्धनों को दूर हटा दिया, फिर वे पर्वताकार हो गये। स्वयं निबुक कर निकल आने से उपर्युक्त—"प्रभु कारज लगि कपिहिं बँधावा।" का चरितार्थ हुआ। 'कनक अटारी' अर्थात् रावण का अन्तःपुर, यथा—"कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो।" (क० सु० ४), रावण ने ही पहले पूँछ जलाने की आज्ञा दी थी, इसीसे पहले उसीके महल पर जा चढ़े और रावण ने ही निशाचरियों के द्वारा श्रीजानकीजी को डरवाने का प्रबन्ध किया था, इसीसे पहले उसकी ही रानियों को डरवाया, यथा—"भईं सभीत निसाचर नारी" ये स्त्रियाँ अटारी पर चढ़कर वानर का तमाशा देख रही थीं, इसीसे इन्हींका पहले डराया जाना लिखा गया है, यथा—"रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहि, सकैं ना बिलोकि बेष केसरीकुमार को। मींजि-मींजि हाथ, धुनै माथ दसमाथ तिय," (क० सु० १२), वाल्मी० ५।५४।२६-२७ में इन स्त्रियों का डरकर एवं आग में जलती हुई छतों से नीचे गिरना भी लिखा है।

त्रिकूटाचल स्वतः बहुत ऊँचा है, और उसपर बड़ी ऊँची लंकापुरी बसी हुई है। उनमें भी रावण का भवन अत्यन्त ऊँचा है, उसके भी ऊँचे कँगूरे पर श्रीहनुमानजी जा चढ़े और फिर बढ़कर आकाश से लग गये, यथा—"कपि बढ़ि लाग अकास"। फिर पूँछ को बुझाने के लिये फिराने से सारा आकाश अग्निमय हो गया, यथा—"बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं, लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है। कैधौं ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु, बीर रस बीर तरवारि सो उघारी है॥ तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी कलाप, कैधौं चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है। देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं, 'कानन उजाख्यो अब नगर प्रजारी है'॥" (क० सु० ५)।

(२) 'हरि प्रेरित तेहि अवसर'''—हरि के अर्थ इन्द्र आदि भी होते हैं, पर यहाँ उसका मुख्य अर्थ भगवान् ही संगत है, क्योंकि वायु के शासनकर्त्ता वे ही हैं, यथा—"भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।" (कठ० २।६।४), 'मरुत उनचास'—ये कश्यप और अदिति के पुत्र हैं, इन्द्र ने एक ही गर्भ के

प्रथम सात खण्ड किये, फिर एक एक के भी सात-सात खण्ड किये। इसीसे वे उनचास मरुत हुए, ये उनचासो पवन इन्द्र के सहायक और वैमात्रिक भाई हैं, यथा—"श्वसनेन च संयोगादतिवेगो महाबलः। कालाग्निरिव जज्वाल प्रावर्धत हुताशनः॥" (वाल्मी० ५।५४।२१), अर्थात् वायु के संयोग से अतिवेगवान एवं महाबली अग्नि कालाग्नि के समान प्रज्वलित हो बढ़ने लगा।

(३) 'अट्टहास करि गर्जा—पहले श्रीहनुमानजी ने शारदा की करनी पर मुस्कुरा दिया था, अब उनचासों मरुत की सहायता देखकर अट्टहास किया कि काम अच्छा बना। राक्षसों के प्रति भी जोर से हँसे कि तुमलोग मुझे हँसे थे, आग लगाई थी और कौतुक देखा था, वैसे मैं तुम्हें हँसता हूँ, आग लगाता हूँ और तुम्हारे कौतुक देखता हूँ। 'कपि बढ़ि लाग अकास'—पहले पूँछ ही बढ़ाई थी, यथा—"बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला" और अब इन्होंने शरीर भी उसी भाँति भारी कर लिया कि जिसमें राक्षस भयभीत हो समीप नहीं आवें।

अलंकार—'समाधि', क्योंकि उनचासो पवनों के सहयोग से कार्य सुगमता से हो गया।

देह बिसाल परम हरुआई। मंदिर ते मंदिर चढ़ धाई॥१॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला। झपट-लपट बहु कोटि कराला॥२॥
तात मातु हा सुनिय पुकारा। येहि अवसर को हमहिं उबारा॥३॥

अर्थ—शरीर विशाल (भारी) है और उसमें परम हलकापन हो गया है, इसीसे एक मन्दिर से दूसरे पर दौड़कर चढ़ जाते हैं॥१॥ नगर जलने लगा है, लोग व्याकुल हो गये, करोड़ों बहुत भयंकर लपटें झपट रही हैं॥२॥ हा तात! हा माता! इस समय हमको कौन बचानेवाला है, यही पुकार (चारो ओर से) सुनी जाती है॥३॥

विशेष—(१) 'देह बिसाल परम हरुआई'—जितना अत्यन्त विशाल शरीर है, उतना ही वह परम हलका भी है, वृद्धि की अवधि और साथ ही हलकापन की भी सीमा है। इसीलिये एक से दूसरे पर शीघ्र दौड़-दौड़कर चले जाते हैं। कपि सर्वत्र दौड़ते जाते हैं, और आग स्वयं लगती जाती है, पूँछ से जलता हुआ तेल टपकता जाता है, घर (मणि-स्वर्ण के भी) जलते जाते हैं। 'धाई'—का भाव यह कि श्रीहनुमानजी ने बड़ी तेजी से दौड़-दौड़कर निमिष मात्र में लंका भर को जलाया, यथा—"जारा नगर निमिषि एक माहीं॥" यह आगे कहा है। 'चढ़ धाई'—पहले रावण के भवन में आग लगा दी, फिर कूदकर बाहर के आवरण से जलाने लगे। एक आवरण चारो ओर जलाकर तब भीतर की ओर दूसरे आवरण मे बढ़ते हैं, वे आवरण उत्तरोत्तर ऊँचे हैं, इसीसे 'चढ़ धाई' कहा है, यदि ऊँचे न होते, तो 'चलि जाई' कहते।

(२) 'जरइ नगर भा लोग···'—यहाँ आदि में 'जरइ नगर' और अन्त में 'झपट-लपट···' कहा है और मध्य में 'भा लोग बिहाला' कहकर सूचित किया गया है कि सब लोग अग्नि से घिरे हुए हैं, निकल नहीं पाते। 'भा लोग' में 'भा' एकवचन है, इससे सभी को एक प्रकार से व्याकुल होना सूचित किया गया है। उनचासो पवन चल पड़े हैं, इसीसे बहुत-सी झपट-लपट का उठना कहा गया है। 'कराला' से अग्नि को अप्राकृत भी सूचित किया गया है, यथा—"जुग षट भानु देखे प्रलय कृसानु देखे, सेष मुख अनल बिलोके बार-बार है। तुलसी सुन्यो न कान सलिल सर्पी समान, अति अचरज कियो केसरी कुमार है॥" (क० सु० २०), अर्थात् इस अग्नि मे जल के पड़ने से घी पड़ने की तरह यह और भी प्रज्वलित होती है, तथा—"वज्रविद्रुमवैदूर्यमुक्ताकारजतसंहतान्॥ विचित्रान्भवनाद्धातून्स्यन्दमानान्ददर्श सः।" (वाल्मी० ५।४५।२७-२८), अर्थात् हीरे, विद्रुम, वैदुर्य, मुक्ता और चाँदी आदि से बने हुए विचित्र घरों की धातुएँ पिघल रही हैं, यह देखा।

(३) 'तात मातु हा सुनिय पुकारा ।', यथा—"हा तात हा पुत्रक कान्त मित्र हा जीवितेशाङ्ग हतं सुपुण्यम् । रक्षोभिरेवं बहुधा ब्रुवद्भिः शब्दः कृतो घोरतर सुभीतः ॥" (वाल्मी० ५।५४।४०) 'तात मात हा'—'हा अत्यंत' कष्टसूचक है । यहाँ इसका यह भी भाव है कि इस विपत्ति के समय जो रक्षा करे, वही 'तात-माता' है । यहाँ लड़कों की पुकार है । 'तात' शब्द पिता-पुत्र, भाई, मित्र आदि सभीका बोधक है । कहा भी है—"धीय को न माय बाप पूत न सँभारहीं ।" (क० सुं० १५) । 'को···उबारा'—का भाव यह कि जिसे पुकारते है, वह स्वयं आपत्ति में पड़ा है, कोई किसीका रक्षक नहीं है ।

हम जो कहा यह कपि नहिं होई । बानर-रूप धरे सुर कोई ॥४॥
साधु - अवज्ञा कर फल ऐसा । जरइ नगर अनाथ कर जैसा ॥५॥
जारा नगर निमिष एक माहीं । एक बिभीषन कर गृह नाहीं ॥६॥
ता कर दूत अनल जेहि सिरिजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ॥७॥

अर्थ—हमने जो कहा था कि यह (प्राकृत) वानर नहीं है, प्रत्युत कोई देवता वानर-रूप धारण किये हुए है (वही यथार्थ हुआ) ॥४॥ साधु की अवहेलना का ऐसा फल हो रहा है कि यह नगर अनाथ (के नगर) का-सा जल रहा है (अर्थात् लंका-नाथ रावण के रहते हुए भी नगर की रक्षा नहीं हो रही है) ॥५॥ सारे नगर को एक निमेष मात्र में जला डाला, एक श्रीविभीषणजी का ही घर उसने नहीं जलाया ॥६॥ हे गिरिजे ! जिसने अग्नि को पैदा किया है, श्रीहनुमानजी उसीके दूत हैं, इसी कारण से वे (श्रीहनुमानजी) नहीं जले ॥७॥

विशेष—(१) 'हम जो कहा यह कपि'''—क्योंकि वानरों में ऐसा पराक्रम होना असम्भव है । रावण को देवताओं से वैर है ही, यथा—"हमरे बैरी बिबुध बरूथा ।" (बा० दो० १८०) । अतः, यह अनुमान भी ठीक ही है । वाल्मी० ५।५४।३५-३७ में राक्षस लोगों का सामूहिक अनुमान है कि यह इन्द्र, यम, वरुण, वायु, रुद्र, अग्नि, सूर्य, कुबेर, चन्द्रमा या काल है । वा ब्रह्मा का कोप एवं विष्णु का तेज वानर रूप में आया है—ये बातें यहाँ आ गई है । समुदाय के वचन 'हम' इस बहुवचन में हैं । ऐसा ही अनुमान मन्दोदरी का भी जान पड़ता है, यथा—"निपट निडर देखि काहू न लख्यो बिसेषि दीन्हों न छुड़ाइ कहि कुल के कुठार सों ॥'' ''तुलसी मँदोवै रोइ-रोइ कै बिगोवै आपु बार-बार कहाँ मैं पुकारि दाढ़ीजार सों ॥" (क० सुं० ११), 'साधु-अवज्ञा'—श्रीहनुमानजी साधु हैं, इन्होंने साधु-भाव से ही रावण से सभा मे बातें की है । इन्हें बाँधना, लात मारना, पूँछ में आग लगाना—इनकी अवज्ञा करना है । 'अनाथ कर जैसा'—सबके समान जलते है, कोई रक्षक नहीं । रक्षा के लिये 'तात-मातु' की पुकार निष्फल होती है । मानों किसीका कोई रक्षक है ही नहीं, यथा—"कंत बीस लोचन बिलोकिये कुमंत्र फल, ख्याल लंका लाई कपि रौंड़ की-सी झोंपरी ॥" (क० लं० २७) ।

(२) 'निमिष एक माहीं'—जलाने में अत्यन्त शीघ्रता की, जब तक लंका-भर को जला नहीं डाला, तबतक पलक न मारी । अथवा, निमिष शब्द अल्पकाल का द्योतक है और ऐसा मुहावरा भी है । साधु अवज्ञा का फल अति शीघ्र ही मिलता है, यथा—"साधु अवज्ञा तुरत भवानी । कर कल्यान अखिल कै हानी ॥" (दो० ४१) ।

(३) 'एक बिभीषन कर गृह नाहीं ।'—श्रीहनुमानजी विभीषण का घर जानते हैं, क्योंकि उनसे पहले ही संवाद हो चुका है । और, उन्होंने साधु-अवज्ञा भी नहीं की है, इससे उनका घर नहीं जला । अवज्ञा के परिणाम में सोने के घर भी जल गये और साधु विभीषणजी के समीप के सब घर जल गये, पर उनका घर न जला ।

(४) 'ता कर दूत अनल ···'—अग्नि भगवान् के मुख से उत्पन्न हुआ है, यथा—"मुखादग्निरजायत।" (पुरुषसूक्त), तथा—"आनन अनल अंबुपति जीहा।" (लं० दो० १४), "हेतु कृसानु भानु हिमकर को।" (बा० दो० १८), 'गिरिजा'—गिरिजा को सन्देह हुआ कि श्रीहनुमानजी स्वयं कैसे बच गये—यह उसीका उत्तर है। इसमें ध्वनि से यह भी जनाया कि अग्नि तो उनके लिये तुम्हारे पिता हिमाचल के समान शीतल हो गया, यथा—"दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्। शिशिरस्येव सम्पातो लाङ्गूलाग्रे प्रतिष्ठितः॥···सीतायाश्चानृशंस्येन तेजसा राघवस्य च। पितुश्च मम सख्येन न मां दहति पावकः॥" (वाल्मी० ५।५३।३०-३३), अर्थात् ज्वाला दीखती है, पर मुझे कुछ कष्ट नहीं, प्रत्युत जाड़े की आग के समान प्रिय लग रही है। राम-प्रभाव से समुद्र में मैनाक प्रकट हो विश्राम देता था, समुद्र और मैनाक की भाँति अग्नि को भी तो राम-कार्य की चिन्ता है। श्रीसीताजी की दया से, श्रीरामजी के तेज से और मेरे पिता की मैत्री से अग्नि मुझे नहीं जला रहा है। "गोपद सिंधु अनल सितलाई।" (दो० ४), कहा ही है। 'ता कर दूत ···' इसमें श्रीरामजी का प्रभाव और 'साधु अवज्ञा कर फल ···' में श्रीहनुमानजी का प्रभाव है।

उलटि पलटि लंका सब जारी। कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी॥८॥

दोहा—पूँछ बुझाइ खोइ श्रम, धरि लघु रूप बहोरि।
जनक-सुता के आगे, ठाढ़ भयउ कर जोरि॥२६॥

अर्थ—उलट-पलटकर सारी लंका जलाकर के तब (श्रीहनुमानजी) सागर में कूद पड़े॥८॥ पूँछ बुझाकर तथा थकावट दूर करके और फिर छोटा रूप धारण करके श्रीजानकीजी के आगे आ हाथ जोड़कर खड़े हुए॥२६॥

विशेष—(१) 'उलटि पलटि'—एक बार ओर से छोर तक जला गये, फिर उधर से उलट पड़े और इस छोर तक दुबारा जलाते हुए आये। पुनः इधर से पलटे और उस छोर तक तिबारा जलाते हुए चले गये। इस तरह सभी जगहों में तीन बार आग लगाई, यथा—"जारत प्रचारि फेरि-फेरि सो निसंक लंक" (क० सुं० २२)।

'कूदि परा पुनि ···'—पूँछ बुझाने और थकावट दूर करने के लिये समुद्र में कूद पड़े, यथा—"पूँछ बुझाइ खोइ श्रम···" आगे कहा ही है। समुद्र ने कहा भी था, यथा—"तैं मैनाक होहि श्रम हारी।" उसी-की यहाँ पूर्त्ति की और स्नान करने से श्रम दूर होता ही है। श्रम यह कि सौ योजन का समुद्र लाँघा, राक्षसों से युद्ध और लंका-दहन किया। 'मँझारी' = बीच मे।

पुनः इस लंका-दहन को श्रीगोस्वामीजी ने यज्ञ का रूप भी कहा है, यथा—"तुलसी समिधि सौंज लंक-जज्ञकुंड लखि, जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं। स्रुवा सो लंगूल बलमूल, प्रतिकूल हवि, स्वाहा महा हाँकि हाँकि हुनै हनुमान हैं॥" (क० सुं० ७), यह यज्ञ है। "हाट बाट हाटक पघिलि चल्यो घी सो घनो कनक कराही लंक तलफत ताय सों। नाना पकवान जातुधान बलवान सब पागि पागि ढेर कीन्ही भली भाँति भाय सों॥ पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो हनुमान सनमान कै जेवायो चित चाय सों। (यह भोजन) तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारि कहैं बावरे सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों॥" (क० सुं० २४);—यह गारी का गान है। और 'कूदि परा पुनि सिंधु मँझारी।' यह अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान है।

(२) 'पूँछ बुझाइ खोइ श्रम···'—पूँछ बुझाने और श्रम निवारण करने के साथ ही लघुरूप का धारण करना कहा गया। इससे जाना गया कि श्रीहनुमानजी ने समुद्र के तट पर ही लघु रूप भी धारण

कर लिया, तब श्रीजानकीजी के पास आये, मानो फल खाने की आज्ञा लेकर गये थे, अब खाकर आ गये। अपना पुरुषार्थ कुछ भी न कहा, क्योंकि शूर-वीर अपने मुख से अपनी करनी नहीं कहते। ये तो अभिमान रहित हैं, इसीसे लौटकर इन्होंने प्रणाम तक भी न किया कि जिससे कुछ करके आना समझा जाता। केवल दीन भाव से हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

यहाँ पर पं० रामकुमारजी ने दो आवृत्तियाँ लिखी हैं। इस प्रसंग में श्रीहनुमानजी की सेवा पाँचो तत्त्वों ने की—

(१) पवन—'हरि प्रेरित तेहि···चले मरुत उनचास।' इनसे अग्नि बढ़ा।
(२) आकाश—'अट्टहास करि गर्जा···'—अवकाश देकर शब्द बढ़ाया।
(३) पृथ्वी—'देह बिसाल परम हरुआई।'—इनकी देह में गुरुता नहीं रही।
(४) अग्नि—'ता कर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो···'—इन्हें जलाया नहीं।
(५) जल—'कूदि परा पुनि सिंधु···पूँछ बुझाइ खोइ श्रम'। पूँछ बुझाई और श्रम दूर किया।

—यह प्रथमावृत्ति है।

श्रीहनुमानजी को आठों सिद्धियाँ प्राप्त हैं—

(१) अणिमा (छोटा हो जाना)—भयउ परम लघु रूप तुरंता।
(२) महिमा (बड़ा होना)—कपि बढ़ि लाग अकास।
(३) गरिमा (भारी होना)—जेहि गिरि चरन देइ···चलेउ सो गा··।
(४) लघिमा (हलकापन)—देह बिसाल परम हरुआई।
(५) प्राप्ति (अलभ्य लाभ)—पावक जरत देखि···। अग्नि वहाँ अलभ्य था, वह प्राप्त हुआ।
(६) प्राकाम्य (कामना पूर्त्ति)—उलटि पलटि लंका सब जारी। जलाने की कामना पूरी हुई।
(७) ईशित्व (शासन सामर्थ्य)—देखि प्रताप न कपि मन संका, यथा—"जो मैं प्रभु आयसु लै चलतो। तौ येहि रिस तोहि सहित दसानन जातुधान दल दलतो॥" (गी० सुं १३)।
(८) वशित्व—पाँचो तत्त्वों को वश मे करना, ऊपर कहा गया।

—यह द्वितीयावृत्ति है।

यहाँ तक पुर-दहन प्रसंग है, आगे—'लाँघेउ बहुरि पयोधी' प्रसंग है।

मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा। जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा॥१॥
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ। हरष-समेत पवनसुत लयऊ॥२॥
कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा॥३॥
दीन-दयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥४॥

अर्थ—(श्रीहनुमानजी ने कहा—) हे माता! मुझे कुछ ऐसा चिह्न दीजिये, जैसे मुझे श्रीरघुनाथजी ने दिया था। (इस तरह से विदा होने की इच्छा भी प्रकट की)॥१॥ तब (श्रीजानकीजी ने) चूड़ामणि (सिर से) उतार कर दिया। उसे श्रीहनुमानजी ने हर्ष के साथ लिया॥२॥ हे तात! इस प्रकार मेरा प्रणाम कहना (प्रणाम की मुद्रा करके बतलाया) प्रभु श्रीरामजी सब प्रकार से पूर्णकाम हैं। (अर्थात् मेरे बिना आपको कोई कमी नहीं है, पर)॥३॥ आपका दीन दयालु बाना है, उसका स्मरण करके हे नाथ! आप मुझ दीन के भारी संकट को दूर करें॥४॥

विशेष—(१) 'मातु मोहि दीजे कछु चीन्हा।'—चिह्न ही माँगा, पर आज्ञा नहीं माँगी कि कहीं प्रेमवश जाने न दें, तो असमंजस में पड़ूँगा। ये तो विरह में व्याकुल हैं, समझाने से भी शीघ्र न समझेंगी, और बिना शीघ्र वहाँ गये काम भी नहीं बनेगा, इसीलिये जाना अपने अधीन रक्खा। आगे श्रीसीताजी ने दीन होकर वैसा कहा भी है, यथा—"कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना। तुम्हहूँ तात कहत अब

जाना ॥ तोहि देखि सीतलि भइ छाती । पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥" 'कछु'—क्योंकि श्रीजानकी-जी दीनदशा में हैं, उनके पास विशेष कुछ नहीं है । 'जैसे रघुनायक···'—श्रीरामजी ने आपके विश्वास के लिये मुद्रिका दी थी, वैसे उनके विश्वास के योग्य आप भी कुछ दें ।

(२) 'चूड़ामनि उतारि···'—चूड़ामणि शिरोभूषण है, यह समुद्र से उत्पन्न है, और देवताओं द्वारा प्रशंसित है । यज्ञ में प्रसन्न होकर इन्द्र ने इसे जनक महाराज को दिया, उन्होंने विवाह में इन्हें दिया था । यह भूषण श्रीसीताजी सिर पर धारण करती थीं, इससे मणि की बड़ी शोभा होती थी । श्रीरामजी ने पाने पर कहा है कि मैंने इसे पाकर मानों श्रीसीताजी को ही पा लिया, इससे मुझे अपने पिता और श्वसुर का स्मरण हुआ—ऐसा वाल्मी० ५।६६।१-७ में कहा हुआ है । श्रीरामजी ने हाथ का भूषण देकर सूचित किया है कि मैं तुम्हें हाथ में ग्रहण किये हुए हूँ । श्रीजानकीजी ने सिर का भूषण देकर सूचित किया कि मैं अपना सिर आपके चरणों पर रक्खे हुई हूँ, जैसे हाथ का धर्म ग्रहण करना है, वैसे सिर का धर्म प्रणाम करना, यथा—"ते सिर कटु तुम्बरि सम तूला । जे न नमत हरि-गुरु-पदमूला ॥" (बा० दो० ११२), 'हरष समेत'—क्योंकि यह लोकोत्तर वस्तु है, और इसे पाकर श्रीरामजी प्रसन्न एवं उत्साहित होंगे और शीघ्र श्रीजानकीजी का दुःख निवारण करेंगे, यथा—"अथ मामब्रवीत्सीता गृह्यताम-यमुत्तमः । मणिर्वैन महाबाहू रामस्त्वां बहु मन्यते ॥" (वाल्मी० ५।५८।१०३), अर्थात् (हनुमानजी ने जाम्बवान् आदि से कहा है कि) सीताजी ने मुझसे कहा कि यह उत्तम मणि लो, इससे श्रीरामजी तुम्हें बहुत मानेंगे ।

(३) 'कहेहु तात अस···'—श्रीराम-लक्ष्मण का ध्यान करके प्रणाम मुद्रा से आतुरतापूर्वक कहा है, जो आगे स्पष्ट है, यथा—"अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । दीन बंधु प्रनतारति हरना ॥" (दो० ३०), 'प्रभु'—आप पूर्ण समर्थ हैं, सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं, कुछ दासी-परक कामनाओं से ही नहीं, फिर भी मैं आश्रित होती हुई भी दीनदशा में हूँ, यह उचित नहीं । 'पूरनकामा'—मेरा उद्धार करने में आपकी कोई स्वार्थसिद्धि नहीं, किन्तु आप अपने बाने की लाज रक्खें ।

(४) 'दीन-दयाल बिरद संभारी ।···', यथा—"जौ प्रभु दीन दयाल कहावा । आरत हरन बेद जस गावा ॥" (बा० दो० ५८), अर्थात् मेरी रक्षा से आपका 'दीन दयालु' नामक बाना स्थिर रहेगा, आपको यश होगा, अन्यथा यह बाना गिर जायगा । 'मम संकट भारी'—अर्थात् औरों की अपेक्षा मेरा संकट भारी है । अतः, इससे आपको बड़ा यश होगा । औरों के सामान्य संकट-हरण करने से आपको यश भी सामान्य ही हुआ है, यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ ! आयेउँ सरन । उपल केवट गीध सबरि संसृति समन, सोकश्रम सीव सुग्रीव आरति हरन ॥" (गी० सु० ४३) ।

यहाँ श्रीजानकीजी ने पहले चूड़ामणि को भेंट-रूप में दिया, यथा—'चूड़ामनि उतारि तब दयऊ ।' फिर पाँव पड़ना कहा, यथा—'कहेहु तात अस मोर प्रनामा ।' तब दुःख हरण करने की प्रार्थना की, यथा—'हरहु नाथ मम संकट भारी ।'—इत्यादि क्रम-सँभाल है ।

तात सक्रसुत कथा सुनायहु । बान-प्रताप प्रभुहि समुझायहु ॥५॥
मास दिवस महँ नाथ न आवा । तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा ॥६॥
कहु कपि केहि बिधि राखउँ प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ॥७॥
तोहि देखि सीतलि भइ छाती । पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती ॥८॥

अर्थ—हे तात ! तुम इन्द्र के पुत्र जयन्त की कथा सुनाना और (उसके द्वारा) बाण का प्रताप समर्थ स्वामी को समझाना ॥५॥ यदि महीने-भर में स्वामी नहीं आये, तो मुझे फिर जीती न पायेंगे

(क्योंकि महीने-भर में कहना न मानने पर रावण ने मेरे वध की प्रतिज्ञा की है, तब उनका आना व्यर्थ ही होगा। अथवा, उसकी दी हुई अवधि के प्रथम ही मैं प्राण छोड़ दूँगी,) ॥६॥ हे कपि! कहो, किस प्रकार मैं अपने प्राणों को रक्खूँ? हे तात! तुम भी तो अब जाने के लिये कहते हो, (भाव यह कि महीने के भीतर भी मैं कैसे प्राण रक्खूं?) क्योंकि तुम्हें देखकर मेरी छाती ठंढी हुई थी, अब फिर मुझे वही (दुःख के) दिन और वही (दुःख की) रातें (काटनी पड़ेंगी) ॥७-८॥

विशेष—(१) 'तात सक्रसुत कथा ···'—यह ऐकान्तिक रहस्य केवल श्रीसीतारामजी ही जानते है, इसीसे इसे संकेत रूप में कहती है कि जिससे श्रीहनुमानजी के यहाँ आने का उन्हें विश्वास हो। साथ ही अपने स्वामी के पुरुषार्थ का उद्दीपन भी कराती हैं कि मेरे प्रति थोड़े-से अपराध पर तो आपने देवराज के पुत्र की दुर्दशा कर डाली और अब तो मैं भारी संकट में पड़ी हूँ, क्यों नहीं इसका उद्योग करते? यथा—"मत्कृते काकमात्रेऽपि ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरस्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते॥" (वाल्मी० ५।३८।३९)। यह कथा अर० दो० १ में आ गई है। 'बान प्रताप'—उस कथा में बाण का प्रताप प्रकट है कि सींकबाण में कोई वैसी शक्ति भी नहीं होती, किन्तु उससे भी मारने पर जयन्त को तीनो लोको शरण न मिली। 'समुझायहु'—समझाना कहते हैं, क्योंकि श्रीहनुमानजी ने कहा है, यथा—"तुअ बियोग-संभव दारुन दुःख बिसरि गई महिमा सुबान की। नतु कह कहँ रघुपति सायक रवि तम बरूथ कहँ जातुधान की।" (गी० सुं० ११), 'सक्रसुत' का भाव यह है कि रावण के ब्रह्मकुल होने पर ध्यान न दें, शक्रसुत भी तो देवता ही था।

(२) 'मास दिवस महँ नाथ···'—मास के साथ-साथ दिवस शब्द देने का भाव यह है कि महीने की पूर्त्ति बीच मे पूर्णिमा एवं संक्रान्ति पर भी हो जाती है, सो बात नहीं है, दिन गिनकर तीस दिन के कहने का तात्पर्य है, वा, मास दिन, वर्ष दिन आदि मुहावरे हैं, एक मास एवं एक वर्ष के अर्थ में कहे जाते है, यथा—"जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज॥ ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते॥ (वाल्मी० ५।३८।६७)। 'तौ पुनि'—का भाव यह है कि एक बार अभी तुम जैसे मुझे जीवित पा गये, वैसे फिर मेरे स्वामी नहीं पावेंगे। 'आवा' और 'पावा' पद एकवचन है, अतएव हलका है, भाव यह कि एक मास पर यदि रावण ने मुझे मार डाला, तो आने पर स्वामी की हलकाई (अप्रतिष्ठा) होगी।

(३) 'केहि बिधि राखउँ प्राना'—श्रीजानकीजी प्राणों के रहने मे यहाँ तीन बाधाएँ कह रही है—(क) नाथ का वियोग, यथा—'मास दिवस महँ नाथ न आवा।' (ख) तुम्हारा बिछुड़न, यथा—'तुम्हहूँ तात कहत अब जाना।', तथा—"बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं।" (बा० दो० ४), "अदर्शनं च ते वीर भूयो मां दारयिष्यति।" (वाल्मी० ५।५६।६)। (ग) राक्षसों की दिन-रात की साँसति, यथा—'पुनि मो कहँ सोइ दिन सोइ राती।' इन तीनों बातों से बचने की कोई विधि नहीं है कि जिससे प्राणों की रक्षा हो सके।

(४) 'तोहि देखि सीतलि भइ छाती।'—श्रीरामजी के दर्शन बिना जो मेरी छाती जल रही थी, वह तुम्हें देखकर ठंढी हुई, यथा—"कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥" (उ० दो० १)—यह श्रीभरतजी ने हनुमानजी से कहा है। 'सोइ दिन सोइ राती', यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा।" (दो० ७), "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (दो० ११), तथा—"कहा कहौं, तात! देखे जात ज्यों बिहात दिन, बड़ी अवलंब ही सो चले तुम तोरि कै। तुलसी सनीर नैन, नेह सों सिथिल बैन, बिकल बिलोकि कपि कहत निहोरि कै॥" (क० सुं० २६)। भाव यह कि हमारा यह क्लेश भूलना नहीं, तुरत स्वामी को यहाँ लाना और यह भी ध्वनित करती है कि तुम्हारे दर्शन होने पर भी मेरा दुःख रह ही जाय, यह योग्य नहीं।

दोहा--जनकसुतहि समुझाइ करि, बहु बिधि धीरज दीन्ह ।
चरन-कमल सिर नाइ कपि, गवन राम पहिं कीन्ह ॥२७॥

चलत महाधुनि गर्जेसि भारी । गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर-नारी ॥१॥

अर्थ—श्रीजानकीजी को समझाकर उन्हें बहुत प्रकार से धैर्य दिया और फिर उनके चरण-कमलों में मस्तक नवाकर श्रीहनुमानजी श्रीरामजी के पास चले ॥२७॥ (श्रीहनुमानजी ने) चलते समय महाध्वनि से भारी गर्जन किया कि जिसे सुनकर निशाचरों की स्त्रियों के गर्भ गिर जायँ ॥१॥

विशेष—(१) 'जनकसुतहि समुझाइ···'—कपि के बिदा होने के समय श्रीजानकीजी अधिक व्याकुल हो गईं, इसीसे उन्हें समझाना पड़ा । श्रीजानकीजी अधीर हो गईं, यथा—"मास दिवस महँ कहु कपि केहि बिधि·· " अतएव 'बहु बिधि धीरज दीन्ह'—इसीसे श्रीगोस्वामीजी ने भी बहुत बार धैर्य का प्रयोग किया है । देखिये—'कह कपि हृदय धीर धरु माता' का प्रसंग भी, तथा—"तौ लौं मातु आपु नीके रहिबो । जौ लौं हौ ल्यावौं रघुबीरहि दिन द्वै और दुसह दुख सहिबो ॥ सोखि कै खेत कै बाँधि कै सेतु कै उतरिबो उदधि न बोहित चहिबो । ··" (गी० सुं० १४), तथा—"दिवस छ सात जात जानबे न, मातु धरु धीर···' (क० सुं० २७), इत्यादि पदों को पूरा पढ़ना चाहिये ।

श्रीहनुमानजी का प्रणाम करना तो कहा गया, परन्तु श्रीजानकीजी का आशिष देना नहीं, क्योंकि इनके बिदा होते समय वे शिथिल हो गईं, अतएव कुछ बोल न सकीं, मन-ही-मन आशिष दी, यथा—"कपि के चलत सिय को मन गहबरि आयो । पुलक सिथिल भयो सरीर नीर नयननन्हि छायो ।···कै प्रबोध मातु प्रीति सों असीस दीन्हीं ह्वै है तिहारोइ मन भायो ॥" (गी० सुं० १५) ।

(२) 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी ।· ·'—पहले भी 'महाधुनि' से गरजे थे, पर अब 'भारी' विशेषण और अधिक का द्योतक है । (क) इसीसे राक्षसियों के गर्भ गिरते हैं और आगे भी इसका स्मरण करने पर गिरते ही रहेंगे । इसीलिये 'गिरहि' वर्त्तमानकाल की क्रिया दी गई है और भविष्य का अभिप्राय भी गर्भित है । इसका भी प्रयोजन था । श्रीरामजी ने—'निसिचर हीन करउँ महि···' की प्रतिज्ञा की है । वे केवल संग्राम में आनेवालों को ही मारेंगे । जो अभी गर्भ में ही हैं, अथवा भविष्य में होंगे, जिससे वे भी न रहें, यथा—"समुझत जासु दूत कै करनी । गर्भ स्रवहि रजनीचर घरनी ॥" (दो० ३५) तभी वह प्रतिज्ञा यथार्थ निबहेगी । (ख) इस गर्जन से यह भी सूचित किया गया कि हम चुपचाप चोरी से नहीं जा रहे हैं, यदि लंका-दहन का बदला ले सकें, तो हम उपस्थित है । गर्जना दो० १७ चौ० ५ में लिखा गया है, तथा—"बचन बिनीत कहि सीता को प्रबोध करि, तुलसी त्रिकूट चढ़ि कहत डफोरि कै । जै जै जानकीस दससीस करि केसरी, कपीस कूद्यो बातघात बारिधि हलोरि कै ।" (क० सुं० २७) । (ग) श्रीहनुमानजी ने सभी कार्य गरज-गरज कर किये हैं, यथा—'तिन्हहि देखि गर्जेउ हनुमाना ।', 'ताहि निपाति महाधुनि गर्जा ।', 'कटकटाइ गर्जा अरु धावा ।', 'अट्टहास करि गर्जा ।' वैसे ही यहाँ भी 'चलत महाधुनि गर्जेसि भारी ।' कहा गया है । (घ) इस गर्जन से श्रीसीताजी का भय भी निवृत्त किया । उन्होंने कहा था—"पुनि मोकहँ सोइ दिन···" अब इस गर्जन से राक्षसी एवं राक्षस डर से इनके पास न आयँगे, यथा—"हनूमान अंगद रन गाजे । हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥" (लं० दो० ४५) ।

नाघि सिंधु एहि पारहि आवा । सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा ॥२॥
हरषे सब बिलोकि हनुमाना । नूतन जनम कपिन्ह तब जाना ॥३॥
मुख प्रसन्न तन तेज बिराजा । कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा ॥४॥

मिले सकल अति भये सुखारी। तलफत मीन पाव जिमि बारी ॥५॥

अर्थ—फिर वे समुद्र लाँघकर इस पार आ गये और किलकारी का शब्द वानरों को सुनाया (यह वानरों की हर्ष ध्वनि है) ॥१॥ तब श्रीहनुमानजी को देखकर सब (वानर) प्रसन्न हुए और तब (उन) वानरों ने अपना नया जन्म हुआ माना ॥३॥ (श्रीहनुमानजी का) मुख प्रसन्न है, शरीर में तेज विराजमान है (क्योंकि इन्होंने) श्रीरामचन्द्रजी का कार्य सिद्ध किया है ॥४॥ सब वानर श्रीहनुमानजी से मिले और अत्यन्त सुखी हुए, जैसे (जल बिना) तड़पड़ी हुई मछली जल मिल जाने पर (अत्यन्त सुखी हो) ॥५॥

विशेष—(१) 'सबद किलकिला कपिन्ह सुनावा।'—भयंकर और भारी गर्जन से राक्षसियों के गर्भ गिराये और आनन्द की किलकारी से कपियों को सुखी किया, यथा—"गगन निहारि किलकारी भारी सुनि हनुमान पहिचानि भये सानँद सचेत हैं। बूड़त जहाज बच्यो पथिक-समाज, मानों आजु जाये जानि सब अंकमाल देत हैं।" (क० सुं० २९)। 'येहि पारहि आवा' का पहले उल्लेख कर तब 'सबद किलकिला ···' कहा गया है। इसका भाव यह है कि अपने शब्द के पहुँचने से पहले ही ये इस पार आ गये। कहा ही है—"मारुत-नंदन मारुत को मन को खगराज को बेग लजायो।" (क० सुं० ५४), फिर इस बार तो मार्ग में कोई विघ्न भी नहीं है।

(२) 'हरषे सब बिलोकि ··'—यहाँ भी स्पष्ट ही है कि श्रीहनुमानजी अपने शब्द से पहले ही आ गये, क्योंकि उनको देखकर सबका आनन्दित होना कहा गया है, शब्द सुनकर नहीं। 'नूतन जनम···', यथा—"जीवितस्य प्रदाता नस्त्वमेको वानरोत्तम।" (वाल्मी० ५।५७।४६), अर्थात् अंगदजी ने कहा कि हे वानरोत्तम! तुम्हीं हमलोगों के जीवन-दाता हो, क्योंकि बिना सीता-सुधि पाये श्रीहनुमानजी के लौटने से सबका मरना निश्चित था। अब नया जन्म मान वैसे सुखी हुए, मानों 'आजु जाये···' उपर्युक्त।

(३) 'मुख प्रसन्न तन तेज···'—तेज के सम्बन्ध में श्रीरामजी के लिये भी 'चंद्र' विशेषण है। श्रीसुग्रीवजी ने कार्य-सम्बन्ध में ऐसा ही कहा भी है, यथा—"रामचंद्र कर काज सँवारेहु।" (कि० दो० २२)। उसकी सिद्धि पर वैसा ही—'कीन्हेसि रामचंद्र कर काजा।' कहा गया है।

(४) 'तलफत मीन पाव···'—इस उपमा से सूचित किया गया कि श्रीहनुमानजी ने ही इनके प्राण बचाये, यथा—"नाथ काज कीन्हेउँ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥" (दो० २८), पहले इनको देखकर सुखी हुए थे, यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना।" अब इनसे मिलकर भी सुखी हुए, यथा—'मिले सकल अति ··'। वाल्मी० ५।५७।४८-४४ में वानरों के हर्षित होने की विविध चेष्टाएँ कही गई हैं। क० सुं० २६-३० में भी वानरों की प्रसन्नता देखने योग्य है। पहले श्रीहनुमानजी ने कहा था, यथा—"तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।···" तदनुसार उन्होंने परखा था और आप आ गये।

'आये कपि सब जहँ रघुराई'-प्रकरण

चले हरषि रघुनायक पासा। पूछत-कहत नवल इतिहासा ॥६॥
तब मधुबन भीतर सब आये। अंगद संमत मधुफल खाये ॥७॥
रखवारे जब बरजन लागे। मुष्टि-प्रहार हनत सब भागे ॥८॥

दोहा—जाइ पुकारे ते सब, बन उजार जुवराज।
सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज ॥२८॥

अर्थ—प्रसन्नता-पूर्वक सब श्रीरघुनाथजी के पास चले, नवीन इतिहास (वानर गण) पूछते और

(श्रीहनुमानजी) कहते जाते हैं ॥६॥ तब सब वानर मधुवन के भीतर आये और श्रीअंगदजी की सम्मति से उन्होंने मीठे-मीठे फल खाये ॥७॥ जब बाग के रखवाले वानर मना करने लगे, तब घूँसों का प्रहार करते ही वे सब (रखवाले) भाग गये ॥८॥ उन सबोंने जाकर पुकार की कि युवराज अंगदजी मधुवन को उजाड़ रहे हैं, यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी हर्षित हुए कि वानर प्रभु श्रीरामजी का कार्य करके आये हुए हैं ॥२८॥

विशेष—(१) 'चले हरषि···'—यहाँ दर्शन, स्पर्श और समागम यथाक्रम कहा गया है, यथा—'हरषे सब बिलोकि हनुमाना ।'—दर्शन, 'मिले सकल अति भये सुखारी ।'—स्पर्श और यहाँ—'पूछत कहत' समागम है । कहा भी है—"जब द्रवहि दीनदयालु राघव साधु-संगति पाइये । जेहि दरस परस समागमादिक पाप-रासि नसाइये ॥ (वि० १३५), इन (सन्त-दर्शनादि)-से श्रीरामजी की प्राप्ति होती है, अतएव 'चले रघुनायक पासा' कहा गया है । ऐसा नहीं कहा गया है कि श्रीसुग्रीवजी के पास चले, यद्यपि ये लोग पहले श्रीसुग्रीवजी से मिलकर तब श्रीरामजी के पास जायँगे । 'चले हरषि'—(क) राम-दर्शन की उत्कंठा से । (ख) इसलिये भी कि श्रीरामजी हमसबों पर प्रसन्न होंगे । (ग) यात्रा में हर्ष का होना शकुन भी है । 'नवल इतिहासा'—लंका का वर्त्तमान वृत्तान्त, यथा—"सीय को सनेह सील, तथा कथा लंका की, कहत चले चाय सों, सिरानो पंथ छन में ।" (क० सुं० ३१) । 'पूछत-कहत'—जितना लोग पूछते जाते है, उतना ही ये कहते जाते हैं, क्योंकि श्रीहनुमानजी अपना पुरुषार्थ स्वयं नहीं कहना चाहते ।

बाल्मी० ५।५८।१-६ में जाम्बवान्‌जी का पूछना कहा गया है कि तुमने श्रीसीता देवी को कैसे देखा ? वे वहाँ किस प्रकार रहती हैं ? क्रूरकर्मा रावण उनके साथ कैसा वर्ताव करता है ? हे महाकपि ! हमसे सभी बातें ठीक-ठीक कहो । श्रीसीताजी को तुमने किस तरह ढूँढ़ा, उन्होंने क्या उत्तर दिया है ? तब हमलोग शेष विचार करेंगे । श्रीरामजी से कौन बात कही जाय और कौन नहीं, यह सब निश्चय कर लें ।

(२) 'तब मधुवन भीतर सब आये ।··· ···'—कथा कहते-सुनते मार्ग शीघ्र समाप्त हो गया, 'सिरानो पंथ छन में' यह ऊपर कहा ही गया है, यथा—"बरनत पंथ बिबिध इतिहासा । बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा ॥" (बा० दो० ५७) । "पंथ कहत निज भगति अनूपा । मुनि-आश्रम पहुँचे सुरभूपा ॥" (अर० दो० ११) । इससे उपदेश भी है कि राम-कथा कहते-सुनते हुए मार्ग में चलना चाहिये ।

'भीतर सब आये'—अर्थात् यह वन बहुत भारी था । 'अंगद संमत'—दीपदेहली है । वन-प्रवेश और उसके फल खाने में भी श्रीअंगदजी की सम्मति है, यथा—"कह्यो जुवराज बोलि बानर-समाज आज खाहु फल सुनि पेलि पैठे मधुवन में । मारे बागवान, ते पुकारत देवान गे, उजारे बाग अंगद दिखाये घाय तन में ॥" (क० सुं० ३१), सभी वानरों ने समुद्र-तट पर अनशन व्रत किया था और तभी से भूखे थे, तो भी श्रीअंगदजी की आज्ञा से खाया, क्योंकि वे युवराज हैं, अतएव इसके मालिक ही हैं ।

(३) 'रखवारे जब··· ···'—'रखवारे' और 'लागे' शब्द से रक्षकों का बहुत होना सूचित किया गया है । वानरों ने उन्हें मारा, क्योंकि उन्होंने युवराज की आज्ञा नहीं मानी । इस सुरक्षित वन के भोगने में वानरों को तीन प्रकार के बल हैं—(क) युवराज की आज्ञा । (ख) राम-कार्य करने का, यथा—"जौ न होति सीता-सुधि पाई । मधुबन के फल सकहिं कि खाई ॥" आगे कहा ही है । (ग) क्षुधार्त्त थे । अतः, धर्म-दृष्टि से भी फल खा सकते हैं ।

(४) 'जाइ पुकारे ते सब·····'—'ते सब' से वन के बहुत विभागों के बहुत रक्षकों का अपनी-अपनी हद में वानरों को मना करना और फिर उनसे मार खा-खाकर जा पुकारना जनाया गया । कोई यदि नहीं जाता तो उससे उत्तर माँगा जाता कि तुमने खबर क्यों नहीं दी । इन रखवालों का दारोगा

दधिमुख था। उसे श्रीअंगदजी ने स्वयं ही पीटा। ऐसा वाल्मीकीय रामायण में कहा गया है। 'जुवराज'—पहले अंगद-सम्मत कहा गया था, यहाँ युवराज कहा गया, इससे सूचित किया गया कि सब दोष श्रीअंगदजी के ही है, जब उन्होंने मालिक (युवराज) होकर आज्ञा दी, तब सबने फल खाये, यथा—"सर्वं चैवाङ्गदे दोषं श्रावक्ष्यिष्याम पार्थिवे। अमर्षी वचनं श्रुत्वा घातयिष्यति वानरान्॥" (वाल्मी० ५।६२।३०), अर्थात् सभी दोष श्रीअंगदजी के विषय में ही कहूँगा, तो क्रोधी राजा वानरों को मारेंगे। 'सुनि सुग्रीव हरष···'—अभी तक श्रीसुग्रीवजी इसके लिये चिन्तित थे, अब अभीष्ट कार्य का होना समझकर उन्हें हर्ष हुआ। इसीसे उन्होंने अपने प्रिय उपवन के नाश पर भी इसे सुख ही माना।

जौ न होति सीता-सुधि पाई। मधुबन के फल सकहिं कि खाई॥१॥
येहि बिधि मन बिचार कर राजा। आइ गये कपि सहित समाजा॥२॥
आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा॥३॥
पूछी कुसल कुसल पद देखी। राम-कृपा भा काज बिसेखी॥४॥

अर्थ—यदि श्रीसीताजी की सुधि नहीं पाये होते, तो मधुवन के फल क्या खा सकते थे? अर्थात् कभी नहीं॥१॥ राजा सुग्रीवजी मन में इस प्रकार विचार करते थे कि कपि अपने समाज के साथ आ गये॥२॥ सबोंने आकर मस्तक नवाया, कपिराज सुग्रीवजी सबों से अत्यन्त प्रेम के साथ मिले॥३॥ और कुशल पूछी, (उन्होंने कहा कि) आपके चरणों के दर्शनों से कुशल मंगल है, श्रीरामजी की कृपा से विशेष कार्य सम्पन्न हुआ॥४॥

विशेष— (१) 'जौ न होति सीता-सुधि···'—इसका अनुमान इससे है कि यह वन श्रीसुग्रीवजी को बहुत प्रिय है, यथा—"नैवर्क्षरजसा राजन्न त्वया न च वालिना। वनं निसृष्टपूर्वं ते नाशितं तत्तु वानरैः॥" (वाल्मी० ५।६३।५), ऐसे वन का उपभोग वानर लोग बिना राम-कार्य किये नहीं कर सकते।

वाल्मी० ५।६३ में श्रीसुग्रीवजी के विचार कहे गये है कि बिना कार्य किये वानरों को ऐसा साहस नहीं हो सकता। फिर जिस समाज में श्रीजाम्बवान्‌जी के समान संचालक, श्रीअंगदजी के समान नेता और श्रीहनुमान जैसे बुद्धिवाले हों, वह दल अन्याय तो कर ही नहीं सकता। अवश्य ये वानर श्रीसीताजी का पता लगाकर आये हैं। श्रीहनुमानजी ने ही पता लगाया होगा, क्योंकि ऐसी बुद्धि और शक्ति केवल उन्हींमें है। इस मधुवन पर देवता भी दृष्टि नहीं डाल सकते। इसका उपभोग बिना कार्य किये वानर कभी न करते, इत्यादि।

यद्यपि रक्षकों ने वन का नाम नहीं कहा, तथापि श्रीसुग्रीवजी उन्हें एवं उनमें प्रधान दधिमुख को पहचानते हैं, इसीसे मधुवन के परिचय देने की आवश्यकता नहीं हुई। उत्तम विचार के सम्बन्ध से एवं प्रसन्नता से ही उपयुक्त शब्द 'राजा' का प्रयोग किया गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी अभी अत्यन्त शोभा को प्राप्त हैं। 'राजृ-दीप्तौ' धातु से 'राजा' शब्द बनता है, अतएव प्रकाशित एवं सुशोभित व्यक्ति को राजा कहा जाता है। 'राजा' इसलिये भी कहा गया है कि आतुरता में स्वयं सिपाहियों के पास नहीं चले गये, किन्तु गम्भीरता से बैठे विचार ही करते रहे, तब तक वानर-समाज आ गये। 'आइ गये' अर्थात् इन लोगों ने फल खाने और आने में शीघ्रता की।

(२) 'आइ सबन्हि नावा···'—चलते समय वानरों ने श्रीसुग्रीवजी को प्रणाम नहीं किया था, आतुरता में भूल गये थे, यथा—"बचन सुनत सब बानर, जहँ तहँ चले तुरंत।" (कि० दो० २२), प्रधान-प्रधान वानरों ने तो प्रणाम किया ही था, यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई। चले···" (कि० दो० २२), इस समय सबने प्रणाम किया। 'मिलेउ सबन्हि अति प्रीति···'—भाव यह है कि बराबर का मानकर उन्हें

आदर देते हुए सबसे गले लगकर मिले, क्योंकि ये राम-कार्य कर आये हैं, श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था, यथा—"यश्च मामान्निवृत्तोऽग्रे दृष्ट्वा सीतेति वक्ष्यति। मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति॥" मम बन्धुर्भविष्यति।' (वाल्मी० ४।४१।४८-४९), नीति है, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन. करिय नीति असि आहि।" (लं० दो० २३)। अतः, बराबर मानने से ही 'अति प्रीति' से मिलना लिखा है।

'नावा'—एकवचन है, क्योंकि सबने एक साथ ही प्रणाम किया है। यद्यपि समुद्र-तट से सब श्रीरघुनाथजी के पास को चले थे, यथा—"चले सकल रघुनायक पासा।" ऊपर कहा गया है, तथापि यहाँ पहले श्रीसुग्रीवजी के पास इसलिये आये कि इससे श्रीसुग्रीवजी की कीर्ति बढ़ेगी कि इन्होंने समाचार मँगाकर श्रीरामजी की सेवा की। नहीं तो यही कहा जाता कि श्रीसुग्रीवजी ने क्या किया? कार्य तो केवल वानरों ने ही किया है। 'मिले सबन्हि अति···'—जैसे श्रीरामजी प्रायः अनन्त रूप से सबसे एक साथ मिल लेते हैं वैसा यहाँ कुछ कहा नहीं गया। इससे ऐसा समझना चाहिये कि सब सेना भीतर राजा के समीप नहीं गई, मुख्य-मुख्य परिमित संख्या में लोग गये और उन सबों ने एक साथ ही प्रणाम किया और श्रीसुग्रीवजी सबसे मिले।

(३) 'राम-कृपा भा.काज बिसेषी', यथा—'प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।" यह आगे कहा है। 'सीतहि देखि कहहु सुधि आई।' यह कार्य है। वाटिका उजाड़ना, राक्षसों का मारना, शत्रु का नगर जलाना आदि विशेष है। 'राम-कृपा' कहा गया, क्योंकि श्रीसुग्रीवजी राम-कृपा ही से सब कुछ होना मानते हैं, यथा—"नाथ कृपा मन भयउ अलोला।" "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती" (कि० दो० ६), इत्यादि। यदि श्रीसुग्रीवजी से कहते कि आपकी कृपा से हुआ, तो वे इससे अप्रसन्न होते। प्रत्यक्ष भी है—स्वयंप्रभा, सम्पाती एवं विभीषण का मिलना आदि दैव-योग ही कहे जा सकते हैं। स्वयं रावण के द्वारा ही तेल-पट से आग का प्रबन्ध एवं उससे सोने की लंका जलकर खाक होना भी वैसा ही है। हाँ, श्रीसुग्रीवजी के सम्मान के लिये 'कुसल पद देखी' कहा गया है।

(४) 'पूछी कुसल' में वचन, 'मिलेउ सबन्हि' में कर्म और 'मन बिचार कर राजा' में श्रीसुग्रीवजी के मन की वृत्ति वानरों के प्रति कही गई है। इससे वानरों के प्रति श्रीसुग्रीवजी की प्रीति मन, वचन और कर्म से दिखलाई गई है।

नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना। राखे सकल कपिन्ह के प्राना॥५॥
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ। कपिन्हसहित रघुपति पहिं चलेऊ॥६॥
राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरष बिसेखा॥७॥
फटिकसिला बैठे दोउ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥८॥

दोहा—प्रीति-सहित सब भेटे, रघुपति करुना-पुंज।
पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद-कंज॥२६॥

अर्थ—हे नाथ! श्रीहनुमानजी ने कार्य किया है और इन्होंने सब वानरों के प्राणों की रक्षा की है॥५॥ यह सुनकर श्रीसुग्रीवजी फिर उनसे मिले और वानरों के साथ श्रीरघुनाथजी के समीप चले॥६॥ श्रीरामजी ने जब वानरों को कार्य किये हुए (अतएव) मन में विशेष आनन्दित आते हुए देखा, तब (उनके) मन में विशेष हर्ष हुआ, [वा, वे लोग कार्य किये हुए हैं, अतएव उनके (ही) मन मे विशेष हर्ष है]॥७॥ (गुफा से निकलकर) दोनों भाई स्फटिकशिला पर आकर बैठे, तब सब वानर वहाँ जाकर उनके चरणों पर पड़े॥८॥ करुणा-सागर श्रीरघुनाथजी सबसे प्रीतिपूर्वक मिले और कुशल पूछी, (तब उन्होंने कहा कि) हे नाथ! आपके चरण-कमलों के दर्शनों से अब कुशल है॥९॥

विशेष—(१) 'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।···'—पूर्व इतना ही कहा था कि 'भा काज बिसेषी' अब कायकर्त्ता भी कहे जाते हैं कि श्रीहनुमानजी ने कार्य किया। 'राखे सकल···'—"अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवे···" इस प्रतिज्ञा से रक्षा की। और भी, यथा—'मरन चहत सब बिनु जलपाना।' इस अवसर पर जल पिलाकर सबको बचाया था।

(२) 'सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि···'—यह दोबारा मिलना, कृतज्ञता द्योतक है कि इनके द्वारा हम सत्यप्रतिज्ञ हुए। सब वानर प्रिय हैं, इससे उनसे मिले और श्रीहनुमानजी अति प्रिय हैं, इसलिये इनसे दोबारा मिले। 'कपिन्ह सहित ··'—जैसे सब वानर समाज-सहित इनसे मिले, वैसे ही ये भी अपने समाज सहित श्रीरघुपति के पास चले, क्योंकि जैसे वानरों के स्वामी कपिपति श्रीसुग्रीवजी हैं, वैसे ही कपिपति के भी स्वामी रघुपति हैं। 'चलेऊ', यथा—"हरषि चले सुग्रीव तब, अंगदादि कपि साथ।···" (कि० दो० २०)।

(३) 'राम कपिन्ह जब···'—श्रीरामजी तो वानरों की राह देख रहे थे कि कब सीता-शोध मिले और फिर इसका उपाय करूँ, इसलिये पहले उन्हींका देखना कहा गया है। 'किये काज मन ··'—यों तो श्रीरामजी सदा हर्षित ही रहते हैं, पर इस समय उन्हें विशेष हर्ष हुआ। कार्य-सिद्धि पर ऐसे ही सबको हर्ष हुआ है, यथा—"हरषे सब बिलोकि हनुमाना। नूतन जन्म कपिन्ह तब जाना॥" (दो० २७), "सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज॥" (दो० २८)।

(४) 'फटिकसिला बैठे ··'—गुफा से निकलकर बैठे कि जिससे सबसे मिलने में कठिनाई न हो। इससे यह भी जनाया गया कि दिन एक पहर रह गया है, यथा—"रिषय संग···बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवस रहा भरिजाम॥" (बा० दो० २१७), 'परे···चरनन्हि' अर्थात् साष्टाङ्ग दण्डवत् की। श्रीसुग्रीवजी को केवल सिर नवाया था, यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा।" पुनः यहाँ चरणों का विशेषण 'कंज' भी है, यह अधिकता है। पहले जाते समय चरणों में सिर नवाना-मात्र कहा गया है, यथा—"आयसु माँगि चरन सिर नाई।" (कि० दो० २२), क्योंकि उस समय आतुरता में थे, अब सावधान हैं। 'जाई' शब्द से जान पड़ता है कि कवि भक्तों के पक्ष में हैं।

(५) 'प्रीति सहित सब भेटे···'—सबसे एक साथ ही अनन्त रूप से मिले, यथा—"अस कपि एक न···यह कछु नहि प्रभु कै अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई॥" (कि० दो० २१), 'भेटे', क्योंकि सखा मानते हैं, यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे।" (उ० दो० ७), 'करुनापुंज'—क्योंकि जिनका ध्यान मुनियों को भी दुर्लभ है, वे ही करुणा करके वानरों को बराबर का पद देकर उनसे मिल रहे हैं, यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहि···कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन, करत अनेक बिनोद॥" (लं० दो० १९६)। 'कुसल देखि पद कंज', यथा—"अब मैं कुसल···देखि राम पद कमल तुम्हारे॥" (दो० ४६)।

वानरों का व्यवहार श्रीसुग्रीवजी और श्रीरामजी के साथ समान हुआ, इसका मिलान—

श्रीसुग्रीवजी		श्रीरामजी
सुनि सुग्रीव हरष कपि, करि आये प्रभु-काज।	१	राम कपिन्ह जब आवत देखा। किये काज मन हरष बिसेखा॥
आइ सबन्हि नावा पद सीसा।	२	परे सकल कपि चरनन्ह जाई।
मिलेउ सबन्हि अति प्रेम कपीसा	३	प्रीति सहित सब भेटे, रघुपति०।
पूछी कुसल कुसल पद देखी	४	पूछी कुसल नाथ अब, कुसल देखि पद कंज।
राम-कृपा भा काज बिसेखी	५	प्रभु की कृपा भयउ सब काजू।
नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना	६	नाथ पवन सुत कीन्हि जो करनी।
सुनि सुग्रीव बहुरि तेहि मिलेऊ	७	पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।

दोहा—हरष प्रणाम मिलब अरु, कुशल प्रश्न भा काज। काज कीन्ह हनुमान सुनि, बहुरि मिलेउ दोउ राज ॥—पं० रामकुमारजी।

'बैदेही कै कुसल सुनाई'-प्रकरण

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया ॥१॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर-नर-मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥२॥
सोइ बिजई बिनई गुन-सागर। तासु सुजस त्रैलोक उजागर ॥३॥

अर्थ—श्रीजाम्बवान्‌जी कहते हैं—हे रघुराज! सुनिये, हे नाथ! जिसपर आप दया करें ॥१॥ उसको सदा ही शुभ है और निरन्तर (सदा एक रस) उसकी कुशल है, देवता, मनुष्य और मुनि, सभी उसपर निरन्तर (सदा एक रस) प्रसन्न रहते हैं ॥२॥ वही विजयी, विनयी एवं गुणों का समुद्र है और उसीका सुयश तीनो लोकों में प्रसिद्ध रहता है ॥३॥

विशेष—(१) 'जामवंत कह···'—ऊपर वानरों की उक्ति थी। अब श्रीजाम्बवान्‌जी कहते हैं। अतः, श्रीसुग्रीवजी के यहाँ—'नाथ काज कीन्हेउ हनुमाना।···'—यह भी इन्हींकी उक्ति थी। 'जा पर नाथ···'—भाव यह है कि हमलोगों पर आपकी दया है। 'ताहि सदा सुभ···'—भाव यह कि औरों की प्रसन्नता में यह बात नहीं है, यथा—"सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती ॥" (कि० दो० ११), पर श्रीरामजी की दया से सभी अनुकूल हो जाते हैं, यथा—"राम सुहाते तोहिं जो तू सबहिं सुहातो ॥" (वि० १५१) तथा—"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम् ॥" (भाग० ११।५।४१), अर्थात् शरणागत पर भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब जीव सुर, नर, मुनि सम्बन्धी देव, पितृ और ऋषि-ऋण से मुक्त हो जाता है। 'सोइ बिजई बिनई···'—विजय की शोभा विनय से और गुणों की शोभा उनसे यश प्राप्त करने में है, ऐसे ही क्रम से कहे गये हैं, तथा—विजयी, विनयी ही नहीं, किन्तु वह तो सब गुणों का सागर हो जाता है। तात्पर्य यह है कि हम सबमें विशेषकर श्रीहनुमानजी पर आपकी दया है, यथा—"कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी।···" इसीसे उनमें सभी गुण आ गये। जैसे कि लंका में उन्होंने सबपर विजय पाई, उसपर भी अभिमान नहीं, प्रत्युत विनयी हैं। मैनाक, सुरसा, लंकिनी एवं रावण-संवाद आदि प्रसंगों में इनकी गुण-सागरता प्रसिद्ध है और लंका-दहन आदि का सुयश तीनो लोकों में देदीप्यमान है।

प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जनम हमार सुफल भा आजू ॥४॥
नाथ पवन-सुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी ॥५॥
पवन-तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए ॥६॥

अर्थ—प्रभु (आप-) की कृपा से सब कार्य सिद्ध हुए और आज हमलोगों के जन्म सुफल हुए ॥४॥ हे नाथ! पवनपुत्र श्रीहनुमानजी ने जो करतूत की है, उसका वर्णन हजारो मुखों से नहीं किया जा सकता ॥५॥ श्रीजाम्बवान्‌जी ने पवनपुत्र श्रीहनुमानजी के सुन्दर चरित श्रीरघुनाथजी को सुनाये ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु की कृपा भयउ···'—आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं। अतः, आपकी कृपा से ही सभी कार्य हुए। नहीं तो हमलोगों में ऐसी क्षमता नहीं थी। पहले भी कहा था, यथा—"राम कृपा भा काज बिसेषी ॥" 'सब काजू'—श्रीहनुमानजी के द्वारा होनेवाले सब चरित। 'जनम हमार सफल···'—यात्रा के समय श्रीसुग्रीवजी ने कहा ही था, यथा—"देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई ॥" (कि० दो० २२), तदनुसार अब हम जन्म की सार्थकता मानते हैं। 'आजू'—कार्य यह सौंपा

गया था—"बहु प्रकार सीतहिं समुझायहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु॥" (कि० दो० २२), उसकी पूर्त्ति आज ही हुई, क्योंकि श्रीसीताजी से समाचार लेकर आज स्वामी से कह रहे हैं।

(२) 'नाथ पवन-सुत कीन्हि···'—'करनी', अर्थात् पुरुषार्थ, यथा—"जूझे सकल सुभट करि करनी।" (बा० दो० १७४), पुरुषार्थ बल से होता है, इस सम्बन्ध से 'पवन-सुत' कहा है, यथा—"पवन-तनय बल पवन समाना।" (कि० दो० २९), 'सहसहु मुख ···'—क्योंकि भक्तचरित भी अनन्त हैं, यथा—"सुनु मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते।" (अर० दो० ४५), प्रभु के पराक्रम में इससे भी अधिकता है, यथा—"राम-तेज-बल-बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहि न गाई॥" (दो० ५५), क्योंकि भक्त तो उन्हींसे बल पाकर कार्य करते हैं, यह श्रीगोस्वामीजी की सँभाल है।

(३) 'पवन-तनय के चरित···'—रुद्रावतार वायुपुत्र के चरित्र हैं, ब्रह्मावतार श्रीजाम्बवान्‌जी वक्ता और स्वयं भगवान श्रीरामजी श्रोता हैं। अतः, सभी अंग योग्य हैं, यथा—"श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि, कथा राम कै गूढ़।" (बा० दो० ३०), रामचरित के समान ही भक्त-चरित भी गूढ़ है। 'जामवंत रघुपतिहि सुनाए।'—श्रीजाम्बवान्‌जी ने पूछ-पूछकर जान लिया है, यथा—"पूछत कहत नवल इतिहासा।" (दो० २७), स्वामी के सामने संकोच से श्रीहनुमानजी न कहते, इसीसे श्रीजाम्बवान्‌जी ने सुनाया।

सुनत कृपानिधि मन अति भाये। पुनि हनुमान हरषि हिय लाये॥७॥
कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥८॥

दोहा—नाम पाहरू राति-दिन, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित, जाहिं प्रान केहि बाट॥३०॥

अर्थ—सुनते ही वे (चरित एवं उनके कर्त्ता श्रीहनुमानजी) कृपानिधान श्रीरामजी को अत्यन्त प्यारे लगे और हर्षित होकर श्रीहनुमानजी को उन्होंने फिर अपने हृदय से लगाया॥७॥ (और कहा—) हे तात! कहो, श्रीजानकीजी किस तरह रहती हैं और किस तरह वे अपने प्राणों की रक्षा करती हैं?॥८॥ (श्रीहनुमानजी ने कहा ·) आपका नाम रात-दिन का पहरा देनेवाला है और आपका ध्यान किवाड़ है। नेत्रों को अपने चरणों मे लगाये हुई हैं, यही ताला बन्द है, (तब कहिये कि) उनके प्राण किस मार्ग से जा सकते हैं?॥३०॥

विशेष—(१) 'सुनत कृपानिधि मन ··'—एक बार सब वानरों के साथ मिल चुके हैं, यथा—"प्रीति सहित सब भेटे, रघुपति करुनापुंज।" यह ऊपर कहा गया है। अब श्रीहनुमानजी के द्वारा अपना उपकार होना मानकर श्रीरामजी उनसे पृथक् मिले, यह कृतज्ञता-ज्ञापन है, यथा—हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥" (लं० दो० ६०), पहली भेंट में श्रीरामजी को 'करुनापुंज' कहा गया था और अब 'कृपानिधि' कहा, क्योंकि इन लोगों के द्वारा जो कार्य हुए, वे आपकी ही शक्ति एवं प्रेरणा से हुए हैं, यथा—"पौरुषं नृषु।" (गीता ७।८), अर्थात् मनुष्यों में पुरुषार्थ भगवदंश से है, तथा—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥" (गीता ११।३३)। अतः, वानरों को बड़ाई देना इनकी कृपा ही है। 'अति भाये'—पहले जो श्रीजाम्बवान्‌जी ने कहा था, यथा—"जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।" से "जनम हमार सुफल भा आजू॥" तक, वह 'भाया' और ये पवन-तनय के चरित 'अति भाये', क्योंकि आप अपने चरित की अपेक्षा भक्त-चरित को बहुत अधिक मानते हैं, यथा—"निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत-प्रनाम-प्रनत-जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ॥" (वि० १००), पुनः इससे स्वामी और सेवक की अन्योन्य प्रीति दिखाई गई। जैसे श्रीहनुमानजी को अपना चरित भाया था और राम-चरित अति भाया था, यथा—"जामवंत के बचन सुहाये। सुनि हनुमंत हृदय

अति भाये ॥" (दो० १)—इसका विशेष देखिये। वैसे ही यहाँ—'सुनत कृपानिधि मन अति भाये।' कहा है, क्योंकि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), ऐसा ही नियम श्रीमुख-कथित है।

(२) 'केहि भाँति जानकी। रहति करति···'—दुष्टों के बीच में वे कैसे रहती हैं? यथा—"खल-मंडली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहै केहि भाँती॥" (दो० ४५), "सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥" (दो० ६)। अतः, रहना अत्यन्त कठिन है। पुनः प्राणों की रक्षा कैसे करती हैं, श्रीअवध में तो कहती थीं—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान।" (अ० दो० ६६)। अतः, मुझे तो विश्वास नहीं होता कि वे मेरे वियोग में जीती होंगी, यथा—"मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे॥ दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी।" (वाल्मी० ५।६६।१५)।

(३) 'नाम पाहरू राति-दिन ···', यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छवि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम॥" (अर० दो० २९), श्रीहनुमानजी ने श्रीसीताजी को ऐसी ही दीन दशा में देखा था, यथा—"निज पद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन। परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन॥" (दो० ८), तथा—रघुकुल-कमल बियोग तिहारे। मै देखी जब जाइ जानकी मनहुँ बिरह मूरति मन मारे॥ चित्र से नयन अरु गढ़े से चरन कर, मढ़े से श्रवन नहिं सुनति पुकारे। रसना रटनि नाम, कर सिर चिर रहै नित, निज पद कमल निहारे॥ दरसन-आस-लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रन रखवारे। तुलसिदास पूजति त्रिजटा नीके रावरे गुन-गन-सुमन सँवारे॥" (गी० सु० १८)। 'राति-दिन'—निरन्तर इसी वृत्ति से रहती हैं, यथा—"बैठेहि बीति जात निसि जामा॥" (दो० ७), तथा—"रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिन्त्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपं च कथां तदर्थामेवं प्रपश्यामि तथा शृणोमि॥" (वाल्मी० ५।३२।११), अर्थात् मैं सर्वदा श्रीरामजी ही को अपने मन में सोचा करती हूँ, मुँह से राम-राम ही कहा करती हूँ, इसीसे अपने विचारों के अनुरूप यह वचन सुन रही हूँ और देख रही हूँ। भाव यह है कि वे आपकी मूर्त्ति और नाम से निरन्तर संयोग रखती हैं, उनका आपमें ऐसा प्रेम है कि क्षण-भर के वियोग में भी प्राण निकल जायँ, पर ऐसा होने नहीं पाता। आगे स्पष्ट भी है, यथा—"अवगुन एक मोर मैं जाना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥ नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहि हठि बाधा॥", इत्यादि।

(४) 'प्रान जाहिं केहि बाट'—भाव यह कि प्राण कैदी की तरह देह में बने हैं। जैसे किसी कैदी को किवाड़ के भीतर ताला लगाकर बन्द कर दिया जाय और फिर रात-दिन पहरेदार भी नियुक्त रहे तो वह किसी प्रकार नहीं निकल सकता। इसी विषय पर श्रीकौसल्याजी ने भी कहा है—"लगेइ रहत मेरे नयनन्हि आगे राम लखन अरु सीता। तदपि न मिटत दाह या उर को बिधि जो भयो बिपरीता॥ दुख न रहै रघुपतिहिं बिलोकत तन न रहै बिनु देखे। करत न प्रान पयान सुनहु सखि अरुझि परी यहि लेखे॥" (गी० अ० ५३)।

यहाँ मन, कर्म और वचन से श्रीजानकीजी की भक्ति दिखाई गई है—'नाम पाहरू'—वचन की, 'ध्यान तुम्हार'—मन की और 'लोचन निज पद जंत्रित' में कर्म की भक्ति है। इनमें क्रमशः वैराग्य, भक्ति और योग के भी अंग हैं।

अलंकार—'एकदेश विवर्त्ति रूपक' है, क्योंकि 'प्रान' का रूपक जो बन्दी से चाहिये, वह नहीं दिया गया है, ऊपर से लेना पड़ता है।

चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही। रघुपति हृदय लाइ सोइ लीन्ही॥१॥
नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनक-कुमारी॥२॥

अर्थ—चलते समय (श्रीजनकीजी ने) मुझे चूड़ामणि दिया है, (ऐसा कहकर श्रीहनुमानजी ने वह श्रीरामजी को दिया) श्रीरघुनाथजी ने उसको अपने हृदय से लगा लिया ॥१॥ (पुनः श्रीहनुमानजी ने कहा—) हे नाथ ! दोनों नेत्रों में जल भरकर श्रीजानकीजी ने कुछ वचन कहे हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'चलत मोहि चूड़ामनि दीन्ही ।'—'चलत'—इनके चलते समय श्रीजानकीजी विह्वल हो गई थीं। इसीसे माँगने पर उन्होंने मणि दी थी। पर श्रीहनुमानजी ने माँगने पर देना नहीं कहा, क्योंकि उससे उनके प्रेम में न्यूनता पाई जाती। सँभालकर कहा कि चलते समय उन्होंने इसे मुझे दिया है। 'मोहि दीन्ही' कहकर अपनेको उनका कृपा-पात्र जनाया, यथा—"कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी।" (कि० दो० २२) ।

'रघुपति हृदय लाइ सो लीन्ही ।'—प्रिय का पदार्थ प्रिय के तुल्य होता है, ऐसा समझकर श्रीरामजी ने उसे हृदय से लगाया, यथा—"कनक-बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे ॥" (अ० दो० १९८), पहले जब श्रीसुग्रीवजी ने वस्त्राभूषण दिये थे, उसे पाकर श्रीरामजी ने बहुत शोच किया था, क्योंकि उस समय श्रीजानकीजी की सुधि नहीं मिली थी। अब सुधि पा जाने से उतनी व्याकुलता नहीं है, इससे शोच नहीं हुआ, प्रत्युत सन्तोष हुआ। अब अवसर पाकर चूड़ामणि दिया।

(२) 'नाथ जुगल लोचन भरि बारी ।'—आगे श्रीजानकीजी का दुःख कहते हैं, इससे उनके हृदय का दुःख पहले आँसू द्वारा ही कहा, अब आगे वचन द्वारा उनका दुःख कहना और तन से प्रणाम करना भी कहेंगे

'बचन कहे कछु'—'कछु' का भाव—(क) व्याकुलता के कारण विशेष नहीं कह सकीं, यथा—"कहि प्रनाम कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह ॥" (अ० दो० १५२) । (ख) मणि देने के अतिरिक्त कुछ वचन भी कहा है, जो चिह्न-रूप है, वह जयन्त की कथा है—"तात सक्रसुत कथा सुनायहु ।..." उसे यहाँ कहा नहीं, क्योंकि वह गुप्त रहस्य है। संकेत से ही जना दिया। इस तरह कि जब 'जुगल लोचन भरि बारी' कहा, तब श्रीरामजी ने इनके दोनों नेत्रों की ओर देखा, क्योंकि समझा कि श्रीजानकीजी की दशा को स्मरण कर श्रीहनुमानजी के भी नेत्रों में आँसू अवश्य ही आ गये होंगे। उस अवसर पर श्रीहनुमानजी ने एकः आँख मूँदकर इस संकेत से जयन्त को एकाक्ष करने की कथा जना दी। यह इनकी परम बुद्धिमत्ता है, और भी जो कुछ वचन हैं, वे आगे कहते है —

अनुज-समेत गहेहु प्रभु - चरना । दीनबंधु प्रनतारति - हरना ॥३॥
मन क्रम बचन चरन-अनुरागी । केहि अपराध नाथ हौं त्यागी ॥४॥
अवगुन एक मोर मैं जाना । बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना ॥५॥
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा । निसरत प्रान करहि हठि बाधा ॥६॥

अर्थ—(वे वचन ये हैं, उन्होंने) अनुज-सहित प्रभु के चरण पकड़े हैं (इस तरह प्रणाम की मुद्रा से कहा है कि प्रभो !) आप दीनबन्धु हैं और शरणागतों के दुःख हरनेवाले हैं ॥३॥ मैं मन, कर्म और वचन से आपके चरणों की अनुरागिणी हूँ, (फिर भी) हे नाथ ! किस अपराध से मैं त्यागी गई हूँ ॥४॥ मैं जानती हूँ कि यह एक मेरा अवगुण है कि आपसे वियोग होते ही मेरे प्राण नहीं निकल गये (यह दोष त्यागने के योग्य है) ॥५॥ (पर) हे नाथ ! वह अपराध इन नेत्रों का है (इन्हें दर्शनों की लालसा एवं आशा है, इसीसे) प्राण निकलने देने में ये बाधक होते हैं ॥६॥

विशेष—(१) 'अनुज-समेत गहेहु प्रभु-चरना ।'—श्रीलक्ष्मणजी भक्त एवं पार्षद हैं, प्रभु की पूजा पार्षदों सहित होती है, इस तरह प्रभु के अंग मानकर साथ में उनके भी चरण पकड़े हैं, जैसा श्रीभरतजी

ने कहा है—"सोक समाज राज केहि लेखे। लखन-राम-सिय-पद बिनु देखे॥" (अ० दो० १७७), पुनः स्नेह की व्याकुलता से छोटे के भी चरण गहे, यथा—"बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी।" (अ० दो० ५६)—यह श्रीकौसल्याजी के विषय में कहा ही गया है।

'दीनबंधु प्रनतारति-हरना'—ऐसा कहकर प्रणाम करने की रीति है—"त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥ अस कहि करत दंडवत देखा।" (दो० ४५)। भाव यह है कि मैं दीन हूँ। अतः, आप मेरी सहायता करें। आर्त्त हूँ, अतः मेरा दुःख निवारण करें, इसके लिये मैं आपकी शरण हूँ।

(२) 'मन क्रम बचन चरन···'—मन, कर्म, वचन की भक्ति के उदाहरण ऊपर के दोहे में लिखे गये हैं। 'केहि अपराध ···'—भाव यह कि आप तो अपने जनों के अवगुण को मानते ही नहीं, यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।" (उ० दो० १), फिर मेरा दोष क्यों दृष्टि में बसा है? नाथ!

(३) 'अवगुन एक मोर···'—मैंने पहले कहा था—"राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानियहि प्रान (अ० दो० ६६), उसे मैंने चरितार्थ नहीं किया, यह मेरा अपराध हुआ। उसे मैं मानती हूँ। भाव यह है कि अपराध हो जाने पर उसे मानकर प्रभु से प्रार्थना करे, तो वे उसे क्षमा कर देते हैं। अपराध करके फिर न मानना ढिठाई एवं भारी दोष है। यहाँ 'अवगुन' कहकर इसे ही आगे 'अपराधा' कहा गया है। इस तरह दोनों को पर्याय वाचक जनाया।

(४) 'निसरत प्रान करहि हठि बाधा।'—भाव यह कि वियोग में प्राण तन में रहना नहीं चाहते, पर नेत्रों ने ही उन्हें हठ करके रोक रक्खा है। आगे तन को भी कहती है। भाव यह है कि देह और प्राण दोनों अति प्रिय पदार्थ हैं, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७), पर आपके वियोग में मैं दोनों को नहीं रखना चाहती, पर नेत्रों ने इन्हें हठात् रक्खा है। तन को आगे कहती हैं—

बिरह अगिनि तनु तूलसमीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥७॥
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरइ न पाव देह बिरहागी॥८॥
सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥९॥

दोहा—निमिष निमिष करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिय, भुज-बल-खल-दल जीति॥३१॥

अर्थ—विरह अग्नि है, शरीर रुई और श्वास वायु है (इनसे) देह एक क्षण भर में जल जाय॥७॥ (पर) आँखें अपने हित के लिये (दर्शनाकांक्षा से) जल गिराती रहती हैं, जिससे आपकी विरहाग्नि से यह देह जलने नहीं पाती॥८॥ श्रीसीताजी की विपत्ति अत्यन्त विशाल है, हे दीन दयालो! उसे बिना कहे ही भला है (भाव यह कि रावण के द्वारा एवं क्रूर राक्षसियों के द्वारा होनेवाले दुःखों का कहना भला नहीं, किन्तु उपाय द्वारा उसका निवारण करना ही भला है)॥९॥ हे करुणानिधे! उन्हें निमिष-निमिष कल्प के बराबर बीत रहा है। हे प्रभो! शीघ्र चलिये और अपनी भुजाओं के बल से दुष्ट-दल को जीत कर उन्हें ले आइये॥३१॥

विशेष—(१) 'बिरह अगिनि···', यथा—"पावक-बिरह, समीर-श्वास, तनु-तूल मिले तुम्ह जारनि हारे। तिन्हहिं निदरि अपने हित कारन, राखत नयन निपुन रखवारे॥" (कृ० गी० ५६), "बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ। ये अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ॥" (बरवा ३६), भाव यह है कि विरह की ताप से शरीर के रक्त-मांस सूख गये, केवल रुई के समान सूखा शरीर अवशिष्ट है। आहों से भरे श्वास के सहित विरहाग्नि से यह शरीर रुई की तरह जल सकता है। पर आँखें आपके दर्शनों की आशा

से आँसू (पानी) द्वारा विरह को कम किया करती हैं, इसीसे प्राण बचे हुए हैं। रोने में आँसू गिरने से गर्मी शान्त हो जाती है, नहीं तो मृत्यु हो जाय। यही प्राण बचाना है। अर्थात् विरहाग्नि से शरीर जलता है, ऊर्ध्वश्वास चलता है, निरन्तर आँसू चलते है और प्राण निकलना चाहते हैं।

(२) 'नयन स्रवहि जल···'—दर्शनों के लिये ही प्राण रक्खे हुई हैं, यथा—"राम-दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास। तजि-तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥" (अ० दो० ३२२)।

(३) 'सीता कै अति बिपति बिसाला।'—दुष्टों के बीच में रहना विपत्ति है, उसपर भी आपका वियोग तो विशाल विपत्ति है। फिर रावण के द्वारा उपद्रव होते ही रहते हैं, यह अति विशाल विपत्ति है। विपत्ति के साथ 'कराला' उचित था, पर 'बिसाला' कहा गया, क्योंकि यह विपत्ति वियोग-शृंगार-रूप में राम-स्नेह के कारण है, इसीसे शोभा-सूचक विशेषण है। जैसा कि राम-स्नेह में देह-त्याग के सम्बन्ध से राजा दशरथ की चिता को भी 'सुहाई' कहा गया है, यथा—"सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुर-पुर-सोपान सुहाई॥" (अ० दो० १६९), 'बिनहि कहे भलि···'—रावण ने जैसे-जैसे कटु वचन कहे हैं और मारने की धमकी दी है, यह सब कहने के योग्य नहीं। अतः, उन्हें न कहना ही अच्छा है। अथवा, दीन-दयाल विशेषण के साथ यह भी भाव है कि आप दीन-दयाल होने से अत्यन्त कोमलचित्त हैं, दीनता सुनकर उसे सह न सकेंगे। उन्हें देखकर है ही परम दुखी हो गया था, यथा—"परम दुखी भा पवन-सुत, देखि जानकी दीन॥" (दो० ८), "देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता॥" (दो० ११), इसीसे श्रीसीताजी ने भी कहा है, यथा—"सुनु हनुमंत अनंत-बंधु करुना सुभाव सीतल कोमल अति। तुलसिदास यहि त्रास जानि जिय बरु दुख सहौं प्रगट कहि न सकति॥" (गी० सुं० ९)।

श्रीसीताजी और श्रीरामजी के प्रेम-बर्तावों के मिलान—

श्रीसीताजी		श्रीरामजी
'हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन रोमावलि ठाढ़ी॥'	(१)	'पुनि-पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥'
'बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहँ जल जाना॥'	(२)	'प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥'
'अब कहु कुसल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुखभवन खरारी॥'	(३)	'कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥'
'कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहँ सकल भए बिपरीता॥'	(४)	'सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहि कहे भलि दीन दयाला॥'
'प्रभु संदेस सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही॥'	(५)	'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना॥'

(४) 'निमिष-निमिष करुनानिधि·····'—उनकी अति-व्याकुलता को देखकर श्रीहनुमानजी को एक क्षण भी कल्प के समान व्यतीत हुआ था, यथा—"सो छन कपिहि कलप सम बीता।" (दो० ११), जब देखनेवाले के ही क्षण कल्प-समान बीते, तब भोगनेवाले को निमिष कल्प के समान बीतना युक्ति-संगत ही है। निमिष क्षण से भी कम होता है। 'बेगि चलिय'—भाव यह है कि चलने में विलम्ब करने से कहीं वे दसवीं दशा को न प्राप्त हो जायँ।

विरह की दस दशाएँ हैं—१. अभिलाष, २. चिन्ता, ३. स्मृति, ४. गुणकीर्तन, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि (सन्ताप), ९. जड़ता और १०. मरण। इनमें श्रीजानकीजी में नौ दशाएँ तक देख आये हैं, इसीसे शीघ्र चलने को कहते हैं।

(५) 'भुज-बल-खल-दल जीति'—भाव यह है कि वहाँ साम, दाम और भेद से काम न चलेगा,

वहाँ दण्ड ही का काम है, यथा—"न साम रक्षः सुगुणाश्च कल्पते न दान मर्थोपचितेषु युज्यते। न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः पराक्रमस्त्वेष ममेह रोचते॥" (वाल्मी० ५।४१।३)। शत्रु की इच्छा युद्ध की ही है, यथा—"जिन्हकै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्हकै प्रभुताई।" (दो० २४)। अतः, जीतकर ही श्रीसीताजी को लाने को कहते हैं। श्रीजाम्बवान्‌जी ने भी कहा है—"तव निज भुजबल राजिवनैना।···" (कि० दो० ३०), तदनुसार युद्ध ही के लिये इनका कहना भी युक्त है, तथा—"रावणं मार्गते संख्ये मृत्युः कालवशं गतम्॥" (वाल्मी० ५।३७।१०), अर्थात् रावण कालवश हो रहा है, उसे युद्धक्षेत्र में मृत्यु ढूँढ़ रही है—यह श्रीविभीषणजी की स्त्री का कहा हुआ श्रीजानकीजी ने हनुमानजी से कहा है। एवं—"स्वयं प्रकृतिमापन्नो युयुत्सू राम रावणः। उत्थितश्चाप्रमत्तश्च बलानामनुदर्शने॥" (वाल्मी० ६।३।१६), अर्थात् हे रामजी, युद्ध की इच्छा रखनेवाला रावण स्वयं सावधानी से सेना का निरीक्षण करता रहता है। यह हनुमानजी ने ही कहा है।

सुनि सीता-दुख प्रभु सुख-अयना। भरि आये जल राजिव-नयना॥१॥
बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति की ताही॥२॥
कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन-भजन न होई॥३॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥४॥

अर्थ—श्रीसीताजी का दुःख सुनकर प्रभु (समर्थ) और सुख के स्थान श्रीरामजी के कमल के समान नेत्रों में जल भर आया॥१॥ वचन, कर्म (देह) और मन से जिसे मेरी ही गति है, स्वप्न में भी क्या उसे विपत्ति समझ पड़ती है? वा विपत्ति होनी चाहिये?॥२॥ श्रीहनुमानजी ने कहा—हे प्रभो! विपत्ति वही है कि जब (कभी उस दुष्ट की बाधाओं से) आपका स्मरण और भजन नहीं होता॥३॥ हे प्रभो! राक्षसों की बात ही कितनी है, शत्रु को जीतकर जनककुमारी श्रीसीताजी को ले आवेंगे॥४॥

विशेष—(१) 'सुनि सीता-दुख प्रभु···'—श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, पर असमर्थ की तरह दुखी हो गये, यथा—"त्वयं वीर न जीवेयं विना तामभितेक्षणाम्।" (वाल्मी० ५।६६।१०)। 'सुख अयना' हैं, पर भक्त के दुःख से अत्यन्त दुखी हो गये, यथा—"तव दुख दुखी सुकृपा निकेता।" (दो० १३), 'राजिव-नयना'—यह विशेषण कृपासूचक है और दुःखहरण के अर्थ में आता है, यथा—"राजिवनयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥" (बा० दो० १७)। यहाँ श्रीसीताजी के दुःखहरण में कृपा करके प्रवृत्त होंगे। श्रीसीताजी की दशा—'नाथ जुगल लोचन भरि बारी' सुना तो आप भी—'भरि आये जल राजिवनयना' की दशा में हो गये, क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), तथा—"जन के दुख रघुनाथ दुखित अति, सहज प्रकृति करुनानिधान की।" (गी० सु० ११)।

(२) 'सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही।'—भगवान् के दर्शन सुख रूप ही हैं, चाहे ध्यान से हों चाहे प्रत्यक्ष, यथा—"जाग न ध्यान जनित सुख पावा।" (अर० दो० ६), "कहँ दुख समय प्रानपति पेखे।" (अ० दो० ६६), मन, कर्म और वचन से राम-गतिक होने से मन निरन्तर श्रीरामजी में ही लगा रहता है, तब दुःख का अनुभव होता ही नहीं, यथा—"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥" (अ० दो० २७४), तथा—"सत्त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न निवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसुस्थितः॥" (वि० पु० १।१७।३९), अर्थात् श्रीकृष्ण में आसक्तबुद्धि प्रह्लादजी को महान् सर्पों का काटना भी जान ही नहीं पड़ा, वे स्मृति के आनन्द में ही स्थित रहे। एवं—"तावदार्त्तिस्तथा बाञ्छा तावन्मोहस्तथासुखम्। यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम्॥" (वि० पु० १।१९।७३), अर्थात्

'बिलोकि मुख'—जब श्रीरामजी इनको प्रशंसा करने लगे, इन्होंने सिर नीचा कर लिया था। सज्जनों की रीति यही है, यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (अर० दो० ४५)। जब प्रभु के वचन समाप्त हुए, तब श्रीहनुमानजी ने उनके मुख की ओर देखा कि वचनों के अनुसार ही प्रेम की दशा भी प्रत्यक्ष है, प्रभु का शरीर पुलकित हो गया है, इत्यादि।

तब अपने ऊपर प्रभु की निस्सीम कृपा समझकर श्रीहनुमानजी को हर्ष हुआ और प्रभु के प्रशंसायुक्त वचनों के अनुसार कहीं अभिमान दबा न दे, इसलिये उत्तरार्द्ध में 'त्राहि त्राहि भगवंत' कहा है कि इस बाधा से रक्षा कीजिये, क्योंकि बड़ाई भक्ति में बाधक है, यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (कि० दो० ६), 'भगवंत' अर्थात् आप षडैश्वर्यवान् ईश्वर हैं, षडैश्वर्यों से जगत-भर की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं। आपका उपकार कोई क्या कर सकेगा? प्रत्युत जो कोई कुछ करता भी है, वह आपकी ही सत्ता से।

यहाँ श्रीहनुमानजी की—मन, कर्म और वचन तीनों से—शरणागति हुई, यथा—'हरषि'—मन, 'त्राहि त्राहि'''—वचन और 'चरन परेउ'—यह कर्म है। इसीसे यहाँ प्रभु ने अभिमान से इनकी रक्षा की, यथा—"बोला बचन बिगत अभिमाना।" आगे कहा गया है। अन्यत्र अभिमान उपज आया है, यथा—"सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ४८), वहाँ भी तत्काल विवेक दे, रक्षा की है।

(३) 'बार बार प्रभु चहइ उठावा।', यथा—"परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४), बार-बार नहीं उठाने से प्रभु की निष्ठुरता समझी जाती। यदि श्रीहनुमानजी तुरत उठ जाते, तो भगवत्प्रेम में इनकी भी न्यूनता होती। फिर सेवक अपने परम प्राप्य चरणों को पाकर कैसे छोड़े? ऐसे सेवक को प्रभु हृदय से लगाते हैं। वही आगे कहा गया है, यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।" श्रीहनुमानजी प्रेम में मग्न है, इस कारण से भी नहीं उठना चाहते। चरण पकड़े हुए हैं, यथा—"उतर न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु - कर-पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥२॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥३॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी का कर-कमल श्रीहनुमानजी के सिर पर है, उस प्रेम की दशा का स्मरण करके श्रीशिवजी उस दशा में निमग्न हो गये॥२॥ फिर श्रीशंकरजी मन को सावधान करके अत्यन्त सुन्दर कथा को कहने लगे॥३॥ कपि श्रीहनुमानजी को उठाकर प्रभु ने अपने हृदय से लगाया, हाथ पकड़कर उन्हें अत्यन्त समीप बैठा लिया॥४॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'—श्रीशिवजी श्रीहनुमान रूप हैं, इन्हें उस रूप में वह आनन्द प्राप्त हुआ था। उसका स्मरण कर उसी प्रेम में मग्न हो गये, क्योंकि यह परम लाभ है, तभी तो भक्त लोग ऐसी अभिलाषा करते हैं, यथा—"कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।" (वि० १३८), श्रीहनुमानजी के जाते समय भी—"परसा सीस सरोरुह पानी।' से उपक्रम है और आने पर यहाँ भी—"प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा।' से उपसंहार है।

'मगन गौरीसा'—शब्द से गौरी और ईश (श्रोता-वक्ता) दोनों की मग्नता ध्वनि से कही गई है। प्रधान तो शिवजी (गौरीपति) ही की मग्नता है, क्योंकि आगे श्रीशंकरजी का ही मन सावधान होना कहा गया है, साथ ही गौरीजी भी सचेत हो गईं। कपि तो मग्न हैं ही, साथ ही ग्रन्थकर्त्ता भी। इसीसे विशेष्य (कथा) के अनुकूल अति सुन्दरी न कहकर 'अति सुंदर' पुँल्लिंग विशेषण लिख दिया। इस

चौ० ६,७, ८ में क्रमशः मन, वचन और कर्म की हार है, तथा—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी० ७।४०।२३-२४), अर्थात् हे वानर! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिये मै अपने प्राण दे सकता हूँ, शेष उपकारों के लिये मैं तुम्हारा ऋणी रहूँगा। तुमने जो उपकार किये हैं, वे मेरे शरीर में ही पच जायँ, क्योंकि प्रत्युपकार का समय है—उपकारी का विपत्ति-ग्रस्त होना—यह तो मैं चाहता ही नहीं।

(३) 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।···', यथा—"येहि संदेस सरिस जग माहीं। देखेउँ करि बिचार कछु नाहीं॥ नाहिन तात उरिन मैं तोही।" (उ० दो० १)—श्रीभरतजी, यथा—"अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा। का देउँ तोहि त्रैलोक महँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥" (उ० दो० १०७)—श्रीजानकीजी। ऐसे ही यहाँ भी विचार करके देख लिया। यहाँ कृतज्ञता की सीमा है।

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥८॥

दोहा—सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि त्राहि भगवंत॥३२॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥१॥

अर्थ—देवताओं के रक्षक श्रीरामजी बार-बार कपि श्रीहनुमानजी को देखते हैं, उनके नेत्र सजल हैं और उनका शरीर अत्यन्त पुलकित है (रोमाञ्च हो आया है)॥८॥ प्रभु श्रीरामजी के वचन सुनकर एवं उनके मुख एवं शरीर को देखकर श्रीहनुमानजी शरीर से हर्षित एवं पुलकित और प्रेम से व्याकुल होकर "हे भगवन्! मेरी रक्षा कीजिये" ऐसा कहते हुए श्रीरामजी के चरणों पर पड़ गये॥३२॥ बार-बार प्रभु उठाना चाहते हैं, पर श्रीहनुमानजी प्रेम में निमग्न हैं, इससे उन्हें उठना नहीं रुचता॥१॥

विशेष—(१) 'पुनि पुनि कपिहि चितव···'—(क) जैसे मन सम्मुख नहीं होता, वैसे नेत्र भी लज्जित हो जाते हैं। अतएव देखकर फिर दृष्टि नीची कर लेते हैं, इससे 'पुनि-पुनि' देखना कहा गया है। यदि एकटक देखते रह जाते तो 'चितइ रहे' ऐसा कहा जाता। (ख) अत्यन्त प्रेम है, उसकी दशा उत्तरार्द्ध में कही गई है। उससे भी बार-बार देखते हैं, यथा—"कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥" (उ० दो० ६)। (ग) बार-बार देखने से भी तृप्ति नहीं होती, इससे भी, यथा—"पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥" (बा० दो० २१६)। 'सुरत्राता'—जो प्रभु देवताओं के उपकार करनेवाले हैं वे ही कपि के उपकार के वश हो रहे हैं। जिनकी कृपादृष्टि के लिये इन्द्र, शिव और नारदजी आदि तरसते रहते हैं, वे ही प्रभु कनौड़े होकर श्रीहनुमानजी को (लज्जित दृष्टि से) देख रहे हैं कि इसने हमारा बड़ा उपकार किया है, यथा—"अब करि कृपा बिलोकि मोहि···" (ल० दो० ११२)—इन्द्र, "महिपाल बिलोकय दीनजनम्" (उ० दो० १३)—शिवजी, "मामवलोकय पंकज लोचन, कृपा बिलोकनि···" (उ० दो० ५०)—नारदजी, इत्यादि। 'लोचन नीर पुलक अति गाता'—जैसे भगवान् में प्रीति होने से भक्त पुलकित हों, वैसी ही दशा आप भक्त के प्रेमवश इस समय प्रकट कर रहे हैं, यथा—"मारुतसुत तव मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥" (उ० दो० ४९), यह भक्त की दशा है।

(२) 'सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख···'—प्रभु ने कहा था—'सुनु सुत', 'सुनु कपि' इसीसे उनका वचन सुनना कहा गया। 'प्रभु' का भाव यह है कि आप समर्थ होकर भी दीनता के वचन कह रहे हैं।

'बिलोकि मुख'—जब श्रीरामजी इनको प्रशंसा करने लगे, इन्होंने सिर नीचा कर लिया था। सज्जनों की रीति यही है, यथा—"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (अर० दो० ४५)। जब प्रभु के वचन समाप्त हुए, तब श्रीहनुमानजी ने उनके मुख की ओर देखा कि वचनों के अनुसार ही प्रेम की दशा भी प्रत्यक्ष है, प्रभु का शरीर पुलकित हो गया है, इत्यादि।

तब अपने ऊपर प्रभु की निस्सीम कृपा समझकर श्रीहनुमानजी को हर्ष हुआ और प्रभु के प्रशंसायुक्त वचनों के अनुसार कहीं अभिमान दबा न दे, इसलिये उत्तरार्द्ध में 'त्राहि त्राहि भगवंत' कहा है कि इस बाधा से रक्षा कीजिये, क्योंकि बड़ाई भक्ति में बाधक है, यथा—"सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ये सब राम भगति के बाधक।" (कि० दो० ६), 'भगवंत' अर्थात् आप षडैश्वर्यवान् ईश्वर हैं, षडैश्वर्यों से जगत-भर की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं। आपका उपकार कोई क्या कर सकेगा? प्रत्युत जो कोई कुछ करता भी है, वह आपकी ही सत्ता से।

यहाँ श्रीहनुमानजी की—मन, कर्म और वचन तीनों से—शरणागति हुई, यथा—'हरषि'—मन, 'त्राहि त्राहि'''—वचन और 'चरन परेउ'—यह कर्म है। इसीसे यहाँ प्रभु ने अभिमान से इनकी रक्षा की, यथा—"बोला बचन बिगत अभिमाना।" आगे कहा गया है। अन्यत्र अभिमान उपज आया है, यथा—"सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।" (लं० दो० ४८), वहाँ भी तत्काल विवेक दे, रक्षा की है।

(३) 'बार बार प्रभु चहइ उठावा।', यथा—"परे भूमि नहिं उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४), बार-बार नहीं उठाने से प्रभु की निष्ठुरता समझी जाती। यदि श्रीहनुमानजी तुरत उठ जाते, तो भगवत्प्रेम में इनकी भी न्यूनता होती। फिर सेवक अपने परम प्राप्य चरणों को पाकर कैसे छोड़े? ऐसे सेवक को प्रभु हृदय से लगाते हैं। वही आगे कहा गया है, यथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।" श्रीहनुमानजी प्रेम में मग्न है, इस कारण से भी नहीं उठना चाहते। चरण पकड़े हुए हैं, यथा—"उतर न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।" (अ० दो० ७१)।

प्रभु - कर-पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥२॥
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥३॥
कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी का कर-कमल श्रीहनुमानजी के सिर पर है, उस प्रेम की दशा का स्मरण करके श्रीशिवजी उस दशा में निमग्न हो गये॥२॥ फिर श्रीशंकरजी मन को सावधान करके अत्यन्त सुन्दर कथा को कहने लगे॥३॥ कपि श्रीहनुमानजी को उठाकर प्रभु ने अपने हृदय से लगाया, हाथ पकड़कर उन्हें अत्यन्त समीप बैठा लिया॥४॥

विशेष—(१) 'सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।'—श्रीशिवजी श्रीहनुमान रूप हैं, इन्हें उस रूप में वह आनन्द प्राप्त हुआ था। उसका स्मरण कर उसी प्रेम में मग्न हो गये, क्योंकि यह परम लाभ है, तभी तो भक्त लोग ऐसी अभिलाषा करते हैं, यथा—"कबहुँ सो करसरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।" (वि० १३८), श्रीहनुमानजी के जाते समय भी—"परसा सीस सरोरुह पानी।' से उपक्रम है और आने पर यहाँ भी—"प्रभु-कर-पंकज कपि के सीसा।' से उपसंहार है।

'मगन गौरीसा'—शब्द से गौरी और ईश (श्रोता-वक्ता) दोनों की मग्नता ध्वनि से कही गई है। प्रधान तो शिवजी (गौरीपति) ही की मग्नता है, क्योंकि आगे श्रीशंकरजी का ही मन सावधान होना कहा गया है, साथ ही गौरीजी भी सचेत हो गईं। कपि तो मग्न हैं ही, साथ ही ग्रन्थकर्त्ता भी। इसीसे विशेष्य (कथा) के अनुकूल अति सुन्दरी न कहकर 'अति सुंदर' पुँल्लिंग विशेषण लिख दिया। इस

प्रसंग के चरितनायक, श्रोता-वक्ता और कवि सभी प्रेममग्न हैं, इसीसे इस कथा को 'अति सुंदर' कहा गया है।

(२) 'सावधान मन करि'''—पहले मग्न होने में मन का नाम नहीं है, क्योंकि वह तो मग्न हो चुका था, अब सावधान होने पर उसे प्रत्यक्ष पाकर कहा है। प्रेम में मन मग्न हो जाता है, यथा—"परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥" (अ० दो० २४०), जब तक प्रभु सिर पर हस्त-कमल रक्खे हुए थे, तब तक श्रीहनुमान निमग्न थे और तभी तक श्रीशिवजी भी। उधर कपि को उठाकर प्रभु ने अपने पास बैठाया और इधर श्रीशिवजी भी सावधान होकर कथा कहने लगे, यथा—"मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरनै लीन्ह॥" (बा० दो० १११), 'संकर' शब्द का भाव यह है कि जगत् के कल्याण के लिये वे कथा में प्रवृत्त हुए। 'अति सुंदर' —सुन्दर तो ध्यान भी था, पर कथा अति सुन्दर है, तभी तो ध्यान छोड़कर सावधान हुए और कथा कहने लगे, यथा—"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहि तजि ध्यान। जे हरि कथा न करहि रति, तिन्ह के हिय पाखान॥" (उ० दो० ४२)। श्रीगोस्वामीजी ने भी इसे अति-प्रेम में निमग्न होकर कहा, इससे भी कथा अति सुन्दरी हो गई।

(३) 'कपि उठाइ प्रभु'''—जब बहुत काल तक कपि नहीं उठे, तब प्रभु ने बलात् उठाकर उन्हें हृदय से लगाया, यथा—"बरबस लिये उठाइ उर, लाये कृपा निधान।" (अ० दो० २४०)। "परे भूमि नहि उठत उठाये। बर करि कृपासिंधु उर लाये॥" (उ० दो० ४)।

इस प्रसंग में उत्तरोत्तर अधिक आनन्दपूर्वक तीन बार प्रभु ने इन्हें हृदय से लगाया—(क) 'प्रीति सहित सब भेंटे।' (ख) 'पुनि हनुमान हरषि हिय लाये।' (ग) 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।' पहले आने पर, फिर जाम्बवान्जी से हाल जानने पर और यहाँ इनके प्रेमाकुल होकर चरण में पड़ जाने पर—यह तीसरी बार हृदय से लगाया। इस आलिंगन का महत्त्व, यथा—"एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः। मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥१३॥ इत्युक्त्वा प्रीतिहृष्टाङ्गो रामस्तं परिषस्वजे। हनूमन्तं कृतात्मानं कृतवाक्यमुपागतम्॥१४॥" (वाल्मी० ६।१), अर्थात् पारितोषिक के प्रति मैं अपना सर्वस्व—यह आलिंगन मैं महात्मा हनुमान को दे रहा हूँ। ऐसा कहते हुए श्रीरामजीका सर्वांग पुलकित हो गया और उन्होंने कृतकार्य श्रीहनुमान का आलिंगन किया।

'कर गहि परम निकट बैठावा।'—हाथ पकड़कर 'परम निकट' बैठाना अत्यन्त आदर का सूचक है, यथा—"सुनि सनेह बस उठि नर नाहा। बैठारे रघुपति गहि बाँहा।" (अ० दो० ७६), "कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे।" (उ० दो० ३२), "अति आदर समीप बैठारी" (लं० दो० ३६)।

कहु कपि रावन-पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका॥५॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन बिगत अभिमाना॥६॥

अर्थ—हे कपि! कहो, रावण से रक्षित लंका को और उसके अत्यन्त बिकट किले को तुमने कैसे जलाया? ॥५॥ (जब) श्रीहनुमानजी ने प्रभु श्रीरामजी को प्रसन्न जाना, तब उन्होंने अभिमान रहित वचन कहा ॥६॥

विशेष—(१) 'केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।'—लंका का रक्षक दिग्विजयी रावण है और उसका किला अत्यन्त बंका (टेढ़ा-मेढ़ा पेचीदा) है, इससे उसके जलाने की कोई विधि नहीं जान पड़ती, फिर तुमने उसे कैसे जलाया? यथा—"त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लङ्का नाम महापुरी। कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥" (हनुमन्नाटक), यद्यपि श्रीहनुमानजी ने समुद्र का लंघन, अशोकवन का उजाड़ना और साथ ही भारी युद्ध भी किया है, तथापि श्रीरामजी ने लंका-दहन को ही आश्चर्य मानकर सर्व प्रथम पूछा,

क्योंकि यह कार्य अत्यन्त कठिन है। इसीसे राक्षस बहुत डर गये और सभीने इसे आश्चर्यवत् माना है, यथा—"उहाँ निसाचर रहहि ससंका। जबते जारि गयउ कपि लंका॥" (दो० ३४), "आवा प्रथम नगर जेहि जारा।" (लं० दो० २२), "जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा।" (लं० दो० ३४), "जारत नगर न कस धरि खाहू।" (लं० दो० ८), "लंकदाह देखे न उछाह रह्यो काहुन को" (क० लं० १)।

(२) 'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना।'—प्रभु की प्रसन्नता समझने के कई कारण हैं—(क) नगर जलाना आततायी का काम है, इसपर कहीं प्रभु अप्रसन्न हुए हों, इनके मन में इसकी शंका थी, यथा—"सत्य नगर कपि जारेउ, बिनु प्रभु आयसु पाइ। फिरि न गयउ सुग्रीव पहिं, तेहि भय रहा लुकाइ॥" (लं० दो० २३)। पर प्रभु इसी बात को आदरपूर्वक सबसे पहले पूछते हैं। अतः, इससे जाना गया कि प्रभु प्रसन्न हैं। (ख) हाथ से उठाकर परम निकट बैठाना भी प्रसन्नता का सूचक है। (ग) सिर पर हाथ रक्खा, प्रेम में मग्न हो, कृतज्ञता से कपि की सराहना कर रहे हैं, ऋणी बन रहे हैं, इत्यादि। 'बिगत अभिमानी'—अभिमान प्रभु को नहीं सुहाता, यथा—"सुनहुँ रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहि काऊ॥" (उ० दो० ७३)। इसीसे बिगत अभिमान वचन कहे और उसीको देखकर वक्ताओं ने भी 'बोला' यह एकवचन क्रिया दी। यदि साभिमान बोलते तो आदरसूचक 'बोले' इस बहुवचन शब्द का प्रयोग किया जाता। जब प्रभु की पूर्ण प्रसन्नता होती है, तब जीव अभिमान से रहित होता है।

साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा ते साखा पर जाई॥७॥
नाघि सिंधु हाटक-पुर जारा। निसिचरगन बधि बिपिन उजारा॥८॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥९॥

दोहा—ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं, जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभाव बड़वानलहिं, जारि सकइ खलु तूल॥३३॥

अर्थ—वानर का यही बड़ा पुरुषार्थ है कि वह इस डाल पर से कूदकर उस डाल पर (चला) जाता है॥७॥ समुद्र को लाँघ कर सोने की लंका नगरी जलाई, निशाचर समूह को मारकर वन को उजाड़ा॥८॥ वह सब, हे रघुराई! आपका प्रताप है (आपके प्रताप से हुआ है) हे नाथ! मेरी इसमें कुछ भी प्रभुता नहीं है॥९॥ हे प्रभो! जिसपर आप प्रसन्न हो जायँ, उसके लिये कुछ भी अगम नहीं है, आपके प्रभाव से रुई बड़वानल (सागर में रहनेवाले अग्नि) को भी निश्चय करके जला सकता है। (तब लंका-दहन कौन-सी बड़ी बात है?)॥३३॥

विशेष—(१) 'साखामृग कै···'—इस शाखा से उस शाखा पर जाने एवं शाखा पर ही निवास करने के कारण वानरों का नाम ही शाखामृग है। यहाँ इसका प्रयोग उत्तम हुआ है। 'बड़ि मनुसाई'—बस, सारा पुरुषार्थ इतना ही है। आगे सब कार्यों का राम-प्रताप से होना कहेंगे, इसलिये अपना पुरुषार्थ इतने में ही कहकर समाप्त करते हैं।

(२) 'नाघि सिंधु हाटक पुर जारा।···'—एक डाल से दूसरी पर कूदनेवाला वानर समुद्र नहीं लाँघ सकता। सोने का नगर आग से नहीं जल सकता और जहाँ एक ही राक्षस समूह-के-समूह वानरों को खा सकता है, वहाँ केवल एक वानर निशाचरगण को भी नहीं मार सकता। रावण के जिस प्रिय बाग की ओर देवता तक नहीं भ्रूक्षेप कर सकते, तब एक साधारण वानर का क्या सामर्थ्य कि उसे उजाड़ डाले—अतः, ये सब कार्य आपके प्रताप से ही हुए।

इस प्रसंग में नगर जलाना, बाग उजाड़ना आदि क्रम से नहीं कहे गये। क्रम-बद्ध कहने में कपि का

वाचिक अभिमान समझा जाता। इसीलिये उल्टा-सीधा जैसे-जैसे याद पड़ता गया, कहते गये।

(३) 'सो सब तव प्रताप···'—श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी से लंका-दहन-मात्र पूछा था, परन्तु इन्होंने और सभी कार्यों को गिनकर उनका राम-प्रताप से होना कहा, नहीं तो शेष कार्यों का होना इनके पुरुषार्थ से ही समझा जाता। 'कछू'—अर्थात् इसमें मेरा किञ्चित् भी कर्त्तव्य नहीं है, यथा—"राम कोह पावक, समीर सीय स्वास, कीस ईस बामता बिलोकु, बानर को ब्याज है।" (क० सुं० २२)। रुई रूप श्रीहनुमानजी हैं और सोने की लंका बड़वानल है। रुई अनल को जला दे, यह असम्भव बात है, इसीसे 'खलु' कहा है, यथा—"नाम प्रभाव सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो॥" (वि० २२८), अर्थात् प्रभु के प्रताप के समक्ष कुछ भी अगम नहीं है। श्रीहनुमानजी की इतनी निरभिमानता भी श्रीप्रभु की प्रसन्नता का कारण है।

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥१॥
सुनि प्रभु परम सरल कपि-बानी। एवमस्तु तब कहेहु भवानी॥२॥
उमा राम-सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥३॥

शब्दार्थ—अनपायनी (अन्-अपायिनी) = न नाश होनेवाली, अर्थात् स्थिर।

अर्थ—हे नाथ! अपनी अत्यन्त सुख देनेवाली, सदा एक रस रहनेवाली भक्ति कृपा करके मुझे दीजिये॥१॥ श्रीशिवजी कहते हैं—हे पार्वतीजी! कपि की परम सीधी वाणी सुनकर तब प्रभु श्रीरामजी ने एवमस्तु (= ऐसा ही हो) यह कहा॥२॥ हे उमा! जिसने श्रीरामजी का स्वभाव जाना है, उसे उनका भजन छोड़कर और कुछ नहीं सुहाता॥३॥

विशेष—(१) 'नाथ भगति अति···'—ज्ञान आदि सद्गुण सुख देनेवाले हैं और भक्ति अत्यन्त सुख देनेवाली है, यथा—"सब सुख खानि भगति तैं माँगी।" (उ० दो० ८४), प्रभु को अत्यन्त प्रसन्न पाकर श्रीहनुमानजी ने उनसे भक्ति माँगी है, क्योंकि भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीरामजी बहुत प्रसन्न होने पर ही भक्ति देते हैं। प्रभु से उनकी भक्ति माँगने का एक यह भी कारण है कि इससे श्रीरामजी मेरे ऊपर सदा अनुकूल रहेंगे, यथा—"भगतिहि सानुकूल रघुराया।" (उ० दो० ११५)। एतदरिक्त यह भी कारण है कि श्रीरामजी ने कहा था, यथा—"प्रति उपकार करउँ का तोरा।' " उसीके उत्तर में भक्ति माँगकर चरितार्थ करते हैं कि मैं तो दास हूँ और यह दासता का भाव सर्वदा के लिये चाहता हूँ। आपकी सेवा करना तो मेरा स्वभाव ही है, फिर आपको प्रत्युपकार का क्या प्रयोजन?

'देहु कृपा करि अनपायनी'—दास पर कृपा की जाती है, अतएव मुझपर आपकी कृपा हो और उससे मुझे आपकी भक्ति मिले। भक्ति सुकृत से भी मिलती है, यथा—"जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।" (अर० दो० ६), पर मुझमें जप योग आदि कुछ भी नहीं हैं। अतः, एक कृपा का ही अवलम्बन है। पुनः धर्म से जो भक्ति मिलती है, वह इतनी दृढ़ नहीं रह सकती, क्योंकि पुण्य से उसके परिणाम-स्वरूप भक्ति भी सीमित ही रहती है, परन्तु आपकी कृपा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, यथा—"जासु कृपा नहि कृपा अघाती।" (बा० दो० २७), और इसीसे उस कृपा से प्राप्त भक्ति का नाश नहीं होता। और, सब प्रवीण लोग इसे ही चाहते हैं, यथा—"बालबिनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।" (बा० दो० ३)—श्रीगोस्वामीजी। "अब करि कृपा देहु बर येहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥" (अ० दो० १०६)—श्रीभरद्वाजजी। "अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन-राती॥" (कि० दो० ६)—श्रीसुग्रीवजी। "अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥" (दो० ४८)—श्रीविभीषणजी। "परमानंद कृपायतन···प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहि श्रीराम॥" (उ० दो०

३४)—श्रीसनकादिक। "नाथ एक बर माँगउँ, राम कृपा करि देहु। जन्म जन्म प्रभु-पद-कमल, कबहुँ घटै जनि नेहु॥" (उ० दो० ४६)—श्रीवसिष्ठजी। "भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥" (उ० दो० ८४)—श्रीभुशुण्डीजी, इत्यादि। देखिये; लोमशजी ने भुशुण्डीजी को अविरल भक्ति दी थी, यथा—"राम भगति अविरल उर तोरे। बसिहि सदा···" (उ० दो० ११२), पर वह भक्ति 'अनपायिनी' नहीं रह सकी। उन्हें विद्या माया की व्याप्ति से मोह हुआ, उसपर जब श्रीरामजी ने स्वयं अपना ऐश्वर्य दिखा कृपा कर भक्ति दी, तब वह अनपायिनी हुई—"माया संभव भ्रम सब, अब न ब्यापिहहिं तोहि।" "तब ते मोहि न ब्यापी माया। जबते रघुनायक अपनाया॥" (उ० दो० ८५, ८८)

(२) 'परम सरल कपि-बानी'—उपक्रम में—'बोला बचन बिगत अभिमाना।' और उपसंहार में—'परम सरल बानी' कहकर जनाया गया कि अभिमान रहित वाणी ही परम सरल है। 'एवमस्तु तब कहेउ'—'तब' का भाव यह है कि प्रभु ने इनको तीन बार हृदय से लगाया, सिर पर हाथ फेरा, इनके ऋणी बने, परन्तु स्वयं भक्ति देने को नहीं कहा, भक्ति ऐसी ही दुर्लभ वस्तु है, यथा—"मुनि दुर्लभ हरि भगति···" (उ० दो० १२६), "प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥" (उ० दो० ८३), जब श्रीहनुमानजी ने परम सरल वाणी से अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट की, तब उन्हें भक्ति मिली।

(३) 'उमा राम-सुभाव जेहि जाना।·· '—श्रीशिवजी के इस कथन से यह भी सिद्ध होता है कि श्रीहनुमानजी भी श्रीरामजी का स्वभाव जानते हैं, यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुप्रेम राम प्रेम सुरतरु, लसत सरस सुख फूलत फरत॥" (वि० २५१), श्रीमुख वचन भी है, यथा—"तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।" (उ० दो० ३५), 'सुभाव' अर्थात् ऐसे उदार, कृतज्ञ एवं पतित पावन आदि विशेषणों के युक्त होना, जिनसे सेवक की श्रद्धा बढ़े, यथा—"आत्मारामाश्च···" (भाग० १।७।१०), अर्थात् भगवान् के स्वभावभूत गुण ही ऐसे हैं कि जिनकी चित् (जीव) और जड़ (देह) की ग्रन्थि-पर्यन्त निर्मुक्त हो गई है, साधन से कुछ भी प्रयोजन नहीं है वे भी बिना प्रयोजन उनका भजन करते हैं, तथा—"सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥" (वि० ८६), "यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥" (गीता १५।१९), स्वभाव-ज्ञाता श्रीभुशुण्डीजी भी हैं, यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥" (दो० ४७), उन्होंने इसे यहाँ चरितार्थ करके दिखाया है, यथा—"प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भजन हीन सुख कौने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खग राजा॥" (उ० दो० ८३), ऊपर भक्ति कही गई, उसे ही यहाँ 'भजन' कहा गया, यथा—'भजनं भक्तिः'। 'भाव न आना'—और ज्ञान-विवेक आदि गुण अन्य पदार्थ हैं, ये भी उसी प्रसंग में कहे गये हैं, यथा—"काक-भुसुंडि माँग बर, अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि, मोच्छ सकल सुख खानि॥ ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनिदुर्लभ गुन जे जग जाना॥" (उ० दो० ८३), भक्त को भक्ति की माधुरी के आगे और सब कुछ फीका लगता है, यथा—"तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथ-मन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते॥" (आलवन्दारस्तोत्र), तथा—"प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता···" (बा० दो० ३५)।

यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति-चरन भगति सोइ पावा॥४॥

सुनु प्रभु-बचन कहहिं कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा॥५॥

अर्थ—जिसके ही हृदय में यह संवाद आया (एवं आता है) (अर्थात् जिसने इसे समझा और

प्रेम से धारण किया एवं करता है), श्रीरघुनाथजी के चरणों की भक्ति उसीने पाई एवं पाता है ॥४॥ प्रभु के वचन सुनकर वानर गण कह रहे हैं कि कृपालु एवं सुखकन्द (सुख बरसानेवाले मेघ रूप) श्रीरामजी की जय हो, जय हो, जय हो ॥५॥

विशेष—(१) 'यह संवाद ···'—'प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना ।' से 'देहु कृपा करि मम अनपायनी ॥' तक यह संवाद है, उसकी फलश्रुति कहते हैं । 'जासु उर आवा'—जिस किसीके हृदय में आवेगा, वह श्रीरामजी का स्वभाव जानेगा और फिर उपर्युक्त रीति से भक्ति पावेगा । पुनः उसे भक्ति के समान ज्ञान आदि अन्य कुछ भी नहीं भावेंगे । 'उर आवा' हृदयस्थ हो, तब; केवल पढ़ लेने मात्र से नहीं, 'सोइ' शब्द दीपदेहली रूप से 'पावा'=पानेवाले और 'भगति' के साथ है । जैसे श्रीहनुमानजी ने भक्ति पाई और जो भक्ति पाई, वैसे ही और वही भक्ति वह भी पावेगा । 'आवा' कि 'पावा' अर्थात् किंचित् विलम्ब नहीं होगा । शरण-आने के साथ ही पावेगा ।

संवादों में जैसा विषय होता है, वसी ही उसकी फलश्रुति भी होती है, यथा—"यह उमा संभु बिबाह जे नर नारि सुनहिं जे गावहीं । कल्यान काज बिबाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं ।" (बा० दो० १०३), इसमे विवाह मंगल का प्रसंग था, वैसा ही मंगल सुख आदि इसका फल भी कहा गया और सब काण्डों की फलश्रुतियों में भी ऐसा ही लिखा जा चुका है । वैसे ही यहाँ श्रीहनुमानजी को भक्ति मिली, संवाद के श्रवण-फल में भी वही बात कही गई है ।

(२) 'सुनि प्रभु-बचन ···'—श्रीहनुमानजी को अनपायिनी भक्ति मिली । इसपर सब वानर प्रभु की जय-जयकार करने लगे । अपनी जाति की भलाई पर हरएक को हर्ष होता ही है, यथा—"रिषि निकाय मुनिवर गति देखी । सुखी भये निज हृदय बिसेषी ॥" (अर० दो० ८), श्रीहनुमानजी इन सबों के प्राणरक्षक भी है । इससे इनके उत्कर्ष पर सभी प्रसन्न हैं । पुनः ये लोग तो इस संवाद को प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं, अतएव राम-स्वभाव भी जान गये, इससे राम-चरण-भक्ति पाई और स्वामी की कृपा और भक्त-सुख-दातृत्व आदि गुणों पर उनकी जय-जयकार करने लगे ।

एक यह भी भाव है कि 'प्रभु-बचन'—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी ।" से "देखेउँ करि बिचारि मन माहीं ।" को सुनकर श्रीहनुमानजी चरणों पर पड़ गये और 'त्राहि-त्राहि' कहने लगे । शेष वानर प्रभु के ऐसे भक्त-वशीभूत स्वभाव की जय-जयकार करने लगे । इसीसे 'सुनि प्रभु-बचन' दोनों जगह रक्खा गया है, यथा—'सुनि प्रभु-बचन बिलोकि मुख ···' और यहाँ भी । 'जय जय जय'—तीन बार बहुवचन कहकर सूचित किया गया कि प्रभु का स्वभाव समझ-समझकर बार-बार सब वानर जय-जयकार करते हैं । 'कृपालु', यथा—"चितइ सबनि पर कीन्हीं दाया ।" (लं० दो० ११६), 'सुख कंदा', यथा—"तब रघुबीर बोलि कपि लीन्हे । कहि प्रिय बचन सुखी सब कीन्हे ॥" (लं० दो० १०४) ।

'सेन समेत जथा रघुबीरा । उतरे जाइ बारिनिधि तीरा ॥'-प्रकरण

तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा । कहा चलइ कर करहु बनावा ॥६॥
अब बिलंब केहि कारन कीजै । तुरत कपिन्ह कहँ आयसु दीजै ॥७॥
कौतुक देखि सुमन बहु बरषी । नभ ते भवन चले सुर हरषी ॥८॥

दोहा—कपिपति बेगि बोलाये, आये जूथप जूथ ।
नाना बरन अतुल बल, बानर - भालु - बरूथ ॥३४॥

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजी ने वानरराज श्रीसुग्रीवजी को बुलाया और कहा कि चलने का प्रबन्ध

कीजिये ॥६॥ अब किस कारण से देर की जा रही है ? वानरों को शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥७॥ यह कौतुक देखकर तथा बहुत फूल बरसा कर और प्रसन्न होकर देवगण आकाश मार्ग से अपने-अपने घरों को चले ॥८॥ कपीश श्रीसुग्रीवजी ने सेनापतियों के समूहों को शीघ्र बुलाया, वे शीघ्र आये। वे वानरों और भालुओं के झुंड अनेक रंगों एवं जातियों के हैं, और उनमें अतुलित बल है ॥३४॥

विशेष—(१) 'तब रघुपति कपि-पतिहि बोलावा।···'—'तब' अर्थात् जब परमार्थ की बातें हो चुकीं, तब स्वार्थ की बातें चलीं। सब कपियों पर श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा चलती है, इससे उन्हें 'कपिपति' कहा गया और उनपर भी श्रीरामजी की आज्ञा है, इससे यहाँ 'रघुपति' शब्द कहा गया, क्योंकि रघुवंशि-चक्रवर्त्ती हैं। 'बोलावा'—ये बहुत दूर नहीं हैं, पर वानरों के जय-जयकार-शब्द से कुछ सुनाई नहीं पड़ता, इससे उन्हें निकट बुलाया। 'बनावा'—व्यूह रचना, यथा—"तुलसी दास प्रभु सखा अनुज सों सैनहिं कह्यो चलहु सजि सैन॥" (गी० सुं० २१), अर्थात् सब यूथपति अपने-अपने यूथों की व्यूह-रचना करके चलें।

(२) 'अब बिलंब केहि·····—भाव यह है कि अभी तक तो विलम्ब करने का कारण भी था—सीता-सुधि नहीं मिली थी, अब तो सुधि मिल गई तो फिर क्यों देरी कर रहे हो ? यथा—"जौ रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहि बिलंब रघुराई॥" (दो० १५), तात्पर्य यह है कि जब श्रीसीताजी की सुधि मिलती तभी तैयारी करते। पुनः जब श्रीहनुमानजी ने कहा—'बेगि चलिय प्रभु ···' तब प्रभु से आज्ञा लेकर चलने की शीघ्र तैयारी करना आवश्यक था। अब प्रभु को बुलाकर कहना पड़ा, यही विलम्ब है। 'तुरत कपिन्ह कहँ···'—क्योंकि श्रीहनुमानजी ने 'बेगि चलिय' कहा ही है, यथा—"अस्मिन्मुहूर्त्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय। युक्तो मुहूर्त्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः ॥३॥···उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते। अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीक समावृताः ॥५॥ निमित्तानि च पश्यामि···" (वाल्मी० ६।४), अर्थात् श्रीरामजी ने कहा—सुग्रीव, इसी समय यात्रा का प्रबन्ध करो, योग्य मुहूर्त्त है, सूर्य दिन के मध्य भाग में आ गये हैं। ··आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है, कल चन्द्रमा हस्त पर आ जायगा। सेना के साथ आज ही हमलोग चलें। अनुकूल मांगलिक शकुन भी देख रहा हूँ।

(३) 'कौतुक देखि सुमन बहु बरषी।'—परम समर्थ प्रभु का वानरों की सेना साथ लेना—कौतुक है, यथा—"तब निज भुज बल राजिव नैना। कौतुक लागि संग कपि सेना॥' (कि० दो० २६), पुनः रंग-विरंग के वानरों का गर्जना-तर्जना आदि भी खेल ही है। देवताओं ने बहुत-से फूल बरसाये, क्योंकि वानरी सेना बहुत दूर में थी। अतः, सर्वत्र फूल बरसाये। यह प्रस्थान के समय मंगल के लिये देवताओं की सेवा है, यथा—"समय-समय सुर बरषहि फूला।" (बा० दो० ३१८), "गगन सुमन झरि अवसर जानी।" (बा० दो० ३२३), यहाँ भी देवताओं की स्वार्थ-परता साफ प्रकट है कि जब श्रीसीताजी की सुधि मिली एवं जब श्रीहनुमानजी को प्रभु भक्ति मिली, तब इन्होंने फूल की वर्षा नहीं की और जब सेना प्रस्थान की आज्ञा हुई, तब बहुत फूल बरसाये, क्योंकि इससे रावण मारा जायगा, और ये सुखी होंगे। इसी लाभ को समझकर देवताओं ने फूल बरसाये। कहा भी है, यथा—"आये देव सदा स्वारथी।" (ल० दो० १०८), 'नभ ते भवन चले'—अभी तक वर्षा और शरत् में ये लोग भूमि पर भ्रमर आदि के रूपों में प्रभु की सेवा में लगे थे, यथा—"मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहि सिद्ध मुनि प्रभु की सेवा॥" (कि० दो० १२), प्रस्थान का समय निकट जानकर सब अपने-अपने स्वाभाविक रूपों में नभ को गये और फिर वहाँ से कौतुक देख-देखकर अपने-अपने घर को चल दिये।

(४) 'कपिपति बेगि बोलाये···'—'बेगि बोलाये' अतएव सब तुरत ही आ गये। 'आये जूथप जूथ'—सेनापति बहुत हैं, यथा—"पदुम अठारह जूथप बंदर।" (दो० ५४), 'वानर-भालु' से जाति

और 'बरूथ' से सेना कही गई। श्रीरामजी ने श्रीसुग्रीवजी को आज्ञा दी, श्रीसुग्रीवजी ने यूथपों को और उन सबों ने अपनी-अपनी सेनाओं को आज्ञा दी। तुरत सब आ गये, इसीसे 'बोलाये' और 'आये' साथ ही कहा गया।

प्रभु-पद पंकज नावहिं सीसा। गर्जहिं भालु महाबल कीसा ॥१॥
देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव-नैना ॥२॥
राम-कृपा-बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥३॥
हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर सुभ नाना ॥४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी के चरण-कमलों में सिर नवाते हैं और वे महाबलवान् वानर-भालु गरज रहे हैं ॥१॥ श्रीरामजी ने सारी वानरी सेना देखी और अपने कमल समान नेत्रों से उनपर कृपादृष्टि की ॥२॥ श्रीरामजी की कृपा का बल पाकर वानर श्रेष्ठ मानों पक्ष समेत श्रेष्ठ पर्वत हो गये ॥३॥ तब श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर प्रस्थान किया, अनेक सुन्दर और शुभदायक शकुन हुए ॥४॥

विशेष—(१) 'प्रभु-पद पंकज···'—श्रीसुग्रीवजी जब अलग रहते, तब वानर लोग उन्हें भी प्रणाम करते हैं, यथा—"आइ सबन्हि नावा पद सीसा। मिले सबन्हि अति प्रीति कपीसा ॥" (दो० २८), परन्तु यहाँ श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी के पास बैठे हैं। इससे श्रीरामजी को प्रणाम करने से समाज भर को प्रणाम करना हो गया, क्योंकि प्रभु अंगी और सब अंग रूप हैं। 'गर्जहिं'—क्योंकि इस यात्रा में शत्रु पर चढ़ाई करते हुए वीर रस का आवेश है। ऊपर के दोहे में 'नाना बरन अतुल बल' कहा गया है और यहाँ 'महाबल'। इससे जनाया गया कि कोई अतुल बलवाले और कोई महाबली हैं। 'नावहि सीसा'—जहाँ-तहाँ से बैठकर प्रभु के चरणों में सिर नवाते हैं, क्योंकि साष्टाङ्ग दंडवत् का अवकाश नहीं है, अत्यन्त भीड़ है।

(२) 'देखी राम सकल···'—जब सब प्रणाम कर चुके तब श्रीरामजी ने पहले सामान्य दृष्टि से देखा कि सेना कैसी और कितनी है। फिर बली एवं विशालकाय बनाने के लिये कृपादृष्टि से देखा। वही आगे श्रीगोस्वामीजी लिखते भी हैं, यथा—'राम कृपा बल पाइ·· '। 'राजिव-नैना'—यह विशेषण कृपा-सूचक है, यथा—"राजिव नयन धरे धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुख दायक ॥" (बा० दो० १७), "देखी राम बिकल कटकाई ··मैं देखउँ खल बल दलहिं, बोले राजिव-नयन ॥" (लं० दो० ६६), जैसे राजा लोग सेना को पारितोषिक देकर उन्हें युद्ध में ले जाते है, वैसे यहाँ भी पारितोषिक-रूप कृपा का बल सब को मिला। 'भये'—दीपदेहली है, कपीन्द्र विशालकाय एवं बली हुए और पक्षयुत भी हुए अर्थात् उनमें उड़ने का भी सामर्थ्य आ गया—'चले गगन महि इच्छाचारी' यह आगे कहा ही है। 'गिरिंदा'—सब गिरि-श्रेष्ठ सुमेरु के समान हो गये। अब रावण और उसकी सेना से लड़ने योग्य हो गये। पहाड़ों के समान युद्ध में अचल रहेंगे और इन सबके शरीर में शस्त्र न विधेंगे। श्रीहनुमानजी ने श्रीसीताजी के सामने सुमेरु के समान रूप दिखाकर सान्त्वना देते हुए (वाल्मी० ५।३६।३८ में) कहा था कि सब वानर ऐसे ही हैं, यहाँ मानो प्रभु श्रीरामजी ने उनके वचन को सत्य किया है।

(३) 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना।···'—जब प्रभु ने सेना को योग्य और बलिष्ठ बना लिया, तब हर्ष-पूर्वक वहाँ से चले। प्रस्थान के समय हर्ष का होना श्रेष्ठ शकुन है। यह तो भीतर का शकुन हुआ। बाहर भी नाना प्रकार के शकुन हुए। भीतर का शकुन श्रेष्ठ है, इसीसे उसे पहले कहा गया है। शकुन बा० दो० ३०२-३०३ एवं वाल्मी० ६।४।६-७, ४५-५२ में देखिये। यह अर्द्धाली—'हरषि राम···' यात्रा में कार्य-सिद्धि के लिये मन्त्र-रूप मानी जाती है। अतएव यात्रा के समय इसका स्मरण करते हुए प्रस्थान करना चाहिये, इससे अवश्य मनोरथ-सिद्धि होती है।

जासु सकल मंगलमय कीती। तासु पयान सगुन यह नीती ॥५॥
प्रभु - पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं ॥६॥
जोइ जोइ सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहिं सोई ॥७॥

अर्थ—जिसकी कीर्त्ति सर्व मङ्गलमय है, उसके प्रस्थान में शुभ-शकुन होना यह नीति ही है अर्थात् उचित ही है ॥५॥ प्रभु का प्रस्थान वैदेही श्रीजानकीजी ने जान लिया, उनके बायें अंग फड़क-फड़ककर मानो कहे देते है (कि प्रभु आ रहे हैं, तुम्हारे लिये मंगल है) ॥६॥ श्रीजानकीजी को जो-जो शकुन होते है, वही-वही रावण को अपशकुन हुए, अर्थात् बाम अंग ही दोनों के फड़के, जो स्त्री के लिये शकुन और पुरुष के लिये अपशकुन हैं ॥७॥

विशेष—(१) 'फरकि बाम अँग .....', यथा—"राम सीय तन सकुन जनाये।' से भरत आगमन सूचक अहहीं ॥" तक (अ० दो० ६), एवं—"सगुन होहि सुंदर''जानि सगुन मन हर्ष अति'''" (उ० दो० १), देखिये। बायाँ अंग फड़कने से श्रीजानकीजी निश्चय-पूर्वक जान गईं कि प्रभु यहाँ के लिये प्रस्थान कर चुके—यही शकुन का कह देना है। 'बैदेही'—का भाव यह है कि वे विरह से व्याकुल होकर शरीर छोड़ना चाहती थीं कि उसी समय शकुनों ने उन्हें सान्त्वना दी कि घबराओ नहीं, प्रभु आ रहे हैं। पुनः यह भी भाव है कि जब वे विदेह के समान देह-सुधि से रहित हो गईं, तब वे शकुन होने लगे कि जिनसे सचेत हों। यहाँ शकुनों से चार सौ कोस पर श्रीजानकीजी को खबर गई। आगे भार के द्वारा शेष तक और मन हर्ष के द्वारा सूर्य-चन्द्र आदि तक, सूचना होना कहते हैं। शीघ्र सूचना देने का यह शकुन विद्या उत्तम साधन है। वाम अंग फड़कन से ही दो जगह विरुद्ध बातें हुईं, इससे यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

(२) 'असगुन भयउ रावनहिं सोई।'—श्रीसीताजी के शकुन के साथ मिलाकर रावण के अपशकुन कहने के हेतु ये है कि उसके अपशकुन के हेतु श्रीसीताजी ही हैं, यथा—"जब ते तुम सीता हरि आनी। असगुन होहि न जाहि बखानी ॥" (लं० दो० ४६), पुनः ये ही हेतु उसके नाश के भी है, यथा—"कालराति निसिचर-कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥" (दो० ३९), "तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई। सीता सीत-निसा-सम आई ॥" (दो० ३५)।

चला कटक को बरनइ पारा। गर्जहिं बानर-भालु अपारा ॥ ८ ॥
नख आयुध गिरि-पादप-धारी। चले गगन महि इच्छाचारी ॥ ९ ॥
केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। डगमगाहिं दिग्गज चिक्करहीं ॥१०॥

अर्थ—कटक (सेना, दल) चला, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? अगणित बानर-भालू गरज रहे हैं ॥८॥ नख (नाखून) उनके (मुख्य) हथियार हैं, वे पहाड़ और वृक्ष धारण किये हुए हैं, इच्छा-चारी हैं, कोई तो आकाश में और कोई पृथ्वी में चल रहे हैं ॥९॥ रीछ और बानर सिंह की-सी गर्जनाएँ कर रहे हैं, दिशाओं के हाथी डगमगाते है और चिंघाड़ते हैं ॥१०॥

विशेष—(१) 'चला कटक''''''—पहले श्रीरामजी का प्रस्थान करना कहा गया तब पीछे कटक का—इस तरह कि श्रीरामजी श्रीहनुमानजी की और श्रीलक्ष्मणजी श्रीअंगदजी की पीठ पर सवार होकर आगे-आगे चले और पीछे-पीछे कटक चला। 'को बरनइ पारा', यथा—"बानर-कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा ॥" (कि० दो० २१), अर्थात् असंख्य हैं।

(२) 'नख आयुध''''''—नख शस्त्र और गिरि-पादप अस्त्र हैं, यथा—"एक नखन्ह रितु बपुष बिदारी ॥" (लं० दो० ९६), "गहि गिरि तरु अकास कपि धावहिं।" (लं० दो० ७१)। 'इच्छाचारी'—

से अव्याहत गति भी सूचित की गई कि दशो दिशाओं में सर्वत्र इच्छा से जा सकते हैं। आकाशगामी ही बहुत हैं, इसीलिये पहले 'गगन' शब्द दिया गया है।

(३) 'केहरि-नाद भालु-कपि करहीं। ···'—वानर-भालू पारी-पारी से एवं बार-बार गरजते है, इसीसे प्रसंग में चार बार गरजना लिखा गया है। (क), यथा—"गर्जहि भालु महाबल कीसा।"—इसमें भालू ही पहले गरजे। (ख) "गर्जहिं बानर-भालु अपारा।"—इस बार वानर पहले हैं। (ग) "केहरि-नाद भालु-कपि करहीं।"—यहाँ भालू पहले है। (घ) "कटकटहि मरकट बिकट भट बहु···"—यहाँ वानर मुख्य है, इत्यादि गर्जन में ढ्योढ़ लगी है, गर्जते हुए कुछ कहते भी हैं, वह आगे शुक की बातों से प्रकट है—"मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसेहि बचन कहहि सब कीसा॥" (दो० ५४), तथा—"रावणो नो निहन्तव्यः सर्वे च रजनीचराः। इति गर्जन्ति हरयो राघवस्य समीपतः॥" (वाल्मी० ६।४।२९), अर्थात् श्रीरामजी के पास वानर गर्ज-गर्ज कर कहते हैं कि हमलोग रावण एवं सब राक्षसों को मारेंगे। पुनः पहले प्रभु के पास आने पर गरजे। फिर चलते समय गरजे। पुनः मार्ग में सिंह-नाद करते हुए चलना कहा गया है और आगे कोटि-कोटि के धावा करने पर गरजना है, इस तरह क्रमशः चारो बार चार हेतुओं से गरजना कहा गया है।

छन्द—चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।
मन हर्ष दिनकर सोम-सुर-मुनि-नाग-किन्नर दुख टरे॥
कटकटहिं मर्कट बिकट भट बहु कोटि कोटिन्ह धावहीं।
जय राम प्रबल प्रताप कोसलनाथ-गुन-गन गावहीं॥

अर्थ—दिग्गज चिघाड़ने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, पहाड़ चंचल हो गये और वे खलबला उठे। सूर्य, चन्द्रमा, देवता, मुनि, नाग और किंपुरुषों के मन में हर्ष हुआ, उनके दुःख टल गये॥ भयंकर वानर योद्धा कटकटाते (क्रोध से दाँतों द्वारा शब्द करते) है और बहुत-से करोड़ों-करोड़ों मिलकरके धावते है। श्रीरामजी की जय हो, जिनका प्रताप प्रबल है और जो अयोध्यापुरी के राजा है, इस तरह (कोसलनाथ श्रीरामजी के) गुण-गण गा रहे है॥

विशेष—(१) 'चिक्करहिं दिग्गज···'—जब दिग्गज चिघाड़ने लगे, तब पृथ्वी डोल उठी और फिर उसपर के पर्वत और समुद्र हिलने लगे और उनमें खलबली पड़ गई। 'चिकरहि' और 'खरभरे' क्रियाएँ बहुवचन हैं, क्योंकि दिग्गज आठ और सागर सात है। 'मन हर्ष दिनकर-सोम-सुर ·'—इनके मन में हर्ष है, क्योंकि रावण के अत्याचार से ये लोग बहुत दुखी थे, यथा—"रवि ससि पवन बरुन धन धारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥" (बा० दो० १८१), सूर्य-चन्द्रमा के नामों के द्वारा पहले लोकपालों के नाम लिये गये। लोकपालों के नाम ही पहले कहे गये, क्योंकि इन्हें रावण अधिक दुःख देता था, यथा—"लोकप जाके बंदीखाना,॥" (लं० दो० ८८), "कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० १६), देवता, नाग, किन्नर आदि की तो स्त्रियों तक को छीन लिया था, "देवजच्छ गंधर्वनर ··" इत्यादि। 'टरे'—अभी इनके दुख केवल हट गये है, पर उनका समूल नाश तो रावण नाश के साथ ही होगा।

(२) 'कटकटहि मर्कट बिकट भट···'—वानरों का कटकटाना भारी क्रोध का सूचक है, यथा—"कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥" (दो० १८), "कटकटाहि कोटिन्ह भट

गर्जहिं। दसन ओठ काटहि अति तर्जहिं ॥" (लं० दो० ३९), 'कटकटहिं' से शब्द की भयंकरता, 'बिकट भट' से देह की भीषणता और 'कोटिन्ह धावहीं' से उनके कर्म की भयंकरता दिखलाई गई है।

(३) 'जय राम प्रबल प्रताप···'—'प्रबल प्रताप', यथा—"जब ते राम-प्रताप खगेसा। उदित भयो अति प्रबल दिनेसा॥" (उ० दो० ३०), जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार का नाश होता है वैसे ही श्रीराम-प्रताप से निशिचर नष्ट होंगे। इस समय जो वानर प्रबल हो गये हैं वह भी श्रीरामजी के प्रताप से ही, यथा—"राम-प्रताप प्रबल कपि-जूथा।" (लं० दो० ४०), तात्पर्य यह है कि प्रबल प्रताप से श्रीरामजी रावण आदि को मारकर जय पावें और कोशलपुर के राजा होकर अपने गुण-गणों से प्रजा को सुखी करें। 'गुण-गण', यथा—"अनुज्ञातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः।", "दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो ·", "दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्। गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥" (वाल्मी० २।२।११,३८,४९) 'राम' से नाम, 'प्रताप' से रूप, 'कोसलनाथ' से धाम और 'गुन-गन' से लीला का भी वर्णन है। सब उत्साहपूर्ण हैं, अतएव गुण गाते हुए जय-जयकार करते हैं।

सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहिं मोहई।
गह दसन पुनि-पुनि कमठ पृष्ठ कठोर सो किमि सोहई॥
रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति जानि परम सुहावनी।
जनु कमठ खर्पर सर्पराज सो लिखत अबिचल पावनी॥

अर्थ—श्रेष्ठ और बड़े भारी सर्पाधिपति शेषनागजी भी इस बड़े भारी भार को नहीं सह सकते, बार-बार मोह (भ्रम एवं चित्त-चिन्ता) को प्राप्त होते हैं। वे बार-बार कच्छप (भगवान) की कठोर पीठ को दाँतों से पकड़ लेते है, वह कैसा शोभायमान हो रहा है॥ कि मानों रघुवीर श्रीरामजी के सुन्दर प्रस्थान पर यात्रा-मुहूर्त्त को परम शोभायमान जानकर उसे अविचल और पवित्र रीति से कच्छप के खर्पर (पृष्ठ-भाग) पर सर्पराज शेषजी लिख रहे हों॥

विशेष—(१) 'सहि सक न भार···'—वे वानर-भालू पहले भी पृथ्वी पर ही रहते थे, परन्तु वे पृथ्वी पर सवत्र फैले हुए थे। अब सभी एकत्र हुए हैं, फिर श्रीरामजी की कृपा से अत्यन्त भारी और बली हो गये है—"राम कृपा बल···भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा॥" जब ये आकाश में चलते है, तब शेष पर भार नहीं रहता। पुनः जब आवेश मे भरे हुए 'कोटि कोटिन्ह धावहीं' कहा गया है, तब पृथ्वी पर का यह भार शेषजी से कैसे सहा जाय, अतएव उनका गरजना दिग्गज नहीं सह सके और भार शेषजी भी नहीं सह सके। 'बार-बारहिं मोहहीं' अर्थात् सावधान होते है और फिर मोहित हो जाते हैं, वही आगे 'गह दसन···' से दिखाया गया है, यथा—"दिग्गज कमठ कोल सहसानन धरत धरनि धरि धीर। बारहि बार अमरपत कर्षत करकै परी सरीर॥" (गी० सु० २२), इसमें उक्त 'मोहहीं' का अर्थ प्रकट है कि बार-बार आमर्ष (क्रोध) में भर जाते हैं कि आज यह क्यों हमारा अपमान हो रहा है, भार हमसे नही सहा जा रहा है और फिर बल लगाकर खींचते हैं, जिससे शरीर में पीड़ा हो आती है।

(२) 'गह दसन पुनि-पुनि···'—पृथ्वी के नीचे पहले दिग्गज हैं, उनके नीचे शेषजी और शेषजी के नीचे आधारभूत कमठ भगवान् हैं, उसी क्रम से भार का अनुभव होना भी कहा गया है। जब शेषजी के फण नीचे को झुकते हैं, तब वे दाँतों से कमठ-पृष्ठ का सहारा लेते हैं, फिर सावधान हो जाते हैं। जब कमठ-पृष्ठ पर दाँत नहीं ठहरता, तब वे मोहित हो जाते हैं और फिर से दाँत अड़ाते हैं। 'सो किमि

सोहई'—राम-यश लिखना शोभा है और उससे सम्बन्धित मोहित होना भी शोभा ही है। यहाँ कमठ भगवान् की ही स्थिरता कायम रह सकी।

(३) 'रघुबीर रुचिर प्रयान-प्रस्थिति···'—त्रिलोक-विजयी रावण पर चढ़ाई करने के कारण से 'रघुबीर' शब्द का प्रयोग किया गया। 'प्रस्थिति'=यात्रा-मुहूर्त्त, एवं प्रकर्ष-स्थिति, अर्थात् जिससे प्रस्थान की स्थिति कि अमुक समय में अमुक भाँति से श्रीरामजी ने प्रस्थान किया है, इसकी कुंडली सदा बनी रहे—इसलिये लिख रहे हैं। 'जानि परम सुहावनी'—सुन्दर वस्तु प्रायः लिख (नोट कर) ली जाती है। पुनः सबको सुहावनी है और शेषजी की दृष्टि में परम सुहावनी है, क्योंकि मुख्यतया प्रभु उन्हींका भार उतारने जा रहे हैं, इसलिये वे स्वयं लिख लेते हैं। कमठ-पृष्ठ वज्र से भी कहीं अधिक कठोर है, अतएव ये रेखाएँ कभी न मिटेगी जिससे यह कीर्त्ति सदा अचल रहेगी। जैसे पत्थर पर टाँकी से खोदे हुए अक्षर बहुत काल तक रहते हैं, वैसे यहाँ शेष-दाँत टाँकी के समान है, कठोर कमठपृष्ठ पर खोद कर लिख रहे हैं कि अचल रहे। यहाँ प्रयाण, कमठ और शेष इन तीनों की शोभा कही गई है।

(४) 'जनु कमठ-खर्पर···'—श्रीराम-यश पवित्र और अविनाशी है, इसीलिये उसे कठोर पृष्ठ पर लिख रहे हैं कि यह पावनी कीर्त्ति सदा अविचल रहे। दाँतों का एक बार कमठ-पृष्ठ पर से हट जाना मानों एक पंक्ति का पूरा होना है। पुनः पीठ पकड़ना दूसरी पंक्ति का प्रारम्भ करना है। इस तरह के प्रसंगों का, जिन कवियों ने—"असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे, सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।··" (.शिवमहिम्न), इस रीति से वर्णन किया है, उनसे श्रीगोस्वामीजी का वर्णन कितनी उच्चकोटि का हुआ है, पाठक स्वयं विचार करें कि पृथ्वी पर की रेखा शीघ्र मिटती है, पर कमठ पृष्ठ अत्यन्त कठोर है और काष्ठलेखनी की अपेक्षा शेषजी के दाँतों की लेखनी अत्यन्त कठोर है, इत्यादि।

दोहा—येहि बिधि जाइ कृपानिधि, उतरे सागर - तीर।
जहँ-तहँ लागे खान फल, भालु बिपुल कपि बीर ॥३५॥

अर्थ—दयासागर श्रीरामजी इस तरह समुद्र के किनारे जाकर उतर गये। बहुत वीर भालू-वानर जहाँ-तहाँ फल खाने लग गये ॥३५॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि'—जैसे ऊपर—"देखी राम सकल कपि-सैना।" से "गह दसन पुनि-पुनि···" तक कहा गया। 'कृपानिधि'—क्योंकि प्रस्थान करते समय प्रभु ने वानरों पर कृपा की, यथा—"चितइ कृपा करि राजिव-नैना।" और यहाँ समुद्र-तट पर पहुँचकर समुद्र पर भी कृपा की—उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर ही उतर गये, नहीं तो बाणों से समुद्र को सोखते हुए चले ही जाते, यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५), पुनः सेनाओं पर भी कृपा करके उतरे कि जिससे वे फल खा लें, क्योंकि वानर भूखे हैं और इन्हें अब चार सौ कोसों का समुद्र पार करना है। 'उतरे' शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो श्रीअंगदजी और श्रीहनुमानजी की पीठ से उतरे, यथा—"यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन्। अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः॥ अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः।" (वाल्मी० ६।४।१८-१९)। दूसरा अर्थ 'उतरे' का—'डेरा डाला' है। प्रभु ने सोचा कि समुद्र तीर्थपति और अपना कुल-गुरु है। अतः, वे उसकी मर्यादा-रक्षा के लिये तट पर उतरे।

(२) 'जहँ-तहँ लागे खाने फल···'—वानर-भालू बहुत हैं, सभीको एक ही जगह फल नहीं मिल सकते, इसलिये 'जहँ-तहँ' का प्रयोग किया गया है। उस पार भी कहा गया है, यथा—"सिंधु पार प्रभु डेरा कीन्हा। सकल कपिन्ह कहँ आयसु दीन्हा॥ खाहु जाइ फल-मूल सुहाये। सुनत भालु-कपि जहँ-तहँ धाये॥" (लं० दो० ४)। श्रीराम-लक्ष्मणजी का फल खाना नहीं कहा गया, क्योंकि इन्होंने यहाँ आज

तीर्थ-व्रत किया है। समुद्र तीर्थपति है। अतः, व्रत करना भी मर्यादा है—"तीसरे उपास बनबास सिंधु पास सो समाज महाराज को एक दिन दान भो॥" (क० सु० ३२), इससे भी इस व्रत की पुष्टि होती है।

'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'-प्रकरण

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते जारि गयउ कपि लंका ॥१॥
निज-निज गृह सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर-कुल केर उबारा ॥२॥
जासु दूत-बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवन भलाई ॥३॥

अथ—जबसे एक वानर लंका जलाकर चला गया, तबसे वहाँ निशाचर लोग सशंकित रहते हैं ॥१॥ सब अपने-अपने घरों में विचार करते हैं कि अब निशाचर-वंश का बचाव नहीं है ॥२॥ जिसके दूत के बल का वर्णन नहीं हो सकता, उसके स्वयं आने पर नगर की कौन भलाई होगी ? ॥३॥

विशेष—(१) 'उहाँ निसाचर रहहि ससंका।···'—लंका-दहन से राक्षसों का गर्व नहीं रह गया, यथा—"जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल-गर्व तुम्हारा॥" (लं० दो० ३४), जलाने के समय का श्रीहनुमानजी का वह भयंकर रूप सबके चित्त मे बना रहता है, इसीसे वे सदा शंकित ही रहते है—क० लं० १, ४ भी देखिये। 'रहहि'—का यह भी भाव है कि रावण के डर से यहाँ बने हुए है। नहीं तो प्राण लेकर लंका से कहीं अन्यत्र भाग जाते, यथा—"देखि बिकट भट बड़ि कटकाई। जच्छ जीव लै गये पराई (बा० दो० १७८), 'जारि गयउ'—का भाव यह है कि सोने के मकानों को जला डाला और फिर कुशलपूर्वक यहाँ से चला भी गया, किसीसे कुछ न बन पड़ा। इससे वह कोई अप्राकृत सामर्थ्यवान् जान पड़ता है। 'उहाँ'—से श्रीगोस्वामीजी की स्थिति इस पार श्रीरामजी के पक्ष में है, यह जाना गया।

(२) 'निज-निज गृह···'—रावण के डर से सब अपने-अपने घरों में ही विचार करते हैं, किसी-से कुछ कहते नहीं। विचार आगे कहा गया है, यथा—'जासु दूत-बल···' और विचार करते हुए आपस में कुछ डरते हुए कहते भी हैं। तभी तो आगे मन्दोदरी-द्वारा इस बात का सुनना भी कहा गया है, यथा—"दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी।···" 'बिचारा'—शकुन बिचरवाते हैं, तब भी—'नहि निसिचर कुल केर उबारा।' यहाँ निकलता है।

(३) 'जासु दूत-बल बरनि ···', यथा—"नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी॥ (दो० २९), पुनः—"समुझत जासु दूत की करनी। गर्भ स्रवहि रजनीचर-घरनी॥" आगे कहा गया है। 'बल'—वाटिका उजाड़ने और राक्षसों के मारने से प्रकट है। 'तेहि आये पुर'—वे उस पार आ गये हैं, इस पार पुरी में नहीं आवें, तभी सबकी भलाई है, पुरजनों को पहले ही खबर मिल गई कि उस पार शत्रु-सेना आ गई। अब रावण को भी सभा में खबर मिलेगी—"बैठेउ सभा खबरि अस पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥" यह आगे कहा है।

अलंकार—'व्याजस्तुति' क्योंकि यहाँ दूत के व्याज से स्वामी श्रीरामजी की (बड़ाई) स्तुति है।

मन्दोदरी का उपदेश [१]

दूतिन्ह सन सुनि पुरजन-बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी ॥४॥
रहसि जोरि कर पति-पद-लागी। बोली बचन नीति-रस-पागी ॥५॥

कंत करष हरि सन परिहरहू । मोर कहा अति हित हिय धरहू ॥६॥

अर्थ—दूतियों के द्वारा पुरवासियों की वाणी सुनकर रानी मन्दोदरी अधिक व्याकुल हो गई ॥३॥ एकान्त स्थल में हाथ जोड़कर और पति के चरणों में लगकर, वह नीति-रस में मिश्रित वाणी बोली ॥५॥ हे स्वामी ! भगवान् से द्वेष छोड़ो और मेरा कहना बड़ा हितकर जानकर इसे हृदय में धारण करो ॥६॥

विशेष—(१) 'दूतिन्हि सन सुनि पुरजन-बानी'—जो वार्तालाप लोग घर-घर करते थे, वे स्त्रियों के द्वारा प्रकट हुए, इसीसे दूतियों का सुनना कहा गया है। 'अधिक अकुलानी'—पुरवासियों की अपेक्षा मन्दोदरी अधिक व्याकुल हुई, क्योंकि धर्मात्मा होने से यह प्रजा-वत्सला है, यथा—"कासल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजा सुख होहि सुखारी ॥" (अ० दो० १७४), तथा—"प्रजा पालि परिजन दुख हरहू ॥" (अ० दो० १७५), ये श्रीकौसल्याजी के ही वचन हैं। इसीसे प्रजा के दुःख नहीं देख सकती। 'नीति-रस-पागी'—वचनों को नीति-रस में पागकर, अर्थात् मन्दोदरी ने नीतिमय वचन कहे। 'रहसि = एकान्त स्थल में, क्योंकि अभिमानी लोग किसी दूसरे के समक्ष शिक्षा नहीं मानते, परन्तु एकान्त में स्त्री के स्नेह से मान भी लेते हैं अथवा अपनी स्त्री-द्वारा कही हुई एकान्त की बात लोगों पर बहुत ज्यादा असर डालती हैं। 'जोरि कर पति-पद-लागी'—पाँव पड़कर समझाना स्त्री का धर्म है, यथा—"गहिकर चरन नारि समझावा।" (कि० दो० ६), 'बोली बचन नीति-रस-पागी।' क्योंकि रावण अनीति कर रहा है। बड़ों से विरोध करना अनीति है, श्रीरामजी बड़े हैं, इसीको आगे कहती है, यथा—'कंत करष हरि सन···।' उचित नीति यह है कि जो शत्रु अपनेसे अधिक बलवान् हो, उससे साम (मेल) कर लेना चाहिये, यथा—"सुभट-सिरोमनि कुठार पानि सारिखेहू लखी औ लखाई इहाँ किये सुभ सामै।' (गी० सु० २५), "हीयमानेन कर्त्तव्यो राज्ञा सन्धिः समेन च।" (वाल्मी० ६।३५।६), अर्थात् जिस समय राजा की शक्ति क्षीण होती हो अथवा उसका शत्रु उसके समान बलवान् हो तो उसे सन्धि कर लेनी चाहिये। प्रीति और वैर समान से ही उचित है, यथा—"प्रीति बिरोध समान सन, करिय नीति असि आहि॥' (लं० दो० २३)।

(२) 'कंत करष हरि सन···'—'कंत' सम्बोधन मन्दोदरी से अपने सौभाग्य-रक्षा को मुख्य दिखाती है। एवं वह भी कि प्रजा और कुटुम्ब के भी कान्त अर्थात् रक्षक हो। वैर करने से वे हरि (भगवान) हैं, समर्थ हैं, सबकुछ हरण कर लेंगे। 'हिय धरहू'—क्योंकि अपने हित की बात रावण किसीके भी कहने से धारण नहीं करता, यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं० दो० ९), उसीपर मन्दोदरी कहती है कि मैं आपकी प्रिया हूँ और मेरा कथन आपके लिये अति हितकर है, अतएव इसे धारण करो।

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर-घरनी ॥७॥
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई ॥८॥
तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई। सीता सीत-निसा-सम आई ॥९॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार संभु-अज कीन्हे ॥१०॥

दोहा—रामबान अहिगन सरिस, निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि, जतन करहु तजि टेक ॥३६॥

अर्थ—जिनके दूत की करणी समझते ही राक्षसों की स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं ॥७॥ हे स्वामी ! जो भलाई चाहो, तो अपने मन्त्री को बुलाकर (उसके द्वारा) उनकी स्त्री भेज दो ॥८॥ तुम्हारे कुल रूपी कमलवन को दुख देनेवाली यह सीता हिम ऋतु की रात्रि के समान आई है [अर्थात् अभी लंका रूपी

सर में निशाचर कमल के समान प्रफुल्लित हैं, हिम ऋतु की निशा के समान श्रीसीताजी के संयोग से चन्द्रमा रूप श्रीरामचन्द्रजी क्रोधरूपी हिम बरसा करके निशाचरों का नाश करेंगे, यथा—"प्रगटे जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥" (बा० दो० १५)] ॥६॥ हे नाथ! सुनिये, श्रीसीताजी को बिना दिये, शिवजी और ब्रह्माजी के भी करने से तुम्हारा हित नहीं हो सकता ॥१०॥ श्रीरामजी के बाण साँपों के समूह के समान और राक्षसों के समूह मेढ़कों के समान है, जबतक वे इन्हें निगल नहीं लेते तबतक हठ छोड़कर यत्न कर लो ॥३६॥

विशेष—'समुझत जासु दूत···'—भाव यह है कि पहले तो उसके गर्जन से ही निशाचरियों के गर्भ गिर गये थे, यथा—"चलत महाधुनि गर्जेसि भारी। गर्भ स्रवहिं सुनि निसिचर नारी॥" (दो० २७), अब भी जो गर्भ धारण करती हैं, उस वानर की करनी का स्मरण होते ही उनके गर्भ गिर जाते हैं। 'करनी', यथा—"बीथिका बजार प्रति, अटनि अगार प्रति, पँवरि पगार प्रति, बानर बिलोकिये। अध-ऊर्द्ध बानर, बिदिसि दिसि बानर है, मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिये॥ मूँदे आँखि हीय में, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो धाइ धाइ जहाँ तहाँ और कोऊ कोकिये·" (क० सु० १७)। इससे अब वंश-वृद्धि न होगी। मन्दोदरी ने यह भी सुना है कि 'निसाचर रहहिं ससंका' पर उसने केवल स्त्रियों का ही भयभीत होना कहा है, क्योंकि वीरों एवं पुरुषों का डरना यदि रावण सुनता तो उन्हें खोज-खोजकर दण्ड देता। अतः, इसने सँभालकर कहा।

(२) 'तासु नारि निज सचिव···', यथा -"प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती॥" (लं० दो० ८), "जो आपन चाहइ कल्याना। ··सो परनारि-लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं॥" (दो० ३७), अर्थात् भलाई सीता को दे देने में ही है, यथा—"विनश्येद्धि पुरी लङ्का शूराः सर्वे च राक्षसाः। रामस्य दयिता पत्नी न स्वयं यदि दीयते॥" (वाल्मी० ६।९।१९), अर्थात् यदि स्वयं श्रीरामजी की प्यारी पत्नी नहीं लौटा दी जायगी तो यह नगर तथा राक्षस सब नष्ट हो जायँगे, तथा—"तुलसी जानकी दिये स्वामी सो सनेह किये कुसल नतरु सब ह्वै है छनमैं।" (गी० सुं० २३)। 'निज सचिव'—अपना खास मन्त्री, यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मंत्रीवर॥" (लं० दो० ४६), इनके अतिरिक्त मन्त्री दुष्ट एवं अयोग्य हैं, यथा—"कहहिं सचिव सब ठकुर सोहाती।" (ल० दो० ८), 'निज सचिव' के जाने से तुम्हारा ही जाना समझा जायगा। रावण को स्वयं जाने को नहीं कहती, क्योंकि वह अभिमानी प्रकृति का है, शत्रु से झुकना तो मानों वह जानता ही नहीं, यथा—"द्विधा भज्येयमपि येवं न नमेयं तु कस्यचित्। एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥" (वाल्मी० ६।३६।११), अर्थात् मैं दो टुकड़े हो जाऊँगा, पर नम्र न होऊँगा, यह मुझमें स्वाभाविक दोष है, क्या करूँ स्वभाव का उल्लंघन तो हो ही नहीं सकता—यह रावण ने ही कहा है। बिना नम्रता सहित जाने में उसे भय भी है, यथा—"दसन गहहु तृन कंठ कुठारी···येहि बिधि चलहु सकल भय त्यागे॥" (लं० दो० १९), 'बोलाई' और 'पठवहु' का भाव यह कि शीघ्र अभी बुलाकर ऐसा करो, नहीं तो यदि श्रीरामजी इस पार आ जायगे, तो तुम्हारी भलाई नहीं है, यथा—"तेहि आये पुर कवनि भलाई।" अभी सुना ही गया है।

(३) 'तव कुल-कमल-बिपिन दुखदाई। ··'—'सीता' नाम यहाँ उनकी शीतलता पर दृष्टि रखकर कहा गया है। वे यदि चाहें तो क्रोध करके तुम्हें भस्म कर सकती हैं, यथा—"असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्माहतेजसम्॥" (वाल्मी० ५।२२।२०), वे क्षमा-रूप शीतलता से तुम्हारे वंश भर का नाश कर देंगी। 'आई' अर्थात् तुम्हारे नाश के लिये वे स्वयं आई हैं। तुम ले आये हो, ऐसा कहने से रावण क्रुद्ध होता है, यथा—"जब ते तुम्ह सीता हरि आनी।···ताके बचन बान सम लागे।···" (लं० दो० ४७-४८), इसीसे इस बात को मन्दोदरी ने युक्ति से कहा है।

(४) 'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे'—रावण ब्रह्माजी का प्रपौत्र (परपोता) और श्रीशिवजी

का सेवक है, पर श्रीरामजी का द्रोही होने से इसे वे भी नहीं बचा सकते, क्योंकि वे दोनों ही श्रीरामजी के सेवक है, यथा—"जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥" (उ० दो० १०५), तथा—"संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥" (दो० २२)।

(५) 'रामबान अहिगन···'—श्रीरामजी के बाण सर्पों के समान चमकीले, विषैले, सपक्ष, ग्रासक एवं फुंकारयुक्त, भयंकर और मृत्युकर हैं। जैसे सर्प मेढ़कों को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाते हैं, वैसे ही राम-बाण भी निशाचरों को ढूंढ़-ढूँढ़ कर मारेंगे और मेढ़क की तरह निशाचर उनका कुछ भी नहीं कर सकेंगे। 'जतन करहु' अर्थात् बचने का ही यत्न करो, लड़ने का नहीं। यत्न पहले ही कर चुकी है कि श्रीसीताजी को लौटा दो। 'जब लगि ग्रसत न '—राम-बाण अमोघ है, उनके छूटने के पहले ही यत्न कर लो, यथा—"जबहिं समर कोपिहि रघुनायक। छुटिहहि अति कराल बहु सायक॥ तब कि चलिहि अस गाल तुम्हारा।" (लं० दो० २६)। मन्दोदरी ने अशोक-वाटिका में नीति कहकर समझाया था—'मयतनया कहि नीति बुझावा।' वहाँ रावण मान गया था, उसी आशा से यहाँ भी उसने नीतिरस से पाग कर वचन कहे हैं—'कंत करष हरि सन परिहरहू।'—साम, अर्थात् वैर छोड़कर मेल करो। 'तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु···'—दाम, क्योंकि देकर शत्रु को मिलाना कहती है। 'रामबान अहिगन सरिस···'—दण्ड, तथा—'समुझत जासु दूत कै करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर घरनी॥'—भेद, अर्थात् डरकर राक्षस उधर ही मिल जायंगे, यह सम्भव है।

मन्दोदरी ने पुरजनों की वाणी सुनी थी। अतः, उन्हींको लेकर उसने रावण को समझाया।

श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी॥१॥
सभय सुभाव नारि कर साँचा। मंगल महँ भय मन अति काँचा॥२॥
जौ आवइ मर्कट - कटकाई। जियहिं बिचारे निसिचर खाई॥३॥

अर्थ—उसकी वाणी अपने कानों से सुनकर शठ और जगत्-प्रसिद्ध अभिमानी रावण बहुत हँसा॥१॥ (और बोला) स्वभाव से ही स्त्रियाँ डरपोक होती हैं, यह सत्य है, इन्हें मंगल में भी भय होता है, इनका मन बड़ा ही कच्चा है॥२॥ जो वानरों की सेना आवेगी, तो निशाचर बिचारे उन्हें खा-खाकर जियेंगे।

विशेष—(१) 'श्रवन सुनी सठ ·····'—मन्दोदरी ने कहा था—'सुनहु नाथ···'। अतः, इसने कानों से तो सुना, परन्तु उसे माना नहीं, इसीसे वक्ता लोग उसे 'सठ' कहते हैं। कहा ही है—"सठ सन बिनय···ऊसर बीज बये फल यथा।" (दो० ५७), मन्दोदरी ने श्रीरामजी की बड़ाई की थी, उसीके निरादर के लिये बहुत हँसा, क्योंकि रावण अभिमानी है—ऐसे लोग अपने आगे किसीको कुछ नहीं समझते। जैसा कि उसके अगले वचनों से स्पष्ट है। 'जगत बिदित ··', यथा—"रन मद मत्त फिरइ जग धावा। प्रति भट खोजत कतहुँ न पावा॥" (बा० दो० १८१), अर्थात् जो (मैं) त्रिलोक विजयी हूँ, उसे नर-वानर का भय दिखाती है। इसी अभिमान से ही इसने रानी के वचन नहीं माने, यथा—"मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८)। ऐसा कहने का कारण वह आगे स्वयं कहता है—

(२) 'सभय सुभाव नारि कर साँचा।'—स्त्रियों के आठ अवगुणों में 'सभय होना' भी एक है, यथा—"साहस अनृत चपलता माया। भय अबिवेक असौच अदाया॥" (लं० दो० ५), अभी तक यह कवियों से ही सुना जाता था। आज मैंने उसकी सत्यता प्रत्यक्ष पाई कि जिसे कहीं किसीसे भी भय नहीं, वह मन्दोदरी भी डर रही है, यथा—"कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥" यह आगे कहा है। अतः, यह नारि-स्वभाव ही है।

(२) 'मंगल महँ भय···'—बिना प्रयास के आहार मिलना मंगल है, यथा—"नर कपि भालु अहारा हमारा।" (लं० दो० ७), 'गृह बैठे अहार बिधि दीन्हा।" (लं० दो० ३९)। शत्रु को देखकर भयभीत होना मन का कच्चा होना है और भक्ष्य को देखकर भय खाना तो मन का अति कच्चा होना है। उसी मंगल-विधान को आगे कहता है—

(३) 'जौं आवइ मर्कट-कटकाई।···'—'जौं' अर्थात् आने में अभी सन्देह है, भय के मारे नहीं आवेंगे। यदि काल की प्रेरणा से सम्भवतः आ भी जायँ, तो बिचारे निशाचरों के पेट भरेंगे। 'मर्कट कटकाई'—एक-दो से तो एक निशाचर को भी पूरा न पड़ता। 'कटकाई' आवे, तभी सब निशाचर जियेंगे। जो भूख के मारे दीन (बिचारे) हो रहे हैं, यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे॥" (लं० दो० ३८), श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी के नाम उसने नहीं लिये, क्योंकि यहाँ वह आहार का वर्णन कर रहा है और ये दो तो एक भी निशाचर के पेट भरने योग्य नहीं हैं।

मन्दोदरी ने जो 'निकर निसाचर भेक' कहकर इसकी सेना की निर्बलता कही थी, उसका उत्तर उसने यह दिया और जो उसने कहा था—'हित न तुम्हार संभु अज कीन्हे।' उसका उत्तर वह आगे—'कंपहि लोकप ···' से देगा। पहले अपनी सेना का बल कहकर तब अपना कहता है—

कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥४॥
अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई। चलेउ सभा ममता अधिकाई॥५॥
मंदोदरी हृदय कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता॥६॥

अर्थ—जिसके भय से लोकपाल लोग थर-थर काँपते हैं, उसकी स्त्री डरनेवाली हो, यह बड़ी हँसी की बात है॥४॥ ऐसा कह बिहँसकर उसे छाती से लगाया और अधिक स्नेह एवं अभिमान दिखाकर सभा को चला॥५॥ मन्दोदरी अपने हृदय में चिन्ता करने लगी कि इस समय मेरे स्वामी पर विधाता प्रतिकूल हो गये हैं॥६॥

विशेष—'कंपहि लोकप···', यथा—"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥" (दो० १६), भाव यह कि तू हमें मनुष्य का भय दिखाती है, परन्तु मेरे डर से तो लोकपाल तक काँपते हैं। अन्य निशाचरों की स्त्रियाँ नर-वानर से डरें, हँसी की बात है और उन निशाचरों के राजा रावण की रानी उनसे डरे, यह तो बड़ी हँसी की बात है।

(२) 'अस कहि बिहँसि···'—उपक्रम में भी रावण हसा था, यथा—'बिहँसा जगत बिदित अभिमानी।' और यहाँ उपसंहार में भी हँसा। तात्पर्य यह कि रानी मन्दोदरी की बात उसने हँसी में ही उड़ा दी। बिहँसकर हृदय से लगाया कि जिससे उसके वचन के निरादर का कष्ट उसे न हो। पुनः मन्दोदरी पहले इसके पाँवों से लगी थी। उसीके प्रतिफल इसने भी चलते समय उसे हृदय से लगाया। 'चलेउ सभा ममता अधिकाई'—मन्दोदरी का ज्ञान-कथन यहाँ व्यर्थ हो गया, क्योंकि रावण के हृदय में ममता है, यथा—"ममता-रत सन ज्ञान कहानी।··· ऊसर बीज बये फल जथा।" (दो० ५७), ममतारूपी अन्धकार से इसे कुछ सूझता ही नहीं, यथा—"ममता तिमिर तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुख कारी॥" (दो० ४६), इसी ममता-वश इसने स्त्री से राग किया, अर्थात् उसे हृदय लगाया, श्रीरामजी के प्रति इसने द्वेष किया, यह यहीं चरितार्थ है।

ममता के स्नेह और अभिमान दो अर्थ होते हैं। रावण ने अपनी स्त्री से स्नेह किया और साथ ही अपना अभिमान भी प्रकट किया कि लोकपाल तक मेरे डर से काँपते हैं, तो नर-वानर मेरे सामने क्या वस्तु है? तीसरा अर्थ 'मेरापना' भी है, वह भी सभा जाते समय हृदय में जागरित है कि मेरे ऐसे-ऐसे

कुटुम्ब एवं सुभट हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है, यथा—"कुंभ करन अस बंधु मम, सुत प्रसिद्ध सकारि। मोर पराक्रम नहिं सुनेहि " (लं० दो० २७)।

(३) 'मंदोदरी हृदय कर चिंता।···'—अब इसे अपने अहिवात की चिन्ता हुई कि मेरा उसके बचाने का उद्योग नष्ट हो गया, इससे स्पष्ट हो गया कि विधाता इसके विपरीत हैं। अब इसकी भलाई नहीं है, यथा—"विधि विपरीति भलाई नाहीं।" (बा० दो० ५१), पहले इसने भलाई का उपाय किया, यथा—"तासु नारि···पठवहु कंत जो चहहु भलाई।" पर विधि विपरीतता से वह व्यर्थ हो गया। इसी चिन्ता से और भी इसने समझाने का प्रयास किया है, यथा—"अस कहि···अचल होइ अहिबात॥" (लं० दो० ७), "अस बिचारि सुनु प्रानपति,···मम अहिबात न जाइ।" (लं० दो० १५)।

बैठेउ सभा खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई॥७॥
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू॥८॥
जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर - बानर केहि लेखे माहीं॥९॥

शब्दार्थ—मष्ट करना=चुप होकर रहना, यथा—"मष्ट करहु अनुचित भल नाही।"—(बा० दो० २७)।

अर्थ—रावण सभा में बैठा, तब यह खबर पाई कि सारी सेना समुद्र के उस पार आ गई है॥७॥ (रावण ने) मन्त्रियों से पूछा कि उचित सलाह कहो। वे सब हँसे (और बोले) कि चुप होकर रहिये॥८॥ जब सुर-असुर को आपने जीता, तब तो कुछ परिश्रम हुआ ही नहीं, ये नर-वानर किस गणना में हैं ?॥९॥

विशेष—(१) 'बैठेउ सभा खबरि ···'—ऐसी खबर देने का उचित स्थान सभा ही है, इसलिये रावण के वहाँ आ जाने पर दूतों ने कहा। पहले इन्हीं बातों को लेकर सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। इससे जान पड़ता है कि श्रीहनुमानजी के लंका-दहन करके जाने के बाद से सबको यही चिन्ता लगी रहती थी, यथा—"उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब ते ···" ऊपर कहा ही गया है। अतः, सब इसीकी जासूसी में रहते थे। 'सिंधु पार' = उस पार, दूसरी ओर का किनारा। एक तट के लोग दूसरे तट को उस पार कहते हैं।

(२) 'बूझेसि सचिव उचित मत ···'—उसके मत में 'श्रीसीताजी को दे दो, शत्रु से मेल कर लो'—यह अनुचित मत है। शत्रु मारे जायं, श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े—यही उचित मत है, यथा—"अदेया च यथा सीता वध्यौ दशरथात्मजौ। भवद्भिर्मन्त्र्यतां मन्त्रः सुनीतं चाभिधीयताम्।" (वाल्मी० ६।१२।२५), अर्थात् जिससे श्रीसीताजी को नहीं देना पड़े और दोनों दशरथकुमार मारे जायँ, ऐसा विचार आपलोग निश्चित करें और उसके लिये निश्चित कर्त्तव्य बतलावें। आगे भी इसने ऐसा ही पूछा है, यथा—"सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा॥" (लं० दो० ७), यहाँ उचित मत पूछने का भाव यह है कि उस पार चलकर लड़ें कि उन्हें इस पार उतर आने दें, या कैसे लड़ें ?

(३) 'ते सब हँसे मष्ट करि रहहू'—इसलिये हँसे कि ऐसी बात कहने के योग्य नहीं है जो सुनेगा, क्या कहेगा ? कि राजा रावण लोकत्रय जीतकर आज नर-वानर से युद्ध करने के उपाय पूछते हैं ? देखिये, रावण ने मन्दोदरी की बात को हँसी में उड़ा दिया, और वही बात मन्त्रियों ने भी इसके साथ की, परन्तु इसपर रावण प्रसन्न ही हुआ कि जो बात मैंने मन्दोदरी से कही थी—"जौ आवै मर्कट कटकाई।···" वही मन्त्रियों का भी मत है। मन्त्री लोगों ने हँसकर जनाया कि आप हमसे उचित कहने को कहते हैं और स्वयं अनुचित पूछते हैं, भला, नर-वानरों से लड़ाई के लिये भी सम्मति पूछी जाती है ?

(४) 'जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं।···'—जो सुर-असुर लेखे में हैं, अर्थात् उनमें बड़े-बड़े वीर

हैं, उन्हें तो आपने जीत ही लिया। सुर से स्वर्ग लोक और असुर से पाताल लोक जीतना कहा, उसमें श्रम न हुआ, यथा—"रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ दिगपालन्ह के लोक सुहाये। सूने सकल दसानन पाये॥" (बा० दो० १८१)। तब ये मर्त्यलोक के नर-वानर किस गिनती में हैं, जिनके लिये उपाय सोचें।

अलंकार—'काव्यार्थापत्ति', जब सुरासुर को जीत लिया तो नर-वानर का जीतना है ही क्या?

दोहा—सचिव बैद गुरु तीन जौं, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर, होइ बेगिहीं नास॥३७॥

सोइ रावन कहँ बनी सहाई। अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई॥१॥

अर्थ—मन्त्री, गुरु और वैद्य ये तीन जो भय या आशा से, प्रिय बोलते हैं, तो राज्य, धर्म और शरीर, इन तीनों का नाश शीघ्र ही हो जाता है॥३७॥ ये ही बातें रावण को सहायक हुई हैं, सुना-सुनाकर सब स्तुति ही करते हैं (भय के मारे 'ठकुर सोहाती' ही कहते हैं)॥१॥

विशेष—"सचिव बैद गुरु···"—यही दोहा दोहावली ५२४ में भी है, पर वहाँ 'मंत्री गुरु अरु बैद···' पाठ है। जिससे 'राज, धर्म, तन' तीनों के साथ क्रम ठीक बनता है। मन्त्री भय से ठकुर-सुहाती कहे, तो राज्य का नाश, गुरु भय से अधर्म से न रोके तो धर्म का नाश और वैद्य भय से संयम न करावे और रोगी की हाँ-में-हाँ मिला दे, तो रोगी के तन का शीघ्र ही नाश होता है। पर यहाँ पाठ में वैसा यथासंख्य अलंकार नहीं है, यह भी भाव गर्भित है कि जब ये तीनों रावण के विपरीत ही हैं, तब श्रीगोस्वामीजी ने शब्दों के क्रम से भी वैषम्य प्रकट कर ही दिया। दोहावली में ऐसा संयोग नहीं है। अतः, वहाँ ठीक क्रम है।

मन्त्री लोग पीछे तो कहते हैं—"जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आये पुर कवनि भलाई॥" "नहिं निसिचर कुल केर उबारा।" (दो० ३५), और रावण के सामने भय से उसे सुना-सुनाकर स्तुति करते हैं, यथा—"ते सब हँसे···जितेहु सुरासुर···"। अतः, रावण का राज्य नाश होगा, यथा—"संग ते जती कुमंत्र ते राजा।···नासहि बेगि···" (अर० दो० २०), गुरु शिवजी डर से नित्य ही पुजाने आते थे, यथा—"सम्भु सभीत पुजावन रावन ते नित आवें।" (क० उ० २)। उन्होंने भी डर से इसे अधर्म करने से नहीं रोका, यथा—"संभु सेवक जान जग बहु बार दियो दस सीस। करत राम-बिरोध सो सपनेहुँ न हटकेउ ईस॥" (वि० २१६), इससे रावण का धर्म नाश होगा। यह राम-विमुख हो रहा है। वैद्य सुषेण इसीके यहाँ पला, पर संजीवनी द्वारा शत्रु-पक्ष का कार्य किया, इत्यादि रीति से इसके सभी विपरीत हो रहे हैं। वही ग्रन्थकार कहते हैं, यथा—'सोइ रावन कहँ बनी सहाई ··'—'बनी सहाई' अर्थात् संयोग आ बना है। कहा ही है—"भये बिधि बिमुख-बिमुख सब कोऊ" (अ० दो० १८१)। यथार्थवादी मन्त्री सुग्रीवजी के श्रीहनुमानजी थे। सुग्रीवजी के प्रमादवश होने पर उन्होंने निर्भीक होकर उन्हें समझाया है—"इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा।···चारिहुँ बिधि तेहि कहि समुझावा॥ सुनि सुग्रीव परम भय माना।" (कि० दो० १२), इससे सुग्रीवजी की रक्षा हुई है।

अलंकार—'क्रमभंग', क्योंकि राज्य, तनु, धर्म न कह क्रम भंग करके कहा गया है।

अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता-चरन सीस तेहि नावा॥२॥
पुनि सिरनाइ बैठ निज आसन। बोला बचन पाइ अनुसासन॥३॥
जौ कृपाल पूछेहु मोहिं बाता। मति अनुरूप कहउँ तात॥४॥

अर्थ—अच्छा अवसर जानकर श्रीविभीषणजी आये और भाई (रावण) के चरणों में उन्होंने सिर नवाया ॥२॥ फिर सिर नीचा करके (वा, सिर नवाकर) अपने आसन पर बैठ गये और फिर आज्ञा पाकर वचन बोले ॥३॥ हे कृपालु ! जो मुझसे आप बात पूछते है तो हे तात ! मैं अपनी बुद्धि के अनुसार आपकी भलाई की बात करता हूँ ॥४॥

विशेष—(१) 'अवसर जानि'—(क) उचित उपदेश देने के योग्य अच्छा अवसर जानकर, यथा—"मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात। तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात ॥" यह आगे स्पष्ट है। (ख) अभी तक इस कारण नहीं आये थे कि और-और मन्त्रियों के मतों का खण्डन करना पड़ता, जो रावण को न रुचता। जैसे आगे लं० दो० ८ में प्रहस्त ने खण्डन किया तब रावण क्रुद्ध हुआ। या (ग) अपने नित्य के आने का अवसर जानकर।

बुद्धिमान् लोग अवसर जानकर ही कार्य करते हैं, इस समय रावण ने उचित उपाय के सम्बन्ध में प्रश्न किया है। ऐसा अवसर विशेषकर सभा के मध्य में ये चाहते थे और इन्हें पुलस्त्यजी के सन्देशे का बल भी है। अतः, सम्भवतः मेरी बात लग जाय और रावण का कल्याण हो जाय, यही विचार कर आये। 'भ्राता-चरन सीस···'—सबलोगों ने राजा मानकर प्रणाम किया। इन्होंने ज्येष्ठ भ्राता को पिता तुल्य मानकर विशेष भक्ति सहित प्रणाम किया। आगे—'तुम्ह पितु सरिस भले···' कहा ही है।

(२) 'पुनि सिर नाइ ···'—सबके आसन नियमित हैं। बड़ों के सामने प्रणाम करके और सिर नीचा करके आसन पर बैठना चाहिये, वैसे ही ये बैठे और यह भी नीति है कि बिना पूछे न बोले, यथा—"नाप्टृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥" (मनु० २।११०), अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष जानते हुए भी बिना पूछे किसीसे कुछ न बोले और न अन्याय से पूछनेवाले को ही कुछ कहे, ऐसा भाव रक्खे, जैसे जड़ पदार्थ हो। इससे ये आज्ञा पाकर बोले। 'पाइ अनुसासन'—अन्य मन्त्रियों के मत से रावण को सन्तोष नहीं हुआ था, इसीसे इनके आते ही वही प्रश्न इनसे भी किया गया। ये सब मन्त्रियों में प्रधान थे, इससे भी सबके पीछे इनसे पूछा जाना योग्य ही था।

(३) 'जौ कृपाल पूछेह मोहि ···'—आप बहुत कुछ जानते है, पर मुझसे पूछा, यह आपने कृपा करके मुझे बड़ाई दी। भाव यह कि मै उपदेश देने योग्य नहीं हूँ, केवल अपनी मति के अनुसार आपके हित की बात ही कहता हूँ। उपदेश देना नही कहा, क्योंकि उससे रावण चिढ़ता है, यथा—"मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही ॥" (दो० २३), "गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा।" (अर० दो० २५), 'मति अनुरूप'—इस तरह कहने की रीति है, यथा—"मैं निजमति अनुसार, कहउँ उमा···" (बा० दो० १२०), इससे अपनी बुद्धिमत्ता का अभिमान नहीं पाया जाना।

यह भी भाव है कि और लोगों की मति में—'नहिं निसिचर कुल केर उबारा।' 'तेहि आये पुर कवनि भलाई।' है, पर आपके सामने आपकी मति के अनुरूप कहते हैं। मैं वैसा नहीं कहता, किन्तु अपनी ही मति के अनुरूप कहता हूँ। इनके वचन शुद्ध साधुता की रीति से हैं।

यही बात आगे शुक ने भी कही है, यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे ॥" (दो० ५३), पर उसमें 'मानहु' और 'क्रोध तजि' से पहले ही उसने रावण को हठी और क्रोधी सिद्ध किया।

जो आपन चाहइ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना ॥५॥
सो परनारि - लिलार गोसाईं। तजउ चौथि के चंद कि नाईं ॥६॥

अर्थ—हे गोस्वामी ! जो अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुन्दर मति, शुभ गति और अनेक भाँति के

सुख चाहे, वह पराई स्त्री के ललाट को (भादौं सुदि) चौथ के चन्द्रमा की भाँति त्याग दे, (क्योंकि इसके देखने में कलंक है) ॥५-६॥

विशेष—(१) 'जो आपन चाहइ '—ये सब सामान्य रीति से औरों पर लगाकर उपदेश देते हैं जिससे वह क्रोध न करे। रावण काम, क्रोध, लोभ तीनों के वश में है, इसलिये अभी उसे परोक्ष रीति से कहते हैं—'पर नारि लिलार' से काम, 'भूत द्रोह' से क्रोध और 'अलप लोभ' से लोभ को त्यागने के लिये कहते हैं, पर वह इस तरह के कथन को न समझने का ढोंग दिखाकर टाल देगा, क्योंकि वह अभिमानी है, अपने में दोष न मानेगा। तब दोहे में अपरोक्ष रीति से भी कहेंगे, यथा—"काम क्रोध मद लोभ···"

यहाँ प्रस्तुत प्रसंग में श्रीसीताजी के लौटाने की बात कहनी है। इसलिये 'पर नारि लिलार' प्रथम कहा है और दोहे में 'काम' दोष को। पर नारि लिलार (मुख) देखना कामुकता-रूपी दोष है, इसको विस्तार से कहते हैं कि इससे पाँच बातों का नाश होता है—(१) सुयश का नाश, यथा—"कामी पुनि कि रहइ अकलंका।" (उ० दो० १११), (२) सुमति का नाश, यथा—"मुनि अति बिकल मोह मति नाँठी।" (बा० दो० १३४), (३) शुभगति का नाश, यथा—"सुभगति पाव कि परतिय गामी।" (उ० दो० १११) (४) नाना प्रकार के सुख का नाश, यथा—"अवगुन मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुख खानि।" (अर० दो० ४४)। (५) कल्याण का नाश, यथा—"तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहह भलाई॥" (दो० ३५), इन पाँचों बातों का परस्त्री-अनुरक्ति से नाश होता है, और ये पाँचों सत्संग से प्राप्त होती हैं, देखिये बा० दो० चौ० ५--६ भी। श्रीविभीषणजी सन्त हैं। उन्होंने पर-स्त्री-चिन्तन को इस तरह त्याग दिया है कि मुख से उसका नाम तक नहीं लेते, किन्तु 'लिलार' से जनाते हैं। स्त्री के मुख की उपमा चन्द्रमा से दी जाती है। उसमें ललाट मात्र चौथ के चन्द्रमा के आकार का रह जाता है। उसे भी देखना कलंक है। अतः, उसका त्यागना ही उचित है। यहाँ काम से पाँच बातों का नाश होना कहा। आगे क्रोध और लोभ पर कहते हैं। 'गोसाईं' का भाव यह है कि आप राजा है, राजा का आचरण ही प्रजा के लिये आदर्श होता है। अतः, आप स्वयं पर-स्त्री का त्याग करें और जो दूसरा पर-स्त्री ग्रहण करे उसे दंड दें।

चौदह भुवन एक पति होई। भूत-द्रोह तिष्ठइ नहिं सोई॥७॥
गुन-सागर नागर नर जोऊ। अलप लोभ भल कहइ न कोऊ॥८॥

दोहा—काम क्रोध मद लोभ सब, नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि, भजहु भजहिं जेहि संत॥३८॥

अर्थ—जो अकेला ही चौदहो भुवनों का स्वामी (क्यों न) हो, वह भी भूत (जीव मात्र से) द्रोह कर ठहर नहीं सकता (नष्ट हो जाता है) ॥७॥ जो मनुष्य गुणों का सागर (सर्व गुण-पूर्ण) और चतुर हो, उसमें चाहे थोड़ा ही लोभ क्यों न हो, तो भी उसको कोई अच्छा नहीं कहता ॥८॥ हे नाथ! काम, क्रोध, मद और लोभ—ये सब नरक के मार्ग हैं, इसलिये इन सबको छोड़कर उन रघुवीर श्रीरामजी को भजो, जिन्हें संत लोग भजते हैं ॥३८॥

विशेष—(१) 'भूत द्रोह'—से यहाँ जीव-मात्र के द्रोह का भाव है, भूत-द्रोही ईश्वर का भी द्रोही है, क्योंकि ईश्वर सर्व भूतमय है, यथा—"जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई॥" (उ० दो० १०६), "मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥" (गीता १६।१८), भूत द्रोह भारी पाप है, यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८),

ऐसे पाप से नाश होता है, यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी। निज अघ गयउ कुमारग गामी॥" (लं० दो० १०८)।

(२) 'गुन-सागर नागर नर जोऊ।···'—उपर्युक्त काम और क्रोध समय टल जाने पर शान्त भी हो जाते हैं, परन्तु लोभ थोड़ा भी हो, तो वह बढ़ता ही जाता है, यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।" (लं० दो० १७०), लोभ अल्प ही रहता है तो गुण-सागरों की भी निन्दा होती है, यथा—लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥" (भाग० ११।२३।१६), अर्थात् थोड़ा भी लोभ गुण-समूह को नष्ट कर देता है, जैसे थोड़ा-सा कुष्ठ सुन्दर रूप को। तथा—"स पार्थः पार्थिवान्सर्वान्भूमि-स्थोऽपि रथस्थितान्। एको निवारयामास लोभः सर्वगुणानिव॥" (महा० द्रोण० ९९।५६), अर्थात् जैसे एक ही लोभ सब गुणों का निवारण करनेवाला होता है, वैसे ही भूमि पर खड़े हुए एक ही अर्जुन ने रथ पर बैठे हुए उन सब राजाओं का निवारण किया।

(३) 'काम क्रोध मद लोभ सब···'—अभी तक सबको पृथक्-पृथक् कहा गया था। अब एक साथ कहकर उनका त्यागना कहते हैं, अतएव युक्ति से रावण में इन सबका होना जना दिया, कुछ उदाहरण—"देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं···" (बा० दो० १८२)—काम। "रावन आवत सुनेउ सकोहा।···" (बा० दो० १८१)—क्रोध। "रन मद मत्त फिरै जग धावा।" (बा० दो० १८१), एवं—"परिहरि मान मोह मद भजहु···" (सुं० दो० ३६)—मद। "एक बार कुबेर पर धावा। पुष्पक जान जीति लै आवा॥" (बा० दो० १७८)—लोभ, क्योंकि दूसरों की वस्तु छीनने में लोभ कारण है। रावण में इन दोषों के बहुत उदाहरण हैं, कहने का मुख्य प्रयोजन इनका त्याग कराने के लिये था। अतः, उसे प्रकट रूप में कहा। 'नरक के पंथ', यथा—"त्रिविधं नरकस्यदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥" (गीता १६।२१), कामादि नरक के मार्ग है, इनका त्याग करो और हरि-भजन मोक्ष का मार्ग है, अतएव इसको ग्रहण करो, यथा—"संत-संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।" (उ० दो० ३३), पहले कामादि से सुयश आदि का नाश होना कहा गया था और अब उन्हें नरक का मार्ग कहा जाता है। भाव यह है कि ये कामादि दोनों लोक का नाश करते हैं। कामादि के लक्षण, यथा—"कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्त्वैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥" (भाग० ७।१५।२०), अर्थात् भूख-प्यास मिट जाने पर उनकी कामनाओं का अन्त हो जाता है एवं भोग पूर्त्ति पर काम का अन्त होता है। प्रतिकार करने पर क्रोध का भी अन्त हो जाता है, पर सारी पृथ्वी एवं उसकी दिशाओं को जीत लेने एवं भोग लेने पर भी लोभ का अन्त नहीं होता।

इसमे 'पंथ' और 'संत' में अनुप्रास का मिलान नहीं है, क्योंकि नरक के मार्ग से सन्त का सम्पर्क भी नहीं रहता। अतः, इसी भाव से मिलान नहीं है। केवल एक ही मात्रा का मेल है। ऐसे ही—"चन्द्रहास हर मम परितापं। रघुपति बिरह अनल संजातं॥" इत्यादि अन्यत्र भी हैं।

(४) 'सब परिहरि···'—संत जब विचार करके निश्चय कर लेते हैं, तब सबको त्याग कर श्रीरामजी का भजन करते हैं, यथा—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यं चरन्ति॥" (बृह० ३।५।१), अर्थात् उस आत्मा को जानकर, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा त्याग कर ब्राह्मण भिक्षाचरण करते हैं, यथा—"संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथे पन जाइहि नृप कानन॥ तासु भजन कीजिय तहँ भरता।···सुत कहँ राज समर्पि बन, जाइ भजिय रघुनाथ।" (लं० दो० ६), भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादिदोषरहितं कुरु मानसञ्च॥" (श्लो० २, मं०), अर्थात् कामादि त्याग पर ही भक्ति होती है। यहाँ तक अपनी मति के अनुरूप ही कहा, अब आगे श्रीपुलस्त्यजी का सन्देशा कहते हैं—

तात राम नहिं नर भूपाला । भुवनेस्वर कालहु कर काला ॥१॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता । ब्यापक अजित अनादि अनंता ॥२॥

अर्थ—हे तात ! श्रीरामजी मनुष्य रूप राजा नहीं हैं, वे चौदहो लोकों एवं ब्रह्माण्डों के स्वामी और काल के भी काल है ॥१॥ ब्रह्म हैं, अविद्या आदि रोगों से रहित हैं, अजन्मा हैं तथा षडैश्वर्ययुक्त, व्यापक, नहीं जीतने के योग्य, आदि रहित और अन्त रहित हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'तात राम नहि नर···'—श्रीविभीषणजी रावण को पहले विकारों का त्यागना कहकर तब उसे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं, यही नियम भी है, यथा—"करहु हृदय अति बिमल बसहि हरि कहि कहि सबहि सिखावौं । हौं निज उर अभिमान मोह मद खल मंडली बसावौं ।" (वि० १४२) । रावण को श्रीरामजी के ईश्वरत्व में सन्देह है, उसने श्रीरामजी को मनुष्य ही माना है, यथा—"नर कर करसि बखान ।" (लं० दो०२५), इसीपर कहते हैं, यथा—"राम नहि नर भूपाला ।' 'भुवनेस्वर'—भुवन का अर्थ ब्रह्माण्ड है, यथा—"देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ॥···अवधपुरी प्रति भुवन निनारी ।" (उ० दो० ७९-८०) । ब्रह्माण्ड अनेक हैं, और श्रीरामजी इन सबके स्वामी है । ब्रह्माण्डों को भी काल खाता है, यथा—"ऊमरि तरु बिसाल तव माया । फल ब्रह्मांड अनेक निकाया ॥···ते फल भच्छक कठिन कराला । तव डर डरत सदा सोउ काला ॥" (अर० दो० १२), परन्तु श्रीरामजी काल के भी काल (भक्षक) है, यथा—"भृकुटि भंग जो कालहि खाई ।" (लं० दो० ६४), इस तरह श्रीरामजी को भुवन (देश) और काल के भी प्रवर्त्तक एवं देश-कालातीत सिद्ध किया । अतः, उन्हें 'ब्रह्म' कहा गया है । फिर 'अनामय अज' ब्रह्म के विशेषण कहे गये है । प्रभु अनामय अर्थात् अविद्या आदि रोगों से रहित हैं, इसी-से कर्मवश उनका जन्म नहीं होता, किन्तु अज हैं । जन्म तो देखा जाता है—इसका समाधान 'भगवंता' शब्द से करते हैं कि वे षडैश्वर्य से जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय करनेवाले हैं अतएव स्वेच्छा से अवतार लेते हैं, यथा—"भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप ।" (उ० दो० ७२), 'व्यापक' हैं, अर्थात् व्याप्य-भूत जगत्-मात्र के आधार होते हुए भी उससे निर्लिप्त हैं । इसीसे 'अजित' है, उन्हें कोई जीतकर अधीन नहीं कर सकता । पुनः 'अनादि अनंता' हैं, यथा—"आदि अंत कोउ जासु न पावा ।" (बा० दो० ११७), "नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।" (गीता १०।१९) ।

गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी । कृपासिंधु मानुष-तनु-धारी ॥३॥
जनरंजन भंजन खलब्राता । बेदधर्म रच्छक सुनु भ्राता ॥४॥

अर्थ—पृथ्वी, ब्राह्मणों, गौओं और देवताओं के हित करनेवाले हैं, कृपा के सागर हैं, (कृपा से) मनुष्य-शरीर धारण करते है ॥३॥ हे भाई ! सुनिये, श्रीरामजी जनों के आनन्द देनेवाले, दुष्टसमूह के नाशक, वेद और धर्म के रक्षक हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'गो द्विज धेनु···'—उपर्युक्त 'नहिं नर भूपाला' की पुष्टि में कहते हैं कि प्रभु ने इस समय पृथ्वी आदि के हित के लिये कृपा करके मनुष्य का शरीर धारण किया है, यथा—"तेहि धरि देह चरित कृत नाना । सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ।" (बा० दो० १२), भाव यह है कि देखने मे तो ये नर मालूम पड़ते हैं, परन्तु नर नहीं हैं, ब्रह्म है । गो-द्विज आदि के लिये कृपा करके इन्होंने अवतार लिया है । रावण ने भी पहले ऐसा अनुमान किया था, यथा—"सुररंजन भंजन महि-भारा । जौ भगवंत लीन्ह अवतारा ।" (अर० दो० २२), पर जब वह कंचन-मृग द्वारा उनकी परीक्षा के लिये गया, तब उसने प्रभु का मनुष्य होना ही निश्चित किया । अतः, अपने तर्कों से ब्रह्म का निर्णय नहीं होता ।

(२) 'जनरंजन भंजन खलत्राता।···', यथा—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥" (गीता ४।८), यह सन्देशा पुलस्त्य का है, 'त्राता' पद विभीषणजी ने उसे सुनने के लिये लगा दिया है। यहाँ श्रीविभीषणजी ने युक्ति से जना दिया कि जिनके तुम विरोधी हो, श्रीरामजी ने उन्हींकी रक्षा के लिये अवतार लिया है। अतः, वैर रक्खोगे तो उनसे बच नहीं सकोगे—

श्रीरामजी	रावण—(बा० दो० १८२-१८३)।
गो-द्विज-धेनु-देव-हितकारी	जेहि जेहि देस धेनु द्विज···आगि लगावहि
जनरंजन	साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।
भंजन खलत्राता	बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे···
वेद-रक्षक	तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना
धर्म-रक्षक	जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं···

भाव यह है कि तुम्हें मारने के लिये ब्रह्म ही नर-तन-धारण किये हुए हैं, क्योंकि तुम्हारी मृत्यु नर के हाथ से निर्णीत है। अतः, इनसे वैर करोगे तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है।

ताहि बैर तजि नाइय माथा। प्रनतारति-भंजन रघुनाथा॥५॥
देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥६॥

अर्थ—उनसे बैर छोड़कर उनको सिर नवाइये, श्रीरघुनाथजी शरणागत की विपत्ति का नाश करनेवाले हैं॥५॥ हे नाथ! प्रभु श्रीरामजी को (उनकी) वैदेही दे दीजिये और बिना कारण ही स्नेह करनेवाले उन श्रीरामजी का भजन कीजिये॥६॥

विशेष—(१) 'नाइय माथा'—बस, केवल इसीकी आवश्यकता है, कुछ भेंट-पूजा की आवश्यकता नहीं है, यथा—"बलि पूजा चाहै नहीं चाहै एक प्रीति।" (वि० १०७)। "भलो मानि है रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइ है। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइ है।" (वि० १३५), "सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८), प्रणाम करना ही शरणागत होना है, यथा—"गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कोरवर्षभाः॥ एवमुक्तस्तु ते पार्था यमौ च पुरुषर्षभौ। द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्॥" (महा० वन० १८९।५७-५८), अर्थात् मार्कण्डेय मुनि ने युधिष्ठिर आदि पाण्डवों से कहा है कि आपलोग इन भगवान् कृष्ण की शरण में प्राप्त हों, इस वचन पर द्रौपदीजी के सहित पाण्डवों ने भगवान् कृष्ण को नमस्कार किया है।

यहाँ 'शरणं गच्छध्वं' के प्रति 'नमश्चक्रुः' ऐसा कहा गया है। अतः, 'नमः' पद का अर्थ 'शरण होना' है। इसपर श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का उपायत्व स्वीकार किया है। दूत बन, युद्ध कराकर, विजय-यश के साथ इस लोक में रक्षा की है और परलोक भी बनाया है। शरण अर्थपरक प्रणाम का महत्त्व अन्यत्र भी बहुत कहा गया है, यथा—"अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम्। ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्॥ एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥" (महा० शान्ति० ४७।९०-९१), तथा—"अतिभाग बिभीषन के भत्ते। एक प्रनाम प्रसन्न राम भये दुरित दोष दारिद दले॥" (गी० सुं० ४१), "गये राम सरन सब को भलो। प्रभु पद प्रेम प्रनाम काम सरु सद्य बिभीषन को फलो।" (गी० लं० ४२)—इसका विशेष विवेचन मेरे ग्रन्थ 'प्रपत्ति-रहस्य' में है। 'प्रनतारति भंजन···'—आर्त्त-वाणी सहित प्रणाम करो, यथा—"प्रनत पाल रघुबंसमनि, त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु, अभय करै गो तोहि॥" (लं० दो० २०), अर्थात् 'त्राहि त्राहि' कहना ही

आर्त्त-वाणी है, ऐसे ही श्रीविभीषणजी स्वयं भी शरणागत हुए हैं, यथा—"त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥ अस कहि करत दंडवत देखा ।" (दो० ४५) । 'रघुनाथा' पद से उपर्युक्त ऐश्वर्य को इन्हीं रघुकुलोद्भव श्रीरामजी में घटित किया गया है, यथा—"जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ॥" (बा० दो० २४१) ।

(२) 'देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही···'—श्रीविभीषणजी ने हाथ जोड़कर याचना करते हुए 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है—'नाथृ-याचने' धातु से 'नाथ' शब्द निष्पन्न होता है । 'प्रभु' अर्थात् वे समर्थ हैं, न दोगे, तो बल-पूर्वक ले लेंगे, फिर तुम्हारी कुछ न चलेगी । 'राम बिनु हेतु सनेही', यथा—"अस प्रभु दीन बंधु हरि, कारन रहित दयाल ।" (बा० दो० २११), "सहज सनेही राम सों···" (वि० १३५) । 'देहु ···बैदेही'—भाव यह है कि जैसे विदेहराज ने इन्हें श्रीरामजी को अर्पण करके यश पाया है, वैसे ही तुम भी अर्पण करो । देखिये दो० २१ चौ० १० भी । इस पर वे स्नेह अवश्य करेंगे ।

सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा । बिस्व-द्रोह-कृत अघ जेहि लागा ॥७॥
जासु नाम त्रयताप नसावन । सोइ प्रभु प्रगट समुझु जिय रावन ॥८॥

अर्थ—शरण जाने पर प्रभु श्रीरामजी ने उसको भी नहीं त्यागा, जिसको सारे संसार-भर से द्रोह करने का पाप लगा रहा हो ॥७॥ जिनका नाम ही तीनो (दैहिक, दैविक, और भौतिक) तापों का नाश करनेवाला है, वही प्रभु श्रीरामजी प्रकट हुए हैं, हे रावण ! ऐसा अपने हृदय में समझो ॥८॥

विशेष—(१) 'सरन गये प्रभु···'—यदि रावण को अपने पापों के कारण यह भय हो कि मुझ ऐसे पापी को वे शरण में न रक्खेंगे । तो कहते हैं—'सरन गये···'—रावण भी विश्वद्रोही है, यथा—"बिस्व द्रोह रत यह खल कामी ।" (लं० दो० १०८), 'प्रभु' अर्थात् शरण जाने पर ऐसे पापों को नष्ट करने में वे समर्थ हैं, यथा—"सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासहि तबहीं ॥" (दो० ४३), "जौ नर होइ चराचर द्रोही । आवे सभय सरन तकि मोही ॥···करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥" (दो० ४७) ।

(२) 'जासु नाम त्रय ताप नसावन ।···'—राम-नामाराधन से तीनो ताप नष्ट होते हैं । तीनो तापों का वर्णन वि० पु० ६।५।२–८ में है । ज्वर-अतीसार आदि देह के रोग एवं काम-क्रोध आदि मानस रोग, आधिदैहिक-ताप, किसी अन्य जीव—सर्प, बिच्छू, चोर, राजा एवं शत्रु के द्वारा होनेवाले क्लेश आधिभौतिक-ताप और किसी देवता द्वारा होनेवाले दुःख—हैजा आदि, अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि एवं शीत, वात तथा बिजली आदि से होनेवाले दुःख—आधिदैविक ताप हैं ।

नवधा भक्ति के साथ नाम जप से आधिदैहिक, प्रेमलक्षणा भक्ति के साथ नाम जप से आधिभौतिक और पराभक्ति के साथ नामजप से आधिदैविक ताप अति शीघ्र नष्ट होते हैं, यथा—"राम-राम-राम जीह जौ लौं तू न जपि है । तौ लौं तू कहूँ जाय तिहूँ ताप तपि है ॥" (वि० ६८), पुनः "हेतु कृसानु भानु हिम कर को ।" (बा० दो० १८), के अर्थ में राम-नाम से वैराग्य, ज्ञान और भक्ति का प्राप्त होना कहा गया है । उनमें वैराग्य से दैहिक ताप, ज्ञान से भौतिक और भक्ति से दैविक ताप दूर होते है, तथा—"ऐसेऊ कराल कलिकाल में कृपाल तेरे नाम के प्रताप न त्रिताप तन दाहिये ।" (उ० क० ७६) ।

यहाँ श्रीविभीषणजी ने श्रीरामजी का ऐश्वर्य कह कर रावण को शरण होने के लिये कहा है, क्योंकि शरणागति में भगवान् के ऐश्वर्य-ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है, यथा—"ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः । भये महति मग्नाश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥२४॥ स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत । सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् । प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥२५॥" (महा० भीष्म० ६७), अर्थात् भीष्म ने दुर्योधन से कहा है कि जो भगवान् की शरण होते हैं, वे बड़े भारी

भय में मग्न होने पर भी मोहित नहीं होते, भगवान् उनकी रक्षा करते हैं। राजा युधिष्ठिर उन जगदीश्वर, केशव एवं योगेश्वर प्रभु के माहात्म्य को यथार्थ रीति से जानकर सब प्रकार से एवं सर्वात्मना उनके शरणागत हैं।

माहात्म्य-ज्ञान से ही महाविश्वासपूर्वक शरणागति होती है—दो० ४७ में प्रथमावृत्ति प्रसंग देखिये।

'समुझु जिय रावन'—यह श्रीपुलस्त्यजी का कथन है, श्रीविभीषणजी तो तात, नाथ आदि ही कहते आये हैं।

दोहा—बार - बार पद लागउँ, बिनय करउँ दससीस।
परिहरि मान मोह मद, भजहु कोसलाधीस॥
मुनि पुलस्ति निज सिष्य सन, कहि पठई यह बात।
तुरत सो मैं प्रभु सन कही, पाइ सुअवसर तात॥३९॥

अर्थ—हे दशशीश! मैं बार-बार आपके चरणों में पड़ता एवं विनती करता हूँ कि आप मान, मोह और मद को छोड़कर कोशलाधीश श्रीरामजी का भजन करें। पुलस्त्य मुनि ने अपने शिष्य के द्वारा यह बात कहला भेजी है, हे तात! तुरत सुन्दर अवसर पाकर इसे मैंने आपसे कहा है॥३९॥

विशेष—(१) 'बार-बार पद लागउँ···'—सन्देशा तो श्रीपुलस्त्यजी का कह रहे हैं, पर चरण-स्पर्श आदि नम्रता वे अपनी ओर से दिखाते है, क्योंकि नम्रता-युक्त उपदेश सफल होता है। अतः, बड़े लोग ऐसा ही करते हैं, यथा—"औरउ एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।" (उ० दो० ४५)। 'परिहरि मान मोह मद'—काम, क्रोध, मद और लोभ का त्यागना पहले कहा ही था, यहाँ मान और मोह का त्यागना भी कहकर षड्विकारों की पूर्त्ति की। मान त्रिलोक-विजय का, मोह श्रीरामजी में नर-दृष्टि का और अपने बल आदि का मद। 'भजहु'—भजन करना ही इनका सिद्धान्त है, इसीसे बार-बार इसे ही कहते हैं, यथा—'रघुबीर पद भजहु', 'भजहु राम' और यहाँ 'भजहु कोसलाधीस'। 'तुरत सो मैं···'—सन्देशा शीघ्र कह देने का आदेश था, इसलिये शीघ्र मैंने सुना दिया। सन्देशा शीघ्र कह डालने की रीति भी है, यथा—"तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत···" (दो० ५२), ये दूत श्रीलक्ष्मणजी का सन्देशा रावण के लिये ले गये हैं। श्रीपुलस्त्यजी ने शिष्य के द्वारा श्रीविभीषणजी को और श्रीविभीषणजी ने स्वयं यहाँ सन्देशा पहुँचाया, क्योंकि श्रीपुलस्त्यजी जानते है कि रावण दुष्ट है, कहीं मैं कहने जाऊँ और उसने नहीं माना तो इससे मेरा अपमान होगा। दूत के द्वारा कहने से भी मेरा अपमान ही करेगा, श्रीविभीषणजी सुअवसर देखकर और समझाकर कहेंगे, इसीलिये उन्होंने ऐसा किया। अवसर पर आये और रावण के पूछने पर सुअवसर पाकर कहा है।

इस प्रसंग में नाम, रूप, लीला और धाम ये चारो कहे गये हैं, यथा—"तात राम नहिं नर भूपाला।' से 'मानुष तनु धारी' तक—रूप, 'जन रंजन भंजन खल···'—लीला, 'जासु नाम···'—नाम और 'भजहु कोसलाधीस'—में ध्वनि से धाम-माहात्म्य है। पुलस्त्यजी ने चारो का माहात्म्य कहकर इसे शरण होना कहा है, जिससे विश्वास कर शरण हो। 'तात' पद से उपक्रम है और 'तात' पर ही उपसंहार है।

माल्यवंत अति सचिव सयाना। तासु बचन सुनि अति सुख माना॥१॥
तात अनुज तव नीति-बिभूषन। सो उर धरहु जो कहत बिभीषन॥२॥

अर्थ—माल्यवान् नाम का वयोवृद्ध एवं अत्यन्त चतुर मन्त्री है, उसने श्रीविभीषणजी के वचन

सुनकर बहुत सुख माना ॥१॥ (उसने रावण से कहा—) हे तात ! तुम्हारे छोटे भाई नीति के अलंकार-रूप हैं। अतः, श्रीविभीषणजी जो कुछ कहते हैं, उसीको अपने हृदय में धारण करो ॥२॥

विशेष—(१) 'माल्यवंत अति ···', यथा—"माल्यवंत अति जरठ निसाचर। रावन मातु पिता मन्त्री बर ॥" (लं० दो० ४६), यह वयोवृद्ध है और इसने देश-काल का बहुत अनुभव किया है और नीति-शास्त्र को भी पढ़ा है, यथा—"ततस्तु सुमहाप्राज्ञो माल्यवान्नाम राक्षसः।" (वाल्मी० ६।३५।६), तथा—"बोला बचन नीति अति पावन।" (लं० दो० ४६), 'अति सयाना' है, अतएव 'अति सुख माना' और-और मन्त्रियों के वचन से इसने अति दुःख माना था—यह भी इसमें गर्भित है। दूसरे-दूसरे मन्त्रियों ने श्रीविभीषणजी के मत में 'हाँ' नहीं की, क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात रावण की प्रकृति के विरुद्ध है और उन्होंने श्रीविभीषणजी को राजा के भाई एवं प्रधान मन्त्री मानते हुए इनके मत का खण्डन भी नहीं किया। हृदय से तो वे भी ऐसा चाहते ही थे, पर रावण के भय से उन्होंने इसमें अपनी सम्मति नहीं दी।

(२) तात अनुज तव नीति-बिभूषन।···'—माल्यवान् धर्म का ज्ञाता है। अतः, यदि इसका समर्थन नहीं करता तो दोष का भागी होता। उसे रावण का उतना भय नहीं था, क्याकि वह उसका नाना लगता था, इससे उसने इसका अनुमोदन किया। 'नीति-बिभूषन'—इनके द्वारा नीति शोभा पा रही है। यहाँ विभीषणजी ने उत्तम नीति कही है। बड़ों से बैर करना नीति-विरुद्ध है, इसीसे इन्होंने श्रीरामजी की बड़ाई दिखाकर बार-बार बैर छोड़ने और उनसे प्रीति करने को कहा है, यथा—"नीति निपुन सोइ परम सयाना।···जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा ॥" (उ० दो० १२६)। 'तव अनुज'—अर्थात् तुम्हारा छोटा भाई है, उत्तम नीति कहता है, इसका मान रक्खो, जैसा कि वे स्वयं भी आगे कहेंगे, यथा—"तात चरन गहि मागउँ, राखहु मोर दुलार।", 'सो उर धरहु'—दूसरे-दूसरे मन्त्रियों का मत त्यागकर विभीषण का ही मत हृदय में धारण करो।

रिपु उतकर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ ॥३॥
माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी। कहइ बिभीषन पुनि कर जोरी ॥४॥

अर्थ—यहाँ कोई है, दोनों शठ शत्रु की बड़ाई करते हैं, इन्हें दूर क्यों नहीं करता ? ॥३॥ तब माल्यवान् तो अपने घर को चला गया, हाथ जोड़कर विभीषणजी फिर कहने लगे ॥४॥

विशेष—(१) 'रिपु उतकर्ष कहत···'—भाव यह है कि ये दोनों (विभीषण और माल्यवान्) शत्रु से मिले हुए हैं, इसीसे उसकी बड़ाई करते हैं, अतएव ये इस सभा के योग्य नहीं है। 'रिपु उतकर्ष' कहकर विभीषण के वचनों को उड़ा दिया कि उधर मिले हुए हैं, इसीसे उसकी झूठी बड़ाई करते हैं, यथा—"जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई। देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई ।" (दो० २४), 'इहाँ हइ कोऊ'—मानो यहाँ कोई है ही नहीं कि सभी ऐसी बाते सुनते हैं और कुछ बोलते नहीं। जब दूसरे-दूसरे मन्त्रियों ने हमारी प्रशंसा की, तब तो यह बूढ़ा मन्त्री कुछ नहीं बोला और जब इसने शत्रु की बड़ाई सुनी, तब प्रसन्न हो उठा। अतः, दोनों शठ हैं।

शत्रु की बड़ाई सुनने पर रावण को क्रोध होता है, यथा—"आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे ॥" (लं० दो० २८) "रिपूणां प्रतिकूलानां युद्धार्थमभिवर्त्तताम्। उभाभ्यां सदृशं नाम वक्तुमप्रस्तवे स्तवम् ॥" (वाल्मी० ६।२९।८), अर्थात् जो शत्रु प्रतिकूल है और युद्ध के लिये आ रहा है, बिना प्रसंग के उसकी स्तुति करना क्या तुम दोनों को उचित था ?—यह रावण ने शुकसारन से कहा है। आगे और भी कहा है—'शत्रु पक्ष की बड़ाई करनेवाले तुम दोनों को मैं मारता, यदि

प्रथम के तुम्हारे उपकारों से मेरा क्रोध शान्त न हो जाता।' (वाल्मी० ६।२६।१३)। इतना क्रुद्ध इससे भी हुआ कि अभी तो ये दो ही हैं, कहीं इनकी संख्या और न हो जाय।

(२) 'माल्यवंत गृह गयेउ बहोरी ···'—यह सयाना है, इससे स्वयं उठ गया कि दूसरा पकड़कर उठायेगा तो अपमान होगा। 'बहोरी' का भाव यह कि जब कुमन्त्रियों ने सलाह दी थी, तब भी यह उठकर चला गया था, क्योंकि इसे वह सलाह नहीं रुची थी। श्रीविभीषणजी को आते देखकर आया था कि ये अच्छी सम्मति देंगे तो मैं भी इनका समर्थन करूँगा। अब फिर दूसरी बार उठकर घर चला गया। श्रीविभीषणजी सन्त हैं, ये रावण का हित ही चाहते हैं, इनको अपने मानापमान का ध्यान नहीं है, इसीसे फिर हाथ जोड़कर बोले। 'पुनि' से जाना गया कि पहले भी हाथ जोड़कर ही बोले थे।

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं ॥५॥
जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना ॥६॥
तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता ॥७॥
कालराति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥८॥

अर्थ—हे नाथ! पुराण और वेद ऐसा कहते हैं कि सुमति और कुमति (ये दोनों) सभी के हृदयों रहती है ॥५॥ इनमें से जहाँ सुमति रहती है, वहाँ नाना भाँति की सम्पत्तियाँ रहती हैं और जहाँ कुमति रहती है, वहाँ अन्त में विपत्ति ही पड़ती है ॥६॥ तुम्हारे हृदय में कुमति बसी हुई है, इसीसे तुम उलटा ही मान रहे हो। हित को शत्रु और शत्रु को मित्र मान रहे हो ॥७॥ जो इस राक्षस कुल की कालरात्रि (नाश करनेवाली) है, उस सीता पर तुम्हारी बहुत प्रीति है ॥८॥

विशेष—(१) 'सुमति कुमति सबके उर ··'—रावण इन्हें (विभीषण और माल्यवान दोनों को) शठ कहकर कुमति कहा है। उसीपर कहते हैं कि कुमति-सुमति कहने मात्र से नहीं होतीं, इनके ये चिह्न हैं। 'उर रहही' अर्थात् ऊपर से नहीं दिखलाई पड़तीं। 'बिपति निदाना' के दुःख और नाश भी अर्थ हैं, यथा—"देहि अगिनि तन करहि निदाना। (दो० ११), यहाँ पहले विपत्ति पड़ेगी, फिर नाश होगा। कहा भी है—"काई कुमति···परी जासु फल बिपति घनेरी ॥" (बा० दो० ४०), "बिपति बीज···भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ॥" (अ० दो० २२), आगे—'काल राति निसिचर कुल···' से नाश का भाव कहा भी गया है।

(२) 'तव उर कुमति बसी···'—सबके हृदय में तो सुमति-कुमति दोनों रहती ही हैं, पर आपके हृदय में कुमति ही आ बसी है, जिससे सब उलटा ही समझते हैं। मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र मान रहे हैं—(ल० दो० ३५ चौ० ७-८ भी देखिये)। हमलोग हित हैं, उन्हें आप अनहित समझते हैं और जो ठकुरसुहाती कहनेवाले कुमन्त्री लोग हैं, उन्हें हित मानते हैं। इससे कुल-भर का नाश हो जायगा, यथा—"हित पर बढ़ै बिरोध जब, अनहित पर अनुराग। राम बिमुख बिधि बाम गति, सगुन अघाइ अभाग ॥" (दोहावली ४२०)।

(३) 'काल राति निसिचर···', यथा—"यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम्।" (वाल्मी० ५।५१।३४), भाव यह कि सब रातें निशाचरों को सुखदायिनी ही होती हैं, परन्तु काल-रात्रि में तो उनका नाश ही होता है। उसी तरह और स्त्रियों का हरण तुम्हें सुखदाई हुआ, पर सीताहरण से तो तुम्हारा नाश ही होगा, यथा—"तब कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई ॥" (दो० ३५), निशारूप में आई कि निशाचर प्रीति करें और नष्ट हों। आगे नाश हुआ ही, यथा—"रहा न कोउ कुल रोवनि हारा।" (ल० दो० १०२),

दोहा—तात चरन गहि माँगउँ, राखहु मोर दुलार।
सीता देहु राम कहँ, अहित न होइ तुम्हार ॥४०॥

बुध पुरान श्रुति-संमत बानी। कही बिभीषन नीति बखानी ॥१॥

अर्थ—हे तात! मैं आपके चरण पकड़कर यह माँगता हूँ, इसमें मेरा दुलार (प्यार) रखिये, श्रीरामजी के लिये श्रीसीताजी को दे दीजिये, जिससे आपका अनहित नहीं हो ॥४०॥ श्रीविभीषणजी ने बुधों (पंडित), पुराणों और वेदों के अनुकूल वचनों के द्वारा उत्तम नीति बखान कर कही ॥१॥

विशेष—(१) 'राखहु मोर दुलार'—जब रावण ने पुलस्त्यजी का भी उपदेश नहीं सुना, तब विभीषणजी अपना दुलार ही आगे रखते हैं। रावण कठोर है, इसलिये चरण पकड़कर माँगते है कि यह भी तो कहने को होगा कि छोटा भाई मचल गया, इसीलिये रावण ने उसके प्यारवश श्रीसीताजी को दे दिया। जब पुलस्त्य के वचन पर भी क्रुद्ध ही हुआ, तब माथ नवाना, शरण होना न कहकर केवल सीता देना मात्र कहा है कि इतना भी तो मान लें। तब भी 'अहित न हो'। महात्मा लोग पाँव पकड़कर भी दूसरे की भलाई करते हैं—यही यहाँ चरितार्थ है।

ये प्रत्येक अवस्था में अपनी साधुता से रावण का हित ही करते रहे और इनके चित्त में विकार नहीं आया। जैसे कि आदर में—"भ्राता चरन सीस तेहि नावा।" और कहा—"मति अनुरूप कहउँ हित ताता।" निरादर में—"तात चरन गहि मागउँ···सीता देहु ··अहित न होइ ···" मारने पर भी—"अनुज गहे पद···" "राम भजे हित नाथ ···" यही इनकी साधुता आगे—'उमा संत कै···' से सराही जायगी। 'सीता देहु राम कहँ···', यथा—"धनानि रत्नानि सुभूषणानि वासांसि दिव्यानि मणींश्च चित्रान्। सीतां च रामाय निवेद्य देवीं वसेम राजन्निह वीतशोकाः॥" (वाल्मी० ६।१५।१४), अर्थात् राजन्! धन, रत्न, उत्तम भूषण, वस्त्र, दिव्यमणि और सीताजी, श्रीरामजी को अर्पित कर हमलोग शोक रहित हो यहाँ निवास करें।

(२) 'बुध पुरान श्रुति ··'—पहले के कथन की सराहना माल्यवान ने की थी, इस बार कोई नहीं बोला, परन्तु यह वाणी भी प्रशंसा-योग्य है। अतः, वक्ता लोग ही सराहते हैं कि विभीषण की वाणी बुध आदि के अनुकूल है, इसके उपक्रम में—'नाथ पुरान निगम अस कहहीं।' कहा गया है। यह वाणी बुध बृहस्पति, शुक्राचार्य आदि के भी अनुकूल है। रावण वेद-पुराणों से चिढ़ता है, यथा—"तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।" (बा० दो० १८३), इसीसे वह पुराण-श्रुति-सम्मत कथन पर श्रीविभीषणजी पर भी चिढ़ गया और उन्हे मारा एवं अपने देश से भी निकाल दिया।

सब वाणी बुध आदि-सम्मित है। विभाग करके यों भी कहा जा सकता है—अनुकूल अवसर समझ कर आना और पूछे जाने पर कहना बुध-सम्मत है। 'जो आपन चाहै कल्याना।' से 'भजहि जेहि संत।' तक पुराण-सम्मत, 'तात राम नहिं नर भूपाला।' से 'सोइ प्रभु प्रगट···' तक श्रुति-सम्मत, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन वेद-सम्मत है और 'सुमति कुमति सबके उर रहहीं।' से 'सीता देहु राम कहँ···' तक नीति-शास्त्र का मत है।

सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई ॥२॥
जियसि सदा सठ मोर जियावा। रिपु कर पच्छ मूढ़ तोहि भावा ॥३॥
कहसि न खल अस को जग माहीं। भुज-बल जाहि जिता मैं नाहीं ॥४॥
मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती ॥५॥

अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहि बारा ॥६॥

अर्थ—उसे सुनते ही रावण क्रोधित हो उठा (और बोला—) अरे दुष्ट! अब तेरे समीप मृत्यु आ गई ॥२॥ अरे शठ! तू सदा से मेरे ही जिलाये से जीता रहा (अर्थात सदा से मैंने ही तुझे पाला-पोसा), पर अरे मूढ़! शत्रु का ही पक्ष तुझे प्रिय लगता रहा है ॥३॥ अरे दुष्ट! कहता क्यों नहीं, कि जगत् में ऐसा कौन है जिसे अपनी भुजाओं के बल से मैंने न जीता हो ॥४॥ मेरे नगर में रहकर तू तपस्वियों में प्रीति रखता है, (तो) अरे शठ! जाकर उनसे ही मिल और उनसे ही नीति कह ॥५॥ ऐसा कहकर उसने लात मारी, (इतने पर भी) छोटे भाई श्रीविभीषणजी ने बारंबार उसके चरण ही पकड़े ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनत दसानन उठा रिसाई।···' इससे पहले रावण ने सभासदों से भी कहा था—'दूरि न करहु इहाँ है कोऊ' परन्तु कोई उठा तक नहीं। इसीलिये अबकी बार स्वयं मारकर निकालने के लिये उठा। 'सुनत'—जिन बातों से माल्यवान आदि नीति-निपुणों को हर्ष हुआ, वे ही बातें रावण के क्रोध का कारण हुईं, क्योंकि यह काल-वश है, यथा—"हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे ॥" (लं० दो० ९), 'उठा रिसाई'—क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा हो गया है कि जो कोई उसे श्रीसीताजी को वापस देने को कहता है, उसीपर वह क्रुद्ध होता है और उसे मारने पर तुल जाता है, यथा—"मोरे कहे जानकी दीजै।" (दो० २१), यह श्रीहनुमानजी ने कहा था, उसपर भी इसने कहा—"मृत्यु निकट आई खेलि न हरहु मूढ़कर प्राना ॥" पुनः—"जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही ॥" (लं० दो० ५७)—शुक को, तथा—"परिहरि बैर देहु बैदेही। ··ताके बचन बान सम लागे।··· बूढ़ भयेसि न त मरतेहुँ तोहीं।" (लं० दो० ४७)—माल्यवान् को, इत्यादि।

पहले भी श्रीविभीषणजी ने कहा था—"देहु नाथ प्रभु कहँ बैदेही।···", पर वह पुलस्त्यजी का वचन था, इसीलिये रावण ने इन्हें केवल अपने यहाँ से निकाल देने की आज्ञा दी थी और इस बार इन्होंने अपनी ओर से कहा, इसीसे वह इन्हें मारने चला। 'खल तोहि निकट मृत्यु ··'—श्रीविभीषणजी ने अभी ही कहा है, यथा—'तव उर कुमति बसी बिपरीता।' वह अब प्रत्यक्ष हो रहा है कि मृत्यु इसके निकट है, पर कहता श्रीविभीषणजी को है।

(२) 'जियसि सदा सठ···'—मेरे ही जिलाने से जीता आया और अब मेरे मारने से ही मरेगा, तब मुझसे वैर करना तेरी मूढ़ता है, वैर का कारण रिपु का पक्ष लेना है, इसीसे रावण ने इसके साथ ही 'मूढ़' कहा है, यथा—"तासो तात बैर नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै ॥" (अर० दो० २४), रावण बुद्धि-विपर्यय से ऐसा कहता है, यथार्थतः श्रीविभीषणजी के द्वारा उसीका जीवन है, यथा—"अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं ॥" (दो० ४१); और 'खल', 'सठ', 'मूढ़' रावण स्वयं है, परन्तु कहता विभीषणजी को है।

(३) 'कहसि न खल अस···'—तू मेरे पराक्रम की अवहेलना करके शत्रु का पराक्रम बखानता है, कह तो मैंने किसे नहीं जीता? वह भी सेना के बल से नहीं 'भुजबल' से, यथा—"भुजबल बिस्व बस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।" (बा० दो० १८२), "भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला ॥" (लं० दो० ७), इत्यादि।

(४) 'मम पुर बसि···'—मेरे राज्य में सुख से रहता है, परन्तु तपस्वियों पर प्रीति रखता है, जहाँ सुख कुछ नहीं। इससे तू शठ है, राज्यसुख भोगने के योग्य नहीं है। तू अभी भी छली है और आगे भी छल करेगा। इसका अनुमान है कि यह उधर मिला न होता तो इसका भी घर जलता। अतः, यह उधर ही मिला है। छली है, तेरी ही नीति सुनने पर लंका जली थी, ऐसी नष्ट नीति उन्हीं से कह। अतः, यहाँ से जा और उन्हीं तपस्वियों से मिलकर उन्हें नीति सिखा, क्योंकि वे नीति नहीं जानते, इसीसे एक

स्त्री के कहने से राज्य छोड़कर वन-वन फिर रहे हैं, मैं तो नीति जानता ही हूँ, इसीसे बहुत काल से राज्य करता आया हूँ। उपर्युक्त कही बिभीषन नीति बखानी।' के उत्तर में यह वचन है—"तिन्हहिं कहु नीती।' विभीषणजी के उत्तम भविष्य ने उससे ऐसा कहला दिया।

(५) 'अस कहि कीन्हेसि चरन प्रहारा···'—इसने उनके हृदय पर लात मारी है—"तुलसी हुमुकि हिये हन्यो लात, भले तात चल्यो सुरतरु ताकि तजि घोर घामैं॥" (गी० सुं० २५)। चरण प्रहार करने का भाव यह है कि शत्रु के पक्ष-समर्थन के लिये तू बार-बार चरण पकड़ता है, इससे तुझे उसी चरण से दण्ड देना चाहिये। श्रीविभीषणजी ने फिर भी बार-बार चरण पकड़ कर प्रणाम ही किया और आदि से अन्त तक अपनी साधुता निबाही—दो० ४० भी देखिये।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥७॥
तुम्ह पितु सरिस भलेहिं मोहि मारा। राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥८॥
सचिव संग लै नभ-पथ गयेऊ। सबहि सुनाइ कहत अस भयेऊ॥९॥

दोहा—राम सत्य संकल्प प्रभु, सभा काल-बस तोरि।
मैं रघुबीर-सरन अब, जाउँ देहु जनि खोरि॥४१॥

अर्थ—हे उमा! सन्तों की यही (इसीमें) बड़ाई है कि जो अपने प्रति बुराई करने पर भी भलाई ही करे॥७॥ (श्रीविभीषणजी ने कहा) आप (ज्येष्ठ भ्राता होने से) पिता के समान हैं, जो मुझे मारा वह अच्छा ही किया, पर हे नाथ! आपका भला श्रीरामजी के भजन से ही होगा॥८॥ (ऐसा कहकर) अपने मन्त्रियों को साथ लेकर आकाश-मार्ग में गये और सबको सुनाकर ऐसा कहने लगे॥९॥ कि श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ हैं, समर्थ हैं और तेरी सभा काल के वश में हो रही है, (इससे) अब मैं रघुवीर श्रीरामजी की शरण में जाता हूँ, अब मुझे दोष मत देना॥४१॥

विशेष—(१) 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई।···'—शत्रुता के बदले भलाई करने में औरों की निन्दा होती है, यथा—"रिपु पर कृपा परम कदराई।" (अर० दो० १८), परन्तु सन्त की इसीमें बड़ाई है, यथा—"भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीच।" (बा० दो० ५), तथा—"सत असंतन्हि कै असि करनी।···काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त···" (उ० दो० ३६-३७), यहाँ पर रावण में दुष्टता की और श्रीविभीषणजी में साधुता की सीमा निहित है। 'इहई' अर्थात् यह निश्चय है, प्रतिकार में बड़ाई नहीं है, किन्तु इसीमें है, यथा—"ध्रुवं वै ब्राह्मणे सत्यं ध्रुवा साधुषु सन्नति। श्रीर्ध्रुवाऽपि च यज्ञेषु ध्रुवो नारायणे जयः॥" (महा० द्रोण० ७६।२५), अर्थात् ब्राह्मणों में सत्य, साधुओं में नम्रता और श्रीमन्नारायण में विजय निश्चय रहते हैं।

'मंद करत जो···', यथा—"उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः कीर्त्यते जनैः॥" (स्कन्द० पु० नागर २९।१८२-१८३)।

(२) 'तुम्ह पितु सरिस···'—रावण ने कहा था कि मेरे जिलाये जीता है, इन्होंने उस बात को भी 'पितु सरिस' कहकर स्वीकार किया, तथा—"ज्येष्ठो मान्यः पितृसमो न च धर्मं पथे स्थितः।" (वाल्मी० ६।१६।१९)। "शरीरकृत्प्राणदाता यस्य चाऽन्नानि भुञ्जते। क्रमेणैते त्रयोप्युक्ताः पितरो धर्मशासने॥" (महा० आदि० ७२।१५), अर्थात् जन्मदाता, प्राण-रक्षक और जिसका अन्न खाय—ये तीनों पिता कहे जाते हैं। 'भलेहि मोहि मारा' से यह सूचित किया कि इससे भी मेरा भला ही होगा, यथा—"अंतहु भाय भलो भाई को कियो अनभलो मनाइ कै। भइ कूबर की लात बिधाता राखी बात बनाइ कै॥···जो सुनि

सरन राम ताके मैं बिधि बामता बिहाइ कै ॥" (गी० सु० २८), 'राम भजे हित···'—फिर भी मैं यही कहता हूँ कि आपका हित श्रीरामजी के भजन से ही होगा। श्रीविभीषणजी उस जन्म में भी धर्मरुचि नामक मन्त्री के रूप में इसके परम हितैषी थे, यथा—"नृप-हितकारक सचिव सयाना। नाम धरम रुचि सुक समाना ॥" (बा० दो० १५३), इस जन्म में भी इनकी वही वृत्ति है, अतएव वहाँ के हित को यहाँ खोला गया है, यथा—'राम भजे हित नाथ तुम्हारा।' यही उस जन्म के हितोपदेश में भी समझना चाहिये। पुनः रावण को 'पितु सरिस' कहकर साथ ही अपना भी कर्त्तव्य दिखाया है कि 'पुन्नाम' नरक से त्राण (रक्षा) करना पुत्र का धर्म है, अतएव नरक के देनेवाले कामादिकों से रोका और 'राम भजे हित नाथ···' से रावण के उद्धारार्थ यत्न किया। 'मति अनुरूप कहउँ हित' उपक्रम और 'राम भजे हित ··' यह उपसंहार है। शुद्ध भाव से परमार्थ-शिक्षा करके लंका त्यागने में श्रीविभीषणजी वेद रीति से निर्दोष हुए। आगे लोक-रीति से भी अपनी शुद्धता प्रकट करते हैं—

(३) 'सचिव संग लै ··'—राज्य के सात अंग हैं, यथा—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषराष्ट्रदुर्गबलानि च।" (अमरकोष), अर्थात् राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, किला और सेना। इनमें मन्त्री प्रधान अंग है, यह अंग रहने से शेष अंग गये हुए भी आ जाते हैं, यथा—"तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।" (कि० दो० १), इसीसे उसने—"पावा राज कोप पुर नारी।" (कि० दो० १७), वैसे ही श्रीविभीषणजी के साथ भी चार मन्त्री हैं, यथा—"ते चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीम विक्रमाः।" (वाल्मी० ६।१७।३), इन चारों के नाम अनल, अनिल, हर और सम्पाति थे, ये माली के पुत्र थे, यथा—"अनलश्चानिलश्चैव हरः सम्पातिरेव च। एते विभीषणामात्या मालेयास्ते निशाचराः ॥" (वाल्मी० ७।५।४३)। 'नभ-पथ गयेऊ'—(क) देवता और राक्षस प्रायः आकाश मार्ग से ही चला करते हैं और इन्हें तो समुद्र के पार जाना है, वह नभ-पथ ही से सुगम होगा। (ख) भारी सभा को ऊँचे से अपना अभिप्राय सुनाने के लिये भी ऊपर गये। (ग) रावण ने कहा—'मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती।···' इसमें उसने अपने को सम्राट् और श्रीविभीषणजी को सामान्य प्रजा एवं 'तपसिन्ह' शब्द से श्रीरामजी को घर-बार-हीन कहकर सूचित किया कि तू भी वैसा ही हो जा। तब इनके मन में यह बात उत्पन्न हुई कि जो प्रभु जगत् भर के मालिक हैं, उन्हें घरहीन कहता है और अपनेको राजा। अतः, इस हरि-विमुख का अवश्य त्याग करूँगा। यदि भगवान् इस लंका को अपनी विभूति सिद्ध कर मुझ दास को देंगे, तभी मैं इसे प्रभु-प्रसाद-रूप मानकर इसमें अधिकारी होकर रहूँगा। इस वासना से प्रेरित हो मन्त्रियों सहित आकाश मार्ग से चले, नहीं तो शरण जाने में राज्य-अंग रूप मन्त्रियों को लेने की आवश्यकता नहीं थी। इसे ही आगे 'उर कछु प्रथम बासना रही।' से प्रकट किया गया है। तथा—"राम गरीब निवाज निवाजि है जानि हैं ठाकुर ठाउँगो।" (गी० सु० ३०), इस पद से भी वही भाव निकलता है। पहले इन्होंने ब्रह्मा से 'भगवंत पद कमल अमल अनुराग' का वरदान ही माँगकर पाया है। फिर श्रीहनुमान्‌जी के संवाद एवं रावण को समझाने के समय इनमें लेश-मात्र भी राज्य-वासना नहीं थी, नहीं तो अपमान सह-सहकर रावण को श्रीसीताजी को लौटा देने और श्रीरामजी से प्रीति करने की शिक्षा न देते। 'असोच दरसन' प्रभु इस क्षणिक वासना को भी सत्य करेंगे। अभी इन्होंने 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' शरणागति के नियम से लंका का त्याग किया है। आकाश में ठहरे हुए हैं और वहीं से बातें करेंगे।

'सबहि सुनाइ···'—लोक-रीति से भी निर्दोष होने के लिये।

(४) 'राम-सत्य संकल्प प्रभु ··'—श्रीरामजी ने जो 'निसिचर हीन करउँ महि' की प्रतिज्ञा की है, वह अवश्य सत्य होगी, इसीसे तुझे मेरा उपदेश नहीं भाता। पुनः मेरे उपदेश से सभा ही सहमत न हुई, यह भी ठीक ही है, क्योंकि श्रीरामजी का संकल्प अकेले रावण को ही मारने का नहीं है, वरन् राक्षस-मात्र के मारने का है, यही विचार कर 'सभा काल बस तोरि' भी कहा है। हमने तुमलोगों को बचाने का उपाय

करना चाहा। पर इसमें निष्फलता ही हुई, यथा—"हितमत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे॥" (लं० दो० ६), 'प्रभु' अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में वे समर्थ हैं, पर उनकी प्रतिज्ञा तो निशाचर मात्र के लिये है और श्रीविभीषणजी भी निशाचर ही हैं। उसका उत्तर यों देते हैं, यथा—'मैं रघुबीर सरन अब, जाउँ '—भाव यह है कि शरण जाने पर वे नहीं मारेंगे, क्योंकि शरणागत-पाल हैं, यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८), श्रीमुख वचन है, यथा—"आनयन हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। बिभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥" (वाल्मी० ६।१८।३४), अर्थात् श्रीरामजी रावण के समान पापी को भी शरण में ले लेते हैं।

अस कहि चला बिभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं॥१॥
साधु - अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥२॥
रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयेउ बिभवबिनु तबहि अभागा॥३॥

अर्थ—ऐसा कहकर जिस समय श्रीविभीषणजी चले, उसी समय सब निशाचर आयुहीन हो गये (अर्थात् 'सभा काल बस तोरि' यह श्रीविभीषणजी का कहना शाप के समान हो गया,)॥१॥ हे पार्वतीजी! साधु का अनादर तुरत ही सम्पूर्ण कल्याणों की हानि करता है॥२॥ रावण ने जिस समय विभीषण का त्याग किया, उसी समय वह भाग्यहीन एवं बिना ऐश्वर्य का हो गया॥३॥

विशेष—(१) 'आयूहीन भये सब तबहीं।'—पारमार्थिक दृष्टि से देह ब्रह्माण्ड, प्रवृत्ति लंका और श्रीविभीषणजी जीव-रूप कहे गये हैं—वि० ५८ देखिये। जीव की सत्ता से ही दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विलास रहता है, यथा—"मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो बिनु रहहि न मोरियै जारै नित छाती॥" (वि० १४७)। अतः, जीव के निकल जाने से शेष आयुहीन कहे गये हैं। जीव जिस समय प्रभु शरणागत होने का दृढ़ संकल्प करता है, उसी समय भगवान् की ओर से उसके सब पापों के नाश का दृढ़ संकल्प हो जाता है, जैसे द्रौपदीजी की शरणागति पर भगवान् ने उसी समय द्रौपदी के विरोधियों को मारने का सत्यसंकल्प कर लिया था। तुरत उनको नहीं मारा, इसलिये कि वहाँ सभा में उपस्थित ही मारे जाते, उनकी सेनाएँ तो रह ही जातीं। उस समय भगवान् ने वस्त्र बढ़ाकर रक्षा कर दी और द्रौपदी के ऋणी रह गये, उसीके ब्याज में कौरव एवं उनके पक्ष की सेनाएँ भी मारी जायँगी, यथा—"ऋणमेतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नाऽपसर्पति। यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥" (महा० सभा० ५९।१२), उन्हीं सत्यसंकल्प से मारे हुए विरोधियों को—"मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ·····मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा···" (गीता० ११।३३-३४), ऐसा कहा है, अर्थात् भगवान् ने पहले ही अर्जुन को दिखा दिया है कि इन सबोंको मैंने पहले ही मार रक्खा है, तू निमित्त-मात्र हो जाता। यहाँ आगे कहा भी है—"सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं॥" (दो० ४३)। माधुर्य की रीति का समाधान ग्रन्थकार स्वयं आगे कर रहे हैं—

(२) 'साधु अवज्ञा तुरत भवानी।···'—अखिल कल्याण में आयु प्रथम है, यथा—"आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च। हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः॥" (भाग० १०।४।४६), अर्थात् महान् पुरुषों का अनादर मनुष्य के आयु, श्री, यश, धर्म, स्वर्गादि उच्चलोक, काम और सम्पूर्ण कल्याणों का नाश करनेवाला है। 'तुरत' का भाव यह है कि और-और पापों का फल समय पाकर, विलम्ब से मिलता है, पर इसका शीघ्र हो। पुनः अन्य पापों से एक-दो ही कल्याण नष्ट होते हैं और इससे सभी, अर्थात् यह भागवतापराध भारी पाप है। साधुओं के आदर का भी फल तुरत ही मिल जाता है, यथा—"देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ।" "मज्जन फल पेखिय ततकाला।" (बा० दो० १-२)। इसी शीघ्र फल-दातृत्व को ऊपर 'जबहीं' और 'तबहीं' इन शब्दों से कहा गया है।

(३) 'रावन जबहि बिभीषन त्यागा।···'—पहले सभा-भर का आयुहीन होना कहा गया और बीच में उसका कारण कहा गया। अब रावण का अकल्याण कहते हैं, यथा—'भयउ बिभव बिनु···'। 'अभागा', क्योंकि बड़े भाग्य से साधु-संग मिलता है, यथा—"बड़े भाग पाइय सतसंगा।" (उ० दो० ३२), और इसने अपने घर के ही साधु को निकाल दिया। वा, विभव नाश से अभाग्यता होती ही है, यथा—"बेद-बिरुद्ध मही मुनि साधु ससोक किये, सुरलोक उजारो। और कहा कहौं तीय हरी, तबहूँ करुनाकर कोप न धारो॥ सेवक छोह ते छाँड़ी छमा, तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर, जौ लौं बिभीषन लात न मारो॥" (क० उ० ३)।

चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ बहु मन माहीं॥४॥
देखिहउँ जाइ चरन-जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता॥५॥
जे पद परसि तरी रिषि-नारी। दंडक कानन पावनकारी॥६॥

अर्थ—(श्रीविभीषणजी) मन में बहुत मनोरथ करते हुए प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजी के पास चले॥४॥ कि मैं जाकर उन चरण-कमलों को देखूंगा, जो लाल, कोमल और सेवकों को सुख देनेवाले है॥५॥ जिन चरणों को छूकर ऋषि नारी अहल्या तर गई और जिन चरणों ने दण्डकवन को पवित्र किया है॥६॥

विशेष—(१) 'चलेउ हरषि रघुनायक ···'—सभी रघुवंशी उदार होते हैं और ये तो उस कुल में श्रेष्ठ ही हैं। अतः, सभी मेरे मनोरथ सिद्ध होंगे। इससे बहुत मनोरथ करते हुए चले। मनोरथ गी० सुं० २६-३० पदों में देखिये। कुछ मनोरथों को यहाँ भी कहते है। 'हरषि'—का भाव यह है कि पहले 'अस कहि चला बिभीषन जबहीं।' में हर्ष का होना नहीं कहा गया था, पर जब माता के यहाँ गये और कुबेर के यहाँ भी आज्ञा पाई। पुनः श्रीशिवजी ने दृढ़ कर दिया, तब चलने के समय शुभ शकुन भी हुए, जिनसे सिद्ध की आशा से हर्ष हुआ—जो गी० सुं० २६-२८ में कहा गया है, वही यहाँ (मानस में) 'हरषि' से सूचित किया गया है।

(२) 'देखिहउँ जाइ चरन···'—श्रीविभीषणजी ने पहले ही तपस्या करके ब्रह्माजी से वरदान पाया था, यथा—"तेइ माँगेउ भगवंत पद, कमल-अमल अनुराग।" (बा० दो० १७७), इसीसे प्रभु-चरण-सम्बन्धी मनोरथ ही करते जाते हैं। ऊपर 'हरषि' शब्द से मानसी शकुन द्वारा प्रभु-दर्शन पाने का विश्वास होना सूचित किया गया है। 'अरुन-मृदुल' से प्रभु-चरणों की शोभा कही गई और साथ ही यह भी कि दर्शनों से नेत्र सुखी होंगे और स्पर्श से त्वचा को आनन्द मिलेगा। 'सेवक सुखदाता'—से फल कहा गया है। 'देखिहउँ' के साथ ही 'सेवक सुखदाता' कहा गया है, अर्थात् देखते ही शीघ्र सेवक को सुख मिलता है।

(३) 'जे पद परसि तरी···'—यहाँ स्पर्श का माहात्म्य कहते हैं, आगे दो अर्द्धालियों में ध्यान का और दोहे में पूजन का वर्णन है, यथा—"नित पूजत प्रभु पाँवरी।" (अ० दो० ३२५), अहल्या और दण्डकवन साथ ही कहे गये हैं, क्योंकि ये दोनों व्यभिचार-दोष से शापित हैं, दोनों जड़ हैं और प्रभु ने जा-जाकर दोनों को तारा है, यथा—"सिला साप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ।" (वि १००), "दंडक बन पावन करन, चरन सरोज प्रभाउ।" (रामाज्ञा ३।११), यहाँ अहल्या के लक्ष्य में निर्हेतु दयालुता और दण्डकवन के लक्ष्य में चरणों का पतित पावन गुण दिखाया गया।

जे पद जनकसुता उर लाये। कपट कुरंग संग धर धाये॥७॥
हर-उर-सर-सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई॥८॥

दोहा—जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि, भरत रहे मन लाइ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥४२॥

अर्थ—जिन चरणों को श्रीजानकीजी ने अपने हृदय में धारण किया है, (जिन चरणों से) कपट मृग के साथ-साथ उसे पकड़ने को दौड़े थे ॥७॥ जो चरण रूपी कमल श्रीशिवजी के हृदय-रूपी सरोवर में रहते हैं, उन्हींको मैं (प्रत्यक्ष) देखूंगा, अहो मेरा भाग्य धन्य है ॥८॥ जिन चरणों की पादुकाओं में श्रीभरतजी ने अपने मन को लगा रक्खा है, आज अब उन्हीं चरणों को जाकर मैं इन आँखों से देखूँगा ॥४२॥

विशेष—(१) 'जे पद जनकसुता ··कपट कुरंग···', यथा—"जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम। सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ॥" (अर० दो० २९), "मम पाछे धर धावत, धरे सरासन बान। फिरि-फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ, धन्य न मो सम आन ॥" (अर० दो० २६), यहाँ माया की सीता और माया का ही मृग भी है, अतएव दोनों साथ-साथ कहे गये हैं। पुनः आगे श्रीशिवजी और श्रीभरतजी को साथ रक्खा है, क्योंकि दोनों ही परम विरक्त और उच्च कोटि के भक्त हैं, यथा—"राम रावरो सुभाव गुन सील महिमा प्रभाव जान्यो हर हनूमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुथरु राम-प्रेम-सुरतरु लसत सरस सुख फूलत फरत।" (वि० २५१), "जानी है संकर हनुमान लखन भरत-राम भगति।" (गी० अ० ८२)। दोनों ही भक्त-शिरोमणि हैं, यथा—"भगत सिरोमनि भरत सन···" (अ० दो० २१९), तथा—"वैष्णवानां यथा शम्भुः।" (भाग० १२।१३।१६)—इससे इन्हें साथ रक्खा।

(२) 'हर-उर-सर···'—चरण-कमल के समान कहे गये, यहाँ यह दिखाते हैं कि ये कमल इस सर के हैं और यह भी दिखाया कि राम-चरण की भक्ति मे सबका अधिकार है—स्त्री, पुरुष, जड़, चेतन, छली, निश्छल इत्यादि, अहल्या और श्रीजानकीजी दोनों स्त्री हैं, इन दोनों से यह भी दिखाया कि चाहे व्यभिचारिणी हो, चाहे पतिव्रता—दोनों को अधिकार है। मारीच छली है और श्रीशिवजी एवं श्रीभरतजी निश्छल हैं, किन्तु अधिकार दोनों को है। दण्डकवन जड़ है और सब चेतन हैं, इत्यादि।

'भरत रहे मन लाइ'—श्रीभरतजी इसी आधार से जीवित रहे, यथा—"सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई ॥" (अ० दो० ३०६), 'मन लाइ'—मन, वचन, कर्म से पादुका में भक्ति थी, यथा—"नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति। माँगि-माँगि आयसु करत···" (अ० दो० ३२५), इसमें क्रमशः कर्म, मन और वचन कहे गये।

चरण-दर्शन में श्रीविभीषणजी की अत्यन्त श्रद्धा है, इसीसे इसे बार-बार कहते हैं—(क) 'देखिहउँ जाइ चरन···', (ख) 'अहो भाग मै देखिहउँ···' (ग) 'ते पद आजु बिलोकिहउँ ···'। 'इन्ह नयनन्हि'—और सब ध्यान से देखते हैं, किन्तु मै इन चर्म-चक्षुओं से देखूंगा।

व्यासजी ने भी लिखा है, यथा—"मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥" (भाग० ११।५।३४)। चरणों के ध्यान का विशेष वर्णन वि० २१८ में भी है, वहीं देखिये।

'अहोभाग्य·· '—कहाँ उपर्युक्त महान् लोग और कहाँ मैं अति तुच्छ, फिर भी मै प्रभु को प्रत्यक्ष देखूँगा। अतः, मेरा परम धन्यभाग है।

येहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु येहि पारा ॥१॥
कपिन्ह बिभीषन आवत देखा। जाना कोउ रिपुदूत बिसेखा ॥२॥
ताहि राखि कपीस पहिं आये। समाचार सब ताहि सुनाये ॥३॥

अर्थ—इस तरह प्रेम पूर्वक विचार करते हुए समुद्र के इस पार शीघ्र ही आये ॥१॥ वानरों ने श्रीविभीषणजी को आते हुए देखा, तो उन्होंने जाना कि यह शत्रु की ओर का कोई विशेष (खास) दूत है ॥२॥ उसे ठहराकर श्रीसुग्रीवजी के पास आये और उनको सब समाचार सुनाये ॥३॥

विशेष—(१) 'येहि बिधि करत···'—उपक्रम में 'करत मनोरथ' और उपसंहार में 'सप्रेम बिचारा' कहा गया है। अतः, यहाँ 'मनोरथ' और 'विचार' पर्याय हैं। इन छहों लक्ष्यों से 'आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' यह शरणागति की गई है। यह शरणागति के छः भेदों में प्रथम है। उपर्युक्त मनोरथों में चरित क्रमबद्ध नहीं है, क्योंकि 'सप्रेम' विचार है, प्रेम में नेम नहीं भी रह पाता। 'आयउ सपदि', यथा—"बहु बिधि करत मनोरथ, जात लागि नहि बार।" (बा० दो० २०६), "इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः। आजगाम मुहूर्त्तेन तत्र रामः सलक्ष्मणः॥" (वाल्मी० ६।१७।१)। विचार में जितनी देर लगी, उतनी ही में इस पार आ गये। राम-चरण-प्रेम तो शीघ्र ही भवसागर पार कर देता है, इस छोटे सागर की क्या बिसात ?

(२) 'कपिन्ह बिभीषन आवत "'—पहले वानरों ने ही देखा, क्योंकि ये लोग चारो ओर पहरे पर हैं। लंका की तरफ से आकाश-मार्ग से आये, समुद्र के इस पार भूमि में उतरकर वहाँ से पैदल चले, जब फाटक पर आये तब वानरों ने रोका। यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में आकाश से ही श्रीविभीषणजी से बात-चीत होना कहा गया है। पर यहाँ आगे 'ताहि राखि ··' कहा गया है। पुनः प्रपत्ति स्वीकृत होनेपर भी उतरकर चलना नहीं कहा गया, इससे यहाँ पहले ही भूमि पर उतर आना लिखा गया है। 'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा'—चार मन्त्रियों के साथ बड़ा तेजस्वी एवं सुसज्जित देखकर इन्हें कोई विशेष दूत जाना और दूत ही समझकर मारा नहीं, यथा—"ते चाप्यनुचरास्तस्य चत्वारो भीमविक्रमाः। तेऽपि सर्वायुधोपेता भूषणैश्च विभूषिताः॥" (वाल्मी० ६।१७।३), वानरों ने इन्हें लंका की ओर से आते देखकर रिपु-दूत जाना। 'कोउ' यद्यपि श्रीविभीषणजी ने अपना पूरा परिचय कह दिया कि मैं रावण का भाई हूँ, राघव श्रीरामजी की शरण में आया हूँ तथापि इन्हें विश्वास नहीं हुआ और इससे उन्हें बाहर ही रोका।

(२) 'ताहि राखि कपीस पहि आये।'—श्रीरामजी और श्रीसुग्रीवजी बीच सेना में हैं, यह प्रसंग से सूचित होता है। वानरों ने समाचार पूछा और उन्होंने बतलाया, वानरों ने सुग्रीवजी से कहा, वही आगे सुग्रीवजी के भाषण में कहा जायगा। वहाँ मुख्य प्रसंग होने से स्पष्ट कहा जायगा। एकस्थल पर कहकर तीनो स्थलों पर बोध कराना काव्य निपुणता है।

कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन - भाई ॥४॥
कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा ॥५॥
जानि न जाइ निसाचर-माया। कामरूप केहि कारन आया ॥६॥
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिय बाँधि मोहि अस भावा ॥७॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे रघुराज श्रीरामजी ! सुनिये। रावण का भाई मिलने के लिये आया है ॥४॥ प्रभु श्रीरामजी ने कहा, हे सखा ! आपका विचार क्या है ? श्रीसुग्रीवजी ने कहा—हे राजन् ! सुनिये ॥५॥ निशाचरों की माया नहीं जानी जा सकती, ये कामरूप (इच्छानुसार रूपधारी) होते हैं, न जाने यह किस कारण से यहाँ आया है ॥६॥ वह शठ हमारा भेद लेने के लिये ही आया है, (अतएव) इसे बाँधकर रखिये, मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है ॥७॥

विशेष—(१) 'कह सुग्रीव···'—श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी से कुछ हटकर बैठे हुए हैं, इससे वानरों ने इनसे कहा और इन्होंने श्रीरामजी के पास जाकर निवेदन किया। श्रीसुग्रीवजी का जाना अध्याहार से

लेना होगा, नहीं तो प्रभु यदि पास होने तो वानरों के कहने पर ये भी सुनते ही, तब सुग्रीवजी के कहने की आवश्यकता ही न थी। 'रघुराई' सम्बोधन से श्रीसुग्रीवजी का अभिप्राय है कि आप राजा हैं। अतः, नीति पर दृष्टि रक्खें। 'आवा मिलन···'—भाव यह है कि रावण ने इसे छल से भेजा होगा, इससे हमारा क्या हित हो सकता है? इससे जान पड़ता है कि श्रीविभीषणजी ने जो समाचार कहा था वही वानरों से सुनकर ये भी प्रभु से कह रहे हैं, यथा—"रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः। तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥ तेन सीता जनस्थानाद्धृता हत्वा जटायुषम्। रुद्धा च विवशा दीना राक्षसीभिः सुरक्षिता॥ ··सोऽहं परुषतस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥ निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने। सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥" (वाल्मी० ६।१७।१२-१७), तथा—"जातुधानेस भ्राता बिभीषन नाम बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। पतित पावन प्रनतपाल करुना सिंधु, राखिये मोहि सौमित्रि-सेवित-चरन॥" (गी० सुं० ४३)। 'दसानन-भाई' है, अतः, इसे भी दशानन ही समझना चाहिये।

(२) 'कह प्रभु सखा···'—श्रीरामजी ने पूछा, तब श्रीसुग्रीवजी को उचित था कि श्रीरामजी की बड़ाई करके मन्त्रणा कहते, यह नीति है, यथा—"अब सो मंत्र देहु प्रभु मोहीं।" (अर० दो० १२), तब अगस्त्यजी ने पहले प्रभु श्रीरामजी की बड़ाई की, यथा—"मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी।···ऊमरि तरु बिसाल···" इत्यादि ऐश्वर्य कहकर तब मन्त्र कहा गया है, यथा—"है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ।···" इत्यादि। इससे पूर्व श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीवाल्मीकिजी ने भी ऐसी ही प्रशंसा करके सलाह दी है। आगे श्रीविभीषणजी से भी समुद्र के पार करने का मन्त्र पूछा गया है, तब उन्होंने भी पहले—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक। जद्यपि" कहकर तब कहा—"तदपि नीति असि ·" इत्यादि। पुनः लंका पहुँचकर प्रभु ने "पूछा मत सब सचिव बोलाई।" तब "जामवंत कह पद सिर नाई। सुनु सर्बज्ञ सकल उर बासी। बुधि बल तेज धर्म गुन रासी॥ मंत्र कहउँ निज मति अनुसारा। दूत पठाइय बालिकुमारा॥" इत्यादि, ऐसी नीति है। पर श्रीसुग्रीवजी श्रीरामजी को सरल प्रकृति का समझकर कि कहीं राक्षस के धोखे में न आ जायँ, आतुरता में पहले विभीषणजी के ही दोष कहने लगे। इससे इनका मत खंडित होगा, यथा—"सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत भय हारी॥

श्रीसुग्रीवजी नीति कह रहे है, इससे 'कपीस' राजा-सूचक नाम कहा गया है और उन्होंने श्रीरामजी को भी 'नरनाह' कहा कि आप राजनीति जानते हैं, अतएव नीति को आदर दें।

(३) 'जानि न जाइ'—शब्द सबके साथ है—न निशाचरों की माया जान पड़े, न उनके इच्छित रूप का मर्म ही मिले और न उसके प्रयोजन का ही भेद समझ पड़े कि यह किसलिये आया है। 'कामरूप' का भाव यह है कि यदि प्रभु कहें कि श्रीहनुमानजी के द्वारा मालूम हुआ है कि यह हमारा हितैषी है, यथा—"मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती।···" (दो० ४५), तब श्रीसुग्रीवजी कहते हैं कि निशाचरों के इच्छित रूप धारण करने की क्षमता से मुझे भी तो सन्देह है कि यह विभीषण ही है, हो सकता है कि रावण ने किसी अन्य राक्षस को विभीषणजी का रूप बनाकर प्रयोजन साधने के लिये भेजा हो। या यह उसका भ्राता बनकर मेरा भेद लेने आया हो कि मुझे रावण से तिरस्कृत जानकर भेद पाने के लोभ से अवश्य ग्रहण करेंगे और फिर विश्वास में डालकर यह न जाने क्या अनर्थ कर डाले? हमारे दल के किसीका भी रूप धरकर न जाने कौन काम बिगाड़ दे, अथवा हमलोगों मे फूट डाल दे। छली का विश्वास नहीं होता। अतएव 'राखिय बाँधि मोहि अस भावा।'—बाँधकर रखने पर इसकी माया नहीं लगेगी और इसका कामरूप होना भी कुछ काम नहीं देगा। न यह भेद पावेगा, न तोड़-फोड़ ही करा सकेगा और न लौटकर रावण को ही सचेत कर सकेगा।

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी। मम पन सरनागत - भयहारी ॥८॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत - बच्छल भगवाना ॥९॥

दोह—सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हहिं बिलोकत हानि ॥४३॥

अर्थ—हे सखा! तुमने राज-नीति अच्छी विचारी है, (पर) शरणागत के भय को हरण करने की मेरी प्रतिज्ञा है ॥८॥ प्रभु श्रीरामजी के वचन सुनकर श्रीहनुमानजी प्रसन्न हुए कि भगवान् श्रीरामजी शरणागत-वत्सल हैं ॥९॥ (श्रीरामजी ने कहा—) जो अपना अनहित विचार कर शरणागत को त्याग देते हैं, वे नर नीच है, पापमय हैं, उन्हें देखने से भी हानि होती है ॥४३॥

विशेष—(१) 'सखा नीति तुम्ह···'—'सखा'—सहायं ख्यातीति सखा, अर्थात् तुम हमारे सहायक हो, इसीसे हमारे कल्याण के लिये तुमने नीति-शास्त्र की दृष्टि से उत्तम विचार किया है। ऐसा कहकर शरणागति का धर्म समझाते है कि शरणागत के भय-हरण करने का मेरा प्रण है, यथा—"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (वाल्मी० ६।१८।३३), अर्थात् एक बार ही 'मैं आपका हूँ' इस प्रकार दीन होकर याचनेवाले सर्व प्राणियों के लिये एवं सब प्राणियों से मैं अभय देता हूँ—यह मेरा व्रत है। यह वचन सर्व तीर्थपति समुद्र के तट पर असंख्य वानर-भालू-रूप पार्षदों के समक्ष श्रीरामजी ने कहा है कि ऐसा मेरा व्रत है।

'सकृत् एव' से इसमे पुनरावृत्ति का निषेध है, "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्र० सू० ४।१।१) के अनुसार अन्य उपासनाओं के सदृश प्रपत्ति की आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिये श्रीराघवेन्द्रजी ने 'सकृत्' पद का प्रयोग किया है। उसपर भी यदि कोई सन्देह करे, उसकी निवृत्ति के लिये 'एव' भी स्वयं श्रीमुख से कहा है। और, जैसे वर शास्त्र-विधि से कन्या का पाणिग्रहण एक ही बार करता है और आजन्म उसका निर्वाह करता है, वैसे ही शास्त्र-विधि से शरणागत को ग्रहणकर भगवान् भी उसका निर्वाह करते है, सुग्रीवजी के शरण होने में पाणिग्रहण रूप मे शरणागति कही गई है, यथा—"रोचते यदि मे सख्यं बहुरेष प्रसारितः। गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा ॥११॥ एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्। संप्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना ॥१२॥" (वाल्मी० ४।५), अर्थात सुग्रीवजी ने अपना हाथ फैलाया और श्रीरामजी ने ग्रहण किया, इस प्रकार वे शरण हुए, यथा—"राम सुकंठ-बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ ॥" (बा० दो० २४)। वही आगे की 'ददामि' इस वर्त्तमान-कालिक क्रिया से स्पष्ट किया गया है कि इसी जन्म की एक बार की ही प्रपत्ति से मै रक्षा करता हूँ। 'प्रपन्नाय' के अनुसार दीन होगा तब हाथ जोड़ेगा ही—यह 'कायिकी' प्रपत्ति होगी। 'याचते' मे 'वाचिकी' और 'तवास्मि' के अनुसन्धान में 'मानसी' शरणागति का विधान है। सबसे अभय सबका स्वामी ही करेगा, इससे—"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः।" (बृह० ४।४।२२), इस श्रुति में कहा हुआ अपना ऐश्वर्य भी सूचित किया। 'सर्वभूतेभ्यः' यहाँ चतुर्थी विभक्ति से सब प्राणियों के लिये, यथा—"पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव साकं ते सर्वे प्रयान्ति परमां गतिम्।" (वाल्मी० भूषणटीका), 'सर्वेभूतेभ्यः' यह पंचमी विभक्ति भी है, उससे सर्व प्राणियों से अभय देना सूचित किया। पुनः संसार के शत्रु, कामादि, यमराज आदि से और सब भय के भी भय-रूप अपने से भी अभय देना जनाया। 'अभय' शब्द मोक्षपरक है, यथा—"अथ सोऽभयं गतो भवति" (तै० २।७), यह श्रुति प्रमाण है। 'एतद्-व्रतं-मम'—यहाँ प्रभु ने अपने सामर्थ्य और व्रत का महत्त्व कहा है कि सामान्य मनुष्य भी अपना व्रत (प्रतिज्ञा) नहीं छोड़ता और मै तो सत्यप्रतिज्ञ चक्रवर्त्ति-कुमार एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर हूँ। अतः,

मेरा व्रत खंडित हो नहीं सकता। श्रीमुख का वचन है, यथा—"अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ॥ न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः। (वाल्मी० ३।१०।१८), अर्थात् मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, श्रीलक्ष्मणजी के साथ तुमको भी छोड़ सकता हूँ, पर विशेषकर ब्राह्मणों के सम्बन्ध की प्रतिज्ञा करके उसे नहीं छोड़ सकता। तथा च "रामो द्विर्नाभिभाषते।" (वाल्मी० २।१८।३०), इस तरह अपना सर्वशरण्यत्व कहा है।

इसी प्रकार दंडकवन के ऋषियों की भी शरणागति कही गई है, यथा—"ते वयं भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः। नगरस्थो वनस्थो वा त्वं नो राजा जनेश्वरः॥ न्यस्तदण्डा वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः। रक्षणीयास्त्वया शश्वद्गर्भभूतास्तपोधनाः॥" (वाल्मी० ३।१।२०-२१), अर्थात् ऋषियों ने श्रीरामजी को फल मूलादि अर्पण कर स्तुति करते हुए इस प्रकार प्रपत्ति की है कि हमलोग आपके हैं, क्योंकि आपके राज्य में बसनेवाले हैं, अतएव आपके द्वारा रक्षा किये जाने योग्य हैं। चाहे आप नगर में रहें और चाहे वन में, आप हमलोगों के राजा और सम्पूर्ण प्रजा के शासक हैं, एवं अपने जनों (भक्तों) के ईश्वर हैं। हमलोगों ने जितेन्द्रिय एवं क्रोधजित होने के कारण दंड एवं शाप देना छोड़ दिया है, क्योंकि हमलोगों के पास तपस्या ही धन है इसीसे हमलोग उसकी गर्भस्थ बालक की तरह रक्षा करते हैं (शाप देने में क्रोध करने से तप का नाश होता है।), अतएव हमलोग आपके द्वारा निरन्तर रक्षा किये जाने योग्य हैं।

इसपर श्रीरामजी ने सम्पूर्ण राक्षसों के वध करने की प्रतिज्ञा कर उन ऋषियों की रक्षा की है।

आगे प्रतिज्ञा-भंग के दोष को 'सरनागत कहँ जे तजहिं···' से कहा है। यदि कहा जाय कि नीति-विरुद्ध चलने से हानि होगी, उसका समाधान भी आगे करेंगे, यथा—"भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा॥ जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनहिं निमिष महँ तेते॥"

(२) 'सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।···'—श्रीहनुमानजी ने श्रीविभीषणजी से प्रभु का भक्त-वत्सल स्वभाव कहा था, यथा—"अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँ पर रघुबीर। कीन्ही कृपा।" (दो० ७)। अतः, श्रीसुग्रीवजी के वचन पर ये दुखी हुए थे। जब श्रीरामजी ने उनका मत खण्डन कर शरणागति-धर्म को मुख्य कहा, तब इन्हें हर्ष हुआ, क्योंकि ये श्रीविभीषणजी की साधुता जानते भी हैं। इस विषय की प्रभु-प्रतिज्ञा सुनकर आनन्दित हुए।

(३) 'सरनागत कहँ जे तजहिं···'—इसमें यह भी आशय है कि जो अपने हित की हानि पर ध्यान न करके शरणागत की रक्षा करते हैं, उनके दर्शनों से बड़ा पुण्य होता है। श्रीसुग्रीवजी ने नीति-दृष्टि से हित की हानि कही है, उसीपर कहते हैं कि यदि अनहित का अनुमान करके उसे शरण में नहीं रक्खें तो बड़ा भारी दोष होगा। रक्षा नहीं करनेवाले को देखने से भी पाप कहा गया है, तो शरणागत के त्यागनेवाले के पाप का तो अन्दाजा ही नहीं हो सकता। इसीको उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि ऐसे मनुष्य पामर और पापमय हैं, क्योंकि वह तो बड़ा समझकर रक्षा के लिये आया और इन्होंने रक्षा नहीं की, तो बड़प्पन कहाँ रहा और शरणागत का विश्वास व्यर्थ हुआ, यदि वह मारा गया, तो और भी भारी पाप हुआ। इसीको वाल्मी० ६।१८ में विस्तार से कहा गया है। 'ते नर' कहकर वहाँ की कपोत की कथा को सूचित किया, यथा—"श्रूयते हि कपोतेन···किं पुनर्मद्विधो जनः॥" (२४-२५), अर्थात् तिर्यग्योनि के पक्षी ने भी अपनी स्त्री के मारनेवाले शत्रु को, शरण में आने पर अपना मांस देकर भी उसकी रक्षा की। फिर मैं तो मनुष्य हूँ, उसमें भी धर्मज्ञ, कुलीन एवं चक्रवर्त्ति-कुमार हूँ, कैसे न इसकी रक्षा करूँ ? 'पामर पापमय···'—से वहाँ की कंडु-गाथा का भाव ले लिया गया है, यथा—"बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।" से "एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे। अस्वर्ग्यं चायशस्यं

च बलवीर्यविनाशनम् ॥" (२७-३१) तक, अर्थात् हाथ जोड़ दीन होकर यदि शत्रु भी दया के लिये शरण में आवे, तो उसे नहीं मारना चाहिये। आर्त्त हो, चाहे अहंकारी हो, यदि शत्रु शरण में आ जाय, तो श्रेष्ठ मनुष्य को अपने प्राणों का भी मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि वह भय से, मोह से अथवा किसी प्रकार की इच्छा से उस शत्रु की रक्षा अपनी शक्ति से नहीं करता, तो उसे पाप होता है और वह पाप सब लोकों में निन्दित है। शरण में आया हुआ मनुष्य यदि रक्षक के सामने ही नाश को प्राप्त हो जाय, तो वह अरक्षित शरणागत उसके समस्त पुण्यों को लेकर चला जाता है। इस प्रकार शरण मे आये की रक्षा न करने में बड़ा दोष है, उससे अपकीर्त्ति होती है, परलोक नाश होता है और बल-वीर्य की हानि होती है।

महाभारत में शरणागत त्याग पर बहुत स्थलों पर अत्यन्त पाप कहा गया है—वन० १३१।६ में गो-ब्राह्मण-वध का पाप, उद्योग० १२।१८-२१ में बहुत पापों के फल रूप अनर्थों की प्राप्ति, वन० १८७।१२-१४ में भी उक्त उद्योग० १२।१८-२१ वाले ही वाक्य हैं। शान्ति० १४३ से १४६ अ० तक में शरणागत के लिये देह-त्याग करनेवाले कपोत की कथा विस्तार से है जिसका वाल्मी० में संकेत मात्र है। वहाँ भी प्रपन्न-त्याग पर गो-विप्र हत्या के समान पाप कहा गया है। अनुशा० अ० ३२ में भी राजा वृषदर्भ की कथा है, उसकी व्यवस्था शिवि-प्रसंग के समान ही है, कबूतर-बाज के वाद में अपना शरीर काटकर देना है, एवं अनुशा० ५६।१०, ६६।८-११ में भी अत्यन्त भारी-भारी पाप प्रपन्न-त्याग पर कहे गये हैं। स्कन्द पु० माहेश्वर केदार खण्ड ६।५२-५४ में श्रीरामजो ने बालि से कहा है—'शरण में आये की रक्षा करना महापुरुषों का धर्म है। जो लोग ब्राह्मण, रोगी, वृद्ध तथा शरणागत की रक्षा नहीं करते, वे ब्रह्महत्यारे हैं। स्कन्द पु० मा० के० १४।१६ में भी शरणागत-वध का ब्रह्महत्या के समान पाप कहा गया है। अन्यत्र भी जहाँ-तहाँ ऐसे ही वचन हैं। विस्तार भय से संकेत मात्र लिखा है।

कोटि बिप्र-बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू ॥१॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥२॥

अर्थ—जिसे करोड़ों ब्राह्मणों के वध का पाप (हत्या) भी लगा हो, शरण आने पर मैं उसका भी त्याग नहीं करता ॥१॥ जीव जिस समय मेरे सम्मुख (शरण) होता है, उसी समय उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं ॥२॥

विशेष—(१) 'कोटि बिप्र-बध ··'—शरणागत के त्यागनेवाले 'पामर पापमय' का तो मैं मुँह भी नहीं देखता, पर कोटि-बिप्र-वधवाले भी शरणागत को ग्रहण कर लेता हूँ, उसके पाप छुड़ा सकता हूँ। इसपर गी० सुं० ४५ का पूरा पद देखिये।

शंका—कबन्ध से तो आपने कहा है, यथा—"मोहिं न सोहाइ ब्रह्म कुल द्रोही।" (अर० दो० ३२), और यहाँ कोटि-विप्र-वधवाले को ग्रहण करते हैं, यह विरोध क्यों ?

समाधान—वहाँ सामान्यधर्म की दृष्टि से प्रवृत्ति-मार्ग पर कहा गया है और यहाँ सर्व-धर्म-परित्याग-पूर्वक शरणागत के लिये कहा गया है। कबन्ध तो शरणागत नहीं था, अन्यत्र भी कहा है, यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥" (गीता ९।३०-३१), अर्थात् कैसा भी दुराचारी क्यों न हो जो मुझे अनन्य भाव से भजे उसे साधु ही समझना चाहिये, वह तो सम्यक् प्रकार से दृढ़ निश्चयवाला है कि भगवान् के भजन के समान और कुछ नहीं है, ऐसा जिसने भलीभाँति जान लिया है वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, और निरन्तर शान्ति को पाता है, हे अर्जुन ! तू निश्चय पूर्वक जान कि मेरे भक्त का नाश नहीं होता। अनन्य भक्ति ही शरणागति है। अनन्य भक्त जगत् को

निज प्रभुमय देखेगा, यथा—"मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत।" (कि० दो० ३), तब फिर पाप नहीं होगा। पूर्व के पाप शरणागत होते ही नष्ट हो जायेंगे। शरणागति पश्चात्तापपूर्वक प्रायश्चित्त का एक बृहद्रूप है।

(२) 'सनमुख होइ जीव···'—यहाँ शरणागति का सद्य:फल-दातृत्व कहा जाता है। ऊपर 'कोटि बिप्र बध' कहा गया था, उसमें 'अघ' शब्द नहीं था। किन्तु यहाँ 'जन्म कोटि अघ नासहि' भी कहा गया है। इस तरह दोनों को मिलाकर अर्थ करना चाहिये कि यदि कोटि जन्मों से कोटि-विप्र-वध के पाप करता आया हो तो वे सब पाप उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि शरणागत होने से पूर्व पापों के नाश हो जाने पर हृदय शुद्ध होगा, तब हरि-भजन में मन लगेगा, फिर प्रभु की प्राप्ति होगी।

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोरि तेहि भाव न काऊ ॥३॥
जो पै दुष्ट-हृदय सोइ होई। मोरे सनमुख आव कि सोई ॥४॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥५॥

अर्थ—पापी का ऐसा सहज स्वभाव होता है कि उसे मेरा भजन कभी नहीं सुहाता ॥३॥ जो वह (विभीषण) निश्चय ही वैसा दुष्ट हृदय वाला होता, (यथा—'जानि न जाइ निसाचर माया।'···'—यह प्रथम कहा गया है) तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता? ॥४॥ जो निमल मन का भक्त है, वही मुझे पाता है, मुझे कपट, छल, छिद्र अच्छे नहीं लगते ॥५॥

विशेष—(१) 'पापवंत कर सहज सुभाऊ।··', यथा—"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।" (गीता० ७।१५), भाव यह है कि शरण आने पर मैं पापी को भी नहीं त्यागता, किन्तु वह आता ही नहीं। क्योंकि, पाप प्रेम का बाधक है और प्रेम बिना भजन नहीं होता, यथा—"तुलसी राम प्रेम कर बाधक पाप।" (बरवा ६४), उपर्युक्त 'कोटिबिप्र··' के प्रति इसे लगाना चाहिये, अर्थात् विभीषण शुद्ध है, तभी आया है, तथा—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥" (महा० शान्ति २०४।८), अर्थात् पाप-कर्मों के नष्ट होने पर जब मनुष्यों को ज्ञान होता है, तब निर्मल दर्पण की भाँति आत्मा से ही आत्मा को देखता है।

(२) 'जौ पै दुष्ट-हृदय··'—उपर्युक्त 'सनमुख होइ···' के प्रति इसको लगाना चाहिये। हृदय की दुष्टता क्या है, इसे आगे हृदय की निर्मलता के विपर्यय में 'कपट छल छिद्र' कहकर प्रकट किया है। कपट का अर्थ—स्वार्थ-साधन के लिये हृदय की बात को छिपाने की वृत्ति, छल-छिद्र का अर्थ—कपट-व्यवहार, धोखेबाजी, धूर्तता। 'सनमुख होना'=शरणागत होना। शरणागत होने में अपने पापों को कहकर दीनता-पूर्वक आत्म-समर्पण करना पड़ता है। यह दुष्ट हृदय से नहीं हो सकता, जब तक वह हृदय के 'कपट-छल-छिद्र' को न दूर कर दे, यथा—"छली न होइ स्वामि सनमुख ज्यों तिमिर सातहयजान सों।" (गी० सुं० ३३)। इनके छोड़ने में विचार की ही आवश्यकता है। जब अपने पापों को समझकर पश्चात्ताप एवं ग्लानि होती है, तब यह दुष्टता दूर हो जाती है और तभी शरणागत होने की भी वृत्ति उदित होती है, फिर उस शरणागत के सब पापों को भगवान् उसके शरणागति-परक सत्य-संकल्प के साथ ही नष्ट कर देते हैं। देखिये दो० ४१, अर्द्धाली १ भी।

(३) 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा।···'—श्रीसुग्रीवजी ने उसे छली कहा था, उसी पर कहते हैं कि जब शरण में निःशंक भाव से आया है, तो उसमें छल नहीं है।

प्रसंग का साराश यह कि कोटि जन्म के कोटि विप्र-वध के भी पाप हों, परन्तु यदि वह पापों से डरकर पश्चात्ताप-पूर्वक दीनता-सहित (निर्मल हृदय से) शरण में आवे, तो उसके पुराने पाप नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे भजन में उसका मन लगता है और अनन्तर वह मुझे पाता है।

भेद लेन पठवा दससीसा। तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥६॥
जग महँ सखा निसाचर जेते। लछिमन हनइ निमिष महँ तेते ॥७॥
जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाँई ॥८॥

अर्थ—रावण ने जो इसे भेद लेने को भेजा हो तो भी, हे कपीश! (मुझे) कुछ भय और हानि नहीं है ॥६॥ (क्योंकि) हे सखा! संसार-भर में जितने भी निशाचर है, उन सबको श्रीलक्ष्मणजी निमेष-भर में मार सकते हैं ॥७॥ (अतएव) यदि वह भयभीत होकर (मेरी) शरण में आया है, तो (मैं) उसे अपने प्राणों की भाँति रक्खूँगा ॥८॥

विशेष—(१) 'भेल लेन पठवा···'—यह सुग्रीवजी के मत को लेकर कहते है कि जब जगत्-भर के निशाचरों को लक्ष्मणजी पल-भर में मार सकते है, तब भेद लेकर भी लंका-मात्र के राक्षस हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे, यथा—"न भेदसाध्या बलदर्पिता जनाः।" (वाल्मी० ५।४१।३)।

(२) 'लछिमन हनइ निमिष महँ तेते।'—यहाँ ऐश्वर्य दिखाते हैं, यथा—"लक्ष्मणस्तु ततः क्रुद्धो भ्रातरं वाक्यमब्रवीत्। ब्राह्ममस्त्रं प्रयोक्ष्यामि वधार्थं सर्वरक्षसाम्॥" (वाल्मी० ६।८०।३७), अर्थात् क्रोध-पूर्वक श्रीलक्ष्मणजी ने समस्त राक्षसों के वध के लिये भाई श्रीरामजी से ब्रह्मास्त्र प्रयोग करने को कहा। इसपर श्रीरामजी ने समझाकर मना किया है, तथा—"सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारे भुवन चारि दस आसू॥" (ल० दो० ५३), दुष्ट-निशाचरों के वध के लिये ही श्रीलक्ष्मणजी का अवतार है, यथा—"जो सहस सीस अहीस महिधर लखन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी॥" (अ० दो० १२६), तब राक्षसों से कोई भय नहीं है।

यहाँ प्रभु ने अपना पराक्रम नहीं कहा, एक तो उन्होंने आत्मश्लाघा दोष बचाया, दूसरे इनका पराक्रम तो बालि-वध आदि से श्रीसुग्रीवजी जानते ही थे, इसीसे अवसर पाकर प्रभु ने श्रीलक्ष्मणजी का ही बल कहा।

(२) 'जौ सभीत आवा ··'—यदि भय-पूर्वक शरण में आया है, तो मैं उसका भय-हरण करूँगा, क्योंकि—"मम पन सरनागत भयहारी।' ऊपर कहा हो गया है। भय—चाहे शत्रु का, पापों का और चाहे संसार का हो। 'प्रान की नाईं', यथा—"देह-प्रानते प्रिय कछु नाहीं।' (बा० दो० २०७), अर्थात् शरणागत मुझे अत्यन्त प्रिय है। प्रभु ने प्राणों से भी अधिक मानकर आगे इनकी रक्षा की भी है, यथा—"आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारति भंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥" (ल० दो० ९२)।

वाल्मी० ६।१८।२२--२३, ३४ में यह प्रसंग कहा गया है, किन्तु वहाँ सम्पूर्ण राक्षसों के वध में प्रभु ने अपना ही पराक्रम कहा है, और शेष भाव ऐसे ही हैं।

दोहा—उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपानिकेत।
जय कृपाल कहि कपि चले, अंगद हनू समेत ॥४४॥

अर्थ—कृपालु श्रीरामजी ने हँसकर कहा कि (चाहे वह भेद लेने आया हो और चाहे सभीत हो ठीक शरण में आया हो) दोनों प्रकार से उसे ले आओ। 'जय कृपाल' (कृपालु श्रीरामजी की जय हो) ऐसा कहकर श्रीअंगदजी और श्रीहनुमानजी के साथ सब वानर (ले आने के लिये) चले ॥४४॥

विशेष—(१) 'कृपानिकेत' 'जय कृपाल' का भाव यह है कि श्रीविभीषणजी पर अत्यन्त कृपा देखकर वानर लोग जय-जयकार करने लगे, यथा—"सुनि प्रभु बचन कहहि कपिबृंदा। जय जय जय कृपाल सुख-कंदा॥" (दो० ३३), 'हँसि कह'—कि जिससे सुग्रीवजी को बुरा न लगे। हँसकर अपनी

प्रसन्नता भी श्रीविभीषणजी पर प्रकट की, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥" (बा० दो० १९७)।

(२) 'अंगद हनू समेत'—श्रीविभीषणजी राजा रावण के छोटे भाई हैं, छोटा भाई पुत्र के समान होता है, अतएव उनके लाने के लिये श्रीसुग्रीवजी के पुत्र अंगद और श्रीरामजी के पुत्र के समान श्रीहनुमानजी (यथा—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।') भेजे गये। यहाँ 'हनू' मात्र छन्दानुरोध से लिखा है। यह भाव भी है कि भक्त से मिलने चले, तो श्रीहनुमानजी ने अपना मान नहीं रक्खा, अतएव अपने नाम से इन्होंने 'मान' शब्द तक निकाल दिया, इसीलिये गोस्वामीजी ने नहीं लिखा। 'कपि चले'—चलने में अप्रधान वानर प्रधान-रूप में कहे गये हैं, और अंगद-हनुमानजी प्रधान हैं, पर ये गौण-रूप में कहे गये, क्योंकि अप्रधान श्रीविभीषणजी को प्रधान बनाना है। श्रीविभीषणजी को राजा बनाना है।

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥१॥
दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता। नयनानंद दान के दाता॥२॥
बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठठुकि एकटक पल रोकी॥३॥

अर्थ—उसे आदर के साथ आगे करके वानरगण वहाँ चले, जहाँ पर करुणा की खान श्रीरघुनाथजी हैं॥१॥ आँखों को आनन्द-रूपी दान देनेवाले दोनों भाइयों (श्रीराम-लक्ष्मणजी) को श्रीविभीषणजी ने दूर से ही देखा॥२॥ फिर छवि के स्थान श्रीरामजी को देखकर पलक रोक एकटक खड़े देखते रह गये॥३॥

विशेष—(१) 'सादर तेहि आगे करि ···'—पहले श्रीविभीषणजी को अनादर-पूर्वक रोका था, अब उनपर श्रीरामजी की कृपा जानकर आदर-पूर्वक आगे करके ले चलते हैं, क्योंकि श्रीरामजी की अनुकूलता से सभी अनुकूल हो जाते हैं। यहाँ यह भी भाव है कि ये वानरगण देवताओं के अंश हैं। देवतागण पहले भगवान् की शरण होने में बाधा करते है, फिर प्रभु की प्रसन्नता जानकर सहायक भी हो जाते हैं। आदर से इसलिये भी ले जा रहे है जिससे इन्हें बाँधे जाने आदि की शंका न हो।

(२) 'दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता···'—वानरगण मार्ग से हट गये हैं, इससे सामने बैठे हुए दोनों भाइयों के दर्शन हो रहे हैं। 'नयनानंद दान के दाता'—नेत्रधारी-मात्र को इनके दर्शनों से आनन्द मिलता है। ये दर्शन किसीके भी सुकृत के फल-रूप में नहीं हो सकते, क्योंकि प्रभु अप्रमेय है और सबके सुकृत परिमित ही होते हैं, यथा—"नास्त्यकृतः कृतेन" (मुंडक १।२।१२)। प्रभु अपनी कृपा से दानरूप में दर्शन देते हैं, यथा—"नाहि त हम कहँ सुनहु सखि, इन्हकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि॥" (बा० दो० २२२)। "लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥" (अ० दो० १०६)। अनुकूल कृपामयी चितवनि से विभीषणजी को तृप्त करते हैं, यथा—"लोचनाभ्यां पिबन्निव" (वाल्मी० ६।१६।७)।

(३) 'बहुरि राम छबिधाम···'—पहले दोनों भाइयों को देखा, फिर श्रीरामजी को देखकर अपनी देह-दशा भूल गये, क्योंकि सब भाइयों में भी श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं, यथा—"चारिउ सील रूप गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥" (बा० दो० १९७), इसी तरह दोनों के दर्शनों की व्यवस्था और जगह भी कही गई है—

(१) "भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता।···मूरति मधुर मनोहर देखी।
भये बिदेह बिदेह बिसेखी॥"—जनक समाज

(२) "लता ओट तब सखिन लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये॥
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकनिहूँ·· "—श्रीसीताजी

(३) "राम लखन दसरथ के ढोटा । दीन्ह असीस जानि भल जोटा ॥ अन्यु
रामहि चितइ रहे भरि लोचन । रूप अपार···"—परशुरामजी

(४) "मरकत कनक बरन बर जोरी । देखि सुरन्ह भइ प्रीति न थोरी ॥
पुनि रामहि बिलोकि हिय हरषे···"—देवगण

(५) "प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये ॥ देखि राम छवि नयन जुड़ाने ।"—अत्रिजी ।

(६) 'रहे ठठुकि····', यथा—"एकटक रहे निमेष न लावहि ।"—सनकादिक ।

दोनों भाइयों के दर्शनों से आनन्द मिलता है, पर श्रीरामजी को देखकर तो लोग अत्यन्त आनन्द से विदेह दशा को प्राप्त हो जाते हैं ।

भुज - प्रलंब कंजारुन - लोचन । स्यामल गात प्रनत-भय-मोचन ॥४॥
सिंह-कंध आयत उर सोहा । आनन अमित-मदन-मन मोहा ॥५॥
नयन नीर पुलकित अति गाता । मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥६॥

अर्थ—(श्रीरामजी की) भुजाएँ विशेष लम्बी (आजानु बाहु) हैं, लाल कमल के समान आँखें है, साँवला शरीर है, (ये सभी अंग) शरणागत का भय छुड़ानेवाले हैं ॥४॥ सिंह के कन्धे के समान उनके कन्धे हैं, चौड़ा वक्षःस्थल शोभित है, मुख अगणित कामदेवों के मन को मोहित करता है ॥५॥ (दर्शन पाते ही) श्रीविभीषणजी के नेत्र सजल हो गये हैं और उनका शरीर बहुत ही पुलकित है, मन में धैर्य धरकर उन्होंने कोमल वचन कहे ॥६॥

विशेष—(१) 'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन ।···'—श्रीविभीषणजी रावण से रक्षा पाने के लिये रघुवीर-शरण में आये हैं, यथा—"मैं रघुबीर सरन अब जाउँ···" । अतः, यहाँ उन्हें श्रीरामजी के वीर रस-प्रधान स्वरूप के दर्शन हुए । वे शत्रु से सभीत हैं और शत्रु का नाश भुज-बल से ही होगा, इसीलिये पहले उन्होंने 'भुज प्रलंब' ही देखा, यथा—"पुरुष सिंह दोउ बीर, हरषि चले ··अरुन नयन उर बाहु बिसाला । नील जलद तन स्याम तमाला ॥" (बा० दो० २०८), तथा—"लछिमन चले क्रुद्ध होइ ··छतज नयन उर बाहु बिसाला । हिम गिरि निभ तनु कछुयक लाला ॥" (लं० दो० ५१), यहाँ प्रभु आयुध का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि—(क) यहाँ मिलने का प्रसंग है । अतः, प्रभु ने धनुष-बाण उतार दिये हैं । (ख) श्रीविभीषणजी भव-भय से डरे हुए हैं, यथा—"श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर ।" आगे कहा गया है । इनके लिये भुजाओं का ही प्रयोजन है, यथा—"सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं । होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं ॥ ··सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभय पद ओर निबाहैं । करि आईं करिहैं, करती हैं, तुलसिदास दासनि पर छाहैं ॥" (गी० उ० १३) ।

'कंजारुन-लोचन'—से नेत्र कृपायुक्त सूचित किये गये, यथा—"राजिव नयन धरे धनुसायक । भगत बिपति भंजन सुख दायक ॥" (बा० दो० १७) ।

'प्रनत-भय-मोचन'—अन्त में कहे जाने से यह सबका विशेषण है, प्रभु के सब अंग भव-भय मोचन हैं, यथा—"पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं । नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव-भय मोचनं ॥" (अर० दो० ३१) । यहाँ उपर्युक्त 'भय' का अर्थ 'भव-भय' खुल गया है ।

(२) 'सिंह-कंध आयत उर···'—सिंह के समान ऊँचे और सुढार कन्धों से गज-गण के समान राक्षसों का नाश करेंगे—यह प्रकट होता है । 'आनन अमित···', यथा—"मुख छवि कहि न जाइ मोहि पाहीं···जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥" (बा० दो० २३२) ।

(३) 'नयन नीर पुलकित अति गाता ।'—श्रीरामजी की छवि को देखकर यह दशा हो गई,

अधीरता आ गई। इसीसे 'मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥' कहा है, यथा—"देखि भानु कुल भूषनहि, बिसरा सखिन्ह अपान ॥ धरि धीरज यक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी ॥" (बा० दो० २३३), "पुलकित तनु मुख आव न बचना।···पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।" (कि० दो० १), इत्यादि बहुत उदाहरण हैं।

श्रीविभीषणजी तन, मन और वचन से प्रेम में मग्न हैं, यथा—"नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता ॥"

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर-बंस जनम सुरत्राता ॥७॥
सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा ॥८॥

दोहा—श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव-भीर।
त्राहि-त्राहि आरति-हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥४५॥

अर्थ—हे नाथ! मैं दसमुखवाले रावण का भाई हूँ, हे देवताओं के रक्षक! निशाचर-कुल मे मेरा जन्म है ॥७॥ मेरा शरीर तामसी है, (अतः) मुझे स्वाभाविक ही पाप प्रिय है, जैसे उल्लू को अन्धकार से (स्वाभाविक) स्नेह रहता है ॥८॥ आपका यह सुन्दर यश कानों से सुनकर आया हूँ कि हे प्रभो! (आप) भव-भय के भंजन करनेवाले और (प्रभु अर्थात्) समर्थ हैं। हे आर्त्तों के दुःख हरनेवाले! हे शरणागत को सुख देनेवाले !! हे रघुवीर !!! आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें ॥४५॥

विशेष—(१) 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।···'—शरणागति में कार्पण्य मुख्य है। इससे अपनी अधमता दिखाने के उद्देश्य से रावण का भाई कहकर अपना परिचय देते हैं। पिता के नाम-सहित अपना नाम कहकर प्रणाम करने की रीति है, परन्तु इनके पिता ऋषि श्रीविश्रवाजी है। अतः, उस परिचय से कुलीनता पाई जाती। इसी कारण से बड़े भाई का नाम कहकर परिचय दिया, बड़ा भाई भी पिता के तुल्य है।

'निसिचर-बंस जनम···'—यद्यपि इनके पिता ऋषि हैं, तथापि माता तो राक्षसी ही है और उसीके द्वारा पाले गये हैं, तदनुसार ही सस्कार भी हुआ है। अतः, श्रीविभीषणजी ने अपने को निशाचर-वंश का कहा। उपर्युक्त रीति से इसमे भी अपनी अधमता दिखाना हेतु है। 'नाथ' का भाव यह कि मै अनाथ हूँ, मुझे सनाथ कीजिये।

(२) 'सहज पाप प्रिय···', यथा—"मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहि काऊ ॥" (दो० ४६), अर्थात् मुझे धर्म प्रिय नहीं है। 'सहज' का भाव यह है कि पापी रावण की संगति से मुझ मे दोष हो, यह बात नहीं है, मुझे स्वाभाविक ही पाप प्रिय है, यथा—"रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी।" (वि० १६६)। इसमे 'कौन भजन अधिकारी' है और यहाँ 'सहज पापप्रिय' कहा गया है, दोनों का भाव एक ही है, यथा—"पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥" (दो० ४३), तामस देह भी पाप-प्रमाद मे ही प्रवृत्त रहनेवाला होता है। 'यथा उलूकहि तम···'—जैसे उलूक को अन्धकार स्वाभाविक ही प्रिय होता है, वैसे ही मुझे भी पाप प्रिय है, उलूक अशुभ पक्षी है, और मेरी भी तामसी देह है। 'सुर त्राता'—भाव यह कि आप देवताओं के रक्षक हैं और मैं सुर-द्रोहियों के वंश का हूँ।

उत्तमता एवं अधमता चार प्रकार से देखी जाती है—जन्म (कुल), संगति, स्वभाव और शरीर से। इन्होंने चारो प्रकार से अपनी अधमता ही कही, यथा—'निसिचर बंस जनम' से कुल की, 'दसानन

कर भ्राता' से संगति की, 'सहज पाप प्रिय' से स्वभाव की और 'तामस देहा' से शरीर की। देखिये बा० दो० ३८ चौ० १३ तथा बा० दो० २३७, इत्यादि।

(३) 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ ···'—क्या सुयश सुनकर आया हूँ, वह कहते हैं कि आप 'प्रभु' समर्थ हैं और मैं असमर्थ हूँ। आप 'भव-भीर-भंजन' हैं और मैं 'भव-भय' से ग्रस्त हूँ। आप 'आरति-हरन' हैं और मैं आर्त्त हूँ। आप 'सरन-सुखद' हैं और मैं आपकी शरण हूँ। आप 'रघुबीर' हैं और मैं आपके शत्रु से डरा हुआ दीन हूँ। अतः, आप मेरी रक्षा कीजिये।

ऊपर के शब्दों से भाव यह निकलता है कि दशानन आपका विरोधी है और मैं उसीका भाई हूँ। आप सुर-त्राता हैं और मैं सुर-द्रोही निशाचर वंश का हूँ। आप धर्म-प्रिय हैं और मैं पाप-प्रिय हूँ। आप सात्विक-शरीर हैं, मैं तामस-देह हूँ। अतएव मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ, पर कानों से आपका यश सुना है (प्रभु आदि के भाव जो ऊपर कहे गये), इससे आया हूँ कि आप मुझे शरण में रक्खेंगे, मेरा त्याग न करेंगे, यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८), तथा—"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥" (वाल्मी० ६।१८।३), अभी के ही प्रभु के ये वचन हैं, यथा—"जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाँई॥" तदनुसार ये भव-भीर से डरकर आये हैं।

सुयश किससे सुना—(क) श्रीहनुमानजी से संवाद हुआ, यथा—"तब हनुमंत कही सब, राम कथा निज नाम।" (दो० ६), तदनुसार इन्होंने कहा है, यथा—"सुजस सुनि श्रवन हौं नाथ आयउँ सरन। उपल केवट गीध सबरी संसृत-समन, सोक श्रम सीव सुग्रीव आरति हरन॥" (गी० सु० ४३), (ख) गी० सुं० २७–२८ के अनुसार कुबेर और श्रीशिवजी से भी सुना। (ग) नारदादि से भी सुना था, यथा—"नारद मुनि मोहि ज्ञान जो कहा। कहतेउँ तोहि समय निर्बहा॥" (लं० दो० ६१), यह कुम्भकरण का वचन है, सम्भवतः श्रीविभीषणजी ने भी साथ में सुना हो।

"मैं रघुबीर सरन अब जाउँ ···" (दो० ४१), उपक्रम है और यहाँ 'श्रवन सुजस सुनि आयउँ··· सरन सुखद रघुबीर।" उपसंहार है।

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेखा॥१॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा॥२॥
अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी। बोले बचन भगत भय हारी॥३॥
कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर (श्रीविभीषणजी को) दंडवत् (साष्टाङ्ग) करते देखा, (त्योंही) शीघ्र प्रभु श्रीरामजी विशेष हर्ष के साथ उठे॥१॥ दीन वचन सुनकर (वे) प्रभु के मन को प्रिय लगे, अतएव उनको अपनी विशाल भुजाओं से पकड़कर हृदय से लगा लिया॥२॥ भाई श्रीलक्ष्मणजी के साथ मिलकर उनको पास बैठा, उनसे भक्त के भय को हरनेवाले वचन बोले॥३॥ हे लंकेश! परिवार-समेत अपनी कुशल कहो, तुम्हारा निवास कुठौर (कुत्सित स्थान) पर है॥४॥

विशेष—(१) 'करत दंडवत देखा'—दंडवत् से साष्टाङ्ग प्रणाम का अर्थ है, यथा—"पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा तथा। मनसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः।" अर्थात् पैर, भुजा, घुटना, उर, सिर, मन, वचन और नेत्र इन आठ अंगों से युक्त प्रणाम साष्टाङ्ग कहाता है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजी ने भी लिखा है, यथा—"उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्रयातकरयुग्मजानुना। श्रद्धायुतस्तं प्रणमेन्महीतले दीर्घं कृती सत्कृतधीश्च दण्डवत्॥" (वैष्णवमताब्जभास्कर ५।७), अर्थात् श्रद्धालु, कृती और

बुद्धिमान पुरुष उर, सिर, दृष्टि, मन, वचन, दोनों पाद, दोनों कर और जानु, इन आठ अंगों से पृथ्वी के ऊपर दण्ड के समान लम्बा पड़कर उस अर्चावतार को प्रणाम करे। 'अस कहि'—अपनी दीनता सुनाई, इससे दीनता नाश होती है, यथा—"तुलसी राम-कृपाल सों, कहि सुनाव दुख दोष। होइ दूबरी दीनता, परम पीन संतोष॥" (दोहावली ९६), 'तुरत उठे'—देर होने से प्रभु में निर्दयता और साथ ही श्रीविभीषणजी का अनादर समझा जाता। 'हरष बिसेषा'—श्रीविभीषणजी ने अपने को पतित कहा है, इस कारुण्य पर आपको विशेष हर्ष हुआ, क्योंकि आपका बाना 'पतित-पावन' है, यथा—"जासु पतित-पावन बड़ बाना।" (उ० दो० १२९), श्रीविभीषणजी श्रीरामजी से मिलने के लिये हर्ष-सहित चले थे, यथा—"चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।" (दो० ४१), उसीके प्रतिकार में श्रीरामजी यहाँ विशेष हर्ष के साथ उठे, अर्थात् प्रीति-व्यवहार में आप भक्त से बढ़े रहते हैं।

(२) 'दीन बचन सुनि···'—दीन वचन प्रिय लगे, क्योंकि आप दीन-बन्धु है, यथा—"हे प्रभु दीन-बंधु रघुराया।···" (अर० दो० ९), 'प्रभु'—आश्रित के भय-निवारण में समर्थ हैं, अतएव 'मन भावा'। 'भुज बिसाल गहि ··'—श्रीविभीषणजी दर्शन करके ठिठक गये थे। अतः, कुछ दूर (ही से) उन्होंने साष्टाङ्ग दंडवत् की, प्रभु उठे और कुछ चलकर अपनी आजानु बाहुओं से पकड़कर उन्हें उठा लिया, यथा—"उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनुतीरा॥ बरबस लिये उठाइ उर, लाए कृपा निधान।" (अ० दो० २४०), यहाँ भी चलना नहीं कहा गया, पर 'कहुँ पट कहुँ निषंग···' से कुछ चलना सिद्ध है। पुनः आगे उद्धृत प्रमाण में 'आगे ह्वै लीन्हों' पद में भी आगे बढ़कर लेने और भेंटने का भाव स्पष्ट है। कहा गया है, यथा—"भयो बिदेह बिभीषन उत इत प्रभु अपनपौ बिसारि कै। भली-भाँति भावते भरत ज्यों भेट्यो भुजा पसारि कै॥" (गी० सुं० ३६), "रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी। सरन गये आगे ह्वै लीन्हो भेट्यो भुजा पसारी।" (वि० १६६), श्रीविभीषणजी को अति प्रिय मानकर हृदय से लगाया, यथा—"सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे॥" (दो० ४८), जब श्रीभरतजी चरणों पर पड़े थे, तब—"परे भूमि नहि उठत उठाये।" (उ० दो० ४), और श्रीहनुमानजी भी—"प्रेम मगन तेहि उठब न भावा।" (दो० ३२), अर्थात् ये दोनों शीघ्र नहीं उठे, परन्तु यहाँ श्रीविभीषणजी तुरत उठ गये—यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि उन दोनों के कारण, उन प्रसंगों में कहे गये है, और यहाँ ये तो चाहते ही थे कि प्रभु मुझे अंगीकार करें, अतएव केवल भुजावलम्बन-मात्र से ही उठ आये।

(३) 'अनुज सहित मिलि···'—जिसे प्रभु जिस प्रकार अंगीकार करते है, उसे श्रीलक्ष्मणजी भी वैसा ही मानते हैं, इससे मिले, यथा—"सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥" (कि० दो० ३), उनके आदर के लिये भाई के साथ मिले। 'ढिग बैठारी'—यह अत्यन्त आदर है, यथा—"अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि ··" (लं० दो० ३६), तथा—"कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। करगहि परम निकट बैठावा॥" (दो० ३२)। पास में ही अपनी दाहिनी ओर बैठाया, यथा—"उठि दाहिनी ओर ते सन्मुख सुखद माँगि बैठक लई।" (गी० सुं० ३८)। 'बोले बचन'—'हरष बिसेषा' में मन, 'हृदय लगावा' में तन और यहाँ 'बोले बचन' में अपने वचन का प्रेम प्रकट किया है।

(४) 'कहु लंकेस···'—श्रीविभीषणजी को लंका का राजा बनाने की इच्छा है, इसीसे प्रभु ने इन्हें अभी से लंकेश कहा। वचन से लंकेश बना दिया, यथा—"बोलि लंकेस कहि अंक भरि भेंटि प्रभु तिलक दियो दीन दुख दोष दारिद दहन।" (गी० सुं० ४३)। प्रभु का वचन सत्य ही होता है, यथा—"सखा बचन मम मृषा न होई॥" कि० दो० ६), ये लंकेश बनाये जायँगे। परिवार-सहित इनकी कुशल पूछी, क्योंकि "प्रनत कुटुंबपाल रघुराई" हैं। 'कुठाहर बास', अर्थात् तुम दुष्टों की मंडली में रहते हो, (उसीको आगे स्पष्ट करेंगे—'खल-मंडली···') जहाँ सज्जनों के लिये बहुत-से विघ्न रहते है, यथा—

"सुनहु पवनसुत रहनी हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥" (दो० ६)—यह श्रीविभीषणजी का ही वचन है।

खल-मंडली बसहु दिन-राती। सखा धरम निबहइ केहि भाँती॥५॥
मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नयनिपुन न भाव अनीती॥६॥
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥७॥

अर्थ—हे सखे! तुम दिन-रात दुष्टों की मण्डली में निवास करते हो, वहाँ तुम्हारे धर्मों का निर्वाह कैसे होता है?॥५॥ मैं तुम्हारी सारी रीतियों को जानता हूँ, तुम नीति में बहुत ही निपुण हो, इसीसे तुम्हें अनीति नहीं अच्छी लगती॥६॥ हे तात! नरक का वास चाहे हो भी, तो भला है, पर विधाता दुष्ट की संगति नहीं दे॥७॥

विशेष—(१) 'खल-मंडली बसहु···'—उपर्युक्त कुशल का अर्थ यहाँ खोला गया कि धर्म का निर्वाह कैसे होता है? श्रीहनुमानजी ने भी ऐसा ही अनुमान किया है, यथा—"लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥" (दो० ५), दुष्टों में धर्म सुनाई भी नहीं देता, यथा—"अस भ्रष्ट अचारा भा ससारा धरम सुनिय नहि काना।" (बा० दो० १८३), "जेहि बिधि होइ धरम निर्मूला। सोइ सब करहि बेद प्रतिकूला।" (बा० दो० १८२), 'दिन-राती'—कुछ भी अवकाश धर्म का नहीं मिलता। श्रीविभीषणजी न बोले, तो प्रभु स्वयं उत्तर में कहते हैं।

(२) 'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती···'—श्रीविभीषणजी लंका में रहते हुए भी श्रीरामजी की रीति जानते थे, जो रावण को उपदेश भी दिया है, वैसे ही श्रीरामजी भी उनकी रीति जानते हैं। 'सब रीती'—लोक-रीति, धर्म-रीति, वेद-रीति एवं साधु-रीति, आदि। विभीषणजी लंका में रहकर श्रीरामजी की रीति जानते थे, इससे भक्ति करते थे, वैसे श्रीरामजी भी उनकी रीति जानते हैं। पहले 'खल-मंडली' के बीच वास कहकर फिर 'न भाव अनीती' कहकर जनाया कि तुममें उनके दोषों का स्पर्श नहीं हुआ, यथा—"बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥" (बा० दो० २), "अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई।" (अ० दो० १८३), यह श्रीविभीषणजी के 'सहज पापप्रिय तामस देहा।···' का उत्तर है कि तुम पापी नहीं, किन्तु धर्मात्मा हो।

(३) 'बरु भल बास नरक···'—विधाता कर्म-फल के रूप में दुष्ट-संग भी देता है, उसीपर कहते हैं कि उसके बदले में नरक का वास देकर कर्म-दण्ड चुका दे, परन्तु विधाता दुष्ट का संग नहीं दे, क्योंकि नरक वास में दुःख तो है, पर आगे के लिये दुःख की निवृत्ति है, और दुष्ट के संग में वर्त्तमान में दुःख रहता है और अन्त में नरक होता है। श्रीविभीषणजी ने अपनेको दशानन का भाई कहा था, उसीका समाधान श्रीरामजी विधि-वश कहकर करते हैं। श्रीहनुमानजी से तो इन्होंने कहा था, यथा—"सुनहु पवन-सुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी॥" पर यहाँ ऐसा नहीं कहा, यहाँ यह उपदेश है कि स्वामी से प्रपंच की बात न कहनी चाहिये, यथा—"सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि॥" (अ० दो० ३००)।

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौ तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥८॥

दोहा—तब लगि कुसल न जीव कहँ, सपनेहु मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहँ, सोक-धाम तजि काम॥४६॥

अर्थ—हे रघुराज श्रीरामजी! अब (आपके) चरणों के दर्शनों से कुशल है जो आपने अपना

भक्त जानकर मुझपर दया की ॥८॥ तब तक जीव की कुशल नहीं है और न स्वप्न में उसके मन को विश्राम रहता है, जब तक शोक के स्थान काम (काम-विकार एवं कामनाओं) को छोड़कर वह श्रीरामजी को नहीं भजता ॥४६॥

विशेष—(१) 'अब पद देखि···'—जब अपना जन जानते हैं, तब आप दया करते हैं, और फिर दर्शन देते हैं, तब कुशल होती है, क्योंकि आपके पद ही कुशल के मूल है, यथा—"कुसल मूल पद पंकज देखी। मै तिहुँ काल कुसल निज लेखी ॥" (अ० दो० १९४), यहाँ अपनी कुशल कही। 'जौ तुम्ह कीन्हि जानि जन···' से परिवार सहित की भी, यथा—"अब प्रभु परम अनुग्रह तोरे। सहित कोटि कुल मंगल मोरे ॥" (अ० दो० १९४), यदि शत्रु का भाई, एवं निशाचर जानकर आप मुझपर दया नहीं करते तो मेरी कुशल न थी, किन्तु 'अब' हुई। यह भाव 'जौ' में है। यहाँ विभीषणजी ने पाँच प्रकार से कुशल कही—(१) चरण-दर्शन से—'अब पद देखि कुसल ···' (२) प्रभु की दया से—'जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया।' (३) प्रभु-भजन से—"तब लगि कुसल न· ·जब लगि भजत न राम कहँ ···" (४) श्रीरामजी के हृदय में निवास से—'तब लगि हृदय बसत खल नाना।···जब लगिउर न बसत रघुनाथा। " (५) प्रभु-प्रताप के हृदय में निवास से—'ममता तरुन तमी · तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं ॥'।

'अब पद देखि···' यह उपक्रम है और आगे 'देखेउँ नयन बिरंचि···' उपसंहार है।

(२) 'सोक-धाम तजि काम'—काम भजन में बाधक है, यथा—"करम बचन मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय ··" (अर० दो० १६), जब तक निष्काम भजन नहीं हो, हृदय को विश्राम नहीं मिलता, यथा—"पाकारिजित-काम-बिश्राम हारी।" (वि० ५८), तथा—'भजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मन माहि ॥" (उ० दो० १०४), यहाँ वासनाएँ 'काम' शब्द से कही गई है, ये शोकमय हैं, यथा—"तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम। सेये सोक समर्पई, बिमुख भये बिश्राम।" (दोहावली २५८), तथा—"काममूलमिदं जन्म कामः पापस्य कारणम्। यशः क्षयकरः कामस्तस्मात्तं परिवर्जयेत् ॥" (नारद पु० पूर्व० ३४।५६), अर्थात् काम (वासना, कामना) इस जन्म का कारण है, काम ही पाप कराने में भी कारण है, काम ही यश का नष्ट करनेवाला है, इसलिये इसका त्याग करना चाहिये। तथा—"तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह-आर्तिमूल यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥" (भाग० ३।९।६), अर्थात् हे प्रभो ! जब तक यह जीव आपके अभय रूप चरणों का आश्रय नहीं लेता, तभी तक उसे धन, घर और सुहृदों के द्वारा होनेवाले शोक, भय, आकांक्षा, पराभव एवं भारी लोभ रहते है। और, तभी तक उसे 'मैं, मेरा' का दुःखजनक असद् आग्रह रहता है।

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना ॥१॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप-सायक कटि भाथा ॥२॥
ममता तरुन तमी अँधियारी। राग-द्वेष उलूक सुखकारी ॥३॥
तब लगि बसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु-प्रताप रवि नाहीं ॥४॥

अर्थ—लोभ, मोह, मत्सर, मद और अभिमान आदि अनेक दुष्ट तब तक हृदय में निवास करते हैं ॥१॥ जब तक (हाथों में) धनुष-बाण धारण किये हुए और कमर में तरकस कसे हुए श्रीरघुनाथजी हृदय में नहीं रहते ॥२॥ ममता पूर्ण अँधेरी रात है, वह राग-द्वेष-रूपी उलूकों को सुख देनेवाली है ॥३॥ ये तब तक जीव के हृदय में रहते है, जब तक वहाँ प्रभु-प्रताप-रूपी सूर्य का उदय नहीं हुआ है, अर्थात् सब विकार हृदय में राम-प्रताप के उदय होते ही अनायास नष्ट हो जाते हैं ॥४॥

विशेष—(१) 'तब लगि हृदय बसत ···'—ऊपर विकारों के मूल काम के विषय में कहा गया। अब यहाँ शेष पाँचों को कहते हैं, इस तरह षड्विकारों का वर्णन किया (क्रोध के स्थान पर मान है)। श्रीरामजी ने 'खल मंडली बसहु ···' कहा था, उसीके उत्तर में यहाँ भी कहते है कि बाहर के दुष्ट छूट भी जाते हैं, परन्तु भीतर के अनेक दुष्ट है जिनमे काम सबसे प्रबल और प्रधान है, यथा—"खल कामादि निकट नहिं जाहीं।" (उ० दो० ११९)। "काम आदि मद दंभ न जाके।" (अर० दो० १५), "मारि कै मार थप्यो जग में जाकी प्रथम रेख भट माहीं।" (वि० ४), मेघनाद काम-रूप है, यथा—"पाकारिजित काम-विश्राम-हारी।" (वि० ५८), उसे भी प्रधान ही कहा है, यथा—"भट महँ प्रथम लीक जग जासू।" (बा० दो० १७९)। उनके नाश का उपाय कहते है—

(२) 'जब लगि उर न बसत रघुनाथा ··'—'रघुनाथा' कहकर सगुण ब्रह्म के द्वारा रक्षा करना कहा गया, ये धनुष-बाण लिये हुए अपने दास की रक्षा करते है, यथा—"करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।" (अर० दो० ४२), निर्गुण ब्रह्म उपासक की रक्षा नहीं करता, यथा—"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥" (बा० दो० २२), यह लोमशजी और भुशुण्डीजी के शास्त्रार्थ में प्रत्यक्ष है। लोमशजी को क्रोध हो आया और उनके शाप देने पर भी भुशुण्डीजी को क्रोध नहीं हुआ। वहाँ निर्गुण ने लोमशजी की रक्षा नहीं की और सगुण ने भुशुण्डीजी की रक्षा की।

(३) 'ममता तरुन तमी ··'—षड्विकार-रूपी निशाचरों का नाश कहकर अब निशा का भी नाश कहते हैं। ममता, यथा—"सुत-बित-दार-भवन-ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।" (वि० १४०)। ममता सदा तरुण बनी रहती है, इसीसे उसे 'तरुन तमी अँधियारी' कहा गया है। जैसे अमावस्या की अर्द्धरात्रि के तरुण अन्धकार मे कुछ नहीं सूझता, वैसे ही ममता में भी असत्-सत् का ज्ञान नहीं होता। जैसे रात के स्नेही उलूक है, वैसे ही विषय-सम्बन्ध से राग-द्वेष होते हैं और वे ममता में विलास करते है, यथा—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।" (गी० ३।३४)।

(४) 'जब लगि प्रभु-प्रताप रवि नाहीं।'—प्रभु-प्रताप-रूपी सूर्य के उदय होने पर जीव सब जगत् के नियामक प्रेरक प्रभु को ही पहचानेगा, तब उक्त 'सुत-बित-दार-भवन' आदि भी प्रभु के शरीर-रूप मे नियाम्य जाने जायँगे। तब इनपर ममता (ये मेरे है और मै इनका स्वामी एवं भोक्ता हूँ) यह वृत्ति नहीं रह जायगी, यही अविद्या का नाश होना है, देखिये बा० दो० ११७। इसे स्पष्ट कहा है, यथा—"जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥···प्रथम अविद्या निसा नसानी॥ अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥" (उ० दो० ३०)। राम-प्रताप-सूर्य के उदय होने पर राग-द्वेष नहीं रह सकते, क्योंकि विषयों के सहायकों में राग और घातकों में द्वेष होता है। जब सर्व जगत् के कर्मानुसार ही प्रेरक श्रीरामजी है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान रहेगा, तब वे रागादि नहीं रहेंगे।

अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद-कमल तुम्हारे॥५॥
तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव-सूला॥६॥
मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ। सुभ आचरन कीन्ह नहिं काऊ॥७॥
जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। तेहि प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा॥८॥

अर्थ—हे श्रीरामजी! आपके चरण-कमल को देखकर मेरे भारी भय मिट गये (अतएव) अब मैं सकुशल हूँ॥५॥ हे कृपालु! जिसपर आप अनुकूल हों, उसे त्रिरूपा (त्रिविध ताप एवं जन्म, जरा, मरण) भव-पीड़ा नहीं व्याप्त होती॥६॥ मै निशाचर हूँ, मेरा स्वभाव अत्यन्त अधम है, मैंने कभी भी शुभ आचरण नहीं किया॥७॥ जिनका स्वरूप मुनियों के ध्यान में भी नहीं आता, उन्हीं प्रभु ने प्रसन्न होकर मुझे अपने हृदय से लगाया है॥८॥

विशेष—(१) 'अब मैं कुसल मिटे ···'—आपके प्रताप से अविद्या, ममता, राग-द्वेष आदि एवं षड्विकार नाश होते हैं और मुझे तो साक्षात् आपके चरण-कमल के दर्शन हुए, तब मुझमें उक्त दुष्टों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? अतएव मेरे भारी भय मिट गये, इसीसे अब ठीक ही मेरी कुशल हुई। 'तुम्ह कृपाल जापर···'—आपने मुझे हृदय से लगाया, हृदय से लगाना अनुकूलता है, इससे भव-शूल नहीं रह जाता, यथा—"देखि पवन-सुत पति अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला (कि० दो० ३), "जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।" (उ० दो० १२)। प्रभु कृपा करके अनुकूल होते हैं, इसीसे उन्हें 'कृपालु' कहा गया है।

(२) 'मैं निसिचर अति अधम ···'—यहाँ भी उपर्युक्त 'निसिचर बंस जनम ···' की तरह कार्पण्य है। निशाचर हूँ, अतएव मैंने शुभ आचरण कभी नहीं किया, यथा—"मानहि मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥ जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी॥" (बा० दो० १८३), 'अति अधम'—और निशाचर अधम होते हैं, उनमें भी मैं अति अधम हूँ, यथा—"अधम ते अधम-अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥" (अर० दो० ३४), श्रीविभीषणजी ने अपनी अधमता तन, मन और वचन से भी कही, यथा—'मैं निसिचर'—तन, 'अधम सुभाऊ'—मन और वचन से यह कह ही रहे हैं। शुभ आचरण से आपकी प्राप्ति होती है, यथा—"सिय-सौमित्रि-राम-छवि देखहिं। साधन सकल सुफल करि लेखहिं॥" (अ० दो० १३३)। वह भी मैंने नहीं किया।

(३) 'जासु रूप मुनि ·····', यथा—"मुनि जेहि ध्यान न पावहिं, नेति-नेति कह बेद।" (लं० दो० ११६), अर्थात् मुनियों के बड़े-चड़े सुकृत से भी आप दुष्प्राप्य है, उन्हीं (आप) ने कृपा करके, हर्ष-पूर्वक मुझे हृदय से लगाया, तथा—"जो मूरति सपने न बिलोकत मुनि महेस मन मारि कै। तुलसी तेहि हौ लियो अंक भरि, कहत कछू न सँवारि कै॥" (गी० सुं० ३६)।

दोहा—अहोभाग्य मम अमित अति, राम कृपा-सुख-पुंज।
देखेउँ नयन बिरंचि सिव, सेव्य जुगल पद-कंज॥४७॥

अर्थ—हे श्रीरामजी ! हे कृपा और सुख के पुञ्ज !! मेरा निःसीम और अत्यन्त अहोभाग्य है कि श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिन चरणों की सेवा (ध्यान से) करते है, उन्हींको मैंने अपनी आँखों से देखा॥४७॥

विशेष—यहाँ श्रीविभीषणजी अपना अहोभाग्य आदि कहकर प्रत्यक्ष चरण-दर्शनों की प्रशंसा करते हैं। भाव यह है कि चरणानुरागी 'बड़भागी' कहाते हैं, देखिये—"अतिसय बड़भागी चरनन लागी" (बा० दो० २१०), मैंने उन्हीं चरणों को प्रत्यक्ष देखा, इससे मेरा 'अहोभाग्य' है, यथा—"अहोभाग्य मै देखिहउँ तेई।" (दो० ४१), फिर उन्होंने सोचा कि मुनि लोग सर्व साधारण जीवों से ऊपर है, जो उनके ध्यान मे दुर्लभ है, उन्होंने ही मुझे हर्ष-पूर्वक हृदय से लगाया है। अतः, मेरा 'अमित अहोभाग्य' है। फिर सोचा कि ब्रह्मा और शिवजी ईश्वर हैं, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हैं, वे भी जिन्हें ध्यान से ही पाते हैं उन्हें मैंने प्रत्यक्ष देखा, तो मेरा 'अति अमित अहोभाग्य' है। 'राम कृपा-सुख-पुंज'—प्रभु कृपा के पुंज हैं, इससे उन्होंने अति कृपा की और सुख के पुंज है, इससे अमित सुख दिया। पुनः अति कृपा की, तभी अति सुख भी दिया। जो सुख मुझे दिया, वह अति सुकृत से भी नहीं मिल सकता—यह अति कृपा का ही फल है।

इस प्रसंग पर कुछ आवृत्तियाँ

(१) प्रथमावृत्ति—शरणागति के अंग

भरताचार्य ने शरणागति के ये लक्षण कहे हैं, यथा—"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥" अर्थात् अपने अभीष्ट को अन्य उपायों से सिद्ध होता न देखकर महा विश्वासपूर्वक 'आप ही मेरे उपाय हैं' ऐसी प्रार्थना करना शरणागति है। इस प्रकार की प्रपत्ति से जीव माया से मुक्त होता है, यथा—"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।" (गीता ७।१४), "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो···" (कठो० १।२।२२), एवं "नास्यकृतः कृतेन" (मुंडक० १।२।१२), इत्यादि श्रुतियाँ भी भगवत्प्राप्ति में भगवान् को ही उपाय कहती हैं। जीवों के पुरुषार्थ से इसे असाध्य कहती हैं। अतएव महा विश्वास-पूर्वक भगवान को ही उपाय-रूप में वरण करना प्रपत्ति है, तथा—"शरणं गृहरक्षित्रोः" (अमरकोष), अर्थात् शरण शब्द का अर्थ घर और रक्षा करनेवाला होता है। श्रुति भी कहती है—"यमेवैष वृणुते तेनैव लभ्यः·· " (कठो० १।२।२२), अर्थात् परमात्मा अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय है, जिसे वह स्वयं वरण करता है, वही उसे पाता है। वही प्रपत्ति श्रीविभीषणजी ने भी की है। उन्होंने जब श्रीहनुमानजी के द्वारा श्रीरामजी का प्रभाव सुना और फिर अपनी आँखों से भी देखा कि उनके भेजे हुए एक वानर ने सोने की लंका को राख कर दिया, इसे उन्हींका तेज समझकर श्रीरामजी की शरण में आये। शरणागति के छः अग है, यथा—"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥" ऐसा 'श्रीनारद-पंचरात्र' मे कहा गया है, अर्थात् अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग करना, प्रभु रक्षा करेंगे—ऐसा विश्वास रखना, प्रभु को रक्षक-रूप मे वरण करना कि मैं असमर्थ हूँ, आप मेरी रक्षा करें, अपनी आत्मा को प्रभु को अर्पण कर देना और दीनता निवेदन करना—ये छः हैं; ये सब श्रीविभीषणजी मे चरितार्थ है—

अनुकूलता का संकल्प—"चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं। करत मनोरथ ··"
प्रतिकूलता का त्याग—"मै रघुबीर सरन अब, जाउँ···अस कहि चला···"
रक्षा में विश्वास—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ···"
गोप्तृत्ववरण—"श्रवन सुजस सुनि···त्राहि त्राहि आरति हरन ··"
आत्मनिक्षेप—"अस कहि करत दंडवत देखा।"
कार्पण्य—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" से "जथा उलूकहि तम···" तक।

(२) द्वितीयावृत्ति—दर्शन की सफलता

श्रीविभीषणजी ने तीन बार दर्शनों की अभिलाषा की थी, यथा—"देखिहउँ जाइ चरन ··" "अहो भाग्य मै देखिहौं तेई" "ते पद आजु बिलोकिहउँ···"। अतः, तीन ही बार उसकी सफलता भी कही गई है, यथा—'अब पद देखि ··' 'देखि राम पद कमल तुम्हारे।' 'देखेउँ नयन बिरंचि सिव ··'।

(३) तृतीयावृत्ति—अंग दर्शन और उनके प्रतिकृत्य

श्रीविभीषणजी ने प्रभु के छः अंग देखे—(१) भुज प्रलंब। (२) कंजारुन लोचन। (३) स्यामल गात। (४) सिंह कंध। (५) आयत उर। (६) आनन अमित मदन···। अतएव प्रभु ने छहो अंगा से उनपर कृपा की—

(१) लम्बी भुजा से उठाया—'भुज बिसाल गहि···'
(२) कंजारुण लोचन से देखा—'अस कहि करत दंडवत देखा।
(३) श्यामल गात से भय मिटाया—'स्यामल गात प्रनत भय मोचन।'

(४-५) सिंह कंध—आयत उर से भेंटे—'हृदय लगावा'

(६) आनन अमित मदन'''से बोले—'बोले बचन भगत भय हारी।'

(४) चतुर्थावृत्ति—श्रीविभीषणजी के अंगों के तद्वत प्रतिकृत्य

श्रीविभीषणजी		श्रीरामजी	अंग
श्रवन सुजस सुनि आयउँ	१	दीन बचन सुनि प्रभु ··	श्रवण
दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता	२	करत दंडवत देखा।	नेत्र
चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं।	३	तुरत उठे प्रभु हरष ··	चरण
नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता॥	४	दीन बचन सुनि प्रभु मन··· भुज बिसाल गहि · कहु लंकेस ··	मन, वचन, कर्म
मन धरि धीर कही मृदु बाता।	५	बोले बचन भगत भय हारी।	मुख
मैं निसिचर अति अधम सुभाऊ।	६	सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ।	स्वभाव कथन
पद अंबुज गहि बारहि बारा।	७	भुज बिसाल गहि हृदय लगावा।	भुजा

(५) पञ्चमावृत्ति—प्रश्नोत्तर

प्रश्न		उत्तर
कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥	१	अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥
खल मंडली बसहु दिन-राती।	२	सब लगि हृदय बसत खल नाना।'''
सखा धर्म निबहै केहि भाँती।	३	मैं निसिचर'''सुभ आचरन ··'
बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥	४	तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भव-सूला॥

इस प्रसंग (दो० ४७-४८) पर पं० रामकुमारजी ने द्वादश आवृत्तियाँ लिखी हैं, उनमें विशेष उपयुक्त प्रथम की पाँच ही आवृत्तियाँ यहाँ लिखी गई है, शेष विस्तार भय से नहीं लिखी गईं। उनमें दशमावृत्ति तो आगे दोहे-भर में के अर्थों एवं विशेषों में आ ही गई है।

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥१॥
जौं नर होइ चराचर - द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥२॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥३॥

अर्थ—हे सखे! सुनो, मैं अपना स्वभाव कहता हूँ, इसे भुशुण्डीजी, शिवजी और गिरिजाजी भी जानते हैं॥ १॥ जो मनुष्य चराचर-मात्र से द्रोह करनेवाला हो, वह भी, यदि मद, मोह और अनेकों प्रकार के कपट छल को छोड़ भयभीत होकर मेरी शरण तककर आवे तो मैं उसे शीघ्र ही साधु के समान कर देता हूँ॥ ३॥

विशेष—(१) 'सुनहु सखा निज ···'—मेरे स्वभाव से परिचित होने से अत्यन्त प्रीति बढ़ेगी, इसलिये प्रभु कहते हैं, यथा—"उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥" (दो० ३३), 'जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ'—शिवजी को मध्य में कहा गया है, क्योंकि इन्हींसे दोनों ने मालूम किया है, यथा—"संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।' (बा० दो० २९), श्रीरामजी के स्वरूप और स्वभाव जानने में ये लोग प्रामाणिक माने जाते

हैं, यथा—"जो सरूप बस सिव मन माहीं। ··जो भुसुंडि मन मानस हंसा। ··देखहिं हम सो रूप भरि लोचन।" (बा० दो० १४५),—यह मनु ने कहा है। ये लोग श्रीरामजी के स्वभाव के भी ज्ञाता है, यथा—"उमा राम सुभाव जेहि जाना। ···" (उपर्युक्त), "अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥" (उ० दो० १२३)। इसी तरह अन्यत्र भी प्रभु-स्वभाव-वर्णन किया गया है, यथा—"सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ। सुनहुँ सखा कपिपति लंकापति तुम्हसन कौन दुराउ॥ सब विधि हीन दीन अति जड़मति जाकहँ कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं ··(गी० मुं० ७५)।

(२) 'जौ नर होइ चराचर-द्रोही। आवइ ···'—पहले कहा गया है, यथा—"सरन गये प्रभु ताहु न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा॥" (दो० ३८), उसका अवशिष्ट रहस्य यहाँ खुल गया कि अपने पापों से डरकर शरण में आवे। 'तकि मोही'—अर्थात् विश्वासपूर्वक मुझमें ही अनन्य होकर आवे।

(३) 'तजि मद मोह ···'—इन मद आदि के रहते हुए शरणागति हो ही नहीं सकती, इसलिये इनका त्याग प्रथम ही आवश्यक कहा गया है। 'मद' रहते हुए 'कार्पण्य' नहीं हो सकता। वह शरणागति का छठा अंग कहा गया है। 'मोह' रहते हुए महाविश्वासपूर्वक शरणागति नहीं हो सकती—उपर्युक्त प्रथमावृत्ति में प्रमाण देखिये। अतः, सद्गुरुओं एवं शास्त्रों द्वारा ईश्वर परत्व जान तत्सम्बन्धी मोह दूर करने पर ही शरणागति होती है। 'कपट छल' प्रभु को भाते ही नहीं, यथा—"निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥" (दो० ४३), श्रीहनुमानजी जब तक कपट रूप विप्र-वेष से थे, तब तक उन्हें प्रभु ने नहीं ग्रहण किया, जब अत्यन्त प्रेम में कपट रूप छूटकर अपने रूप में हुए, तब प्रभु ने उठाकर हृदय से लगाया है, यथा—"असकहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई॥ तब रघुपति उठाइ उर लावा।" (कि० दो० २) 'छल नाना'—मन, वचन, कर्म के; यथा—"करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार।" (अ० दो० १०७)।

(४) 'करउँ सदा तेहि···', यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।···" (गीता ९।३०-३१), अर्थात् यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्यभाक् होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि यह ठीक-ठीक निश्चयवाला है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा (श्रीकृष्ण का) भक्त नष्ट नहीं होता। यहाँ शरण आने पर पापी को सुकृती बनाना कहा गया है। अतः, यहाँ कर्मकाण्ड का फल आया।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥४॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥५॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥६॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥७॥

अर्थ—जो माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, देह, धन, घर, मित्र (और) परिवार॥४॥ इन सबके ममत्व रूपी तागों को बटोर कर (उन सबको मिलाकर) डोरी बाँटकर उससे अपने मन को मेरे चरणों में बाँधे॥५॥ समदर्शी हो, कुछ इच्छा न हो और न उसके मन में कोई हर्ष, शोक और भय हो॥६॥ ऐसे सज्जन मेरे हृदय में किस प्रकार बसते है, जिस प्रकार लोभी के हृदय में धन (बसता है)॥७॥

विशेष—(१) 'जननी जनक बंधु·· ', यथा—"सुत, दार, अगार, सखा, परिवार, बिलोकु महा

माजहि रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संत सभा न बिराजहि रे।'''तुलसी भजु कोसल-राजहि रे॥" (क० उ० ३०), तथा—"या जग में जहँलगि या तनु की प्रीति प्रतीत सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहि सिमिटि यकठाई॥" (वि० १०३)। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त जननी आदि दशों श्रीरामजी के शरीर हैं, इन रूपों से श्रीरामजी ने ही उपकार किये हैं, यथा—"पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।" (गीता० ९।१७), "गर्भवास दस मास पालि पितु मातु रूप हित कीन्हों।" (वि० १७१), "जगत्सर्वं शरीरं ते॥" (वाल्मी० ६।११७।२५), अर्थात् सारा जगत् श्रीरामजी का शरीर है। अतएव जिन उपकारों के बदले जननी आदि की भक्ति की जाती है, वे उपकार श्रीरामजी ने ही किये हैं, ऐसा समझकर इनसे ममता हटाकर सर्वात्मना श्रीरामजी में ही ममता करे, उनके चरणों में 'दृढ़ प्रीति करे' और मनको उन्हींमें बाँध दे। श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा ही किया भी है, यथा—"जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।" (अ० दो० ७१), "त्वमेव माता च पिता त्वमेव'''"—यह प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है, और भी देखिये अर० दो० १५, चौ० १०, इत्यादि।

(२) 'सबकै ममता ताग'''—जगत् की ममता को ताग (कच्चा धागा) कहा गया है, क्योंकि सब स्वार्थ के ही स्नेही है, यथा—"देह जीव जोग के सखा मृषा टॉचनि टॉचो।" (वि० २७७), अतएव विचार करने पर ये शीघ्र टूट जानेवाले हैं, इन सब रूपों से प्रभु ही सच्चे हितैषी हैं, इस ज्ञान से जो सर्वात्मना प्रीति प्रभु मे होगी, वह रस्सी के दृढ़ बन्धन के समान होगी।

(३) 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं'' '—उपर्युक्त दृष्टि से जगत श्रीरामजी का शरीर है, इस दृष्टि मे जगत् के सब जड़-चेतन रूपों द्वारा हुए एवं होनेवाले उपकार और अपकार हमारे कर्मानुसार श्रीरामजी ने किये एवं कर रहे है, ऐसा समझने से न किसीसे राग होगा और न द्वेष—क्योंकि फिर शत्रु-मित्र कोई नहीं रह जायगा। सर्वज्ञ भगवान् यथायोग्य ही बर्ताव करते है। जैसे मनुष्य अपना शरीर पालता है, वैसे ही वे भी जगत् के अनेक रूपों एवं भावों से प्रत्येक जीवों को पालते है, जैसे मनुष्य शरीर के व्रण आदि को चिराता भी है, वैसे वे भी चेतनों के पाप-कर्मों का दंड देते है, उसे शुद्ध करते है और भविष्य के लिये शिक्षा देते है कि फिर वह दुष्कर्म न करे—अतएव समदर्शिता भी रहेगी। जैसे शरीर की इच्छा-पूर्त्ति शरीरी (शरीरवाला) ही करता है, वैसे श्रीरामजी भी सबका पालन करते है और करेंगे, यह विचारने पर इच्छा भी कुछ न होगा और न किसी घटना पर हर्ष अथवा शोक ही होगा, क्योंकि ये सभी कार्य प्रभु पर ही निर्भर रहेंगे।

(४) अस सज्जन मम उर बस ''—जिस तरह लोभी को धन अत्यन्त प्रिय होता है, यथा—"लोभिहि प्रिय जिमि दाम।" (उ० दो० १८) उसी तरह यह मुझे प्रिय होता है, क्योंकि यह सर्वथा मेरी सत्ता को मानता हुआ उसमे सन्तुष्ट है, यथा—"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥" (गीता १२।१५)।

यहाँ ज्ञानी भक्त का वर्णन है, जो समदर्शिता और ममता-त्याग आदि लक्षणों से स्पष्ट है, समदर्शी, यथा—"समदरसी मुनि बिगत बिभेदा।" (उ० दो० ३१), "देख ब्रह्म समान सब माहीं। (अर० दो० १४), "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥" (गीता ६।३२), तथा—"ममता त्याग करहि जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५)।

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥८॥

दोहा—सगुन-उपासक पर-हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान-समान मम, जिन्हके द्विज-पद-प्रेम॥४८॥

अर्थ—तुम्हारे सरीखे सन्त मेरे प्यारे हैं, दूसरे के निहोरे (कारण से) मैं शरीर नहीं धरता (अर्थात् सन्तों के लिये ही अवतीर्ण होता हूँ) ॥८॥ जो सगुण ब्रह्म के उपासक हैं, परोपकार और नीति में तत्पर रहने है, दृढ़ नियमवाले है और जिनका ब्राह्मणों के चरणों मे प्रेम है—वे मनुष्य मुझे प्राणों के समान (प्यारे) है ॥४८॥

विशेष—(१) 'तुम्ह सारिखे संत ···'—सन्त कहकर आगे के दोहे मे उनके लक्षण कहे हैं—'सगुन उपासक···' और फिर 'सुनु लंकेस सकल गुन तोरे।···' से सर्व-लक्षण-सम्पन्न इन्हींको कहा है। ऐसे सन्तो का दुःख मै देख नहीं सकता, इसीसे देह धारण करता हूँ और उनकी रक्षा करता हूँ, यथा—"अंबरीष हित दयानिधि सोइ जनमे दस बार।" (वि० ६८), "सो केवल भगतन हित लागी।" (बा० दो० १२), भी देखिये। 'परहित निरत', यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥" से "भूजँतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥" (उ० दो० १२०) तक। 'निरत नीति', यथा—"सम दम नियम नीति नहि डोलहि" (उ० दो० ३७), "सम सीतल नहि त्यागहि नीती।" (अर० दो० ४५)। 'द्विज-पद-प्रेम'—को अन्त में कहकर इसे सब साधनों की जड़ सूचित करते है। अन्यत्र इसे आदि मे कहा है, यथा—"प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।" (अर० दो० १५), अर्थात् इसे आदि से अन्त तक निबाहना चाहिये—यहाँ उपासक का वर्णन हुआ।

(२) यहाँ भक्ति की तीन कोटियाँ कही गई हैं, यथा—(१) 'जौं नर होइ···साधु समाना।' (२) 'जननि जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥' (३) 'तुम्ह सारिखे···द्विज-पद-प्रेम ···'—इनमें क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना की वृत्तियाँ कही गई है। पुनः क्रमशः निकृष्ट, मध्यम और उत्तम कोटि के भक्तों की वृत्तियाँ भी जाननी चाहिये। इन्हें क्रमशः साधारण प्रिय, अधिक प्रिय और प्राण समान प्रिय भी यहाँ के 'ते नर प्रान-समान' कहने से जनाया गया है। पहले को असाधु से साधु बनाया, वह साधारण प्रिय है। दूसरे सन्त को लोभी के धन की तरह हृदय में बसाया, इससे अधिक प्रिय माना और तीसरे सर्व-लक्षण-सम्पन्न उपासक को प्राण-समान प्रिय कहा है, यह प्रियत्व की चरम सीमा है, यथा—"देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।" (बा० दो० २०७)।

सुनु लंकेस सकल गुन तोरे। ताते तुम्ह अतिसय प्रिय मोरे॥१॥

अर्थ—हे लंकेश! सुनो, तुममें सब गुण है, इसीसे तुम मेरे अतिशय प्यारे हो॥१॥

विशेष—(१) उपर्युक्त सब गुण इनमें है, ये सबकी ममता त्याग करके आये है। समदर्शी है, इसीसे रावण के आदर, निरादर और मारने पर भी इन्होने उसका हित ही कहा है। यह पहले ही कह जा चुका है। इच्छा कुछ नहीं है, यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।" आगे कहा गया है। लंका छूटने का शोक, लंकेश होने का हर्ष और विपक्ष में आने पर रावणादि का भय कुछ भी नही है। 'सत' है, इसीसे पराये हित के लिये कहने मे अपमान का भी सामना करना पड़ा, यथा—"पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया।" (उ० दो० १२०), सगुन उपासक है, यथा—"हरि-मंदिर तहँ भिन्न बनावा।" (दो० ४), पर-हित-निरत है, यथा—"मति अनुरूप कहउँ हित ताता। ···राम भजे हित नाथ तुम्हारा॥" (दो० ३७-४०), नीति-निरत है, यथा—"मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती॥" (दो० ४५), नियम मे दृढ़ है, यथा—"तेही समय बिभीषन जागा। राम राम तेहि सुमिरन कीन्हा।" (दो० ५), द्विज-पद-प्रेम है, यथा—"करि प्रनाम पूछी कुसलाई। बिप्र कहहु निज कथा बुझाई॥" (दो० ५)।

इन्होंने अपनेको काण्ड-त्रय-हीन बतलाया था, यथा—'सुभ आचरन कीन्ह नहि काऊ।'—कर्म-हीन, 'तामस देहा'—ज्ञान-हीन, क्योंकि ज्ञान का उदय सत्त्वगुण से होता है। 'सहज पाप प्रिय' से उपासना-

हीन, क्योंकि "पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥" (दो० ४३), इसपर यहाँ श्रीरामजी ने उपर्युक्त तीनों कोटि के गुण इनमें कहकर इन्हें काण्डत्रय-युक्त कहा।

(२) आदि (उपक्रम) में 'कहु लंकेस सहित परिवारा।' ' से इन्हें 'लंकेस' कहा था और यहाँ उपसंहार में भी 'सुनु लंकेस' कहकर इन्हें लंका का राज्य देना ध्वनित किया। इसी पर आगे श्रीविभीषणजी कहेंगे, यथा—'उर कछु प्रथम बासना रही। ' ' इत्यादि। साथ ही 'अतिसय प्रिय' कहकर समझाया भी कि यह न समझो कि मुझे प्रवृत्ति में फँसाते हैं, किन्तु मैं यह कार्य अत्यन्त प्रियत्व की दृष्टि से करता हूँ। मैं भक्त के हृदय की सूक्ष्म वासना भी शुद्ध कर देता हूँ, यही मेरा अभिप्राय है। अतः, मेरा वह अतिशय प्रियत्व तुम्हारे लंकेश होने पर भी रहेगा, सार-सम्भार करूँगा।

राम - बचन सुनि बानर - जूथा। सकल कहहिं जय कृपा-बरूथा॥२॥
सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी। नहिं अघात श्रवनामृत जानी॥३॥
पद - अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा॥४॥

अर्थ--श्रीरामजी के वचन सुनकर सब वानरों के यूथ कहने लगे कि कृपा के समूह श्रीरामजी की जय हो॥२॥ प्रभु श्रीरामजी की वाणी सुनकर और उसे कानों के लिये अमृत (समान) जानकर श्रीविभीषणजी तृप्त नहीं होते॥३॥ बार-बार चरण-कमल को पकड़ते हैं, (क्योंकि) उनके हृदय में अपार प्रेम है, इससे वह नहीं समाता॥४॥

विशेष—(१) 'जय कृपा-बरूथा'—प्रभु ने अत्यन्त कृपा करके श्रीविभीषणजी को सर्व-गुण-सम्पन्न कहा, नहीं तो निशाचरों में सर्वगुण-सम्पन्नता कहाँ? यथा—"रिपु कर अनुज बिभीषन निसिचर कौन भजन अधिकारी॥" (वि० १६६), कृपा करके सखा बनाया, उनका सम्मान किया, इत्यादि बातों पर भाँति-भाँति की कृपाओं पर दृष्टि कर कृपा-बरूथ की सभी जय-जयकार करते हैं। पहले इनकी शरणागति-स्वीकृति पर सबने जय-जय शब्द कहा था, यथा—'जय कृपाल कहि कपि चले ' ' और अब प्रभु का शरणागत-वत्सल स्वभाव सुनकर जय-जयकार करते हैं। श्रीविभीषणजी इस जय-जयकार के रव में सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि उक्त प्रसंग में इनकी प्रशंसा है, इससे ये सकुच गये हैं, यह साधु वृत्ति है, यथा -"निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।" (अर० दो० ४५)।

(२) 'नहिं अघात श्रवनामृत जानी'--जी नहीं भरता, इच्छा है कि सुनता ही रहूँ, क्योंकि तृप्ति नहीं होती। प्रभु के ये वचन अमृत के समान जन्म, जरा, मरण छुड़ानेवाले हैं, और साथ ही मीठे भी हैं, यथा—"प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ सो सुख जानै मन अरु काना।" (उ० दो० ८७), तथा—"मृतक जियावनि गिरा सुहाई' हृष्ट पुष्ट तनु भये सुहाये।'''श्रवन सुधा सम बचन सुनि, 'बोले मनु ''" (बा० दो० १४५)। 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। ''—प्रेम में मग्न है, इसीसे बार-बार चरण-कमल पकड़ते हैं, यथा—"प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥" (अर० दो० ३३), अपार प्रेम है, इससे रोमांच एवं अश्रुपात द्वारा मानों उमड़ा पड़ता है, हृदय में नहीं समाता। कृतज्ञता प्रकट करने की ऐसी रीति भी है, यथा—"सुनत सुधा सम बचन राम के। सबन्हि गहे पद कृपाधाम के॥" (उ० दो० ८६), मोपहि होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा॥" (उ० दो० १२४)।

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥५॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु-पद-प्रीति-सरित सो बही॥६॥
अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव - मन - भावनी॥७॥

अर्थ—हे देव ! हे चराचर जगत् के स्वामी ! हे शरणपाल ! और हे अन्तर्यामी ! सुनिये ॥५॥ पहले मेरे हृदय में कुछ वासना थी, वह प्रभु (आप-) के चरणों की प्रीति-रूपी नदी में बह गई ॥६॥ हे कृपालु ! अब मुझे सदा श्रीशिवजी के मन को रुचनेवाली अपनी पावन भक्ति दीजिये ॥७॥

विशेष—(१) 'सुनहु देव '—आप दिव्यदृष्टि है, चराचर-मात्र के स्वामी है और शरणागत के पालनेवाले है, यथा—"जग-पालक बिसेष जन-त्राता।" (बा० दो० १९), अतएव मेरा भी पालन कीजिये। अन्तर्यामी है, अतः, सब जानते ही है कि मेरे हृदय में और वासना नहीं है, इसकी पुष्टि करके आगे भक्ति माँगेंगे, यथा—"पेट भरि तुलसिहि जेवाइय भगति सुधा सुनाज।" (वि० २१९), इसीसे पालन कीजिये।

(२) 'उर कछु प्रथम बासना रही।' '—प्रभु ने आदि और अन्त में इन्हें लंकेश कहा, इससे ये समझ गये कि प्रभु मुझे लंका का राज्य देंगे, इससे कहते है कि अब मेरे हृदय में इसकी वासना नहीं है। 'कछु' का भाव आगे श्रीरामजी खोलेंगे, यथा—"जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।···" आगे—"अस कहि राम तिलक तेहि सारा।" इससे स्पष्ट होगा। राज्य को 'कछु' कहा, क्योंकि भक्ति-वैभव के आगे यह राज्य-वैभव अति तुच्छ है। भक्ति-सुख के आगे तो ब्रह्मानन्द भी तुच्छ कहा गया है, तब राज्य-वैभव क्या चीज है ? इसपर ऊपर चौ० १ और दो० ४० चौ० ६ भी देखिये।

(३) 'अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु ''—'अब'—वासना-रहित होने पर ही भक्त उत्तम भक्ति का पात्र होता है, यथा—"बहुत कीन्ह सिय लपन प्रभु, नहि कछु केवट लेइ। बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बर देइ॥' (अ० दो० १०२), सं० श्लो० २ भी देखिये, तथा—"तुलसी जौ लों बिषय की, सुधा, माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम, राम-भगति सुठि सीठि॥" (दोहावली ८३)। 'कृपाल'—कृपा करके दीजिये, क्योंकि मैं साधन-हीन हूँ। 'निज भगति'—अपनी अनन्य भक्ति, इसी (राम) रूप की भक्ति। शिवजी ने काम को भस्म कर दिया है। अतः, उनके निर्विकार हृदय में जैसी पावन भक्ति है, वैसी ही मुझे भी दीजिये। 'सदा ''भावनी—अचल-रूप से एकरस रहनेवाली। शिवजी उत्तम भक्ति के आचार्य है, यथा—"रिषि पूछी हरि-भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥' (बा० दो० ४७), अतएव उन्हींका प्रमाण दिया गया।

एवमस्तु कहि प्रभु रनधीरा। माँगा तुरत सिंधु कर नीरा॥ ८॥
जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥ ९॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन-बृष्टि नभ भई अपारा॥१०॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' कहकर रणधीर प्रभु श्रीरामजी ने तुरत समुद्र का जल मँगाया (इच्छित वस्तु देकर फिर जो इच्छा पूर्व होकर निवृत्त हो गई थी, उसे भी पूरी करेंगे, क्योंकि आप 'गई बहोर' है,) ॥८॥ (और कहा -) हे सखा ! यद्यपि तुम्हारी इच्छा नहीं है, तथापि हमारे दर्शन संसार में सफल होते है (उसे सफल करने के लिये अब हमारी इच्छा से लो) ॥९॥ ऐसा कहकर श्रीरामजी ने उनका (राज्य-) तिलक किया, तब आकाश से फूलों की अपार वर्षा हुई ॥१०॥

विशेष—(१) 'एवमस्तु कहि ''—पहले श्रेष्ठ भक्ति का वरदान देकर, पीछे पूर्व की वासना-शुद्धि के लिये लंका का राज्य भी देंगे। 'प्रभु रनधीरा'—समर्थ हैं और रण में धीर है। अतः, दृढ़ विश्वास है कि हम अवश्य रावण को मारेंगे और इन्हें राज्य देंगे। इसी दृढ़ता पर रावण के मरने के पहले ही इन्हें तिलक देते है। 'तुरत', क्योंकि आपकी प्रसन्नता का फल शीघ्र ही मिलता है। 'सिंधु कर नीरा'—इसमें सभी तीर्थों के जल रहते हैं। इससे यह भी सूचित किया गया कि जहाँ तिलक के और सामान न भी हों, तो केवल तीर्थ-जल से भी कर सकते है।

(२) 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं । ''—हमारी शरण में चलते समय जो वासना अंकुरित हो आई, वह फलीभूत होकर ही रहेगी, क्योंकि हमारे दर्शन सफल हैं, यथा—"अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः ।" (वाल्मी० ६।११७।३१), इससे दर्शनोद्देश्य के समय जो वासना हो आई, वह सफल होगी । अतः, मैं तिलक करूँगा । तथा—"ममार्चनं नार्हति गन्तुमन्यथा श्रद्धानुरूपं फलहेतुकत्वात् ॥" (भाग० ८।१७।१७), अर्थात् मेरी पूजा व्यर्थ नहीं जाती, श्रद्धा के अनुरूप फल देती ही है । 'जग माहीं' का भाव यह है कि यदि यह न दें, तो जगत् में यह भी प्रवाद होगा कि विभीषण रावण-द्वारा अपमानित होकर श्रीरामजी के यहाँ गया, परन्तु उन्होंने उसका कुछ उपकार नहीं किया । अतएव उक्त वासना की पूर्ति करके फिर मेरी भक्ति का फल-रूप मेरा धाम भी मिलेगा, यथा—"करहु कलप भरि राज तुम्ह, पुनि मम धाम पाइहहु ···" (ल० दो० ११५), यथा—"ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तम् । प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च ।" (वाल्मी० ६।११७।३१) ।

(३) 'अस कहि राम तिलक·· '—सिन्धु-जल लाना नहीं कहा, किन्तु तिलक करना ही कहा गया, इससे अत्यन्त शीघ्रता दिखाई गई । श्रीरामजी बहुत प्रसन्न हैं, इससे सभी कार्य तुरत हो गये, यथा—"जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा । सो तेहि काजु प्रथम जनु कीन्हा ॥" (अ० दो० ६), श्रीविभीषणजी ने प्रभु को 'अंतरजामी' कहकर 'उर कछु प्रथम बासना रही' कहा था । अतः, अन्तर्यामी ने हृदय की बात जानकर उसे खोल दिया कि 'कुछ' का अर्थ—लंका का राज्य—था । श्रीविभीषणजी ने इसे नहीं खोला था, क्योंकि जब उसकी इच्छा रह ही नहीं गई, तो व्यर्थ क्यों खोलकर कहें ?

'सुमन-वृष्टि नभ भई अपारा ।'—क्योंकि देवताओं को निश्चय हो गया कि अवश्य अब रावण मारा जायगा, नहीं तो श्रीविभीषणजी को राज्य कैसे मिलेगा ? इसीसे उन्होंने बहुत फूल बरसाये । आगे जब रावण मारा गया और इनका स्वार्थ सिद्ध हो गया, तब श्रीविभीषणजी का राज्याभिषेक लंका में विधानपूर्वक किया गया, परन्तु वहाँ इनलोगों ने फूल नहीं बरसाये । और न सुग्रीव के राज्य-तिलक पर पुष्पवर्षा की थी । इसीसे तो कहा है—"आये देव सदा स्वारथी ।" (ल० दो० १०८) ।

परमार्थ-पक्ष में श्रीविभीषणजी जीवरूप हैं और रावण मोहरूप है, वि० ५८ देखिये । जीव के शरण होते ही भगवान् उसे संसार से अभय कर देते हैं, जैसे श्रीविभीषणजी को अभी से ही रावण से विजय पाने का तिलक कर दिया । [इसी प्रकार श्रीद्रौपदीजी की शरणागति पर भगवान् ने उनके विरोधियों को मारने का सत्य-संकल्प कर लिया था । इससे गीता ११।३३-३४ में उन्हें मरा हुआ देखा था—दो० ४१, चौ० १ का विशेष भी देखिये ।] फिर स्वयं उपाय-द्वारा सेतु बाँधकर वानरों के साथ रावण का नाश कर इन्हें राजा बनावेंगे । वैसे ही जीव का देहाभिमान बाँध (नाश) कर विवेक-विरागादि के सहित इसके मोह-परिवार को नाश कर इसे अपने शुद्धस्वरूप का राज्य देंगे, जिससे यह च्युत हुआ है, यथा—"निष्काज राज बिहाइ नृप ज्यों स्वप्न कारागृह परयो ॥" (वि० १३६), तथा—"स स्वराड् भवति ।" (छा० ७।२५।२), अर्थात् यह कर्म-बन्धनों से छूटकर स्वतन्त्र राजा हो जाता है; और फिर प्रारब्ध-भोग समाप्त कराकर अपना धाम भी देंगे । जैसे श्रीविभीषणजी श्रीरामजी के ही पक्ष में रहे, वैसे ही यह भी शरण होनेपर नाम, रूप, लीला और धाम की आराधना-द्वारा श्रीरामजी के पक्ष का बना रहे, (नहीं तो चित्तवृत्ति जगत् की ओर जायगी ही) यही श्रीरामजी का उपाय होना है, और अन्त में अपना ही पार्षद बनावेंगे, तो फलरूप भी स्वयं है । उपाय (साधन) और उपेय (फल) ईश्वर को ही मानना शरणागति है, यथा—"उपायत्वमुपेयत्वमीश्वरस्यैव यद्भवेत् । शरणागतिरित्युक्ता शास्त्रमानाद्विवेकिभिः ॥" (रहस्यत्रय-हरिदासकृत), अर्थात् ईश्वर को ही उपाय और उपेय (फल) समझने को शास्त्र के प्रमाणों से विवेकियों ने शरणागति कही है ।

दोहा—रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड ।
जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड ॥
जो संपति सिव रावनहिं, दीन्हि दिये दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥४६॥

अर्थ—रावण का क्रोध अग्नि है, अपनी (श्रीविभीषणजी की) साँस प्रचण्ड वायु है, प्रभु ने श्रीविभीषणजी को जलने से बचाया और उन्हें अखण्ड राज्य दिया ॥ जो सम्पत्ति श्रीशिवजी ने रावण को दस सिर चढ़ा देने पर दी थी, श्रीरामजी ने वही सम्पत्ति श्रीविभीषणजी को सकुचकर दी ।

विशेष—(१) 'निज स्वास'—रावण क्रोध से जला करता था, क्योंकि श्रीविभीषणजी को उसकी अनीति अच्छी नहीं लगती थी । जब मन्त्री लोग रावण के अनीति-कार्य पर उसकी प्रशंसा करते थे, तब ये ऊर्ध्वश्वास ले-लेकर चुप रह जाते थे, यथा—"जिमि दसनन्ह महँ जीभ बिचारी ।" (दो० ६)—यह इन्होंने अपने लिये कहा ही है । इसपर रावण का क्रोध इस तरह बढ़ता था, जैसे वायु से अग्नि । उसे यह भान होता था कि यह हमारा विभव नहीं देख सकता । जब श्रीरामजी के पक्ष का समर्थन करते देखता तो वह क्रोध से अधिक जल उठता कि मेरी प्रशंसा सुनकर मौन हो जाता है और शत्रु की प्रशंसा का वक्ता बन जाता है । 'जरत'—यदि श्रीरामजी शरण में न रखते, तो ये रावण की क्रोधाग्नि का शिकार हो जाते, यथा—"रावन-रिपुहि राखि रघुबर बिनु को त्रिभुवन पति पाइहै ।" (गी० मुं० ३८), श्रीविभीषणजी पर उसने ब्रह्म-दत्त अमोघ-शक्ति भी आगे छोड़ी ही है । उसकी प्रतिज्ञा भी है, यथा—"होइहि जब कर कीट अभागी ।" (दो० ५२), 'राज अखंड'—रावण का राज्य खण्डित हो गया, पर इनका कल्प-पर्यन्त रहेगा, यथा—"करेहु कलप भरि राज तुम्ह ' '" (लं० दो० ११५) ।

(२) 'जो संपति सिव ··', यथा—"जो संपति दसमीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं । सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं ॥" (वि० १६२), तथा—"या विभूतिर्दशग्रीवे शिरश्छेदेन शङ्करात् । दर्शनाद्रामभद्रस्य सा विभूतिर्विभीषणे ॥" (हनुमन्नाटक), पुनः—"बार कोटि सिर काटि साटि लटि रावन संकर पै लई । सोइ लंका लखि अतिथि अनवसर राम तृनासन ज्यों दई ॥" (गी० सुं० ३८) । तात्पर्य यह है कि इतनी बड़ी तपस्या के फल से भी शरणागति का महत्त्व अधिक है । श्रीविभीषणजी के एक प्रणाम के बदले में इतना देने पर भी श्रीरामजी को संकोच ही रहा कि यह देने योग्य नहीं है, अयोध्या में होते तो और बहुत देते, यथा—"बलकल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति । तिन्ह समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति ॥" (दोहावली १६२), यहाँ श्रीगोस्वामीजी किसीकी छोटाई-बड़ाई नहीं कह रहे हैं, किन्तु प्रपत्ति (सकृत प्रणाम) का फल कह रहे हैं, यथा—"एकैव कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधाऽवभृथेन तुल्यः । दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥ कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये । ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥" (महा० शान्ति० ४७।९१-९२), भाव यह है कि दशाश्वमेध पुण्य है, इसका फल क्षीण होने पर जीव पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है, पर कृष्णप्रणामी का पुनर्जन्म नहीं होता, यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये ।" (अ० दो० २९८), तथा—"त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत्कृतोञ्जलिः । तथैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ।"—(आलवन्दार-स्तोत्र)—यहाँ प्रणाम का अर्थ शरणागति है—दो० ३८ चौ० ५ देखिये ।

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना । ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना ॥१॥

निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपिकुल-मन भावा ॥२॥

अर्थ—ऐसे (शरणपाल एवं परम उदार) प्रभु श्रीरामजी को छोड़कर जो किसी अन्य का भजन करते हैं, वे मनुष्य बिना सींगों और पूँछ के पशु हैं [भाव यह कि वे पशु के समान (विचार-हीन) है, उनके सींग-पूँछ ही नहीं हैं, शेषांश में पशुता ही है] ॥१॥ (श्रीरामजी ने) अपना अनन्य भक्त जानकर उन्हें अपना लिया, प्रभु का यह स्वभाव कपियों के मन में अच्छा लगा ॥२॥

विशेष—(१) 'अस प्रभु छाड़ि···'—'अस' अर्थात् निशाचर, शत्रु का भाई शरण में आया, उसे भी इतना आदर दिया, उसके लोक-परलोक दोनों बनाये। भक्तों के लिये परम उदार और शरणपाल एवं पतित-पावन ऐसा दूसरा नहीं है, यथा—"तुलसी जाके होइगी, अंतर-बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो, केवटपालहि पीठि ?॥" (दोहावली ४६) "बालमीकि केवट कथा, कपि भील भालु समान। सुनि समुझ जो न राम सो, तेहि को उपदेसिहि ज्ञान॥" (वि० १६३), इन्हें जानकर भी जो दूसरे को भजते हैं, वे बिल्कुल अज्ञानी हैं। जैसे बिना सींग-पूँछ के पशु की अशोभा होती है, वैसे ही ज्ञान बिना मनुष्यों की अशोभा है। पुनः वे नर-पशु हैं, न केवल नर और न केवल पशु ही हैं। प्राकृत शोभाहीन हैं, क्योंकि नर-तनु का उद्देश्य परलोक-साधन है, यथा—"बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन्ह गावा॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र ···" (उ० दो० ४२-४३), अर्थात् हरि-भजन-बिना नर-तन निन्दित ही है, यथा—"नहि सत्संग भजन नहि हरि को। श्रवन न राम कथा अनुरागी।···सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जननि जनमत जगत जननि दुख लागी॥" (वि० १४०)। यहाँ 'विनोक्ति' अलंकार है।

(२) 'निज जन जानि ताहि···'—'निज जन' अर्थात् अपना अनन्य भक्त, यथा—"देखि दसा निज जन मन भावा।"—सुतीक्ष्ण, वे कैसे थे, यथा—"मन क्रम बचन राम-पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥" (अर० दो० ६)। इसी प्रसंग पर श्रीमुख-वचन है, यथा—"जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहि न और उपाउ। तिन्हहि लागि धरि देह करउँ सब डरउँ न सुजस नसाउ॥" (गी० सुं० ४५)।

'प्रभु सुभाउ कपिकुल मन भावा।'—वानर-गण अपनेको धन्य मानते हैं कि हमलोग ऐसे शरणपाल, उदार एवं समर्थ स्वामी के सेवक हैं। ये लोग श्रीरामजी का स्वभाव नहीं जानते थे, क्योंकि उसके ज्ञाता कोई-कोई हैं, यथा—"सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥" (दो० ४७), प्रभु ने श्रीमुख से अपने स्वभाव की सुभलता कही। इसपर गी० सुं० ४५-४६ पद भी देखने योग्य हैं। सुनकर मन भाया कि हम सबके निर्वाह-योग्य स्वामी का सरल स्वभाव है, यथा—'तुलसी सुभाय कहै नहीं कछू पच्छपात, कौन ईस किये कीस भालु खास माहली ?॥" (क० उ० २३)।

'सुनहुँ सखा निज कहउँ सुभाऊ।' उपक्रम है और 'प्रभु सुभाव कपिकुल-मन भावा।' यह उपसंहार है। 'उहाँ निसाचर रहहिं·····' से यहाँ तक 'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'—यह प्रसंग है।

'सागर-निग्रह-कथा'-प्रकरण

पुनि सर्बज्ञ सर्ब - उर - बासी। सर्बरूप सबरहित उदासी ॥३॥
बोले बचन नीति - प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज-कुल-घालक ॥४॥
सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा ॥५॥

संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती ॥६॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदय में निवास करनेवाले, सर्वरूप (विश्वरूप) और सबसे रहित उदासीन ॥३॥ (प्रभु) नीति-प्रतिपालक वचन बोले। इसका कारण यह है कि वे मनुष्य-रूप धारण किये हुए हैं और राक्षस-कुल का नाश करनेवाले हैं ॥४॥ हे वीर कपीश सुग्रीव ! और हे वीर लंकेश विभीषण !! सुनो, यह गहरा सागर किस प्रकार पार किया जाय ? ॥५॥ यह मगर, साँप और अनेक जातियों की मछलियों से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है (अतः) इसका पार करना सब प्रकार से कठिन है ॥६॥

विशेष—(१) 'पुनि सर्बज्ञ ···'—'पुनि' शब्द से दूसरे प्रसंग का प्रारम्भ सूचित किया। यह भी भाव है कि पहले भक्त का कार्य करके तब अपने स्वार्थ की बात करते हैं। जैसे कि पहले श्रीसुग्रीवजी का कार्य करके पीछे अपने कार्य की बात उनसे की। फिर श्रीहनुमानजी को वर देकर पीछे से सेना-सहित लंका की चढ़ाई की बात की। रावण-वध पर श्रीविभीषणजी का अभिषेक करके श्रीसीताजी को बुलाया और अपने राज्याभिषेक पर पहले सखाओं को स्नान कराके स्वयं स्नान किया। भाव यह कि भक्त लोग भगवान् को अर्पण करके स्वयं कुछ ग्रहण करते हैं, उनके प्रति प्रभु भी वैसा ही बरतते हैं, यथा—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (गीता ४।११), तथा—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥" से "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥" तक (भाग० ९।४।६३-६८)।

'सर्बज्ञ'—से बाहर की सब जाननेवाले और 'सर्ब-उर-बासी' से अन्तर्यामी अर्थात् सबके भीतर की भी जाननेवाले हैं, यथा—"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥" (नारायणोपनिषद् १), तथा—"ज्ञान हूँ गिरा के स्वामी बाहर-भीतर जामी यहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हीय की ॥" (वि० २६३), अर्थात् जो कुछ आगे होनहार है, सब जानते हैं, मन्त्री लोगों के भी भीतर की जानते हैं, जो वे कहेंगे। 'सर्ब-रूप' अर्थात् सब उन्हीं के शरीर हैं, अतएव नियाम्य हैं, सागर भी उन्हींका शरीर है, जिसे बाँधना है। वह भी नियाम्य है, जैसा कहेंगे उससे करा लेंगे। इसपर कहा जा सकता है कि तब तो सागर का बाँधा जाना इन्हींका बँधना होगा। उसपर कहते हैं, 'सर्ब-रहित' है, अर्थात् सबसे निर्लिप्त हैं। अतः, शरीर-रूप सागर के बँधने पर भी आपसे सम्पर्क नहीं है। पुनः समुद्र को बाँधने, रावण को मारने और श्रीविभीषणजी का हित करने से तो आप बड़े प्रपंची मालूम पड़ते हैं, इसपर कहते हैं कि वे 'उदासी' हैं, अर्थात् शत्रु-मित्र आदि भावों से रहित हैं यह तो नर-नाट्य कर रहे हैं, सर्वज्ञ एवं सर्वउरबासी होकर पूछ रहे हैं, सर्वरूप होने से सागर-रूप भी हैं, मकर, सर्प, मीन आदि भी वे ही हैं। सब उन्हींके शरीर एवं नियाम्य हैं, तब ग्राह कौन कर सकेगा ? सर्व-रहित होकर सबमें लिप्त की तरह पूछ रहे हैं, उदासी होकर भी प्रपंच की बातें कर रहे हैं, यह सब क्यों ? कारण आगे कहते हैं—

(२) 'बोले बचन नीति···'—रावण ने श्रीब्रह्माजी से वर पाया है कि वह मनुष्य के हाथ मरेगा। अतः, मनुष्य की तरह नरराज तनु के अनुरूप अज्ञानी बनकर राजनीति के अनुसार उपाय में प्रवृत्त हैं, यथा—"प्रभु बिधि-बचन कीन्ह चह साँचा।" (बा० दो० ४८), "जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुर-त्राता ॥" (कि० दो० २२), तथा—"सोचिअ नृपति जो नीति न जाना।" (अ० दो० १७१)।

(३) 'सुनु कपीस लंकापति बीरा।···'—श्रीसुग्रीवजी पहले के सखा हैं, इससे इनका नाम पहले कहा है। 'बीरा'—आप दोनों वीर हैं, समुद्र-पार करना भी वीरता का ही काम है। इन दोनों की वीरता प्रत्यक्ष है—वाल्मी० ६।४० में सुग्रीवजी ने रावण से घोर युद्ध (मल्ल युद्ध) किया है। जब रावण

हृदय से हारकर छल करने पर उद्यत हुआ, तब चले आये। लं० दो० ६३-६४ में विभीषणजी का भी रावण से मल्लयुद्ध की वीरता प्रत्यक्ष है। इसीसे उत्तर में श्रीविभीषणजी पहले वीरता की बात कहेंगे, यथा—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" सुग्रीवजी सेना का बलाबल जानते हैं; कौन कैसे जा सकता है, कूदकर, तैरकर वा पुल से। श्रीविभीषणजी सागर की मर्यादा, उसकी दुर्गमता आदि जानते हैं, क्योंकि निकटवर्त्ती हैं। इससे इन्हीं दो से पूछा। 'गंभीरा'- गहराई ही दुःसाध्य है।

(४) 'संकुल मकर उरग झष ··'—समुद्र मकर आदि हिंसक भयानक जीवों से भरा है। 'अति अगाध दुस्तर'—पहले 'गंभीरा' से अगाधता कही थी, फिर उसे 'अति' कहा, भाव यह कि गहराई ही अधिक बाधक है। 'सब भाँती'—गहराई से, चौड़ाई से और मकर आदि जीवों की बाधा से उतरकर जाना कठिन है, न पैदल, न कूदकर और न तैरकर ही जा सकते हैं।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक ॥७॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिय सागर सन जाई ॥८॥

दोहा—प्रभु तुम्हार कुल-गुरु जलधि, कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि, सकल भालु-कपि-धारि ॥५०॥

अर्थ—श्रीविभीषणजी ने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, आपका बाण यद्यपि करोड़ों समुद्रों का सोखनेवाला है, तथापि नीति ऐसी कही गई है कि सागर से जाकर विनती कीजिये ॥७-८॥ हे प्रभो! समुद्र आपके कुल का गुरु (बड़ा एवं पुरुषा) है, वह विचारकर उपाय कहेगा, तो उससे सब भालु-वानरों की सेना बिना परिश्रम ही सागर के पार चली जायगी ॥५०॥

विशेष—(१) 'कह लंकेस ··'—प्रश्न में पहले श्रीसुग्रीवजी का नाम है, उन्होंने क्यों न कहा? उत्तर—(क) श्रीसुग्रीवजी ने सोचा कि अभी श्रीविभीषणजी के विषय में मैंने बाँध रखने की सलाह दी थी, पर वह न मानी गई। सागर में पुल बँधे बिना पार उतरना अशक्य है। यदि समुद्र से प्रार्थना करने को कहें, तो वीर के लिये शोभाप्रद नहीं है। फिर समुद्र रावण का एक जलदुर्ग है, उससे प्रार्थना रावण ही से प्रार्थना करनी है। अच्छा हो कि मैं न कुछ कहूँ। श्रीविभीषणजी अभी आये हैं, पड़ोसी होने से ये सागर के मर्मी भी हैं। इनका मत देख लिया जाय। (ख) पहले श्रीसुग्रीवजी ने राय दी थी, अब पारी श्रीविभीषणजी की है, आगे सेतु बाँधने में जाम्बवान् की पारी होगी, इसीसे श्रीविभीषणजी ही बोले। 'सुनहु रघुनायक'—आप रघुवंश में श्रेष्ठ हैं। अतः, कुल की मर्यादा रखते हुए कार्य करें, यह भाव है। 'कोटि सिंधु-सोषक ·'—श्रीरामजी ने समुद्र को दुस्तर कहा था, श्रीविभीषणजी उसे अत्यन्त तुच्छ दिखा रहे हैं और प्रभु के बाण का महत्त्व कहते हैं। यह नीति है कि मन्त्री प्रथम राजा की प्रशंसा करे, तब सलाह दे। देखिये दो० ४२ चौ० ५ भो। यह प्रशंसा यथार्थ है, यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५)।

(२) 'यद्यपि तदपि नीति ··'—यद्यपि बाण से इसे आप सोख सकते हैं, तथापि पहले साम-नीति ही का पालन करें, सागर से विनय करें। पराक्रम के पहले साम-नीति का बर्ताव करना चाहिये, यथा—"जो मधु मरै न मारिये, माहुर देइ सो काउ।" (दोहावली ४३३)। विनय-रूपा साम-नीति अपने से बड़े के साथ की जाती है मैं तुच्छ समुद्र से क्यों करूँ? इसका उत्तर 'सागर' शब्द में है कि आपके पूर्वज सगर के द्वारा यह खोदा गया है, तब इसका नाम सागर हुआ है, इससे यह आपका कुल-गुरु है, यथा—"समुद्रं राघवोराजा शरणं गन्तुमर्हति ॥ खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्त्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः ॥" (वाल्मी० ६।१९।३०-३१), वही आगे यहाँ भी कहते हैं, यथा—"प्रभु तुम्हार कुल

गुरु जलधि,···"। 'जाई'—उसके समीप तट पर जाकर, तभी उसपर भार पड़ेगा, नहीं तो वह समझेगा कि अपनी सेना में बैठे हैं, मुझे क्या पड़ी है ?

(३) 'प्रभु तुम्हार कुल गुरु···'—कुल-गुरु है। अतः, उसे मान देना चाहिये, उल्लंघन करना या सोख लेना दण्ड है, यह उचित नहीं। वह अपने कुल का उपाय स्वयं समझकर करेगा। 'कहिहि उपाय बिचारि'—भाव यह कि मेरे विचार में कुछ नहीं आ रहा है। ये सन्त हैं, इससे न बाँधना कह सके और न सोखना, किन्तु उसे मान देना ही कहा, क्योंकि सन्त सबके मान-दाता होते हैं, यथा—"सबहि मान-प्रद आप अमानी।" (उ० दो० ३७)। वह कहेगा, क्योंकि उसने श्रीहनुमानजी के मार्ग में मैनाक के द्वारा सहायता की है, यथा—"जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तै मैनाक होहि श्रमहारी॥" (दो० चौ० ६)—इसका भी भाष्य देखिये। विचार कर कहेगा, भाव यह कि अभी उसने निश्चय नहीं किया, नहीं तो आकर कह देता। वह कुल-गुरु है, इससे वात्सल्य में मोहित हो गया है, पराक्रम देखकर सुख-पूर्वक उपाय कहेगा। वह रावण के पराक्रम को जानता है, बिना समझे-बूझे अपने बालक को काल के पास नहीं जाने देगा, यह भी ध्वनि है।

(४) 'बिनु प्रयास ··'—उसके बतलाये हुए उपाय में परिश्रम न होगा, यथा—"राम प्रताप सुमिरि मन माँही। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥" (ल० दो० १), अन्य उपायों से पार करने में प्रयास होगा।

सखा कही तुम्ह नीक उपाई। करिय दैव जौं होइ सहाई॥१॥
मंत्र न यह लछिमन-मन भावा। राम-बचन सुनि अति दुख पावा॥२॥

अर्थ—हे सखा ! तुमने अच्छा उपाय कहा है, उपाय करें, जो दैव सहायक हो (तो सिद्ध हो)॥१॥ यह सलाह श्रीलक्ष्मणजी के मन को नहीं रुची, उन्होंने श्रीरामजी के वचनों को सुनकर अत्यन्त दुःख पाया॥२॥

विशेष—(१) 'सखा कही तुम्ह···'—'सखा' अर्थात् 'सहायं ख्यातीति सखा' आप हमारे सहायक हैं, अतएव वैसा ही उपाय कहा है ! 'नीक'—सात्त्विक भाव की साम-नीति ही कही। 'करिय दैव जौं '—'जौं' शब्द में दैव की सहायता में सन्देह प्रकट करते है, क्योंकि आप सर्वज्ञता से जानते है कि बिना दण्ड-विधान के कार्य न होगा, आगे स्पष्ट है, यथा—"ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।" माधुर्य की दृष्टि से ध्वनित किया कि साम-नीति से काम न होगा। जगत् के लिये उपदेश भी है कि विहित उपायों में प्रवृत्त हो और दैव का भरोसा रक्खे, यथा—"तदपि एक मैं कहउँ उपाई। होइ करइ जौं दैव सहाई॥" (बा० दो० ६८)।

शंका—श्रीरामजी को निश्चय था कि इससे कार्य न होगा, तब इस मत का खण्डन क्यों न कर दिया ?

समाधान—भगवान् के चरित कई अभिप्रायों से होते हैं—(क) श्रीविभीषणजी का यह पहला मत है, उन्होंने सात्त्विक भाव से कहा है। उनका मान भी रखना है और सागर का सन्देह भी मिटा देना है कि वह इनका बल-पौरुष देख ले। (ख) श्रीविभीषणजी की शरणागति से प्रपत्ति की उत्तम विधि कही गई। श्रीरामजी सागर की शरणागति से यह दिखाते है कि जो शरणागत की रक्षा न कर सके, ऐसे अयोग्य की शरण में न जाना चाहिये। यह भी जान लेने से लोग शरण्य-योग्यता देखकर उसकी शरण होंगे। (ग) सागर के उत्तर-तटवासी पापियों का भी इसी व्याज (बहाने) से वध करना है। (घ) सागर सोखनेवाला बाण-प्रताप भी प्रकट करना है, जो श्रीविभीषणजी ने कहा है—"कोटि सिंधु सोषक···"।

(२) 'मंत्र न यह लछिमन···'—जिस कार्य में श्रीरामजी को न्यूनता होती देखते हैं, उसे

श्रीलक्ष्मणजी नहीं सह सकते। सागर के समीप धरना देने में उनकी न्यूनता है, यथा—"सहज भीरु कर मंत्र दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥" (दो० ५५)—यह रावण ने उपहास किया है। ऊपर दो० ४६ चौ० २ भी देखिये। श्रीरामजी के अपमान पर इन्होंने श्रीजनकजी को, श्रीपरशुरामजी को, श्रीपिताजी को एवं श्रीभरतजी को भी कुछ नहीं समझा है। वैसे यहाँ पर भी श्रीविभीषणजी की और कुल-गुरु सागर की एवं दैव की भी अवहेलना की है, यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भावा।"—यह श्रीविभीषणजी को, "नाथ दैव कर कौन भरोसा।"—यह दैव की, और "सोखिय सिंधु ···"—यह कुलगुरु की अवहेलना है। 'अति दुख पावा'—श्रीविभीषणजी का मत सुनते ही दुःख हुआ था। जब श्रीरामजी ने उसे स्वीकार कर लिया, उस उनके वचन पर अत्यन्त दुःख हुआ कि ऐसे परम समर्थ के लिये यह कार्य योग्य नहीं, इसमें बल की हीनता पाई जाती है। फिर यह उपाय सन्दिग्ध भी है, इससे न सह सके। अतः, कहते हैं—

शंका—श्रीविभीषणजी ने ही ऐसा मन्त्र क्यों कहा? वे भी तो श्रीरामपरत्व के एवं नीति-शास्त्र के पंडित थे।

समाधान—विभीषणजी ने रावण को समझाते हुए श्रीरामजी को परब्रह्म कहा है। शरण होने पर जब वे सामने बैठे, यथा—"उठि दाहिनी ओर ते सनमुख सुखद माँगि बैठक लई। नख-सिख निरखि सुख पावत, भावत कछु-कछु और भई॥" (गी० सुं० ३८), तब नख-शिख की माधुरी पर मुग्ध होने पर इनके हृदय में वह परत्व न रह गया, श्रीरामजी की अत्यन्त सुकुमारता, और उधर रावण की करालता पर डर हुआ। दुन्दुभि-अस्थि फेंकवाने एवं सप्ततालवेधवाने के द्वारा सुग्रीवजी ने प्रकट परीक्षा ली थी। इन्होंने यह सोचा कि सागर श्रीरामजी का कुल-गुरु है, उसका इनपर स्वाभाविक वात्सल्य है वह भी अपने तट पर भली-भाँति देखेगा, तो मोहित हो बिना परीक्षा लिये कालरूप रावण के पास न जाने देगा, वह भी रावण की विकरालता जानता है। अतः, ऐसा मत कहा।

यही कारण है कि अपमानित होने पर भी सागर को ग्लानि नहीं हुई, प्रत्युत इनके बल-गौरव को देखकर उसे हर्ष हुआ है—दो० ५६ चौ० ७ देखिये।

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिय मन रोसा॥३॥
कादर मन कहँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥४॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसेहि करब धरहु मन धीरा॥५॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु - समीप गये रघुराई॥६॥

अर्थ—हे नाथ! दैव का कौन भरोसा है? मन में क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। (भाव यह कि यदि आप निश्चित कहते, तो दैव विवश होकर वैसा ही करता, पर आप स्वयं सन्दिग्ध कह रहे हैं तो उसका कौन भरोसा?)॥३॥ कादर के मन का यही एक (दैव) आधार है और आलसी (अनुत्साही, सुस्त) लोग 'दैव! दैव!!' चिल्लाया करते हैं (इससे आलस प्रकट होने पर उनकी निन्दा नहीं होती),॥४॥ सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसा ही करेंगे, मन में धैर्य रक्खो॥५॥ ऐसा कहकर प्रभु ने छोटे भाई को समझाया, फिर वे रघुराज श्रीरामजी समुद्र के पास (तट पर) गये॥६॥

विशेष—(१) नाथ दैव कर···'—श्रीरामजी ने दैव का आधार लिया है, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी प्रार्थना करके उसका खंडन करते हैं कि आप प्रार्थना न कीजिये, किन्तु क्रोध कीजिये और समुद्र को सोख लीजिये। यह वीरता ही आपके योग्य है। भाव यह कि वीर पुरुषार्थ करते है, कादर मन में दैव का भरोसा करते हैं और आलसी 'दैव! दैव!!' चिल्लाया करते हैं, यथा—"दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्य संश्रयात्। उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीवां उपासते॥" (महा० शान्ति० १३९।८२), अर्थात् भाग्य और

पुरुषार्थ अन्योन्य आश्रित हैं, उदार पुरुष सुकर्म का आश्रय रखते है और कादर लोग ही दैव का अवलम्बन किया करते हैं, तथा —महा० अनु० ६ - में भी पुरुषार्थ को क्षेत्र (खेत) और दैव (भाग्य) को बीज के समान कहा है। जैसे खेत बिना बीज के निष्फल होते है, वैसे ही पुरुषार्थ के बिना भाग्य की कदापि सिद्धि नहीं होती। बिना पुरुषार्थ किये जो मनुष्य भाग्य का अनुवर्तन करता है वह पुरुष, स्त्री के समीप क्लीव पुरुष की तरह वृथा परिश्रम किया करता है।—इत्यादि रीति से इस अध्याय भर में इसीका विचार किया गया है। यहाँ कर्म, मन और वचन तीनों कहे गये—"सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।"—वीर-कर्म है। "कादर मन कहँ एक अधारा।"—मन और "दैव दैव आलसी पुकारा।"—वचन है।

शंका—श्रीरामजी ने यहाँ दैव का अवलम्ब लिया और उसे श्रीलक्ष्मणजी ने ऐसा दूषित किया, यह तो इष्ट की अवहेलना-सी है, जो कि श्रीलक्ष्मणजी ऐसे योग्य अनुचर के लिये अयोग्य है।

समाधान—श्रीलक्ष्मणजी श्रीमहारानीजी की व्यवस्था सुन चुके हैं, यथा—"निमिषि निमिषि करुनानिधि, जाहिं कलप सम बीति।" यह श्रीहनुमानजी ने कहा है और "अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। ··" यह प्रार्थना श्रीलक्ष्मणजी के हृदय में विध गई है कि इष्ट देवी ने मुझसे भी प्रार्थना की है और यहाँ व्यर्थ के काम में कई दिन धरना देकर बितायेंगे, माताजी के दुःख की ओर नहीं देखते। अतः, इस प्रणय के क्रोध से उन्होंने ऐसे कठोर वचन भी कह डाले, जिन्हें समझ हँसकर प्रभु ने इन्हें सान्त्वना देकर समझाया है कि हम वही करेंगे। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी को पिता और श्रीजानकीजी को माता तुल्य मानते है। माता पुत्र के लिये गौरव मे पिता से बहुत अधिक है, तदनुसार लक्ष्मणजी का मातृपक्ष पर विशेष ध्यान है और कठोर कहकर भी स्वामी से उनके मर्यादा-रक्षण पर लक्ष्य है। उत्तम श्रोता श्रीरामजी ने उसे हँसकर (प्रसन्नता से) सुना है, यथा—"बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहि जे कहहि ते नर प्रभु थोरे॥" (लं० दो० ८)—इसका विशेष भी देखिये। "निज हित अनहित पसु पहिचाना" (अ० दो० १८), ऐसे कठोर वचन को परम मानिनी महारानी कैकेयीजी ने सादर सुना और माना है, क्योंकि वह मन्थरा को अपनी हितैषिणी मानती थी और उसके वचन में अपना परम हित मानती थी।

(२) 'बोले रघुबीरा'—वीरता करने को कहते हैं—'ऐसेइ करब·· ', इससे रघुवीर कहा गया।

(३) 'अनुजहि समुझाई'—ऐसी नीति है कि कोई भी कार्य इष्ट-मित्रों का रुख रखकर करे। इसलिये श्रीलक्ष्मणजी को समझाया कि श्रीविभीषणजी की सम्मति के अनुसार करने मे कुलगुरु समुद्र का मान रहेगा और श्रीविभीषणजी का भी। विभीषणजी सखा है, 'समानं ख्यातीति सखा' इस रीति से बराबर के है और तुम मेरे छोटे भाई हो, इससे मैं अभी उनकी बात पर आरूढ़ हुआ हूँ। अन्ततः तुम्हारी ही बात होगी—'ऐसे हि करब ··' कह इन्हें भी समझा दिया है। लं० दो० ४-७ पर 'सख्यरस का मान' प्रसंग भी देखिये, उस दृष्टि से यह भी भय है कि इनकी बात न मानने पर ये भी न मान कर जायँ। समुद्र न सुनेगा, तब उसे दण्ड देना भी योग्य होगा। फिर समुद्र के समीप गये, क्योंकि जल-स्वरूप सागर से प्रार्थना करनी है। पहले तीर पर उतरना कहा गया था, यथा—'उतरे सागर तीर' अब बिल्कुल जल के पास गये।

प्रथम प्रनाम कीन्ह सिर नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई॥७॥
जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आये। पाछे रावन दूत पठाये॥८॥

दोहा—सकल चरित तिन्ह देखे, धरे कपट कपि-देह।
प्रभु-गुन हृदय सराहहिं, सरनागत पर नेह॥५१॥

अर्थ—(श्रीरामजी ने) पहले तो सिर नवाकर (समुद्र को) प्रमाण किया, फिर कुशासन बिछा उसपर बैठ गये ॥७॥ श्रीविभीषणजी जिस समय प्रभु श्रीरामजी के पास आये, उनके पीछे उसी समय रावण ने अपने दूत भेजे ॥८॥ माया से वानर-देह धरे हुए उन्होंने सब चरित देखे। वे लोग शरणागत पर स्नेह एवं (और भी) प्रभु के गुणों की हृदय में प्रशंसा कर रहे हैं ॥५१॥

विशेष—(१) 'प्रथम प्रनाम कीन्ह · '—कुलगुरु है, इसलिये सागर को प्रणाम किया, तब पीछे प्रार्थना के लिये बैठे, ऐसी ही रीति है, यथा—"सीस नवहि सुर-गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी ॥" (अ० दो० १२८), 'बैठे तट पुनि दर्भ डसाई।'—आयुध (धनुष-बाण) अलग श्रीलक्ष्मणजी के पास देकर अपने हाथों से कुशासन बिछाकर बैठे, मौन-व्रत धारण करके अनशन-व्रत-सहित बैठे हैं। निरायुध यथा—"लछिमन बान सरासन आनू।" यह आगे कहा है। मौन-व्रत, क्योंकि शुक अपना मुनि-तनु पाकर श्रीरामजी के पास गया और बार-बार प्रणाम किया, पर वे कुछ नहीं बोले, यथा—"बंदि राम-पद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा ॥" (दो० ५६), उपवास, यथा—"तीसरे उपास बनबास सिंधु पास···" (क० सुं० ३२)—यह प्रमाण लोगों ने दिया है, पर यह उपवास-प्रसंग तो विभीषणजी को लंकेश बनाने के पहले का है। महर्षिजी ने विधिवत् तीन रात्रियों का व्रत करना लिखा है, उसमें उपवास का भाव भी है, यथा—"तस्य रामस्य सुप्तस्य कुशास्तीर्णे महीतले। नियमाद्-प्रमत्तस्य निशास्तिस्रोऽभिजग्मतुः ॥" (वाल्मी० ६।२१।१०), अर्थात् इस प्रकार पृथ्वी पर कुश बिछाकर सोये (लेटे) हुए सावधानी से नियमों का पालन करते हुए श्रीरामजी की तीन रातें बीत गईं। स्वयं दर्भ बिछाया, क्योंकि बड़ों के समक्ष निरभिमानता चाहिये। आसन पर बैठकर अनुष्ठान करना विधि है।

(२) 'दर्भ डसाई'—आसनों के भेद, यथा—"कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रौर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमा गतिः ॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत् ॥" यह शास्त्र विधि प्रसिद्ध है।

(३) 'पाछे रावन दूत पठाये'—दूतों का चलना नहीं कहा गया था, जब वे यहाँ प्रकट हुए, तब ग्रन्थकार भी प्रकट करते हैं, क्योंकि ये गुप्त रूप में आये थे। एक शुक की प्रधानता में और भी थे, इससे बहुवचन कहा गया है।

(४) 'सकल चरित तिन्ह देखे···'—जब से श्रीविभीषणजी यहाँ आये, तबसे अब तक के सब चरित देखे। चरित—श्रीविभीषणजी को आदर से बुलाना, हृदय लगाना, अनुज-सहित मिलकर पास बैठाना, कुशल पूछना, अपना स्वभाव कहना, भक्ति देना, राज तिलक करना और मन्त्र पूछकर सागर से विनय करने बैठना। 'प्रभुगुन हृदय ·'—हृदय में ही सराहते हैं, क्योंकि कपट-रूप में हैं, प्रकट सराहने से कपट खुल जाता, जैसे आगे कहा ही है। ग्रन्थकार प्रभु के गुण अभी नहीं कह रहे हैं, जब दूत रावण से कहेगा, तब खोलेंगे, यथा—"राम तेज बल बुधि बिपुलाई।···माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" आदि। 'सरनागत पर नेह'—सम्पूर्ण गुणों में 'शरणागत पर स्नेह' की प्रधानता है, इसीसे इसे यहाँ प्रकट कहा है। शरणागत-स्नेह को कानों से सुना और आँखों से देखा, यथा—(१) मम पन सरनागत भय हारी। (२) कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आये सरन तजउँ नहि ताहू ॥ (३) सनमुख होइ जीव मोहि··· (४) जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रान की नाँई। इत्यादि, सुने। और—'अस कहि करत दंडवत देखा' से 'बरु भल बास···' तक देखा।

प्रगट बखानहिं राम - सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ ॥१॥
रिपु के दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि कपीस पहिं आने ॥२॥
कह सुग्रीव सुनहु सब बानर। अंग-भंग करि पठवहु निसिचर ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी का स्वभाव प्रत्यक्ष (राक्षसरूप एवं राक्षसी भाषा से) अत्यन्त प्रेम से सराहते है, (जब) छिपाव करना भूल गया ॥१॥ वानरों ने तब जाना कि ये शत्रु रावण के दूत हैं और वे इन सबको बाँधकर श्रीसुग्रीवजी के पास ले आये ॥२॥ श्रीसुग्रीवजी ने कहा, हे सब वानरो सुनो, इन निशाचरों को अंग-भंग करके भेजो ॥३॥

विशेष—(१) 'अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ'—अत्यन्त प्रेम की विह्वलता में कपट नहीं रह जाता, यथा—"अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगट प्रीति उर छाई।" (क० दो० २), गुण सराहने में सँभाल रही, किन्तु स्वभाव सुनकर तो अत्यन्त प्रेम में मुग्ध हो गये, तब न रहा गया और प्रकट होकर स्वाभाविक भाषा में सराहने लगे। स्वभाव, यथा—"सुनहु सखा निज कहहुँ सुभाऊ।" से "प्रभु सुभाउ कपि कुल मन भावा।" तक। महा कपटी राक्षसों का भी कपट खुल गया—यह प्रभु-गुण का प्रभाव है। 'सकल बाँधि'—कई हैं, क्योंकि 'पाछे रावन दूत पठाये' 'तिन्ह देखे' आदि सर्वत्र बहुवचन में कहे गये है। वाल्मीकीय में एक बार शुक-सारण दो भेजे गये है और दूसरी बार शार्दूल के साथ और कई दूत भेजे गये है, उन सबको यहाँ एक ही बार में जना दिया। पुनः यहाँ शुक का दो बार बाँधा जाना कहा गया है, वह भी यहाँ—'सकल बाँधि' और आगे 'बाँधि कटक चहुँ पास फिराये।' से सूचित कर दिया गया है। 'अंग-भंग करि'—श्रीसुग्रीवजी नीति के ज्ञाता हैं, इससे इन्होंने दूतों को मारना नहीं कहा। अंग-भंग का दण्ड भी इससे कहा कि वे गुप्त-रूप से चार बनकर आये थे, अतएव दण्डनीय थे। कौन अंग भंग किया जाय, यह नहीं कहा, क्योंकि प्रथम से श्रीलक्ष्मणजी ने मार्ग खोल दिया है, उन्होंने शूर्पणखा के नाक-कान काटे थे, वही नियम हो गया, यथा—"जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहि।···दसनन्हि काटि नासिका काना।···" (लं० दो० ४), "काटेसि दसन नासिका काना। गर्जि अकास चलेउ तेहि जाना॥" (लं० दो० ६४), वही यहाँ भी करेंगे, यथा—"जो हमार हर नासा काना।···" आगे कहा है। 'पठवहु'—उसने जैसा मेरे दूत के साथ किया है, वैसा ही करके मैं भी इन्हें भेजूँगा।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये। बाँधि कटक चहुँ पास फिराये ॥४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे ॥५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना ॥६॥

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी के वचन सुनकर वानर लोग दौड़े, इन्होंने उनको बाँधकर सेना के चारो ओर फिराया ॥४॥ वानर लोग उन्हें बहुत तरह से मारने लगे, (यद्यपि) वे दीन होकर पुकार रहे है, तथापि नहीं त्याग करते ॥५॥ (तब वे पुकारकर कहने लगे—) जो हमारे नाक-कान काटे, उसे कोशलाधीश श्रीरामजी की शपथ है ॥६॥

विशेष—(१) 'सुनि सुग्रीव बचन···'—श्रीसुग्रीवजी ने कड़ी आज्ञा दी, इससे वानर दौड़ पड़े। 'बाँधि'—पहले साधारणतः बाँधा, अब विशेष दृढ़-रूप में बाँधा कि जिससे नाक-कान काटने के समय वेग करके छूट न जायँ। श्री हनुमानजी को भी उनलोगों ने दो बार बाँधा था। एक बार नागपाश से और दूसरी बार पटों से पूँछ बाँधी थी। 'बहु प्रकार', यथा—"जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहतो भृशम्।" (वाल्मी० ६।३०।८), अर्थात् जानु, मुक्का, दाँत तथा थप्पड़ से क्रोधी वानरों ने बहुत मारा। 'दीन पुकारत ···'—दीन को नहीं मारना चाहिये, पर कपट-रूप से आने के कारण तब भी मारा। वेष बदल कर चोरी से आने के कारण नाना प्रकार से मारे गये, यथा—"राज्ञो वधं चिकीर्षद्भिस्तस्य चित्रवधो भवेत्। आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसाङ्करिकस्य च॥" (महा० शान्ति० ८५।२२), अर्थात् राजा के वध की इच्छा करनेवाले, आग लगानेवाले, चोर और वर्णसंकर करनेवाले का चित्रवध (भाँति-भाँति के दुःख देकर मारना) विहित है।

(२) 'जो हमार हर नासा काना । ''—जब दीन होकर आर्त्त स्वर से पुकार करने लगे, तब नाक-कान काटने में प्रवृत्त हुए, जो सुग्रीव की आज्ञा थी । वानर लोग नीति से कार्य कर रहे हैं, ये दूत छिपकर भेद लेने आये थे और पकड़े गये, तो दण्ड देना ही चाहिये । पर वे प्रेम में मग्न होकर राम-गुण-स्वभाव कीर्तन करने लगे, उसीमें पकड़े गये । राम-प्रेम पर दृष्टि करके उन्हें दण्ड की आज्ञा नहीं देनी थी, पर अंग-भंग की आज्ञा हुई, इसीसे वह आज्ञा भंग होगी । श्रीसुग्रीवजी की आज्ञा से राम-शपथ भारी है, इसपर श्रीलक्ष्मणजी छुड़ा देंगे ।

'कोशलाधीस कै आना'—दोहाई राजा की ही दी जाती है । भाव यह कि जो इनकी शपथ न मानेगा, उसकी कुशल नहीं है । वा, हमारी कुशल हो, नाक-कान बचें । यहाँ वानरों ने श्रीहनुमानजी का बदला लिया है—

श्रीहनुमानजी		राक्षसदूत
नाग पास बाँधेसि लै गयऊ ।	१	सकल बाँधि कपीस पहि आने ।
अंग-भंग करि पठइय बंदर ।	२	अंग-भंग करि पठवहु निसिचर ।
सुनत निसाचर मारन धाये ।	३	सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये ।
मारहि चरन करहि बहु हाँसी ।	४	बहु प्रकार मारन कपि लागे ।
नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी ।	५	बाँधि कटक चहुँ ''श्रवन नासिका काटन ''।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाये । दया लागि हँसि तुरत छोड़ाये ॥७॥
रावन कर दीजहु यह पाती । लछिमन-बचन बाँचु कुलघाती ॥८॥

दोहा—कहेउ मुखागर मूढ़ सन, मम संदेस उदार ।
सीता देइ मिलहु न त, आवा काल तुम्हार ॥५२॥

अर्थ—सुनकर श्रीलक्ष्मणजी ने सबको समीप बुलाया, दया लगी, इससे हँसकर (उन्हें) शीघ्र छुड़ा दिया ॥७॥ (और कहा—) यह चिट्ठी रावण के हाथ में देना और कहना कि हे कुल के नाश करनेवाले ! श्रीलक्ष्मणजी के वचनों को पढ़ो (अर्थात् यह चिट्ठी श्रीलक्ष्मणजी ने दी है, इसे पढ़ो) ॥८॥ उस मूर्ख से मेरा श्रेष्ठ सन्देश मौखिक रूप में कहना कि तुम श्रीसीताजी को देकर हमसे मिलो, नहीं तो तुम्हारा काल (मरण-काल) आ गया ॥५२॥

विशेष—(१) 'निकट बोलाये', क्योंकि सन्देश कहना है । 'दया लागि', क्योंकि आर्त्त स्वर से श्रीरामजी की दोहाई सुनी । 'हँसि'—कृपा करके, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा । सूचत किरन मनोहर हासा ॥" (बा० दो० १६७) । 'तुरत'—देरी करने में राम-शपथ का महत्त्व कम होता, इसलिये शीघ्र छुड़ा दिया । श्रीरामजी इस समय समुद्र-तट पर हैं, इससे उनकी जगह में ये ही हैं । अतः, इन्होंने छुड़ाया ।

(२) 'रावन कर दीजहु'' '—दूसरे के हाथ में देने से वह शत्रु की फटकार समझकर मानी रावण को उसके डर के मारे न देगा । 'बाँचु'—कहना कि वह स्वयं पढ़े, जिसमें अच्छी तरह समझ जाय । 'कुल घाती'—भाव यह कि तेरे ही कृत्य से कुल का नाश होगा । अतः, ऐसा न कर, कुल की रक्षा का उपाय कर । आगे स्पष्ट पढ़ा जायगा, यथा—"बातन्ह मनहिं रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस ।" (दो० ५६), श्रीलक्ष्मणजी ने उपदेश दिया, ऐसे ही औरों ने भी समझाया है । श्रीहनुमानजी, श्रीविभीषणजी और श्रीपुलस्त्य मुनि की बातें आ चुकीं । आगे जाम्बवान्‌जी के कहने से श्रीरामजी भी श्रीअंगदजी के द्वारा

उसके बचने की शिक्षा देंगे, यथा—"तासु हित होई।' (लं० दो० १६), क्योंकि किसीकी भी रक्षा करना धर्म है, उसका नाश देखते हुए न समझाते, तो इन्हें दोष होता।

(३) 'कहेहु मुखागर···'—कुल का नाश तो चिट्ठी में लिखा और रावण की मृत्यु मौखिक रूप से कहलाई, क्योंकि वह शत्रु की चिट्ठी दूसरे से पढ़ावेगा, तब वह डर से रावण की मृत्यु न बाँचेगा। 'मूढ़'—क्योंकि उसे अपनी भलाई नहीं सूझ रही है। 'संदेस उदार'—क्योंकि इससे सबके प्राण बचेंगे। पहले 'कुलघाती' कहा है और अब 'आवा काल तुम्हार' कहते हैं, भाव यह कि मैं मेघनाद को मारकर तेरा कुल (वंश) नाश करूँगा और सीताहरण के प्रतिकार में श्रीरामजी तुम्हें मृत्यु-वश करेंगे, आगे स्पष्ट है, यथा—"राम बिरोध न उबरसि, सरन बिष्नु अज ईस।" (दो० ५६)।

तुरत नाइ लछिमन-पद माथा। चले दूत बरनत गुनगाथा ॥१॥
कहत राम-जस लंका आये। रावन-चरन सीस तिन्ह नाये ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी के चरणों में सिर नवाकर (श्रीरामजी के) गुण-समूह का वर्णन करते हुए दूत शीघ्र चले ॥१॥ श्रीरामजी का यश कहते हुए (वे लोग) लंका आये और उन्होंने रावण के चरणों में सिर झुकाये (क्योंकि वह राजा है और उसीके द्वारा श्रीरामजी के दर्शन हुए, जिससे इनका कल्याण हुआ, आगे स्पष्ट है) ॥२॥

विशेष—(१) 'तुरत नाइ···'—तुरत चले, क्योंकि सन्देश तुरत कहना चाहिये, यथा—"तुरत सो मैं प्रभु सन कही ···" (दो० ३९), लोक में भी प्रसिद्ध है कि लोग चिट्ठी लेकर शीघ्र चलते हैं। 'तुरत' का सम्बन्ध 'चले' से है। 'गुनगाथा'—को आगे स्पष्ट किया है, यथा—'कहत राम जस ···' पहले हृदय में सराहते थे, अब प्रकट कहते जाते हैं, क्योंकि अब कोई डर नहीं है। श्रीलक्ष्मणजी प्रधान हैं (और श्रीसुग्रीवजी का समाज पृथक् हैं)। अतः, उन्हींको प्रणाम करके जाना कहा गया है।

(२) 'कहत राम-जस लंका आये ···'—कई हैं, एक दूसरे से कहते जाते हैं, इसीसे तुरत लंका पहुँच गये, यथा—"सीय को सनेह सील तथा कथा लंक की कहत चले चाप सों सिरानो पंथ छन में।" (क० दो० ३१)।

बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता ॥३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी ॥४॥
करत राज लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी ॥५॥

अर्थ—रावण ने विहँसकर बात पूछी कि अरे शुक! अपनी कुशलता क्यों नहीं कहता? ॥३॥ फिर उस बिभीषण की खबर कह कि जिसकी मृत्यु अत्यन्त समीप आ गई है ॥४॥ वह यहाँ राज्य करता था, उस सठ ने ऐसी लंकापुरी का राज्य त्याग दिया, (अतः) भाग्यहीन है, वह अभागा अब जव का कीड़ा होगा, अर्थात् शत्रु-रूपी अनाज (यव) को मैं पीसूँगा, उनमें मिला हुआ, वह भी पिस जायगा अर्थात् तपस्वियों के साथ वह भी मरेगा ॥५॥

विशेष—(१) 'बिहँसि दसानन पूछी···'—हँसना शत्रु के निरादर के लिये है, आगे स्पष्ट है, यथा—"मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।" 'कहसि न सुक ··'—अर्थात् एक बार कुशल पूछने पर दूत न बोले थे, तब ऐसा कहा। दूत चाहते हैं कि इससे और जो कुछ पूछना हो, पूछ ले, तब हम उत्तर दें। दूतों में शुक प्रधान है, इससे उसे ही सम्बोधन करके पूछ रहा है।

(२) 'पुनि कहु खबरि···'—श्रीविभीषणजी की कुशल नहीं पूछता, क्योंकि उनकी मृत्यु को तो अति निकट आना कह रहा है, तब कुशल कहाँ? मृत्यु निकट तो तभी आई थी, जब उसने शत्रु की

बड़ाई की और श्रीसीताजी के देने को कहा था, यथा—"खल तोहि निकट मृत्यु अब आई।" (दो० ४०), अब वह शत्रु से जा मिला, तो उसकी मृत्यु 'अति नेरी' आ गई। 'अति नेरी' का स्वरूप आगे कहता है।

(३) 'करत राज लंका सठ त्यागी।···'—लंका-राज्य के समान तीनों लोकों में कोई राज्य नहीं है, (विभीषणजी यहाँ के प्रधान मन्त्री एवं राजा के भाई होने से राज्य के मालिक की तरह थे। रावण ने हनुमानजी के वध की आज्ञा दी, पर इन्होंने रोक दिया। अतः, इन्हें पूरा अधिकार था। रावण प्रायः बाहर फिरता था, कुम्भकर्ण सोता ही था। राज्य कार्य विभीषण ही करते थे) इसे त्यागा, अतएव शठ है। राज्य-सुख तो उसने स्वयं छोड़ा, पर अब उसके प्राणों पर भी आ बनेगी। वैसे तो हम उसे न भी मारते, पर शत्रुओं से जा मिला है, तो अवश्य मारेंगे। राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा, इससे अभागा है।

वास्तव में रावण ही आयुहीन और अभागा हुआ है, यथा—"आयूहीन भये सब तबहीं ॥ · रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयउ बिभव बिनु तबहि अभागा॥" (दो० ४१), और श्रीविभीषणजी ने तो अखण्ड राज्य पाया और उनके प्राण भी बचे, यथा—'रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ, दीन्हेउ राज अखंड॥" (दो० ४६)। रावण की मृत्यु निकट होने से उसे मति-भ्रम है, इससे उल्टा ही सूझता है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल-प्रेरित चलि आई॥६॥
जिन्हके जीवन कर रखवारा। भयउ मृदुल-चित सिंधु बिचारा॥७॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी॥८॥

दोहा—की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपुदल तेज बल, बहुत चकित चित तोर॥५३॥

अर्थ—फिर भालु-वानरों की सेना (का समाचार कि वह कितनी है) कह, कठिन काल की प्रेरणा से जो स्वयं चलकर आई॥६॥ जिनके जीवन (आयु) का रक्षक बिचारा कोमल चित्तवाला समुद्र हुआ है॥७॥ फिर उन तपस्वियों की सारी बात कह, जिनके हृदय में मेरा अत्यन्त डर है॥८॥ क्या उनसे भेंट हुई या वे मेरा सुयश कानों से सुनकर लौट गये? शत्रु की सेना और उनका तेज-बल क्यों नहीं कहता? तेरा चित्त मैं बहुत चकित (आश्चर्यान्वित) देखता हूँ॥५३॥

विशेष—(१) 'पुनि कहु भालु कीस···'—इनकी सेना कितनी है, जितनी अधिक हो, उतनी ही अच्छी, हमारे राक्षस बहुत भूखे हैं, यथा—"आये कीस काल के प्रेरे। छुधावंत सब निसिचर मेरे।" (लं० दो० ३८), 'कठिन काल'—सामान्य काल की प्रेरणा से आये होते, तो चाहे कुछ भागकर बच भी जाते, पर उन्हें कठिन काल लाया है, नहीं तो वानरों को तपस्वियों से क्या लाभ है? तपस्वियों को पृथ्वी-भर के वानर कैसे मिलते?, यथा—'देखो काल कौतुक पिपीलिकन्ह पंख लागो भाग मेरे लोगन के भई चित चही है॥" (गी० सुं० २४)। 'चलि आई'—कठिन काल की प्रेरणा से राक्षसों के मुख में पैठने वे स्वयं चलकर आ रहे हैं, नहीं तो एक राक्षस को देखकर सहस्रों वानर भाग जाते थे।

(२) 'भयउ मृदुल-चित सिंधु बिचारा।'—सागर मार्ग दे सकता था, यथा—"अपर जलचरन्हि ऊपर बिनु श्रम पारहिं जाहि।" (लं० दो० ४), पर उस बेचारे को दया आ गई कि इन नर-वानरों को उस पार जाते ही निशाचर खा लेंगे, इस कोमल-चित्त से वह मार्ग नहीं देता है। मृदुल-चित्त होने से

करुणावश सागर ने अभी रक्षा की है, नहीं तो काल उन्हें सीधा यहीं लाता, पर वह भी तो बिचारा (अल्प सामर्थ्य का) है, काल के आगे उसकी क्या चलेगी, वह कब तक बचावेगा ? अतः, बचाना समुद्र की मूर्खता है। वा, कहीं हमारे राक्षस उसी पार जाकर उन्हें खा ले, तो सागर क्या करेगा ? वह तो बिचारा है, उसका वश ही क्या है।

(३) 'कहु तपसिन्ह कै बात'''—बात में क्या आशय है, इसे आगे दोहे में स्पष्ट किया है कि 'की भइ भेंट'' '। 'त्रास अति'—भाव यह कि त्रास तो सब तपस्वियों को है, पर उन्हें 'अति' है, क्योंकि उनका मैं भारी शत्रु हूँ। श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी की बात अन्त में पूछी, जिससे यह कोई न जाने कि उनका उसे भारी भय है, इसीसे पहले पूछता है। 'त्रास अति मोरी'—यह उनपर डालकर कहता है, वस्तुतः इसीके हृदय में उनका अत्यन्त डर है, यथा—"सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥" (दो० ५६), यहाँ कुशल, खबर, कटक और बात, ये चार शब्द चार वर्गों के लिये कहे गये है, इनके भाव—हमने उनके दूत को दण्ड दिया था; इससे उन्होंने भी इन्हें मारा होगा। अतः, दूतों से कुशल पूछी। श्रीविभीषणजी की खबर पूछी, खबर जानकर वैसा विचार करेगा, इसीलिये दूतों को भेजा ही था। भालुओं और वानरों का भय है। अतः, कटक को पूछा कि कितना है और श्रीराम-लक्ष्मणजी का इसे अति त्रास है, इसलिये उनकी 'बात' में कई भेद पूछे, क्योंकि रिपु के दल और तेज-बल से उसे भय है।

(४) 'की भइ भेंट कि'' '—पहले भी कहा था 'कहसि न सुक' और यहाँ भी—'कहसि न' कहता है, इससे जान पड़ता है कि दूत डर के मारे शत्रु का दल और तेज-बल कह नहीं सकते, क्योंकि शत्रु की बड़ाई पर रावण चिढ़ता है, यथा—"रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ॥" (दो० ३९), इसीसे क्षमा माँगकर कहेगा, यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा''"। बार-बार प्रश्न पर प्रश्न करता जाता है, दूत कह नहीं पाते, इससे रावण के हृदय की घबराहट भी जान पड़ती है। पहले शत्रु के दल को पूछा था, यहाँ भी दल को लेकर तेज-बल पूछ रहा है। दूतों को चकित देखकर दो प्रकार से कहता है कि या तो शत्रु मेरे डर से चले गये, इससे तू चकित है कि मैं किसका क्या हाल कहूँ, वहा तो कोई है ही नहीं। अथवा शत्रु का बहुत दल और उसका अत्यन्त तेज-बल देखकर तू चकित हो गया है, जो हो कह। अब उसे अवसर मिला, तो क्षमा माँगकर कहेगा।

नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥१॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहि राम तिलक तेहि सारा॥२॥
रावन-दूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना॥३॥
श्रवन-नासिका काटइ लागे। राम-सपथ दीन्हे हम त्यागे॥४॥

अर्थ—(शुक ने कहा—) हे नाथ ! जैसे कृपा करके आपने मुझसे पूछा है, वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहा (यथार्थ) मानिये॥१॥ जब आपका भाई (उनसे) जाकर मिला, तब जाते ही श्रीरामजी ने उसका राज-तिलक कर दिया (सारना = पूर्ण करना, बनाना)॥२॥ कानों से हमें रावण-दूत सुनकर वानरों ने बाँधकर अनेक दुःख दिये॥३॥ हमारे कान और नाक काटने लगे थे, जब हमने राम-शपथ दी, तब उन्होंने हमें छोड़ा है॥४॥

विशेष—(१) 'नाथ कृपा करि पूछेहु''''''—पूछना यह है कि हमारी कुशल प्रसन्नता से (बिहँसकर) पूछी, यह कृपा की। 'मानहु तैसे' अर्थात् जैसे कृपाकर कुशल पूछी, वैसे क्रोध छोड़कर मेरे वचन सत्य मानिये। आपके छने पर कहता हूँ, नहीं तो न कहता।

(२) 'मिला जाइ जब अनुज'''—रावण ने पहले दूतों की कुशल पूछी थी, पर वे जिस क्रम से वहाँ जो बातें हुईं, उसी क्रम से कहते हैं। पहले श्रीविभीषणजी का तिलक हो गया, तब दूत पहचाने गये और उन्हें दण्ड दिया गया। 'अनुज तुम्हारा'—भाव यह कि श्रीविभीषणजी ने ऐसा ही कहा था, यथा—"नाथ दसानन कर मैं भ्राता।" (दो० ४४), शरण आया हुआ जानकर शत्रु के भाई का भी उन्होंने इतना आदर किया। शरणागत उन्हें अत्यन्त प्रिय है और उनका स्वभाव बड़ा कोमल है, भाव यह कि आप भी जाकर मिलें तो वैसी ही कृपा करेंगे। आगे स्पष्ट कहा है, यथा—"अति कोमल रघुबीर सुभाऊ।'''मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करि हैं।'''" (दो० ५६), तिलक सारना=विधिवत तिलक करना, यथा—"तिलक सारि अस्तुति अनुसारी।" (लं० दो० १०४), इसके प्रथम 'सारेहु तिलक कहेहु रघुनाथा', कहा गया था, तब जाकर 'तिलक सारि' अर्थात् तिलक करना कहा गया। रावण ने कहा था—"करत राज लंका तेहि त्यागी" उसका उत्तर है कि वह तो राजा हो ही गया।

(३) 'रावन-दूत हमहि सुनि'''—भाव यह कि कपट खुलने पर राक्षस जानकर हमें पकड़ लिया, तब श्रीविभीषणजी के वर्ग से पूछा गया, उन्होंने कह दिया कि ये रावण के दूत हैं; बस, सुनते ही बाँधकर वानरों ने नाना दुःख दिये—तुम्हारे ऊपर इतना क्रोध है। हमने उनका कोई अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे दूत होने के सम्बन्ध से मारे गये। भाव यह कि छिपकर तुम्हारा दौत्य कार्य साधते हुए जानकर हमें मारा। नहीं तो तुम्हारा भाई भी तो गया, पर उसे राज्य दिया, क्योंकि वह अपने रूप से और फिर शरण होने गया था।

अलंकार—'प्रत्यनीक (शत्रु पक्ष)', क्योंकि शत्रु के पक्षवालों से प्रहार की बात है।

(४) 'श्रवन-नासिका'' '- भाव यह कि हमलोगों ने बहुत सहन किया, आपके निहोरे पहले राम-शपथ नहीं दी थी, जब नाक-कान काटने लगे तब राम शपथ दी, जिससे उन्होंने छोड़ दिया। पूर्वोक्त 'कोसलाधीस कै आना' का अर्थ 'राम-सपथ' यहाँ स्पष्ट हुआ।

पूछेहु नाथ राम-कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई ॥५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी ॥६॥
जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा ॥७॥
अमित नाम भट कठिन कराला। अमित-नाग-बल बिपुल बिसाला ॥८॥

दोहा—द्विबिद मयंद नील नल, अंगद गद बिकटासि।
दधिमुख केहरि निसठ सठ, जामवंत बलरासि ॥५४॥

अर्थ—हे नाथ! आपने श्रीरामजी की सेना को पूछा। उसका वर्णन सौ करोड़ मुखों से भी नहीं किया जा सकता ॥५॥ भालु-वानरों की सेना अनेक वर्णों (रंग एवं जातियों) की है, उनके मुख विकट हैं, वे विशाल और भयंकर हैं ॥६॥ जिसने आपका नगर जलाया और आपके पुत्र को मारा, उसका बल तो सब वानरों से थोड़ा है ॥७॥ वे अमित नाम के संख्या-रहित भट हैं, (देह से) कठिन और भयंकर हैं, उनमें अमित हाथियों के बल से भी अत्यन्त भारी बल है एवं वे अत्यन्त विशाल है ॥८॥ (उनमें से कुछ के नाम) द्विविद, मयन्द, नील, नल, अंगद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ और जाम्बवान् है—ये सब बल की राशि है (ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के पास बैठे थे, वहीं इसे वानर लोग ले गये थे, इससे इसने सबके नाम कहे और आगे इन्हें श्रीसुग्रीवजी के समान भी कहा है) ॥५४॥

विशेष—(१) 'बदन कोटि सत'''—श्रीविभीषणजी का और अपना हाल मैंने कहा, पर वानरों

की सेना कितनी है, यह मैं नहीं कह सकता, मेरे तो एक ही मुख है, करोड़ मुखों से भी वह नहीं कही जा सकती, यथा—"बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा।" (कि० दो० २१)।

(२) 'नाना बरन···'—अनेक देशों के और अनेक जातियों के है। विशाल (भारी) शरीरवाले है और उनके मुख विकट हैं, इसीसे भयंकर है। 'धारी'—लूट-मार करनेवाली सेना को धारी कहते है।

(३) 'जेहि पुर दहेउ···'—इन दोनों कठिन कामों में भी पुर-दहन अत्यन्त कठिन था, इससे पहले कहा, क्योंकि इनका बल थोड़ा कहकर औरों का बल इनसे अत्यन्त अधिक दिखाना था। आगे दो० ५५ पर आवृत्तियों में 'सकल कपिन्ह महँ ···' का शाब्दिक-निर्वाह-मिलान भी देखिये।

शंका—श्रीहनुमानजी तो यहाँ प्रधान वीर हैं, फिर इन्हें थोड़े बल का क्यों कहा ?

समाधान—(क) जब उसने देखा तब श्रीहनुमानजी हाथ जोड़े हुए दीनता-पूर्वक प्रभु के पास चुपचाप खड़े थे। वानरों मे इनकी कुछ प्रधानता नहीं दीख पड़ी, न तो श्रीरामजी ने इनसे कोई राय पूछी, न ये गर्जते-कूदते देखे गये और न सब वानरों की तरह—"मर्दि गर्द मिलवहि दससीसा।" आदि अपनी वीरता ही कहते थे, इसीसे उसने इन्हें थोड़ा बल कहा। औरों के बल इसने पूछ-ताछ करके जाने, पर इनका बल तो वह लंका में देख ही चुका था, इससे किसीसे पूछा भी नहीं। (ख) श्रीरामजी के गुण और स्वभाव उसकी दृष्टि में बस गये है, वह चाहता है कि रावण भी इनकी शरण आ जाय, तो अच्छा हो। यह तभी होगा जब श्रीरामजी को एवं उनकी सेना को अत्यन्त अमित और दुर्जय समझे, तब डरकर शरण में आवे। इसीमें उसका हित होगा। अतः, राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए वैसा कहा, यथा—"जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥" (लं० दो० २२), इसमे भी वही अभिप्राय है, यथा—"काज हमार तासु हित होई।" (लं० दो० १६), यह श्रीरामजी की आज्ञा थी। श्रीसीताजी को धैर्य देने के लिये राम-सेना का अपरिमित बल दिखाते हुए श्रीहनुमानजी ने भी ऐसा ही कहा है, यथा—"मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति तत्र वनौकसः। मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ॥ अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः। नहि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः॥" (वाल्मी० ५।३९।३८–३९), अर्थात् श्रीसुग्रीवजी की सेना में मेरे तुल्य और मुझसे बड़े ही सब वानर हैं, मुझसे छोटा कोई नहीं। जब मै ही यहाँ आ गया, तब उन महाबल वानरों का क्या कहना है ? मैं सबसे छोटा हूँ, तभी तो दूत बनाकर भेजा गया हूँ।

(४) 'द्विविद मयंद नील ··'—इनमें श्रीहनुमानजी को नहीं कहा, क्योंकि उन्हें थोड़े बल का कह चुका है और यहाँ बल-राशि की गणना कर रहा है।

ये कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥१॥
राम-कृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन-समान त्रैलोकहि गिनहीं॥२॥
अस मैं सुना श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर॥३॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहि जीतइ रन माहीं॥४॥

अर्थ—ये सब वानर श्रीसुग्रीवजी के समान (बलवान्) है, इनके समान करोड़ों (वानर) हैं और अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है ? ॥१॥ श्रीरामजी की कृपा से उनमें अतुल बल है, इसीसे वे लोक-त्रय को तृण के समान गिनते है ॥२॥ हे दशानन ! मैंने अपने कानों से ऐसा सुना है कि वानरों के यूथपतियों की संख्या अठारह पद्म है ॥३॥ हे नाथ ! उस सेना मे ऐसा कोई एक भी वानर नहीं है कि जो तुमको रण में नहीं जीत सकता हो ॥४॥

विशेष—(१) 'ये कपि सब सुग्रीव ··'—यहाँ 'कोटिन्ह' कहकर फिर 'नाना' भी कहा है। भाव

यह कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं। फिर उन कोटिन्ह के समान 'कोटिन्ह' हैं। पुनः उनके समान 'कोटिन्ह' है। इस प्रकार नाना कोटिन्ह है। ऐसा कहने का अभिप्राय यह कि मुख्य यूथपों को श्रीसुग्रीवजी के समान कहा। उपमान से उपमेय मे न्यूनता होती ही है, इस युक्ति से कुछ न्यूनता दिखाकर श्रीसुग्रीवजी की श्रेष्ठता भी रक्खी। इसी तरह क्रमशः न्यून भटों के लिये कहा गया है। पर सामान्य दृष्टि से सभी श्रीसुग्रीवजी के बराबर ही कहे जा रहे हैं, पर युक्ति से न्यूनाधिक्य की सँभाल है।

(२) 'राम-कृपा अतुलित बल···', यथा—"राम-कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा॥" (दो० ३४), अतुलित बल का स्वरूप दिखाते हैं कि वे त्रयलोक को तृण के समान गिनते है। पहले इन्हें बल-राशि कहा था, अब राम-कृपा से अतुलित बल कहा। रावण के सुभटों से यहाँ इनकी अधिकता है, यथा—"कुमुख अकंपन···एक-एक जग जीति सक, ऐसे सुभट निकाय॥" (बा० दो० १८), वे एक-एक जगत को जीत सकते हैं, पर ये वानर लोग तो तीनो लोकों को तृण के समान तुच्छ समझते है। जीतना-हारना तो कुछ ही न्यूनाधिक्य में कहा जाता है।

(३) 'पदुम अठारह जूथप···'—पहले समूह वानरों को असंख्य कहा था कि 'बदन कोटि सत···', 'सो मूरुख जो···' और यहाँ मुख्य-मुख्य यूथपों की गणना है, उसने औरों से सुनी है। स्वयं इन्हें भी नहीं गिन सका। एक-एक यूथ में कितने-कितने हैं, यह तो जान नहीं सका। अतः, सेना यहाँ के कथन मे भी असंख्य ही है।

'अस कपि एक न···'—जो सबसे थोड़ा बलवाला है, वही तुम्हें जीतकर चला गया, तब उन विशाल बली वानरों के बल के सामने तुम क्या कर सकोगे? दूत निर्भय होकर कह रहा है, रावण ने यहाँ क्रोध नहीं किया, क्योंकि उसने पहले ही विनय से निश्चित कर लिया है, यथा—"मानहु कहा क्रोध तजि तैसे।" (दो० ५३)।

परम क्रोध मीजहिं सब हाथा। आयसु पै न देहिं रघुनाथा॥५॥
सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥६॥
मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा। ऐसइ बचन कहहिं सब कीसा॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहतहहिं लंका॥८॥

अर्थ—वे सब परम क्रोध से हाथ मीजते हैं, पर श्रीरघुनाथजी उन्हें आज्ञा ही नहीं देते॥५॥ समुद्र को मछली और सर्पों के साथ हम सोख लेंगे, नहीं तो बड़े-बड़े पहाड़ों से भरकर उसे पूर (पाट) देंगे॥६॥ दशशीश रावण को मसलकर हम धूल में मिला देंगे, ऐसे ही वचन सब वानर कह रहे हैं॥७॥ सब (वानर और भालू) स्वाभाविक ही निडर हैं, गरज रहे हैं, डाँट (फटकार) रहे हैं, मानों लंकापुरी को निगल (खा) जाना चाहते हैं॥८॥

विशेष—(१) 'परम क्रोध मीजहिं···'—तुम्हें पा जायँ, तो जीत ही लें, पर नहीं पाते हैं, इसीसे सब हाथ मीजते हैं, क्योंकि बीच में अभी समुद्र है। उसके लिये भी अभी श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं दे रहे हैं, नहीं तो—

(२) 'सोखहिं सिंधु···'—सोख सकते हैं, पाट सकते है, पर क्या करें, प्रभु-आज्ञा बिना विवश है। रावण ने कहा था, यथा— "जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥" उसका यहाँ उत्तर है। पहले तो वे झष-व्यालों के सहित समुद्र को सोखना ही चाहते हैं, इससे उनके स्वरूप का अनुमान कर लो। सम्पूर्ण समुद्र को पर्वतों से पाट देना चाहते हैं, इससे उनके पराक्रम को समझ लो।

(३) 'मर्दि गर्द मिलवहिं···'—जब तक इस पार नहीं आ पाते, तभी तक हाथ मलते हैं। वे कहते है कि जैसे ही प्रभु-आज्ञा मिली कि उस पार जाकर हम रावण को मसल कर धूल मे मिला देगे। 'सब कीसा'—एक कहता है, मै रावण का मर्दन कर दूँगा, तो दूसरा कहता है, नहीं, मै हीं उसे धूल में मिला दूँगा, ऐसे ही सब कहते हैं।

(४) 'गर्जहिं तर्जहिं ····' —तुम्हारी शंका उन्हें कुछ नहीं है, गर्जते हैं तो मानों तुम्हें मारकर गर्ज रहे है। जब लंका की ओर क्रोध करके मुख फैलाते है तब जान पड़ता है कि वे लंका को निगल ही लेंगे। जब सैकड़ों योजन के झख-व्यालों के सहित समुद्र को सोख सकते हैं, तब लंका का निगलना उनके लिये कुछ अयुक्त नहीं।

दोहा—सहज सूर कपि भालु सब, पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम ॥५५॥

अर्थ—सब वानर-भालू स्वाभाविक ही शूर-वीर है, फिर उनके सिर पर (संरक्षक) समर्थ श्रीरामजी हैं, जो रावण क्या, रावण के करोड़ों कालों को भी युद्ध में जीत सकते हैं ॥५५॥

विशेष—(१) रावण ने कहा था—"पुनि कह भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥" उसका उत्तर दूत दे रहे है कि वे काल की प्रेरणा से नहीं आये, किन्तु उन श्रीरामजी की प्रेरणा से आये है कि जो करोड़ा कालों को भी जीत सकते है। रावण ने यह भी कहा था, यथा—'कि भइ भेंट कि फिरि गये ··'—यहाँ उसका उत्तर भी है कि वे डरकर फिर जानेवाले नहीं है, किन्तु उनके दल का एक-एक वानर भी रावण को जीत सकता है और वे तो करोड़ा कालों को भी संग्राम में जीत सकते है। 'संग्राम' का भाव यह कि काल ज्ञान और योग से भी जीता जाता है, यथा—"तुम्हहि न ब्यापत काल, अति कराल ··ज्ञान प्रभाव कि योग बल॥" (उ० दो० ९४), उसका यहाँ निषेध करते हैं कि योग-ज्ञान से नहीं, किन्तु संग्राम में जीत सकते है, यथा—"काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।" (उ० दो० ६१), रावण ने कहा था, वे कठिन काल के वश होकर आये एवं विभीषण की मृत्यु अति निकट आ गई है। उसपर दूत कहते है कि उनके ऐसे रक्षक हैं। 'पुनि सिर पर प्रभु राम'—वे स्वयं शूर हैं, फिर समर्थ स्वामी को पाकर अत्यन्त शूर-वीर हो गये है।

पं० रामकुमारजी ने यहाँ पर कुछ आवृत्तियाँ लिखी है—

आवृत्तियों द्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

दूतवाक्य		तात्पर्य
पूछेहु नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत···	१	सेना की असंख्यता
नाना बरन भालु कपि धारी।	२	सेना कि विचित्रता
बिकटानन बिसाल भय कारी।	३	वानरों की आकृति की भीषणता
द्विविद मयंद नील बलरासी।	४	प्रसिद्ध वीरों के नाम
अमित नाग बल बिपुल बिसाला।	५	वीरों का बल
पदुम अठारह जूथप बंदर।	६	यूथपों की संख्या
परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।	७	वीरों का उत्साह
सोखहिं सिंधु सहित झख-ब्याला। पूरहि ··	८	वीरों के भारी रूप और पराक्रम

दूतवाक्य		तात्पर्य
मर्दि गर्द मिलवहि दससीसा ।	९	वानरों की शूरता
गर्जहि तर्जहिं सहज असंका	१०	वानरों की निःशंकता
सिर पर प्रभु राम	११	वानरों की सनाथता

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न		उत्तर
कहसि न सुक आपनि कुसलाता	१	रावन दूत हमहि सुनि काना । कपिन्ह ··
पुनि कहु कबरि बिभीषन केरी ।···	२	जातहि राम तिलक तेहि सारा ।
पुनि कहु भालु कीस कटकाई । कहसि न रिपु दल	३	'पूछेउ नाथ कीस कटकाई' से 'सहज सूर···'तक
जिन्हके जीवन कर···भयउ मृदुल	४	सोखहि सिधु सहित झष ब्याला । पूरहिं ··
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी ।	५	राम तेज बल···सेस सहस० रामानुज दीन्ही···
'जासु मृत्यु आई अति नेरी ।	६	'रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहिं संग्राम ।'
कठिन काल प्रेरित चलि आई ।		तब उनके आश्रिता की मृत्यु क्यों होगी ?
जिन्हके हृदय त्रास अति मोरी ।		वे तो निश्शंक है ।

तृतीयावृत्ति

'सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा ।' का शाब्दिक निर्वाह—

श्रीहनुमान जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघा—'बारिधि पार गयउ'	सोखहिं सिधु सहित झष ब्याला ।
कछु मारेसि कछु मर्देसि	मर्दि गर्द मिलवहि दस सीसा
उलटि पलटि लंका सब जारी	मानहुँ ग्रसन चहतहहि लंका ।
इन्होंने लंका के वीरों को जीता	ये—'तृन समान त्रैलोकहि गिनहीं ।'

राम - तेज - बल - बुधि - बिपुलाई । सेष सहस सत सकहिं न गाई ॥१॥
सक सर एक सोखि सत सागर । तव भ्रातहि पूछेउ नयनागर ॥२॥
तासु बचन सुनि सागर पाहीं । माँगत पंथ कृपा मन माहीं ॥३॥

अर्थ—श्रीरामजी के तेज, बल और बुद्धि के उत्कर्ष एवं बहुतायत को लाखों (सहस्र मुखवाले) शेष भी नहीं कह सकते ॥१॥ वे अपने एक बाण से सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, पर नीति में चतुर हैं इससे उन्होंने तुम्हारे भाई से (सिधु उतरने का उपाय) पूछा ॥२॥ उसका वचन सुनकर वे सागर से मार्ग माँग रहे है, उनके मन में (समुद्र एवं श्रीविभीषणजी पर) कृपा है ॥३॥

विशेष—(१) 'राम-तेज-बल-बुधि-बिपुलाई । ··'—श्रीरामजी का तेज, यथा—"यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥" (गीता १५।१२), पराभिभवन सामर्थ्य को तेज कहते हैं, यथा—"राजत राम अतुल बल जैसे। तेज निधान लखन पुनि तैसे ॥" कंपहि भूप बिलोकत जाके ।" (बा० दो० २९२) । 'बल', यथा—"मरुत कोटि सत बिपुल बल···"। 'बुधि', यथा—"सारद कोटि अमित चतुराई । बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई ॥" (उ० दो० ९१), ब्रह्मा बुद्धि के देवता है, यथा—"अहंकार सिव बुद्धि अज" (लं० दो० १५) । अतः, ब्रह्माजी से कोटि गुणी निपुणता में इनकी बुद्धि का वैभव है । रावण ने इससे बुद्धि-कथन की बात नहीं कही थी, पर बल के साथ ही बुद्धि

भी अपेक्षित है, यथा—"बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।" (लं० दो० ५), "बुधि बल निसिचर परै न पाल्यो।" (लं० दो० ६८), "देखि बुद्धि बल निपुन कपि, कह्यो जानकी जाहु॥" (दो० १७), अर्थात् शत्रु-संघर्ष में बल के साथ बुद्धि भी अपेक्षित है, इससे शुक ने बुद्धि-विपुलता भी कही है। श्रीरामजी के दूत अंगद में भी बुद्धि के आठों अंग कहे गये हैं—वाल्मी० ४।५४।२। तब उनके स्वामी की बुद्धि-विपुलता का क्या कहना है। 'सेष सहस सत ···'—उनके दूत की करनी को भी शेषजी नहीं कह सकते, यथा—"नाथ पवनसुत कीन्ह जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी॥" (दो० २६), तब स्वामी के तेज आदि के वर्णन में लाखों शेषों का असमर्थ होना योग्य ही है। यहाँ 'कहसि न रिपु दल तेज बल ···' का उत्तर है।

(२) 'सक सर एक सोखि ···'—श्रीविभीषणजी ने कहा था—"कोटि सिंधु सोषक तव सायक।" (दो० ४९), ('सत' और 'कोटि' पर्याय है और अनेक वाची है।) वही सुनकर दूतों ने यहाँ कहा। भाव यह कि श्रीविभीषणजी से समुद्र उतरने का उपाय पूछा, तब यह न समझा कि वे समुद्र उतरने में असमर्थ हैं, वे तो एक बाण से ही करोड़ों सागर सोख सकते है, पर अपने कुल-गुरु सागर की मर्यादा रखते है। 'तव भ्रातहि पूछेउ ···'—श्रीविभीषणजी से मन्त्र पूछा है, तो यह न समझो कि वे नीति नहीं जानते, किन्तु वे तो नीति में निपुण है, यथा—"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥" (अ० दो० २५३)। तुम्हारे भाई को प्रतिष्ठा देने के लिये उनसे मन्त्र पूछा।

तेज, बल और बुद्धि की विपुलता के उत्तर क्रमशः—'सक सर एक सोषि सत सागर।' 'रावन काल कोटि कहँ, जीति सकहि संग्राम।' और 'तव भ्रातहि पूछेहु नयनागर।'—मन्त्री से विचार करना बुद्धिमानी है।

(३) 'तासु बचन सुनि ···'—भाव यह कि जिससे पूछे, उसकी उचित बात को मानना चाहिये। इसी बात की प्रार्थना इसने भी पहले ही कर ली थी, यथा—"नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥" 'मागत पंथ कृपा ···'—मन में कृपा है, उसका मान रखना है, नहीं तो उसे सोख लेते। श्रीविभीषणजी पर भी कृपा है, इसीसे उनके वचन को आदर दिया, नहीं तो इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने विरोध किया ही था कि सामर्थ्य से काम लीजिये।

सुनत बचन बिहँसा दससीसा। जौ असि मति सहाय कृत कीसा॥४॥
सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥५॥
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु - बल - बुद्धि थाह मैं पाई॥६॥
सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय-बिभूति कहाँ जग ताके॥७॥

अर्थ - यह वचन सुनते ही रावण हँसा (और बोला) जो उनकी ऐसी बुद्धि है, तभी तो उन्होंने वानरों को अपना सहायक बनाया॥४॥ और स्वाभाविक ही डरपोक विभीषणजी के वचन को दृढ़कर सागर से मचले हुए हैं (कि राह न देगा, तो हम डूब मरेंगे—इससे बाल-बुद्धि है)॥५॥ अरे मूर्ख! क्या झूठ ही बड़ाई करता है, मैंने शत्रु के बल-बुद्धि की थाह पा ली॥६॥ जिसके यहाँ विभीषण-सरीखा डरपोक मन्त्री है, उसको संसार में विजय और ऐश्वर्य कहाँ?॥७॥

विशेष—(१) 'सुनत बचन बिहँसा ···'—अभी उसे बोलने की राह मिली, इसीको लेकर निरादरार्थ हँसा। 'जौ असि मति', अर्थात् विभीषण को मन्त्री बनाया, इससे बुद्धि की थाह मिली। वानरों को सहायक बनाया, इससे बल की थाह मिली। अर्थात् उनमें बल-बुद्धि कुछ नहीं है, सागर से मचलने से भी बल-बुद्धि की हीनता सिद्ध की।

(२) 'सहज भीरु कर बचन ···'—नीति है कि डरपोक को मन्त्री न बनावे, विभीषण डरपोक है,

यथा—"अनुज हमार भीरु अति सोऊ।" (लं० दो० २२)। 'मचलाई'—श्रीरामजी ने कुलगुरु सागर को मार्ग देने का अनुरोध करते हुए दण्ड का भय भी लक्ष्य में रक्खा है, यथा—"अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा ॥ इति रामो धृतिं कृत्वा महाबाहुर्महोदधिम्। अभिशिष्ये ···" (बालमी० ६।२१।८-९), वैसा ही आगे किया भी है। अतः, यहाँ बालवत् मचलना कहना निन्दा करना है, यथा—"अगुन अमान जानि " (लं० दो० ३०)।

(३) 'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई।···'—जिसमें कुछ भी बल-बुद्धि नहीं, उन्हें 'बल-राशि' एवं 'तेज-बल-बुधि-बिपुलाई' कहता है। और, मैं जो बल-बुद्धि में अगाध हूँ, उसे कुछ नहीं गिनता है, इससे तू मूढ़ है। 'थाह मैं पाई'—तू तो अथाह कहता था, पर मैंने अपनी बुद्धि से थाह ले ली (बल होता, तो समुद्र सोख लेते, वानरों को सहायक न बनाते। बुद्धि होती, तो विभीषण ऐसे डरपोक को मन्त्री न चुनते।)

(४) 'सचिव सभीत बिभीषन जाके।···'—जब डरपोक मन्त्री युद्ध से भागता है, तब विजय कहाँ? जब शत्रु सब ऐश्वर्य ले लेता है, तब विभूति कहाँ? विभीषण वहाँ गया, तो उनसे भी कहा कि सागर से विनती करो। यहाँ रहा तो मुझसे कहता था कि शत्रु से विनती करो, इसीसे तो उसे मैंने निकाल दिया, पर उन्होंने उस डरपोक को रक्खा है और उसकी मति पर चल रहे हैं, तब उनका पता लग गया। राजा को अच्छी सेना और अच्छे मन्त्रियों से विजय और विभूति मिलती हैं। उनमें ये दोनों बातें ठीक नहीं हैं।

सुनि खल-बचन दूत रिस बाढ़ी। समय बिचारि पत्रिका काढ़ी ॥ ८ ॥
रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती ॥ ९ ॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन ॥१०॥

अर्थ—दुष्ट रावण के ऐसे वचनों को सुनकर दूत को क्रोध बढ़ आया और समय विचार कर उसने चिट्ठी निकाली (और चिट्ठी देकर बोला) ॥८॥ श्रीरामजी के छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी ने यह चिट्ठी दी है, हे नाथ! इसे बँचवा कर अपनी छाती ठंढी कीजिये ॥९॥ रावण ने हँसकर उसे बायें हाथ में लिया और अपने मन्त्री को बुलाकर वह शठ उसे बँचवाने लगा ॥१०॥

विशेष - (१) 'रिसि बाढ़ी'—श्रीरामजी की निन्दा सुनकर क्रोध बढ़ गया, यथा—"जब तेइ कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत तब भयउ कपिंदा॥" (लं० दो० ३०), रिस तो पहले से ही थी, जब उसने हँसकर प्रश्न किया था, अब क्रोध बढ़ गया। राम-निन्दक को तलवार से मारना चाहिये। इस लिफाफे रूप म्यान से पत्रिका रूपी तलवार निकाली, इससे उसका हृदय विदीर्ण होगा, यथा—"सुनत सभय मन ··" आगे कहा है। 'समय बिचारि'—जब उसने दूत के सब वचनों को काट दिया, तब इसने पत्रिका देने का अवसर देखा कि जिससे इसके वचन सत्य हों।

(२) 'रामानुज दीन्ही यह पाती। '—श्रीलक्ष्मणजी ने अपना परिचय-सहित पत्र देने को कहा था, यथा—'लछिमन बचन बाँचु कुलघाती।' इसीसे उनका नाम कहकर दिया। श्रीलक्ष्मणजी ने कहा था 'बाँचु', पर दूत कहता है—'बचाइ', इसका अभिप्राय यह है कि वह जानता है कि दुष्ट ठीक-ठीक न बाँचेगा, इससे दूसरों से बचवाना कहा है कि सब सभावाले भी सुन लें, जिससे रावण को लज्जा भी हो। और मन्त्री लोग भी सुन लें तो लज्जित हों, जो कहते हैं—"नर बानर केहि लेखे माहीं।" ऊपर से यह भी दिखाया कि शत्रु की चिट्ठी है। अतः, आप दूसरे से पढ़ावें। 'जुड़ावहु छाती' —यह व्यंग्य है, इससे उसकी छाती जलेगी, यथा—"सुनत सभय मन···" आगे कहा है।

(३) 'बिहँसि बाम कर लीन्ही···'—बाम (शत्रु) की चिट्ठी है, अतएव निरादर के लिये हँसकर

और बायें हाथ से ली, पुनः उसको दूसरे से बँचवाया। पत्रिका की बात न मानेगा, किन्तु शठता से उड़ा देगा, इसीसे शठ कहा है।

दोहा—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ, जनि घालसि कुल खीस।
राम-बिरोध न उबरसि, सरन बिष्नु अज ईस॥
की तजि मान अनुज इव, प्रभु - पद - पंकज - भृंग।
होहि कि राम सरानल, खल कुल - सहित पतंग॥५६॥

अर्थ—अरे शठ! तू बातों से ही मन को प्रसन्न करके अपने कुल का नाश मत न कर। श्रीरामजी से विरोध करके तू ब्रह्मा, विष्णु और महेश की भी शरण जाने पर नहीं बचेगा॥ या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाई की भाँति प्रभु श्रीरामजी के चरण-कमलों का भ्रमर बन और या तो, अरे दुष्ट श्रीरामजी के बाण-रूपी अग्नि में कुल के साथ पतंग (शलभ) हो, अर्थात् शरण न आने से कुल के साथ नष्ट होगा। अतः, दो में एक जो रुचे, कर॥५६॥

विशेष—(१) 'बातन्ह मनहि रिझाइ···'—भाव यह कि वचन और मन से ही शूर बना बैठा है, कर्म (करनी) कुछ न हो सकेगा। कुल के साथ नाश होगा। पुलस्त्य ऋषि का उत्तम कुल है, इसलिये कुल नाश पर भी खेद होता है, इसीसे कहते हैं। 'राम-बिरोध न उबरसि···' यहाँ 'बिष्नु अज ईस' कहा है। विष्णु को पहले कहा है, क्योंकि रक्षण-धर्म उन्हींका मुख्य है। अन्यत्र रावण ही के प्रसंग में शिव ब्रह्मा भी प्रथम कह गये हैं, यथा—"सकर सहस बिष्नु अज तोहीं। राखि न सकहि ··" (दो०२२), तथा—"ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥" (लं० दो० २६), तीन बार में एक-एक को प्रधान लिखकर तीनों को समान भी सूचित किया। अन्यत्र भी कहा है, यथा—ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रोमहेन्द्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य।" (बाल्मी० ५।५१।४४)।

बातों में मन का रिझाना यह कि मैंने शिव-ब्रह्मा से ऐसे-ऐसे वर पाये हैं, हमारे अमुक-अमुक वीर हैं। दिक्पाल अधीन हैं, नर-वानर किस गणना में है? मैंने कैलास तक को उठा लिया, त्रिदेव मुझसे डरते हैं, इत्यादि।

(२) 'की तजि मान···'—या तो भ्रमर जैसे सुख रूपी मकरन्द पानकर, अन्यथा पतंग बनकर ताप सह। भ्रमर के जोड़ में पतंग कहा है, दो ही गतियाँ हैं।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥१॥
भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग-बिलासा॥२॥
कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समुझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥३॥
सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥४॥

अर्थ—पत्रिका सुनकर रावण मन में डरा, पर (वह डर छिपाने के लिये) मुख से मुसकुरा कर और सबको सुनाकर कहता है कि जैसे कोई पृथ्वी पर पड़ा हुआ (व्यक्ति) आकाश को हाथ से पकड़ता हो, वैसे ही इस छोटे तपस्वी का वाग्विलास मात्र (वचन-चातुरी-मात्र) है॥२॥ शुक ने कहा कि हे नाथ! अपने अभिमानी स्वभाव को छोड़कर समझिये, सब वाणी सत्य हैं॥३॥ क्रोध छोड़कर मेरे वचन सुनिये, हे नाथ! श्रीरामजी से वैर छोड़ दीजिये॥४॥

विशेष—(१) 'सुनत सभय मन ··'—मन का भय चेहरा से प्रकट हो जाता, उसे छिपाने के

लिये मुख से मुसकुराया, (इस प्रसंग में इसका मुसुकुराना चार बार है।) किन्तु मुसकुराना भी थोड़े ही लोगों ने देखा होगा, इसलिये सबको सुनाकर 'दसानन' दसों मुखों से बोल उठा, यथा—"दसमुख बोलि उठा अकुलाना।" (ल० दो० ४), जहाँ घबराकर बोलना कहा गया है, वहाँ ही इस प्रकार बोलना है।

(२) 'भूमि परा कर···'—पृथ्वी पर से बैठकर या खड़े होकर तो कोई आकाश पकड़ ही नहीं सकता, फिर भूमि में पड़े हुए की क्या बात ? इसी तरह कोई समर्थ राजा अपनी सेना-सहित तो हमें जीत ही नहीं सकता, इन राज्य-भ्रष्ट तपस्वियों की क्या बात है, भूमि पर पड़ा हुआ उठ भी नहीं सकता, वैसे स्वयं बाप-दादे का राज्य भी नहीं ले सकते। आकाश पकड़ने की भाँति मुझ त्रिलोक-विजयी को जीतने की डींग हाँकते हैं। केवल बातों की डींग है। 'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ' का उत्तर 'लघु तापस कर बाग बिलासा' है।

(३) 'सत्य सब बानी'—उसने बागविलास कह दिया, यह उसका खण्डन करता है कि सब वचन सत्य हैं, ऐसा ही इस शुक ने भी मुखाग्र कहा था, उसे भी पुष्ट कर रहा है। 'समझहु छाड़ि···'—अभिमानी किसीकी शिक्षा नहीं मानता, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥" (कि० दो० ८), इसलिये अभिमान छोड़कर समझना कहा। वचन का आशय गम्भीर है, इससे भी समझना कहा है। 'सुनहु ··परिहरि क्रोधा।', यथा—"सुनहु बचन प्रिय परिहरि क्रोधा॥" (ल० दो० ५), क्रोध छोड़ने पर ही यथार्थ बात समझ में आती है।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही॥६॥
जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे॥७॥
जब तेहि कहा देन बैदेही। चरन-प्रहार कीन्ह सठ तेही॥८॥
नाइ चरन सिर चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ॥९॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजी का स्वभाव बहुत ही कोमल है, यद्यपि वे सम्पूर्ण लोकों के राजा हैं॥५॥ वे प्रभु मिलते ही तुमपर कृपा करेंगे, तुम्हारा एक भी अपराध वे अपने हृदय में नहीं धरेंगे॥६॥ श्रीरघुनाथजी को जनक-पुत्री सीता दे दीजिये, हे प्रभो! इतना मेरा कहना कीजिये॥७॥ उसने जब श्रीवैदेहीजी को देने के लिये कहा, तब उस दुष्ट रावण ने उसे लात मारी॥८॥ चरणों में सिर नवाकर वह वहाँ चला गया, जहाँ दया के सागर रघुनायक श्रीरामजी (समुद्र तट पर बैठे) है॥९॥

विशेष—(१) 'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ···'—श्रीरामजी का स्वभाव दूतों के चित्त में प्रविष्ट हो गया है, यथा—"प्रगट बखानहि राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥" (दो० ५१), इसीसे यहाँ भी कह रहे हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष देखा और सुना है, यथा—"जौ नर होइ चराचर द्रोही। आवे ··" इत्यादि। थोड़ा भी आधिपत्य पाकर लोग रजोगुणी होकर निष्ठुर हो जाते हैं, पर वे सम्पूर्ण लोकों के राजा होते हुए भी अति कोमल स्वभाव के हैं।

(२) 'मिलत कृपा तुम्ह पर···'—इसने श्रीरामजी के श्रीमुख वचन सुने हैं, यथा—"कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहि ताहू॥" वही कह रहा है। दूसरे राजाओं का अपराध करके उनसे मिलने जाय, तो वे बदले में क्रोध करते हैं, पर श्रीरामजी एक भी तुम्हारा अपराध न देखेंगे। अपराध बहुत है—सुर-मुनियों से द्रोह, चराचर-मात्र से द्रोह, श्रीसीताजी का हरण, जटायु-वध, श्रीहनुमानजी की पूँछ जलाना, श्रीविभीषणजी का अपमान, इत्यादि।

(३) 'जनकसुता रघुनाथहि दीजे।···'—यह सन्देश श्रीलक्ष्मणजी का था, यथा—'सीता देइ

मिलहु' उन्होंने इसे मुखाग्र कहने को कहा था, पर इसने अपनी ओर से कहा, क्योंकि जानता है कि जो कोई भी इससे श्रीसीताजी के देने की बात कहता है, उसीपर वह बिगड़ता है। श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहूँगा, तो यह उन्हें गाली देगा, जो मुझे न सुनना चाहिये, यथा—"हरिहर निंदा सुनहिं जो काना। होइ पाप गोघात समाना॥" (लं० दो० ३०), इसलिये अपनी ओर से कहा, यथा—'एतना कहा मोर प्रभु कीजै।' तब 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यह भी यदि वह श्रीलक्ष्मणजी की ओर से कहता तो न मारा जाता। जैसे श्रीविभीषणजी ने जब श्रीपुलस्त्यजी की ओर से श्रीसीताजी के देने को कहा था, तब उसने नहीं मारा। जब अपनी ओर से कहा—'राखहु मोर दुलार। सीता देहु राम कहँ ··" तब उसने मारा है।

(४) 'जब तेहि कहा देन···'—शत्रु की बड़ाई की, रावण की न्यूनता कही, यहाँ तक कि उस दल का एक वानर भी तुम्हें जीत सकता है, गर्द में मिला सकता है, पर उसपर क्रोध नहीं किया, क्योंकि पहले ही वचनबद्ध हो चुका था। फिर अभीतक उसने दूत के योग्य सन्देशा कहा था, पर जैसे ही इसने उधर की बात पूरी कर अपनी ओर से श्रीसीताजी के देने की बात कही कि 'चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही।' उपदेश देने से चिढ़ता है, यह पूर्व कहा गया। यद्यपि इसने विनय पूर्वक कहा था, तथापि उसने नहीं माना, इसीसे शठ कहा गया। शठ से विनय करना व्यर्थ हो जाता है, यथा—"सठ सन विनय ·····ऊसर बीज···"—यह आगे कहा है। शुक ने ही कहा, क्योंकि यह प्रधान था, शेष दूत चुप थे। उन्हें कुछ नहीं हुआ।

(५) 'नाइ चरन सिर ··'—इसने पहले भी आकर प्रणाम किया था, यथा—"रावन चरन सीस तिन्ह नाये।" और अपमान होने पर भी यहाँ 'नाइ चरन सिर' कहा गया है इसने अपना धर्म निबाहा है। जैसे श्रीविभीषणजी ने आदि-अन्त में प्रणाम करते हुए लंका-त्याग किया है। श्रीरामजी को 'कृपा-सिंधु' कहा, क्योंकि इसकी इस धारणा के अनुसार इसपर वे कृपा करेंगे।

करि प्रनाम निज कथा सुनाई। राम-कृपा आपनि गति पाई॥१०॥
रिषि अगस्ति की श्राप भवानी। राछस भयेउ रहा मुनि ज्ञानी॥११॥
बंदि राम-पद बारहि बारा। मुनि निज आश्रम कहँ पगु धारा॥१२॥

दोहा—बिनय न मानत जलधि जड़, गये तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होइ न प्रीति॥५७॥

अर्थ—(शुक ने) श्रीरामजी को प्रणाम करके अपनी कथा सुनाई और उनकी कृपा से उसने अपनी गति पाई, (अर्थात् अपने पूर्व के मुनि-स्वरूप को प्राप्त हो गया)॥१०॥ हे भवानी! यह पहले ज्ञानी मुनि था, फिर अगस्त्य ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था॥११॥ श्रीरामजी के चरणों की बार-बार वन्दना करके वह मुनि हो अपने आश्रम को चला गया॥१२॥ जड़ समुद्र विनती नहीं मानता, तीन दिन बीत गये, तब श्रीरामजी क्रोधित होकर बोले कि बिना डर के प्रीति नहीं होती॥५७॥

विशेष—(१) 'निज कथा सुनाई'—कथा यह कि मैं रावण का दूत हूँ, विभीषणजी के पीछे उसने मुझे भेजा था, वानरों ने यहाँ पहचान लिया और मेरे नाक-कान काटने लगे, तब मैंने आपकी शपथ दी। इसपर श्रीलक्ष्मणजी ने मुझे छुड़ा दिया और रावण के लिये मुझे पत्रिका दी और मुखाग्र भी सन्देश कहा। मैंने जाकर उसे पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजी को दे दीजिये और श्रीरामजी की शरण हो जाइये। इसपर उसने मुझे लात मारी, तब मैं भागकर आपकी शरण

में आया हूँ। इतना कहते ही वह श्रीराम-कृपा से मुनि हो गया। प्रणाम-मात्र में प्रभु ने उसे कृतार्थ किया, यथा—"सकृत प्रनाम किये अपनाये।" (अ० दो० २९८), "मंगल मूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगल को खनै। (गी० सु० ४०), "भलो मानिहै रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (वि० १३५)।

(२) 'रिषि अगस्ति की श्राप ···'—शुक पूर्व जन्म मे ब्राह्मण था, वह पत्नी के साथ वन में रहता था। वन मे राक्षसों का नाश करने के लिये इसने बहुत से यज्ञ किये, इससे राक्षसों से इसे शत्रुता थी। वज्रदन्त नामक राक्षस इसका नाश करने के लिये इसके पीछे लगा रहता था। एक दिन शुक के यहाँ श्री-अगस्त्यजी आये। अतिथि जान शुक मुनि ने उन्हें निमन्त्रित किया। जब अगस्त्यजी स्नान करने गये, तब वज्रदन्त ने अगस्त्यजी का रूप धर शुकमुनि से आकर कहा कि मुझे बकरे का मांस खाना है, वही बनाना, यह कहकर वह चला गया। शुक ने वही बनवाया। अगस्त्यजी स्नान करके आये, तो वज्रदन्त ने शुक की स्त्री का रूप धरकर अगस्त्यजी को नर का मांस परोस दिया और स्वय अन्तर्धान हो गया। नर-मांस देख-कर अगस्त्यजी ने क्रोध करके श्राप दिया कि शुक! तू राक्षस हो जा, और नर-मांस खाया कर। शुक ने कहा—मेरा दोष नहीं है, आपने ही कहा था—मांसाहार को। अगस्त्यजी ने ध्यान से जाना, तब अनुग्रह किया कि तुम राक्षस हो रावण के सेवक होगे। वह तुम्हें गुप्तचर बना भेजेगा। लौटकर रावण को तत्त्वोपदेश कर श्रीराम-दर्शनों से शाप-मुक्त होगे।—यह कथा अध्यात्मरामायण में इसी प्रसंग पर है।

'रहा मुनि ज्ञानी'—ज्ञान का अभिमानी था, भक्त न था, इसीसे इसका पतन हुआ, यथा—"जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी। ते पाइ···" (उ० दो० १२), मुनि-स्वरूप पा जान पर ग्रन्थकार अब उसे 'मुनि' कहते है। 'बंदि रामपद बारहि बारा।···'—कृतज्ञता से, यथा—"एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार-बार हरि चरन परी।" (बा० दो० २११), इसने बार-बार वन्दना की, पर श्रीरामजी मुख से नहीं बोले, क्योंकि मौन-व्रत में हैं।

(३) 'बिनय न मानत जलधि···'—तीन दिन का संकल्प करके बैठे थे। बीत जानेपर कोप किया। विनय न मानने से उसे 'जड़' कहा, क्योंकि वह जड़त्व करनी में ही स्थित है, यथा—"गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करणी॥" (दो० ५८), 'बोले राम सकोप तब'—अब भी पहले वचन-मात्र का कोप प्रकट कर रहे है, क्योंकि मन में उसपर कृपा है, यथा—"माँगत पंथ कृपा मन माहीं।" (दो० ५५), नहीं तो ऐसा कहने की आवश्यकता न थी। जड़ प्राणी भय से प्रीति करते हैं, विनय से नहीं, यह भी जाना गया।

श्रीहनुमानजी राम-दूत हैं, तब भी उनकी सेवा इसने की थी, क्योंकि उनका पुरुषार्थ पहले ही इसी किनारे देख लिया था, पर श्रीरामजी के माधुर्य में इसे मोह हो गया। जैसे गंगाजी का मोह होना कहा गया था।—अ० दो० १०० चौ० ५ देखिये; इसीसे यह पुरुषार्थ देखना चाहता है। तब कालरूप रावण के समीप जाने देगा। इसीपर आगे श्रीरामजी का भारी बल-पौरुष देखकर इसे हर्ष होना कहा गया है, यथा—"देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयो सुखारी॥" दो० ५९), पहले भी इसपर लिखा जा चुका है।—दो० ५० चौ० २-६ देखिये। 'भय बिनु होइ न प्रीति'—इस कथन से पाया गया कि प्रीति होने के लिये ऊपर से उसपर क्रोध करते हैं, भीतर से क्रोध नहीं है, यथा—"भय देखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।" (कि० दो० १८)।

लछिमन बान - सरासन आनू। सोखउँ बारिधि बिसिख कृसानू॥१॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥२॥
ममतारत सन ज्ञान - कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि - कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥४॥

अर्थ—हे लक्ष्मणजी ! धनुष-बाण ले आओ, मैं अग्निबाण से सागर को सोख लूं ॥ १ ॥ मूर्ख से विनती करना, कुटिल से प्रीति करना, स्वाभाविक कंजूस से सुन्दर नीति कहना ॥ २ ॥ ममता में अनुरक्त मनुष्य से ज्ञान की कहानी कहना, अत्यन्त लोभी से वैराग्य का बखान करना ॥ ३ ॥ क्रोधी से समत्व और कामी से हरि-कथा कहने का उसी प्रकार फल होता है, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बीज बोने का, अर्थात् बीज व्यर्थ जाता है, जहाँ तृण भी नहीं उगता, वहाँ और बीज कैसे जमेगा ? ॥ ४ ॥

विशेष—(१) 'लछिमन बान-सरासन आनू ।···'—श्रीलक्ष्मणजी सदा सेवा में सन्नद्ध रहते है। अतः, श्रीरामजी के पास थे, श्रीरामजी का धनुष-बाण भी उन्हींके पास था, क्योंकि वे निरायुध होकर व्रत में बैठे थे। वारि का सोखना कहना है, इसीसे समुद्र को वारिधि कहा। यहाँ वचन-द्वारा भय दिखाते है।

(२) 'सठ सन बिनय···'—शठ से विनय करना यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है, इससे इसे प्रथम कहा, शेष इसीकी पुष्टि के लिये उदाहरण हैं। महर्षिजी ने भी इसी प्रसंग पर लिखा है, यथा—"प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता ॥ १४ ॥ असामर्थ्यकला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणा ।" (वाल्मी० ६।२१), अर्थात् शान्ति, क्षमा, सरलता और प्रियवादिता, ये सज्जनों के गुण है, बुरे आदमियों के साथ इनका प्रयोग निरर्थक है, वे इन शान्ति आदि गुणवालों को असमर्थ समझ लेते हैं। श्रीविभीषणजी की सम्मति से आपने तीन दिनों तक प्रार्थना की, पर इसने नहीं सुनी, इसीसे इसे शठ कहते है, यथा—"श्रवन सुनी सठ ताकरि बानी। बिहँसा···" (दो० ३६), कुटिल से प्रीति व्यर्थ है, यथा—"मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहहि न मोहि सुहाई ॥" (उ० दो० १०५), सहज कृपण वह है, जिसकी कृपणता स्वतः स्वभाव से ही है, वह नहीं छूटती, उससे सुन्दर नीति कहना व्यर्थ है। जिसकी कृपणता किसीके संग से हुई रहती है, वह सुन्दर नीति से छूट जाती है।

(३) 'ममता रत सन ···'—ममता अँधियारी-रूप है, यथा—"ममता तरुन तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥" (दो० ४६), ज्ञान प्रकाश रूप है, यथा—"सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञान यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥" (गी० १४।११), इससे दोनों एकत्र नहीं रह सकते, यथा—"ममता त्याग करहि जिमि ज्ञानी।" (कि० दो० १५), पूर्ण ममतावाले से ज्ञान-कथन व्यर्थ हो जाता है। वैराग्यवान को ज्ञानोपदेश लगता है, यथा—"बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू ॥" (अ० दो० १७७), वैराग्य का बाधक लोभ है, वही—"अति लोभी सन बिरति बखानी।" यहाँ पर कहा गया है। ऊपर कृपण कहा गया और फिर यहाँ लोभी कहा गया, दोनों में यह अन्तर है कि कृपण अपनी वस्तु दूसरे को नहीं देता और लोभी दूसरे की भी वस्तु ले लेता है। कृपणता न देने में और लोभ धन जुटाने में है। 'क्रोधिहि सम'—क्रोध द्वैत-बुद्धि से ही होता है, यथा—"क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।" (उ० दो० १११), 'कामिहि हरि कथा'—कामी को हरि-कथा सुहाती ही नहीं, यथा—"हहँ न बिषय कथा रस नाना ॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे।" (बा० दो० ३७), लोभी के साथ 'अति' विशेषण भी दिया है, क्योंकि यह अत्यन्त बढ़ता जाता है, यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।" (लं० दो० १००), लोभ के विषय में 'निन्नानवे का फेर' प्रसिद्ध है। 'बखानी' क्रिया को सबोंके साथ लगा लेना चाहिये। अथवा, क्रिया न देकर कवि ने यह भी लक्षित किया है कि इनकी क्रिया करे ही नहीं, जैसे कि शठ से विनय करना। इसमें 'करना' क्रिया नहीं दी है। अतः, शठ से विनय करनी ही नहीं चाहिये। ऐसे ही औरों में लगा लेना चाहिये। ऊसर भूमि कठोर होती है, उसमें बीज उगानेवाला जल प्रवेश नहीं कर पाता। ऐसे ही शठता एवं ममता आदि हृदय में पूर्ण रहती हैं, तो तद्विरोधी बातों से उपदेश हृदय को रुचते ही नहीं।

यहाँ शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, अति लोभी, क्रोधी और कामी ये सात ऊसर भूमि हैं। विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान कहानी, विरति, सम और हरि-कथा ये सात बीज हैं। बीज सात कहे गये, क्योंकि सप्त धान्य प्रसिद्ध है। सात ही दृष्टान्त शठ आदि के इससे है कि सागर सात हैं; और ये सब सागर के प्रति ही कहे जा रहे है।

कवि लोग एक विषय की पुष्टि के लिये लोकसिद्धात्मक कई दृष्टान्त देते हैं, जैसे शूर्पणखा ने रावण के प्रति 'राजनीति बिनु' की पुष्टि मे कई उदाहरण दिये है। यह आवश्यक नहीं कि सब बाते प्रस्तुत प्रसंग मे ही घटित हों। इससे यहाँ पर सागर में ही शठता के अतिरिक्त सबों के घटाने का श्रम करना अनावश्यक है।

असि कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा ॥५॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि - उर अंतरज्वाला ॥६॥
मकर उरग झष गन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने ॥७॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आयेउ तजि माना ॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी ने ऐसा कहकर धनुष चढ़ाया, श्रीलक्ष्मणजी के मन को यह मत अच्छा लगा ॥५॥ प्रभु श्रीरामजी ने धनुष पर कठिन भयंकर बाण चढ़ाया, तब सागर के हृदय मे अग्नि की ज्वाला हो उठी ॥६॥ मगर, साँप और मछलियों के वृन्द व्याकुल हो गये, जब समुद्र ने समस्त जीवों को जलते हुए जाना ॥७॥ तब वह सोने के थाल मे भाँति-भाँति की मणियों को भरकर और ब्राह्मण-रूप से अभिमान छोड़कर आया ॥८॥

विशेष—(१) 'असकहि रघुपति चाप चढ़ावा।···'—प्रभु ने सागर पर मन, वचन और कर्म से कृपा की, यथा—'बैठे तट प्रभु दर्भ डसाई।'—कर्म से उसे प्रतिष्ठा दी। 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'—मन से कृपा है और यहाँ 'असि कहि'—यह वचन से कृपा की कि डरकर अब भी मार्ग दे दे।

जब न आया, तब दण्ड देने पर उद्यत हुए। कराल बाण अभी छोड़ा नहीं, केवल अनुसन्धान मात्र से उसमें ज्वाला प्राप्त कर दी कि जिससे घबराकर आ जाय, अन्यथा बाण छूटते ही सागर सूख जायगा, यथा—"सक सर एक सोखि सत सागर।" (दो० ५५), यहाँ तक कृपा है।

यह मत श्रीलक्ष्मणजी को रुचा। श्रीलक्ष्मणजी के मन में तो यह भाव पहले ही से था, यथा—"सोखिय सिंधु करिय मन रोसा।" वही यहाँ घटित हुआ, इससे इनके मन को भाया। समुद्र ने श्रीरामजी का अपमान किया, विनय पर न आया। तब इन्हें क्रोध हुआ, पर प्रभु उसे मान दे रहे हैं, अतएव उनके विरुद्ध उसे दण्ड न दे सकते थे। जब प्रभु ने ही वैसा कहा तब प्रसन्न हुए। पूर्व कहा गया था, यथा—"मंत्र न यह लछिमन मन भावा।" उसीके जोड़ मे यहाँ कहा गया, यथा—"यह मत लछिमन···"।

(२) 'संधानेउ प्रभु बिसिख·· '—यहाँ सामर्थ्य प्रदर्शन सम्बन्ध से प्रभु कहा गया है। 'कराला' कहकर उसका कार्य 'उठी उदधि उर ·· ' से दिखाया। 'अंतर'—उसके सर्वांग में, समुद्र भर में।

(३) 'मकर उरग झखगन अकुलाने।···'—समुद्र का जल खौलने लगा, तब उसमे के जीव व्याकुल हो उठे। इन आश्रितों की पुकार से उसके कान खुले। जब श्रीरामजी ने व्रतपूर्वक विनय की, तब उसने नहीं सुना था।

(४) 'कनक थार भरि मनिगन नाना।···'—मणि गण अत्यन्त मूल्यवाले थे, इसीसे सोने के थाल में रखकर लाया। समुद्र में रत्न होते है, यथा—"डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।" (उ० दो० २२)। इसीसे वह इन्हें भेंट के लिये लाया, क्योंकि राजा के सामने खाली हाथ न जाना चाहिये, यथा—"रिक्त

पाणिर्न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्।" यह प्रसिद्ध है। मणि ही लाया, क्योंकि जब १४ रत्न निकले थे, तब भगवान् ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मी को ही लिया है। समझा कि हम नाना मणि देंगे तो अवश्य प्रसन्न होंगे, पर श्रीरामजी तो दीनता पर रीझते हैं। अतः, इनके विनीत वचन पर ही प्रसन्न होंगे। 'विप्ररूप आयउ', क्योंकि इनका कुल ब्रह्मण्य है, यथा—"सुर महिसुर हरिजन अरुगाई। हमरे कुल इन्ह पर नहीं सुराई॥" (बा० दो० २७२), भगवान् नर-रूप में हैं, इससे नर-रूप में आया।

'तजि माना', क्योंकि मान छोड़कर शरण होने से प्रभु प्रसन्न होते हैं, यथा—"की तजि मान अनुज इव, प्रभु-पद-पंकज भृंग। होहि···" (दो० ५६), यह भी भाव है कि प्रभु मान देते थे, तब न सुना। अब मान गँवाकर आया।

दोहा—काटेहिं पइ कदरी फरइ, कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु, डाटेहि पइ नव नीच॥५८॥

अर्थ—केला काटने ही पर फलता है, चाहे कोई करोड़ों यत्न से उसे सींचे। हे खगेश गरुडजी! सुनिये, नीच विनती से नहीं मानता, वह तो डाँटने पर ही नम्र होता है। तात्पर्य यह कि नीचों से विनती न करे, प्रत्युत डाँट कर काम ले॥५८॥

विशेष—श्रीरामजी तीन दिनों तक बैठे रहे, विनती की, फिर वचन मात्र से डर भी दिखाया, पर सब उपाय व्यर्थ ही हुए। जब दण्ड देने पर तुल गये तब वह नम्र होकर आया। जब उपाय व्यर्थ हुए, तब ऊसर बीज की उपमा दी और जब दण्ड से सफलता देखी, तब सफल केले की उपमा दी।

अलंकार—'दृष्टान्त', क्योंकि यहाँ नीच से एकता दिखाई गई है।

'कोटि जतन कोउ सींच'—विनती और सेवा करना, मान देना यही सींचना है। साम-नीति सींचना और दण्ड-नीति काटना है। कहा भी है, यथा—"नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटप गति, पेखहु पनस रसाल॥" (दोहावली ३४०)।

'काटेहि पइ कदरी फरइ'—साधारण रीति में केले का वृक्ष काट देने पर कुछ नहीं रह जाता, फिर इस दृष्टान्त की सार्थकता कैसे होगी? समाधान ये हैं—(क) 'फरइ' का तात्पर्य यहाँ उत्तम एवं विशेष फल लगने में है। सभी केलों के वृक्ष फल जाने पर जड़ से काट दिये जाते हैं, तब उनकी सन्तान रूप अन्य वृक्षों में पूर्व वृक्षवत् उत्तम फल लगते हैं, अन्यथा दो-तीन पुश्तों में छोटे होते हुए कुछ नहीं फलते। सन्तानों का फलना उन्हींका फलना है, यथा—"आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।" (महा० आदि० ७४।४६)। (ख) हिन्दी विश्वकोष में कदली प्रसंग में लिखा है—(१) फाल्गुन मास में कदली को स्थूल मूल काटकर लगाने पर उसमें इतना फल आता है कि कृषक का स्कन्ध ढोते-ढोते टूट जाता है। इस प्रकार लगाने पर कदली अति शीघ्र फलती है और उसके काण्ड एवं गुच्छ की शक्ति बढ़ती है। (२) केले की बेल—केले का एक पौधा किसी जगह लगाया जाय। इसके मूल में जबतक किल्ला (कल्ला) न निकले, कुछ न करना चाहिये। किल्ला निकलने पर उसे तुरत नष्ट कर देना चाहिये। पीछे मूल वृक्ष को जड़ से एक हाथ छोड़कर समस्त काट डालना चाहिये और प्रतिदिन उसमें एक घड़ा जल देते रहना चाहिये, इससे फिर पौधा पनपता है। एक हाथ बढ़ने पर पुनः पूर्व कर्त्तित स्थान से काटकर प्रतिदिन उसमें जल डालना चाहिये। बार-बार काटते-काटते जब मोचा निकले, तब न काटकर मूल वृक्ष की मिट्टी को ढँक देना चाहिये। फिर काण्ड और मोचे दोनों बढ़ेंगे, किन्तु इधर-उधर अवलम्बन न पा और ऊर्ध्व को उच्च न जा भूमि पर ही फैल पड़ेंगे। इससे वह केला लता की भाँति देख पड़ेगा। इसपर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे ॥१॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी ॥२॥
तव प्रेरित माया उपजाये। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये ॥३॥
प्रभु-आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई ॥४॥

अर्थ—समुद्र ने डर से प्रभु श्रीरामजी के चरण पकड़कर कहा—हे नाथ! मेरे सब अवगुणों को क्षमा कीजिये ॥१॥ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इनकी, हे नाथ! स्वाभाविक ही जड़ करतूत है ॥२॥ सब ग्रन्थ ऐसा कहते है कि आपकी प्रेरणा से माया ने सृष्टि के लिये इनको उत्पन्न किया है ॥३॥ हे प्रभो! जिसको जैसी आपकी आज्ञा है, वह उसी प्रकार रहते हुए सुख पाता है, अर्थात् पाँचो यदि अपना-अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी इन्हें दण्ड देने लग कि हमें मार्ग दो, हमें मत जलाओ, इत्यादि ॥४॥

विशेष—(१) 'समय सिंधु गहि पद प्रभु केरे।···'—अभी प्रभु बाण का सन्धान किये हुए हैं, इससे समुद्र डरा हुआ है कि कहीं छोड़ न दें और मैं सूख जाऊँ। इसलिये मन, वचन, कर्म से शरण हुआ। 'समय'—मन की, 'गहि पद'—कर्म की और 'छमहु नाथ ···'—यह वचन की शरणागति है। 'सब अवगुन'—आपका गौरव न समझा, विनय न मानी, तीन दिन प्रतीक्षा कराई, सेवा में न आया, इत्यादि। अपराधों को स्वीकार करके क्षमा चाहता है, फिर आगे अपनी सफाई भी दी है कि मेरा दोष नहीं है—

(२) 'गगन समीर अनल जल ···'—यहाँ ये पाँचों सृष्टि-क्रम से कहे गये है कि इस क्रम से पाँचो की उत्पत्ति होती है, यथा—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः॥ आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः॥ अग्नेरापः॥ अद्भ्यः पृथिवी॥ पृथिव्या ओषधयः॥ ··· (तैत्त० २।१), तथा—"अज्ञरात्खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्। जलात्प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत्॥" (महा० शान्ति २०२।१)। उत्पत्ति-क्रम का विशेष वर्णन भूमिका में देखिये। इसीसे जल (समुद्र) का प्रसंग होते हुए भी उसे पहले नहीं कहा गया। 'सहज जड़ करनी'—पृथ्वी पापी-धर्मात्मा सभीको धारण करती और समान गन्धवती है, इसे यह विवेक नहीं कि कौन धारण किये जाने के योग्य है और कौन नहीं। ऐसे ही जल सभीको डुबा देता है, अग्नि जला देता है, वायु स्पर्श करता और आकाश अवकाश देता है, योग्यायोग्य का विचार ये सब कोई नहीं करते, तथा—"पृथिवीवायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघवः। स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः॥ तत्स्वभावो ममाप्येष यदगाधोऽहमम्भसः।" (वाल्मी० ६।२२।२३-२४), अर्थात् पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि ये अपने स्वभाव में सदा वर्त्तमान रहते हैं, ये सनातन सृष्टि-क्रम को नहीं छोड़ते। अतएव मेरा भी यह स्वभाव है कि मैं अगाध हूँ और मेरे पार कोई नहीं जा सकता।

(३) 'तव प्रेरित माया उपजाये।···', यथा—"एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥" (अर० दो० १४), 'सृष्टि हेतु', ये पाँचो ही सृष्टि के कारण हैं आपने इन्हें जड़ ही बनाया है।

(४) 'प्रभु-आयसु जेहि···', यथा—"ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहुँ अमी के॥" (अर० दो० २८१), आपकी आज्ञा से नियत मर्यादा को छोड़ दूँ तो सभी दण्ड देने लगेंगे, कोई मार्ग माँगेगा, कोई तरह-तरह के कार्य कराना चाहेगा, तब दुःख ही होगा। यों तो सदा एक रस जड़ रहने से कोई कुछ नहीं कहता।

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही ॥५॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपने यह अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी, फिर मर्यादा भी तो आपकी ही बनाई हुई है (भाव यह कि मेरे लिये जो मर्यादा आपने सदा से बाँध रक्खी है कि मै अगाध रहूँ, जड़ बना रहूँ, किसीके उतरने मे सहायक न होऊँ—इसे मैंने अभी तक पाला है, अब आप चाहे इसे रक्खे चाहे मिटा दें) ॥५॥ ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री, ये सब ताड़ना (दंड) के अधिकारी है ॥६॥

विशेष—(१) 'प्रभु भल कीन्ह मोहि···'—आपने दंड देकर मुझसे सेवा कराई, सेवा से भला होता है। अतः, आपने मेरी भलाई की। दंड न कहकर शिक्षा कही है, क्योंकि यह मेरी भलाई के उद्देश्य से है। मर्यादा आपकी ही दी हुई है, इसकी रक्षा करनी ही चाहिये, यथा—"काटिये न नाथ बिषहू को रूख लाइ कै।" (क० उ० ६१)। मै ताड़ना के योग्य हूँ। अतः, आपने भले ही ताड़ना की। 'प्रभु भल कीन्ह···' की व्याख्या 'ढोल गँवार···' मे और 'मरजादा पुनि···' की 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई···' मे है।

(२) 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी।···'—इसने अपने (जल-तत्त्व के) वर्णन में पाँचों तत्त्वों को कहा था। इसीसे अपनी गँवारता के साथ भी पाँच दृष्टान्त कहे है। इनमें ढोल पहले है, यह जड़ है, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग जड़तत्त्व जल का है। शेष चार चेतन हैं, इन्हें ढोल के पीछे कहकर ढोल के समान जड़ (अज्ञ) सूचित किया। अतः, ये भी ढोल की तरह ताड़ना के अधिकारी हैं। यहाँ ढोल को ताड़ना का नियत अधिकार और ताड़ना का स्वरूप समझना चाहिये। ढोल पहले चढ़ाया जाता है, कसा जाता है, जब तक ठीक स्वर नहीं देता, ठोंका-पीटा भी जाता है। जब यह ठीक ताल-स्वर मे मिल गया, तब उसके बजाये जाने से (उसके गुण-विकास से) लोगों को आनन्द मिलता है। सब कहते है, बहुत अच्छा ढोल है, इत्यादि प्रशंसा होती है। अतः, बजाया जाना तो उसका गुण-विकास है, वह ताडना नहीं है। ताड़ना चढ़ाये जाने के उपर्युक्त कृत्य है, बस, उतनी ही ताड़ना है, वह भी प्रयोजन भर की होती है। जब ढोल ठीक मिला हुआ होता है तब उसे कोई भी हथौड़ी लेकर नहीं ठोंकता। ऐसे ही गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री में समझना चाहिये कि जब तक ये अपने योग्य गुण-विशिष्ट नहीं होते, इन्हें श्रेष्ठ बनाने की दृष्टि से उचित ताडना दी जा सकती है, जैसे पढ़नेवाले बच्चों को अध्यापक लोग समय पर ताड़ना देते है। बच्चे ताड़ना के अधिकारी है, यथा—"अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम्॥" (महा० अनु० १०४।३७), अर्थात् पुत्र और शिष्य को शिक्षा के लिये ताड़ना दी जा सकती है—यह शास्त्र मत है, पर कितने बच्चे ऐसे भी होते है कि जिन्हें पाठशाला से उत्तीर्ण होते समय अध्यापकों को कहना पड़ता है कि इस लड़के ने हमारे हाथ से कभी ताड़ना नहीं पाई, इत्यादि।

यहाँ गँवार, शूद्र और पशु के साहचर्य में कही हुई नारि-समूह से मूर्ख स्त्री-वर्ग पर तात्पर्य है। गँवार शब्द से मूर्ख पुरुष-वर्ग भी साथ ही कहा गया है। लं० दो० १५ चौ० १-२ भी देखिये।

इसके जोड़ की चौपाई, यथा—"सत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥" (उ० दो० २७४), है, उसमे पहले 'संत' मात्र चेतन है, शेष चार जड़ है, उनका तात्पर्य यह कि परोपकार में सन्त जड़ के समान कष्ट सहते है, और परोपकार करने से शेष चार जड़ होते हुए भी चेतन के समान है।

प्रभु - प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई ॥७॥
प्रभु - आज्ञा अपेल श्रुति गाई। करउ सो बेगि जो तुम्हहिं सोहाई ॥८॥

दोहा—सुनत बिनीत बचन अति, कह कृपाल मुसुकाइ।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटक, तात सो कहहु उपाय ॥५९॥

अर्थ—हे प्रभो ! आपके प्रताप से मैं सूख जाऊँगा और सेना पार उतर जायगी, इसमें मेरी कुछ बड़ाई नहीं (रह जायगी) ॥७॥ (परन्तु) वेद ने आपकी आज्ञा को अपेल (अखण्डय) कहा है, जो आपको अच्छा लगे, वही, किन्तु शीघ्र कीजिये ॥८॥ उसके अत्यन्त विनीत वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी ने मुस्कुरा कर कहा कि हे तात ! जिस प्रकार वानर-सेना पार उतर जाय, वह उपाय कहिये ॥५९॥

विशेष—(१) 'प्रभु-प्रताप मैं जाब सुखाई। ''प्रभु आज्ञा'''—प्रभो ! आपकी आज्ञा पूर्व से मुझे जैसे रहने की थी, मैं वैसा ही जड़ बना। उस आज्ञा को अपेल मानकर भंग नहीं किया, अभी तक किसीको मार्ग नहीं दिया। अब आज्ञा दूसरी हो रही है कि नहीं मार्ग देगा, तो सोख लूँगा। तो जैसा रुचे वैसा कीजिये। चाहे पूर्व की आज्ञा को रखिये और चाहे मिटाइये। मैं दोनों का साथ ही कैसे पालन कर सकता हूँ ? या तो जड़ ही रहूँगा और या तो चेतन ही। आपका प्रताप बड़वानल-रूप है, उससे मैं तुरत सुखा सकता हूँ, यथा—"प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी ॥" (ल० दो० १), पर इसमें मेरी कुछ बड़ाई न रहेगी। भाव यह कि मेरी मर्यादा भी आपकी दी हुई है, वह भी रहे, ऐसी कुछ कृपा हो। 'श्रुति गाई'—यथा—"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥" (कठो० २।६।३), वेद-मर्यादा की भी रक्षा करनी ही चाहिये। जिसमें उपर्युक्त बातें सब रहें, ऐसी कुछ कृपा हो। आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। मुझे भी अब जो आज्ञा हो, वह शीघ्र हो, क्योंकि हृदय में ज्वाला उठी है, इसीसे 'करउ सो बेगि' कहा है।

(२) 'सुनत बिनीत बचन अति ''—विनीत वचन से आप शीघ्र प्रसन्न होते हैं, यथा—"सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी ॥" (कि० दो० ६), 'मुसुकाइ'—से अपनी कृपालुता दिखाई, यथा—"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥' (बा० दो० १९७), कि जिससे उसका भय दूर हो, क्योंकि शरणागत को अभय देना आपका व्रत है, यथा—"मम पन सरनागत भय हारी।" (दो० ४२), तथा हँसकर उसके साथ 'तात' कहकर उसपर माया डालकर ऐश्वर्य भाव दबाया और माधुर्य-कथन की प्रेरणा की। बा० दो० १६१—'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना ·' देखिये। वा, इसपर भी मुसकाये कि कहता तो है अपने को जड़; और काम पंडिताई का कर रहा है, श्रुति आदि के प्रमाणों को आगे कर मुझे ही निरुत्तर करना चाहता है। 'कृपाल'—पहले उसपर क्रोध किया था, अब कृपालु हो गये। 'जेहि बिधि उतरइ '''—उसने कहा था—'उतरिहि कटक न मोरि बड़ाई।' उसपर कहते हैं कि ऐसा कोई उपाय कहो, जिसमें मुझे सोखना न पड़े और तुम्हारी बड़ाई बनी रहे, सेना उतर जाय। 'तात' शब्द विभीषण के वचनानुसार उसे कुलगुरु मानने में आदरार्थ है। इस दोहे के प्रथम चरण में एक मात्रा कम है, वह 'अति' के 'ति' को गुरु के रूप में पढ़ने से आ जाती है, ऐसा नियम है।

नाथ नील - नल कपि दोउ भाई। लरिकाई रिषि - आसिष पाई ॥१॥
तिन्हके परस किये गिरि भारें। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे ॥२॥

अर्थ—हे नाथ ! नील और नल दोनों वानर भाई हैं, इन्होंने लड़कपन में ऋषि से आशिष पाई है ॥१॥ उनके स्पर्श करने से तथा आपके प्रताप से भारी पर्वत भी समुद्र पर तैरेंगे ॥२॥

विशेष—(१) 'नाथ नील-नल'''—सम्यक् प्रकार से परिचय बतलाया—'नील-नल'—नाम, 'कपि'—जाति, 'दोउ भाई' से—उनका परस्पर सम्बन्ध जनाया। नील को पहले कहकर ज्येष्ठ और नल को छोटा भाई सूचित किया, यथा—"नाम राम लछिमन दोउ भाई।" (कि० दो० १), "नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।" (कि० दो० ५)। 'लरिकाई' से सूचित किया कि इन्होंने लड़कपन से ऋषि का अपराध किया, उनके स्नान करने का पत्थर जल में डुबा दिया। तब ऋषि ने कहा कि आज से जो पत्थर तुम दोनों जल

में डालोगे वह नहीं डूबेगा। यह आशिष हो गई। 'पाई'—अकस्मात् ही पा गये, कुछ करके नहीं प्राप्त किया। लड़कपन की बात है, अतएव नील-नल को भी स्मरण न होगा। पर मैं जल-रूप हूँ, मेरे ऊपर न डूबने की आशिष है, इसलिये मुझे मालूम है। ऋषि लोगों ने बालक जानकर इनपर क्रोध नहीं किया, किन्तु बाल-चपलता पर प्रसन्न होकर आशिष दी।

(२) 'तिन्हके परस किये ···'—छोटे-छोटे पत्थरों के उतराने का ही वरदान था, किन्तु भारी-भारी पर्वत उतरायेंगे, यह आपका प्रताप है। पुनः ऋषि की आशिष केवल तैरने की है, यह नहीं कि एक जगह स्थिर रहें एवं एक-दूसरे में मिलकर पुल बने तथा उनपर अपरिमित बोझे की वानरी सेना चले, यह सब प्रभु-प्रताप ही से होगा, इसलिये निमित्त मात्र ऋषि-आशिष रहेगी और सब कार्य राम-प्रताप से ही होगा, यथा—"महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी॥ श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिंधु तरे पाषान। ते मति मंद जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु आन॥" (लं० दो० ३)।

मैं पुनि उर धरि प्रभु - प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥३॥
येहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥४॥

अर्थ—मैं भी अपने हृदय मे प्रभु (आप-) की प्रभुता धारण करके अपनी शक्ति के अनुकूल सहायता करूँगा॥३॥ हे नाथ! इस भाँति समुद्र बँधाइये जिससे आपका यह सुन्दर यश तीनो लोकों मे गाया जाय॥४॥

विशेष—'करिहउँ बल अनुमान सहाई।'—सहायता यह कि ज्वार-भाटे में जल को स्थिर रक्खूँगा, बड़े-बड़े जीव जल पर उतरायेंगे, उनपर वानर लोग चढ़-चढ़कर पार जायेंगे। यह भी मुझमें योग्यता नहीं, किन्तु आपकी प्रभुताई मे से ही जितना अंश मुझे प्राप्त होगा उतने ही अंशो मे सहायता करूँगा। 'जेहि यह सुजस···'—समुद्र पर सेतु बाँधना यह अपूर्व बात होगी। तीनो लोक यश गावेगा, यथा—'त्रैलोक्य पावन सुजस सुर मुनि नारदादि बखानि है।" (कि० दो० ३०), तथा—"बध्नोहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः॥" (भाग० ६।१०।१५), अर्थात् आप अपने सुयश के विस्तार के लिये यहाँ सेतु बाँधिये, जिसके समीप पहुँचकर दिग्विजयी राजा लोग आपकी कीर्त्ति का गान करेंगे। इस कीर्ति से लोगों के लिये एक भव-सागर का भी सेतु हो जायगा। इसे गा-गाकर लोग तरेंगे, यथा—"जग पावनि कीरति बिस्तरिहहि। गाइ-गाइ भव-निधि नर तरिहहि॥" (लं० दो० ६४)।

येहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥५॥
सुनि कृपाल सागर-मन पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा॥६॥
देखि राम - बल - पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयेउ सुखारी॥७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा॥८॥

अर्थ—हे नाथ! इस बाण से मेरे उत्तर किनारे के निवास करनेवाले पाप की राशि दुष्ट मनुष्यों को मार डालिये,॥५॥ सागर के मन की पीड़ा सुनकर कृपालु और रणधीर श्रीरामजी ने उसे हरण किया॥६॥ श्रीरामजी का भारी बल और भारी पुरुषार्थ देखकर सागर हर्षित होकर सुखी हुआ॥७॥ सब (उत्तर तट के दुष्टों के एवं दक्षिण तट के रावण आदि के) चरित कहकर प्रभु श्रीरामजी को सुनाया और उनके चरणों की वन्दना करके वह समुद्र चला गया॥८॥

विशेष—(१) 'येहि सर मम···'—इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजी ने पूछा है कि हम बाण अनुसन्धान कर चुके, यह अमोघ है, इसको कहाँ छोड़ा जाय? क्योंकि यह व्यर्थ नहीं हो सकता। तब

समुद्र ने उन दुष्टों को बतलाया। श्रीरामजी दुष्टों का वध करते ही है, यथा—"तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥" (अर० दो० १८)।

(२) 'सुनि कृपाल सागर···'—उसने अपना सब दुःख सुनाया, पर ग्रन्थकार ने सूक्ष्म में जना दिया। सुनकर तुरत पीड़ा हरण की, इससे 'कृपालु' कहा, यथा—"करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइयहि पीर पराई॥" (अ० दो० ८४), 'तुरतहि हरी', क्योंकि समुद्र ने शीघ्रता की प्रार्थना भी की थी, यथा—"करहु सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई।" बाण का जब तक संवरण नहीं किया गया, सम्पूर्ण समुद्र खौलता रहा। पुनः उन दुष्टों की पीड़ा भी उसे असह्य थी ही। श्रीरामजी ने दोनों पीड़ाएँ दूर की।

(३) 'रनधीरा' कहे जाने से पाया गया कि उन दुष्टों का मारना बड़ा दुष्कर था, वे दुष्ट प्रबल एवं बहुत थे, यथा—"उग्र दर्शन कर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः। आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम॥" (वाल्मी० ६।२२।३०)।

(४) 'देखि राम-बल-पौरुष भारी।···'—शरीर का बल धनुष के खींचने से जाना गया और पुरुषार्थ अग्नि-बाण के प्रयोग एवं उन दुष्टों के वध करने से देखा। सागर श्रीरामजी के माधुर्य में पहले मोहित हो गया था, अब भारी बल-पौरुष देखकर हर्षित हुआ और मन की पीड़ा मिटी, इससे सुखी हुआ। वा, हर्ष का अर्थ रोमांच होना भी होता है। अतः, सुखी हुआ और उसको रोमांच हो आया। वा, 'हरषि प्रीति करके, यथा—"मुत्प्रीतिः प्रमदा हर्ष इत्यमरः।" अतः, श्रीरामजी की प्रीति करके सुखी हुआ। इसे अपना पीड़ा मिटने पर हर्ष न हुआ, किन्तु श्रीरामजी का भारी बल-पौरुष देखकर हर्ष हुआ। यह पूर्व के भाव को प्रकट करता है कि जो पहले माधुर्य में मोहित हो गया था।

(५) 'सकल चरित कहि···'—उत्तर तट के दुष्टों का और रावण का। यह रावण को चारो तरफ से घेरे हुए है, इससे उसका भेद जानता है। अभी तक नहीं सुनाया था कि ये हमारे कुल के है, कहीं रावणादि इन्हें ही न जीत लें, जब इनका भारी बल-पौरुष देख लिया तब सुनाया। उपक्रम में—'सभय सिंधु गहि पद···' में इसकी मन, कर्म, वचन की भक्ति कही गई। वैसे यहाँ उपसंहार में भी है—'भयउ सुखारी'—मन की, 'चरित कहि'—वचन की और 'चरन बंदि'—यह कर्म की भक्ति है।

छन्द—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमल-हर जथामति दास तुलसी गायऊ।
सुख-भवन संसय-समन दमन बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठमना।

अर्थ—समुद्र अपने घर चला गया, श्रीरघुनाथजी को उसका यह मत (सेतु-बाँधने का) अच्छा लगा, यह चरित कलियुग के पापों का हरण करनेवाला है। श्रीतुलसीदासजी ने (अपनी) बुद्धि के अनुसार इसे कहा॥ श्रीरघुनाथजी के गुण-गण सुख के स्थान, संशय के निवृत्त करनेवाले और दुखों का नाश करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सारी आशाओं और सब प्रकार के आश्रयों को छोड़कर निरन्तर इन्हें गा और सुन॥

विशेष—(१) 'निज भवन गवनेउ···'—इस समुद्र के अधिष्ठातृ-देव के रहने का कोई नियत स्थान भी है, जहाँ को चला गया, इस प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है; अन्यथा जल मे ही पैठ जाना कहा जाता, 'गवनेउ' न कहा जाता। 'रघुपतिहि यह मत भायऊ'—पूर्व कहा गया था—"अस कहि रघुपति

चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥" और यहाँ कहते हैं—'रघुपतिहि यह मत भायऊ' इसका भाव यह कि वह मत (चाप चढ़ाने का) रघुपति को न भाया था और यह मत भाया, क्योंकि समुद्र की मर्यादा रखने में आप शोभा मानते हैं, इसीसे 'श्री' विशेषण भी है। इसमें आपके भक्त नील-नल की भी कीर्त्ति होगी।

(२) 'यह चरित कलिमल-हर ···'—'जथामति' से चरित की अनन्तता सूचित की, यथा—"हरि गुन नाम अपार, कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार, कहउँ उमा सादर सुनहु॥" (बा० दो० १२०)। 'कलिमल-हर' अर्थात् पापी लोगों के पाप हरता है और जिस तरह भक्तों का हितकारी है, वह आगे कहते हैं—

(३) 'सुख-भवन संसय-समन···'—ज्ञानी के लिये 'सुख-भवन' है, जिज्ञासु के लिये 'संसय-समन' है, आर्त्त के लिये 'दमन बिषाद' है और अर्थार्थी भक्त के लिये 'सकल सुमगल दायक' आगे कहा गया है।

पुनः 'कलिमल-हर'—कलियुग का फल कहा है। कलियुग का प्रधान धर्म राम-चरित-गान है और कवि का भी वर्त्तमान युग है, इसीसे इसे प्रथम कहा है। 'सुख-भवन'—त्रेता का फल कहा है, क्योंकि—"सब बिधि सुख त्रेता कर धरमा।" (उ० दो० १०३), 'संसय-समन' होना ज्ञान का कार्य है और यह सत्ययुग का धर्म है, यथा—'कृत जुग सब जोगी बिज्ञानी।" (उ० दो० १०२), 'दमन बिषाद'—पूजा का फल है, इससे द्वापर का धर्म है, यथा—"द्वापर करि रघुपति पद पूजा।" (उ० दो० १०२), इस तरह चारों युगा का फल चरित से प्राप्त होना कहा गया है। 'तजि सकल आस भरोस···' अर्थात् सब कामना-पूर्त्ति की आशा और अन्य देवता का भरोसा छोड़कर निरन्तर अनध्याय-रहित चरित को कहना-सुनना चाहिये, यथा—"और आस बिस्वास भरोसो हरु जिय की जड़ताई।·· हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥" (बि० १०३)। 'संतत', यथा—"रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि।" (उ० दो० १२९), 'सठ मना', क्योंकि बार-बार उपदेश सुनकर भी मन मूढ़ता नहीं छोड़ता।

दोहा—सकल सुमंगलदायक, रघुनायक-गुन-गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिंधु बिना जलजान॥६०॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादनो नाम

* पञ्चम· सोपान· समाप्त· *

अर्थ—श्रीरघुनाथजी का गुण-गान सारे शुभ मंगलों का देनेवाला है, जो इसे आदर के साथ सुनते हैं, वे बिना किसी जलयान (नाव आदि जल की सवारियों) के संसार-सागर पार हो जाते हैं॥६०॥

इस रामचरितमानस में कलि के सम्पूर्ण पापों का नाश करनेवाला ज्ञान-प्रापक नाम का पाँचवाँ सोपान समाप्त हुआ॥५॥

विशेष—(१) यहाँ ग्रन्थकार वक्ता लोगों की ओर से फल-श्रुति कहते हैं—'सकल सुमंगलदायक' अर्थात् अर्थ, धर्म और काम का देनेवाला है। पुनः 'तरहिं भव' अर्थात् मोक्ष भी देता है। इस प्रकार चारों फलों के द्वारा लोक-परलोक दोनों का सुख देता है। 'बिना जलजान'—क्योंकि श्रीरामजी ने समुद्र पर सेतु-निर्माण का निश्चय किया, जिससे बिना जलयान के लोग पैदल ही समुद्र पार कर लेंगे।

इससे इस चरित के द्वारा भी लोग बिना किसी कर्म, ज्ञान आदि सवारियों पर आरूढ़ हुए ही भवसिन्धु को तर जायँगे। वा, रघुनायक-गुणगान के समक्ष भवसिन्धु को बिना जल का ही जानो, मानो उसमें जल है ही नहीं, वह ऐसा सूख जाता है, यथा—"नाम लेत भवनिधु सुखाहीं।" और इस काण्ड मे नाम-माहात्म्य प्रधान है, महागनीजी इसीके आधार पर जीती है, यथा—'नाम पाहरू ··।' (दो० ३०)

पहले गाना और सुनना दोनों कहा था, यथा—"गावहि सुनहि संतत" अब क्रमशः पृथक्-पृथक् दोनों का फल कहते है कि गुणगान 'सकल सुमंगल दायक' है और सादर श्रवण 'तरहि भव' के अनुसार भव-तारक है, अथवा गुणगान और श्रवण दोनों ही सादर होने से चारो फल देते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड के आदि 'मुक्ति जन्म महि ···' इसके अर्थ में लिखा गया कि सातो मोक्षदा पुरियों के समान सातो सोपान है। वहाँ उद्धृत प्रमाण के अनुसार चौथी पुरी 'काशी' के समान चौथा सोपान किष्किन्धाकाण्ड है। तदनुसार पाँचवीं पुरी 'काञ्ची' के समान यह पाँचवाँ सोपान है। काञ्ची-पुरी के दो विभाग हैं—शिव काञ्ची और विष्णु काञ्ची। वैसे ही सुन्दरकाण्ड का पूर्वार्द्ध—"पवन तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥" तक शिव-अवतार श्रीहनुमानजी के चरित की प्रधानता मे है और उत्तरार्द्ध मे शरणवत्सल श्रीरामजी के चरित की प्रधानता है। अतः, यह राम-विष्णु-अभेद दृष्टि से विष्णु काञ्ची के समान है। कुल काण्ड में ६० दोहे हैं। उनमें आधे पूर्वार्द्ध मे आधे उत्तरार्द्ध मे है। यह भी रहस्य पूर्ण है, क्योंकि शिवपुरी काशी-रूपी किष्किन्धाकाण्ड में ३० ही दोहे है, वैसे ही इस काण्ड के शिवपुरी-रूप पूर्वार्द्ध मे ३० ही दोहे हैं।

(२) इस काण्ड को ज्ञान-सम्पादक कहा है, क्योंकि ऊपर भव-तरण इसका फल कहा गया है। पुनः इस काण्ड मे श्रीहनुमानजी के चरित के द्वारा श्रीरामजी का प्रभाव जानकर श्रीविभीषणजी दुःसंग छोड़कर श्रीरामजी की शरण हुए, यह ज्ञान का गुह्यतर तात्पर्य है, यथा—"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया" (गीता १८।६२-६३), इसीसे इसका माहात्म्य भी ज्ञान-प्रापक है, इसके द्वारा जीव श्रीरामजी की शरण होंगे—यही उन्हें ज्ञान-प्राप्त होना है।